आधुनिक विश्व का इतिहास

(16वीं शताब्दी से द्वितीय युद्ध तक)

(History of Modern World)

(16th Century to Second World War)

(Option-II)

बी.ए.-III

B.A.-III

Directorate of Distance Education
Maharshi Dayanand University, Rohtak

आधुनिक विश्व का इतिहास

(16वीं शताब्दी से द्वितीय विश्व युद्ध तक)

History of Modern World

(16th Century to Second World War)

Option (ii)

बी.ए.

B.A. III

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय

रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय सूची

भाग एक

अध्याय 1: सामन्तवाद का पतन व पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन का उदय 5

अध्याय 2: वाणिज्यवाद व पूंजीवाद का उदय एवं विकास 35

अध्याय 3: निरंकुश राजतन्त्र राज्यों का उदय फ्रांस, स्पेन और इंग्लैण्ड 57

अध्याय 4: कृषि क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति 68

अध्याय 5: गौरवपूर्ण क्रान्ति (1668) 87

अध्याय 6: अमेरिका की क्रान्ति (1776) 92

अध्याय 7: फ्रांस की क्रान्ति (1789) 113

अध्याय 8: एशिया में साम्राज्यवाद 162

अध्याय 9: अफ्रीका में साम्राज्यवाद 177

भाग दो

अध्याय 10: इंग्लैण्ड में उदारवाद 194

अध्याय 11: अमेरिका का गृह-युद्ध 209

अध्याय 12: इटली व जर्मनी का एकीकरण 218

अध्याय 13: चीन में अफीम युद्ध, 1911 की क्रान्ति और साम्यवाद का उदय 247

अध्याय 14: जापान का आधुनिकीकरण तथा विश्व शक्ति के रूप में इसका उत्थान 270

अध्याय 15: प्रथम विश्व युद्ध व शान्ति समझौते 282

अध्याय 16: रूस की क्रान्ति-1917 307

भाग तीन

अध्याय 17: मानचित्र 318

लघु प्रश्न उत्तर 329

HISTORY OF MODERN WORLD
(16th Century to Second World War)
B.A.-III
(Option-II)

Max. Marks: 100
Time : 3 Hrs.

Note: At least 10 question will be set. Candidate will have to:

1. Attempt five questions in all selecting at least one question from each section.
2. There shall be a compulsory question on the map carrying 20 marks (12 for map work and 8 for explanatory notes). Blind candidates may not attempt the map question. In lieu of the map question, they may attempt any other question. However, in case they wish to attempt the map question, the part relating to the explanatory note will carry full marks.
3. There shall be one object question. The question on will be divided into three parts. Section I will have short type question of 5 marks. Section II will have multiple choice questions of 5 marks. Section III will have matching type question of five marks.

SECTION-I

1. Decline of Feudalism and the rise of the modern Era-Renaissance and Reformation.
2. Mercantilism, Rise of capitalism and its growth.
3. Rise of the absolutist state; France, Spain and Britain.
4. Scientific Revolutions: Agricultural Revolution; Industrial Revolution.
5. Glorious Revolution (1688)
6. American Revolution (1776)
7. French Revolution (1789): Causes and Impact
8. European exploitation of Asia and Africa.

SECTION-II

1. Liberalism in England, American Civil War, Socialist and Marxist Thought.
2. Nationalism in Europe.
   (i) Ideology of nationalism
   (ii) Germany and Italy
3. Opium Wars in China, Battle of concessions in China, Open Door Policy, Chinese Revolution of 1911 and Rise of Communism.
4. Japan's Modernization and Rise as a World Power.
5. First World War and Peace Settlements.
6. Russian Revolution (1817): Causes and Impact.
7. Emergence of USA as a World Power.
8. Economic depression, Emergence of Nazism and Fascism.
9. Second World War: Its causes and results.

SECTION-III

MAPS

1. On an outline map of Europe show the countries which with Agricultural Revolution during the 14th-19th centuries.
2. Europe on the eve of the French Revolution.
3. Unification of Italy.
4. Unification of Germany.
5. European Spheres of Influence in China on the eve of World War.

SECTION-IV

Objective Type and Short Answer Questions.

भाग एक

अध्याय : 1 "सामन्तवाद का पतन व पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन का उदय" Decline of Feudalism and the Rise of Renaissance and Reformation

सामन्तवाद का पतन

मध्य काल में यूरोप की सभ्यता के निमार्ण में जितनी ताकतों ने कार्य किया उनमें से एक विषेश ताकत सामन्तवाद थी। प्रसिद्ध लेखक मार्क ब्लाक ने सामन्तवाद की निम्नलिखित विशेषता बताई है। (1) अधिक कृषक वर्ग (2) वेतन के स्थान पर जागीरें देना (3) योद्धा वर्ग की प्रभुसत्ता (4) आज्ञापालन तथा संरक्षण से इंसान को इंसान से बांधना (5) सत्ता का विखण्डन ये सब मिल कर एक प्रकार से अव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते थे। इस प्रकार सामन्तवाद एक प्रकार के सामाजिक संगठन की वह व्यवस्था थी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण उसके भूमि पर अधिकारों के आधार पर होता था। इस में बड़े-बड़े भूस्वामी उन विशेष अधिकारों का उपयोग करते थे जिनका प्रयोग पहले केवल राजा करते थे। किसानों को अपने उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा सामन्त को देना पड़ता था।

इस प्रकार सामन्तवाद के तीन लक्षण थे - जागीर, संरक्षण एवं सम्प्रभुता। जागीर साधारण भूमि थी। संरक्षण का अर्थ था- भूमिदाता तथा भूमि पाने वाले के मध्य निकट सम्बन्ध। सम्प्रभुता का अर्थ था- अपने क्षेत्र में भूस्वामी का पूर्ण या आंशिक स्वामित्व। इस संगठन के शीर्ष पर राजा और सबसे नीचे कृषि दास थे जिनके बीच में स्वामी और सेवक दोनों ही होते थे। राजा एवं कृषि दास को छोड़कर इस पिरामिडनुमा क्रमवार संगठन में प्रत्येकसामंत अपने नीचे के व्यक्तियों के स्वामी थे और ऊपर के व्यक्तियों के सेवक होते थे। कानूनी रूप से समस्त भूमि राजा की थी। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सभी भूमिपति अपनी-अपनी भूमि में प्रभुता सम्पन्न थे। राजा से इनका इतना ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध था कि आवश्यकता पड़ने पर ये राजा की सैनिक सहायता करते थे। सामन्तों के भी सामन्त हुआ करते थे। निर्बल और सामान्य लोगों ने भी अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर अपनी रक्षार्थ शक्तिशाली सामन्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। जागीरों में जागीरदार शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने, कर वसूलने एवं न्याय प्रदान के लिये उत्तरदायी थे।

पूँजीवादी प्रणाली के पहले यूरोप में मुख्यतः सामन्तवादी प्रणाली ही थी, जिसकी अर्थ-विषयक विशेषताएँ थीं-(i) निजि सम्पति का केन्द्रीयकरण (ii) कृषि प्रधान प्रणाली (iii) वस्तु-विनिमय प्रणाली (iv) उत्पादन जीवन निर्वाह के लिये ही होना (v) अर्थव्यवस्था का संचालन सामन्ती रिवाजों द्वारा होना। धीरे-धीरे सामन्तवादी आर्थिक प्रणाली का स्थान पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली ने ले लिया। इस परिवर्तन को समझने के लिए हमें सामन्तवादी अर्थव्यवस्था के उत्थान एवं पतन की पृष्ठभूमि में जाना होगा।

सामन्ती अर्थव्यवस्था के उत्थान एवं पतन

लगभग दूसरी सदी के अन्त तक यूरोप में सामंतवाद समाज के आर्थिक लक्षणों पर दृष्टिपात किया जाये तो यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि इस समय कृषि कार्य में बडी संख्या में श्रमिकों और उनके जी-तोड़ श्रम की आवश्यकता पड़ती थी। श्रम की अत्यधिक माँग के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि कृषक भूमि से बँध कर रह गया। वह भूमि छोड़कर

अन्यत्र नहीं जा सकता था। इसके बदले उसे और उसके परिवार के लिए सुरक्षा एवं आजीविका का आश्वासन था। यदि स्वामी कृषिदास से सम्बधित भूमि को बेचता था तो उस भूमि के साथ स्वभाविक रूप से दास भी नये स्वामी की सम्पत्ति हो जाता था। इसका यह मतलब हुआ कि कृषि दास को भूमि जोतने का अधिकार वंशानुगत रूप से प्राप्त था किन्तु उसे भू-स्वामित्व प्राप्त नहीं था। भूमि की जोत के अधिकार के बदले कृषिदास को जमींदार के अन्य खेतों में काम करना पड़ता था जिनकी सारी उपज पर जमींदार का ही हक होता था ओर इस काम के बदले उसे किसी प्रकार की मजदूरी नहीं मिलती थी। यह श्रम एक प्रकार से जमींदार की भूमि का उपयोग करने का शुल्क था जिसे कृषिदास चुकाता था।

यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि पश्चिमी यूरोप में दसवीं सदी तक भी जमीन की उर्वरता को बढ़ाया न जा सका था। कृषि तकनीक में पुरानापन था। मध्ययुगीन किसान जिस हल का उपयोग करते थे उससे भूमि की ऊपरी सतह को ही खुरचा भर जा सकता था, जिससे भूमि की अंदरूनी उपजाऊ क्षमता का उपयोग नहीं हो पाता था। पौधों की जडें भीतर जमीन में न जाकर आस-पास फैलती थीं। अतः बीजों को अधिक दूरी पर बोया जाता था ताकि पौधों की जड़ों को फैलने का स्थान मिल सके। इस कारण बड़े-बड़े खेतों से भी मामूली उपज ही मिलती थी। इन सब कारणों की वजह से कृषि प्रणाली अत्याधिक श्रम पर निर्भर बनी रही।

श्रम करने के बावजूद समाज के निम्न वर्गों की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती थी और भुखमरी की नौबत अक्सर आती रहती थी। ऐसे तनावपूर्ण समाज में परिवर्तन होना आवश्यक था। ये परिवर्तन कृषि के तौर-तरीकों में हुए परिवर्तनों के अध्ययन से अधिक स्पष्ट हो जाते हैं।

ग्यारहवी शताब्दी में पश्चिमी यूरोप ने एक नये युग में प्रवेश किया। यद्यपि सामंतवादी समाज बरकरार था। इस समय हमें कुछ महत्वपूर्ण औद्योगिक आर्थिक परिवर्तन दिखाई देते हैं। इस युग में अनाज पीसने हेतु पनचक्कियों एवं पवन चक्कियों की प्रोद्यौगीकियों का आविष्कार हुआ। पुराने हल्के हल का स्थान अब भारी हल ने ले लिया, जो भूमि को गहरी जोतता था। जुए के सम्बन्ध में अधिक उपयोगी जानकारी उपलब्ध होने से अब हल को जुए से बैलों के सींगों के स्थान पर कंधे पर बाँधा जाने लगा ताकि उनकी पूरी शक्ति का उपयोग खेती में किया जा सके। जहाँ हल जोतने के लिये घोड़े का प्रयोग होता था, वहाँ अब घोड़े की पीठ पर चमड़े का पट्टा बाँधने के स्थान पर उसकी गर्दन के चारों ओर एक प्रकार का खाँचा लगाया जाता था और उसी से हल को जोड़ा जाता था। घोडे के खुरों के लिये नाल के प्रयोग के ज्ञान से अब घोड़े की कार्यक्षमता का अधिक उपयोग होना सम्भव हुआ। इसी समय यूरोपीय खेती में फसलों (दालें और फलियाँ) के आगमन से भूमि की उर्वरता में वृद्धि हुई तथा पहले जहाँ कृषि-योग्य भूमि के केवल आधे भाग को वर्ष में एक बार बोया जाता था, वहीं अब वर्ष में दो-तिहाई भाग में फसलें तैयार की जाने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि इससे खाद्यान्न की मात्रा दुगुनी हो गई। विभिन्न परिवर्तनों के कारण अब कृषि कार्य में श्रम की निर्भरता कम हो गयी।

कृषि उत्पादान में अधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप निम्न वर्गों की जनसंख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। एक अनुमान के अनुसार एक हजार ई. से पहले की तीन-साढ़े तीन शतियों में यूरोप की जनसंख्या शत-प्रतिशत बढ़ी, तो एक हजार ईस्वी के बाद की तीन-साढ़े-तीन शतियों में जनसंख्या में यह वृद्धि 17० प्रतिशत हो गई। बढ़ी हुई जनसंख्या यूरोप के सुदूर भागों में फैल गई और उसने वहाँ जंगल साफ कर कृषि-योग्य भूमि का विस्तार किया।

इस प्रकार दो शताब्दीयों (11th व 12th) में विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप में उत्पादन में हुए परिवर्तन के कारण यूरोप की एक नई तस्वीर उभरी। जनसंख्या में वृद्धि एवं कृषि योग्य भूमि-विस्तार के बावजूद श्रम की मांग घटी। ऐसा Technology में हुए परिवर्तन से सम्भव हुआ। यूरोपीय व्यापार के पुनरुत्थान और मुद्रा अर्थतन्त्र (money economy) की शुरूआत, जिसका सिलसिला ग्यारहवीं शताब्दी से हुआ, ने सामन्ती बन्धनों के टूटने की प्रक्रिया तेज कर दी। अधिकाधिक मुद्रा के प्रवेश से सामंती मेंनर प्रणाली की आन्तरिक संरचना में भारी परिवर्तन हुए। अनेक जमींदारों को लगा कि खेत बँटाई पर उठाना ज्यादा लाभदायक होगा। जमींदार बँटाईदारों द्वारा दी जाने वाली राशि पर ज्यादा निर्भर हो गए। अब कृषिदासों को भूमि से बांधे रखने की आवश्यकता नहीं रही और यहीं से सामंतवादी व्यवस्था के टूटने की शुरूआत हुई। कृषिदास कुछ शुल्क (Fee) जमींदार को अदा करके मुक्त हो सकते थे। इस धन से जमींदार कृषि-कार्यों के लिए मजदूर रख सकता था। बेगारी करने वाले कृषिदासों की तुलना में इन पारिश्रमिक पाने वाले मजदूरों का काम अधिक उत्पादक होता था। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि ये परिवर्तन तुरन्त नहीं हुए तथा सर्वत्र एक समान और एक समय नहीं हुए।

शहरीकरण और व्यापार के विस्तार को उत्पादन में बढ़ोतरी से पहले की तुलना में अधिक व्यापक एवं तेज हो गया। कृषि उत्पादन में व्यावयसायिक दृष्टिकोण आ गया अर्थात कृषि उत्पादन लाभ की दृष्टि से किया जाने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप में एक नई अर्थव्यवस्था का विकास हो रहा था, जो पूर्व प्रचलित सामंतवादी अर्थव्यवस्था से भिन्न थी। कृषि के क्षेत्र में विकास का आधार अब श्रम की प्रचुरता न होकर पूँजी-निवेश हो गया। यह पूँजी-निवेश एक नये प्रकार के भारी हल, जुए तथा घोड़े, इत्यादि की खरीद के रूप में होता था। किंतु छोटे किसान के पास धन का अभाव तो पहले से ही था, वह और धन कहाँ से लाता। उसे कृषि-उपकरणों की खरीद के लिए कर्ज लेना पड़ता था। एक भी फसल खराब हो जाती अथवा कृषि-उत्पादों के भाव थोड़े भी गिर जाते थे, तो उसके पास अपनी भूमि और कृषि-उपकरणों को बेचने के अलावा कोई चारा नहीं रह पाता था। ऐसे कृषकों को जीविकोपार्जन के लिए मज़दूरी करने के लिए बाध्य होना पडता था। यहाँ यह याद दिलाने की जरूरत नहीं है कि छोटे जमींदारों एवं व्यापारियों को भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की बहुत जरूरत रहती थी ताकि वे मज़दूर रखकर कृषि-कार्य करा सकें तथा इन कृषि-उत्पादों से तुरन्त लाभ उठा सकें। इस प्रकार इस नई अर्थव्यवस्था के संचालन का वाहक बना, उदीयमान पूँजीपति किसान तथा भूमिहीन कृषि-मजदूर। ये कृषि मज़दूर अधिक मज़दूरी की तलाश में इधर-उधर भटकते रहते थे। एक बात और, अब शान-शौकत में किये जाने वाले सामंतवादी अपव्यय की प्रवृत्ति ने भी नया मोड़ ले लिया। लाभांश को विलासिता में व्यय करने के स्थान पर अब उस धन को फिर से व्यापार में विनियोजित किया जाने लगा।

इस प्रकार यूरोप की अर्थव्यवस्था में पहला परिर्वतन ग्यारहवीं शताब्दी में और दूसरा परिर्वतन लगभग चौदहवीं शताब्दी में दिखाई देता है। इस समय कृषि विकास दर में गिरावट आने लगी। इसका कारण बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दियों में होने वाला कृषि-भूमि-विस्तार आन्दोलन था। बढ़ती हुई जनसंख्या ने जंगलों और चारागाहों को इस तेजी से साफ किया कि जंगलों एवं कृषि-योग्य भूमि का पारिस्थितिकी संतुलन बिगड़ गया। जंगलों के साफ हो जाने से पश्चिमि यूरोप की पारिस्थितिकी (ecological balance) संतुलन बिगड़ गया। जंगलों के साफ होने से पश्चिमी यूरोप की पारिस्थितिकी पर यह दुष्प्रभाव पड़ा कि वहाँ लगातार वर्षा होने लगी। 1315 और 1316 में तो वहाँ सूर्य देवता के दर्शन तक नहीं हुए। फसलें नष्ट हो गईं। ऐसी स्थिति में अकाल पड़ना स्वाभाविक ही था। अकाल के गाल में जनसंख्या का दसवाँ भाग समा गया। चारगाहों के नष्ट हो जाने से पशुधन की भी बहुत हानि हुई। खाद का मुख्य स्रोत गोबर था। अतः खाद के अभाव में कृषि-उत्पादन में भी गिरावट आई। भोजन की पूरी मात्रा में उपलब्धता के अभाव एवं बार-बार पड़ने वाले अकालों ने लोगों की रोग-प्रतिरोधक क्षमता को क्षीण कर दिया। महामारियाँ फैलीं और भारी संख्या में जनसंख्या का विनाश हुआ। महामारियों की कड़ी में 1348-1351 ई० की काली मौत (Black death) नाम की महामारी सबसे भयानक थी। यह हेजे की बीमारी थी और इसने यूरोप की चौथाई और कहीं-कहीं तो आधी जनसंख्या को निगल लिया। यह एक तथ्य है कि चौदहवीं सदी के अंत तक यूरोप की जनसंख्या में चालीस प्रतिशत की कमी आ चुकी थी। घटती हुई जनसंख्या का एक तात्कालिक परिणाम यह निकला कि श्रमिकों का अत्यंत अभाव हो गया। इससे सामंत प्रणाली में एक प्रकार का संकट उत्पन्न हो गया। विवश होकर एक कामचलाऊ व्यवस्था को अपनाना पडा। अब सामंती करों का स्थान लगान ने ले लिया। इसी के साथ कृषिदासता के स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। इंग्लैण्ड जैसे कुछ स्थानों पर कृषिदास-प्रथा समाप्त ही हो गई। पन्द्रहवीं शताब्दी के किसान विद्रोहों ने सामंतवाद की जड़ें हिला दीं। अब सामंतवाद संकट के घेरे में आ गया। निरन्तर व्यापार की उन्नति, शहरों के विकास एवं विस्तार, मुद्रा के बढ़तें प्रयोग, कई देशों के राजा की बढ़ती शक्ति तथा बारूद के बढ़ते प्रयोग ने सामंतवाद को अन्तिम चोट पहुँचाई। अब सामन्तवादी अर्थव्यवस्था का छिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक था और इसी के साथ पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का यूरोप में प्रचलन हुआ। आगे के पृष्ठों में पतन के कारणों की बिन्दुवार व्याख्या की गई है, इससे पतन के कारकों को अच्छी तरह समझने में मदद मिलेगी।

सामन्तवाद के पतन के कारण (Causesa of the Decline of Feudalism)

लगभग तेरहवीं शताब्दी के शुरू में सामन्तवाद का पतन शुरू हुआ। यह पतन प्रशासन की एक विधा के रूप में ही हुआ क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के रूप में यह प्रथा बहुत दिनों तक बनी रही। ऐसी व्यवस्था का पतन निश्चित है जिसमें कुछ थोड़े से लोगों को अधिक लोगों की अपेक्षा प्रमुखता दी जाती है तथा जो सहस्त्रों की उपेक्षा एवं वेदना पर फलती-फूलती है। सामन्त प्रथा असमानता, अत्याचार, शोषण, अमानवीय दृष्टिकोण जैसे सिद्धान्तों पर आधारित थी। अतः पतन अवश्यम्भावी था।

नये हथियार एवं बारूद का चलन

नये हथियारों के प्रचलन, सामरिक पद्धति में परिवर्तन और विशेषता बन्दूक एवं बारूद के बढ़ते प्रयोग के कारण भी सामन्तवाद का शीघ्रता से पतन हुआ। अभी तक सामन्त किलों पर तीरों की मार का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु अब बन्दूकों एवं तोपों की मार से किलों की दीवारें सामन्तों की रक्षा करने में असमर्थ थीं। राजा अब बारूद एवं गोलाबारी द्वारा सामन्तों के किलों पर आसानी से कब्जा कर लेते थे।

कृषि उत्पादन में वृद्धि

कृषि क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन से उत्पादकता में वृद्धि हुई। कृषि क्षेत्र में दो खेत प्रणाली के स्थान पर तीन खेत प्रणाली का चलन हुआ। यद्यपि यूरोप में आठवीं शताब्दी में भी इस प्रकार की प्रणाली के पाए जाने के प्रमाण मिलते हैं किन्तु इस प्रणाली के प्रयोग का विस्तार ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास देखने को मिलता है। तीन खेत प्रणाली के अन्तर्गत कृषि योग्य भूमि को तीन बराबर टुकड़ों में बाँट दिया जाता था। राई या गेहूं सर्दी में पहले खेत में उगाया जाता था तथा मटर, ओट्स आदि बसन्त ऋतु में दूसरे खेत में तथा तीसरा खेत खाली छोड़ दिया जाता था। इस प्रणाली में जो खेत पहले वर्ष खाली छोड़ दिया जाता था उस पर अगले वर्ष खेती की जाती थी तथा दूसरे को खाली छोड़ दिया जाता था। इस तीन खेत प्रणाली के विस्तार से कृषि उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। अतः अधिक लोगों का भरण-पोषण सम्भव हुआ। परिणामस्वरूप 1000 ई. तथा 1300 ई. के मध्य यूरोप की जनसंख्या लगभग दुगनी हो गई। शहरों का विकास और जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि हुई। शहरों के विकास से निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में तथा आर्थिक विशिष्टकीकरण में वृद्धि हुइ। अब कृषक की सामन्त पर निर्भरता कम हो गयी जिससे सामन्तवादी प्रणाली का पतन शुरू हुआ।

धर्मयुद्ध

सामंतवाद के पतन के मुख्य कारण 1095 से 1291 तक होने वाले धर्मयुद्ध थे। धर्मयुद्धों में भाग लेने वाले बहुत से सामन्तों ने या तो अपनी जमीन बेच दी थी या उसे गिरवी रख दिया था। इस तरह सामन्ती शक्ति तथा प्रभाव राजाओं अथवा व्यापारियों के हाथ में चले गये। अनेक सामन्त इन युद्धों में मारे गये और उनकी भूमि राजाओं द्वारा जब्त कर ली गई।

व्यापारिक वर्ग का उदय

धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप यूरोप के वाणिज्य-व्यापार में वृद्धि हुई। धर्मयुद्धों के समय यूरोप के लोगों को नये-नये देशों का ज्ञान हुआ और वे अन्य देशों से परिचित हुए। पूर्व की भोग विलास की वस्तुओं की माँग यूरोप में होने लगी। परिणाम स्वरूप व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। व्यापारियों ने खूब धन कमाया। कितने ही व्यापारी सामन्तों से अधिक सम्पन्न थे। इस प्रकार इस वर्ग के पास धन था, बुद्धि थी, परन्तु समाज तथा प्रशासन में महत्व नहीं था। सामन्तों की तुलना में इनको निम्न कोटी का समझा जाता था। अतः वे सामन्तो से ईर्ष्या करने लगे और उनके दमन के लिए राजाओं को आर्थिक सहयोग देने लगे।

व्यापार के विकास का एक महत्वपूर्ण कारण यूरोप में प्रतिवर्ष 1200 से 1400 ई. तक होने वाले व्यापारिक मेंलों ने भी उल्लेखनीय योगदान दिया। ये मेंले यूरोप के महत्वपूर्ण शहरों में आयोजित होते थे तथा कई सप्ताह तक चलते थे। उत्तरी यूरोप के व्यापारी अपनी वस्तुएँ- अनाज, मछली, ऊन, कपड़ा, लकड़ी, लोहा, नमक आदि का विनिमय दक्षिणी यूरोप के व्यापारियों की वस्तुओं-मसाले, सिल्क, शराब, फल, सोना, चाँदी आदि से करते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में इन मेंलों का स्थान व्यापारिक शहरों ने ले लिया, जहां वर्ष भर व्यापार चलता था। व्यापार के विकास ने निर्मित वस्तुओं की अधिक माँग को जन्म दिया। सोलहवीं शताब्दी में हस्तकला उद्योग, जिनमें शिल्पकार अपने औजारों तथा कच्चे माल से एक स्वतन्त्र लघु उद्योग द्वारा उत्पादन करते थे, का स्थान अपेक्षाकृत बड़े उद्योगों ने ले लिया। धीरे-धीरे पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का जन्म हुआ जिससे सामन्तवादी आर्थिक प्रणाली का पतन हुआ।

व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धों के विकास के परिणामस्वरूप यूरोप में अनेक नये-नये कस्बों तथा नगरों का विकास हुआ। कस्बों और नगरों के व्यवसायियों को सस्ते मजदूरों की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने गाँवों के किसानों तथा कृषिदासों को प्रलोभन देकर नगरों में आकर बसने के लिए प्रेरित किया। सामन्तों को यह पसन्द नहीं आया। अतः दोनों वर्गों

में संघर्ष शुरू हो गया। राजा भी सामन्तों से छुटकारा चाहते थे। नवोदित वर्ग भी व्यापार के हितों के लिए राजा का समर्थन एवं संरक्षण चाहता था। व्यापारिक वर्ग ने राजाओं को सहयोग देकर सामन्तों की शक्ति को कम करने में उल्लेखनीय भूमिका निभायी।

स्थाई सेवा तथा राजा की शक्ति में वृद्धि

स्थायी सेना हो जाने से राजा की शक्ति में वृद्धि हुई। विभिन्न वर्गों के सहयोग ने भी राजा की शक्ति बढ़ाई। मुद्रा के प्रचलन ने राजा को अपने अधिकार कायम करने में एक और सहूलियत प्रदान की । वह प्रत्यक्ष रूप से अपने राज्य में कर लगाने लगा। राजा ने एक स्वतन्त्र नौकरशाही का सृजन करके भी प्रशासनिक क्षेत्र में सामन्तों के प्रभाव से मुक्ति पायी। इन विभिन्न कारकों ने राजा की शक्ति को निरकुंश बनाने एवं सामन्तों को दबाने में भूमिका अदा की।

किसानों का विद्रोह

यूरोप में सामन्त प्रथा का मूल आधार किसानों का शोषण था। उन पर वे घोर अत्याचार करते थे। सामन्ती उत्पीड़न से तंग होकर किसानों ने सामन्त प्रथा का विरोध किया। किसानों के संगठित विद्रोह को दबाना सामन्तों के लिए कठिन हो गया। इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी जिससे किसानों के विद्रोह ने व्यापक रूप धारण कर लिया। 1348 ई. में एक भीषण महामारी ने, जिसे 'काली मृत्यु' कहा जाता है, यूरोप की लगभग आधी जनसंख्या का सफाया कर दिया। खेतों में काम करने वाले किसानों एवं मजदूरों की भारी कमी हो गयी। इंग्लैण्ड में कृषिदासों ने अपने काम के लिए उचित पारिश्रमिक जैसे अधिकार की माँग की। किन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने सामन्तों के प्रभाव में आकर किसानों को दबा दिया। 1381 ई. में 'वाट टइलर' के नेतृत्व में इंग्लैण्ड के हजारों किसानों ने विद्रोह किया। किसानों के इस विद्रोह में शिल्पियों, कारीगरों तथा निम्न श्रेणीयों के पादरियों ने भी भाग लिया। लगभग इसी समय फ्रांसीसी किसानो में एक और भी व्यापक विद्रोह हुआ (जैकरी वर्ग का विद्रोह)। इन तथा अन्य किसान-विद्रोहों को कठोरतापूर्वक दबा दिया गया। वाट टाइलर छुरा घोंपकर मार दिया गया। पादरी जौन बौल, जिसने किसानों की तरफदारी की थी, को फांसी दे दी गयी। परन्तु किसानों का स्वातंत्र्य प्रेम नहीं मरा। शहरों के उदय के कारण अब किसानों का सामन्तों पर निर्भर रहना आवश्यक न रह गया, क्योंकि वे शहरों में रोजी-रोटी कमा सकते थे। इस तरह कृषक-विद्रोहों ने सामन्तवाद की नींव हिला दी।

सामन्तों के आपसी संघर्ष

सामन्तों के आपसी संघर्ष भी सामन्तवाद के पतन का एक बड़ा कारण था। सभी सामन्त अपनी अलग-अलग सेना रखते थे। इन सेनाओं ने एक ओर तो बर्बर आक्रमणकारियों से देश की रक्षा की; दूसरी ओर आपस में लड़कर सामन्ती शक्ति को क्षीण किया। फ्रांस और इंग्लैण्ड में इस तरह के संघर्ष उल्लेखनीय रहे।

परिवर्तित परिस्थियाँ

कई सामन्त, सामन्त-तंत्र के शत्रु बन गये। क्यों? उनमें से कुछ ने यह देखा कि वेतन के लिए श्रम करने वाले स्वतंत्र किसान बाध्य होकर काम करने वाले कृषिदासों की अपेक्षा अधिक फसल पैदा करते हैं। बहुत से भूमिपति, जो धन के लिये लालायित थे, इस बात के इच्छुक थे कि उनके कृषिदास या तो धन देकर अपनी स्वतन्त्रता खरीद लें या लगान चाकरी के रूप में न देकर पैसे के रूप में दें। कुछ भूमिपति ऐसे भी थे जो अपनी जागीर के नीरस जीवन के बजाय शहर में या राजदरबार में रहना पसन्द करते थे। इस प्रकार बदलती हुई परिस्थितियाँ सामन्त-तन्त्र के पतन का करण बनीं।

पुनर्जागरण

यूरोप में चौदवी और सोलहवी शताब्दी के बीच में दो महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं जिनके प्रभाव से यूरोप के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ। प्रथम घटना को पुनर्जागरण (Renaossance) कहा जाता है। इस घटना ने मानव के लौकिक ज्ञान बहुत अधिक वृद्धि की। इस लौकिक ज्ञान की वृद्धि से आधुनिक युग की कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन एवं जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में नवीन आदर्शों की स्थापना हुई। इससे पूर्व यूरोपीय जनता सामन्त-प्रथा, पवित्र-रोमन साम्राज्य

तथा ईसाई धर्म की व्यापकता के अन्तर्गत् गहरी नींद में सोई हुई थी। उस समय शिक्षा का अभाव था। इस अभाव के कारण तथा धर्म की प्रधानता के कारण मानव-समाज में स्वतन्त्र चिन्तन का सर्वथा अभाव था। पादरी-वर्ग धर्म-ग्रंथों के स्वतंत्र मनन तथा बौद्धिक विश्लेषण के सर्वथा विरुद्ध था। इस प्रकार उस समय यूरोप का मानव-समाज एक प्रकार से गतिहीन सा हो गया था। बौद्धिक विकास की सभी दिशायें अवरुद्ध थीं। परन्तु यह स्थिति अधिक समय नहीं रहीं। धीरे-धीरे जन-साधारण में एक नवीन जिज्ञासा जागृत होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं का नवीनीकरण हुआ। पन्द्रहवीं व सोलहवीं सदियों में रचनात्मक शक्ति का जागरण मान के कई कार्य-कलापों में दृष्टिगत होन लगा। सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में आशातीत विकास हुआ। यही प्रक्रिया पुनर्जागरण के नाम से इतिहास में विख्यात है। इस पुनर्जागरण को अधिकांश इतिहासकार एक ऐतिहासिक आन्दोलन बताते आये हैं। परन्तु इसके व्यापक प्रभाव पर हम जब गहराई से मनन करते हैं तो हमें यह ऐतिहासिक आन्दोलन के स्थान पर तत्कालीन मानसिक स्थिति को कहीं अधिक व्यक्त करता प्रतीत होता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार जैकब बुर्कहार्ट की पुस्तक 'इटली की पुनर्जागरणकालीन सभ्यता' के प्रकाशन (1860) के उपरान्त यह धारणा भी प्रबल होती जा रही है कि 'पुनर्जागरण कालीन में इटली के पूंजीवादी उद्यमों की भी महान् भूमिका रही है।

पुनर्जागरण का अर्थ

सभ्यता व संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में आशातीत विकास होने के कारण ही इसका 'फिर से जागना' बताते हैं। इतिहासकारों ने भी सामूहिक रूप से इसका अर्थ 'बौद्धिक आन्दोलन' बताया है। जानसन थामसन के मतानुसार 'रेनेसां' शब्द का प्रयोग इतिहासकार चौदहवीं शताब्दी में इटली की कला एवं ज्ञान के जागरण के अर्थ में करते हैं जो पन्द्रवीं शती में आल्पस पर्वत को पार कर सोलहवीं सदी में समस्त यूरोप में व्याप्त हो जाता है। इतिहासकार ल्यूकस ने भी इसी धारणा से सहमति व्यक्त करते लिखा है कि 'रेनेसां' शब्द का अर्थ इटली के उन सांस्कृतिक परिवर्तनों से है जो चौदहवीं शताब्दी से आरंभ होकर 1600 ई. तक सम्पूर्ण यूरोप में फैल गये। इतिहासकार स्वेन (Swain) के अनुसार मध्य-युग के अन्त में जितना बौद्धिक विकास हुआ उसे ही सामूहिक रूप से पुनर्जागरण कहा गया है। कुछ विद्वानों ने इसे 'ग्रीक-लैटिन भाषाओं का पुनर्जन्म' भी कहा है।

पुनर्जागरण का अंग्रेजी शब्द रेनेसो (Renaissance) है। यह फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'पुनर्जन्म'। अतः पुनर्जागरण मनुष्य की उपलब्धियों की ओर संकेत करता है। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप जनसाधारण क्रमशः पर-लोक में रुचि कम रखने लगा और इस लोक के विषय में अधिक जिज्ञासा रखने लगा। अतः पुनर्जागरण एक उदार सांस्कृतिक आन्दोलन था जो ऐतिहासिक आन्दोलन सिद्ध होने के स्थान पर तत्कालीन मानसिक स्थिति का द्योतक प्रमाणित हुआ। परन्तु कानरेड एप्पेल की धारणा है कि यह सांस्कृतिक आन्दोलन 13 वीं सदी में ही आरंभ हो गया था जो 14 वीं शती से 16 वीं शती तक विकसित होता रहा।

पुनर्जागरण की परिभाषाऐं

लार्ड एक्टन के अनुसार- पुनर्जागरण "नई दुनियाँ के प्रकाश में आने के उपरान्त प्राचीन सभयता की पुनः खोज, मध्य-युग के इतिहास को अन्त करने वाली तथा आधुनिक युग के आरंभ को सूचित करने वाली दूसरी सीमा की प्रतीक है। पुनर्जागरण यूनानी साहित्य के पुनः अध्ययन एवं उससे उत्पन्न परिणामों को सूचित करता है।''

सीमास के अनुसार—'रेनेसां' एक ऐसा आन्दोलन है जिसके फलस्वरूप पश्चिम के राष्ट्र मध्य-युग से निकलकर वर्तमान युग् के विचार तथा जीवन की पद्धतियों को ग्रहण करने लगे।

हेज के अनुसार—"राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय राज्यों के उत्थान व निरंकुश राजतन्त्रों के अभ्युदय एवं व्यापारिक क्षेत्र में पूंजीवाद की वृद्धि व यूरोपीय प्रसार की भांति समान रूप से महत्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति, पन्द्रवीं तथा सोलहवीं शती की यह वह बौद्धिक जागृति थी, जिसने आधुनिक समाज एवं सभ्यता को अत्याधिक मात्रा में प्रभावित किया।"

वैनलून ने कहा है कि "रेनेसां" (पुनर्जागरण) राजनीतिक अथवा धार्मिक आन्दोलन न होकर मानस की एक विशिष्ट स्थिति को उजागर करता है।"

डेविस के अनुसार–"पुनर्जागरण शब्द मानव के स्वातन्त्र प्रिय साहसी विचारों को, जो मध्य-युग में धर्माधिकारियों द्वारा जकड़े व बन्दी बना दिए गये थे, व्यक्त करता है।"

फिशर के अनुसार–"मानववादी आन्दोलन का आरम्भ धर्म के क्षेत्र में नवीन दृष्टीकोण स्थापत्य एवं चित्र-कला का नया स्वरूप, व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का विकास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और छापेखाने का आविष्कार इत्यादि विशेषताओं के साथ हुआ और वहीं सामूहिक रूप से 'सांस्कृतिक नवजागरण' कहा जाता है।"

उपयक्रक्त तथ्यों व इसके स्वरूप से यह स्पष्ट है कि पुनर्जागरण एक आकस्मिक घटना नहीं थी। यह एक वह आन्दोलन था जिसकी प्रक्रिया चौदहवीं सदी से सोलहवीं सदी के अन्तिम वर्षो तक चलती रही।

क्या पुनर्जागरण मौलिक था?- निःसन्देह पुनर्जागरण यूरोप की एक महान् युगान्तकारी घटना थी। इसे उत्तर-मध्य-युग व आधुनिक युग को मिलाने वाला सेतु कह सकते हैं। उत्तर मध्यकाल को आधुनिक युग से मिलाने के लिए इस आन्दोलन ने मानव-विचारों में परिवर्तन लाने हेतु एक दीर्घकालीन क्रांति का आयोजन किया। इसीलिये प्रो. वीच ने कहा है- "पुनर्जागरण का आरम्भ यूरोपीय इतिहास की कोई आकस्मिक घटना नहीं थी।" चौदहवीं शताब्दी से पूर्व भी समय-समय पर वैयक्तिक अथवा सामूहिक मानसिक उद्वेग, चिन्तन और मनन के उदाहरण मिलते हैं। ऐसे प्रत्येक अवसर पर नवीन चिन्तन का प्राचीनता से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। पुनर्जागरण से पूर्व इस प्रकार का बौद्धिक आंदोलन कैरोलिर्गियन (Carolingian) सम्राट चार्ल्स महान के समय में हुआ था। पर वह भी यूनान-रोमन सभ्यता के तत्वों से प्रभावित था। इसका प्रारंभ 9 वीं सदी में हुआ था। चार्ल्स के इस लोक से विदा होते ही उस बौद्धिक आन्दोलन के प्रभाव समाप्त हो गये। अतः लोगों को इसके बारे में कम जानकारी है।

इसी प्रकार का दूसरा आन्दोलन 12वीं सदी में हुआ था और उसे अलबिजेनसियन (Albigansian) की संज्ञा दी गई थी। इसके विकास में मानववादी विचारों की आधिक भूमिका थी। यह धार्मिक से अधिक बौद्धिक, सामाजिक व साहित्यिक विकास का उदाहरण था। परन्तु पादरी वर्ग ने इसे फलीभूत नहीं होने दिया।

तीसरा पुनर्जागरण आन्दोलन सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय के समय हुआ। फ्रेडरिक धार्मिक संकीर्णता का विरोधी था तथा मानसिक-स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता का समर्थक था। मानसिक स्वतन्त्रता तथा आत्म-निर्भरता पुनर्जागरण के प्रमुख लक्षण थे। इस स्वतन्त्रता का मूल कारण यह था कि फ्रेडरिक पाश्चात्य विचारों से प्रभावित था। एक अर्थ में वह आधुनिक व्यक्ति था। उसने नेपिल्स (Naplesa) में एक विश्व-विद्यालय की स्थापना भी की थी। उसने एलबिजेनसियन विद्वानों को अपने यहां आश्रय भी दिया था। उसकी इस नीति के कारण सिसली में उस बौद्धिक एवं साहित्यिक वातावरण का सृजन हुआ जिसका पुनर्जागरण काल में इटली के कई शासकों ने अनुसरण किया।

दांते (Dante) ने भी पुनर्जागरण का पूर्वाभास दिया था। उसकी 'डिवाइन कॉमेंडी' (Divine Comedy) मध्य-युग का महाकाव्य (Divine right of Kingship) माना गया है। उसका धर्मशास्त्र मध्य-युग का शास्त्र था। अपने युग के अन्य लोगों की तरह वह भी पोपतन्त्र तथा राजतन्त्र के दैवी-सिद्धांत में विश्वास करता था। धर्मद्रोह से उसे चिढ़ तथा भय था। ग्रीको लक्षणों से युक्त होने पर भी वह आने वाले नव-युग का मसीहा तथा पुनर्जागरण का अग्रदूत माना गया है। वर्जिल (Virgil) उसका आदर्श था। अपनी आत्म-निर्भरता, तार्किक प्रवृति और अत्याधिक वैयक्तिकता के कारण वह मध्यकालीन से भी अधिक अर्वाचीन जान पड़ता है।

अतः स्पष्ट है कि पुनर्जागरण एक मौलिक आन्दोलन नहीं कहा जा सकता। इसके कई लक्षण पहले से ही विद्यमान थे। इस आन्दोलन के जो प्रमुख लक्षण माने जाते हैं, वे लक्षण इससे पूर्व होने वाले बौद्धिक आन्दोलनों में विद्यमान थे। फिर दांते को तो पुनर्जागरण का अग्रदूत (Apsotle) कहा गया है।

पुनर्जागरण के उत्थान के कारण

1. कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार

1453 ई. में आटोमान तुर्कों ने बाईजाईन्टाइन साम्राज्य की राजधानी पर अधिकार कर लिया। कुस्तुनतुनिया पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी होने के कारण यूनानी विद्वानों एवं कलाकारों का केन्द्र था। परन्तु ज्यों ही यह तुर्कों के अधिकार में

गया, मुसलमानों ने ईसाइयों पर नाना प्रकार के अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। उन अत्याचारों से पीड़ित यूनानी विद्वान शरण लेने हेतु पश्चिमी रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम में आ गये। टर्की से पलायन करते समय यूनानी विद्वान अपने ग्रंथों को अपने साथ ले आये। इस प्रकार उनके आ जाने से रोम यूनानी व रोमन साहित्यक सामग्री का केन्द्र बन गया। यूनानी विद्वानों ने रोम में आकर रोमवासियों में यूनानी साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों की मान्यता है कि इटली में यूनानी साहित्य 14वीं सदी के अन्तिम दशक से ही लोकप्रिय होने लग गया था। इन विद्वानों ने रोम व फ्लोरेंस नगरों में अपने भाषणों से यूनानी साहित्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी और 1439 से पूर्व ही मानववादी अकादमी की स्थापना कर दी थी। इस अकादमी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित विद्वान निकोलस क्रेसोना थे।

उन दिनों कस्तुतुनिया का व्यापारिक दृष्टि से अपना अलग ही महत्व रखता था। 1453 में यूरोपवासी एशियाई देशों से व्यापार इस मार्ग से ही करते थे। यह मार्ग एशिया और यूरोप को जोड़ने वाला था। अतः जब तुर्कों ने इस पर अधिकार कर लिया तो यूरोपवासियों को अन्य मार्ग ढूढ़ने को बाध्य होना पड़ा। नवीन मार्गों की खोज में यूरोपवासी विश्व के अन्य कई देशों के सम्पर्क में आये । उस सम्पर्क से भ यूरोपवासियों के जीवन में परिवर्तन आया तथा उनके ज्ञान की वृद्धि हुई। इसीलिए लार्ड एक्टन ने सही कहा है कि आधुनिक इतिहास का आरंभ आटोमन विजयों के दबाव से हुआ। अन्य इतिहासकार भी इसे महत्व देते हुए कहते हैं कि पुनर्जागरण 1453 की घटना से ही आरंभ हुआ।

2. बड़े-बड़े नगरों का आबाद होना

मध्य युग की समाप्ति तक यूरोप के विभिन्न देशों में बड़े-बड़े नगर आबाद हो गये थे। नगरों के विकास के भी कई कारण थे। उनमें व्यापार का पुनरुत्थान प्रमुख था। व्यापार के विकसित होने से वेनिस, फ्लोरेन्स, लिसबन, हम्बर्ग प्रमुख नगर बन गये थे। व्यापार के विकसित होने के कारण धनी व्यापारी-वर्ग नगरों में निवास करने लगा। धन की प्रचुरता से अमीरों की इच्छाएं दिनों-दिन वृद्धि पाने लगीं और उनका जीवन विलासी होने लगा। वे निवास के लिये उच्च एवं भव्य महलों का निर्माण कराते थे। उनके भवन सुन्दर चित्रों व मूर्तियों से अलंकृत होते थे। महल भी नवीन स्थापत्य गौथिक शैली पर आधारित होने लगे। इस प्रकार नगरों के विकास ने नवीन कला के सृजन में योग दिया।

3. धर्म-युद्ध

अपने आस्तित्व की रक्षा हेतु ईसाइयों को मुसलमानों के साथ कई धर्म-युद्ध करने पड़े। यह सत्य है कि अधिकांश धर्म-युद्धों में ईसाइयों को मुंह की खानी पड़ी। उनको नाना प्रकार के आघात भी सहन करने पड़े, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन युद्धों के परिणामस्वरूप ईसाइयों में एकता की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने सामन्तवाद के स्थान पर शक्तिशाली राष्ट्रीय-राज्यों को अधिक पसन्द किया। इसके अलावा इन धर्म-युद्धों के समय पश्चिमी यूरोपवासियों को पूर्व के लोगों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इस सम्पर्क के कारण यूरोपवासी पूर्व के नवीन विचारों से अवगत हुए और उन्होंने उन विचारों को अपने यहां फैलाने का प्रयास किया। इसके अलावा इन युद्धों के समय वे तुर्कों के सम्पर्क में भी आये। उनकी स्थापत्य-कला को देखने का उन्हें अवसर मिला। उनकी मस्जिदों की गुम्बजों व विस्तृत मेंहराबों को अपनी स्थापत्य-कला में उतारने का उन्होंने प्रयास किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म-युद्धों के माध्यम से भी पश्चिमी यूरोप में नवीन विचारधारा का प्रस्फुरण हुआ।

4. छापेखाने का आविष्कार

पुनर्जागरण आन्दोलन की सफलता का श्रेय छापेखाने को भी जाता है। इसके अभाव में साहित्यिक व वैज्ञानिक ग्रन्थों की उपलब्धि जनसाधारण को किस प्रकार हो सकती थी ? 1450 ई. में इसका अविष्कार एक जर्मन वैज्ञानिक गुटनबर्ग (Gutenburg) ने किया था। इसका आविष्कार साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके आविष्कार का परिणाम यह हुआ कि बाइबिल ढेरों में छपने लगी। जनसाधारण के हाथों में वह सरलता एवं सस्ते दामों में आने लगी। जनसाधारण धर्म का सही अर्थ समझने लगा। लोग धार्मिक अन्धविश्वासों से आवृत नहीं रहे। उनके दिलों में शिक्षा के प्रसार से ज्ञान-दीपक प्रज्वलित हुआ। शिक्षा व धर्म का ज्ञान धर्माधिकारियों की बपौती नहीं रहा। आम लोगों में बौद्धिक विकास सम्भव हो सका। जनसाधारण को अपने दयनीय जीवन का आभास हुआ। अब वे आशावादी बनकर अपने सुन्दर भविष्य की कल्पना करने लगे। साहित्यिक सामग्री के वितरण की इस व्यवस्था पर किसी विद्वान ने कहा है कि वास्तव में जैसे लोहे

के आविष्कार से दस्तकारी के साधन सस्ते हो गये और जन साधारण की पहुंच में आ गये। उसी प्रकार मुद्रण-कला के आविष्कार से विचार के साधन सस्ते और सुलभ हो गये और वे जनसाधारण के हाथों में आने लगे।

5. मानववाद का प्रचार

यह शब्द लैटिन भाषा के शब्द ह्यूमनिटास (Humanitas) से उद्‌भूत है जिसका अर्थ 'उन्नत ज्ञान' है। मानववादी मनुष्यों की धर्म-शास्त्र के प्रति कोई रुचि नहीं थी। वे जनसाधारण को सुसंस्कृत बनाने के लिए प्राचीन साहित्य पर जोर देते थे। इस शब्द का प्रथम प्रयोग जर्मन विद्वान एफ.जे. नीच हैमर ने किया था। इस प्रकार यूरोप के विद्वानों में मानववाद शब्द का आविर्भाव हुआ। मानववाद का तात्पर्य उस उन्नत ज्ञान से है जिसमें मानवता, माधुर्य और जीवन की वास्तविकता निहित है। इसके सामने आध्यात्मिकता एवं धर्म-शास्त्र का महत्व गौण है। पेट्रार्क और उसके अनुयायियों ने मानववाद का खूब प्रचार किया। उन्होंने व्यक्ति के पूर्ण विकास को मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना तथा मानव समाज को लौकिक जीवन की ओर अधिक आर्कषित किया। मानववादियों की धारणा थी कि इस जीवन को आनन्द से बिताना चाहिए और दूसरे जन्म के लिये चिन्तित रहना व्यर्थ है। इस धरणा से मानववादी धीरे-धीरे धार्मिक मिथ्याडम्बरों से मुक्त होने लगे और अपना स्वतन्त्र चिंन्तन करने लगे। इस वाद का प्रसार सर्व-प्रथम इटली और तदुपरान्त फ्रांस में हुआ। आधुनिक इतिहासकार कन्फ्यूसीयसवाद तथा ताओवाद में भी मानववाद का प्रभाव मानते हैं। मानववाद के अनुयायी मानववादी कहलाये। मानववादी यूनान के प्राचीन साहित्य से प्रभावित थे।

6. वैज्ञानिक चेतना

पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के बीच विज्ञान का धीरे-धीरे विकास हुआ। वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों द्वारा जनसाधारण में विद्यमान जड़ता और अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयास किया। इन वैज्ञानिको ने प्रयोग और तर्क के आधार पर सत्य की खोज का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्यों के विचार में तर्क प्रधान होने लगा और वे किसी भी बात को बिना प्रमाण मानने को उद्यत नहीं होते थे। इस दिशा में अंग्रेज साधु रोजर बेकन तथा देकार्ते का विशेष योगदान था। हालांकि रूढ़ीवादियों ने वैज्ञानिकों के विचारों का विरोध किया परन्तु अन्तिम सफलता वैज्ञानिकों को ही मिली।

7. भौगोलिक खोजें

यूरोप के पुनरुत्थान और विकास में भौगोलिक खोजों का भी बड़ा हाथ रहा है। कुस्तुनतुनिया मार्ग अवरुद्ध होने से यूरोपवासियों को एशिया आने के लिए नवीन मार्गों की खोज करना अनिवार्य हो गया। इस कार्य का नेतृत्व स्पेन और पुर्तगाल ने किया जिनके संरक्षण में अनेक साहसी नाविकों व व्यक्तियों ने नवीन समुद्री मार्ग खोज निकाले। इन भौगोलिक खोजों से व्यापारियों के समक्ष व्यापार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया। यूरोप के व्यापारी भू-मध्य सागर के क्षेत्र से बाहर निकल अन्य महासागरों को लांघते हुए विश्व में भ्रमण करने लगे। इससे यूरोपवासियों की कूपमंडूकता तथा उनके अन्धविश्वास का निवारण हुआ। नवीन देशों की खोज से वे लोग विश्व की अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क में आये। इसके फलस्वरूप यूरोपवासियों में नवीन विचारधाराएं पनपीं और वे सामन्त तथा धर्माधिकारियों के अत्याचारों से मुक्त होने का प्रयास करने लगे।

8. वाणिज्य एवं व्यापार में उन्नति

भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप यूरोप का व्यापारिक क्षेत्र विस्तृत हो गया। पूर्व में यूरोपवासी भारत व हिन्देशिया तक तथा पश्चिम में अमेरिका तक व्यापार करने लगे। व्यापार को विकसित एवं समुन्नत बनाने की दृष्टि से उन्होंने अच्छे प्रकार के जहाज बनाना आरम्भ किया। योग्य एवं समझदार नाविक उन्हें चलाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप का व्यापारिक क्षेत्र दिनों-दिन विस्तृत होता गया और विदेशों से यूरोप में धन (सोना-चाँदी) प्रचुर मात्र में आने लगा। धनी व्यापारी अब सुख से जीवन व्यतीत करने लगे। व्यापार में अर्जित पूंजी से वे नवीन कला पर आधारित भव्य-भवन बनाने लगे। फुरसत के समय वे पुस्तकों का अध्ययन भी करने लगे। वे राजनीति व प्रशासन में भाग लेने लगे। शासन-प्रणाली में भी वे परिवर्तन चाहने लगे। कैथोलिक पादरी ब्याज लेना निन्दनीय बताते थे। अतः धनी वर्ग के लोग चर्च व धर्माधिकारियों की आलोचना करने लगे। व्यापार के माध्यम से वे जिन देशों के सम्पर्क में आये उनके विचारों को वे अपने यहाँ स्थान देने लगे। इसके परिणामस्वरूप भी यूरोप में नवीन विचारधारा का अविर्भाव हुआ।

9. पूंजीवाद का आरम्भ

व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप के देशों में पूंजीवाद का सूत्रपात हुआ। पूंजीवाद से यूरोप में अनेक दोष भी उत्पन्न हुए पर पुनर्जागरण को फलीभूत बनाने में भी पूंजीवाद बहुत सहायक सिद्ध हुआ। यह पूंजीवादी व्यवस्था ही थी जिससे सुन्दर नगरों का निर्माण हुआ और उनमें नवीन स्थापत्य-कला, चित्र कला व मूर्ति-कला का विकास हुआ। पूंजीपति लोगों के भव्य प्रसादों में ही इन कलाओं की रमणीयता देखी जा सकती थी। कलाकारों ने इनके आश्रय में ही अपनी कला को निखार दिया। धनी पुरुषों के भवनों में प्राचीन, मध्य-युगीन कला का प्रदर्शन व साहित्यिक कृतियों का संग्रह देखा जा सकता था। अपने धन की सहायता से धनी-वर्ग ने शासकों को शक्तिशाली बनाया जिन्होंने अपने नाविकों को दूसरे देशों के जल-मार्ग खोज निकालने को प्रोत्साहित किया। इन धनी पुरुषों ने ही मानववादी विचारधारा को अपना कर परलोक की चिन्ता छोड़ दी तथा इहलोक में अपना जीवन सुखी बनाने का प्रयास किया। उन्होंने सुख की नाना प्रकार की सामग्रियां जुटाईं। वे सब इस बात का प्रमाण देती थीं कि यूरोप अब नई कला व सभ्यता की ओर उन्मुख हो रहा है।

10. ब्राह्मणवादी विचारधारा का प्रभाव

मध्ययुगीन दर्शन स्कौलैस्टिक विचारधारा से प्रभावित था। तेरहवीं सदी में इस दर्शन का काफी प्रचार हुआ। इस विचारधारा का आधार अरस्तू का तर्कशास्त्र और सेन्ट आगस्टाइन का तत्व-ज्ञान था। इस विचारधारा के व्यक्ति धर्म तथा तर्क दोनों में विश्वास करते थे। 1500 के करीब इस विचार के लोगों का दार्शनिकों से मतभेद हो गया था; परन्तु बाद में इनका मानववादियों की विचारधारा से समन्वय हो गया और यह धारा यूरोप में पुनः प्रबल हो गई। पन्द्रवीं शती के उत्तरार्द्ध में यह कई धाराओं में विभक्त हो गया। दो धारायें अर्वाचीनता व प्राचीनता पर आधारित थीं। आधुनिक विचारधारा से इरफर्ट और वियाना का विश्वविद्यालय भी प्रभावित था। इस विचारधारा का कहना था कि धर्म-शास्त्र को समझने के लिये श्रद्धा आवश्यक है। मार्टिन लूथर भी इसी विचारधारा से प्रभावित हुआ था जो कि आगे धर्म-सुधार आन्दोलन का प्रणेता बना। दूसरी धारा ने, जो कि प्राचीनता पर आधारित थी, तर्क पर विशेष जोर दिया। वह धारा थामस अक्वीनास के विचारों से प्रभावित थी। इसी प्रकार हम देखते हैं कि इस पाण्डित्यवाद ने भी यूरोप के विचारकों में तर्क की भावना तथा विज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न की। इसका परिणाम यह निकला कि अब लोग तर्क-सम्मत धारणाओं पर विश्वास करने लगें, और तर्कहीन मान्यताओं से मुंह मोड़ने लगे। परन्तु स्कालस्टिक विचारधारा अधिक दिनों तक टिक नहीं सकी क्योंकी इसमें बौद्धिक तत्व एवं तर्क की जो प्रधानता थी वह अधिकांश लोगों की आत्माओं को शान्ति प्रदान नहीं कर सकी। आक्सफोर्ड निवासी रोजर बेकन ही ने इस विचारधारा का विरोध किया। इतिहासकार एच.जी. वेल्स तर्क में राजेर बेकन को अरस्तू के बाद दूसरा स्थान देता है। बेकन तर्क पर अधिक जोर देता था और साथ ही अरस्तू की तरह प्रयोग करने का भी पक्षपाती था। परन्तु उसे अरस्तु के विचारों से नफरत थी। उसका कहना था कि अरस्तू के विचारों के अध्ययन में समय व्यर्थ जाता है।

11. विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना

चंगेजखां की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र कुबलाई खां ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। उसके साम्राज्य में समस्त पोलैण्ड, रूस, हंगरी, आदि प्रदेश थे। उसके दरबार में विभिन्न देशों के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान सदैव बने रहते थे। पेकिंग व समरकंद अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक केन्द्र बन गए थे। अतः इस युग में पूर्व और पश्चिम में वास्तविक सम्पर्क स्थापित हुआ। वेनिस निवासी मार्को पोलो 1272 ई. में उसी दरबार में चीन गया था। वहां सें लौटकर उसने अपनी यात्रा का विशुद्ध वर्णन किया। इस वर्णन से यूरोपवासी एशियायी देशों में जाने को आतुर हो गये। कहते हैं कि वास्कोडिगामा व कोलंबस को भी नवीन देशों की खोज की प्रेरणा इसी यात्रा से मिली थी। इसके अलावा मार्को पोलो ने पश्चिम वालों को पूर्वी देशों के रहस्यों से भी परिचित कराया।

पुनर्जागरण इटली में प्रथम आरम्भ क्यों हुआ ?

यद्यपि पुनर्जागरण शनैः शनैः समस्त यूरोप में प्रसारित हुआ था तथापि इसका प्रारंभ सर्व प्रथम 13०० ई. के लगभग इटली में हुआ। इसके कारण निम्नलिखित थे-

1. इटली के नगर ज्ञान व संस्कृति के केन्द्र थे—यूनानी विद्वान कुस्तुनतुनिया से भागकर इटली के रोम, फ्लोरेन्स, वेनिस व मिलान नगरों में एकत्रित हो गये। उनके यहां आने से बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन शैक्षणिक केन्द्रों के माध्यम से यूनानी व रोम के विद्वानों में विचारों का आदान-प्रदान आरंभ हुआ।

2. मानववाद का केन्द्र होना—मानववादी आन्दोलन का सर्वाधिक उत्कर्ष इटली में ही हुआ था। इस आन्दोलन में जिन विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ उनमें उल्लेखनीय थे-माईकेल एंजलों,मेंकियावेली, राफेल, दांते और पेट्रार्क। मानववाद का जन्म दाता पेट्रार्क ही माना जात है। दांते (1265–1321) इटली में पुनर्जागरण का प्रारंभ करने वाला था। तत्कालीन मानववादी विद्वानों में इरासमस का नाम प्रमुख है जिसमें अद्वितीय प्रतिभा, विद्वता व विचारों की गहनता थी। दांते व पेट्रार्क फ्लोरेन्स में ही रहते थे। दांते ने अपनी पुस्तक 'डिवाइन कॉमेंडी' के माध्यम से मध्ययुगीन रूढ़िवादी भावनाओं व सामन्तों के नैतिक पतन पर तीक्ष्ण प्रहार किया।

3. इटली के धनी नगर—मध्य-युग में इटली के कई नगर पूर्वी देशों से व्यापार कर धनी बन चुके थे। वे सांस्कृतिक प्रोत्साहन देने में समर्थ थे।इसके अतिरिक्त इन नगरों के धनी पुरुष नवीन कलाकृतियों को जुटाने में सक्षम थे। उन्होंने अपने धन से भव्य-प्रासाद बनाये व सुन्दर उद्यान लगवाये। सुन्दर उद्यानों में भी मानववाद पर आधारित फव्वारे होते थे। चित्र-कला व स्थापत्य कला का तो निखार सर्वप्रथम इटली के नगरों में ही हुआ था। सन्त पीटर का गिरजाघर जो रोम नगर में निर्मित है, आज भी विश्व का एक आश्चर्य बना हुआ है। इसके अलावा इटली के नगर यूनान व पश्चिमी एशियाई देशों के सर्वाधिक समीप पड़ते थे। पुनर्जागरण आन्दोलन ने अन्त में सहारा तो प्राचीन सभ्यता का ही लिया था और प्राचीन सभ्यता रोम के नगरों से कभी पूर्णतः नष्ट नहीं हुई थी। इस कारण भी इस आन्दोलन को इटली के नगरों से महान सहयोग मिला।

4. धर्म-युद्धों से लौटने वालों ने भी इटली को ही अपना निवास स्थान बनाया—मुसलमानों के विरुद्ध लड़े विभिन्न धर्म-युद्धों में यूरोप के लगभग सभी वर्गों ने भाग लिया था। पोप की प्रेरणा से किसान, सामन्त, शासक व व्यापारी इन धर्म-युद्धों में सम्मिलित हुए थे। युद्ध से लौटकर जब व्यापारी, सामन्त, किसान यूरोप आये तो उनमें से बहुत से इटली में ही बस गये। इस प्रकार जो पूर्वी देशों के व मुस्लिम सभ्यता के विचार अपने साथ लाये; उन्हें इटली में प्रसारित करने लगे। इसके परिणमस्वरूप भी यह आन्दोलन प्रथम इटली में ही आरम्भ हुआ।

5. लौरेन्जो का सहयोग—जैसा कि बताया जा चुका है कि इटली के धनी पुरुषों ने पुनर्जागरण को फलीभूत बनाने में महान सहयोग दिया। इन धनी पुरुषों में लौरेन्जों का नाम उल्लेखनीय है। वह फ्लोरेन्स का व्यापारी था और अपने धन की सहायता से वह फ्लोरेन्स की शासन व्यवस्था संचालित करता था। उसने फ्लोरेन्स को सुन्दर उद्यानों व भव्य प्रासादों से अलंकृत किया। उसने अपने महल में चित्र बनाने हेतु अच्छे चित्रकारों को आमन्त्रित किया। कलाकारों को उसने अपने यहां आश्रय दिया तथा उनकी पैन्शनें नियुक्त कीं। उसके इन प्रयासों का फल यह हुआ कि फ्लोरेन्स नवीन कला का केन्द्र तथा पुनर्जागरण में अपूर्व सहयोग देने वाला नगर बन गया। लौरेन्जों ने यूनानी पांडुलेखों का लेटिन भाषा में अनुवाद करवाकर पुनर्जागरण में अपना सहयोग प्रदान किया। इन्हीं कारणों से वेनिस उस समय इटली का एथेन्स बन गया था।

6. पोप निकोलस पंचम का सहयोग—सन्त पीटर के गिरजाघर का निर्माण कराने वाला पोप निकोलस पंचम ही था। उसने वेटिकन पुस्तकालय की स्थापना की तथा लगभग समस्त रोम का निर्माण करवाया। उसने भी रोम में उल्लेखनीय विद्वानों तथा कलाकारों को आमन्त्रित किया। लौरेन्ज यद्यपि पोप की सत्ता का विरोधी था तथापि वह उसके द्वारा आमन्त्रित किया गया तथा सम्मानित किया गया। इसलिए निकोलस पंचम के काल को पुनर्जागरण में 'स्वर्ण काल' कहा जाता है। परन्तु पुनर्जागरण आन्दोलन का प्रबल समर्थक होते हुए भी वह विचारों में मध्य-युगीन था। तुर्कों के विरुद्ध धर्मयुद्धों को आयोजित करने में भी उसका महान् हाथ था। इसकी भांति ही दूसरा पोप पियूस द्वितीय भी मानववादी था तथा पुनर्जागरण का प्रबल समर्थक था। इस कारण वह भी निकोलस के उपरान्त इस आन्दोलन को अपना सहयोग प्रदान करता रहा।

7. फ्लोरेन्स नगर का सांस्कृतिक केन्द्र होना—फ्लोरेन्स में उस समय शान्ति थी। अतः वहां साहित्य व कला का विकास सुगमता से हो सका। मानववादी विद्वानों का केन्द्र भी यही नगर था। लौरेन्जो भी इसी नगर का निवासी था जो स्वयं कला प्रेमी था। कई मानववादी विद्वान व कलाकार उसके संरक्षण में पलते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि फ्लोरेन्स सम्पूर्ण यूरोप की बौद्धिक राजधानी बन गया। इस नगर की आर्थिक समृद्धि ने कलाकारों के लिए अच्छी भूमिका तैयार कर दी। इटली में पुनर्जागरण का श्री गणेश करने वाला प्रथम व्यक्ति दांतें ही था और उसका जन्म भी फ्लोरेन्स में ही हुआ था।

8. रोम का लैटिन साहित्य का केन्द्र होना--पुनर्जागरण आन्दोलन में लैटिन व यूनानी भाषाएं ही सहायक सिद्ध हुई हैं। यूनानी साहित्य को कुस्तुनतुनिया से आने वाले यूनानी विद्वान् अपने साथ लाये तथा लैटिन साहित्य का भण्डार उन्हें इटली में उपलब्ध हो गया। पुनर्जागरण से पूर्व यूरोप की एक मात्र भाषा लैटिन ही थी। सारे ग्रन्थ लैटिन भाषा में ही रचे जाते थे। अतः इटली लैटिन साहित्य का केन्द्र प्राचीनकाल से ही चला आ रहा था अैर इसी कारण वह इस आन्दोलन को प्रेरणा देने का भी प्रधान केन्द्र बन गया। दांते कवि को पुनर्जागरण का महान् निदेशक एवं प्रणेता माना जाता है। वह इटली का ही निवासी था और उसने अपनी पुस्तक 'डिवाइन कॉमेंडी' (Divine Comedy) लैटिन भाषा में ही रची थी। इस ग्रन्थ में पोप तथा सामन्तों के नैतिक पतन की ओर जनसाधारण का ध्यान आकृष्ट किया गया था। उसने स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद की भावना का प्रसार किया और यही भावना नवीन संस्कृति के हर पहलू में पाई जाती है।

उपयफ्रक्त कारणों से स्पष्ट है कि नगर-राज्यों की स्थापना, पूंजीवादी उद्यम एवं संगठन और बुर्जआ जीवन मूल्यों की स्थापना ने इटली प्रायद्वीप में न केवल पुनर्जागरण को यूरोप में जन्म दिया वरन् उसे दिनों दिन विकसित भी किया।

पुनर्जागरण के प्रभाव

पुनर्जागरण किसी आकस्मिक घटना का तो प्रतिफल था नहीं। यह आन्दोलन तो यूरोपीय देशों को सदियों तक आन्दोलित करता रहा ओर मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों को इसने अपना प्रभाव स्थल बनाया। मानव-समाज का धर्म, विज्ञान, व्यापार, कला, शिक्षा, कृषि आदि सभी तो इसके कार्य-क्षेत्र में समाविष्ट थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस आन्दोलन के प्रभाव भी व्यापक ही पड़े और मानव-समाज इससे प्रभावित भी हो।

साहित्य पर प्रभाव--साहित्य के पुररुत्थान का पहला केन्द्र इटली था। चौदहवीं शताब्दी से ही इटली में यूनानी भाषा की ओर रुचि जागृत हो रही थी। इस नये युग का निर्देशक महाकवि दांते था। उसका जन्म इटली के फ्लोरेन्स नगर में हुआ था। अपनी प्रेयसी बिएट्रिससे विवाह न होन के कारण वह सांसारिक जीवन के प्रति तो उदासीन हो गया पर वह सदैव इटली के हित में सोचता रहा। उस समय इटली में अनेक छोटे बड़े राज्य थे। वे सदा एक दूसरे से झगड़ते रहते थे। इसके अलावा उस समय रोम के सम्राट व पोप के बीच भी दलबन्दियां सक्रिय हो गई थीं। अतः दांते ने अपना जीवन इटली की दशा सुधारने में लगा दिया था। यद्यपि धार्मिक दृष्टिकोण से दांते मध्यकालीन था तथापि अन्य कई क्षेत्रों में वह भविष्य का अग्रदूत था। उसने अपनी मातृभाषा इटेलियन में 'डिवाइन कॉमेंडी' नामक एक सुन्दर काव्य लिखा। इस काव्य में उसने नरक के मर्मस्पर्शी काल्पनिक दृश्यों को वर्णन किया है अतः स्पष्ट है कि यह काव्य दांते के काल्पनिक विचारों की उपज है फिर भी इसमें मध्ययुगीन भावनाएं, सामंत सरदारों के नैतिक पतन, तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था आदि की स्पष्ट झलक दृष्टव्य है। दांते स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवादी भावना पर बहुत बल देता था। उसने अरस्तू की 'सच्चे दार्शनिक' के रूप में प्रतिष्ठा की और रोम के प्रसिद्ध कवि वर्जिल को अपना पथ प्रदर्शक बनाया। रोम तथा यूनान के कवियों के द्वारा उसकी बड़ी प्रंशसा की गई है। दांते के पश्चात् पेट्रार्क ने साहित्य के पुनरुत्थान में बड़ा सहयोग दिया। उसने मध्यकालीन शिक्षा का परित्याग किया और विद्वानों का ध्यान यूनान तथा रोम के प्राचीन साहित्य-सौन्दर्य की ओर आकृष्ट किया। वह अपनी रचना सॉनेट में रचता था। उसने यूनान और लैटिन भाषा के लगभग दो सौ हस्तलिखित ग्रन्थ संकलित किये। पेट्रार्क को इटली का प्रथम आधुनिक व्यक्ति माना गया है। उसने ऐसे विषयों पर अधिक लिखा जिनके लिये सामान्य लोग इच्छुक थे। उसके प्रयत्नों से इटली के पुनर्जागरण ने साहित्य के क्षेत्र को बहुत प्रभावित किया। उसकी प्रतिभा का प्रभाव फ्लोरेन्स में ही दृष्टव्य नहीं था वरन् समस्त यूरोप में व्याप्त था। मानववाद को प्रेरणा देने वाला भी यही कवि पेट्रार्क था। उसके आत्मविश्वास तथा प्रयत्न से मध्यकालीन आध्यात्मवाद या धार्मिक रहस्यवाद की ओर से लोगों को वैराग्य उत्पन्न हो गया। अब जनसाधारण की अभिरुचि मानव के सुख-दुःख, सौन्दर्य, प्रेम और व्यवहारिक विज्ञान के अध्ययन की ओर उन्मुख हुई।

डेसीडेरियस इरास्मस--इरास्मस भी प्रमुख मानववादी था। हालांकि जन्म से वह डच था। मानववाद का प्रचारक होते हुए भी वह पुनर्जागरण की महान् विभूतियों में था। इटली में अधिक समय व्यतीत करने पर भी विश्व के बुद्धिजीवियों पर उसका प्रभाव छाया हुआ था। उसने 'मूर्खता की प्रशंसा' (Praise of Fotty) पुस्तक लिखी। अपनी पुस्तक में उसने धर्माधिकारियों के पाखण्डों पर अच्छा व्यंग्य कसा है। इस पुस्तक के अब तक 600 संस्करण निकल चुके हैं।

यूरोप के अन्य देश--इटली के उत्तर में स्थित आल्पस पर्वत को पार कर पुनर्जागरण का आन्दोलन अन्य देशों में पहुंचा। इटैलियन भाषा की तरह अन्य देशों में भी प्रादेशिक भाषाएं विकसित हुईं। फ्रांसीसी भाषा सरसता और साहित्य की दृष्टी से लैटिन और इटैलियन भाषा से समता करने लगी। इस समय फ्रांस में रेबीलेस एक अच्छा गद्य लेखक था। उसने अपने उपन्यासों द्वारा मानव के स्वतन्त्र चिन्तन के महत्व पर प्रकाश डाला। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक (Gargantua) 'गर्गनतुआ'

पुनर्जागरण की संक्षिप्त कहानी मानी जाती है। उसकी रचनाएं व्यंग्यात्मक होती थीं। मोन्टेगन एक अच्छा निबन्ध लेखक था। वह अपनी ओजपूर्ण शैली एवं भावों के स्पष्ट व्यक्तिकरण के कारण फ्रांस का तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ गद्य लेखक बन गया था। वह वास्तव में व्यक्तिवादी था और व्यक्तिगत अनुभव ही उसकी रचनाओं के विषय थे। गीत-काव्य में रानसर्द विख्यात था। दांते के अलावा पेटार्क और बाकेशियो भी ऐसे विद्वान थे जिन्होंने अपनी रचनाएं इटली भाषा में ही कीं। बोकेशियो ने अपनी कृति 'दिकामरो' में तत्कालीन इटली के सम्पन्न तथा संभ्रांत समाज के नैतिक भ्रष्टाचार की कहानियां प्रस्तुत कीं। टैसियों तथा एरिटों भी इटली के ही महान लेखक थे। मेंकियावली ने अपने ग्रन्थ 'प्रिन्स' की रचना भी इतालबी भाषा में ही की। इंग्लैण्ड में भी साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण का प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। शेक्सपीयर जैसा विश्व-विख्यात नाट्कार एवं कवि इसी पुनर्जागरण के युग में इंग्लैण्ड में पैदा हुआ था। उसके दुखान्त नाटक हैमलेट तथा मेंकबैथ की तुलना यूनान के दुखान्त एसल्किस, सोफोक्लीज तथा यूरीयाइडीस से की जाती है। बहुत से आलोचकों का कहना है कि संसार में उसके समकक्ष कोई नाटककार अब तक नहीं जन्मा है। फ्रांसिस बेकन इंग्लैण्ड का तत्कालीन एक अच्छा निबन्ध-लेखक था और आज भी उसकी गणना अच्छे निबन्ध-लेखकों में होती है। बेन फिंगर का कहना है कि फ्रान्सिस बेकन ने मानव-मस्तिष्क को व्यर्थ के धार्मिक विचारों से हटाकर प्रकृति के अध्ययन व भविष्य के मानव हित की ओर लगा दिया। फिलिप सिडनी ने इस समय भाषा को सुधारने का प्रयास किया और सर टामस मूर ने उटोपिया नाम की एक काल्पनिक पुस्तक लिखी। इसमें उन्होंने अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक बुराइयों की आलोचना की है। स्पेन में इस समय सर्वान्टीज एक अच्छा गल्प-लेखक था। उसने डान क्विकजोट नामक एक पुस्तक लिखी। पुर्तगाल में केमोयेन्स एक प्रसिद्ध लेखक हुआ। प्रसिद्ध लेखक जॉन ड्रिंकवाटर के कथनानुसार अंग्रेजी लेखक शेक्सपीयर, फ्रांसीसी लेखक रेबीलेस तथा स्पेनवासी सर्वान्टीज इस पुनर्जागरण विचारधारा के तीन प्रकाण्ड पंडित थे। इन सब लेखकों ने कथावस्तु के लिए धार्मिक विषय नहीं चुने। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा मानव-जीवन की साधारण घटनाओं को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। भाषा का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन होना आरम्भ हुआ। इस प्रकार से पुनर्जागरण के युग में यूरोपीय देशों के साहितय में नवीन विचारधाराएं उत्पन्न हुईं और उनके प्रभाव से नवीन ढंग से अध्ययन होना आरम्भ हुआ। इससे स्पष्ट है कि पुनर्जागरण के समय यूरोप के विभिन्न देशों में साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ।

इटली की कला पर प्रभाव—कला-क्षेत्र में भी पुनर्जागरण का प्रभाव इटली में ही सर्वप्रथम लक्षित हुआ। इटली की कला की प्रमुख विशेषता यह थी कि वह सौन्दर्यपूर्ण होते हुए भी भौतिक तथ मानसिक दबाव से मुक्त थी। कला के विकास में इटली के विकसित व्यापार ने बहुत सहयोग दिया। प्रायः प्रत्येक नगर में अच्छे कलाकार होते थे और नगर के धनी लोग उनके संरक्षक होते थे। स्थापत्य कला में इटली ने इतनी उन्नति की कि आधुनिक स्थापत्य कला उसकी ऋणी है। फिलीपो ब्रुनेश्लेची इटली का पुनर्जागरण के समय का सबसे अच्छा भवन निर्माता था। पुनर्जागरण के समागम से पूर्व इटली की स्थापत्य-कला धार्मिक विचारधाराओं से बंधी हुई थी और उस कला के दर्शन भी केवल गिरजाघरों में ही होते थे। अब रोमनस्क शैली का ह्रास होने लगा और उसके स्थान पर गोथिक शैली का प्रयोग होने लगा। इसके अन्तर्गत प्राचीन और अर्वाचीन स्थापत्य कला को संयुक्त कर नवीन प्रकार की कला को जन्म दिया गया। नवीन भवन-निर्माण कला पर यूनानी कला का प्रभाव बना रहा। इसी शैली का सबसे सुन्दर नमूना सेंट पीटर का गिरजाघर है। इसका निर्माता माइकेल एंजेलो ही था। कहा जाता है कि वह अपनी मृत्यु के दिन तक 90 वर्ष की आयु में भी इसके निर्माण में लगा रहा। इस शैली के अनुसार भवनों में अब गुम्बद और मेंहराब अधिक बनने लगे। गुम्बदों के अलावा बुर्ज व आश्रय आदि का निर्माण भी होने लगा। खिडकियां चौड़ी होती थीं तथा उनमें रंगीन सुन्दर शीशा लगाया जाता था। इस समय इटली के विख्यात भवन निर्माताओं में माइकेल एंजलो के अलावा लोरेंबोगिवर्टी और रैफल थे। इन कलाकारों के प्रभाव से स्थापत्य कला का सुन्दर नमूना अब शासकों के महलों और धनी पुरुषों के भव्य भवनों में भी दृष्टिगोचर होने लगा।

इटली की चित्रकला भी फ्लोरेन्स नगर से विकसित हुई। इस कला को उन्नत बनाने में ल्यूनार्डो-डी-विन्सी का बड़ा हाथ था। वह लिखता है: "अच्छे चित्रकार को दो प्रमुख वस्तुओं का चित्रण करना होता है-मनुष्य और उसके मन की भवनाएं।" चित्रकार अब धर्माधिकारियों के चित्र ही चित्रित नहीं करते थे, वरन् वे अब अपनी चित्रकला द्वारा लौकिक जीवन की झांकी से भी जनसाधारण को परिचित कराने लगे थे। मनुष्य की शारीरिक विशेषताओं से आकर्षित हो कर उन्होंने सुन्दर चित्रों की रचना की । उनमें मोनोलिसा तथा लास्ट सपर उसके अनुपम चित्र हैं। माइकेल एन्जलो को भी इस काल को उन्नत करने का श्रेय प्राप्त है। फ्लोरेन्स के मेंडिसी प्रासाद की दीवारों पर चित्रित चित्र आज भी पुनर्जागरण के प्रतीक बने हुए हैं। वह सुन्दरता का पुजारी था तथा अपने चित्रों में सजीवता लाने के लिए वह पुरुषों के नग्न चित्र भी चित्रित करता था। उसका 'अन्तिम निर्णय' नामक चित्र अति विख्यात है। इस चित्र के बनाने में उसे बीस वर्ष लगे थे। इस चित्र को देखने से

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य भय एवं आतंक से त्रस्त है तथा उसे ईश्वर से प्रेम व दया की कोई आशा नहीं है। उसने मानव के शरीर-विज्ञान का अध्ययन किया था। उसका कहना था कि चित्र मस्तिष्क से बनाये जाते हैं, हाथ से नहीं। उसने मनुष्य को सृष्टि की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति माना है। एंजलो ने अपनी इसी धारणा पर 145 चित्र बनाये। परन्तु उसके अन्तिम निर्णय के चित्र से ऐसा आभास होता है कि उसे अपनी जीवन-काल में अधिक ख्याति नहीं मिली। सेंट पीटर गिरजाघर की भीतरी छत पर उसके चित्र आज भी चित्रकारों के लिये आश्चर्य की वस्तु बने हुए हैं। चित्रकला में प्रकृतिवाद का प्रथम प्रवर्त्तक जीओतो था। मसासियो भी इसी श्रेणी का चित्रकार था। उसने भित्तिचित्रों के माध्यम से प्रकृतिवाद को आगे बढ़ाया। राफेल भी माइकेल एंजेलो की भांति चित्रकार था। उसने मातृत्व ओर वात्सल्य भाव के आकर्षण तथा सजीव चित्र बनाये। उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय है 'सिस्टाइन मेंडोना।' इसकी गणना विश्व के सुन्दर चित्रों में होती है।

यूरोप के अन्य देशों की कला पर प्रभाव—इटली की स्थापत्य कला का सर्वाधिक प्रभाव फ्रांस पर पड़ा। इटली के कारीगरों ने फ्रांस जाकर वहां के शासक फ्रान्सिस प्रथम के लिए नवीन शैली पर आधारित अनेक सुन्दर भवन बनाये। स्पेन में फिलीप द्वितीय का भव्य प्रासाद भी इटली की स्थापत्य कला के नमूने पर ही निर्मित है। जर्मनी का हैडेलबर्ग किला भी इस बात का द्योतक है कि जर्मनी भी प्राचीन शैली से विदाई ले रहा था और इटली की नवीन शैली से अपना सम्बन्ध जोड़ रहा था। इंग्लैण्ड में स्थापत्य कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण का प्रभाव देर से पड़ा। वहां सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में इनिगो जौन्स के इटली की से लौटने पर इटली स्थापत्य शैली का प्रभाव पड़ा। सेन्ट पॉल का गिरजाघर उस शैली का रम्य नमूना है।

स्थापत्य-कला में कलाकारों ने गोथिक शैली का परित्याग कर यूनान व रोम की प्राचीन कला को अपनाया था, लेकिन साथ में ही उस पर अपने युग की छाप भी रखी। तक्षण-कला के क्षेत्र में जीवर्टी तथा दांतेलो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इटली की चित्रकला और मूर्तिकला का प्रभाव भी यूरोपीय देशों पर व्यापक रूप से पड़ा। चित्रकला के क्षेत्र में जर्मनी सर्वाधिक इटली से प्रभावित हुआ। जर्मनी के कलाकार ड्यूरर ने जर्मन-चित्रकला का विकास किया। इसके बाद हेन्स हालवेल एक विख्यात चित्रकार जर्मनी में पैदा हुआ। वह उस समय जर्मनी का सबसे महान् चित्रकार था। वह अपने अन्तिम वर्षों में इंग्लैण्ड गया और वहां उसने नवीन शैली पर हेनरी अष्टम का एक सुन्दर चित्र तैयार किया। सत्रहवीं शताब्दी में हालैण्ड में उच्चकोटि के चित्रकार वेलेसक्वीज ने अपनी सुन्दर चित्रकारी से स्पेन को अलंकृत किया। वह भी उस काल का महान् चित्रकार समझा गया है। टाइटियन का तैलचित्र विख्यात है। इसकी गणना विश्व के सुन्दर चित्रों में होती है। फ्लैन्डर्स निवासी वैनडयक तथा डच रेम्ब्रां भी उस युग के विख्यात चित्रकार थे।

संगीत कला—इतिहासकार हेज का कहना है कि संगीत कला का विकास सोलहवीं शताब्दी में पर्याप्त रूप से हुआ। इसका कारण यह था कि मध्यकाल में गिरजाघरों में संगीत वर्जित था। बाद में ऐसा नहीं रहा। गिरजाघरों में सेंट एम्ब्रोस ने संगीत का होना आवश्यक बताया। मार्टिन लूथर ने अपना धर्म यूरोप में चलाया तो नवीन धर्म में गीतों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार संगीत कला भी शनैः शनैः विकसित होने लगी। पैलेस्ट्रीना उस समय इटली का विख्यात गायक था। इसका यह नाम इसके जन्म-स्थन पर पड़ा। उसने 1554 ई. में अपनी रचना 'Massesa' प्रकाशित कराई। इस ग्रंथ की रचना इतनी सुन्दर है कि यह आज तक लोकप्रिय बनी हुई है। पूर्वी प्रभाव के कारण संगीत में नवीन राग-रागनियों का विकास हुआ। उससे आधुनिक संगीत की नींव पड़ी। 'ग्रिगोरियन' धुन का जन्म पहले तथा 'काउन्टर प्वाइंट धुन' का विकास बाद में हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुनर्जागरण के फलस्वरूप यूरोप में कला का सर्वांगीण विकास हुआ और उस काल की कला को अज तक मात नहीं दी जा सकी है। पुनर्जागरणकालीन कला का सबसे आश्चर्यजनक गुण उसका नैसर्गिक गुण था। उसमें कुछ भी अप्राकृतिक दृष्टिगत नहीं होता और न ऐसा लगता है कि व्यर्थ का श्रम किया है। उस काल की कला ने मानव के प्रत्येक पहलू को दर्शाना चाहा है। पुनर्जागरण की कला का लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण उसका स्वतंन्त्र चिन्तन एवं उसका व्यक्तिवाद पर आधारित होना था।

विज्ञान पर प्रभाव—विज्ञान का विकास मध्ययुग की अन्तिम शताब्दियों में ही आरम्भ हो गया था। रॉजर बेकन प्रयोगीय विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। उसने आर्थिक बन्धनों की चिन्ता न कर मानव समाज की मूर्खता व अज्ञानता के अन्धकार को दूर करने का सराहनीय प्रयास किया। उसके समय में लोग तर्क की कसौटी पर न कस कर अपनी धारणायें चार बातों

पर बनाते थे, वे थीं- 1. अज्ञान लोगों की भीड़ का निश्चित मत; 2. नवीन विचारों को शंका से देखना; 3. अपने को सर्वज्ञ मानना, तथा 4. दुर्बल व अवैज्ञानिक प्रमाणों पर अवलंबित रहना। मध्य युग के वैज्ञानिक बिना विश्लेषण के प्रकृति के रहस्य तथा उसके चमत्कारों को स्वीकार कर लेते थे। परन्तु सोलहवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों ने प्रत्येक तथ्य को अंगीकार करने से पूर्व उसे तर्क की कसौटी पर कसना आरम्भ किया। परन्तु उस काल में वैज्ञानिक तथ्यों को उजागर करने वाले वैज्ञानिकों को जेल में बन्द कर दिया जाता था। अतः बेकन और डेकार्टे को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्राचीन काल में यूनानी वैज्ञानिक टालमी ने मध्य-युग में यह प्रमाणित कर दिया था कि पृथ्वी अचल है और सूर्य उसकी परिक्रमा करता है। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में पोलैण्ड के विद्वान कापरनिकस ने इसके विरुद्ध यह सिद्ध किया कि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी परिक्रमा करती है। परन्तु वह भी अपना यह मत मृत्युशय्या पर ही प्रतिपादित कर सका। कैथोलिक व प्रोटेस्टैण्ट दोनों चर्चो के अनुयायियों ने कोपरनिकस के सिद्धान्त को भयावह तथा धार्मिक विश्वास के प्रतिकूल माना। परन्तु सोलहवीं सदी में साहसी वैज्ञानिकों ने उसके सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। जर्मन वैज्ञानिक कैप्लर ने अपने आधुनिक गणितीय नियमों के आधार पर कोपरनिकस के सिद्धान्त की पुष्टि की। पुनर्जागरण के प्रारंभिक वैज्ञानिकों में लियोनार्डी दा विंची का नाम भी उल्लेखनीय है। उसका विषय था मशीनों की उपयोगिता का वर्णन। फ्रांस का वैज्ञानिक डेकार्टे भी उस समय एक ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक था। उसने प्रत्येक विषय पर सन्देह करना आवश्यक बताया।

गैलिलियों ने भी कोपरनिकास के सिद्धान्तों की पुष्टि की और उसके सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाने के लिये उसने दूरबीन का आविष्कार किया तथा 'नक्षत्रों का संदेश-वाहन' पुस्तक प्रकाशित की। इटली के अन्य वैज्ञानिक ब्रुनो ने यूनानी वैज्ञानिक टालेमी के सिद्धान्त का विरोध किया। उसने कहा कि पृथ्वी केन्द्र नहीं है वरन् सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। परन्तु अपने इस विचार का प्रतिपादन करने के फलस्वरूप उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। रोमन चर्च ने उसे जिन्दा जलवा दिया।

रसायन शास्त्र में पुनर्जागरण के प्रभाव से अनेक अन्वेषण हुए। सोलहवीं शताब्दी में एंड्रियस वेसालियस ने रसायनशास्त्र के सहयोग से अनेक औषधिंया बनाई। उसका कहना था कि प्राचीन धारणाओं को चुनौती देना चाहिए और तथ्यों पर आधारित को स्वीकार करना चाहिये। हार्वे नामक विद्वान् ने यह सिद्ध किया कि रक्त मानव शरीर में चक्कर लगाता रहता है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध गणितज्ञ सर आइजक न्यूटन ने 17वीं सदी में आकर्षण-सिंद्धात का प्रतिपादन किया। उसने पता लगाया कि विभिन्न नक्षत्र एक दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उसके आविष्कारों का प्रभाव महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अब यह स्पष्ट हो गया कि विश्व कोई दैवयोग या आकस्मिक घटना या फल नहीं अपितु एक ऐसी वस्तु है, जो प्रकृति के सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार चल रहा है। न्यूटन कालान्तर में अपने समय के व्यक्तियों में सर्वाधिक लोकप्रिय बना।

यूरोप पर पुनर्जागरण के अन्य प्रभाव

जैसा की हम इस अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि पुनर्जागरण से साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में महान् परिवर्तन हुए और वे परिवर्तन मानव-समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने में अति सहायक सिद्ध हुए। इनके अतिरिक्त पुनर्जागरण से राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक प्रभाव भी बहुत पड़े हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे।

राजनीतिक—आधुनिक काल में यूरोप के विविध राज्यों में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ जिसके फलस्वरूप (1) संयुक्त यूरोप कई राष्ट्रीय राज्यों में विभक्त हो गया। (2) यूरोप में सामन्तवाद का ह्रास हुआ तथा उसके स्थान पर शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रादुर्भाव हुआ। (3) राजनीतक कार्यों में पोप का प्रभाव समाप्त हो गया (4) जनसाधारण में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। इसके साथ ही राज्यों में राष्ट्रीय भाषाओं का विकास हुआ (5) शक्तिशाली राष्ट्रों के शासन में साम्राज्यवादी भावना का सूत्रपात हुआ (6) पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप जनता राज्य को ईश्वरकृत न मान कर मानवकृत मानने लगी। इस प्रकार के राष्ट्रीय राज्यों को पोप का प्रभुत्व सहन नहीं था।

उपयफ्रक्त विचारों को ध्यान में रखते हुए इटली के राजनीतिक विचारक मेंकियावली ने अपनी ग्रन्थ की रचना की। उसने अपने ग्रन्थ में निरंकुश शासन पर बल दिया। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के टामस मूर ने अपने ग्रन्थ 'यूटोपिया' में आदर्श-राज्य की कल्पना की। वह इंग्लैण्ड में इस प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित करना चाहता था, जिसमें युद्ध, दरिद्रता व अन्याय को कोई स्थान न हो। पर पुरस्कार में उसे भी मृत्यु-दण्ड ही मिला।

धार्मिक–(1) जनता का धार्मिक अन्धविश्वास शनैः-शनैः दूर होने लगा। (2) पोप का प्रभाव भी जनता पर से धीरे-धीरे घटने लगा जिसके परिणामस्वरूप यूरोप में धर्म-सुधार आन्दोलन आरम्भ हुआ। (3) जनसाधारण लोग अब रोम को अधिक महत्व न देकर अपने राष्ट्र को देने लगे। (4) लोग अब अपने स्वतन्त्र चिंतन में धर्म को भीति स्वरूप नहीं देखना चाहते थे। (5) शासक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना करने लगे।

सामाजिक–(1) मानववाद का प्रादुर्भाव हुआ। (2) व्यापारी वर्ग की समाज में शक्ति बढ़ी और वह मध्यम श्रेणी में शक्तिशाली रूप से उभरा। (3) कुलीन-वंशीय लोगों के आदर सत्कार में न्यूनता का समावेश हुआ। (4) जनता अब शिक्षित होने लगी। (5) दास-किसान भी अब स्वतन्त्र हो गये। (6) मध्यम-वर्ग का विकास हुआ।

आर्थिक प्रभाव–मध्य काल में यूरोप का आर्थिक संगठन गिल्डस नामक व्यापारिक संस्थाओं पर आधारित था परन्तु 1453 के उपरान्त व्यापार के क्षेत्र के विस्तृत होने के कारण गिल्ड-प्रणाली समाप्त हो गई। उसका स्थान बैंक प्रणाली ने ले लिया। (1) व्यापारिक क्रान्ति का प्रसार दिनोंदिन होता चला गया। (2) व्यापारी वर्ग धनी बन गया। इससे यूरोप में पूंजीवाद का उदय हुआ। (3) दास किसानों की आर्थिक दशा में सुधार हुआ। (4) बाजार प्राप्ति के लिए यूरोप के देश आपस में झगड़ने लगे।

इस प्रकार हम देखतें हैं कि पुनर्जागरण से मानव-जीवन सुखी बना तथा मानव मस्तिष्क जीवन को विकसित करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर हुआ। पुनर्जागरण से होन वाले प्रभावों के विषय में डेविड सेविल मुजे इस प्रकार लिखता है कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, के विद्वान जो अब तक यूनान के दर्शन शास्त्र व अरब के विज्ञान का शोषण कर रहे थे- वह अब बन्द हो गया। बारहवीं और सोलहवीं शताब्दी के मध्य में जो धार्मिक भावनाएं उत्पन्न हुईं, उन्होंने मध्यकालीन धार्मिक प्रभुता को समाप्त कर दिया और नवीन मानव-प्रवृत्तियों को मार्ग दिया।

पुनर्जागरण के सामान्य प्रभाव

पुनर्जागरण के वैज्ञानिक, साहित्यिक, कलात्मक, दार्शनिक तथा बौद्धिक प्रभाव तो जनसाधारण पर लक्षित हुए; परन्तु इनके अलावा इस आन्दोलन से और भी प्रभाव जनसाधारण पर लक्षित हुए। उन्हें हम समान्य प्रभावों की श्रेणी में उल्लेखित करते है।

(1) जीवन और जगत् सम्बन्धी नवीन मान्यताओं का आविर्भाव–पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप जिस ज्ञान का विकास हुआ, उसने एक नवीन धर्म-शास्त्र का स्वरूप धारण कर लिया। बिशप क्रिमटन के मतानुसार इस नवीन ज्ञान का उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप में एक नवीन संस्कृति को फैलाना था। अब जनसाधारण मानव की वास्तविक प्रकृति तथा उसके महत्व से परिचित हुआ। लोगों की धारणा बनी कि परलोक के नाम पर इस लोक के सुख को त्यागना ठीक नहीं। आत्मा का हनन किये बिना भी ज्ञान की पिपासा को शान्त किया जा सकता है। इन नवीन विचारों ने मानव-विकास में पर्याप्त सहयोग दिया। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पुनर्जागरण के फलस्वरूप मानव जाति ने आधुनिक युग में प्रवेश किया।

(2) ऐतिहासिक तारतम्य की स्थापना–यह सत्य है कि प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के कुछ तत्व पूर्व मध्य काल में ईसाइयत में भी प्रवेश कर गये थे, परन्तु उनसे भी प्राचीनता की अधिकांश रूप में अवहेलना ही की गई थी। लेकिन पुनर्जागरण के फलस्वरूप ईसाइयत तथा प्राचीन सभ्यता के बीच सामञ्जस्य स्थापित हो सका। इससे प्राचीन तथा अर्वाचीन में भी सम्बन्ध स्थापित हो सका ओर बीच की खाई पट गई। मानव जाति के लिये यह भी लाभप्रद सिद्ध हुआ क्योंकि प्राचीन सभ्यता में साहित्य, कला और विज्ञान के अनमोल तत्व समाविष्ट थे और उनकी उपेक्षा करना न संभव था और न उचित ही था। अब उनका उचित मूल्यांकन और उपयोग होने लगा जिससे सौन्दर्य एवं सत्य की जानकारी आधुनिक युग को हो सकी।

(3) शिक्षा में सुधार–मानववादी आन्दोलन के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। मध्य-युग में लैटिन भाषा का ह्रास हो रहा था तथा यूनानी भाषा को लोग प्रायः भूल चुके थे। अरस्तू व प्लेटो को लोग भूल गये थे। परन्तु मानववादियों के प्रयासों के फलस्वरूप लैटिन ओर यूनानी दोनों भाषायें अपने मूल रूप में पुनर्स्थापित हुई। प्लेटो का दर्शन अब जनसाधारण के समक्ष आया। ग्रीक रोमन साहित्य उपलब्ध होने लगा। इससे आधुनिकता के उदय तथा विकास में सहयोग

मिला। नवीन विद्यालय व विश्वविद्यालय भी मानववाद आन्दोलन से अप्रभावित न रहे। सभी विश्वविद्यालयों में ग्रीक एवं लैटिन भाषाओं की पढ़ाई होने लगी। पाण्डित्यवाद की शिक्षण विधि का स्थान अब मानववादी शिक्षण विधि ने ले लिया। इसका एक कारण यह भी था कि शिक्षा पर से चर्च का एकाधिकार शनैः-शनैः समाप्त होने लग गया था। माता-पिता अपने बच्चों को अब औद्योगिक क्षेत्र में सहयोग देने वाली शिक्षा दिलाना चाहते थे और चर्च के प्रभाव में वे इस प्रकार की शिक्षा दिला नहीं सकते थे। यह नवीन शिक्षण विधि वैज्ञानिक शिक्षण प्रणाली के आरम्भ तक बनी रही।

(4) पुरातत्व ज्ञान का विकास—पुनर्जागरण से पूर्व लोगों को पुरातत्व के ज्ञान में कोई अभिरुचि नहीं थी। इटलीवासी अपने प्राचीन स्मारकों के महत्व को भूल गये थे। परन्तु इस आन्दोलन ने उनका ध्यान उन स्मारकों की ओर आकृष्ट किया। पन्द्रवीं शती के अन्त में प्लेमियो विओडो ने 'रोम रेस्टोर्ड' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ से पूर्व रियेन्जी द्वारा 'डिस्क्रीपशन ऑफ दी रोम एण्ड इट्स स्पैलैण्डर' लिखी जा चुकी थी। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टीकोण से प्लेमियो की पुस्तक अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे इतिहास की एक सर्वथा नवीन विद्या का जन्म हुआ जिससे आगे चलकर प्राचीन विश्व सभ्यता के अनेक अज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घोष हुआ।

(5) धर्म-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि तैयार करना—इटली में प्रतिपादित मानववाद जब आल्पस पर्वत को पार कर उत्तरी यूरोप की ओर अग्रसर हुआ तो विद्वानों का ध्यान हिब्रु साहित्य की ओर भी आकृष्ट हुआ। यह साहित्य यूनानी रोम साहित्य से भी प्राचीन था। छापेखाने का आविष्कार हो जाने के कारण 'बाइबिल' का प्रकाशन अनेक भाषाओं में होने लगा तथा उसका अध्ययन विश्लेषणात्मक विधि से होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी यूरोप में ईसाई-धर्म के मूल नैतिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों पर अधिक स्वतन्त्र चिन्तन एवं मनन होने लगा। इस प्रकार के स्वतन्त्र धार्मिक चिन्तन ने उत्तरी यूरोप में कई धर्म-सुधारकों को जन्म दिया। अतः उत्तरी यूरोप के मानववादी धर्म-सुधारक बन बैठे। मार्टिन लूथर इस प्रकार की विचारधारा का ही परिणाम था। इसलिए इतिहासकार साइमौंड ने सही कहा कि "धर्म-सुधार आन्दोनल जर्मन-पुनर्जागरण था"।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पुनर्जागरण उत्तर-मध्यकालीन इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय था। इसकी प्रमुख देन मानव-समाज को यह थी कि इसने प्राचीन अन्धविश्वासों से मानव-जाति को मुक्त करा उसे नवीन चेतना की ओर उन्मुख कर दिया। यह पुनर्जागरण का ही परिणाम था कि यूरोप अपनी प्राचीन बर्बरता का परित्याग कर सुखद आधुनिकता के क्षेत्र में पदार्पण कर सका। इसलिए पुनर्जागरण को उत्तर मध्य-काल की एक युगान्तकारी घटना कहा जाता है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि पुनर्जागरण मूलतः संक्रमण काल का द्योतक था जहां काफी तत्व मध्यकालीन थे तो वहां आधुनिकता की भी पर्याप्त संभावनाएं थीं।

(6) निष्कर्ष—पुनर्जागरण आंदोनल के अध्ययन का उद्देश्य गलत होगा यदि आंदोलन की पेचीदगियों को सरलीकृत रूप में पेश कर दिया जाए। इसके विपरीत मुझे आशा है कि आंदोलन की सूक्ष्म व्यंजनाएँ और पेचीदगियाँ, जिनके बारे में हम चर्चा करते रहे हैं, अब अधिक स्पष्ट हैं। यह संभव नहीं है कि मानवीय इतिहास के उस शानदार काल को गर्व ओर आत्मतोष से देखा जाए। पुनर्जागरण के किसी भी संतुलित दृष्टिकोण का अर्थ होगा उसकी उपलब्धियों और उद्देश्यों का धैर्य के साथ विवेचना करना और कुछ अवधारणाओं को सही रूप में समझना। उदाहरण के लिए मानवतावाद शब्द का प्रयोग इतना ज्यादा हुआ है कि इसका अर्थ 'मानवता से सहज रुचि से अधिक नहीं रह जाता। परंतु वस्तुतः यह बात नहीं है। अपने लोकोपकारी पहलुओं के अलावा पुनर्जागरण से यह भी संकेत मिलता है कि अतीत या बीते हुए युग को किस प्रकार देखा जाए और उसका संबंध वर्तमान से कैसे जोड़ा जाए। किसी भी रूप में पुरातन अवशेषों के प्रति नए सिरे से दिलचस्पी का तब तक कोई अर्थ नहीं रह जाता जब तक उनका कोई व्यवहारिक उपयोग न हो-विचार, जीवन और अभिव्यक्ति के उचित मानदंडों को निर्धारित करने में उनका उपयोग न किया जाए।

जैसा कि बारंबार जोर देकर कहा गया है, नाममात्र के अपवादों को छोड़कर यह मानवतावाद, अपने स्परूप या अंतर्वस्तु में, ईसाई मानवतावाद ही है, धर्मनिरपेक्ष मानवतावाद नहीं। इसका उद्देश्य परिवर्तित सामाजिक वास्तविकताओं की रोशनी में ईसाई जीवन और विचार में सुधार लाना ही है। इटली के कुछ राज्यों को छोड़कर, बाकी सभी जगह मानवतावाद ने परवर्ती मध्यकालीन समाज पर कुछ भी प्रभाव डाल पाने से पूर्व प्रायः धर्म के साथ गठजोड़ कर लिया था।

यूरोप में पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा परस्पर संबधिंत परिवर्त्तनों का युग रही है। इस सांस्कृतिक नवोत्थान के अलावा, जिसे हम पुनर्जागरण कहते हैं, इसी दौर में यूरोपीय राज्य-प्रणाली का भी उदय हुआ था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि इन सांस्कृतिक रुझानों ने ही,, खास तौर से इटली के बाहर, उक्त राजनीतिक विकास का रूप ले लिया था। राज्य की सर्वाधिकारवादी अवधारणा का पुनर्जागरण के साथ कोई रिश्ता नहीं है। अपने अत्यंत

व्यापक रूप में पुनर्जागरण की जड़ें इटली में थीं- एक ऐसे देश में जिसने जरा भी राजनीतिक केंद्रीकरण की स्थिति हासिल नहीं की थी।

पुनर्जागरण के मूल्यों का सफलतापूर्वक प्रसार, जैसा कि हमने देखा, कुछ सामाजिक पूर्व-अनिवार्यताओं पर निर्भर करता है। यहाँ तक कि इटली के भीतर भी सामाजिक-राजनीतिक संरचना के अंतर के फलस्वरूप मानवतावाद में कुछ स्थानीय चारित्रिक विशेषताएँ पैदा हो गई थीं। नेपल्स, मांतुआ, डारबिनो, फ़ेरारा और मिलान में मानवतावाद ने स्वाभाविक तोर पर दरबारी चरित्र ग्रहण कर लिया था। लेकिन रोम में मनवतावाद पुरातन के अवशेषों से प्रेरणा लेने वाला ओर उस पुरातन वैभव को संरक्षण देने वाला था, जब कि वेनिस में यह ग्रीक के अध्ययन की ओर गहरे झुकाव के साथ कुछ चुने हुए अभिजातवर्गीय लोगों ओर विद्वानों के समुदाय तक ही सीमित था। फ्लोरेंस में मानवतावाद ने एक अत्यंत स्वच्छंद और साफ-सुथरा रूप लिया था। वेरोना, पादुआ, रावेना और ऐसे ही अन्य सीमावर्ती छोटे-छोटे शहरों में फ्रांसीसी मॉडलों और परंपराओं के साथ मेंलजोल दिखाई देता है। आर्थिक संपन्नता ओर सांस्कृतिक विकास में समानता देखना निस्संदेह अतिसरलीकरण है। कलात्मक विकास सदैव सामाजिक विकास की प्रक्रिया पर आश्रित नहीं होता अथवा कम-से-कम पूरे तौर पर तो बिल्कुल भी नहीं होता। किसी भी स्थिति में, जैसा कि हमने देखा है, यूरोप पुनर्जागरण की पूर्व-बेला में आर्थिक व्यवस्था के कुछ संकटो का शिकार नज़र आता है। लेकिन अगर हम अपनी इस अवधि के शुरू में कुछ तरक्की या उभार के रुख भी मान लें, तो भी यह मानना असंभव है कि ज़बर्दस्त प्रतियोगिता के ये छोटे-मोटे लाभ चीजों को अधिक तर्कसंगत और सक्षम ढंग प्रदान करने लगे हैं तथा इनसे जीवन का व्यवहारिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण सामने आने लगा है।

पुनर्जागरण की जिन दो चीजों में सबसे ज्यादा दिलचस्पी है वे हैं- व्यक्तिवादिता और आत्मचेतना की भावना। साथ ही यह बात भी पूर्णतः सही है कि लेखक या कलाकार की इस व्यक्तिवादिता का कुछ प्रभाव उसके संरक्षक पर भी पड़ा था। पुनर्जागरण संस्कृति के संरक्षक ठीक वैसे ही नहीं हैं, जैसे कि एक पीढ़ी पहले तक थे। सम्मान का ध्यान रखना, पूर्णतः एक व्यक्ति के लिए स्मारक निर्मित करने की इच्छा, इन बातों ने सभी कलात्मक क्रियाकलापों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कला पर होने वाला सामाजिक व्यय अपेक्षाकृत अत्याधिक नज़र आता है। फ्लोरेंस के चित्रकारों के गिल्डरजिस्टर में (1409-99 दौरान) 84 काष्ठ शिल्पकारों और 70 बूचडों के अलावा 41 चित्रकारों के नाम दर्ज हैं। दरअसल, आरंभिक पुनर्जागरण आंदोलन छोटे दुकानदारों की सभ्यता नहीं था, बल्कि वह अभिजातवर्गीय लैटिन-प्रेमी उच्चवर्ग की सभ्यता था। इस मंजिल पर इसीलिए कला का आरंभ-बिंदु कलाकार की आत्मनिष्ठ आत्माभिव्यक्ति सबसे कम है-जो सीमा कला के संरक्षक ने निर्धारित की थी। यह परिस्थिति, जहां कला-बाजार पूर्ति से नहीं बल्कि मांग से ही निर्धारित होता था 16वीं शताब्दी के .करीब ही बदलती है जब कि शौकिया कलाकार, सूक्ष्म कला-पारखी और ऐसे कला-संग्राहक का उदय होता है जो अपनी जरूरत के मुताबिक आदेश नहीं देता बल्कि कला-बाजार में जो कलाकृति उसे पेश की जाती है वही खरीद लेता है।

लेकिन कलाकार का सामाजिक दर्जा निरंतर बदलता गया। आम तौर से इटली में कलाकार की स्थिति किसी भी अन्य जगह की अपेक्षा बेहतर थी। उत्तरी दरबारों की तुलना में इतावली दरबार अभिजातवर्ग ओर जनसाधारण के समर्थन पर सबसे कम निर्भर थे तथा इसलिए वे अपने दायरे में सभी तरह के लोगों को शामिल करने में स्वतंत्र थे, बशर्ते कि वे लोग उपयोगी हों। इससे उन्हें विभिन्न तथा अपेक्षाकृत एक अधिक स्वतंत्र बौद्धिक वातावरण निर्मित हुआ। इतालवी कलाकार गिल्डों के साथ सबसे कम बँधा हुआ था, पर यह एक ऐसी परंपरा थी, जो राजदरबार में उसकी नौकरी से प्रायः मजबूत हुई।

पुनर्जागरण के शिखर काल में कलाकारों का समुदाय एकदम भिन्न नज़र आता है। प्रमुख कलाकार अब बड़े धनी नजर आते हैं- राफैल एक बड़े भारी सामंत का सा जीवन जीता है, टिटिमान को (वंशानुगत रूप से दिया जाने वाला) ख़िताब 'नाइट ऑफ दि गोल्डेन स्पर' मिला था, माइकेल एंजलो तो इतना आत्म-चेतन और दृढ़ व्यक्तित्व का था कि सार्वजनिक सम्मान से बचता था, राज़कुमारों की मेंत्री की अवहेलना करता था और सेंट पीटर में लिए गए अपने कलात्मक कार्यों के फलस्वरूप मिलने वाला रकम लेने से मना कर देता था।

ईसाई संस्कृति के विनाश के साथ ही कला को एक बौद्धिक संपत्ति मानने के विचार विकसित हुए तथा ऐसी स्थिति तैयार हुई जिसमें कलाकार को ईश्वर के आदेश की पूर्ति करने वाला एक माध्यम मात्र मानने की धारणा का अंत हो गया। 17वीं शताब्दी के अंत और 18वीं शताब्दी के शुरू में कला और कलाकार के लिए एक तरह की संप्रभुता की स्थिति भी उपलब्ध हो गई। हालाँकि विडंबना यह भी रही कि निजी संरक्षतण से स्वतंत्र संरक्षण रहित बाजार में संक्रमण के दौरान कलाकार को जीवित रहने तथा भौतिक सफलता की खातिर संघर्ष करना पड़ा।

साहित्य के क्षेत्र में गैर-धार्मिक लेखन का आरंभ होना वस्तुतः लेखक की आर्थिक स्वाधीनता का परिचायक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक साहित्य सच्ची भावना या लगन से उत्पन्न नहीं हुआ था। इसके विपरीत, ऐसा लेखन अधिकतर लोगों के लिए ज्यादा स्वाभाविक था। फिर भी, धर्मनिरपेक्ष लेखन की लगातार कमी रही-कुछ तो निस्संदेह इस कारण कि उस समय लोग धर्मदर्शन से बुरी तरह प्रभावित थे, पर ज्यादातर इस वजह से कि उस समय लेखकीय स्वाधीनता का ही अभाव था। संभवतः इरासमस से ही आरंभ करके अंततः प्रिंटिग प्रैस ने बड़े पैमाने का बाज़ार निर्मित किया तथा यह संभव बनाया कि व्यक्ति अपने लेखन के माध्यम से ही अपनी आजीविका कमा सके। चूंकि ज्ञान अब कुछ विशिष्ट विद्वानों या संस्थाओं की निजी संपत्ति के बराबर रह गया था, अतः पढने वालों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि होती गई ओर इससे लेखक के लिए लगातार एक चुनौती पैदा होती गई।

आरंभिक रूपरेखा में ही हमने इस बात पर बल दिया था कि पुनर्जागरण आंदोलन की व्याख्या 'आधुनिक पश्चिम के उदय' के संदर्भ में की जाएगी। इससे तत्काल ही यह समस्या अपने-आप उत्पन्न हो जाती है कि इसे एक 'आधुनिक' आंदोलन के रूप में स्वीकार किया जाए अथवा अस्वीकृत कर दिया जाए। ऐसे सीधे-साधे खानों में बाँटने के खतरों के बारे में पहले ही आगाह किया जा चुका है। यह एक आम स्वीकृत धारणा है कि पुनर्जागरण आंदोलन ने यूरोप में अनेक नए विचारों ओर रुझानों को जन्म दिया था। बहरहाल, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कहा जाए तो ये शक्तियाँ व्यवहारतः जैसी अभिव्यक्त की जाती हैं, उससे कहीं अधिक आरंभिक थीं। दूसरी ओर, पुनर्जागरण आंदोलन ने कुछ अन्य ऐसे विचारों को भी मान्यता प्रदान की थी जो पहले से ही व्याप्त थे। पुनर्जागरण काल का राज्य निस्संदेह कुछ पहलुओं में बड़ा विशिष्ट था। कम-से-कम उसकी दिशा बिल्कुल भिन्न थी। सरकार इस मध्यकालीन विचार के आधार पर ही व्यवहार करती थी कि बेहतरी के लिए ही सब कुछ किया जाए। कोमेंन्स अपने 'मेमोयर्स' में (जो 1492 तक समाप्त होते हैं और जिनका प्रकाशन 1524 में हुआ था) और मेंकियावेली प्रिंस (1513 में रचित और 1532 में प्रकाशित में) यह खोजने के लिये परिश्रम करते दिखाई देते हैं कि राजा को एक प्रभावशाली शासक बनने के लिए सबसे लाभप्रद काम क्या करना चाहिए। लेकिन पुनर्जागरण आंदोलन के लिए राजनीतिक यथार्थवाद अनजान नहीं था। उस समय चूंकि समाज में मोटे तौर पर दो तबके मौजूद थे-शासक और शासित, मालिक और नौकर, शोषक और शोषित-अतः नैतिकता के भी दो भिन्न मानदंड, दो भिन्न व्यवस्थाएँ थीं-एक शक्तिशाली के लिए और दूसरी शक्तिहीन के लिए। मेंकियावेली की महत्ता इस बात में है कि उसने लोगों को इस द्वैधता के बारे में जागरूक बनाया। साथ ही वह पहला व्यक्ति है जो राज्य के मामलों को निजी जीवन से अलग करके देखता है तथा यह तर्क पेश करता है कि भाईचारे ओर सच्चाई के ईसाइयत के नैतिक सिद्धांत राज्य और राजा के ऊपर बंधनकारी नहीं है। राजनीति में सुविधाभोगिता ओर उपयोगिता मेंकियावेली ने प्रविष्ट नहीं कराई थी। उसने सिर्फ़ यह किया था कि इस पहलू का अधिक वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण किया था।

वास्तव में 19वीं शताब्दी के अंत तक' विस्मार्क या कैबूर के काल तक-अधिकांश देशों में दुहरे मानदंड का प्रयोग होता था। मेंकियावेलीवाद का प्रायः गुप्त रूप से प्रयोग किया गया, जब कि खुले तौर पर उसकी निंदा की गई। इस संबंध में इस बात को ध्यान में रखना उपयोगी होगा कि जहाँ पुनर्जागरण ने पहले-पहल इटली को एक मूलभूत सांस्कृतिक एकता प्रदान की, वहाँ इसे राजनीतिक एकता में परिणत करने में देश को फिर भी तीन शताब्दियों से ज्यादा इंतज़ार करना पड़ा।

इसके अलावा, यदि ठीक-ठीक कहा जाए तो पुनर्जागरण लातीनी ईसाईयत तक ही सीमित था। सेंट पीटर्सबर्ग या सामान्यत; रूढ़िवादी यूनानी जगत के लिए इसका कोई मूल्य नहीं था। फिर भी इस बात से इसकी मूल चेतना को-इसकी सृजनात्मकता तथा जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को कोई क्षति नहीं पहुँचती। इन्हीं मूल्यों ने आगे चलकर मानव सभ्यता के स्वरूप को निर्धारित किया।

वैयक्तिक तौर पर सोचना और कार्य करना एक बात है, पर किसी दूसरे की वैयक्तिकता के प्रति सचेत होना तथा साथ ही उसको मान्यता प्रदान करना बिल्कुल भिन्न बात है। पहली बात व्यक्तिवादिता की मिसाल है-व्यक्तिवादिता आधुनिक संदर्भ में, जब तक कि एक सकारात्मक वैयक्तिक चेतना मात्र निजी प्रतिक्रिया का स्थान न ले ले। व्यक्तित्व की आत्म-चेतना पुनर्जागरण के पहले तक आरंभ नहीं हुई थी। अपने तमाम भटकावों तथा अंतर्विरोधों के बावजूद पुनर्जागरण मानव की अदम्य चेतना तथा प्रयासों का एक स्थायी प्रतीक है और रहेगा। अंत में, पुनर्जागरण अपने आप में किसी एक अलग युग का सूचक है या यह मध्यकाल का ही ऐतिहासिक विस्तार है, इस विवाद का सर्वोत्तम विस्तार है, इस विवाद का सर्वोत्तम समाधान यह है कि यह मूलतः संक्रमण काल था जिसमें जहाँ काफ़ी कुछ मध्यकालीन था वहाँ आधुनिकता की भी अपरिमित संभावनाएँ

थी। इतने विविध किंतु परस्पर संबद्ध तत्त्वों के साथ-साथ उपस्थिति ही संभवतः वह तत्त्व है जो इसके विरोधाभासों के साथ-साथ इसकी समृद्धि एवं जीवंतता के लिये उत्तरदायी है।

धर्म सुधार

पुनर्जागरण से पहले यूरोप पर कैथोलिक चर्च का एक-छत्र साम्राज्य था। व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही चर्च की शरण पाता था और मृत्यु-पर्यन्त चर्च से नियन्त्रित रहता था। चर्च का संगठन मजबूत होने से चर्च का विरोध बहुत मुश्किल था। चर्च का इतना प्रभाव था कि वह भी राज्य के समान कर वसूल करता था। सम्राटों को भी पोप के सामने घुटने टेकने पड़ते थे। व्यक्ति यदि पाप करता तो चर्च में प्रायश्चित का विधान था। जीवन की अन्तिम सीढ़ी में चर्च व्यक्ति को आश्वस्त करता था कि वह उसे अगली यात्रा में भी मदद करेगा। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज धर्म-केन्द्रित, धर्म-प्रेरित और धर्म-नियन्त्रित था। चर्च का प्रधान पोप होता था। पोप मनुष्य के व्यक्तिगत और धार्मिक जीवन का नियन्ता ही नहीं था अपितु राजनीतिक क्षेत्र में भी उसका प्रभुत्व था।

किन्तु पन्द्रवीं शताब्दी के अन्त से यह एकाधिकार टूटने लगा। प्रश्न उठने लगे और जवाब न मिलने से चर्च के भ्रष्ट तन्त्र का विरोध बढ़ा। पोप से लेकर गाँव के पादरी तक का जीवन कितना भ्रष्ट था? यह भी किसी से छिपा नहीं रह गया था। चर्च के पदाधिकारियों का अनैतिक, ऐश्वर्य एवं विलासितापूर्ण भ्रष्ट जीवन था। चर्च के संगठन के शीर्ष पर इतालवियों का वर्चस्व अन्य देशों के लिये ईर्ष्या का कारण था। आर्थिक शोषण अपनीचरम सीमा पर था। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना, किसी भी एकाधिकर को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। पुनर्जागरण से उदित चेतना ने चर्च की कमजोरियों को उजागर किया। अब आम यूरोपीय, चर्च द्वारा अपने शोषण के लिये तैयार नहीं था। यूरोपीय मस्तिष्क, जो मध्यकाल तक पूर्णतः ईसाई विचारों से प्रभावित था, एक नई दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था। वैज्ञानिक दृष्टि ने मध्यकालीन मान्यताओं को झकझोर दिया। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व भी धर्म-विरोधी विचारों का आस्तित्व दिखाई देता है लेकिन वे अधिक विकसित नहीं हो पाये क्योंकि जनसाधारण में उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार नहीं थी। परन्तु सोलहवीं शताब्दी में बौद्धिक क्षेत्र में एक सन्देहात्मक मनःस्थिति का जन्म हुआ जिसके कारण मध्ययुगीन धार्मिक विचारों, धार्मिक संगठन एवं नेतृत्व के प्रति शंका की जाने लगी। शंकालु दृष्टिकोण, बौद्धिक चेतना, शक्तिशाली राज्यों का उदय, पूँजीवाद के उदय से परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियाँ आदि नवीन तत्व धर्म सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि में कार्यरत थे। वस्तुतः धर्म सुधार आन्दोलन मध्य युग की पतझड़ के समय हुआ।

धर्म सुधार का अर्थ, उद्देश्य एवं स्वरूप

सोलहवीं शताब्दी में परिवर्तित परिस्थितियों के कारण यूरोप के ईसाई धर्म के संगठन में एक क्रान्तिकारी परिर्वतन हुआ जिसके परिणामस्वरूप ईसाई मतावलम्बी दो बड़े भागों में विभाजित हो गये-कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट। कैथोलिक धर्म परम्परा से चला आ रहा ईसाई धर्म था जिसका प्रधान पोप था। प्रोटेस्टेन्ट, ईसाई धर्म का सुधरा हुआ रूप था जिसमें पोप का कोई स्थान नहीं था। तत्कालीन युग में ईसाई धर्म या पोप के वर्चस्व के विरुद्ध कुछ कहना बड़ा धृष्टतापूर्ण कार्य था। परन्तु आधुनिक युग के प्रारम्भ में धर्म सुधारकों ने यह कार्य बड़े साहस एवं जोखिम उठाकर किया। धर्म सुधार की यह प्रक्रिया इतिहास में 'धर्म सुधार आन्दोलन' के नाम से विख्यात हैं। वारनर एवं मार्टिन के अनुसार, "धर्म सुधार पोप-पद की सांसारिकता व भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक नैतिक विद्रोह था।" इतिहासकार हेज के अनुसार, "वस्तुतः सोलहवीं सदी के आरम्भ में विवेक की जागृति के कारण बहुसंख्यक ईसाई कैथोलिक चर्च के प्रति कटु आलोचक थे तथा वे चर्च की संस्था को एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुधारना चाहते थे। इसी सुधार प्रयास के परिणामस्वरूप जो धार्मिक आन्दोलन हुआ और तज्जनित ईसाई धर्म के अन्तर्गत जो नये-नये धार्मिक सम्प्रदाय बने, उसे समष्टि रूप से सुधार आन्दोलन कहा जाता है।" कुल मिलाकर, धर्म सुधार शब्द यूरोप के इतिहास में उत्तर पुनर्जागरण काल की दो महत्वपूर्ण धाराओं की ओर इंगित करता है। पहली घटना थी-प्रोटेस्टेन्ट क्रान्ति, जिसने ईसाई धर्म में दरार उत्पन्न कर दी और दूसरी थी-अनेक देशों का रोमन कैथोलिक चर्च से नाता तोड़कर राष्ट्रीय आधार पर अलग चर्चों की स्थापना करना। यह हमें समझ लेना चाहिए कि यह धर्म सुधार एक धार्मिक आन्दोलन मात्र नहीं था। यह एक जटिल एवं सुदूरगामी आन्दोलन था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भाँति ही यह आन्दोलन मध्ययुगीन सभ्यता के विरुद्ध एक साधारण प्रतिक्रिया मात्र था परन्तु इसने राष्ट्रों के जीवन को अत्याधिक प्रभावित किया

क्योंकी सभी मनुष्य कला एवं साहित्य की अपेक्षा धर्म में अधिक अभिरुचि रखते थे। इस धार्मिक आन्दोलन में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं बौद्धिक पहलू भी सन्निहित है।

मुख्य रूप से धर्मसुधार आन्दोलन के दो प्रमुख उद्देश्य थे-ईसाई लोगों के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को पुनः समुन्नत करना तथा रोम के पोप के व्यापक धर्म सम्बन्धी अधिकारों को विनष्ट करना।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाईयों में जो नैतिक व आध्ययत्मिक उन्नति हुई, उस दृष्टि से यह वस्तुतः धर्म का सुधार ही था। दूसरी ओर, रोम के पोप के विस्तृत अधिकारों के विरुद्ध हुए जिसकी दृष्टि से, यह एक राजनीतिक आन्दोलन था। प्रो. हर्नशा ने आन्दोलन के स्वरूप के बारे में लिखा है कि "प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन जर्मनी की ट्यूटन जाति का रोमनों के अधिपत्य के विरुद्ध, सांसारिक प्राणियों का पादरियों के आधिपत्य के विरुद्ध, धनी किंतु मितव्ययी वालों का सिद्धान्तविहीन अपव्ययी लोगों के विरुद्ध तथा बौद्धिक स्वतन्त्र के समर्थकों का पोप के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह था। इन सबसे बढ़कर यह धर्म-परायण जाति का ऐसी प्रथा के विरुद्ध विद्रोह था, जिसे क्षमा पत्रों की बिक्री कहा जाता था और जिससे अत्यधिक दोष उत्पन्न हो गये थे।"

पुनर्जागरण ओर तज्जनित नवीन प्रवृत्तियों ने यूरोप को एक 'खुली खिड़की 'प्रदान की जिसकी ने धर्म पर आच्छादित धूल को हटाने का प्रयास किया। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि यह नवीन वातावरण कैसे बना ?

आन्दोलन के कारण

वैज्ञानिक प्रगति—पुनर्जागरण से चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में जगत् और ईश्वर सम्बन्धी वैज्ञानिक यूनानी विचारों का प्रादुर्भाव हुआ जिसने चर्च की मान्यताओं को धूमिल किया। उदाहरणार्थ, पूर्व काल में टालमी का यह विचार मान्य था कि पृथ्वी सौर-मण्डल का केन्द्र है। यह विश्वास इतना गहरा था कि जब ब्रूनों ने इसका विरोध किया, तब उसे जिन्दा जला दिया गया। जब कॉपरनिक्स ने यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो धर्माचार्यो ने उसे अपने निष्कर्ष वापस लेने को कहा। ऐसे ही समय विचारकों ने धार्मिक विश्वास के विपरीत यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता हो सकता है। मेंरिनर्स कम्पास की खोज से यूरोप के लोगों के विभिन्न गैर-ईसाई संस्कृतियों से सम्बन्ध स्थापित हुए। परिणामस्वरूप ईसाई धर्माडम्बरो का पर्दाफाश हुआ।

शिक्षा का प्रसार—पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक यूरोपीय शिक्षा केन्द्रों में केवल धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। किन्तु पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप इटली और यूरोप के शेष भागों में धर्म-निरपेक्ष विषयों का अध्ययन किया जाने लगा। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के प्रसार से व्यक्ति ईसाई धर्म की कुरीतियों को समझने लगा। यूरोप में शिक्षा के इस प्रसार में छापेखाने के प्रवेश ने बहुत योगदान दिया। 5० वर्षों के थोड़े समय में ही यूरोप में लगभग दस लाख पुस्तकें तैयार हो चुकी थीं। पुस्तकों के प्रसार से ज्ञान और नवीन विचारों का प्रसार सम्भव हुआ। बाइबिल का अनेक देशों की भाषाओं में अनुवाद होने से सामान्यजन भी ईसाई धर्म के मूल को समझने लगे। कई यूरोपीय राज्यों -जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड में नये नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई, जो कालान्तर में धर्म सुधार आन्दोलन के अधिकांश नेताओं की गतिविधियों के केन्द्र बने।

आर्थिक परिवर्तन--मध्ययुगीन यूरोप में आर्थिक व्यवस्था कृषि प्रधान थी। सामन्तीय ढाँचे में कृषक को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी क्योंकि वह सामन्त की इच्छा पर निर्भर था। कृषि के अतिरिक्त उद्योग भी श्रेणी-व्यवस्था में बंधे होने के कारण शिल्पी एवं कारीगर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से परे थे परन्तु सोलहवीं शताब्दी में बड़े तथा शक्तिशाली राज्यों की स्थापना से शनैः शनैः सामन्तवादी व्यवस्था टूटने लगी। इससे एक ओर कृषकों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में पूँजी के अभाव और श्रेणियों के कमजोर होने के कारण कारीगरों को भी स्वतन्त्रता मिली। लगभग इसी समय ऐसे वर्ग का उदय हुआ, जो पूँजी लगाकर इन स्वतन्त्र हुए कृषकों एवं मजदूरों से अपनी शर्तों पर उत्पादन कराने के लिए तत्पर था। इस व्यवस्था के जन्म ने अधिक उत्पादन तथा अधिक उत्पादन ने व्यापारिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। व्यापार और उद्योग की उन्नति से समाज में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो धनी था। यह वर्ग धन के प्रयोग से ऐश्वर्य युक्त जीवन व्यतीत करना चाहता था, यद्यपि यह ईसाई धर्म की की परम्परा के प्रतिकूल था। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म में ब्याज और मुनाफा कमाने का भी निषेध था। इन कारणों से इस वर्ग ने धर्म सुधारों को प्रोत्साहित किया। राजा ने जब धर्म-निरपेक्ष मामलों में पोप के हस्तक्षेप को अनुचित बताकर संघर्ष किया तो व्यापारी वर्ग ने राजा को सहयोग दिया। इस वर्ग की निगाहें

चर्च की अथाह सम्पत्ति और धन पर लगी हुई थी। इस प्रकार आधुनिक युग के आरम्भ में हुए आर्थिक परिवर्तनों ने कैथोलिक चर्च को कमजोर बनाने में यथेष्ट योग दिया।

चर्च संगठन के दोष—मध्यकाल से चर्च का सम्पूर्ण संगठन पूर्णतः दूषित हो चुका था। चर्च तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते नियन्त्रण एवं शोषण का शक्तिशाली साधन बन चुका था। चर्च ने एक विशाल श्रेणीबद्ध संस्था का रूप धारण कर लिया था। वह अपने वास्तविक उद्देश्यों को भुला चुका था। शासन एवं समाज के प्रत्येक क्षेत्र पर अंकुश लगाकर चर्च ने काफी शक्ति अर्जित कर ली थी। चर्च एक राजतन्त्र की भाँति कार्य करता था, जिसमें पोप की सत्ता सर्वोच्च थी और समझा जाता था कि 'पोप इज इनफालिएबल'।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह बड़ा हो या छोटा, चर्च के सत्ताधिकार में लाने के प्रयास किये गए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए वर्ष में एक बार पादरी के सामने मौखिक पाप स्वीकृति करना तथा दिये गये दंड को स्वीकार करना आवश्यक था। इसका पालन न करने वालों को धर्म से निकाल दिया जाता था। ऐसा माना जाता था कि धर्म से निकाला गया व्यक्ति नरक का अधिकारी होता है। मृत्यु हो जाने पर ऐसे व्यक्ति को पारम्परिक धार्मिक नीति से दफनाना निषेध था।

कैथोलिक चर्च की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी—संस्कार पद्धिति, जिसे ईश्वर की कृपा को मनुष्यों तक पहुँचाने का साधन माना जाता था। दूसरे शब्दों में, ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए इन संस्कारों का पालन आवश्यक माना जाता था। संस्कारों के बिना मुक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती थी। संस्कार शास्त्र के अनुसार पुरोहित ईश्वर की सहायता से चमत्कार कर सकता था और पापियों को उनके पाप से मुक्ति दिला सकता था।

बाइबिल में उल्लेख है, 'ऊँट का सुई के छेद से निकलना आसान है, पर किसी धनिक का स्वर्ग पहुँचना मुश्किल है।' परन्तु उसी बाइबिल के सर्वोच्च व्याख्याता भव्य राजप्रसादों में वैभव के साथ रहते थे उनके व्यक्तिगत जीवन में सभी तरह के अनाचारों का प्रवेश हो गया था। एलेक्जेन्डर षष्टम न केवल चरित्र भ्रष्ट था बल्कि निर्लज्ज होकर अपनी नाजायज संतानों को जीवन में आगे बढ़ाने के लिये हर तरह के प्रयत्न करता था। उसका उत्तराधिकरी जूलियस द्वितीय केवल सैनिक कार्यो में दिलचस्पी लेता था। पोप लिओं दशम् प्रतिमाह 6000 "ड्यूकेट" जुए में खर्च करता था। वह धन के लिए जघनय से जघन्य कार्य करने से भी नहीं हिचकता था। उसने धन एकत्र करने के लिये गिरजाघरों के निर्माण तक का बहाना बनाया।

उसके न्यायालय में हर बुरे कार्य के दण्ड से बचने के लिये फीस ली जाती थी। यह स्थिति थी उनकी, जो समाज के लिए सर्वोच्च आर्दश थे। भ्रष्टाचार सारे चर्च में व्याप्त था। चर्च का कोई भी पद बिक सकता था। सारा तन्त्र विलासिता का शिकार था। इससे बड़ा मजाक क्या होगा कि अब छुपकर नहीं खुले आम नियम व अनुशासन का उल्लंघन होता था और कोई जुबान तक नहीं हिला सकता था।

चर्च में फैले भ्रष्टाचार का सीधा सम्बन्ध आर्थिक शोषण से था। हर व्यक्ति को अपनी आय का दशमांश चर्च को देना पड़ता था। चर्च के बढ़ते खर्चों की पूर्ति के लिए कर बढ़ने लगे। निश्चित कर के अतिरिक्त भेंट-उपहार के रूप में चर्च को चढ़ावा देना पड़ता था। कर एवं उपहार देने की प्रथा अन्ततः जनता पर बोझ बन गयी। इस बात पर भी क्षोभ था कि धन विदेश (रोम) चला जाता था। चर्च द्वारा हो रहे आर्थिक शोषण से राजा और धनी दोनों ही क्षुब्ध थे। विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण शासक वर्ग चर्च द्वारा वसूले गये धन को अपने हिस्से की चोरी समझता था। धनिक लोगों को एतराज था कि चर्च का धन अनुत्पादक है। पूँजीवादी व्यवस्था की शुरूआत हो चुकी थी और वह धन बेकार समझा जाने लगा था जो पूंजी बनकर उत्पादन में न लगे। इस प्रकार जनता, व्यापारी, शासक आदि सभी चर्च के विरोधी थे।

राजनीतिक कारण—पोप का राजनीतिक प्रभाव एवं राजाओं द्वारा पोप के प्रभाव से स्वतन्त्र होने की आकांक्षा भी धर्म सुधार आन्दोलन का कारण बनी। मध्ययुग में पोप को व्यापक राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे, जैसे-रोमन कैथोलिक चर्च को मानने वाले राज्यों में आन्तरिक एवं बाह्य हस्तक्षेप, राजा को धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार,राज्यों में चर्च के अधिकारियों की नियुक्ती, किसी राज्य की जनता को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश देना आदि। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में स्थिति काफी बदल चुकी थी। राजाओं ने सामन्तों का दमन कर निरकुंश राजसत्ता की स्थापना कर ली थी। यूरोप के अधिकांश भागों में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। इन सबसे राजाओं की स्थिति मजबूत हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में पोप का हस्तक्षेप शासक कैसे स्वीकार करते ?

प्रत्येक शासक विधानों, न्यायालयों और करारोपण को राष्ट्रीय आधार पर स्थापित कर रहा था किन्तु पोप चर्च के विधानों, अदालत का प्रशासन और चर्च के करों का संग्रह अन्तर्राष्टीय आधार पर करता था, जिसे शासक अपने अधिकारो के विरुद्ध समझते थे। वे चाहते थे कि चर्च के अधिकारियों समेत सभी अभियुक्तों पर राष्ट्रीय न्यायालयों में मुकदमें चलाये जायें। शासक अपनी पूर्ण सत्ता चाहते थे इसलिये पोप के प्रति उनके मन में कटुता थी।

तात्कालिक कारण—चर्च के व्यय अत्याधिक होने के कारण चर्च ने वैध व अवैध, उचित तथा अनुचित उपायों एवं साधनों द्वारा धन वसूल करना आरम्भ कर दिया। धर्म सुधार आन्दोलन का तात्कालिक कारण था-पोप के अधिकृत पदाधिकारी, टेटजेल द्वारा जर्मनी में "पाप-मोचन पत्रों" अथव 'अनुग्रह-पत्रों' (इन्डल्जेन्सेज) का विक्रय। जब सन् 1517 में टेटजेल नामक पोप का एजेन्ट जर्मनी के विटनबर्ग में 'पाप मोचन पत्रें' को खुलेआम बेचने लगा तो मार्टिन लूथर ने अपने प्रसिद्ध '95 प्रसंगों' द्वारा इसका डटकर विरोध किया और पोप के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। लूथर ने इस तथ्य पर जोर दिया कि धन लेकर मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है अपितु पापों से मुक्ति के लिए ईश्वर की असीम दया की आवश्यकता है। उसने 'श्रद्धा द्वारा दोष मुक्ति ' का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसका विश्वास था कि यदि मनुष्य अपने पापों के लिए खेद प्रकट करता है और ईश्वर में विश्वास रखता है तो वह पाप-मोचन पत्रें के बिना भी क्षमा कर देगा।

प्रमुख धर्म सुधारक

चौदहवीं शताब्दी से ही सुधारवादियों का यूरोपीय धार्मिक मंच पर आगमन हो गया था। उन्होनें चर्च के संगठन के दोषों एवं पादरी जीवन में विद्यमान अनैतिकता का विरोध किया तथा परिवर्तन की मांग की। प्रारम्भिक सुधारकों ने आगे चलकर मार्टिन लूथर जैसे सुधारकों के लिए सशक्त पृष्ठभूमि तैयार की।

जान वाइक्लिफ (1320-1384)ई०—वाइक्लिफ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का एक प्राध्यापक था। उसने कैथोलिक धर्म की बहुत सी परम्पराओं तथा चर्च के क्रियाकलापों की आलोचना की। उसने घोषित किया, "पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है तथा भ्रष्ट एवं विवेकहीन पादरियों द्वारा दिये जाने वाले धार्मिक उपदेश व्यर्थ हैं।" उसका कहना था कि प्रत्येक ईसाई को बाइबिल के सिद्धांतों के अनुसार काम करना चाहिए और इसके लिये चर्च या पादरियों के मार्ग निर्देशन की आवश्यकता नहीं है। वाइक्लिफ ने इस बात की वकालत की कि आम लोगों को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि धर्मग्रन्थ में क्या लिखा है। यह ध्यातव्य है कि कैथोलिक चर्च की भाषा अब तक लैटिन थी, जिसे आम लोग नहीं समझ पाते थे। वह जन भाषाओं में धर्मग्रंथों के अनुवाद के पक्ष में था। उसी की प्रेरणा के फलस्वरूप बाइबिल का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद हुआ। उसने यह भी मांग की कि चर्च की विपुल धन-सम्पत्ति पर राज्य को अधिकार कर लेना चाहिये। उसके विचार एक सीमा तक क्रान्तिकारी थे, जिन्हे रूढ़ीवादी धर्माधिकारी सहन नहीं कर पाये। धर्माधिकारियों और शिक्षा शास्त्रियों दोनों ने ही उसके विचारों का विरोध किया। किन्तु वे उसके विचारों के प्रसार को रोकने में असफल रहे। उसे 'द मार्निंग स्टार आफ रिफॉर्मेशन' कहा गया।

जॉन हस (1369-1415)ई०-हस बोहेमिया (चेक) का निवासी था और प्राग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उसके विचारों पर वाइक्लिफ का गहरा प्रभाव था। उसकी मान्यता थी कि एक सामान्य ईसाई, बाइबिल के अध्ययन से ही मुक्ति का मार्ग खोज सकता है ओर इसके लिए चर्च आदि के सहयोग की आवश्यकता नहीं हैं। चर्च की निन्दा और नास्तिकता का प्रसार करने के आरोप में उसे जिन्दा जला दिया गया। उसके विचारों का बोहेमिया के जन-जीवन पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा।

सेवोनारोला(1452-1488)ई०-वह फ्लोरेन्स नगर का एक विद्वान पादरी तथा राजनीतिज्ञ था। उसने पोप के राजसी ठाठ की आलोचना की तथा चर्च के क्रियाकलापों में सुधार पर जोर दिया। तत्कालीन पोप एलेक्जेण्डर षष्ठम् ने उसे अपने विचारों का प्रचार बंद करनेका आदेश दिया, जिसका उसने पालन नहीं किया। इस पर चर्च ने उसे चर्च की महान्-परिषद के सम्मुख स्पष्टीकरण के लिए बुलाया और चर्च की निन्दा करने के आरोप में उसे भी जिन्दा जला दिया गया।

इरेसमस (1466-1536)ई०—हॉलैण्डवासी इरेसमस विचारों की गहनता एवं सुन्दर लेखन शैली के कारण शीघ्र ही यूरोप में विख्यात विद्वान बन गया। लूथर के द्वारा धर्म सुधार आन्दोलन प्रारम्भ होने से पहले ही 1511 ई. में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द प्रेज ऑफ फौली' लिखी। इस पुस्तक के द्वारा उसने लोगों का ध्यान सहज ही चर्च की बुराईयों की तरफ खींचा। इस पुस्तक में भिक्षुओं की अज्ञानता एवं उनके सहज विश्वास की आलोचना की गयी। यद्यपि वह लूथर की तरह

उग्रवादी नहीं था परन्तु अपनी पुस्तक में प्रहसनों के माध्यम से पोप की कहीं अधिक खिल्ली उड़ाई। इरेसमस ने ईसाई धर्म के मूल-सिद्धांतों के प्रचार हेतु 'न्यू टेस्टामेंण्ट' का 1516 ई. में नया संस्करण निकाल कर धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की।

मार्टिन लूथर (1483-1546)—लूथर का जन्म 10 नवम्बर, 1483 को जर्मनी के एक निर्धन किसान परिवार में हुआ। इरफर्ट विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण करने के बाद उसने पिता की इच्छा पर कानून का अध्ययन प्रारम्भ किया। किन्तु कानून की जगह उसने धर्म शास्त्र का अध्ययन शुरू कर दिया। उसका मन उद्वेलित रहने लगा। तरह-तरह की शंकाएं उठने लगीं। विटनबर्ग विश्वविद्यालय में धर्म शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हो जाने पर शंकाओं के समाधान हेतु उसे अध्ययन का और मौका मिला। 1511 ई. में उसने रोम की यात्रा की। पोप के नैतिक पतन को देखकर उसे निराशा हुई।

लूथर प्रारंभ में पोप का विरोधी नहीं था परन्तु 1517 ई. में अचानक एक घटना, टेटलेज को सेन्ट पीटर गिरजाघर के निर्माण हेतु क्षमा-पत्र बेचकर धन इकट्ठा करने के पोप की आज्ञा, ने लूथर को चर्च का विरोधी बना दिया। टेटजेल कहता था, "जैसे ही क्षमा-पत्रों के लिए दिये गये सिक्कों की खनक गूंजती है, उस आदमी की आत्मा, जिसके लिये धन दिया गया है, सीधे स्वर्ग में प्रवेश कर जाती है।" परन्तु ऐसी बातों पर से विश्वास उठ रहा था। क्षोभ हर ओर व्याप्त था लेकिन मार्टिन लूथर अकेला आदमी था जिसने साहस बटोरकर भोली-भाली जनता के साथ किये जा रहे मजाक और शोषण का विरोध किया। उसने कहा कि यह धर्म के मूलसिंद्धात की अवहेलना है। लूथर का विचार था कि पाप पश्चाताप से नष्ट होता है, पश्चाताप मन का विषय है और चर्च के कर्मकाण्डों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। लूथर ने इस प्रथा के विरोध में विटनबर्ग के कैसल गिरजाघर के प्रवेश-द्वार पर 31 अक्टूबर, 1517 को अपना विरोध-पत्र ' द नाइन्टी फाईव थीसिस' लटका दिया। इन 95 स्थापनाओं अथवा कथनों में चर्च द्वारा सभी उपायों से धन एकत्र करने की आलोचना की गयी थीं। ये बातें पहले लैटिन में लिखी गयी लेकिन शीघ्र ही उनका जर्मन अनुवाद हुआ। इन स्थापनाओं की प्रतियाँ उसने अन्य नगरों में अपने मित्रों को भेजी। लूथर अभी भी चर्च के अधिकार को खुली चुनौती नहीं दे रहा था लेकिन पोप ने लूथर के विरोध का विशेष महत्व नहीं समझा।

लूथर ने 1519 ई. में लिपजिक में एक खुले वाद-विवाद में मनुष्य और ईश्वर के बीच पोप की सहायता को निरर्थक बताया तथा जॉन हस के विचारों को स्वीकार करने का आहवान किया। यह चर्च की निरकुंश सत्ता पर लगाया गया आक्षेप था जिसके परिणाम भी गंभीर हो सकते थे। इस बीच उसने तीन लघु पुस्तिकाएँ (पेम्फलेट) प्रकाशित किये। इन पुस्तिकाओं में उन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जिन्हें आगे चलकर 'प्रोटेस्टेन्टवाद' के नाम से अभिहित किया गया। 'एन एड्रेस टु द नोबिल्टी ऑफ द जर्मन नेशन' (जर्मन राष्ट्र के सामन्तवर्ग के प्रति एक अपील) में उसने चर्च की अपार सम्पत्ति का वर्णन करते हुए जर्मन शासकों को विदेशी प्रभाव से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया। 'द बेबीलोनियन केप्टिविटी ऑफ द चर्च' (चर्च की बेबीलोनियायी कैद) में उसने पोप ओर उसकी व्यवस्था पर प्रहार किया। 'द फ्रीडम ऑफ क्रिश्चियन मेंन' (एक ईसाई मनुष्य की मुक्ति) में उसने मुक्ति के सिद्धांतो का प्रतिपादन किया और ईश्वर की अनुकम्पा पर अटूट विश्वास की प्रतिष्ठा की। इन्हीं लघु पुस्तिकाओं में प्रतिपादित सिद्धांत आगे चलकर प्रोटेस्टेन्टवाद के आधारभूत तत्व बने।

लूथर के कार्यों से पोप क्षुब्ध हो गया। 1520 में पोप ने लूथर को आदेश दिया कि वह 60 दिन के भीतर अपने विचार वापस ले अन्यथा उसे धर्मद्रोही घोषित कर दिया जायेगा। परन्तु लूथर ने आदेश की परवाह नहीं की। उसने पोप के आदेश को एक सार्वजनिक सभा में जला दिया। अन्ततोगत्वा लूथर को धर्म से निष्कासित कर दिया। इस अवधि में उसका मित्र सैक्सनी का शासक उसका संरक्षक रहा। जर्मनी के अनेक शासक चर्च विरोधी थे। अतः लूथर को धर्म से बहिष्कृत किया गया तो उसे कोई क्षति नहीं हुई। रोम के पवित्र साम्राज्य का अध्यक्ष चार्ल्स पंचम यद्यपि पोप का समर्थक था परन्तु वह युद्धों में इतना उलझा हुआ था कि बढ़ते हुए धार्मिक असंतोष को कुचलने में असमर्थ रहा। दूसरी ओर मार्टिन लूथर ने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अथक प्रयास किया तथा भाषणों, लेखों एवं पत्रिकाओं द्वारा समाज के सभी वर्गों में जागृति उत्पन्न की। लोगों में जागृति का कारण केवल चर्च और संगठन के दोष ही नहीं थे बल्कि चर्च की सम्पत्ति के प्रति लालच भी था। इस जागृति में छापेखाने के आविष्कार से भी काफी मदद मिली। 1521 में जर्मनी की शाही संसद ने उसकी भर्त्सना की, किंतु जागरण का विस्तार इतना हो गया था कि अब भर्त्सना का कोई अर्थ नहीं रह गया था। इस जागरण में शहरी मध्यवर्ग के विभिन्न समूहों तथा दस्तकारों की भूमिका सबसे प्रमुख थी।

1521 ई. में जर्मन राज्यों की वर्म्स में आयोजित सभा ने उसे अपने विचार वापस लेने को कहा। उसने कहा कि वह ऐसा कर सकता है, यदि उसकी बातें तर्क और प्रमाण के द्वारा काट दी जायें। इस सभा ने उसकी रचनाओं को गैर-कानूनी घोषित कर दिया तथा उसे कानूनी रक्षा से वंचित कर दिया। इसी बीच उसने बाइबिल का जर्मन अनुवाद किया, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ, जिसका आज भी महत्व है।

मार्टिन लूथर के विचार एवं उनका प्रसार

(i) उसने ईसा और बाइबिल की सत्ता स्वीकार की लेकिन पोप और चर्च की दिव्यता और निरकुंशता को नकार दिया। (ii) चर्च द्वारा निर्धारित कर्मों के स्थान पर उसने ईश्वर में आस्था को मुक्ति का साधन बताया। (iii) 'सप्त संस्कारों; में से उसने केवल तीन-नामकरण, प्रायश्चित और प्रसाद को ही माना। (iv) उसने चर्च के चमत्कार में अविश्वास व्यक्त किया। (v) किसी भी व्यक्ति को न्याय से ऊपर नहीं होना चाहिये। (vi) रोम के चर्च के प्रभुत्व का अन्त करके राष्ट्रीय चर्च की शक्ति को सबल बनाया जाना चाहिये। (vii) धर्मग्रन्थ सबके लिये हैं, सब उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। (viii) चर्च के भ्रष्टाचार को रोकने के लिए पादरी लोगों को विवाह करके सभ्य नागरिकों की तरह रहने की अनुमति दी जानी चाहिये।

आने वाले वर्षों में मार्टिन लूथर एक स्वतन्त्र चर्च स्थापित करने की बात कहता रहा। उसने कैथोलिक चर्च की श्रेणीबद्ध व्यवस्था को स्वीकार किया। जर्मन भाषा को चर्च के कार्य-व्यवहार की भाषा बनाया। मठवाद का अंत किया। धरती पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहितों के विशेष पद को समाप्त किया। दैववाद के सिद्धान्तों एवं धर्मग्रन्थों की सत्ता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। तीर्थयात्रा एवं अवशेषों की पूजा को गौण माना। कुल मिलाकर लूथर धर्म को एक सरल रूप देने में लगा रहा।

आगामी कुछ वर्षों में समस्त मध्य व उत्तरी जर्मन रियासतों में लूथर के विचारों व शिक्षाओं का अपूर्व प्रसार हुआ। तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति का पूर्ण लाभ उठाते हुए लूथर ने पोप व सम्राट दोनों की उपेक्षा की। उसके सिद्धान्त बड़ी शीघ्रता से स्वीकृत व मान्य होने लगे। लूथर का धर्म सुधार आन्दोलन वस्तुतः लोकप्रिय व राष्ट्रीय आन्दोलन था। उसने सदाचारी ईसाइयों को अपने धर्म सुधार आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। लूथरवादी शिक्षाओं ने जर्मनी के देशभक्तों को भी अत्याधिक प्रभावित किया क्योंकि वे विदेशी पुरोहितों की शोषणात्मक नीति का अन्त करना चाहते थें। उसके समर्थकों ने कैथोलिक चर्च के विरुद्ध विद्रोह किया, चर्च की जागीरें व जायदाद छीन ली तथा कैथोलिक पूजा-उपासना का परित्याग कर दिया। कैथोलिक मठ नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। पोप की राजनीतिक, धार्मिक व आर्थिक सत्ता अमान्य की गयी। 1524 ई. में समस्त जर्मनी में लूथरवादी शिक्षाओं का प्रचास व पालन अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा, परन्तु इसी समय अग्रलिखित कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई जिनके परिणामस्वरूप लूथरवादी आन्दोलन काफी सीमित हो गया। अन्ततोगत्वा उत्तरी जर्मनी राज्यों में ही उसका प्रभाव रहा।

मार्टिन लूथर के विचारों के तेजी से पनपने का एक अप्रत्याशित परिणाम यह निकला कि जर्मनी में कृषकों के विद्रोहों की शुरूआत हो गई। काट्र्सतेद्त, टॉमस मुत्ज़र जैसे लोगों के नेतृत्व में लूथरवाद ने अधिक उग्र-सुधारवादी रूप धारण कर लिया था। इस पृष्ठभूमि में केन्द्रीय तथा दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी में 1525 ई. में महान् कृषक युद्ध हुए। वे कृषिदास-प्रथा, सामंती-कर, धार्मिक-कर, वन संपदा के उपयोग पर नियन्त्रण आदि के प्रचलन के विरुद्ध आन्दोलनरत थे। साथ ही वे पादरियों के निर्वाचन की भी माँग कर रहे थे। किसानों की यह मान्यता थी कि लूथर धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक ओर आर्थिक स्वतन्त्रता का भी समर्थक होगा। अतः वे अपने आन्दोलन के समर्थन में लूथर से काफी आशा कर रहे थे। परन्तु इसके विपरीत लूथर ने विद्रोह को दबाने में शासकों एवं जमींदारों का साथ दिया। लूथर ने कड़े शब्दों में किसानों की भर्त्सना की ओर सामंतों से कहा कि वे उन्हें पागल कुत्तों की भाँति मार डालें। ऐसा अनुमान है कि 50,000 किसानों की मौत के बाद विद्रोह को दबाया जा सका था। कुल मिलाकर लूथर का आन्दोलन, सामाजिक -आर्थिक आन्दोलन के रूप में उग्र-सुधारवादी नहीं था। इसका एक प्रमुख परिणाम यह निकला कि लूथरवाद उत्तरोत्तर निम्नवर्गीय शक्तियों की सहानुभुति खोता गया और क्रमशः जर्मन-नरेशों पर अधिकाधिक आश्रित होता गया। लूथर के रूढ़िवादी दृष्टिकोण के कारण धर्मसुधार की धारा को आवृत्ति ताजगी मिलना भी बंद हो गया।

प्रोटेस्टेन्ट चर्च का जन्म-

धार्मिक विवाद के हल के लिए 1526 ई. में पवित्र रोमन साम्राज्य की पहली सभा स्पीयर में हुई। चूंकि इसमें जर्मनी के शासकगण, लूथरवाद व कैथोलिक दलों में विभक्त हो गये थे, अतः यह सभा धर्म सुधार आन्दोलन के सम्बन्ध में कोई स्थायी समाधान न कर सकी। इस सभा ने धार्मिक समस्या के समाधान या धर्म निश्चय का उत्तरदायित्व स्थानीय शासकों पर छोड़ दिया और यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक राज धर्म के मामले में ऐसा मार्ग अपनायेगा कि वह उपने आचरण के लिए ईश्वर और सम्राट के प्रति उत्तरदायी होगा। 1529 ई. में स्पीयर में ही एक दूसरी सभा हुई। किन्तु उस सभा ने भी सुधार आन्दोलन को मान्यता प्रदान नहीं की तथा नये सुधार आन्दोलन के विरुद्ध कई कठोर निर्देश पारित किये। इस सभा के एक पक्षीय निर्णयों के विरुद्ध लूथरवादी शासकों व समर्थकों ने तीव्र विरोध किया। इस विरोध या प्रतिवाद (प्रोटेस्ट) के कारण इस सुधार आन्दोलन का नाम 'प्रोटेस्टेन्ट पड़ा। औपचारिक तौर पर यह विरोध 16 अप्रैल, 1529 को हुआ। इस प्रकार प्रोटेस्टेन्ट अनुयायियों ने कैथोलिक चर्च व पोप के सार्वभौमिक अधिकारों को अस्वीकार कर दिया। सन् 1530 में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सैद्धान्तिक रूप निरूपित किया गया जिसमें मार्टिन लूथर के सिद्धान्त को मान्यता मिली।

ऑग्सबर्ग की संधि

सम्राट चार्ल्स पंचम् अन्य समस्याओं में उलझा हुआ था। 1530 ई. के बाद उसने लूथरवाद को दबाना चाहा। उसने ऑग्सबर्ग में एक सभा बुलायी एवं वहाँ प्रोटेस्टेन्ट लोगों को विधिपूर्वक अपने सिद्धान्तों को पेश करने की आज्ञा दी। अतः इस सभा में प्रोटेस्टेन्टों ने एक दस्तावेज के रूप में अपने सिद्धान्त रखे। इस दस्तावेज को 'ऑग्सबर्ग' की स्वीकृति' कहते हैं परन्तु चार्ल्स पंचम् ने 'ऑग्सबर्ग की स्वीकृति' को अमान्य कर दिया। किन्तु लूथरवादियों के प्रभाव तथा स्वयं की बाह्य परिस्थितियों के कारण उसने 1532 ई. में विराम-संधि की, जो 1546 ई. तक चली। बाह्य आपत्तियों व घरेलू समस्याओं से छुटकारा पाने के उपरान्त चार्ल्स पंचम् ने प्रोटेस्टेन्टों का समूल दमन करने का निश्चय किया। इसी निश्चय के परिणामस्वरूप जर्मनी में 1546 ई. से 1555 ई. तक गृह-युद्ध छिड़ गया। दीर्धकालीन गृह-युद्ध के भयंकर दुष्परिणामों से विवश होकर प्रिंस फर्डिनेन्ड ने जर्मनी के प्रोटेस्टेन्टों के साथ सन् 1555 में ऑग्सबर्ग की संधि की। इस संधि के अनुसार (i) हर शासक को (जनता को नहीं) अपना और अपनी प्रजा का धर्म चुनने की स्वतंत्रता दे दी गयी। (ii) 1552 ई. से पहले प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने चर्च की जो जायदाद अपने अधिकार में ले ली थी, वह उनकी मान ली गयी (iii) लूथर के अतिरिक्त अन्य किसी को मान्यता नहीं दी गयी। (iv) कैथोलिक क्षेत्रों में बसने वाले लूथरवादियों को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश नहीं किया जायेगा। (v) धार्मिक आरक्षण के सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई कैथोलिक धर्म परिवर्तन करता है तो उसे पद से सम्बंधित सभी अधिकारों का परित्याग करना होगा।

इन शर्तों ने एक हद तक धार्मिक संघर्ष को सुलझाया, पर बहुत त्रुटिपूर्ण ढंग से। संधि में व्यक्ति को नहीं शासक को धार्मिक स्वतंत्रता दी गयी थी जो बहुत दिनों तक मान्य नहीं हो सकती थी। इस संधि द्वारा सिर्फ लूथरवाद को ही कानूनी मान्यता दी गयी परन्तु अन्य प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों (जैसे ज्विंग्लीवाद, काल्विनवाद) को कोई मान्यता नहीं मिली। यह संधि धार्मिक कलह का निवारण न कर सकी ओर इस समस्या का निदान करीब-करीब एक सौ वर्ष बाद वेस्टफेलिया की संधि के साथ हुआ। ऑग्सबर्ग की संधि की कमियों के बावजूद जर्मनी सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में युद्धों से बचा रहा।

काल्विनवाद-

लूथरवाद के समान ही यूरोप के दूसरे भागों में धर्म-सुधार आन्दोलन प्रारंभ हुए। इनमें स्विट्जरलैण्ड में काल्विनवाद लूथरवाद से भी सशक्त विचारधारा थी। इसका प्रणेता था-हुलड्रीक ज्विंगली।

ज्विंगली (1484-1531)–ज्विंगली का जन्म 1484 ई. में स्विट्जरलैण्ड में हुआ था। उसने धर्म-ग्रंथों का विशद् अध्ययन किया था। वह भी क्षमा-पत्रों का विरोधी था। ज्विंगली द्वारा बलात् धर्म परिवर्तन कराने के कारण स्विट्जरलैण्ड में गृहयुद्ध हो गया। अन्त में समझौता हुआ जिससे अन्तिम अधिकार स्थानीय सरकारों को मिल गया। फलतः आज भी जर्मनी की तरह स्विट्जरलैण्ड में कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्ट दोनों ही है।

काल्विन (1509-1564)- ज्विंगली की विचारधारा को उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष पश्चात् फ्रांस में जॉन काल्विन ने व्यवस्थित करके सशक्त रूप में न केवल स्विट्जरलैण्ड में बल्कि बाहर भी स्थापित किया। जॉन काल्विन का जन्म

1506 ई. में फ्रांस में हुआ था। काल्विन को दृढ़ विश्वास था कि उसे अपने विचार अकाट्य तर्कों के आधार पर रखने होंगे, तभी वह कैथोलि चर्च का सफल विरोध कर सकेगा। उसने चर्च से सम्बन्ध तोड़ लिया और अपने विचार लोगों के सामने रखने शुरू कर दिये। उसकी युवावस्था के बावजूद उसके प्रशंसक तेजी से बढ़ने लगे। फ्रांस के शासक फ्रांसिस ने उस पर प्रतिबंध लगाना चाहा लेकिन इससे उसकी मदद ही हुई और वह फ्रांस छोडकर स्विट्जरलैण्ड चला गया, जहाँ मृत्यु-पर्यन्त रहा। वहाँ वह ज्विंग्ली के सम्पर्क में आया। वहीं कैथोलिक चर्च के समानान्तर प्रोटेस्टेन्ट चर्च के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'ईसाई धर्म के आधारभूत सिंद्धान्त' (इन्स्टीट्यूट ऑफ क्रिश्चियन रिलिजन) लिखी। यह अब तक की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक थी। इतने तर्कपूर्ण और विद्वतापूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन इससे पूर्व किसी ने नहीं किया था। इसमें उसने ज्विंगली और लूथर के विचार लिए, वर व्याख्या सर्वथा उसकी अपनी थी। पुस्तक काफी लोकप्रिय हुई। इसमें उसने सुधारवादी तथा कैथोलिक दोनों चर्चों की तुलना की। यहां यह स्मरणीय है कि लूथरवाद में पोप और संगठन के विरोध के अतिरिक्त धर्म के कर्मकांडों के विषय में उल्लेखनीय परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं था परन्तु काल्विन धर्मशास्त्र के बाहर किसी भी कर्मकाण्ड को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था।

काल्विन में अद्भुत संगठन-शक्ति थी। उसने जेनेआ नगरवासियों को संगठित किया और उन्हें धार्मिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता दिलायी। शीघ्र ही जेनेआ एक धर्म प्रधान नगर-राज्य बन गया जिसका वह सर्वोच्च नेता और नियन्ता था। उसने एक विशुद्ध नैतिकवादी व्यवस्था कायम की । जरा सी चारित्रिक कमजोरी पर वह कठोर दण्ड देता था। वह स्वयं सादा जीवन व्यतीत करता था। धीरे-धीरे प्रोटेस्टेन्ट लोगों में उसकी वह धाक हो गयी, जो कैथोलिक लोगों में पोप की थी। उसे 'प्रोटेस्टेन्ट पोप' कहा जाने लगा। इतनी सफलता के पीछे उसके सिद्धान्त थे। मनुष्य की मुक्ति न कर्म से हो सकती है न आस्था से, वह तो बस ईश्वर के अनुग्रह से ही हो सकती है। बाइबिल को ही मुक्ति का एकमात्र उपाय माना। व्यक्ति और ईश्वर के बीच कोई माध्यम नहीं माना। संस्कारों का महत्व कम करके व्यक्ति के पवित्र आचरण एवं नैतिक अनुशासन पर बहुत बल दिया। काल्विनवाद विशेष रूप से मध्यवर्ग में काफी लोकप्रिय हुआ। यह स्विट्जरलैण्ड एवं फ्रांस में धीरे-धीरे फैलने लगा। लूथर के कार्यक्षेत्र जर्मनी में भी काल्विनवाद का प्रसार हुआ और अन्त में उसे मान्यता भी मिली। उत्तरी नीदरलैण्ड एवं स्कॉटलैण्ड में इस विचारधारा का तेजी से प्रसार हुआ। इस तरह सत्रहवीं शताब्दी आते-आते अपने कट्टर अनुशासन के कारण काल्विनवाद सारे यूरोप में फैल गया, जबकी लूथरवाद मुख्यतया जर्मनी का राष्ट्रीय धर्म ही रहा।

लूथर और काल्विन : एक तुलना

दोनों ने करीब-करीब एक ही समय कैथेलिक चर्च का विरोध कर पृथक् सम्प्रदाय खड़े किये। दोनों ने ईसा मसीह ओर बाइबिल को पूर्णतः स्वीकार किया। लेकिन पोप की सत्ता को नकारा। दोनों ने विशेषकर मध्यवर्ग को प्रभावित किया। दोनों ने आडम्बर का विरोध किया लेकिन उनके सुधार एवं इसके तरीके भिन्न-भिन्न थे-

(i) लूथर चर्च को बिना पूरी तरह नकारे जर्मनी के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए थोड़े से परिवर्तन करके संतुष्ट रहा जबकि काल्विन अधिक परिवर्तन का पक्षधर रहा।

(ii) लूथर राज्य और धर्म के बीच स्पष्ट रेखा नहीं खीच सका लेकिन काल्विन ने दोनों के कार्यक्षेत्र में स्पष्ट विभाजन किया।

(iii) लूथर चमत्कारों को प्रतीक के रूप में स्वीकार करने को तैयार था किन्तु काल्विन ने चमत्कारों को बिल्कुल नकार दिया।

(iv) लूथर आस्था को मुक्ति का आधार मानता था। काल्विन के लिए कर्म या आस्था से कोई फर्क नहीं पड़ता था क्योंकि व्यक्ति की नियति पहले से ही निश्चित होती है।

(v) लूथर ने अपने अनुयायियों के चरित्र एवं आचार-व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं दिया लेकिन काल्विन ने चारित्रिक अनुशासन को अत्याधिक महत्व दिया।

ऐंग्लिकन विचारधारा

जर्मनी और स्विट्जरलैण्ड की तुलना में इंग्लैण्ड में धर्म सुधार आन्दोलन के विकास में चर्च और संगठन के धार्मिक दोषों के स्थान पर राजनीतिक महत्वाकांक्षा ज्यादा बलवती थी।

सोलहवीं शताब्दी में एक छोटे से किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न ने इंग्लैण्ड में एंग्लिकन विचारधारा को जन्म दिया। प्रश्न ट्यूडर वंश के शासक हेनरी अष्टम् (1500-1547) से सम्बन्धित था । हेनरी के कोई पुत्र न था। यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं था लेकिन हेनरी को कुछ दिनों से अपनी प्रमुख परिचारिका एन बोलिन से प्यार हो गया था और वह उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था। यह तभी सम्भव था जब उसका अपनी पत्नी कैथरिन से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता, किन्तु यह मुश्किल था। जब पोप ने हेनरी की बात नहीं मानी, तो हेनरी ने खुलकर विरोध करने का निर्णय लिया। सदियों से चले आ रहे पोप के हस्तक्षेप और आर्थिक हानि के कारण असन्तुष्ट इंग्लैण्ड को पोप विरोधी नीति अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सबसे पहले हेनरी ने रोम जाने वाले धन पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा फिर क्रेनमर को कैन्टरबरी का बिशप बनाया। फिर उसने अपने तथा कैथरिन के सम्बन्ध विच्छेद की आज्ञा घोषित करवायी और एन से विवाह कर लिया। अब पोप के लिए भी उसके विरुद्ध कदम उठाना अनिवार्य हो गया था। अतः उसने हेनरी को धर्मच्युत कर दिया। हेनरी ने भी 1534 ई. में पोप से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और इंग्लैण्ड के शासक को 'इंग्लैण्ड के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी' घोषित किया। इस प्रकार कैथोलिक चर्च से एक झटके में सम्बन्ध टूट गया।

हेनरी की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड अष्टम् ने प्रोटेस्टेन्ट विचारधारा को आगे बढ़ाया। इसके काल में 'बुक आफ कॉमन प्रेयर' (सामान्य प्रार्थना पुस्तक) प्रकाशित हुई, जिसमें 42 सिद्धान्तों की घोषणा की गयी। इसमें प्रोटेस्टेन्ट विचारों को स्थापित किया गया। एडवर्ड की मृत्यु के बाद उसकी बहिन मेंरी ट्यूडर के समय कैथोलिक चर्च को फिर से मान्यता दी गयी लकिन विरोधी कानूनों के बावजूद उसके जीवनकाल में प्रोटेस्टेन्ट विचारधारा फैलती रही। मेंरी के पश्चात् एलिजाबेथ गद्दी पर बैठी। एलिजाबेथ धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक हितों के लिए करना चाहती थी। उसके शासनकाल में आंग्ल-धर्म का अन्तिम स्वरूप निश्चित हुआ। '42 सिद्धान्तों' को थोड़ा संशोधित करके '39 सिद्धान्तों' के नाम से लागू किया गया। ऐंग्लिकन चर्च को वैधानिक सत्ता प्रदान करने के लिये 'सर्वोच्चता और एकरूपता का कानून' पास किया गया।

प्रोटेस्टेन्टवाद को धीरे-धीरे इंग्लैण्ड की जनता ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि कुछ विरोध अवश्य हुआ किन्तु एलिजाबेथ की योग्यता एवं दूरदर्शिता की वजह से इंग्लैण्ड का राष्ट्रीयचर्च स्थायी साबित हुआ। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के अंत तक इंग्लैण्ड में एक ऐसे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हुई जो कर्मकाण्ड में रोमन और धर्मशास्त्रीय संदर्भ में काल्विनवादी था।

धर्मसुधार आन्दोलन की सफलता एवं इसके कारण

मार्टिन लूथर ज्विंगली तथा काल्विन के प्रयत्नों से यूरोप में धर्म-सुधार आन्दोलन चल पड़ा और कई देशों में सुधारकों के सिद्धांत के अनुसार चर्च के संगठन में परिवर्तन किये गए। फ्रांस और स्पेन को छोड़कर यूरोप के अधिकांश देशों में प्रोटेस्टेन्ट धर्म जड़ पकड़ने लगा। इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड, नार्वे, स्वीडन तथा उत्तरी जर्मनी के राज्य पोप के खिलाफ उठ खड़े हुए। इन देशों में प्रोटेस्टेन्ट धर्म कायम हुआ तथा स्वतन्त्र राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हुई। इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रचार में वहाँ के शासक हेनरी अष्टम् का योगदान उल्लेखनीय रहा। वह पोप से अलग होकर इंग्लैण्ड के चर्च का सर्वेसर्वा बन गया।

लूथर एवं काल्विन को वह सफलता प्राप्त हुई जो मूल धर्म प्रचारकों वाइक्लिफ एवं हस को प्राप्त न हो सकी थी। इसके कई कारण थे। वाइक्लिफ एवं हस ने लोगों को सामाजिक असमानता के विरुद्ध भड़काया था जिससे अनेक लोग इनके विरोधी हो गये थे किन्तु लूथर एवं काल्विन ने यह गलती नहीं की। लूथर ने किसानों द्वारा विद्रोह करने पर उनको अपना समर्थन नहीं दिया। उसने तो इसकी निन्दा तक की। अतएव सुविधा प्राप्त वर्ग उनके विरोधी न होकर सहायक हो गए ओर धर्म सुधार में उनकी सहायता की। धर्म सुधार आन्दोलन के सफल होने का दूसरा कारण यह था कि लूथर एवं काल्विन ने राष्ट्रीयता की भावना को पोप की सर्वोपरिता के विरुद्ध उभारा। उनकी दृष्टि में किसी राज्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप अनुचित था। राज्य आंतरिक मामलों में सार्वभौम है- ऐसी इन सुधारकों की धारणा थी। अतः किसी भी देश के धर्म पर विदेशी पोप की सत्ता को इन्होंने अनुचित ठहराया। इन विचारों का यह परिणाम हुआ कि शासकगण पोप के नियन्त्रण से मुक्त होने के लिए अधिक जागरूक एवं सचेष्ट हो गये। उन्होंने धर्म सुधारकों को प्रोत्साहन एवं प्रश्रय देना प्रारम्भ किया। चर्च में जमा सम्पत्ति पर राष्ट्र के अधिकर की अवधारणा ने शासकों को धर्म सुधार आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाने के लिये प्रेरित किया। इस आन्दोलन की सफलता का तीसरा कारण यह था कि अब चर्च की उपयोगिता घट गई थी। पुनर्जागरण के पश्चात् शिक्षा का कार्य स्वतंत्र रूप से होने लगा था। बदली हुई सामाजिक एवं वैचारिक परिस्थितियों ने भी धर्म सुधार आन्दोलन को बल प्रदान किया।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम

(1) प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन- सोलहवीं शताब्दी के धर्म सुधार आन्दोलन तथा प्रोटेस्टेन्टों की सफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि अपने स्थायित्व के लिए रोमन कैथोलिक चर्च में भी सुधार आवश्यक है। अतः अपनी सुरक्षा की दृष्टि से कैथोलिक मतावलम्बियों ने भी सुधार आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसे प्रतिवादी या प्रतिवादात्मक धर्म सुधार आन्दोलन कहा गया है। इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य चर्च के संगठन एवं कार्य-विधि सम्बद्ध सिद्धान्तों में परिवर्तन लाना, धर्म सिद्धान्तों की व्याख्या और धर्म प्रचार का कार्य करना था। इसके लिए विविध उपाय काम में लाये गए-

(क) ट्रैन्ट कौन्सिल- इटली के ट्रैन्ट नामक स्थान पर 1545 में चर्च की एक परिषद् बुलायी गयी। इसकी बैठकें समय-समय पर अठारह वर्षों तक होती रहीं। परिषद् में अनेक कैथोलिक विद्वानों ने भाग लिया तथा चर्च में सुधार लाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये-

(i) भविष्य में चर्च का कोई पद किसी को नहीं बेचना।

(ii) सभी बिशपों को अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करना होगा।

(iii) पादरियों को प्रशिक्षित किया जायेगा।

(iv) जहाँ आवश्यक हो जन-भाषा में उपदेश देना।

(v) पादरियों को कठोर एवं सरल जीवन बिताने का निर्देश दिया गया।

सुधारों की घोषणा के साथ ही ट्रैन्ट की परिषद् ने कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों की पुष्टि व व्याख्या भी की। यह घोषित किया गया कि पोप कैथोलिक चर्च का प्रधान है तथा केवल चर्च को ही धर्म ग्रन्थों की व्याख्या का अधिकार है।

ट्रैन्ट कोन्सिल के कार्यो एवं निर्णयों से चर्च में आत्म-विश्वास जागा। जिन बुराइयों के कारण चर्च पर प्रहार हुआ था, उनके दूर करने की व्यवस्था होने से चर्च की पुरानी गति लौट आयी। यही कारण है कि ट्रैन्ट की परिषद् का कैथोलिक चर्च के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

(ख) जैसुइट संघ- कैथोलिक चर्च को नया जीवन प्रदान करने वालों में इग्नेशियस लायोला का स्थान महत्वपूर्ण है। स्पेन निवासी लोयोला एक बहादुर सैनिक था। युद्ध में आहत लोयोला ने अपना सारा जीवन चर्च को समर्पित कर दिया। लोयेाला ने 1534 ई.में जैसुइट संघ की स्थापना की। इस संस्था का पूरा संगठन सैनिक आधार पर था। इसके हर सदस्य को कठोर अनुशासन में रहना होता था तथा दीनता, पवित्रता, आज्ञापालन और पोप के प्रति समर्पण की शपथ लेनी पड़ती थी। यह संघ अपने अनुयायियों को केवल पवित्र जीवन के लिए ही नहीं, चर्च की रक्षा एवं प्रसार के लिए भी तैयार करता था।

जैसुइट लोगों का सबसे महत्वपूर्ण कार्य विदेशों में धर्म प्रचार करना था। इसके प्रचारकों ने यूरोप के बाहर चीन, भारत, जापान, अमेरिका आदि में कैथोलिक धर्म का प्रचार किया। इस संघ ने मुस्लिम देशों में भी प्रचार किया।

(ग) इन्क्वीजिशन- प्रोटेस्टेन्ट धर्म की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिए जो संस्था सबसे शक्तिशाली व प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई, वह थी-इन्क्वीजिशन। यह एक विशेष धार्मिक अदालत थी। सन् 1542 में पोप पाल तृतीय ने रोम में इस संस्था को पुनर्जीवित किया, जो सर्वोच्च अधिकारों से युक्त थी। नास्तिकों को पता लगाने, उनका कठोर दमन करने, कैथोलिक चर्च के आदेशों को बलपूर्वक लागू करने, धर्म विरोधियों व विद्रोहियों को कुचल देने, दूसरे देशों से भेजी हुई धर्म सम्बन्धी अपीलें सुनने इत्यादि उद्देश्यों से सर्वोच्च धार्मिक न्यायालय क स्थापना की गयी। प्रोटेस्टेन्टों के विरुद्ध इस न्यायालय ने कठोर कदम उठाये। इसका तात्कालिक प्रभाव कैथोलिक चर्च के प्रसार में अवश्य हुआ। किन्तु कालान्तर में इस न्यायालय ने चर्च को बदनाम किया।

उक्त सभी प्रयासों से लगभग सोलहवीं शताब्दी के मध्य से कैथोलिक चर्च का कायाकल्प आरम्भ हुआ और चर्च सुधारवादी दबाव से मुकाबला करने के लिये सन्नद्ध हो गया।

(2) ईसाई एकता का अंत- धर्म सुधार आंदोलन के फलस्वरूप कैथोलिक ईसाई जगत् में दरार पड़ गयी। सुधारवादियों ने कैथोलिक चर्च से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। किन्तु सुधारवादी भी लूथरवाद, काल्विनवाद, ऐंग्लिकनवाद आदि शाखाओं में बँट गये।

(3) असहिष्णुता का विकास- प्रोटेस्टेन्टवाद के उदय के साथ ही कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के बीच पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो गया। ये परस्पर एक दूसरे का मूलोच्छेदन करना चाहते थे। परिणामस्वरूप घृणा एवं शत्रुता की भावना बढ़ती गयी। धर्म को लेकर पहला युद्ध हालैण्ड में हुआ। 1560 से लेकर 1585 ई. की अवधि में आठ धार्मिक युद्धों ने फ्रांस को तहस-नहस कर डाला। 1560 से 1630 तक का काल डाकिनी-आखेट इतिहास का एक बुरा समय था। जादूगरनियों (डाकिनियों) को खोजकर जीवित जला देने की इस प्रथा ने पागलपन का रूप धारण कर लिया था। शत्रुतापूर्ण घृणा तीस वर्षीय युद्ध के काल (1618-1648 ई.) में चरम सीमा पर पहुँच गयी। धार्मिक असहिष्णुता ने एक लम्बे समय के लिए यूरोप की शान्ति को भंग रखा।

(4) व्यक्ति की महत्ता का विकास- धर्म सुधार आन्दोलन ने ईश्वर के साथ प्रत्येक व्यक्ति के सीधे सम्बन्ध को स्थापित कर व्यक्ति की स्वतन्त्र अस्मिता के विकास में योगदान दिया। प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल पढ़कर स्वयं उसकी व्याख्या करने पर बल दिया गया। व्यक्ति पर धर्म का प्रभाव कम होने से व्यक्ति को महत्व प्राप्त हुआ। अब उसके चिन्तन के आयाम चारों दिशाओं में अपने पैर पसार सकते थे। धर्म का बन्धन ढीला पड़ने से मानव का व्यक्तित्व निखरने लगा।

(5) शासकों की शक्ति का विकास- धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप शासकों की शक्ति बढ़ी। स्केन्डेनेविया, जर्मनी, इंग्लैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, हॉलैण्ड आदि राज्यों में शासकों ने धार्मिक मामलों में नियन्त्रण का अधिकर प्राप्त करके और उसी के साथ चर्च की जमीनों को अधिकृत करके अपनी शक्ति एवं सम्पत्ति दोनों में वृद्धि की। कैथोलिक देशों में भी राजाओं ने पोप की कठिनाइयों का लाभ उठाते हुए बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त कर लीं, जिसके फलस्वरूप चर्च के मामले में उन्हें पहले से अधिक शक्ति प्राप्त हो गयी।

(6) वाणिज्य-व्यापार को प्रोत्साहन- पुनर्जागरण युग से सामन्तवादी व्यवस्था की समाप्ति और व्यापार की प्रगति से एक समृद्ध मध्यम वर्ग का उदय हुआ, जसकी रूचि भौतिक रूप से ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने में थी, लेकिन परम्परागत ईसाई धर्म में धन संचय को हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा चर्च सूद और मुनाफे का विरोधी था। इसलिए धर्म सुधार आन्दोलन की प्रवृत्ति इस वर्ग के लिये रुचिकर थी। धर्म सुधाारकों द्वारा सूद एवं मुनाफे को उचित बताने से इस वर्ग को प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त कैथोलिक चर्च के कमजोर हो जाने से चर्च और मठों की भूमि एवं सम्पत्ति में मध्यम वर्ग को सबसे ज्यादा लाभ मिला। इस मध्यम वर्ग ने व्यापार एवं वाणिज्य को बढ़ावा दिया।

(7) राष्ट्रीय भाषा और साहित्य का प्रचार-प्रसार- धर्म सुधार आन्दोलन का एक परिणाम यह भी हुआ कि लोक भाषाओं एवं साहित्य का विकास हुआ। लूथर ने स्वयं ही बाइबिल का जर्मन में अनुवाद किया। धर्म-सम्बन्धी अनेक पर्चे तथा लेख, उसने अपनी मातृभाषा में लिखे एवं प्रकाशित कराये। अन्य देशों में भी जहाँ नये मत को प्रधानता मिली, वहाँ की लोकभाषा में धर्म-सम्बन्धी साहित्य अनूदित एवं प्रसारित हुआ। अब तक लैटिन को जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी वह अब लोकभाषाओं को भी मिलने लगी। नवीन धर्म प्रचारकों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षा का प्रसार कार्य किया जिसके परिणामस्वरूप लोगों में भी अपनी मातृभाषा के प्रति श्रृद्धा की भावना का विकास हुआ।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि धर्म सुधार आन्दोलन उस अभिव्यक्ति का एक परिणाम था, जो पन्द्रवीं शताब्दी के अन्त एवं सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में संघर्षों तथा उथल-पुथल के रूप में यूरोप में दिखाई दे रहा था। धर्म के क्षेत्र में संघर्ष होने का एक प्रमुख करण यह भी था कि धर्म की ही जकड़ सबसे अधिक व्यापक और जीवन्त थी। दीर्घकाल से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आक्रांत करने वाले चर्च का स्वरूप बदलने का समय आ गया था। धर्म सुधार आन्दोलन धर्म के मूल स्वरूप के लिए चुनौती नहीं था। विरोध केवल व्यवहार एवं कार्यान्वयन का था। सुधारवादी सम्प्रदाय केवल धार्मिक कारणों से ही अलग नहीं हुए अपितु आर्थिक ओर राजनीतिक कारणों ने भी बहुत बड़ी भूमिका अदा की। धर्म सुधार आन्दोलन ने उन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसका आधुनिक युग के संदर्भ में महत्व रहा। अब मनुष्य के सोचने पर कोई सीमा न रह गयी थी और वह जीवन के सभी पहलुओं में प्रयोग करने को स्वतन्त्र था।

अध्याय : 2 वाणिज्यवाद व पूंजीवाद का उदय एवं विकास

Mercantilism, Rise of Capitalism and its Growth

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोपवासी पूर्वी देशों के सम्पर्क में आए। भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप नये देशों की खोज हुई। अब व्यापार केवल नगरों के बीच तक ही सीमित नहीं रह गया था। पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैण्ड, फ्रांस के व्यापारियों ने अपने व्यापार को अन्य देशों तक बढ़ाया। भौगोलिक खोजों ने इस व्यापार को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीय राज्यों द्वारा उपनिवेशों की स्थापना ने व्यापार वर्ग के हितों को और अधिक मजबूत कर दिया। इसी समय यूरोप की जनसंख्या में भी आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई। इन देशों के शासक अपनी जनसंख्या को एशिया व अफ्रीका में बसाना चाहते थे। इसी समय यूरोप में एक नये महाजन वर्ग का उत्थान हुआ। आवश्यक धन की आपूर्ति तथा पूंजी निवेश के लिए बैंकों की स्थापना होने लगी। व्यापार में पूंजी निवेश होने लगा और भारी संयुक्त पूंजी कम्पनियाँ खुलने लगी। विभिन्न वस्तुएं एक देश से दूसरे देश ले जाई जाने लगी। इस प्रकार व्यापार में हुए परिवर्तन को वाणिज्यवाद का नाम दिया जाता है।

वाणिज्यवाद

वाणिज्यवाद शब्द का प्रयोग सबसे पहले ऐडम स्मिथ ने 1776ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' में किया था। इसके उपरान्त जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुस्ताव श्मॉलर ने 1883 ई. में प्रकाशित 'फ्रेडरिक महान् की आर्थिक नीतियों का अध्ययन' नामक अपनी पुस्तक में इस शब्द (वाणिज्यवाद) का विशेष रूप से प्रयोग किया। स्वीडन के आर्थिक इतिहासकार ऐलि हैकशर ने दो खण्डों में एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था '1931 में वाणिज्यवाद'। इन सभी लेखकों ने आर्थिक विषयों से सम्बन्धित सरकारी नीति के सन्दर्भ में कुछ खास तरह के विचारों को व्यक्त करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। इस सन्दर्भ में जब उन्होंने प्रणाली (System) शब्द को प्रयुक्त किया तो इससे उनका आशय यह था कि लगभग उस काल में अनेक देश इन विचारों को अमल में ला रहे थे। इन विचारों का प्रभाव यूरोप में लगभग 180 वर्षो (1600-1780) तक बना रहा। इतिहासकार जे.ई.स्वेन का भी यही मानना है कि उन्नीसवीं सदी से पूर्व आर्थिक सिद्धान्तों में 'वाणिज्यवाद' ही प्रमुख स्थान पाये हुए था।

जे.ई. स्वेन आगे लिखता है कि उस काल में वाणिज्यवाद राष्ट्रीय-राज्य से भी अधिक सम्बन्धित था क्योंकि उस अवधि में राज्य ही आर्थिक हितों की रक्षा करता था। राष्ट्रीय सम्राट ही राष्ट्र की सम्पदा का रक्षक होता था। शासक ही इस क्षेत्र नियम व कानून बनाता था। इसलिए स्वेन ने वाणिज्यवाद से अर्थ उन सरकारी नियमों से लिया है जो विभिन्न स्थानों में वहां की परिस्थितियों के अनुसार बनाये जाते थे। इसी कारण वाणिज्यवाद का नामकरण भी विभिन्न देशों में विभिन्न ही पड़ गया था। उदाहरणार्थ फ्रांस में यह 'कोलर्बटवाद' के नाम से विख्यात हुआ। जर्मन में 'कैमेंरलवाद' के नाम से विख्यात हुआ। परन्तु सिद्धान्त के रूप में इसके लक्षण समान ही थे। व्यापारवादी सामान्यतया यही मानते थे कि एक राष्ट्र की सम्पदा स्वर्ण व चांदी (धातु) में ही मापी जानी चाहिये। व्यापार उससे ही देशों के मध्य संतुलित रह सकता है। स्वेन ने इस वाद का प्रारंभ सत्रहवीं सदी ही माना है।

औद्योगिक क्रान्ति की भांति इस वाद का भी प्रारंभ काल तो आंका जा सकता है पर समाप्ति का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति का प्रारंभ तो अट्ठारहवीं सदी माना जाता है, परन्तु उसका अन्त आज

भी नहीं हुआ है। इसी प्रकार वाणिज्यवाद भी आज प्रचलित है जबकी कतिपय इतिहासकारों का कहना है कि वह उन्नीसवीं सदी के अन्त में शिथिल पड़ गया।

ऐडम स्मिथ ने वाणिज्यवाद का निरूपण उसकी समालोचना तथा निन्दा करने के लिए किया था और हैकशर ने अपनी रचना में इसका जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था उसका स्वर भी एक प्रकार आलोचनात्मक ही था। दूसरी ओर श्मॉलर ने इस वाद की प्रशंसा की थी। हैकशर की पुस्तक 1931 में वाणिज्यवाद' के प्रकाशित हो जाने के पांच वर्ष उपरान्त ब्रिटेन क अर्थशास्त्री जे.एम.कीन्ज ने भी इस सम्बन्ध में विचार प्रशंसात्मक ही प्रस्तुत किये पर साथ में अपने भिन्न दृष्टिकोण भी उसमें व्यक्त किये थे। इस प्रशंसा तथा आलोचना के मूल में वह वातावरण विद्यमान था जिसमें स्मिथ, श्मॉलर, हैकशर तथा कींज अपनी-अपनी कृतियों की रचना कर रहे थे। इन विचारों की ऐतिहासिकता में न जाकर हम यहां केवल इतना बताने का प्रयास करेंगें कि जब यह वाणिज्यवाद यूरोप के देशों में लोकप्रिय बन गया तो उससे यूरोप के विभिन्न देशों में क्या विशेषताएं देखी गई। यह हम इसके पूर्व ही बता चुके हैं कि इस वाद के प्रारंभिक चिन्तकों ने अपने को वाणिज्यवादी के रूप में व्यक्त नहीं किया था। यह शब्द तो इसके आलोचकों ने प्रयुक्त किया था और वह भी उस समय जबकि यह वाद महत्वहीन होने लगा था। वे स्वयं इस तथ्य से परिचित नहीं थे कि वे वाणिज्यवादी हो रहे हैं। वे तो केवल अपने-अपने देशों की आर्थिक अवस्था का विश्लेषण कर रहे थे। इसी कारण उनके विचारों में भिन्नता का समावेश हुआ। इन विभिन्नताओं के होते हुए भी उनके विचारों में कुछ सामान्य समानताएं भी थीं जिन्हें हम इस वाद के सिद्धान्त के रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त करते हैं।

वाणिज्यवाद के मूल सिद्धांत व उद्देश्य-

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कमोवेश निश्चित मात्रा होती है पर नीतियों का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिये कि एक देश को अधिकाधिक हिस्सा मिले।
2. इस प्रकार की नीतियों के परिणाम देश के व्यापार को संतुलित बनाये रखने में सहायक सिद्ध होने चाहिए।
3. सीमा शुल्क इस प्रकार से निर्धारित किया जाना चाहिए कि सस्ते कच्चे माल का देश में आयात अधिकाधिक हो और तैयार माल का आयात कम से कम हो।
4. देश के तैयार माल का निर्यात अधिकाधिक किया जाना चाहिए। इस निर्यात को बढ़ाने हेतु देश की सरकार को अपने वणिकों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न करनी चाहिए तथा सर्वाधिक निर्यातक को पुरस्कार भी देना चाहिये।
5. यदि इन उल्लेखित साधनों से देश का निर्यात न बढ़े तो बाजार निर्माण हेतु निर्बल देशों से युद्ध कर उन्हें अपने उपनिवेशों में परिणित करना चाहिये।
6. अपने उपनिवेशों में विजेता देशों को अपने व्यापारियों की कम्पनियों को वहां प्रमुखता देनी चाहिये।
7. वाणिज्यवादी मूल सिद्धांतों को समझने के लिये निरन्तरता एवं परिवर्तन के सिद्धान्तों को भी समझना होगा। निरन्तरता से यहां आशय उन सिद्धान्तों से है जो यूरोप में पन्द्रहवीं शती में क्रियाशील थे तथा अट्ठारहवीं सदी में भी प्रभाव में रहे। उदाहरणार्थ ये सिद्धान्त हम कृषि के क्षेत्र में देख सकते हैं। निरन्तरता के आर्थिक सिद्धान्त उस काल में आर्थिक व्यवस्था के आधार बने हुए थे तथा वे आज भी बने हुए है। फ्रान्स के प्रकृतिवादी क्विसने का मानना था कि प्रकृति को बिना नियन्त्रण के काम करने देना चाहिए। कृषि का उद्योग प्रकृति पर अवलंबित है और वह उत्पादक व्यवसाय है। कृषक-वर्ग सदैव उत्पादक वर्ग रहा हैं। पशु-पालन व लघु-उद्योग लगाना उसके सहायक व्यवसाय हैं। परन्तु वे भी उत्पादक ही है। वे किसी का विनाश नहीं करते। अतः इस प्रकार के आर्थिक क्षेत्रों में निरन्तरता का ध्यान रखना चाहिए। मशीनों से उत्पादित सामान व उनका व्यवसाय करने वाले उत्पादक नहीं होते। टारगोट ने तो स्पष्ट लिखा है कि उद्योगपति और व्यापारी उत्पादक नहीं होते। अतः इस क्षेत्र में सरकार अपने नियम व कानूनों में परिवर्तन करती है तो अहितकर सिद्ध नहीं होते।

इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये विभिन्न देशों के कुछ प्रसिद्ध अर्थ शास्त्रीयों के विचार जानना आवश्यक है। सर्वप्रथम हम इंग्लैण्ड को लेते है। टामसमुन का इस क्षेत्र में नाम उल्लेखनीय है। वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी का डाइरेक्टर था। उसने

प्रभावपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी- 'ए डिसकोर्स ऑन ट्रेड फ्रॉम इंग्लैण्ड अनटु द ईस्ट इंडीज, 1621 तथा 'इंग्लैण्ड्स ट्रेजर बाई द फॉरेन ट्रेड'। उसकी मृत्यु के उपरान्त यह दूसरी पुस्तक आन्दोलन-प्रेरक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई और परिणामतः 1665 ई. में द्वितीय ऐंग्लो-डच युद्ध हुआ। इंग्लैण्ड का ही दूसरा विचारक जोसिया चाइल्ड था। वह भी कुछ समय के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अध्यक्ष रह चुका था। उसने 'द न्यू डिसकोर्स ऑफ ट्रेड,1668' नाम की पुस्तक लिखी। वह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि उसका 25वां संस्करण शीघ्र ही पाठकों के मध्य आ गया। इन दोनों लेखकों एवं विचारकों को इस बात का व्यावहारिक ज्ञान था कि भारत के उद्योग-धन्धों को किस प्रकार नष्ट किया जा रहा है और इंग्लैण्ड का तैयार माल किस तरह भारत के बाजार में ठूंसा जा रहा है।

फ्रांस में वाणिज्यवाद के समर्थक राजकीय पदाधिकारी थे। कार्डिनल रिशल्यू की रचनाओं में इस वाद के संकेत मिलते हैं। फ्रांस का पक्का वाणिज्यवादी कोलबर्ट था। यह फ्रान्स के सम्राट लुई चौदहवें का प्रधानमंत्री था। रिशल्यू न तो कोई धर्माधिकारी ही था और न फ्रांस का सामन्त ही था। वह एक व्यापारी पुत्र था और बहुत ही चतुर था। उसका दरबार में 1669 ई. से 1683 ई. तक प्रभाव रहा। वह आर्थिक मामलों तथा वित्तीय नीति में सम्राट का प्रमुख सलाहकार था। उसका कहना था कि फ्रान्स को धनी देश बनने के लिए उसे खरीदने की बजाय देशों को अधिक माल बेचना चाहिए। नीदरलैण्ड में अनुकूल व्यापारिक संतुलन द्वारा सोना-चांदी एकत्रित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय नहीं थी, किन्तु वहां ऐसी नीतियां प्रचलित थीं जिनमें औपनिवेशिक जगत में राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के साथ-साथ व्यापारिक एकाधिकर को कायम रखते हुए सामुद्रिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया हो। इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति 'द इंटरेस्ट्स ऑफ हॉलैण्ड' नामक पुस्तक में की गई है। इस पुस्तक का प्रकाशन 1662 ई. में हुआ और रचना जान द विट तथा पीटर द ला कोर्ट दोनों के संयुक्त प्रयासों से हुई। प्रथम लेखक राजनेता था जबकि दूसरा एक विख्यात व्यापारी था। सत्रहवीं सदी में तो मध्य यूरोप के देशों में वाणिज्यवादी लेखक कम मिलते हैं परन्तु अट्ठारहवीं सदी में ये विचार अधिक विकसित होने लगे और प्रबुद्ध-शासकों ने भी इन विचारों में रुचि लेना प्रारंभ किया। परिणमतः इस वाद के लेखक भी बढ़ने लगे। इनमें आस्ट्रिया के जे.जे. बेकर ओर उनके दामाद पी.डब्लू. वॉन हारनेक के नाम उल्लेखनीय है। हारनेक ने 'आस्ट्रिया हर एक से ऊपर' नामक ग्रन्थ की रचना की। उनकी इस पुस्तक से ज्ञात होता है कि उन्हें देश-कल्याण की चिन्ता थी। देश की चिन्ता होना भी वाणिज्यवाद की एक विशेषता मानी गई है। सैक्सनी के जैकोब मर्परगर ने तो यहां तक लिखा है कि वाणिज्यवादियों को राजनीतिक अर्थशास्त्र की शिक्षा दी जानी चाहिए। अट्ठारहवीं सदी में जर्मनी तथा इटली के विश्वविद्यालयों में तो इस विषय पर अध्यापन भी आरंभ हो गया था। इस प्रकार इन दोनों देशों में वाणिज्यवाद प्रमुख रूप से प्रसारित किया गया।। मध्य यूरोप के देशों का वाणिज्यवाद ज्ञात करने हेतु हमें प्रशा के फ्रेडरिक महान् के विचार जानना परम-आवश्यक है। उसकी रचनाएं वाणिज्यवादी विचारों से अति प्रभावित थी।

उत्तरी यूरोप के देशों के व्यापारी एशिया के साथ व्यापार करते समय सोना-चांदी की मांग नहीं करते थे। इसके विपरीत वे एशिया देशों से सूती-वस्त्र लेते तथा अन्य सामान निर्यातक देशों को सोना-चांदी देते थे क्योकि एशिया में माल भेजने वाले देश अपने माल के बदले सोना-चांदी ही चाहते थे। हालैण्ड तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत से सामान के बदले सामान देने वाली व्यवस्था करली थी। सामान की अदला-बदली से यदि खरीदी वस्तुओं की रकम देनी पड़ती तो ठोस धातु (सोना-चांदी) देना पड़ता था। इंग्लैण्ड को बाल्टिक सागर के देशों के साथ भी व्यापार करने में सोना-चांदी ही देना पड़ता था। तीस वर्षीय युद्ध के उपरान्त वाणिज्यिक गति-विधि में अनिश्चितता का तत्व बढ़ा और इस धारणा को बल मिला कि बुलियन का अनुकूल संतुलन आवश्यक है। अतः क्षेत्रीय व्यापारिक हिसाब-किताब को निबटाने के लिए विनिमय-पत्रों (Bill of Exchange) का प्रयोग व्यापक रूप से होने लग गया था। परन्तु वाणिज्यवाद का बहुपक्षीय रूप जितना सत्रहवीं सदी के अन्त में दिखाई दिया- वह इससे पूर्व नहीं था।

अब तक के विवरण से स्पष्ट है कि वाणिज्यवादी विचारों के उपयोग व उनके स्वीकार करने में विविधता थी। इन विविधताओं का कारण उन देशों की राजनीति तथा वहां के व्यापारी व पूंजीपति वर्ग की सापेक्षित शक्तियों का नाजुक संतुलन था (जिन देशों का व्यापारी वर्ग सम्पन्न था उस देश का राजा व्यापारियों के हितो की सदैव चिन्ता करते थे इसी प्रकार व्यापारी वर्ग भी देश व शासक के हितों की चिन्ता करते थे क्योकी उनका शासक ही उनकी सम्पत्ति का एकमात्र रक्षक होता था। इस प्रकार के राज्य राष्ट्र-राज्य कहलाये। इसके विपरीत स्पेन के शासक

वाणिज्यवाद के सम्बन्ध में कोई भी नीति अपनाने से सर्वप्रथत यह देखते थे कि इससे यूरोपीय देशों में स्थित उनके वंशीय लोगों को कुछ नुकसान तो नहीं होगा। अतः स्पेन जैसे देशों को वाणिज्यवाद से प्रभावित नहीं माना जा सकता। चार्ल्स पंचम के स्पेन की गद्दी पर बैठने से पूर्व ही स्पेन कच्चे माल का निर्यातक बन चुका था। वह अपनी आवश्यकता की तैयार की हुई वस्तुएं इटली तथा फ्रांस देशों से मंगाता था। परिणामतः विदेशी वित्तदाताओं तथा विदेशी व्यापारियों का सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक स्पेन पर प्रभाव स्थापित हो चुका था। इसीलिए जब अमेरिका स्थित स्पेन उपनिवेशों से अतुल धन स्पेन आने लगा तो उन विदेशी व्यापारियों ने उनके मार्ग में अनेक बाधाएं ही प्रस्तुत की क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि स्पेन के पास व्यापार-संतुलन के लिए सोना-चांदी हो। स्पेन की इस प्रकार की परिस्थिति देखकर (हेनरी कामेंन) ने कहा थाः "जहां खोज से अमेरिका को स्पेन के आश्रित बनना चाहिए था वहां इसने स्पेन को उन अन्य देशों का आश्रित बना दिया जिनका व्यापारिक हित अमेरिका में था। यह प्रायद्वीप (स्पेन) अपने इण्डीज क्षेत्र के द्वारा उपनिवेश बना दिया गया।" स्पेन की इस दयनीय आर्थिक अवस्था का विश्लेषण अर्बिंत्रिस्ताज नामक लेखकों ने अवश्य किया, पर हम उन विश्लेषकों को वाणिज्यवादी नहीं कह सकते क्योंकि उन्होंने वह विश्लेषण वाणिज्यवाद के निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर नहीं किया।

स्पेन की भांति नीदरलैण्ड का वाणिज्यवाद भी अलग किस्म का ही था। 1581 ई. में चार प्रोटैस्टेन्ट नरेशों ने अपने सद्प्रयासों द्वारा अपने को स्पेन के प्रभुत्व से मुक्त किया और उनका राज्य संयुक्त राज्य नीदरलैण्ड के नाम से यूरोप के मानचित्र में उभरा। उन्होंने प्रजातंत्रीय व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। आस्तित्व में आने से 50 वर्षों तक उन्होंने ऑरेंज राजवंश के प्रधान को ही अपना कार्यकारी अधिकारी नियुक्त किया। इसका कारण यह था कि स्पेन से मुक्ति दिलाने में इस राजवंश ने ही प्रमुख भूमिका निभाई थी। प्रजातन्त्रात्मक सरकार न होते हुए भी राज्य में पूंजीपति वाणिज्यवादियों की राज्य में प्रधानता उसी प्रकार स्थापित हो गई जिस प्रकार प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में होती है। परिणामतः नीदरलैण्ड में एक नवीन शेयर बाजार का सृजन हो गया। बैंक आफ एम्सटरडम ने अपनी ऋण सम्बन्धी गतिविधियां तेज कर दीं। नीदरलैण्ड के स्पेनिश भाग में शीघ्र ही एम्सटरडम के स्थान पर एन्टवर्प अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र बन गया। आयात-निर्यात तथा पुनर्निर्यात का सफलता से व्यापार विकसित हो गया। बाल्टिक क्षेत्र से वे अनाज, इमारती लकड़ी तथा जहाज निर्माण का सामान मंगाते थे। इस आयातीत सामान का ही वे अन्य देशों को निर्यात करते थे। आयात किये सामान के बदले वे या तो यूरोप को समुद्रपार देशों से खरीदी वस्तुएं देते थे या फिर स्पेनिश अमेरिका के उपनिवेशों से व्यापार में प्राप्त चांदी देते थे। इंग्लैण्ड से आयातीत ऊनी वस्त्रों को रंग कर और उन्हें अलंकृत कर ऊंची कीमतों पर निर्यात कर देते थे। यहां कहने का तात्पर्य यह है कि नीदरलैण्ड आयातीत सामान में ही कुछ सुधार कर ऊंचे दामों पर निर्यात कर दिया करता था। 1707 ई. तक एम्सटरडम यूरोप के सभी व्यापारिक नगरों में काटी गई हुण्डियों के मान्य शोधन-गृहों का केन्द्र बन गया।

नीदरलैण्ड की इस व्यापारिक विभिन्नता का आशय यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि वहां वाणिज्यवाद था ही नहीं। वहां की आर्थिक परिस्थितियां तथा नीतियां भी वाणिज्यवाद से प्रभावित थीं। यह सत्य है कि अन्य देशों की भांति यहां विनियम के नियम प्रचलित नहीं थे परन्तु यह भिन्नता यहां की स्थानीय परिस्थियों के कारण ही थी। यहां के निवासियों ने अपने उपनिवेशों में शक्ति का प्रयोग किया तथा अन्य वाणिज्यवादी शक्तियों की भांति अपने उपनिवेशों में बाहरी हस्तक्षेप रोका भी। उन्होंने अपने देश की भौगोलिक स्थिति के कारण इंग्लैण्ड को अपने सामुद्रिक मार्गों की स्वतन्त्रता प्रदान करने पर जोर अवश्य दिया। नीदरलैण्डवासी अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता पर जितना बल देते उतना सोना-चांदी तथा करारोपण की केन्द्रित य प्रणाली पर नहीं देते थे। एक वित्तीय तथा प्रमुख माल-गोदाम के रूप में नीदरलैण्ड की रुचि अधिकाधिक बिक्री में थी, व्यापार के संतुलन में नहीं। अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विकसित बनाये रखने हेतु वह इंग्लैण्ड, फ्रांस व जर्मनी की भांति युद्ध-नीति का समर्थक नहीं था। उसका सदा यही प्रयास रहा कि युद्ध से यथासंभव बचा जाये।

इंग्लैण्ड- इंग्लैण्ड की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी कि समुद्र पर उसका प्रभुत्व था। सामुद्रिक मार्ग उसके व्यापार के लिये स्वतन्त्र तथा सदा खुले रहते थे। उसका व्यापार मूलतः सामुद्रिक मार्गो पर आश्रित था। इसलिए यहां के शासक व सरकार ने सदा यही प्रयास किया कि कोई भी शक्ति सामुद्रिक शक्ति में उसकी समानता न कर बैठे। इसी कारण ट्यूडरवंशीय शासकों ने नौपरिवहन अधिनियम बनाये। इनके पीछे उनका उद्देश्य अधिकाधिक तैयार माल का निर्यात तथा कच्चे माल का आयात करना था। स्पष्ट है कि उन नौपरिवहन अधिनियमों के अन्तर्गत इंग्लैण्ड पर वाणिज्यवाद की छाया थी। उसकी इस वाणिज्यवाद की नीति के परिणामस्वरूप ही वह विश्व का महान् पूंजीवादी देश बन गया था। सत्रहवीं सदी के प्रारंभिक 25 वर्षों तक इंग्लैण्ड ऊनी वस्त्रों के निर्यात में यूरोपीय देशों में सबसे आगे रहा। परन्तु इसके उपरान्त उसका निर्यात घटने लगा। इसका प्रमुख कारण ऐल्डर यूरोपीय देशों में मेंन कॉकेन

का ऊनी वस्त्रों के निर्यात में नीदरलैण्ड से पिछड़ना था। उसने स्टुअर्ट शासक जेम्स प्रथम के साथ जो समझौता किया था उसके विपरीत आचरण करके उसने इंग्लैण्ड के निर्यात को आघात पहुंचाया। (मरचेंट एडवेंचरस कम्पनी) के एकाधिकार को समाप्त कर उसने अपनी काकेन कम्पनी का एकाधिपत्य स्थापित किया। परिणामतः इंग्लैण्ड की संसद ने जेम्स प्रथम को उसके विरुद्ध आयोग बिठाने को बाध्य किया। इस आयोग का एक सदस्य टॉमस इन भी था। आयोग गठन का अर्थ ही सरकार का व्यापार में हस्तक्षेप करना था। आयोग की सिफारिश पर 1650ई. में एक राजकीय विभाग के रूप में व्यापारिक बोर्ड की स्थापना की गई। आंग्ल गणराज्य की अवधि (1649-1658) में व्यापारियों को पहली बार विभिन्न व्यापारिक समितियों के पूर्ण सदस्यों का दरजा दिया गया। 1655ई. में गठित व्यापार समिति में 70 सदस्य थे और इसमें वाणिज्यिक हितों के व्यापक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व था।

इस प्रकार इन समितियों तथा आयोगों द्वारा जो विनियम बनायें, उन्होंने इंग्लैण्ड की नवीन आर्थिक नीति को जन्म दिया। इन विनियमों के पीछे यही उद्देश्य था कि इंग्लैण्ड के हित के लिए व्यापार की मात्रा अधिकाधिक बढ़ाई जाये। इसमें भी देश में निर्मित सामान का अधिक से अधिक मात्रा में निर्यात करने पर जोर दिया गया। अपने तैयार माल को विदेशी बाजारों में अधिकाधिक खपाने हेतु उसमें विविधता लाने तथा उसमें गुणात्मक सुधार करने पर ध्यान दिया गया। इस प्रकार के सुधार करने के उपरान्त भी नीदरलैण्ड उसका महान प्रतिद्वन्दी बना रहा। अतः 1661ई. में इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा नौपरिवहन अधिनियम पुनः पारित किया गया। इस अधिनियम के पारित करने का एक कारण यह भी था कि 1649 ई. में इंग्लैण्ड के व्यापार में शिथिलता आ गई थी और नीदरलैण्ड बाजी मार रहा था। प्रथम तो इंग्लैण्ड की गणतन्त्रीय सरकार (क्रॉमवेल के नेतृत्व में) ने नीदरलैण्ड की सरकार से मित्रता करनी चाही। धर्म की दृष्टि से दोनों देश इस समय एक दूसरे के समीप थे। परन्तु आर्थिक हितों ने दोनों देशों में सन्धि नहीं होने दी। इंग्लैण्ड की सरकार ने महसूस किया कि नीदरलैण्ड की सरकार चाहती है कि ऐंग्लो-डच व्यापार ा बढ़ाते हुए सौंहार्दपूर्ण वातावरण में व्यापार करते रहें। जबकि इंग्लैण्ड व्यापार में डच का हिस्सा घटा कर अपना हिस्सा बढ़ाना चाहता था। इसके अलावा इंग्लैण्ड स्पेन के विरुद्ध डच लोगों का कूटनीतिक समर्थन भी चाहता था। नीदरलैण्ड ऐसा करने को उद्यत नहीं था। परिणामतः दोनों देशों में व्यापारिक संधि नहीं हो सकी और नीदरलैण्ड व्यापार के क्षेत्र में इंग्लैण्ड का प्रबल प्रतिद्वन्दी बना रहा।

नौपरिवहन अधिनियम और इंग्लैण्ड का वाणिज्यवाद- इंग्लैण्ड ने इस प्रकार के अधिनियम एक बार ही पारित नहीं किये अपितु समय-समय पर कई बार पारित किये। इनके पीछे उसका एक मात्र यही उद्देश्य था कि समुद्रपार के देशों व उसके उपनिवेशों के साथ उसका व्यापार निरंतर बढ़ता रहे। उसके तैयार माल का निर्यात दिनोंदिन बढ़े ओर उसके निर्माण हेतु कच्चा माल भी उसको पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता रहे। अतः जब कभी भी उसे अपने पड़ौसी देश से अपने व्यापार पर विघ्न उत्पन्न होने की आशंका होती, वह तत्काल नौपरिवहन अधिनियम पारित कर दिया करता था। उसके वाणिज्यवाद में यह अधिनियम कितना सहायक होता था, यह 1661 के नौपरिवहन अधिनियम से स्पष्ट होता है।

1661 का नौपरिवहन अधिनियम

1. इंग्लैण्ड कच्चा माल उन देशों से आयात करना चाहता था जो देश उस माल के या तो उत्पादक होते थे या वे उस माल का पहले से ही निर्यात करते आ रहे हों।
2. इंग्लैण्ड आने वाला सामान या तो इंग्लैण्ड के जहाजों से ही आना था या उस माल के निर्यातक देशों के जहाजों में आना था।
3. नौपरिवहन अधिनियम से यह भी निश्चित कर दिया गया कि अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया अपना माल इंग्लैण्ड के जहाजों से ही भेजेगें तथा उनसे ही आयात करेंगें।
4. मछलियों का आयात इंग्लैण्ड के जहाजों से ही किया जावेगा।

उपयफ्रक्त चारों धाराएं प्रधानतः हालैण्ड के व्यापार को घटाने के लिए बनाई गई थीं। उस समय समुद्री व्यापार में हालैण्ड इंग्लैण्ड से बाजी मार रहा था। इस नौपरिवहन अधिनियम की मंशा डच पुनर्निर्यात व्यापार को आघात पहुंचाना था। इसके अलावा इंग्लैण्ड नीदरलैण्ड को समुद्री व्यापार में भी नुकसान पहुंचाना चाहता था। हालांकि एलीजबेथ प्रथम के शासनकाल (16वीं सदी) में विश्व की प्रथम सामुद्रिक शक्ति इंग्लैण्ड बन गया था तथापि डच सरकार ने भी विशाल

जहाजों का निर्माण करा लिया था और सुदूर देशों को उसके जहाज माल ले जाते व लाते थे। मछली पकड़ने हेतु भी उसने विशाल जहाजों का निर्माण किया था। अतः इस अधिनियम से इंग्लैण्ड डच के जहाजों द्वारा मछलियों का तथा अन्य सामानों का निर्यात बन्द करना चाहता था। इंग्लैण्ड अपने उद्देश्य में सफल भी रहा। 1696-1775 के अन्तराल में ही ब्रिटेन का निर्यात 35 लाख पौण्ड से बढ़कर 1 करोड़ 14 लाख पौण्ड हो गया। उधर नीदरलैण्ड के निर्यात व समुद्री व्यापार में कमी आ गई।

फ्रान्स- वाणिज्यवाद के क्षेत्र में यूरोप का दूसरा देश फ्रांस बढ़ा हुआ था। परन्तु फ्रान्स के वाणिज्यवाद को उग्र बनाने में उसके राजकीय अधिकारियों का विशेष हाथ रहा। लुई चौदहवें का प्रधानमंत्री कालबर्ट था। वह अपने समय का एक सुविख्यात अर्थशास्त्री था। उसने वाणिज्यवाद के सन्दर्भ में जो नीति अपनाई थी, उसके पीछे उसके दो उद्देश्य प्रमुख थे-

1. इंग्लैण्ड की भांति वह भी अपने देश के व्यापार को संतुलित रखना चाहता था। इसके लिए वह चाहता था कि उसका देश वस्तुओं को खरीदने से अधिक विदेशों को बेचे। इससे ही देश की सम्पन्नता बढ़ सकती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भी सोना-चांदी का संग्रह करना चाहता था तथा अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्दियों के विरुद्ध शक्ति प्रयोग का समर्थन भी करता था।

2. सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में उसने भी डच को अपनी प्रतिद्वन्दिता से हटाने का प्रयास किया। इंग्लैण्ड की भांति फ्रांन्स भी नीदरलैण्ड को सामुद्रिक व्यापार में अपना प्रतिस्पर्धी मानता था। एक छोटा देश होते हुए भी नीदरलैण्ड ने बाल्टिक, अटलांटिक तथा एशियाई व्यापार में अपना प्रभुत्व जमा रखा था। अतः शक्ति प्रयोग का समर्थक होने के कारण उसने अपने स्वामी को 1672 ई. में नीदरलैण्ड के विरुद्ध युद्ध छेड़ने को बाध्य किया।

कालबर्ट की आर्थिक नीति की तीसरी विशेषता यह थी कि उसने भी इंग्लैण्ड की भांति औद्योगिक उत्पादन को नियमन किया। वह कृषि का भी विकास चाहता था। इसीलिए उसने नहरो का निर्माण कराया। वह अन्तराष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने के साथ-साथ देश के भीतर भी व्यापार विकसित करना चाहता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने हेतु उसने अपने वाणिज्यिकों को विदेशों में कम्पनीयां स्थापित करने को प्रोत्साहित किया। इसके लिए उसने उन्हें आर्थिक सहायता भी दी। निर्यात बढ़ाने हेतु अपने सामान को गुणात्मक ढंग से विकसित करने पर बल दिया। अंतर्देशीय व्यापार बढ़ाने हेतु उसने सड़कों व पुलों का निर्माण करवाया। चुंगी करों में कटौती करदी। विदेशों से व्यापार बढ़ाने हेतु उसने विशाल जलपोतों का निर्माण करवाया।

इंग्लैण्ड व फ्रान्स के वाणिज्यवाद में अन्तर- इंग्लैण्ड में वाणिज्यवाद के क्षेत्र में राजकीय अधिकारियों की अपेक्षा व्यापारी वर्ग अधिक सम्बन्धित तथा सतर्क रहता था। इस सन्दर्भ में वे या तो स्वयं नियम बनाते थे या सरकार से उस सन्दर्भ में अधिनियम पारित कराने हेतु जन-मत तैयार करते थे। इसका परिणाम यह होता था कि इंग्लैण्ड में व्यापारी वर्ग की संख्या अधिक होती थी। वाणिज्यवाद का क्षेत्र विस्तृत होता था और उसमें काफी संख्या में इंग्लैण्डवासियों को रोजगार मिलता था।

फ्रान्स की परिस्थितियां इसके विपरीत थीं। वहां का सम्राट तथा उसके उच्चाधिकारी वाणिज्यवाद से सम्बन्धित कानून बनाते या नीति निर्धारित करते थे। विदेशों में कम्पनियां भी सरकार द्वारा ही स्थापित की जाती थीं। परिणामतः फ्रान्स का व्यापारी वर्ग छोटा होता था। उन्हें वाणिज्यवाद के सन्दर्भ अधिकार भी सीमित प्राप्त होते थे। जीविका-उपार्जन के साधन भी कम लोगों को ही मिलते थे। इसका और भी विशद स्पष्टीकरण भारत में स्थापित इंग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा फ्रांस की कम्पनियों से प्राप्त किया जा सकता है। भारत की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में ब्रिटिश वाणिज्यवाद का प्रभाव कितना व्यापक बनाया और 100 वर्षो तक अपना स्थायित्व बनाये रही जबकि फ्रान्स की राजकीय कम्पनी भारत में अपने व्यापार का क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं कर सकी और 1763 ई. में ही अपना आस्तित्व खो बैठी। स्पष्ट है कि राजकीय अधिकारी केवल राजकीय कोष व स्वयं का ध्यान रखते थे व्यापारी वर्ग का नहीं। अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये तोड़-फोड़ की नीति अपनाने से भी वे नहीं हिचकते थे। ऐसे कार्यों में उनकी रुचि अधिक तथा उत्पादक उद्यम को बढ़ावा देने में कम। यही कारण था कि फ्रान्स के आविष्कारक अपने देश का हित नहीं कर सके। उन्होंने अपने प्रतिभा का विकास इंग्लैण्ड व स्काटलैण्ड जाकर किया। फ्रान्स की सरकारी नीति के कारण वे अपने देश में सृजनात्मक कार्य नहीं कर सके। इस कारण वे अपने देश के वाणिज्यवाद को विकसित करने में सहयोगी नहीं बन सके।

जर्मनी- जिस प्रकार फ्रान्स में लुई चौदहवें का एकछत्र निरकुंश शासन था, उसी प्रकार जर्मनी में फ्रेडरिक महान का था। प्रशा (जर्मनी)में भी फ्रान्स की भांति सामन्तवाद प्रबल था। जर्मनी में भी फ्रान्स की भांति वाणिज्यवाद सरकार के प्रयासों से ही विकसित हुआ। परन्तु फ्रेडरिक ने अपने देश का औद्योगिक विकास लुई चौदहवें की अपेक्षा अधिक निष्ठा से किया। राष्ट्र की शक्ति व सम्पदा बढ़ाने हेतु वहां का वाणिज्यवाद राष्ट्रवाद से अधिक सम्बन्धित रहा। इस कारण जर्मनी में वाणिज्यवाद फ्रान्स की क्रान्ति के उपरान्त अट्ठारहवीं सदी में विकसित हुआ क्योंकी फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप जर्मनी का सामन्तवाद भी शिथिल पड़ गया था। फिर भी व्यापार व्यापारी-वर्ग के हाथों में न होकर सरकारी नियन्त्रण में ही रहा। जर्मनी का कई राज्यों में विभक्त होना भी उसके वाणिज्यवाद के विकास में बाधक ही बना हुआ था क्योंकी प्रत्येक राज्य अपने आर्थिक हितो की चिन्ता प्रथम करता था। अतः व्यापारी-वर्ग व्यापार को विकसित करने या व्यापार के मार्ग में प्रस्तुत कठिनाइयों के निवारण का प्रयास सामूहिक रूप से न करके व्यक्तिगत रूप से ही करता था। उस समय जर्मनी में तो यही माहौल बना हुआ था कि व्यक्तिगत पूंजी एवं उद्यम के दोषों को राजकीय सहायता से ही दूर किया जाये। राजकीय अधिकारी, जो प्रायः सामन्त परिवार के ही होते थे, जर्मन वाणिज्यवादियों से प्रभावित थे और इस प्रकार कुलीन वर्ग (सामन्त वर्ग) राज्य तथा मध्यवर्ग के मध्य सहयोग का आधार सिद्ध हुआ। उन्नीसवीं सदी में जर्मन पूंजीवाद के विकास का यह एक खास लक्षण था। इसीलिए जर्मन आर्थिक इतिहासकार गुस्ताव श्मालॅर बिस्मार्क युग में लिखते समय वाणिज्यवादी नीतियों के महान् गुणों को सहज देखते सके। वे प्रशा के अन्तर्गत जर्मनी के एकीकरण की पृष्ठभूमि में लिख रहे थे। उन्हें ऐसा भास हुआ कि ये नीतियां जर्मनी के सन्दर्भ में एक ऐसा तत्व प्रदान करती हैं जिनके माध्यम से पूंजीवाद के विकास तथा राष्ट्र-राज्य के उदय का सफल सामंजस्य संभव है।

वाणिज्यवाद के उत्थान के कारण

वाणिज्यवाद के उत्थान के निम्नलिखित कारण थे।

1. बौद्धिक विकास- यूरोप अपने दीर्घकालीन मध्य-युग के पूर्वी भाग अन्धकार युग से प्रकाश-युग में पर्दापण ही अपने बौद्धिक विकास के कारण कर सका। उसके बौद्धिक विकास में विकसित शिक्षा ने महान् सहयोग दिया था। मध्य-युग के उत्तरार्द्ध में कई शिक्षण संस्थाएं स्थापित हो गयी थीं। शिक्षा का क्षेत्र धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहा था। विज्ञान की किरणें भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रस्फुटित होने लगीं थीं। परिणामतः अन्धकार युग के मानव की भांति अब मानव अन्धविश्वासी नहीं रहा था। वैज्ञानिक दृष्टिकोण हो जाने के कारण वह अब प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कस कर ग्रहण करने लगा था। कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने के कारण यूनानी विद्वान अपनी पाठ्य सामग्री के साथ रोम में आ बसे थे। यूनानी विद्वानों के सम्पर्क में आ जाने से इटली निवासी मानववादी बने। परिणामतः यूरोपवासियों का चिन्तन-क्षेत्र केवल धर्म न रहकर मानव समाज बन गया। वह अब मानव समाज के क्रियाकलापों पर भी चिन्तन करने लगा। इस क्षेत्र में दांते की कृति 'डिवाइन कॉमेंडी' ने पथ प्रदर्शक का कार्य किया। मानववाद के क्षेत्र में पैट्राक ने अपनी महान् भूमिका निभाई। यह मध्य-युग का प्रथम विद्वान था जिसने प्राचीन साहित्य की पूर्णता तथा उसके सौन्दर्य को समझा और उसे संस्कृति के प्रसार का एक सफल माध्यम स्वीकार किया।

ज्ञान की प्राप्ति हम दो प्रकार से कर सकते हैं: 1- वाद-विवाद द्वारा 2- प्रयोगों द्वारा। वाद -विवाद धारा का प्रादुर्भाव स्कोलैस्टिसिज्म से हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत विद्वान धर्म, विज्ञान एवं दर्शन के विषयों पर तर्क-वितर्क करने लगे। वाद-विवाद करते समय प्राध्यापक व विद्वान अरस्तु के तर्कशास्त्र का सहारा लेते थे इस धारा के अनुयायी 'स्कूलमेंन' कहलाये। इनमें सर्वविख्यात मैंधावी आवेलार था। सुकरात की शैली पर वह भी नवयुवकों से प्रश्न पूछकर उन्हें विचारशील बनाता था। प्रयोगात्मक खोज प्रणाली के अग्रदूत के रूप में रोजर बेकन ने भूमिका निभाई।

स्कोलैस्टिसिज्म धारा के सूत्रपात का श्रेय हम शिक्षा को ही दे सकते हैं। जब इटली के सालेर्नो में विश्वविद्यालय की स्थापना हो गयी तो वहां चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी। इसी प्रकार का विश्वविद्यालय माण्ट पिलियर में स्थापित हुआ। बालोगना के विश्वविद्यालय में धार्मिक कानून व सिविल कानून की शिक्षा की व्यवस्था की गई। इंग्लैण्ड में आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी। पेरिस में 1200 ई. में ही विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका था। 1453 ई. में गुटनबर्ग के सद्प्रयासों से छापेखाने का आविष्कार हो गया था। इन

सबका परिणाम यह हुआ कि मानव अब कूप मण्डूक नहीं रहा। उसके ज्ञान-विस्तार से वह केवल घर की चिन्ता न कर अपने नगर व देश की भी चिन्ता करने लगा। अपने जीवन को सर्वांगीण बनाने हेतु वह आर्थिक समस्याओं पर कई दृष्टिकोणों से विचार करने लगा।

2. राष्ट्रीय राज्यों का विकास- साम्राज्यवाद का बीजारोपण तो राजतन्त्र ही हो गया था और साम्राज्यवाद की भूख ऐसी भूख है जिसकी तृप्ति कभी नहीं होती। शार्लमेंन (चार्ल्स महान् 1768-1814) इस क्षुधा से अधिक पीड़ित था। वह अपने पिता पेपिन की भांति एक महान योद्धा था। उसकी जीवनी लेखक इनहार्ड ने उसके व्यक्तित्व का वर्णन किया है। उसने पड़ौसी देशों को विजित कर एक महान् साम्राज्य स्थापित कर लिया था। परन्तु उस समय यातायात के साधन विकसित न होने के कारण साम्राज्य के प्रशासन को सुगमता से चलाने व दूरस्थ स्थानों में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने हेतु उसने अपने साम्राज्य को जागीरों में विभक्त कर अपने सम्बन्धियों को वहां सामान्तों के रूप में नियुक्त किया। अतः सामन्त प्रथा का जन्मदाता भी यही माना जाता है। धीरे-धीरे समय के व्यतीत होते हुये ये सामन्त शक्तिशाली हो गये। यातायात के साधनों के अभाव में सामन्त केन्द्रीय शक्ति से मुक्त रहने लगे। सुरक्षा का दायित्व उन्हीं पर होने के कारण उन्होंने अपनी जागीर के नगरों की सुरक्षा के लिए परकोटे व दुर्ग बनाये। नगरों के सुरक्षित हो जाने के पर व्यापारी वहां जाकर बसने लगे और दुकानदारी अस्थायी मेलों में न होकर स्थायी रूप से नगरों में होने लगी। व्यापार सुरक्षित हो जाने के कारण वणिकों तथा आम लोगों की संख्या में वहां दिनोदिन वृद्धि होने लगी। सामन्त ही उनके जीवन व व्यापार के संरक्षक थे। अतः प्रत्यक्ष रूप से वे सामन्तों के ही स्वामी-भक्त हो गये। सम्राट से उनका सीधा सम्पर्क टूट गया। शासक के शक्तिहीन होने पर सामन्त और भी प्रबल हो गये। उन्होंने अपने छोटी जागीरों को विशाल रूप दिया। परन्तु उनकी जागीरों का अस्तित्व व्यापारी वर्ग से प्राप्त धन पर ही था। अतः सामन्त अपने व्यापारियों के व्यापार को विकसित रूप में देखने के इच्छुक हो गये। उन्होंने अपने नगरों में तो उन्हें व्यापारिक सुविधाएं प्रदान की ही पर साथ में उन्हें बाहर भी व्यापार की मण्डियाँ स्थापित करने के लिये भेजने की व्यवस्था करने लगे। अतः स्पष्ट है कि राष्ट्रीय राज्यों के विकास के साथ-साथ यूरोप का व्यापार भी विकसित हुआ।

3. व्यापारिक क्षेत्रों का विकसित होना- राष्ट्रीय राज्यों में व्यापार के सुरक्षित हो जाने से व्यापार का क्षेत्र दिनोंदिन बढ़ने लगा। राष्ट्रीय राज्यों का विकास अधिक प्रारंभ में इंग्लैण्ड, फ्रान्स तथा स्पेन में हुआ। जब इन राज्यों का विकास इटली में हुआ तो वेनिस तथा ट्रिस्टे व्यापार का केन्द्र बन गये और तुर्की मार्ग से भारत व चीन से व्यापार करने लगे। यहां के व्यापारियों ने यूरोप में तो अपनी व्यापारिक मंण्डियां स्थापित की ही पर साथ में एशियाई देशों में भी व्यापार विकसित करना आरंभ कर दिया। बढ़ती हुई जनसंख्या व बढ़ते हुए व्यापार के कारण दैनिक वस्तुओं की आवश्यकता बढ़ने लगी।

4. टर्की पर तुर्कों का प्रभुत्व स्थापित होना- 1453ई. में तुर्कों द्वारा टर्की पर अधिकर कर लेना विश्व की एक महान घटना मानी जाती है। उस समय बाईजाईन्टाइन टर्की पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी तथा यूनानी विद्वानों का केन्द्र था। अतः टर्की पर उसमानी तुर्की का अधिकार हो जाने से यूरोप के ईसाई नाराज हो गये। तुर्कों में इस्लाम फैलाने का अधिक उत्साह था। अतः जब उन्होंने अपनी धार्मिक कट्टरता के कारण पूर्वी यूरोप में इस्लाम का प्रचार करना आरंभ किया तो पोप तथा समस्त ईसाई जगत् विक्षुब्ध हो उठा। उनकी इस विक्षुब्धता के कारण ही यूरोप धर्म-युद्ध छिडे। ईसाई जगत् के अलावा इससे व्यापारी वर्ग भी खिन्न हो गया क्योंकि उनका ऐशियाई देशों से व्यापार होना बन्द हो गया। सिल्क मार्ग तो चीन के मिंग राजवंश ने बन्द कर दिया था। इसके उपरान्त यूरोप के व्यापारी चीन, भारत तथा दक्षिणीपूर्वी द्वीपों से व्यापार केवल जलमार्ग से ही करते थे। यह जल मार्ग मिश्र होता हुआ लाल सागर जाता था। दूसरा मार्ग एशिया माइनर के बन्दरगाहों से खुश्की के रास्ते बगदाद-बसरा होता हुआ ईरान की खाड़ी तक जाता था। 1453 ई. से पूर्व इन दोनों मार्गो पर अरबों का अधिकार था। अरब व्यापार का महत्व समझते थे। इस कारण वे यूरोप के व्यापारियों को चीन व भारत से व्यापार करने में सहयोग ही प्रदान करते थे। परन्तु चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तो तुर्कों ने ईरान-ईराक पर अधिकार करके फारस की खाड़ी व लाल सागर पर अधिकार कर लिया अतः यूरोप के व्यापारी बड़ी कठिनाई में पड़ गये। भारत व चीन से वे व्यापारिक सम्बन्ध भी बनाये रखना चाहते थे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने नवीन-जलमार्गों की खोज का प्रयास किया और पुर्तगाल के सहयोग से भारत का जलमार्ग खोज निकाला। वास्कोडिगामा ने 1468ई. में कालीकट पहुंचकर भारत के पश्चिमी में व्यापार की कोठियां स्थापित करदीं। कुछ समय उपरान्त डचों ने पूर्वी द्वीप समूह के मसालों पर अधिकार कर लिया। भारत में इंग्लैण्ड व फ्रान्स की व्यापारिक कम्पनियां स्थापित हो गईं। कुछ समय उपरान्त चीन व जापान भी यूरोप के व्यापारियों के प्रभाव में आ गये।

इस प्रकार सत्रहवीं सदी के आरंभ तक हालैण्ड व इंग्लैण्ड एशिया महाद्वीप के व्यापार में अधिकाधिक भाग लेने लगे। पुर्तगाल पहले ही भागीदार बन चुका था। यदि टर्की पर तुर्कों का अधिकार नहीं होता तो यूरोपीय देश जलमार्गों की खोज नहीं करते और एशिया व अफ्रीका महाद्वीप में बड़ी मात्रा में व्यापार नहीं कर पाते। नई दुनिया (उत्तरी अमेरिका व दक्षिणी अमेरिका) में भी कोलंबस 1462 ई. में भारत की खोज के लिए ही तो गया था। इस अन्वेषण के उपरान्त दोनों अमेरिका यूरोप के व्यापारियों के लिये अच्छे बाजार बन गये। परिणामतः सत्रहवीं सदी के अन्त तक तो यूरोप का वाणिज्यवाद लगभग समस्त विश्व को प्रभावित कर चुका था।

5. धर्म-युद्ध- ये युद्ध मुस्लिम जगत् और ईसाई जगत् के मध्य लड़े गये थे। इस्लाम तो यूरोप के मध्य-युग के उत्तरार्द्ध तक एक नवीन धर्म ही था। इस्लाम के अनुयायी अपने धर्म के प्रसार के प्रति बड़े उत्सुक एवं उत्साही थे। 1076 में सेजुलक तुर्कों ने ईसाइयों के पवित्र स्थान जेरूसलम पर अधिकार कर लिया था। ईसाई अपने पवित्र स्थान को लेना चाहते थे। दूसरे मुसलमानों ने ईसाइयों पर नाना प्रकार के अत्याचार करना तथा उन्हें जबरन मुसलमान बनाना आरंभ कर दिया था। इससे ईसाई अपने अस्तित्व के लिये चिन्तित हो उठे। जेरूसलम के ईसाइयों पर हो रहे अत्याचारों की दारुण कथाएं यूरोप भी पहुंच रही थीं। पोप उर्बन द्वितीय ने ईसाइयों को संगठित किया और चार धर्म-युद्ध लड़ने के समर्थ बना दिया। हालांकि इन युद्धों का यूरोप के ईसाइयों को धार्मिक लाभ नहीं हुआ परन्तु इन चार युद्धों के अन्तराल में वे पश्चिमि एशिया व उत्तरी अफ्रीका के देशों के सम्पर्क में आ गये। उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप ही वे रेशम-मार्ग व फारस की खाड़ी का स्थल व जल मार्ग बन्द होने पर भी अरबवासियों के सहयोग से भारत तथा चीन से व्यापार करते रहे। जब 1453 ई. में आटोमन तुर्कों ने टर्की पर अधिकार कर उनके व्यापार व धर्म पर आघात पहुंचाना चाहा तो उनमें भी अपने धर्म-प्रसार की तथा एशिया में व्यापार बनाये रखने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो गई।

6. ईसाई धर्म का प्रचार- यूरोप के ईसाई भी धर्म के प्रसार में कम उत्साही नहीं थे। मुस्लिम धर्म-प्रसारक व ईसाई धर्म प्रसारकों के मध्य अन्तर केवल इतना ही था कि मुसलमान अपने धर्म का प्रसार तलवार के सहारे करते थे जबकि ईसाई धर्माधिकारी प्यार, लोभ व सहानुभूति प्रदर्शित करके करते थे। पुर्नजागरण के फलस्वरूप यूरोप के अनेक धर्माधिकारियों ने सुदूरवर्ती देशों में जाना आरंभ कर दिया था। यह तथ्य है कि 1368ई. में जब चीन में मिंग वंश का राज्य स्थापित हो गया था तो धर्माधिकारी व व्यापारियों का वहां जाना तथा उनकी गतिविधियां अवरुद्ध हो गई थीं। परन्तु सोलहवीं सदी में यूरोप ने चीन के साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित किये और वहां की सरकार को हटाकर अपनी सभ्यता का प्रसार करना चाहा। सत्रहवीं सदी में अंग्रेज व डचों को कैन्टन तथा दक्षिणी चीन में व्यापार करने के अधिकार मिल गये। ईसाई धर्माधिकारीयों ने भी सोलहवीं सदी के अन्तिम वर्षो में धर्म प्रसार का कार्य आरंभ कर दिया। 1582ई. में इटली का धर्माधिकारी रिसी कैन्टन पहुंचा। चीन के कुलीनवंशीय तथा बुद्धिजीवी उसके ज्ञान से इतनी प्रभावित हुए कि उसे पेकिंग आने की अनुमति दे दी और 1644 ई. में मिंग राजवंश के स्थान पर मंचू राजवंश की स्थापना कर दी गई।

जापानवासियों तथा वहां की सरकार ने ईसाई धर्माधिकारियों का विरोध नहीं किया। 1600 ई. में वहां 5000 जापानी ईसाई बन गये। पुर्तगाली व्यापारी व धर्माधिकारी दोनों ही वहां सम्मान से देखे गये। ईसाई धर्म की शिक्षाओं को उन्होंने सुना व ग्रहण किया। परन्तु 1614 ई. में जापान ने उन्हें देश से बाहर निकाल दिया। 1638 ई. में व्यापारियों को भी बाहर कर दिया गया। परन्तु ये टूटे सम्बन्ध 1853 ई. से पुनः मधुर होने लगे थे।

ईसाई धर्म प्रचारकों को उनके शासकों से तो सहयोग मिलता ही था पर व्यापारी वर्ग का भी उन्हें महान् सहयोग मिलता था। वणिक लोग उन्हें आर्थिक तथा सैनिक सहायता भी देते थे। बल्कि अवसर पड़ने पर उनके साथ भी जाते थे। ऐसा क्यों होता था ? इसका उत्तर यही है कि ईसाई धर्म के प्रसारकों के माध्यम से व्यापारी अपना वहां व्यापार का मार्ग तैयार करते थे। भारत में भी ईसाई धर्म प्रथम ईस्ट इंडिया कम्पनी के सहयोग से ही फैला था ओर ईसाई धर्म के प्रसार के परिणामस्वरूप भारत में इंग्लैण्ड की राजनीतिक प्रभुता जम पाई थी और भारत ब्रिटेन के तैयार माल का महान् आयात करने वाला तथा कच्चे माल का निर्यातक बन गया था।

7. यूरोप के यात्रियों द्वारा विदेशों का वर्णन- चंगेजखां ने मध्य एशिया में एक महान साम्राज्य स्थापित कर लिया गया था और उसके पुत्र कुबलाई खां ने उसका और विस्तार किया तथा पेकिंग को उसने अपने राज्य की राजधानी बनाई। साम्राज्यवाद की क्षुधा ने मंगोलो को पूर्वी यूरोप पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया। ईसाई मुल्क प्रथम तो मंगोल

साम्राज्य के विस्तार से आतंकित हुए। किन्तु ईसाई धर्म प्रचारकों में शीघ्र ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि यदि मंगोलों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया जावे तो उनका धर्म एशिया के महान् भाग में अपना प्रभाव दिखा सकेगा। उन्हें विश्वास था कि मंगोल उनका धर्म स्वीकार कर लेंगें क्योंकि धर्म-युद्धों में मंगोलों ने उनके प्रति सहानुभूति दर्शायी थी। इसी उद्देश्य से कार्पिनी का जॉन 1245ई. में तथा उसके कुछ समय उपरान्त कुस्तुनतुनिया से विलियम पेकिंग के लिये रवाना हुए। कुबलाई खां ने उनका स्वागत तो खूब किया परन्तु धर्म-प्रसार नहीं करने दिया। इससे यूरोप के दोनों यात्री निराश हुए परन्तु उन्होंने अपनी यात्रा के वर्णन में एशिया का ऐसा वर्णन किया कि यूरोपवासी यहां आने को आतुर हो गये। उनमें व्यापारी वर्ग विशेष रूप से था। विलियम की यात्रा-वर्णन से प्रभावित होकर 1260 ई. में पोलो बन्धु चीन के लिए रवाना हो गये। वे वहां 1269 तक रुके। मंगोल सरदार ने उनका भाव-चीनी स्वागत व आतिथ्य-सत्कार किया। उन्हें धर्म-प्रसार की आज्ञा न देकर 100 धर्माधिकारी भेजने को कहा। दूसरी यात्रा में निकले पोलो अपने पुत्र मार्को पोलो को भी साथ ले गया। मार्को पोलो वहां 16 वर्ष रहा। लौटकर उसने चीन की सम्पन्नता का ऐसा वर्णन किया कि यूरोप के व्यापारी चीन आने को आतुर हो उठे। उधर मार्को पोलो को मध्य-युग का प्रशंसनीय यात्री करार दिया गया। चीन से लौट कर उसने भी एक ग्रन्थ-रचना की जिसमें चीन का विशद् वर्णन था। उससे भी यूरोप के व्यापारी चीन जाने को लालायित हो उठे और अन्त में चीन को उन्होंने अपना बाजार बना ही लिया।

उधर भारत से लौटकर वास्कोडिगामा ने पुर्तगाल में भारत की सम्पन्नता का उल्लेख किया। जब वह भारत से मोतियों से लदा जहाज ले गया तो पुर्तगालियों के मुंह में पानी आ गया। इसके उपरान्त पुर्तगाल के व्यापारियों, उनके बाद इंग्लैण्ड व नीदरलैण्ड (डच) के व्यापारियों का भारत में तांता लग गया। इसके आर्थिक जगत में क्या परिणाम हुए हम से छिपे नहीं हैं। उन आर्थिक परिणामों के आधार पर ही सोलहवीं सदी के प्रथम दो दशकों (1500-20) को व्यावसायिक अन्वेषकों का युग कहा जाय तो अगले तीन दशकों (1520-50) को व्यावसायिक विजेताओं का युग कहा जा सकता है। इसी प्रकार अमेरिका पर यूरोप के विभिन्न देशों का अधिकार हो गया। यूरोप के व्यापारियों को अपना तैयार माल खपाने तथा कच्चा माल मंगाने के अच्छे बाजार मिल गये। यदि यूरोप के यात्री विदेशों से लौटकर वहां की सम्पन्नता तथा प्राकृतिक सम्पदाओं की सूचना नहीं देते तो यूरोप का यह वाणिज्यवाद इतना विस्तृत एवं व्यापक नहीं होता।

8. वाणिज्यिक क्रांति का प्रारंभ- सोलहवीं सदी में यूरापे में दो क्रान्तियां प्रमुख मानी जाती हैं- प्रथम कृषि क्रान्ति और दूसरी वाणिज्यिक क्रान्ति। वाणिज्यिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप के व्यापार में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप ही उस शताब्दी तथा बाद की शताब्दियों में यूरोप के व्यापार का स्वरूप निर्धारित हुआ। अंतःक्षेत्रीय व्यापार में वृद्धि हुई। सामन्तवाद की प्रबलता के कारण व्यापार में स्थानीयवाद की जो भावना जड़ जमा चुकी थी-वह अब समाप्त हो गई।अंतःक्षेत्रीय व्यापार के आलावा समुद्र-पार का व्यापार भी बढ़ा। व्यापार के लिए विशाल मण्डियों स्थापित होने लगीं। स्थानीय व्यापार में साप्ताहिक हाट-बाजार जोर पकड़ने लगे और मेंले लगने समाप्त हो गये। एन्टवर्प में 1500ई. तक व्यापार का जो विकास हुआ, उससे वर्ष में दो बार लगने वाले मेंलों का स्थान बाजारों ने ले लिया जो प्रायः लगातार ही चलते रहते थे। इस प्रकार के परिवर्तन पेरिस, लन्दन व एम्सटरडम में भी लक्षित हुए। शनैः-शनैः मालगोदामों की स्थापना हुई।वहां माल की बोली लगने लगी। माल को मंगाने व भेजने के लिए सड़कें बनवाई गई। 1600 ई. तक यूरोप के सभी प्रमुख नगर डाक-सेवा से जुड़ गये। सत्रहवीं सदी में इस वाणिज्यिक क्रान्ति ने ही अधिक विकसित हो जाने पर वाणिज्यवाद का रूप धारण कर लिया।

9. पूंजीवाद का आर्विभाव- पुनःर्जागरण के अन्तराल में जब यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति व्यापक हुई तो उसके फलस्वरूप वणिकों का व्यापार बढ़ा। जनसंख्या बढ़नें के कारण उत्पादकों को अपना उत्पादन बढ़ाना पड़ा। माल की खपत दिन पर दिन बढ़ने लगी। व्यापारियों को अच्छा लाभ होने लगा। परिणामतः उनके पास धन जमा होने लगा। धनवान पूंजीवादी कहलाने लगे। जब इनके पास धन अतिरिक्त राशि के रूप में जमा हो गया तो उन्होंने उसको अन्यत्र लगाना चाहा। उन्होंने अपने देश की सरकार को साम्राज्यवाद की ओर प्रोत्साहित किया तथा धर्माधिकारियों को धर्म प्रसार के लिए विदेशों में भेजना-आरंभ किया। उन्होंनें उनकों सैनिक व आर्थिक दोनों प्रकार की सहायता दी। उनकी इस नीति का परिणाम यह हुआ कि सरकार में उनका प्रभुत्व रहा तथा विदेशों में उनकी व्यापारिक कोठियां स्थापित हो गईं। अमेरिका से यदि यूरोपीय देशों ने सोना-चांदी मंगाया तो भारत से उन्होंने कच्चा माल मंगाया। पूर्वी द्वीप समूहों से मसाले मंगा कर डच लोगों ने अच्छा धन अर्जित किया। चीन में भारत की कम्पनी सरकार ने जबरन व चोरी से मालवा की अफीम भेजकर चीनवालों को अपना ग्राहक बना लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस वाणिज्यवाद को व्यापक एवं प्रभावशाली बनाने में पूंजीवाद ने विशेष भूमिका निभाई।

वाणिज्यवाद के प्रभाव

1. राष्ट्रवाद का विस्तार- वाणिज्यवाद के विस्तार के साथ-साथ बाजार का विस्तार हुआ और बाजारों के विस्तार से राष्ट्रवाद का प्रसार हुआ। राष्ट्रवाद का प्रसार इटली और जर्मनी में स्पष्ट दिखाई दिया क्योंकि इन राष्ट्रों के निर्माण में आर्थिक शक्तियों का हाथ रहा था। मुक्त आंतरिक व्यापार वाले शोलवेरिन के गठन से ऐसी जर्मन-अर्थव्यवस्था का प्रारंभ हुआ जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में देश का एकीकरण संभव हो सका।

नवीन राष्ट्रीय बाजारों की आवश्यकताओं को पूरी करने हेतु राष्ट्रीय परिवहन प्रणालियों का विकास हुआ। प्रारंभ में सड़कों को पक्का किया गया। इसके उपरान्त वाष्प-ईंजन की बारी आई। 1830 ई. से आरंभ वाले दशक से फ्रान्स, इटली, बेल्जियम और आस्ट्रिया में स्थानीय रेल मार्गों का निर्माण हुआ। 1840ई. से आरंभ होने वाले दशक से जर्मनी में रेल मार्गों का निर्माण कराया गया । 1870 ई. तक तो लगभग यूरोप के सभी देशों में रेलमार्गो का अच्छा जाल बिछ गया। रेलतन्त्र ने राष्ट्रीय बाजारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के अलावा लोहा तथा इस्पात उद्योगों तथा कोयला खनन को भी प्रोत्साहित किय। रेलों के माध्यम से सामान अधिक मात्रा में सुगमता से आने-जाने लगा। वाणिज्यवाद के विस्तृत एवं व्यापक होने के कारण संचार-व्यवस्था को भी विकसित करना पड़ा। डाक-सेवाओं की स्थापना, तार प्रणाली के प्रयोग तथा सस्ते समाचार-पत्रों के प्रचलन ने संचार की विस्तृत व्यवस्था प्रस्तुत की।

इन विकसित साधनों के परिणामस्वरूप ही स्थानीय व्यापार पद्धति के स्थान पर राष्ट्रीय बाजारों का विकास हुआ।

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि- अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकसित होने का प्रमुख कारण समुद्र पार जहाजरानी का विकास था। प्रारंभ में जहाजों की संख्या बढ़ाई गई। इसके उपरान्त नौचालन-पोत डिजाइन में सुधार किया गया। 1850 ई. से आरम्भ होने वाले दशक से सुरक्षित व सुदृढ़ जलपोत बनने लग गये थे। जहाजों के निर्माण में इमारती काठ लगाने के स्थान पर लोहा प्रयोग में लिया जाने लगा। इन परिर्वतनों के परिणामस्वरूप जहाजरानी सेवाओं का तीव्रता से प्रसार हुआ और यूरोप के राष्ट्रों ने नवीन बाजारों की तथा कच्चे माल के नवीन स्रोतो की तलाश करना आरंभ किया। ऐसा आर्थिक अवस्था को सुदृढ़ करने के लिये अति आवश्यक था।

जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व संचार व्यवस्था विकसित हो गई तो रुई, ऊन, लोहा जैसा कच्चा सामान यूरोप में सुगमता से आयात होने लगा। एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीपों से रबड़, लौंग व अन्य मसाले सुगमता से यूरोप आने लगे। जहाजरानी सेवाओं के विकसित होने से यूरोप अपना तैयार सामान सुगमता से समुद्रपार देशों को भेजने लगा। अतः स्पष्ट है कि व्यापार का क्षेत्र विस्तृत हो गया। यूरोप के व्यापारी विश्व के देशों में छाने लगे। निर्यात अधिक मात्रा में करने से यूरोप के धन में वृद्धि हुई। व्यापारी व श्रमिक वर्ग की आय में वृद्धि हुई। शनैः शनैः यूरोप के राष्ट्र एशिया, अफ्रीका, तथा अमेरिका के व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने लगे। 1840ई. में फ्रान्स का विश्व-व्यापार पर 10 प्रतिशत नियन्त्रण हो गया था। जर्मनी का 1900 ई. में विश्व-व्यापार पर 12प्रतिशत नियन्त्रण हो गया था। आर्थिक दृष्टि से इंग्लैण्ड की आर्थिक दशा सबसे अच्छी थी।विश्व के देश उसी से ऋण लेते थे। 1860-70 के अन्तराल में जर्मनी भी अमेरिकी रेलों में पूंजीनिवेश करने लग गया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास ने यूरोप के वणिकों को विश्व के अन्य देशों का प्रवासी बना दिया। वे अक्सर अपने देश के उपनिवेशों में जाकर बसने लग गये थे। उदाहरण के लिये भारत को ही ले सकते हैं। कम्पनी के शासन-काल में ही भारी संख्या में अंग्रेज व्यापारी भारत में आ बसे थे। इंग्लैण्ड का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार व साम्राज्य उन्नीसवीं सदी अन्त में सर्वाधिक विस्तृत था।

3. राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण- वाणिज्यवाद के व्यापक होने से पूर्व व्यापार व्यक्तिगत था। व्यापारियों को मुक्त व्यापार करने की स्वतन्त्रता थी। परन्तु वाणिज्यवाद के विस्तृत होने पर यूरोप के कई देशों ने राष्ट्रीय व्यापार नीतियां अपना ली थी। 1820ई. से 1850ई तक यूरोपीय देशों ने संरक्षण की नीति अपनाई ताकि उनके देश के व्यापारी व उद्योगपति ब्रिटिश प्रतिस्पर्धियों से मात न खायें। परन्तु 1870 ई. से आरम्भ होने वाले दशक से यूरोप के अधिकांश देशों ने अपनी-अपनी अर्थव्यवस्था और उद्योग-प्रणाली को कृत्रिम रूप से संरक्षित वातावरण में छुपाकर रखने के बजाय मुक्त व्यापार की नीतियां अपना कर व्यापार को पनपने का अवसर प्रदान किया। बेल्जियम ने 1852 ई. में मुक्त-व्यापार की नीति अपनाई। प्रशा में शेलवेरिन संस्था को समाप्त कर अनाज दर से चुंगी हटा दी और आस्ट्रिया के साथ मुक्त-व्यापार सम्बन्ध स्थापित कर लिए। 1860 ई. में नीदरलैण्ड ने मुक्त व्यापार की नीति अपनाई और ब्रिटेन व फ्रान्स के साथ मुक्त-व्यापार सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस प्रकार स्पष्ट है कि यूरोप के देशों ने बाजार का माहौल देखकर अपनी आर्थिक नीतियां निर्धारित कीं।

यूरोपीय देशों ने मुक्त-व्यापार की नीति तो अपनाई, पर वह अस्थायी सिद्ध हुई। 1870 ई.उपरान्त ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण उन्हें इस नीति का परित्याग करना पड़ा क्योंकि इस प्रतिस्पर्धा के कारण स्वदेशी बाजार पर राष्ट्रीय नियन्त्रण तथा समुद्र पार के देशों में प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करना आवश्यक हो गया था। खराब फसलों, कम कीमतों और समुद्र पार के कृषि उत्पादकों के भारी आयात के कारण यूरोपीय कृषि में जबरदस्त मंदी का दौर आ गया, तब किसानों ने संरक्षण की मांग की। उनकी मांग सरकार को स्वीकार करनी पड़ी। उद्योगपतियों ने अपने उद्योगो को बाहरी स्पर्धा से बचाने के उद्देश्य से कृषक वर्ग की मांग का समर्थन कर दिया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि 1870 ई. से आरंभ होने वाले दशक से यूरोपीय देशों ने अपनी-अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने और तथाकथित विश्व-व्यापी मन्दी का सामना करने के प्रयास में आयात शुल्क दरें फिर से लागू कर दीं।

4. मार्केटिंग प्रणाली में परिवर्तन- अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के कारण इस प्रणाली में परिवर्तन आये। जब व्यापार व्यापक बन गया और व्यापक बाजार की आवश्यकता को पूरी करने के लिए वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी, तब विपणन-विधियों को सुधारने के लिए दबाव पड़ने लगा। इस मांग को पूरा करने के लिए एक के बाद एक परिवर्तन किये गये जिनमें विपणन प्रणाली में क्रान्ति आ गई। इस क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि पुरातन विपणन विधियों का ह्रास होने लगा। मेंले लगने कम हो गये और उनकी जगह नवीन विक्रय संगठन एवं पद्धतियां प्रयोग में आ गई। चलते-फिरते विक्रेता तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियां आयोजित होने लगीं, उपनगरों में सड़क का व्यापारी दुकानों के सामने टिक नहीं सका। 1830 ई. और 1840 ई. के मध्य जर्मनी (प्रशा) की आर्थिक अवस्था दयनीय ही थी। इसका कारण यही था कि उसके उपनगरों में उस तरह के आधुनिक बिक्री-केन्द्र नहीं थे जैसे कि इंग्लैण्ड व फ्रान्स में थे। जर्मन लोग स्वदेशी उत्पादनों की खरीद केवल साप्ताहिक बाजार में ही करते थे और यदि कभी उन्हें विदेशी वस्तु की खरीद करनी होती तो उन्हें वार्षिक मेंलो में खरीदते थे। 1880 ई. तक तो जीवन का मध्य युगीन स्वरूप समाप्त हो चुका था और आधुनिक विपणन तंत्र के साथ बढ़ती हुई औद्योगिक शाक्ति प्रचलन में आ गई थी।

खुदरा व्यापार का प्रभाव में आना- उपनगरों के विस्तार, श्रमिकों की बढ़ती क्रय-शक्ति तथा उपभोक्ता-उत्पादनों के मानकीकरण के परिणामस्वरूप खुदरा व्यापार में परिवर्तन आ गये। 1850 ई. से 1900 ई. के बीच खुदरा व्यापार तिगुना हो गया और प्रधानतः चार प्रकार के खुदरा बिक्री केन्द्र विकसित हुए। वे निम्नलिखित थे-

1. सहकारी भण्डार- 1840 ई. से प्रचलन में थे।
2. श्रृंखला भण्डार- इन भण्डारों पर क्रय-विक्रय बड़ी मात्रा में होता था।
3. बहुविभागीय भण्डार- एक ही दुकान पर सारे उत्पादनों की बिक्री होती थी।
4. श्रंखला भण्डार के बाजार- इनमें बाजार जैसी व्यवस्था होती थी और विभिन्न प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध होती थी।

उपयफ्रक्त चार प्रकार के भण्डारों के प्रचलन में आने से खुदरा व्यापार में प्रतिस्पर्धा बढ़ी। उपलब्ध वस्तुओं का क्षेत्र विस्तृत हुआ। उपभोक्ताओं के खर्च में कटौती हुई।

थोक व्यापार में वृद्धि- जो व्यापारी बेची जाने वाली वस्तुओं का स्वयं उत्पादन नहीं करते थे तो उनके सामने समस्या उत्पन्न हुई कि अपने खुदरा व्यापार को चलाने के लिए वस्तुएं खरीदी भी कहां से जावे। उन्होंने उन वस्तुओं के उत्पादन-कर्ताओं से बिचौलिया के माध्यम से सम्पर्क स्थापित किया। वह बिचौलिया थोक व्यापार विक्रेता कहा जाता था। इन लोगों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपने गोदाम स्थापित किये जहां वे अपना सामान रखते थे और खुदरा व्यापारियों की मांग पर माल शीघ्रता से समय पर पहुंचाने का प्रयास करते थे।

5. वित्त तथा व्यापारिक संगठनों का गठन- यूरोप के बढ़ते हुए औद्योगिक उत्पादन और तकनीकी उपलब्धियों के साथ ताल-मेंल रखने के लिए विभिन्न देशों ने विभिन्न प्रकार की आर्थिक संस्थाओं की स्थापना की। औद्योगिक और व्यापारिक गतिविधियां बढ़ जाने से पूंजी की मांग बढ़ी। 1820ई. और 1822ई. के मध्य कई संरक्षात्मक बाधाएं खड़ी की गईं। इसके लाभ यूरोप के उद्योगपतियों को मिले। वे अंग्रेजों की प्रतिस्पर्धा का सामना करने में सक्षम बन गये।

इस क्षेत्र में सर्वप्रथम वित्त कम्पनियों का गठन किया गया। इस प्रकार की एक कम्पनी (सोसाइटी कोमांदीलैयर द लिंदस्त्री) 1820 ई. के प्रारम्भ में सर्वप्रथम स्थापित की गई। इस संगठन ने तरह-तरह के बहुसंख्यक निवेशकर्ताओं तथा इने-गिने सक्रिय भागीदारों में अन्तर स्थापित किया। 1836ई. में 'फ्रांसीसी सोसायटी' की तरह बैंक द बेल्जीक की स्थापना की गई ताकि कम्पनियों के लिये आरंभिक पूंजी जुटाई जा सके। 1830ई. में निवेश के लिये उद्योगों से सम्बन्धित बचत-बैंक स्थापित कर दिये थे। 1845 ई. में उद्योगपतियों को ऋण देने के लिये जमा-बैंक स्थापित किये गये।

परन्तु 1847-48 की आर्थिक क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि उपरोक्त आर्थिक संस्थाएं उद्योगपतियों की बढ़ती हुई आर्थिक मांगों को पूरा नहीं कर सकती। इसके परिणामस्वरूप उधार-पद्धति पर ध्यान केन्द्रित किया गया और उधार-संस्थाएं स्थापित की गई। इस दिशा में भी फ्रांस द्वारा ही सर्वप्रथम पहल की गई। फ्रान्स के उपरान्त जर्मनी इस ओर अग्रसर हुआ। 1850ई. से आरंभ होने वाले दशक तक सरकार स्वयं पूंजी की व्यवस्था करती थी। पर वह पर्याप्त नहीं होती थी। इस कारण पूंजीपतियों ने ही कम्पनियां स्थापित करना आरंभ कर दिया। इसके उपरान्त फ्रान्स की उपयफ्रक्त आर्थिक संस्थाओं के अनुरूप डार्मस्टाट तथा आस्ट्रिया में बैंकों की स्थापना की गई। 1864 ई. में ऐसे जमा-बैंक खोले गये जिनकी शाखाएं पूर फ्रान्स में स्थापित की जा चुकी थीं।

केन्द्रीय बैंक संस्थाएं- इस प्रकार के बैंक यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में स्थापित किये गये। ये संस्थाएं नोट जारी करने तथा अर्थ-व्यवस्था के उतार-चढ़ावों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपनाने के लिये उत्तरदायी थीं। बैंक द फ्रान्स ने व्यापारी समुदाय की आवश्यकताओं को पूरी करने की दृष्टि से पर्याप्त धन जुटाया और बैंक आफ इंग्लैण्ड के विपरीत, संकटों से निपटने के लिये उधार पर प्रतिबन्ध लगाने से इन्कार कर दिया। जर्मनी के एकीकरण के उपरान्त जो राइख बैंक स्थापित किया गया था। उसने जर्मन मुद्रा के मूल्यों को स्वर्ण जैसी बहुमूल्य धातुओं के साथ जोड़कर वित्तीय स्थिरता उत्पन्न करने का प्रयास किया।

1870 ई. के उपरान्त के दशक में पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों ने स्वर्णमान को अपना लिया था। इस प्रक्रिया का प्रारंभ 1850 ई. के बाद तब हुआ जब विश्व में अनेक स्थानों पर सोना और चांदी के निक्षेप (Deppsit) मिले। इन खानों के खुदान से सोने-चांदी मूल्यों में तथा इन धातुओं के मेंल से निर्मित किये जाने वाले धातुओं में भारी उतार-चढ़ाव आये। इसके परिणामस्वरूप अब यह निश्चित कर दिया गया कि एक देश जितनी मुद्रा का प्रचलन करता है उसके अनुपात में उसे सोने का भण्डार रखने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। यह व्यवस्था 1871 ई. में हालैण्ड द्वारा, 1873 ई. में जर्मनी द्वारा तथा 1875ई. में नार्वे द्वारा अपना ली गई।

संयुक्त पूंजी कम्पनियों की स्थापना- ऐसी कम्पनियां औद्योगिक और व्यापारिक उद्यमों की व्यवस्था करने के लिये ऋण संस्थानों की विकल्प थीं। यें संगठन विशिष्ट परियोजनाओं की वित्त-व्यवस्था के लिए बहुसंख्यक निवेशकर्ताओं से पूंजी उधार लेकर बनाये गये थे। प्रत्येक शेयर होल्डर इनमें जितनी पूंजी का निवेश करता था, उसी अनुपात से ये संगठन उसे लाभ देते थे। सामान्यतः इन्हें सीमित दायित्व वाली कम्पनियां कहा जाता था। इससे यह संकेत मिलता था कि यदि कम्पनी दिवालिया हो जाय तो इसका ऋण चुकाने के लिये निवेशकर्ताओं का केवल सीमित दायित्व रहेगा। इस श्रेणी की कम्पनियों की स्थापना फ्रान्स व बेलिजयम में 1830 ई. जर्मनी में 1840 ई. के उपरान्त और यूरोप के अन्य देशों में 1850 ई. के उपरान्त हो गई।

शेयर बाजार (स्टॉक एक्सचेंज) का आस्तित्व में आना- जब यूरोपीय देशों में संयुक्त पूंजी कम्पनियां काम करने लग गई तो शेयर बाजार (Share markets) की स्थापना करना भी आवश्यक हो गया। फ्रान्स में 1816ई. में शेयर बाजार (बूर्स) की स्थापना पेरिस में की गई। इसके उपरान्त इन बाजारों की स्थापना बर्लिन, एम्स्टरडम और विएना जैसे नगरों में भी हो गई।

मुद्रा अर्थव्यवस्था का विकास- 1830 ई. से 1870 ई. के मध्य समस्त यूरोप में बाजार-अर्थव्यवस्था के विस्तार के परिणाम यह हुआ कि समाज के सभी स्तरों पर मुद्रा का प्रयोग बढ़ गया। यहां तक कि रूस के कृषिदासों को भी 1861 ई. में नकद मजदूरी मिलने लग गई थी। उद्योग विस्तार और श्रमिक-वर्ग की वृद्धि से वैतनिक श्रमिकों की संख्या बढ गई जिन्हें या तो साप्ताहिक या पाक्षिक वेतन मिलता था इन परिस्थितियों में समाज के अधिक लोगों की क्रय-शक्ति भी बढ़ गयी।

6. सरकार तथा वाणिज्यवाद- औद्योगिक क्रान्ति की भांति वाणिज्यवाद का प्रभाव भी व्यापक पड़ा था। इसने केवल उद्योगपति व व्यापारी वर्ग को ही प्रभावित नहीं किया अपितु सरकार भी इसके प्रभाव से अप्रभावित नहीं रही। सरकार को समय-समय पर अपनी आर्थिक नीतियों व आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन करने पड़े। सरकार का वाणिज्यवाद में क्या सहयोग रहा- यह हम निम्न अवतरणों से जान सकते हैं-

व्यापार-नीतियों का निर्माण- जब यूरोपीय देशों के उद्योगपतियों ने अपने उद्योगों को विकसित एवं विस्तृत करने में रुचि प्रदर्शित की तो सरकार भी अपने उद्योगपतियों को प्रोत्साहन देने में पीछे नहीं रही। व्यापारिक नीतियों का निर्धारण सरकार ने किया तथा विभिन्न आर्थिक संस्थाओं की स्थापना करने में उसने में भी सहयोग भी दिया। 1820 ई. से 1850 ई. तक यदि सरकार ने संरक्षण की नीति पर आचरण किया तो 1850 ई. के उपरान्त उसने मुक्त व्यापार की नीति अपनायी। 1870 ई. के उपरान्त उद्योगपतियों का दबाव पड़ने पर सरकार ने पुनः संरक्षण की नीति अपनायी।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्थापित करना- उन्नीसवीं सदी के मध्य में राष्ट्रीय भावना यूरोपीय देशों में अधिक उग्र बन गई थी। इटली और जर्मनी में यह स्पष्ट रूप से दृष्टव्य थी। उस प्रबल राष्ट्रीय भावना का प्रभाव वाणिज्यवाद पर पड़ना स्वाभाविक था और वाणिज्यवाद से देशों की सरकारें प्रभावित थीं। उद्योगपतियों के उद्योगों को बनाये रखने व उनकी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक राष्ट्रीय अर्थ नीति अपनाना उन्हें आवश्यक हो गया था। जन-आन्दोलन केवल जनता के मध्य तक ही सीमित नहीं रहे वरन् वे सरकार को भी प्रभावित करते रहे। अपने देश के उद्योगपतियों को लाभ में रखने हेतु विभिन्न देशों की सरकारों को विभिन्न समय पर नाना कर हटाने व लगाने के लिये उस देश के जन-आन्दोलन बाध्य करते रहे।

राज्यों का साम्राज्यवादी होना- जब उद्योगपतियों ने व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने का प्रयास किया तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा का फैलना भी स्वाभाविक था। यूरोपीय देशों की सरकारों को भी अपने देश के उद्योगों को सफलता से चलाने हेतु विशाल बाजारों की तलाश करनी पड़ी। अपने देश के उत्पादित माल को सरकारों ने अधिकाधिक खपाने का प्रयास किया तो उत्पादन को बनाये रखने हेतु कच्चे माल की उपलब्धि के लिए भी उसे व्यवस्था करनी पड़ी। उनकी इस व्यवस्था ने ही उनको साम्राज्यवादी बनने को बाध्य कर दिया। यूरोप के देशों ने अपना निर्यात बढ़ाने हेतु उपनिवेश कायम किये। इंग्लैण्ड व हालैण्ड यूरोप में तो छोटे देशों के रूप में थे परन्तु विश्व में उनकी महान शक्तियों में गिनती उनके उपनिवेशों के कारण ही होती थी। जर्मनी साम्राज्यवाद के क्षेत्र में 1870 ई. के उपरान्त अग्रसर हुआ था जबकि इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, स्पेन व पुर्तगाल तो साम्राज्यवादी देशों में बहुत पहले ही गिने जाने लग गये थे।

वाणिज्यवाद की समीक्षा- यह तथ्य है कि वाणिज्यवाद का प्रसार भी आर्थिक क्षेत्र में यूरोप की एक महान घटना है। यदि औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन बढ़ा कर वहां के उद्योगपतियों को पूंजीपति बना दिया तो वाणिज्यवाद ने पूंजीपति वणिकों को सही रूप से तथा सही जगह धन लगाना सिखाया। विस्तृत होते व्यापार को संतुलित तरीके से चलाना भी वाणिज्यवाद के माध्यम से सुगम हो सका था। अतः इसका प्रभाव भी यूरोप तथा विश्व के अन्य महाद्वीपों में स्पष्ट रूप से देख गया। परन्तु यह वाद एक स्थायी अर्थवाद सिद्ध नहीं हो सका। उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही इसका प्रभाव लुप्त होने लगा। परन्तु जिस प्रकार इसका उदय यूरोपीय देशों में एक साथ नहीं हुआ वैसे ही इसका लोप भी एक साथ नहीं हुआ। इंग्लैण्ड का वाणिज्यवाद पूंजीवाद से अधिक प्रभावित था। इंग्लैण्ड के पूंजीवाद ने विश्व को प्रभावित कर दिया था। परन्तु इंग्लैण्ड में समय-समय पर ऐसे विचारक व राजनीतिज्ञ जन्म लेते रहे जो वाणिज्यवाद की भलाई-बुराइयों से अपनी सरकार को सचेत करते रहे तथा सुधार भी प्रस्तावित करते रहे। मुक्त व्यापार और नियंत्रित व्यापार को लेकर समय-समय पर मतभेद उत्पन्न होते रहे। बदलती परिस्थितियों के अनुसार इंग्लैण्ड-सरकार की व्यापारिक नीति व कानून भी बदलते रहे। इंग्लैण्ड के राजनीति विचारक लॉक ने वाणिज्यवाद के मूल सिद्धान्तो पर प्रहार किया। नार्थ ने कहा कि संतुलित व्यापार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इतना आवश्यक नहीं जितना कि आन्तरिक व्यापार और कृषि को उन्नत करना है।

वाणिज्यवादियों ने अपना सारा ध्यान सोने-चांदी के संग्रह पर केन्द्रित किया। उनका कहना था कि सोना-चांदी का संग्रह ही राज्य की सम्पदा की निशानी नहीं है। इसी धारणा का समर्थन करते एडम स्मिथ ने लिखा है-"किसी देश का धन उसकी सस्ती और अधिक मात्रा में वस्तुएं पैदा करने की क्षमता में होता है, सोना और चांदी तो केवल इन वस्तुओं के प्राप्त करने के साधन ही हो सकते है।" उनका यह भी कहना था कि सरकार को सभी एकाधिकार तथा व्यापार

पर लगे नियन्त्रण हटा देने चाहिए। कल-कारखानों के निमित्त नियम भी बनाने चाहिये। उसने राज्य की सम्पदा व्यापार नहीं अपितु श्रमिक बताया है।

आलोचकों का यह भी कहना है कि वाणिज्यवादियों के अनुकूल व्यापार संतुलन सम्बन्धी विचार भी भ्रामक तथा दुर्बल थे। यह कैसे संभव हो सकता है कि एक देश निरन्तर निर्यातक ही बना रहे, वह विदेशों से आयात करे ही नहीं। व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने में राज्य का संरक्षण आवश्यक है। मुक्त-व्यापार के समर्थक कहते हैं कि सरकार को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप ही नहीं करना चाहिये। साम्राज्यवाद के सन्दर्भ में ही उपनिवेशवाद आता है। वाणिज्यवाद के प्रभाव में आकर साम्राज्यवादी देश केवल उपनिवेशों को अपनी आय का साधन तथा आवश्यक कच्चे माल का निर्यातक ही समझते रहे। उनका उन्होंने भारी शोषण किया तथा उनके भले के लिए कुछ नहीं किया। परिणामतः उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तो इस वाद के आलोचक खूब बढ़ गये। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम के समय ब्रिटेन के वाणिज्यवाद की कटु आलोचन की गई। अतः वाणिज्यवाद का तब से ह्रास होने लग गया।

फ्रांस में भी वहां की राज्य क्रान्ति के उपरान्त वहां की सरकार ने वाणिज्यवाद सम्बन्धी नियमों को हटाकर अहस्तक्षेप की नीति अपना ली। परन्तु वहां की सरकार ने सीमा-शुल्क लगा कर फ्रान्स में निर्यात वस्तुओं को संरक्षण देने की नीति का परित्याग नहीं किया। नेपोलियन द्वारा प्रतिपादित 'प्रायद्विपीय प्रणाली' एक प्रकार से वाणिज्यवाद की ही सृष्टि थी। फ्रान्स की भांति जर्मनी में भी वाणिज्य पर राजकीय नियन्त्रण ही अधिक था। अतः वहां भी अहस्तक्षेप की नीति का पालन उस सीमा तक नहीं किया गया जितना कि ब्रिटेन में किया गया था। तथापि वहां भी परिर्वतन हुए और वाणिज्यवाद शिथिल पड़ गया। इसको शिथिल बनाने में एडम स्मिथ ने प्रमुख भूमिका निभाई। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में वाणिज्यवाद पर गहरा आघात किया। उन्होंने व्यापार के क्षेत्र में सरकार के नियन्त्रण की कटु आलोचना की। वे मुक्त-व्यापार के पक्के समर्थक थे। एडम स्मिथ के अलावा जर्मनी व इटली के निरकुंश शासन ने भी वाणिज्यवाद को प्रभावहीन ही बनाया। उन्नीसवीं सदी में यूरोप का जन मानस स्वतन्त्र व्यापार का पक्षधर हो गया था। इस कारण वह भी सरकार की संरक्षण नीति का विरोधी बन गया। वाणिज्यवादियों द्वारा प्रांरभ में सोने व चांदी पर जो अत्याधिक बल दिया गया था वही उसकी असफलता का कारण बन गया। स्वर्ण व चांदी ही जनसाधारण की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन नहीं बन सकते। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना भी इस सदी में बहुत प्रबल बन गयी थी। सामान्य लोग व्यापार में सरकार का नियन्त्रण पसन्द नहीं करते थे। इन्हीं कारणों से वाणिज्यवाद उन्नीसवीं सदी में ही अपना प्रभाव खो बैठा।

पूंजीवाद का उदय

पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त में यूरोप में जो नई व्यवस्था उभर रही थी उन्हें पूजीवाद कहा जाता है पूजीवाद के अन्तर्गत जिन औजारों व साधनों से वस्तुओं का उत्पादन होता है उन पर स्वामित्व व्यक्तिगत होता है और उत्पादन मुनाफा कमाने के लिए देता है: इस व्यवस्था के अर्न्तगत मजदूरों के पास कुछ नहीं होता वे केवल मजदूरी के लिए काम करते है।

परिभाषाः- प्रोफेसर ग्रेस ने पूजीवाद की परिभाषा इन शब्दों में दी ''इतिहास कार के लिए पूंजीवाद पूंजी के निवेश अथवा प्रयोग द्वारा जीविका कमाने की एक व्यवस्था है। प्रसिद्ध जर्मन विद्धान वर्नर सोर्म्बट ने अपनी पुस्तक (Modern Capitalism) में पूंजीवाद की परिभाषा के 172 बन्ध में उसके तीन पहलु भी-भावना संगठन और तकनीक की और ध्यान दिलाया है। उसके अलावा इसकी भावना अधिक से अधिक धन उयवा मुनाफा कमाना है, इसका संगठन विस्तृत होता है और तकनीक निश्चित योजना के अनुसार निर्धारित की जाती है।

पुजीवाद के लिय दो चीज महत्त्वपूर्ण है निजी पूंजी तथा निजी लाभ लावल ने पूंजीवाद को आर्थिक संगठन की एक प्रणाली बताया है जिसने मानुष निर्मित तथा प्रकृतिदत पूजी पर निजी स्वामित्व होता है तथा जिसका निजी लाभ के लिए अपयोग होता है।

पूंजीवाद की विशेषताएं

(i) पूंजीवादी प्रणाली मुख्यता एक निजी प्रणाली है जिसमें उत्पादन के अच्छि भाशा उपकरणों का उपयोग निजी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

(ii) उत्पाद के साधनों पर जिन व्यक्तियों का अधिकार होता है वे राजनयिक नियन्त्रण से मुक्त होते है तथा वे बाजार के लिए बिना किसी बाधा के वस्तुओं का उत्पादन कर सकते है।

(iii) उत्पादन का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है। इस उद्देश्य के लिए साधनों तथा वस्तुओं की कीमतों को ध्यान में रखकर उद्यमी साधनों का आवंटन विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में करते है।

पूँजीवाद के विकास को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है -(i) प्रारम्भिक पूँजीवाद (1200 ई. से 1750 ई०), (ii) पूर्ण पूँजीवाद (1750 ई. से 1914 ई०.), (iii) आधुनिक पूँजीवाद (1914 ई०. से अब तक)। यहां हम प्रारम्भिक पूँजीवाद पर ही विचार करेंगे ।

प्रारम्भिक पूँजीवाद अर्थव्यवस्था-

सामंती समाज मुख्यतः कृषि पर आधारित था तथा वहाँ कृषक वर्ग से उसके अधिशेष उत्पादन का अंश जबरदस्ती लिए जाने पर दबाव था। मुद्रा का प्रचलन अपेक्षाकृत कम था । किन्तु परवर्ती काल में मुद्रा का प्रचलन बढ़ता है । अब कृषक बाजार के लिए उत्पादन करने लगा था तथा अन्य उत्पादकों या स्वामियों के साथ उसके जो सम्बन्ध थे, वे सामाजिक प्रतिष्ठा या पद के अनुकम से नहीं अपितु संविदा द्वारा निर्धारित होने लगे । फलतः वाणिज्य केन्द्रित व्यापारिक स्वरुप के दिग्दर्शन हुए। इसके अतिरिक्त समाज के बड़े तबके को अपनी श्रम -शक्ति बेचने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इसका यह मतलब नहीं निकालना चाहिए कि सामंत काल में धन का अभाव था । विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के पास सोने-चाँदी की कमी नहीं थी किन्तु वह अनुपयोगी धन था। किन्तु व्यापार और उद्योगों के विकास होने के साथ ही यह स्थिति बदलती गई। सामन्ती व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई जिसमें धन का निवेश लाभ कमाने के लिए किया जाता है। इससे प्राप्त होने वाले लाभांशों को पुनः निवेशित करके और लाभ कमाया जाता है । इस प्रकार निवेशित किये जाने वाले धन को पूँजी कहा जाता है। पुराने तीन वर्गो- पादरियों, योद्धाओं तथा कृषकों एवं कामगारों के अतिरिक्त एक नया वर्ग - मध्यमवर्ग- का उदय हुआ। इस वर्ग का उदय व्यापार में तेजी से वृद्धि के साथ हुआ। संख्या में कम होने पर भी सम्पत्तिशाली होने के कारण इस वर्ग का समाज में महत्वपूर्ण स्थान होता गया ।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में हुई भौगोलिक खोजों अमेरिका के दो महाद्वीपों की खोज तथा पूर्वी देशों के लिए समुद्री मार्ग की खोज - ने व्यापार का स्वरुप ही बदल दिया। इन परिवर्तनों के साथ ही वस्तुओं की उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आया । मध्य युग के आरम्भ में कृषक साधारणतः अपनी आवश्यकताएँ स्थानीय स्तर पर निर्मित वस्तुओं से पूरी कर लेता था। जमीदारों एवं सम्पन्न वर्ग के लोगों की आवश्कताओं की आपूर्ति विभिन्न शिल्पों में दक्ष कृषिदासों द्वारा होती थी। ये शिल्पी संघों या श्रेणियों में संगठित होते थे। प्रत्येक शिल्प श्रेणी में दक्ष कारीगर (उस्ताद), नौसिखिये और वेतन पर काम करने वाले कारीगर अथवा मिस्त्री होते थे। किसी भी शिल्प को सीखने के लिए व्यक्ति को उस श्रेणी के उस्ताद का चेला बनना पड़ता था । कारीगर सीख चुकने के पश्चात या तो वह उस्ताद के अधीन मिस्त्री हो जाता था और पारिश्रमिक पर कार्य करता था अथवा शिल्प का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर वह स्वयं ही उस्ताद का बन जाता था। किन्तु व्यापार में वृद्धि के साथ वस्तुओं की माँग बढ़ गयी जिसे पूरा करना श्रेणी प्रणाली के लिए सम्भव नहं रहा । अतः धीरे-धीरे श्रेणी-प्रणाली लुप्त हो गयी और उसका स्थान पूँजीवादी व्यवस्था ने ले लिया। यह ध्यातव्य है कि श्रेणी प्रणाली के अन्तगर्त एक ही श्रेणी की इकाईयों के बीच अथवा एक ही इकाई के सदस्यों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव न होता था पतिस्पर्द्धा करने वालो को श्रेणी कार्य करने की अनुमति नहीं देती थी। प्रतिस्पर्धा के अभाव में कीमतें भी स्थिर रहती थी । किन्तु पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में ऐसा नहीं रहा। इस नयी अर्थव्यवस्था में असमानताओं एवं प्रतिस्पर्द्धा का प्रवेश हो गया।

नयी अर्थव्यवस्था के प्रारम्भिक दौर में गृह उत्पादन के पद्धति अर्थात घरेलू-उत्पादन प्रणाली का जन्म हुआ। इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापारी कारीगरों को कच्चा माल घर दे आते थे, जो अपने औजारों से घर पर ही उस माल से वस्तुएँ बनाते थे । वस्तुएँ तैयार हो जाने पर व्यापारी आकर उन्हें ले जाता था। अब पहले की भाँति कारीगरों को अपने माल को बेचने की स्वतंत्रता नहीं रह गई। यह स्मरणीय है कि विदेशी बाजार में बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए पूँजीपति व्यापारियों ने घरेलु उत्पादन प्रणाली को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया था। शिल्पियों को स्पष्ट निर्देश दिये जाते थे कि उन्हें किस प्रकार का माल बनाना है। इस पद्धति के दोषों के बावजूद, अल्परोजगार वाले श्रमिक या उनके

परिवार के सदस्य अपने सम्पूर्ण परिवार के गुजारे के लिए मजबूरन इस प्रकार के अवसरों को स्वीकार कर लिया करते थे। दूसरी ओर पूँजीपति-व्यापारी की दृष्टि से इस प्रकार के प्रबन्ध में लाभ अधिकाधिक था और खतरा कम से कम। बढ़ते हुए बाजार के युग में वह अल्प-रोजगार वाले ग्रामीण श्रमिक से लाभ उठा सकता था। इस प्रकार उक्त सभी तथ्यों ने पुरानी व्यवस्था को एवं पूँजीवादी दस्तकारी (मेंनूफैक्चर) के युग में अहम् भूमिका निभाई।

पूँजीवाद का विकास देशों में पहले शुरु हुआ जो शासन की दृष्टि से अपेक्षाकृत उदार थे। निरंकुश राज्य से सम्बन्धित शोध से स्पष्ट हो गया है कि राज्य जितना अधिक निरंकुश हुआ, उतना ही प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों का रक्षक बना। जिन देशों ने पूँजीवाद के विकास में नेतृत्व प्रदान किया, वहाँ या तो निरंकुश राजतन्त्र का विकास ही नहीं हुआ, जैसे नीदरलैण्ड; अथवा वहाँ के राजतंत्र का स्वरुप ऐसा था कि वहाँ यूरोप के अन्य भागों के समान कठोर नौकरशाही एवं सैनिक-तन्त्र का विकास नहीं हुआ, जैसे इग्लैण्ड में। इग्लैण्ड में कृषि के क्षेत्र में पूँजीवादी सम्बन्धों का आरम्भ 16वीं शताब्दी से हुआ, मठों के विध्वंस तथा वाणिज्योन्मुख नवीन अभिजात वर्ग के आविर्भाव से इन सम्बन्धों को और दृढ़ता मिली। नीदरलैण्ड में पूँजीवाद कृषि, पट्टेधारी व्यवस्था का परिणाम थी। नीदरलैण्ड में संयुक्त प्रान्तों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर सामंती अधिकारों को समाप्त कर दिया गया और छोटी-छोटी ज़मीनों की संख्या बढ़ गयी। इनमें से अनेक ज़मीने धनाढ्य बुजुआ वर्ग के हाथों में आ गईं। वे इन ज़मीनों के अल्पकालीन पट्टों पर देते थे और इस बात पर भी जोर देते थे कि उनमें खेती करते समय उत्पादन के आधुनिकतम तरीकों का उपयोग किया जाय। डच इंजीनियरों ने सिंचाई की उच्चस्तरीय तकनीकों का विकास किया। फलतः कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।[33] अधिक उत्पादन के कारण कृषि-क्षेत्र का अधिकांश भाग मुद्रा-अर्थव्यवस्था की परिधि में आ गया।

हम इंग्लैण्ड में सोलहवीं शताब्दी के दौरान पूँजीवाद बुजुआ वर्ग (व्यवसायी, व्यापारी, तथा नागरिक कर्मचारी) को उदित होते हुए देखते हैं। भूमि की बाड़बंधी प्रथा ने गिरजाघरों की सम्पत्ति के अधिग्रहण के साथ मिलकर विशाल ज़मीन-जायदादों में वृद्धि की तथा भू-स्वामियों और किसानों के मध्य सम्बन्धों को बदल दिया। ब्रिटेन में ग्रामीण-समाज जैसे-जैसे त्रिस्तरीय (ज़मींदार, लगान अदा करने वाला कृषक तथा भूमिहीन कृषि-मजदूर) बनता गया, वैसे-वैसे छोटे किसानों का लोप होता गया। फिर भी छोटे किसानों के लोप के लिए, केवल उनके खेतों की ज़मीनदारों द्वारा बेदखली को ही ज़िम्मेंदार नहीं ठहराया जा सकता है। जायदादों के विक्रय ने भी ग्रामीण इंग्लैण्ड में कृषि-सम्बन्धी और सामाजिक ढांचे के बदलाव में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। धीरे-धीरे भूमि की बेदखली से एक तिहाई कृषक वर्ग का लोप हो गया। इस संदर्भ में भूमि की खरीद का भी ध्यान दिया चाहिए। मूल्यों की वृद्धि, बाजार की स्थिति आदि कारणों से कुछ वर्ग के लोग भूमि खरीदने के अपेक्षा बेचने को विवश हुए। फलतः भूमि के अच्छे-खासे हिस्से को प्राप्त कर लेने वाले कुछ किसानों के अस्तित्व के कारण उच्च वर्ग की संख्या में वृद्धि हुई। कुल मिलाकर इंग्लैण्ड में पूँजीवाद के उदय में शहर में मण्डियों के विकास, अतःक्षेत्रीय और विदेशी व्यापार, मौद्रिक अर्थव्यवस्था का उदय, ऊन उद्योग में विस्तार, विस्तृत घरेलू बाजार का विकास आदि के साथ-साथ विकसित एवं गतिशील ग्रामीण समाज ने अहम् भूमिका अदा की।

सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर यूरोपीय समाज किस प्रकार परिवर्तित हुआ। इस बात को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद है। इस दिशा में पॉल स्वोजी, ताकाशाही, रॉडनी हिल्टन, क्रिस्टोफर हिल, पेरी एंडरसन, मॉरिस डॉब आदि विद्वानो ने शोध-कार्य किया। हेनरी पिरेन का यह मत कुछ आधुनिक आर्थिक इतिहसकारों को अधिक मान्य नहीं है कि पूँजीवाद के उदय में व्यापारिक पूँजीपति अथवा मध्ययुगीन स्वशासित नगरों ने निर्णायक भूमिका निभाई। उनके अनुसार यह कहना भी प्रासंगिक नहीं है कि सामंती अर्थव्यवस्था में मुद्रा का उपयोग न किया गया हो। एक आधुनिक मत यह है कि उत्तर मध्ययुगीन व्यापार ने एक सीमा तक ही सामंती उत्पादन पद्धति का विघटन किया। वस्तुतः आन्तरिक सामाजिक परिवर्तज के अभाव में विदेशी व्यापार नई व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकता था। हम यह देखते हैं कि इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड जैसे देशों में पूँजीवाद का आरम्भ पहले हुआ तो उसका कारण यह था कि वहाँ आंतरिक सामाजिक परिवर्तनों ने व्यापार और औपनिवेशिक विस्तार की भूमिका को अर्थव्यवस्था में स्वीकार करने के लिए पहले ही पृष्टभूमि बना दी थी। इसके विपरीत आंतरिक सामाजिक परिवर्तन के अभाव में विदेशी व्यापार ने पहले के समान ही परम्परागत उत्पादन सम्बन्ध को दृढ़ किया। इसके कारण स्पेन में आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद, पूँजीवाद का विकास उस समय न हो सका।

पूँजीवादी एवं सामंती अर्थव्यवस्था में अन्तर

पूँजीपति अपनी-अपनी सम्पदा को केवल जमा करके नहीं रखते या केवल उपभोग में नहीं लाते या सिफ्र दिखावे के लिए इस्तेमाल नहीं करते बल्कि मुनाफा कमाने के लिए उसका निवेश करते हैं। वस्तुओं का उत्पादन बाजार में बेचकर

मुनाफा कमाने के लिए होता है। यह व्यवस्था सामन्तवादी व्यवस्था के स्पष्टतः भिन्न है। सामन्तवादी व्यवस्था में वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय इस्तेमाल के लिए होता था। मुनाफा कमाने के लिए सम्पदा का निवेश नहीं होता था। सामन्तवाद के अन्तर्गत आर्थिक जीवन जड़वत् था क्योकि वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए होता था। बड़े बाजारों में बेचने के वास्ते वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए बेहतर साधनों के इस्तेमाल को प्रोत्साहन नहीं था। इसके विपरीत पूँजीवाद के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था बड़े बाजारों के लिए अधिकाधिक वस्तुएँ उत्पन्न करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तेजी से आगे बढ़ रही थी जिससे मुनाफा कमाया जा सके।

पूँजीवाद के मुख्य लक्षण-

(i) निजी सम्पति-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन, जैसे-भूमि, पूँजी आदि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानूनी तरीके से अपना कारखाना या कृषि-फार्म या खान स्थापित कर सकते हैं और उनको संचालित कर सकते है। इस अर्थव्यवस्था में सामान्यतः सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है। तथा निजी सम्पत्ति के स्वामी ही इसका उपयोग तय करते है। सरकार गैर-कानूनी ढंग की सम्पत्ति पर रोक भी लगाती है। इस व्यवस्था में बचत को बढ़ावा मिलती है।

(ii) उत्तराधिकार या विरासत- निजी सम्पत्ति का स्वामी अपनी मृत्यु के बाद अपनी सम्पत्ति किसी भी उत्तराधिकारी को देने का अधिकार रखता है। और वह उत्तराधिकारी सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार रखता है। निजी सम्पति के अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखने के लिए उत्तराधिकारी की व्यवस्था आवश्यक होती है। इससे पूँजीवाद को स्थायित्व मिलता है।

(iii) उद्यम की स्वतन्त्रता- इस प्रणाली में व्यवसाय चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। उत्पादन में भाग लेने वाले के रुप में व्यक्ति जिस तरह चाहे, जब चाहे और जहाँ चाहे, जीविका कमा सकता है। वह चाहे तो अपनी शक्तियों का अकेले उपयोग करे अथवा किसी दूसरे के साथ मिलकर साझेदारी करे या निगम का अंग बन जाये या किसी अन्य प्रकार के धंधे में लग जाए। श्रमिक के सन्दर्भ में उद्यम की स्वतन्त्रता का अर्थ है- व्यवसाय का काम-धन्धा चुनने की स्वतंत्रता। व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार कोई भी व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता रखता है, हालांकि साधनों व योग्यता के अभाव में सबको इसमें आवश्यक सफलता नहीं मिलती है।

(iv) उत्पादन में निजी लाभ का उद्देश्य- पूँजीवादी अर्थव्यवस्था लाभ के उद्देश्य से संचालित होती है तथा प्रत्येक उद्यमी अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है। उद्यमकर्ता उत्पादन के साधनों को इस प्रकार से संगठित करते है कि उनकी सहायता से उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं द्वारा उन्हें अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। लाभ के उद्देश्य के बिना निजी व्यापार नहीं हो सकता और निजी व्यापार के बिना पूँजीवाद का अस्तित्व नहीं रह सकता। उत्पादन का साधन उस स्थान व उपयोग में लगाया जाता है, जहाँ पर उसका प्रतिफल सर्वोच्च हो।

(v) उपयोगिता की सार्वभौमिकता-लाभ की प्रेरणा व उपभोक्ता की की पसन्द परस्पर जुड़े हुए हैं। लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक मिलता है जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं। अतः पूँजीवाद के संदर्भ में यह कहा जाता है कि उपभोक्ता एक राजा होता है। वह बाजार में किसी भी वस्तु व वस्तु निर्माता के भाग्य का निर्णय करता है। इस अर्थव्यवस्था में उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करतें हैं जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसंद करते हैं क्योंकि ऐसा करने से उनका मुनाफा अधिक होता है। इस प्रकार पूँजीवाद में उद्यम की स्वतंत्रता, लाभ की प्ररेणा व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता तीनों परस्पर एक दूसरे से मिले हुए पाये जाते हैं।

कुछ लोग उपभोक्ता की सार्वभौमिकता पर यह कहकर सन्देह प्रकट करते हैं कि (क) उपभोक्ता की आमदनी सीमित होने से उसकी तथाकथित सार्वभौमिकता काल्पनिक रह जाती है, (ख) वह विज्ञापन आदि देखकर उत्पादित माल में से चुनाव करता है इसलिए सार्वभौमिकता उसकी नहीं, बल्कि उत्पादक की होती है। इन तर्कों में कुछ सार अवश्य है, लेकिन हमें नहीं भूलना चाहिए कि अपनी सीमित आमदनी व विज्ञापन आदि के बावजूद उपभोक्ता चाहे तो किसी भी वस्तु को नापसन्द कर सकता है। जब अनेक उपभोक्ता ऐसा करते हैं तब उस वस्तु का भावी उत्पादन अवश्य प्रभावित होता है। इस प्रकार उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करते हैं जिन्हें उपभोक्ता चाहते हैं।

(vi) प्रतिस्पर्धा-उपभोक्तों में स्पर्धा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए होती हैं जबकि विक्रेताओं में [illegible] लिए होती है। समस्त क्रेता एवं समस्त विक्रेता मिलकर साधनों एवं वस्तुओं के भाव

निर्धारित करते हैं, अकेला क्रेता या विक्रेता के कार्य कीमतों को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। स्वरुप प्रतिस्पर्धा के फलस्वरुप उत्पादन में कार्यकुशलता भी आती है।

यूरोप में पूँजीवाद के उदय के कारण :

(क) धातुओं का अधिकाधिक दोहन-

लोहे का अधिक दोहन एवं परिणामस्वरुप अधिक उत्पादन पूँजीवादी प्रकिया का एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारक था, क्योंकि लोहा कृषि तथा उद्योग दोनों के लिए सबसे आवश्यक धातु था। सोना, चाँदी, तांबा, टीन और सीसा जैसे मूल्यवान धातुओं का उत्पादन भी बढ़ने लगा और खनन प्रविधियों में महत्वपूर्ण सुधार आ गया। लोगों ने गहरी खानों को उपयोग में लाना सीखा और खानों में पानी पंप करने और उनमें हवा पहुँचाने की युक्तियां निकालीं।

अमेरिकी खानों से प्रभूत मात्रा में सोना और चाँदी यूरोप में आया।[34] अधिक मात्रा में धातुओं के संग्रह ने सिक्कों के प्रयोग को बढ़ावा दिया। वस्तु-विनियम के स्थान पर सिक्कों के प्रयोग को बढ़ावा मिला जिससे अधिक धन जमा करना ज्यादा सरल हो गया। इसके अतिरिक्त जिसके पास धन था, उसने अपने ताकत में वृद्धि की। धन ने औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित किया किन्तु केवल सोना-चाँदी से किसी देश का विकास नहीं हो सकता था। यद्यपि सोलहवीं शताब्दी में उपनिवेशो से प्राप्त धन के कारण स्पेन समृद्ध बन गया था किन्तु इस अनुकूल स्थिति का लाभ वह अपनी उत्पादन व्यवस्था में त्रुटियों के कारण उठा नहीं पाया। इन त्रुटियों में कुशल श्रमिकों की कमी, शिल्प और व्यापार की प्रतिकूल परिस्थितियाँ, श्रमिक संघों की हठधर्मिता तथा प्रतिबन्धात्मक नीतियों को शामिल किया जा सकता है। परिणाम यह हुआ कि स्वदेश में माँग बढ़ने के बावजूद उत्पादन को बढ़ाया नहीं जा सका।

(ख) जल-परिवहन में सुधार एवं नये देशों की खोज-

जल परिवहन में व्यापक परिवर्तन हुए। अब कुतुबनुमा की सहायता से समुद्र में बहुत दूर-दूर तक यात्राएं करना सम्भव हो गया और नयी किस्म के बादबानों का चलन शुरु हुआ, जिनसे हवा के खिलाफ भी जाया जा सकता था। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य यूरोपीयों ने अनेक नये देशों को खोज निकाला तथा अज्ञात मार्ग प्रकाश में आये।

जल परिवहन में हुए सुधारों एवं नये देशों की खोज के परिणामस्वरुप उपनिवेशों की स्थापना सम्भव हुई उससे व्यापार का विस्तार और पूँजी का संचय अभूतपूर्व रुप से हुआ।

(ग) श्रेणियों का कमजोर होना तथा व्यावसायिक वर्ग का शक्तिशाली होना -

उत्पादन की उन्नत प्रविधियों से श्रम-उत्पादकता का स्तर ऊपर उठा लेकिन मध्ययुगीन उद्योगों के संगठनात्मक स्वरुप ऐसे नहीं थे कि आविष्कारों या सुधारों को प्रोत्साहित करते। मध्ययुगीन श्रेणियाँ (शिल्प-संघ या गिल्ड) इस डर से प्रविधियों या श्रम संगठन के सुधारों में बाधाएं खड़ी करती थी कि कहीं उनके कारण कोई श्रेणी सदस्य दूसरों से अधिक धनी न हो जाये। 35 किन्तु धीरे-धीरे श्रेणी प्रणाली में नवीन लक्षण प्रकट होने लगे। विभिन्न उद्योगों के उच्चस्तर,श्रम-उत्पादकता और उत्पादन के परिणाम में काफी वृद्धि इस बात की सूचक थी कि उत्पादन प्रक्रियाओं का कई अलग-अलग कार्यों अथवा प्रक्रियाओं में विभाजन हो गया था। उदाहरणार्थ- फ्लोरेन्सी वस्त्र उद्योग में बुनकरों, कातनेवालों, रंगसाजों आदि की श्रेणियां स्थापित होती गयी थीं। इस प्राकर विभिन्न श्रेणियों में श्रम-विभाजन हो गया था। परिणाम स्वरुप श्रेणियां कमजोर हुई और व्यापारियों पर अधिक निर्भर रहने लगीं।

पहले साधन-सम्पन्न व्यापारी प्रायः एक या अधिक श्रेणियों से माल थोक में खरीद लेते थे और फिर उसे बिक्री तथा खपत के स्थानों पर पहुंचाने और बेचने की व्यवस्था भी करते थे। किन्तु बाद में उन्होंने कच्चे माल और फिर श्रम साधनों के प्रदाय को भी अपने हाथों में लेना शुरु कर दिया और श्रेणी सदस्य व्यापारियों पर अधिकाधिक आश्रित होते चले गये। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापारी दस्तकारों को उनके काम के एवेज में कम से कम परिश्रमिक देते थे और उन्हें प्रदत्त कच्चे माल, औजारों तथा अन्य सुविधाओं के लिए भारी ब्याज लेते थे और अंत में उनकी बनायी चीजों को अधिक से अधिक से कीमत पर बेचते थे। कुछ ही समय में कारीगरों ने अपने को व्यापारियों पर अधिक निर्भर पाया। विशेषकर जब व्यापारियों ने मौके पर ही उत्पादन की देखरेख करना भी शुरू कर दिया, तब तो यह निर्भरता और बढ़ गयी। पूंजीपति द्वारा उत्पादन

के अधीक्षण में भाग लेने तथा उत्पादन में निहित सभी कार्यो को अपने प्रत्यक्ष अधीक्षण के नीचे किसी निश्चित स्थान पर केन्दीत कर लेने के परिणामस्वरुप विनिर्माणशाला (मैन्युफेक्टरी) का उदय हुआ। विनिर्माणशाला पूँजीवादी उत्पादन की एक प्रारम्भिक संख्या थी। जो पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में यूरोप में काफी व्यापक हो गयी। इन सब बातो ने व्यापारी वर्ग को अधिक शक्तिशाली बनाकर पूँजीवाद की आधारशिला रखी।

(घ) उन्नत उपकरण-

उन्नत उपकरणों के निर्माण ने भी पूँजीवाद के आरंभ में योगदान दिया। विनिर्माणशाला के शिल्पियों के हाथ में जितने बेहतर औजार आते गये और ये औजार शिल्पियों द्वारा की जाने वाली किया-विशेष के जितने उपयुक्त होते गये, उतना ही उस किया-विशेष में शिल्पियों द्वारा लगाया जाने वाला समय कम होता गया और वे उतना ही अधिक उत्पादन भी करने लगे ।

उन्नत उपकरणों के निर्माण में जिस बात ने महत्पूर्ण भूमिका निभायी वह थी- प्रतिद्वन्द्विता। विनिर्माणशालाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। प्रायः हर विनिर्माणशाला के पड़ौस में ही उसका प्रतिद्वन्द्वी भी होता था, जो कम लागत पर बेहतर सामान बनाने की कोशिश करता था, क्योंकि इसी तरह प्रतिद्वन्द्विता में टिका जा सकता था । इसलिए ही पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली सदैव उत्पादन साधनों में महत्वपूर्ण सुधारों और उत्पादन प्रविधियों में व्यापक परिवर्तन के साथ जुड़ी रही है।

(च) बैकिंग प्रणाली-

आधुनिक युग के आरम्भ में व्यवसाय का परिणाम बढ़ जाने के कारण व्यवसाय-पद्धतियों में सुधार अपेक्षित था। फलतः अधिक संख्या में अच्छे बैंकों की स्थापना हुई। व्यवसाय के अधिक बढ़ने के कारण लेन-देन का अधिकांश भाग न सिक्कों द्वारा, न कागजी मुद्रा द्वारा अपितु बैंक साख से सम्भव हुआ। बैंकिग की जड़े तो यद्यपि मध्य युग के पिछले भाग में पड़ी थी किन्तु पूँजीतंत्र में महाजनी एक बड़ा व्यवसाय बन गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में फ्लोरेंस के मेंडिसी परिवार ने पहली महान बैंकिग प्रणाली की स्थापना की। शीघ्र ही यूरोप के सभी मुख्य केन्द्रों में मेंडिसी बैकों की स्थापना हो गयी। सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड, स्पेन, हालैण्ड, आस्ट्रिया व स्वीडन में भी में भी बैंकिंग संस्थाए स्थापित हो गईं। बैंक अपने यहाँ जमा धन को दूसरे व्यवसायियों को, जिन्हें धन की आवश्यकता हुई, उधार देकर पूँजीतंत्र को बढ़ाने में सहायक हुए। इसके अतिरिक्त बैंकों के अधिक व्यापक एवं विकसित हो जाने के कारण बैंकों ने विदेशों में व्यापारियों क़ो बिलों का भुगतान ठीक-ठीक सुविधाजनक तरीके से करने में सहायता प्रदान की। इस तरह विकसित बैंकिग प्रणाली ने पूँजीवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

(छ) संयुक्त पूँजी कम्पनी

आधुनिक काल के आरम्भ में यूरोप में करोड़पति तो बहुत न थे किन्तु ऐसे बहुत से लोग थे, जो समुद्र पार व्यापार में करोड़ों रूपये कमाने के स्वप्न देखते थे। ऐसे उपक्रमों को उससे अधिक पूँजी की आवश्यकता थी जितनी अधिकांश व्यवसायियों के पास होती थी। इसलिए उन्होंने एक तरह का व्यापार-संगठन 'संयुक्त पूँजी कम्पनी' बनाया, जिसने उन्हें हजारों लोगों की बचतों कों एकत्र करने की क्षमता दे दी। इन विनियोजकों को अपनी बचतों के बदले कम्पनी के पूँजी के हिस्से (शेयर) दिये जाते थे। जितने हिस्से के वे मालिक होते थे, उनकी संख्या के अनुपात में उन्हें लाभांश मिलता था। अंशधारी (शेयर होल्डर) कम्पनी का प्रबन्ध थोडे से लोगों के समुदाय (प्रबंधक मंडल), जिन्हें वे चुनते, पर छोड़ देते थे। इंग्लैण्ड की 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' इसी प्रकार की एक संयुक्त पूँजी कम्पनी थी, जो 1600 ई. में स्थापित हुई थी। अंशधारी अपने अंशो की खरीद -फरोख्त कर सकते थे।

ऐसी संयुक्त पूँजी कम्पनियों की स्थापना पन्द्रहवीं शताब्दी में पहले जर्मनी और इटली में हुई और फिर अगली शताब्दी में नीदरलैण्ड और इंग्लैण्ड में बहुत प्रचलित हो गई। इंग्लैण्ड का पहला संयुक्त उद्यम और गुयाना के लिए 1550 से प्रारम्भ होने वाले दशक में शुरू हुआ। सन् 1600 में इस तरह की लगभग 12 संयुक्त पूँजी कम्पनियाँ इंग्लैण्ड में थीं।

ऐसी कम्पनियों का संगठन अभी आरम्भिक अवस्था में ही था। व्यापारिक कम्पनियों केवल एक यात्र के लिए ही माल देती थीं। यात्रा पूरी होने पर लाभांश का भुगतान पूँजी और लाभ के रूप में होता था। धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन आया और दीर्घकाल के लिए इनके अस्तित्व को बनाए रखा गया। महारानी एलिजाबेथ के समय इन कम्पनियों को विशेष अनुमति पत्र दिये गये, जिन्हें चार्टर कहा जाता था, जो एक निश्चित अवधि तथा निश्चित क्षेत्र के लिए होता था। विशेष परिस्थितियों में इन कम्पनियों को अपने व्यापारिक हितों की विदेशियों से सुरक्षा करने के लिए शक्ति प्रयोग की अनुमति भी थी। इन नई चार्टर कम्पनियों ने शीघ्र ही व्यावसायिक विजेताओं के व्यापार को ठप्प कर दिया।

संयुक्त पूँजी कम्पनी का उदय एक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके अन्तर्गत व्यापारियों का कुछ खास क्षेत्रों में व्यापार करने का एकाधिकार मिला। इससे बड़ा लाभ यह हुआ कि उन्होंने बड़ी संख्या में लोगों की बचत का फायदा उठाया और बड़े उद्यम की स्थापना लायक रकम जमा कर ली। इस प्रकार 'सयुक्त पूँजी कम्पनी' के विचार ने पूँजीवाद को उर्वरक भूमि प्रदान की।

(ज) बीमा प्रणाली

बीमा का विचार आधुनिक काल के आरम्भ में विकसित हुआ। जोखिम को कम करके बीमा ने प्रारम्भिक पूँजीतन्त्र का पोषण किया क्योकि इससे पूर्व यदि व्यवसायी का कोई बड़ा 'जहाजी-लदान' मार्ग में नष्ट हो जाता तो उसे भारी हानि होती थी। लेकिन बीमा योजना के बाद यदि व्यापारी का लदान नष्ट हो जाता था, तो बीमा कम्पनी उसके नुकसान की भरपाई करती थी। बीमादार, बीमा योजना के अन्तर्गत एक निश्चित राशि, जा 'प्रीमियम' कहलाती है, बीमा कम्पनी को देता है। बीमा कम्पनियाँ ऐसा इसलिए कर पाती है क्योंकि अधिकांशतः लदान नष्ट नहीं होते।

पूंजीवाद का प्रभाव

(i) समाज पर

पूँजीवाद के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप समाज की संरचना में परिवर्तन आने लगे। उसके उदय के साथ दो नये वर्ग पैदा हुए-बुजर्आ (पूँजीपति वर्ग), जिसका उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व था, और सर्वहारा (प्रालीटेरियेट), जिसके पास ये साधन नहीं थे और इसलिए उसे अपनी श्रम-शक्ति को बेचना पड़ता था।

पूँजी के विकास ने लोगों को जबरन दास बनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। इंग्लैण्ड में एडवर्ड षष्ठ ने 1547 ई. में एक कानून जारी किया, जिसके अनुसार काम से बेचने वाले सभी लोगों को उन व्यक्तियों का दास बना दिया जाता था जो उनकी आवारागर्दी की रिपोर्ट करते थे। लोगों को, जिसमें किसान और मजदूर थे, आवारागर्दी और कंगालों की कतारों में शामिल हाने के लिए विवश होना पड़ा क्योंकि प्रारम्भिक पूँजीवाद ने किसानों का स्वत्वहरण कर दिया था तथा दस्तकारों की तबाही कर दी थी।

(ii) कृषि पर

पूँजी-तंत्र के विकास के साथ पूँजी की अधिक आवश्यकता महसूस की जाने लगी ताकि उसका विनियोग हो सके। इंग्लैण्ड में बहुत से भूमिपतियों ने, जो पहले कृषि-उपज को लगान के रूप में लेते थे, अब लगान के रूप में नकद माँगना शुरू कर दिया। अधिकांश भूमिधारी या पट्टेदार (टेनैन्ट) नकद के रूप में ऊँचे लगान चुकाने में समर्थ नहीं थे। इस तरह उनसे वे जमीनें छिन गयीं जिन्हें वे ठेकों पर जोतते थे। इसलिए बहुत से कृषक या तो भाड़े के खेतिहर मजदूर बन गये या बेकार हो गये।

शनैः शनैः जमीन प्रभावशाली ज़मीदारों के हाथों में पहुँच गयी थी जो मजदूरों की सहायता से काश्त करने के लिए पूँजीपति भू-स्वामियों को लगान पर देते थे। इस तरह कृषि में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

प्रारम्भिक पूँजीवातद से किसानों पर हुए प्रभाव को इंग्लैण्ड के उदाहरण से आसानी से समझा जा सकता है। पर्याप्त वर्षा व नमी के कारण इंग्लैण्ड में हरे-भरे चारागाहों का प्राचुर्य था। लिहाजा अंग्रेज भेड़ों के पालन और ऊन

के निर्यात से खूब धन कमाते आये थे। ऊनी वस्त्रों की मांग बढ़ने से से ऊन ज्यादा महंगा हो गया और इसलिए पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक अंग्रेज व्यापारियों ने ऊनी कपड़े के उत्पादन के लिए अपनी खुद की विनिर्माणशालाएँ बनाना शुरू कर दिया। ऊन की माँग बढ़ती ही चली गयी। और अंग्रेज शासक-वर्ग के प्रतिनिधियों ने अपने लाभदायी ऊन उत्पादन का प्रसार करने के लिए किसानों को उनकी जमीनों से बेदखल कर दिया। इस तरह छीनी जमीन की बाड़बन्दी की ताकि और कोई उसे उपयोग में न ला सके, और उसमें भेड़ों के बड़े-बड़े रेवड़ों को रखना शुरू कर दिया। इन्हीं परिस्थितियों में सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान 'टामस मोर' ने लिखा था, 'इंग्लैण्ड में भेड़ें लोगों को खा रही है।' इस प्रकार बर्बाद किये हुए किसान शहरों का रास्ता पकड़ते थे, जहाँ वे विनिर्माणशालाओं में काम पाने की कोशिश करते थे।

(iii) उद्योग पर-

व्यवसायी अधिक लाभ की दृष्टि से कच्चे माल को बड़ी मात्रा में खरीद लेते थे। इस माल को वे उन कारीगरों के घरों में बाँट देते जिन्हें पक्का माल तैयार करने के लिए उनसे मजदूरी मिलती थी। जो पूँजीपति इस प्रकार घरों पर काम करने वाले कारीगरों को काम सौंपते, वे जोखिम लेते थे और उनका यत्न यह रहता था कि माल बिक जाये। स्पष्टः इस 'घरेलू पद्धति' ने उत्पादन को बढ़ाया। लेकिन इसमें नियोक्ता और श्रमिक के बीच उतना घनिष्ठ सम्बन्ध न था जितना श्रेणी पद्धति में होता था। श्रेणी के कारीगर प्रायः अपने उत्पादनों के ग्राहकों से मिलते थे। घर पर काम करने वाले कारीगर साधारणतः ऐसा कभी न करते थे। इस घरेलू प्रणाली ने श्रेणियों को शीघ्र ही बाजार में धकेल दिया, जो उत्पादन के तरीकों को संसार की माँग के अनुसार बदलने में अक्षम या अनिच्छुक थी। कालान्तर में घरेलू पद्धति को भी कारखाना पद्धति ने व्यापार से बाहर निकाल दिया।

(iv) शासन पर-

अधिकांश राष्ट्र आज इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि अन्य राष्ट्र निर्धन हैं तो वे स्वयं भी स्थायी समृद्धि का उपभोग नहीं कर सकते। आधुनिक काल के प्रारम्भ में राष्ट्रों की मनोवृति उससे ठीक विपरीत थी। राजा और व्यवसायी मिलकर अन्य राष्ट्रों को हानि पहुँचाकर अपने राष्ट्र को धनी बनाने का यत्न करते थे। राजाओं ने इस बात को समझ लिया था कि समद्ध व्यवसायी वर्ग राजाओं के लिए आवश्यक सेना और नौ-सेना के पोषणार्थ भारी कर दे पाने में समर्थ हैं। व्यवसायी लोग समझ चुके थे कि सशक्त सेना और नौ सेना उन्हें संसार के व्यापार का बड़ा अंश प्राप्त कराने में समर्थ होगी। आधुनिक काल के प्रारम्भ में राजाओं और व्यवसायी वर्ग का यह विश्वास था कि केवल सोना और चाँदी के संचित भण्डार देश को धनी बना सकते हैं। इसलिए प्रत्येक शासन ने सोना और चाँदी को अपने देश की ओर आकृष्ट करने और अपने देश से उनको बाहर जाने से रोकने के लिए सिद्धान्त बनाये। उनमें से कुछ सिद्धान्त इस प्रकार थे :-(i) अधिक निर्यात कम आयात। (ii) अधिक आयात-कर लगाते हुए विदेशी माल की खरीद को निरूत्साहित करना। (iii) स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहित करना। (iv) सोना, चाँदी, कच्चे माल और बाजार के लिए उपनिवेश प्राप्त करना। इस प्रकार व्यापार और उद्योग को नियमित करके सोना और चाँदी प्राप्त करने की योजना वाणिज्यवाद (मर्केन्टाइलिज्म) कहलाती है। पूँजीपतियों द्वारा आधुनिक काल के आरम्भ में शासन पर प्रभाव डालने का वाणिज्यवाद का समर्थन ही एक मात्र तरीका नहीं था। उन्होंने सामन्त-तंत्र और विदेशी प्रतिद्वन्द्विता को कुचलने में राजाओं का समर्थन करना भी शुरू कर दिया। पर जब राजाओं ने अपनी अपरिमित शक्ति का प्रयोग कर व्यवसाय पर अतिशय कर लगाना शुरू कर दिया, तब क्रान्तियाँ भड़क गईं। इस प्रकार पूँजीपतियों ने लोकतन्त्र के पक्ष की सहायता की।

अध्याय : 3 निरंकुश राजतन्त्र राज्यों का उदय फ्रांस, स्पेन और इंग्लैण्ड
Rise of the Absolutist State, France, Spain, and Britain

राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान आधुनिक काल की एक युग प्रर्वतक घटना थी। मध्य युग में चारों तरफ सामन्तवाद का प्रभुत्व था। सामन्त राजा की ही तरह अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करते थे तथा एक तरह से स्वतन्त्र ही थे। इस व्यवस्था के तहत राष्ट्र का कोई महत्व नहीं था। एक ही राष्ट्र अनेक टुकड़ों में बटाँ हुआ था जिनमें संगठन का अभाव था। लेकिन पन्द्रहवीं शताब्दी में यह व्यवस्था टूटने लगी थी और इसका स्थान राष्ट्रीय भावना ने ले लिया। यहीं से राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान शुरु हुआ

राष्ट्र-राज्यों के उदय का अध्ययन इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि यह अनेक घटनाओं एवं विचारों को प्रभावित करता है। इसने सामंत काल की अत्याधिक अव्यवस्था व अराजकता को समाप्त कर दिया। सामन्तवाद को नष्ट करने के साथ-साथ राष्ट्र-राज्यों ने आर्थिक विकास में बड़ा योगदान दिया। उत्पादन के लिए सुधरे हुए तरीकों का इस्तेमाल हुआ और तरीकों में सुधार हुए। राष्ट्र-राज्यों के उदय के कारण राष्ट्रों की सीमाएँ अधिक तर्क-संगत हो गईं। राष्ट्र-राज्य एक संस्कृति के व्यक्तियों को संगठित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुए। अपने राष्ट्र के प्रति निष्ठा का विकास हुआ।

इस बात में कोई शक नहीं होना चाहिये कि रोमन साम्राज्य एंव पोपशाही की अवनति के परिणामस्वरूप जनता की शक्ति व महत्व में वृद्धि होने लगी। धीरे-धीरे नगर राज्यों में लोकतान्त्रिक आन्दोलन आरम्भ हुए, सामन्तों के पुराने अधिकार लुप्त होने लगे, किसानों के विद्रोह शुरू हो गये एवं जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में जन-आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। यद्यपि जन-आन्दोलन सफल न हुए रचनात्मक उद्देश्यों एवं सामूहिक तथा सुदृढ़ व्यस्थाओं की कमी थी। इसके बावजूद पुरानी राजनीतिक संस्थाएँ एवं व्यवस्थाएँ नष्ट-भ्रष्ट होने लगी और राष्ट्रों का उत्थान सम्भव हुआ। मध्ययुगीन यूरोप के विभिन्न देशों के सामन्तों में परस्पर समता एवं भ्रातृत्व-एकता तो थी, किन्तु उनमें राष्ट्रीयता या देश-भक्ति जैसी कोई चीज न थी। साधारण लोगों के उत्थान ने इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। अब देश के निवासियों में सम-हित तथा राष्ट्रीय एकता की भावनाएँ पल्लवित होने लगी। परिणामस्वरूप कालान्तर में यूरोप में साम्राज्य के स्थान पर अनेक स्वतन्त्र शक्तिशाली राष्ट्र-राज्यों का उदय हुआ।

इस प्रकार आधुनिक युग की शुरुआत में यूरोप के राजनीतिक धरातल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। यूरोप में ही नहीं विश्व में भी अनेक स्थानों पर निरंकुशवाद का उदय हो रहा था। पश्चिमी यूरोप में नये एवं सबल राजतन्त्रीय राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान तेजी से हो रहा था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि पश्चिमी यूरोपीय राष्ट्रों में राजनीतिक संगठन, राष्ट्रीय एकता, देशभक्ति तथा सुदृढ़ राजतन्त्रों की प्रगति हो रही थी। परन्तु मध्य, दक्षिणी एंव पूर्व यूरोप के राज्य अभी भी उतने संगठित एवं सशक्त न हो पाये जितने पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र। वे राजनीतिक अनैक्यता, अराजकता तथा अविकसित व्यवस्थाओं के कारण असम्बद्ध राज्य बने हुए थे।

निरंकुशवाद की विशेषताएं-

(i) निरंकुश तन्त्र में शासक अथवा राजा ही सर्वोच्च होता है। वह सेना तथा अन्य बड़े अफसरों की सहायता से शासन कार्य चलाता है किन्तु उस पर सामान्यत कोई अंकुश नहीं होता है। शासक ही अन्तिम रूप से कानून का निर्माण

करने वाला होता है। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में शासक पर कोई कानून लागू नहीं होता। उसका विरोध करने का न तो किसी को अधिकार होता है और न ऐसी संस्थाएँ होती हैं जहाँ उसके विरोधी अपना विमत प्रकट कर सकें।

(ii) सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप में लगभग सभी राजा अपनी नीतियों को सेना, अधिकारियों एवं गुप्त पुलिस की सहायता से कार्यान्वित करते थे। कई बार लोगों को बिना मुकदमा चलाए ही जेल में बन्द कर दिया जाता था एवं जनता के अधिकारों की खुले आम उपेक्षा की जाती थी।

(iii) इस युग में राजा सेना की सहायता से शासन परिवर्तन करके शक्ति प्राप्त नहीं करता था, बल्कि राजतंत्र से सम्बन्धित होने के कारण ही अपने पद को प्राप्त करता था, निरंकुश राजाओं ने मध्यकालीन संस्थाओं को तो समाप्त नहीं किया, परन्तु नई संस्थाएँ स्थापित कर उनकी सहायता से शासन कार्य चलाया।

(iv) निरंकुश राजाओं ने केवल राजभक्त सामन्तों की नियुक्तियाँ कीं। रूस और प्रशा में निम्न श्रेणी के लोगों को अधिक सामन्त बनाया गया ताकि वे सदा राजा के साथ रहें। फ्रांस में सामन्तों का पद धन के आधार पर बिकने लगा था। प्रशा में पद एवं खिताब बेचे जाने लगे थे।

(v) ऐसा समझा जाता था कि राजा और जनता के बीच में एक मूक समझौता है, जिसके आधार पर राजा अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई राजा की अवहेलना या विरोध कर सकता है। सत्रहवीं सदी में यूरोप के प्रभुत्व शासक अपने आपको जनता का पहला सेवक कहते थे, परन्तु उन्होंने कभी अपनी प्रजा की इच्छाओं की परवाह नहीं की। पहला सेवक से उनका तात्पर्य, अपनी निजी आवश्यकताओं को गौण कर, राज्य की पूर्ण सेवा करना था। आस्ट्रिया का सम्राट जोसेफ द्वितीय (1765-90) ई. और रूस की शासिका कैथरीन द्वितीय (1762-96)ई. जिन्हें प्रबुद्ध शासकों में अग्रणी माना जाता है, अपने समय के शक्तिशाली निरंकुश राजा थे।

(vi) नौकरी पेशा वर्ग की स्थापना शासकों द्वारा की गई। इस वर्ग में दो प्रकार के पद थे- एक प्रशासनिक, दूसरा सैनिक। कुछ देशों में नौकरी पेशा वर्ग के सदस्य कुलीन न होकर साधारण जनता में से भी लिए जाते थे ताकि वे राजा का विरोध न कर सकें। प्रशासनिक पद बाजार के सामान की तरह खरीदे भी जाने लगे थे। इसके अतिरिक्त, मेंधावी व्यक्तियों को सीधे या प्रतियोगी परीक्षा या अन्य तरीके से भी सरकार में शामिल किया जाता था।

(vii) इस युग में राजा एवं एस्टेट (प्रतिनिधि संस्था) के बीच संघर्ष भी चले। पश्चिमि यूरोप के सभी देशों में एस्टेट की स्थापना हो चुकी थी। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी आदि देशों में कर लगाने व कानून बनाने की शक्ति को लेकर राजा एवं प्रतिनिधि संस्थाओं के मध्य झगड़े चलते रहे। कुछ शासकों ने प्रतिनिधि संस्थाओं की पूर्ण अवहेलना कर दी।

(viii) निरंकुशवाद की एक और विशेषता वाणिज्यवाद थी। जैसे-जैसे शासक की शक्ति बढ़ी, वाणिज्यवाद भी बढ़ता गया। वाणिज्यवाद एक प्रकार का आर्थिक युद्ध था जिसमें एक राज्य स्वयं आत्म-निर्भर होकर, दूसरे देशों को अपने ऊपर आर्थिक रूप से निर्भर होने के लिये प्रेरित करता था। इस नीति के अन्तर्गत अपने देश के उद्योग-धन्धों को बढ़ावा देना और वस्तुओं के आयात को कम करना था। आस्ट्रिया का सम्राट जोसेफ द्वितीय एवं प्रशा का सम्राट फ्रेडरिक महान् (1740-86) ने उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए वाणिज्यवाद की नीति का अनुसरण किया।

नवीन निरकुंश राजतन्त्रों के उदय के कारण-

प्रश्न यह उठता है कि नवीन निरंकुश राजतन्त्र के विकास में कौन से महत्वपूर्ण तत्व क्रियाशील थे ? (i) मध्ययुगीन धर्मयुद्धों ने सामन्त-तन्त्र को दुर्बल कर राजाओं की शक्ति को बढ़ाया। (ii) व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के साथ-साथ मध्यम वर्ग की सामाजिक-आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती चली गयी एवं मध्यम वर्ग ने अपने व्यापार-वाणिज्य के उत्थान तथा सुरक्षा हेतु सबल राजतन्त्र के स्थापन में बड़ा सक्रिय सहयोग दिया। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य था। मध्यम वर्ग ने सामन्तों के विरुद्ध सुदृढ़ राजतन्त्रों की बड़ी सेवाएँ कीं एवं राष्ट्रीयता की भावना का सृजन किया। इसके बदले में राजाओं ने व्यापार एवं वाणिज्य को संरक्षण प्रदान किया।[5] (iii) सबल राजतन्त्र के प्रति चर्च का विरोध क्षीण हो रहा था। अब चर्च ने सामन्ती

अराजकता के विरुद्ध राजतन्त्र का समर्थन किया। (iv) राष्ट्रीयता का उत्थान राजतन्त्रों के उत्कर्ष का प्रधान कारण था। धर्म सुधार ने राष्ट्रीयता की भावना को जागृत किया। जो सभ्यता पहले धर्म-प्रधान थी, वह अब राष्ट्र-प्रधान बन गई। मठों के टूटने से राष्ट्रीय राज्यों की आय तथा शक्ति में वृद्धि हुई। व्यापार आदि के सम्बन्ध में धार्मिक बन्धन टूट गये। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता धर्म-निरपेक्ष होती गई। धर्म का महत्व कम होने से भाषा परम्परा और जातीय एकता ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया। इससे राष्ट्रीयता की भावना विशेष रूप से जागृत हुई और राज्य-सीमा निश्चित करने में अधिक सुविधा हो गई। प्रत्येक राज्य में स्वतन्त्र रूप से भाषा समृद्ध होने लगी और साहित्य में वहां की घटनाओं को विशेष महत्व दिया जाने लगा। इससे भी राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास हुआ। नवीन भौगोलिक खोजों ने भी प्रत्येक देश के गौरव तथा वैभव को बढ़ाकर राष्ट्रीय भावना को सबल बनाया। इस प्रकार राष्ट्रीयता सशक्त राजतन्त्रों का आधार स्तम्भ सिद्ध हुई। (v) निरंकुश राजतन्त्र के विकास में राज्य के 'दवीय उत्पत्ति' के सिद्धान्त ने बड़ा योगदान दिया। इससे राजाओं को दैवी अधिकार प्राप्त हो गये। मध्यकालीन राजाओं व पोप के बीच संघर्ष में, कुछ लोगों ने इस तथ्य पर जोर दिया कि पोप की भाँति राजाओं को भी ईश्वर ने यह आज्ञा दी कि वे जनता पर शासन करें। इन दैवी अधिकारों का सहारा लेकर राजाओं ने अपनी शक्ति का विस्तार किया। इंग्लैण्ड के पहले दो स्टुअर्ट शासक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। फ्रांस के लुई चौदहवें ने भी इसी सिद्धान्त में अटूट विश्वास व्यक्त किया। (vi) पन्द्रहवीं शताब्दी में रोमन कानूनों में लोगों की रुचि जागृत हुई और इसका अध्ययन होने लगा। रोमन काननू के अनुसार राजा निरंकुश शासन कर सकता था। इसलिये रोमन कानून के अध्ययन से राजा के प्रति भक्ति बढ़ी। (vii) पुनरुत्थान एवं धर्म सुधार काल के कुछ विद्वान लेखकों ने भी राजाओं के हाथों को सुदृढ करने में सहयोग दिया। इटालियन लेखक मेंकियावेली, फ्रांसीसी लेखक बोडिन और अंग्रेजी लेखक हॉब्स ने क्रमशः दी प्रिंस, 'दि स्टेट' और लेवियाथन नामक पुस्तकें लिखीं। इन लेखकों ने शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र का पूर्ण समर्थन किया।

प्रमुख निरंकुश राजतन्त्र

फ्रांस-

फ्रांस में विकास का तरीका बहुत भिन्न था। फ्रांस के पास समुद्रपार साम्राज्य का वह लाभ नहीं था जो स्पेन के पास था, किन्तु फ्रांस में स्पेन के समान यह समस्या भी नहीं थी कि पृथक-पृथक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं वाले बहुत से राज्यों को एक ही राज्य के अधीन संगठित कैसे किया जाए।

फ्रांस में निरंकुश राजकीय सत्ता के इस कारक से बहुत सहायता मिली कि वहाँ राजतंत्र वह संस्था बन गई जिसको केंद्र बनाकर विदेशी हस्तक्षेप एवं आंतरिक अव्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष किया गया। मध्ययुग के अंतिम चरण में (1338-1453) दक्षिणी पश्चिमी फ्रांस में आंग्ल राजाओं को खदेड़ने के लिए जो संघर्ष (जिसे 'शत् वर्षीय युद्ध कहा है) किया गया उसने फ्रांस के राजनीतिक स्वरूप को ढालने में बहुत मदद की। जिस समय जॉन ऑफ आर्क ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष प्रारंभ किया उस समय फ्रांस की स्थिति शोचनीय थी; चार्ल्स सप्तम (1422-61) दुर्बल राजा था फ्रांसीसी कुलीन वर्ग विभक्त था; फ्रांस की राष्ट्रीय सभा 'एस्टेट जनरेल' में भी फूट थी। किन्तु जॉन के बाद राजतंत्र के नेतृत्व में ही धन एकत्र किया गया था, नियमित सेना का गठन हुआ था और अंग्रेजों को खदेड़ा गया था। नियमित रूप से वेतन-प्राप्त सेना के गठन के लिए फ्रांसीसी कुलीन वर्ग ने भी राजा को एक प्रकार का कर दिया था जिसे 'ताय रॉयेल' कहा गया। सन् 1440 में यह ताय (कर) 'डिसगसडी आर्म्स' के नाम से नियमित कर हो गया यद्यपि अभी देशव्यापी नागरिक प्रशासन का गठन नहीं हुआ था।

निरकुंश राजतंत्र स्थापित करने की दिशा में प्रक्रिया काफी समय पहले से जारी थी। फिलीप द्वितीय (1180-1223) के समय में ही राजकीय अधिकारी, जिन्हें बेलिस कहा जाता था, राजकीय न्याय तथा कर वसूल करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। इन्हें नियुक्त करने का एक कारण यह था कि पुराने अधिकारी वर्ग ने, जिसे 'प्रीवोट्स' कहा जाता था और जिसे भूमि उपहार के रूप में दी गई थी, अपने-अपने स्थानीय स्वार्थ विकसित कर लिए थे। मध्ययुग में ही राजा कभी-कभी अपने बड़े-बड़े सामंतो को राजदरबार में बुलाता था जिसे 'कुरिया रंजिस' कहा जाता था। इसमें

महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। दैनिक कार्यों के लिए राजकीय गृह विभाग के अधिकारी होते थे। 'कुरिया रेजिस' जिस स्थार पर प्रायः एक न्यायालय की भाँति बैठता था वहाँ फ्रांस के न्यायधीशों का एक स्थायी समूह विकसित हो गया था जिसे 'पार्लेमा' कहा जाता था। महत्वपूर्ण अवसरों पर जब समस्त देश की सहायता की आवश्यकता होती थी, राज्य 'कुरिया रेजिस' का राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा के रूप में प्रयोग करते थे जिसमें पहले नगरों एवं बाद में किसानों के प्रतिनिधियों को भी स्थान दे दिया गया था। इस रूप में यह संस्था प्रथम बार सन् 1302 में आस्तित्व में आई जब फिलिप (1285-1324) ने पोप के विरुद्ध अपने संघर्ष में राष्ट्रीय सभा के समर्थन की आवश्यकता अनुभव की। फ्रांस की यह सभा एस्टेट्स जनरेल कहलाती थी क्योंकी इसमें पादरी-वर्ग, अभिजात वर्ग एवं सामान्य वर्ग तीनों के हितों का प्रतिनिधित्व था। प्रारंभ में यह केवल परामर्शदात्री संस्था ही थी। यदि यह भी ब्रिटिश पार्लियामेंट की भाँति अपनी भूमिका को बढ़ा पाती तो फ्रांस में भी निरकुंश राजतंत्र विकसित न हो पाता।

शतवर्षीय युद्ध के पश्चात् फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र विकसित हुआ। चार्ल्स सप्तम के उत्तराधिकारी लुई एकादश (1461-83) ने अंतिम खतरनाक सामंत बर्गडी के ड्यूक पर भी विजय प्राप्त कर ली। लुई बारहवें (1498-1515) के समय में ब्रिटेन की राजकुमारी से विवाह करके ब्रिटेनी को भी फ्रांस का एक अंग बना लिया गया। अगले शासक फ्रांसिस प्रथम (1515-47) को फ्रांस का पुनर्जागरण शासक कहा जाता है। तत्कालीन अन्य विश्वविद्यालयों की तरह ही पेरिस का सारबोन विश्वविद्यालय भी कट्टरता का प्रतीक था। उसने उसके समानांतर 'कालेज द फ्रांस की स्थापना की जो आज तक अपनी उदार एवं महान् परम्पराओं के लिये विश्व-विख्यात है। पुनर्जागरण की मुख्य धाराओं को फ्रांस में प्रवाहित करने में उसने व्यक्तिगत रुचि ली। इसके प्रमाण लुआर प्रदेश में शातों और लेओनार्दी की (जिन्होने अंतिम दिन फ्रांसिस के संरक्षण में बिताए) कब्रें हैं। उसी समय से कोकालिसा फ्रांस के कब्जे में है। पेरिस का वैचारिक धरातल उठाने में भी उसने रुचि दिखाई थी यद्यपि धार्मिक रूप से वह कैथोलिक ही रहा। किन्तु मानवतावादी विचार फ्रांस में भी फैले। पंद्रहवीं शती के अंत से ही लफेब्र जैसे सुधारकों का प्रभाव बढ़ने लगा था। फ्रांसिस के समय में ही लूथर का प्रादुर्भाव हुआ था। काल्विन को फ्रांस छोडकर जाना पड़ा था लेकिन बहुत से फ्रांसीसी काल्विनवादी हो गए थे। विशेष रूप से फ्रांस का नवोदित मध्य वर्ग, जो अटलांटिक तट के नगरों में रहता था, प्रोटेस्टेन्ट हो रहा था और अपने धन एवं सामर्थ्य के कारण संख्या के अनुपात में अधिक प्रभावशाली था। इससे बहुसंख्यक कैथोलिक तो नाराज थे ही, फ्रांस के सामंत अधिक क्षुब्ध थे क्योकी उन्हें मध्यवर्ग के हाथों अपनी सत्ता छिनती नजर आ रही थी।

फ्रांसिस प्रथम के समय में निरंकुश राजतन्त्र को और अधिक बढ़ावा मिला। उस समय के राजनीतिक चिंतकों ने इस मत को स्वीकार एवं प्रतिपादित किया कि राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है एवं नास्तिकता के विरुद्ध चर्च का संरक्षण करने के लिए वचनबद्ध है। पेरिस एवं अन्य प्रांतो में संसद और उसके नीचे बेलिस राजकीय न्याय वितरित करते थे। राजा के पास भाड़े की एक सेना थी जो उसके सामरिक महत्व के स्थानों पर तैनात की गई थी। राजकीय अधिकारी शहरों एवं प्रांतों के अधिकारों को अपने हाथ में ले रहे थे। 1516 के बोलोन के समझौते (कनकोर्डेड) ने राजा को बिशप तथा एबट की नियुक्ति का अधिकार भी दे दिया। सामंतों को राजा का दरबारी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। सोलहवीं शती में धार्मिक युद्ध से उत्पन्न अव्यवस्था ने निरकुंश राजतंत्र को और अधिक मान्यता, समर्थन एवं बल प्रदान दिया।

फ्रांस में 16 वीं शबाब्दी के आरंभ तक कृषक वर्ग निरंकुश राजतंत्र की सहायता से सामंती लगान के भार को प्रभावशाली ढंग से कम कराने में सफल हो गया था, किंतु उसपर, बढ़ी हुई दर से ताय (कर) जैसे शाही कर आरोपित किए जा रहे थे। 16वीं शताब्दी में चूँकी मूल्य बढ़ते जा रहे थे, अतः कुलीन वर्ग के सामने अनेक ऐसे प्रेरक तत्व थे कि वे 'सामंती प्रतिक्रिया आरम्भ कर दें और कृषक वर्ग से उगाहे जाने वाले साँ नामक कर में वृद्धि कर दें। किंतु ऐसा करने के लिए उसके पास शक्ति न थी। इसलिए ऐसा करने की बजाय कुलीन वर्ग के सदस्य राजतंत्र के साथ मिल गए और उन्होंनें स्वयं को 'ताय' से मुक्त करवा लिया। उन्होने तेजी से बढ़ते हुए नौकरशाही तंत्र का भी खूब साथ दिया। सामंती अधिशेष ऐंठने की पुरानी विकेंद्रित पद्धति की समाप्ति से कुलीन वर्ग के विभिन्न सदस्यों को जहाँ एक ओर नुकसान हुआ वहाँ दूसरी ओर इन सामाजिक वर्गो में अनेक लोगों को राज्य ने अपने नौकरशाही-तंत्र में शामिल कर लिया। इसके अतिरिक्त राजतंत्र ने भी बड़े-बड़े सामंती लॉर्डो से गठबंधन किया और उन्हें राज्य के ढाँचे में ही सम्मिलित कर लिया। 1604 में पदाधिकार को पैतृक बनाने की घोषणा एक अन्य ऐसा उदाहरण है जो यह स्पष्ट करता है कि फ्रांस का निरंकुश राजतंत्र न तो आधुनिकीकरण का उपकरण था, न ही वह प्रतिद्वंद्विता तथा प्रतिभा के लिए कैरियर का द्वार खोलने वाले पूँजीवादी सिद्धांत का उपकरण था। वह तो इस (निरंकुश राजतंत्र) अधिशेष को खींचनें की पुरानी व्यवस्था का परिवर्तित रूप भर था। कृषक वर्ग पर करों का भार बढ़ गया था। 1547 में चार सदस्यों के कृषक परिवार पर प्रतिवर्ष लगाए गए कर लगभग सात दिन के उत्पादन के बराबर थे। यह भार 1607 में 14 दिन के उत्पादन के बराबर तथा 1675 में 34 दिन के उत्पादन के बराबर हो गया था।

फ्रांसिस प्रथम का उत्तराधिकारी हेनरी द्वितीय (1547-1559) हुआ। उसने भी निरकुंश राजतंत्र बनाये रखा एव फ्रांसीसी प्रोटेस्टेन्टों को, जिन्हें 'लूनोनाट' कहा जाता था, बहुत उत्पीड़ित किया। उसके समय में गीज़ परिवार बहुत शक्तिशाली हो गया था। यह परिवार कैथोलिक मत का समर्थक था। हेनरी की मृत्यु के पश्चात् बूर्बो परिवार गीज परिवार का प्रतिद्वंद्वी बन गया। यह परिवार प्रोटेस्टेंट समर्थक था। हेनरी द्वितीय की विधवा कैथरीन द मेंदिसी ने, जो बहुत ही महत्वाकांक्षी थी, और अपने दुर्बल पुत्र चार्ल्स नवम के समय में (1560-74) वास्तविक सत्ताधारी थी, इन प्रतिद्वदियों के साथ बीच का रास्ता अपनाना चाहा।

इसी समय माईकेल द लोपीटाल का उदय प्रशासन में एक नई शक्ति के रूप में हुआ था जो सन् 1560 में चांसलर नियुक्त हुआ। वह तत्कालीन कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट उग्रवादिता के युग में उदारवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहा था। साथ ही अव्यवस्था की समस्या को जड़ से उखाड़ फेंकने का इच्छुक था। उसके मत में यह अव्यवस्था प्रशासन में फैले भ्रष्टाचार के कारण थी। सन् 1560 में औरलिएन्स के ऐस्टेट्स जनरेल के सम्मुख एवं 1566 में मोलिन्स में घोषित अपने कार्यक्रम में सुधार-कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। वह भी मूलतः निरंकुश राजतंत्र का ही समर्थक था। औरलिएन्स सभा के सम्मुख सन् 1560 में जहाँ एक ओर उसने इस बात की भर्त्सना की थी कि सन् 1425 से ऐस्टेट् जनरेल (फ्रांसीसी संसद) की कोई बैठक नहीं बुलाई गई जिसके माध्यम से राजा को केवल परामर्श ही नहीं मिलता वरन् उसकी इच्छा राष्ट्र के विभिन्न भागों में पहुँचती थी, वहाँ दूसरी ओर उसने यह स्पष्ट कर दिया कि उसके विचार में ऐस्टेट्स जनरेल को राजा का प्रतिद्वंद्वी बनने की कोई शक्ति हासिल नहीं थी। न्याय-प्रशासन राजा का ही विशेषाधिकार था। लोपिटाल, नीलामी के पदों में होती वृद्धि के विरुद्ध था और सन् 1560 में उसने कई अनुपयोगी पदों को समाप्त करने की सलाह दी थी। किंतु उसके इस कार्यक्रम को धार्मिक युद्धों से उत्पन्न अर्थव्यवस्था के कारण लागू नहीं किया जा सका। 1568 में उसने त्यागपत्र दे दिया। विभिन्न संप्रदायों के आपसी झगड़ों ने देश में राजनीतिक उपद्रव जारी रखा जिसने गृहयुद्धों का रूप ले लिया। 1572 में चार्ल्स नवम की आज्ञा से एवं कैथरीन की सहमती से सेंट बार्थोलोम्यू का प्रसिद्ध हत्याकांड हुआ जिसमें ह्यूगोनॉटों (फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंटों) को मार डाला गया।

1585 तक यह स्पष्ट हो गया था कि कैथरीन के अंतिम पुत्र हेनरी चतुर्थ 1574-89 का कोई पुरुष उत्तराधिकारी न होने के कारण सिंहासन बूर्बो राजवंश के हेनरी नवारे को प्राप्त होगा। वह एक प्रोटेस्टेंट था एवं उनका सिंहासनारोहण गीज परिवार एवं स्पेन के राजा फिलीप द्वितीय दोनों को ही अरुचिकर था। उसे अपदस्थ करने के प्रयत्न विफल हुए। यद्यपि गीज़ परिवार उसका विरोध करता रहा किंतु 1593 में हंगरी द्वारा कैथोलिक धर्म को मान्यता देने के साथ उसके प्रति धार्मिक विरोध शांत हो गया। 1598 में उसने प्रसिद्ध 'नान्तेज़ के आदेश' की घोषणा की जिसने ह्यूगोनॉटों को सीमित सहिष्णुता एवं प्रार्थना का अधिकार एवं कैथोलिकों के साथ राजनीतिक समानता प्रदान कर दी।

हेनरी चतुर्थ 1589-1610, रिशील्यू, एवं मज़ारिन के नाम फ्रांस के निरकुंश राजतंत्र के विकास के साथ जुड़े हुए हैं। 1661 में मजारिन की मृत्यु तक भली प्रकार काम चलने योग्य प्रशासनिक-तंत्र का विकास हो चुका था जिसने लुई चौदहवें के राज्यकाल में फ्रांस को यूरोप के मुख्य निरकुंश राजतंत्र का रूप दे दिया था।

हेनरी चतुर्थ की विधवा मेंरी द मेंदिसी ने उस ऐस्टेट्स जनरेल को भंग कर दिया जो हेनरी चतुर्थ एवं उसके वित्तमंत्री सली ने बुलाई थी। इसके बाद ऐस्टेट्स जनरेल फ्रांसीसी क्रांति के प्रारंभ तक नहीं मिली। इस प्रकार जहाँ सत्रहवीं शती में इंग्लैंड में पार्लियायमेंट की शक्ति में बराबर वृद्धि हो रही थी वहाँ फ्रांस की यह प्रतिनिधि सभा अदृश्य ही हो गई। अगले राजा लुई तेरहवें 1624-1642 ने अपने मुख्यमंत्री रिशील्यू को प्रशासन चलाने की स्वतंत्रता दे दी थी। रिशील्यू इस बात के लिये कृतसंकल्प था कि वह फ्रांस में राजकीय शक्ति को एवं यूरोप में फ्रांस को सर्वोच्च बनायेगा। रिशील्यू अपने इस उद्देश्य में तीन प्रमुख कारणों से सफल हो सका : 1 इंग्लैंड के स्टुअर्ट राजाओं एवं उनके सलाहकारों की अयोग्यता के विरुद्ध रिशील्यू की अपनी राजनीतिक प्रतिभा एवं निष्ठा; 2 फ्रांस में कर-व्यवस्था का बोझ केवल असंगठित एवं नेतृत्वहीन थर्ड् ऐस्टेट (जन साधारण सभा) के ऊपर ही डाला गया ताकि कर का विरोध करने में कुलीन वर्ग, पादरी एवं जनसाधारण की कोई गुटबंदी न हो सके। वास्तव में कुलीन वर्ग को खरीदकर शांत कर दिया गया था ओर इसे शांत करने की कीमत यह चुकाई गई थी कि कर का बोझ देश के साधारण जन पर ही डाला गया। रिशील्यू की सफलता का तीसरा कारण संभवतः यह था कि फ्रांसीसी काल्विनवादी प्रोटेस्टेंट, जो 'ह्यू गोनॉट' कहलाते थे, इंग्लैंड के प्युरिटनों की तुलना में उतने शक्तिशाली नहीं थे।

रिशील्यू ने राज्य को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना चाहा कि वह स्वयं इसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा प्रशासन चलाए, प्रतिनिधि सभा द्वारा नहीं। राजकीय कौंसिल ही सर्वोच्च कानून-निर्मात्री संस्था बन गई। राजकीय सेवा में वृद्धि करके उसे बहुत शक्तिशाली बना दिया गया। सामंतों की शक्ति को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाए गए। जासूसी प्रथा का प्रारंभ करके, सामतो के दुर्ग तोड़कर और विद्रोह के हर संभव प्रयत्न को कुचलकर कुलीन वर्ग की शक्ति समाप्त कर दी गई। पहले के कुलीनवर्गीय गवर्नरों के स्थान पर अब राजकीय प्रतिनिधियों की नियुक्ति की गई जो राजा के प्रति ही उत्तरदायी थे। इस प्रकार प्रशासन को केन्द्रित करने की चेष्टा की गई। ह्यूगोनॉटों से उसके राजनतिक अधिकार छीन लिए गए। 1627-28 में ला रोशेल के समर्पण के बाद उन्हे किला बनाने एवं सभा आदि संगठित करने का अधिकार छोड़ देना पड़ा।

रिशील्यू की विदेश नीति

यूरोप के तीस वर्षीय युद्ध 1618-48 द्वारा रिशील्यू को यूरोप के सामान्य मामलों में दखल देकर फ्रांस की शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला। यह कई संघर्षों का एक मिला-जुला रूप था जिसमें यूरोप की लगभग सभी शक्तियाँ उलझ गई थीं। प्रारंभ में यह एक धार्मिक संघर्ष था जिसका कारण प्रोटेस्टेंट एवं प्रति-सुधारवाद के बीच संघर्ष था किंतु शीघ्र ही इसमें व्यक्तिगत एवं राजनीतिक कारण भी सम्मिलित हो गए। इस युद्ध का महत्व इसलिए है कि इससे यह निश्चित हो गया कि दोनों में कोई भी धार्मिक संप्रदाय एक-दूसरे को नष्ट नहीं कर सकता, अतः उन्हें परस्पर समझौते का कोई मार्ग निकालना होगा। दूसरे, इससे लगभग आगामी एक शताब्दी के लिए जर्मनवादी लोगों की आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति समाप्त हो गई और जर्मन राष्ट्रीय एकीकरण की संभावना भी समाप्त हो गई। इस प्रकार फ्रांस को यूरोप में प्रमुख शक्ति बनने का अवसर मिल गया। तीसरे यूरोपीय राष्ट्र राज्य प्रणाली के काम में इस युद्ध का बहुत योगदान रहा।

तीस वर्षीय युद्ध के कारण-

तीस वर्षीय युद्ध का मुख्य कारण था लूथर के विद्रोह के बाद जर्मनी में सुलगता हुआ, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक असंतोष। किंतु गृहयुद्ध के रूप में प्रारंभ होने वाला यह संघर्ष शीघ्र ही एक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष बन गया क्योंकि विदेशों ने भी मौके का लाभ अपने राजवंशीय स्वार्थो एवं सहधर्मियों की सहायता के लिए उठाना चाहा। अपने उत्तरवर्ती चरणों में (1630-48) यह संघर्ष मुख्य रूप से एक ओर हैप्सबर्ग एवं दूसरी ओर स्वीडन एवं फ्रांस के कार्डिनल रिशील्यू के मध्य राजनीतिक संघर्ष बन गया। इस युद्ध के विभिन्न चरणों को (क) बाहेमिया के विद्रोह का चरण, (ख) डेनिश चरण, (ग) स्वीडिश चरण और (घ) फ्रांसिसी चरण कहा जा सकता है।

बोहेमिया का विद्रोह, 1618-

इसका उद्देश्य माटियास 1612-19 की मृत्यु के बाद कैथोलिक फर्डिनेंड द्वितीय को पवित्र रोमन साम्राज्य के सिंहासन से वंचित करना था, क्योंकि इससे धार्मिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाने का खतरा था। बाहेमिया के लोगों ने फ़र्डिनेड को अपदस्थ घोषित करके उसके स्थान पर पेलेटिनेट के इलैक्टर प्रोटेस्टेन्ट फ्रेडरिक को सिंहासन देने की चेष्टा की किंतु फर्डिनेंड की सेनाओं ने फ्रेडरिक को खदेड़ दिया, बोहेमियाई कुलीनो को दंडित करके प्रोटेस्टेन्ट धर्म को भी निषिद्ध घोषित कर दिया और फ्रेडरिक की ज़मीन भी जब्त कर ली।

डेनिश चरण 1625-29-

वस्तुतः यह क्रिश्चियन चतुर्थ द्वारा उत्तरी सागर के बंदरगाहों पर अपना अधिकार एवं लूथरवाद को संरक्षण देने की चेष्टा का परिणाम था। इंग्लैंड के धन एवं जर्मनी के प्रोटेस्टेंट राजाओं की सेनाओं की सहायता से क्रिश्चियन चतुर्थ ने जर्मनी पर आक्रमण कर दिया किन्तु उसे शांति-संधि के लिये विवश होना पड़ा।

स्वीडिश चरण 1630-35-

यह स्वीडन के शासक गुस्ताव एडोल्फसबर्ग की स्वीडन को उत्तरी यूरोप की प्रमुख शक्ति बनाने की महत्वाकांक्षाओं का परिणाम था। किंतु उसे भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके हस्तक्षेप से हैप्सबर्ग की सेनाओं को

सीधी विजय न मिल सकी और स्पेन तथा ऑस्ट्रिया दोनों ही इतना थक गए की फ्रांस का विरोध करने की स्थिति में नहीं रह गए, यद्यपि वैस्टफ़ेलिया की संधि द्वारा युद्ध की समाप्ति 1648 से छह वर्ष पूर्व 1642 में रिशील्यू की मृत्यु हो गई। किंतु फिर भी उसे संतोष था कि उसकी नीति सफल हो रही थी। जहाँ तक फ्रांस का प्रश्न था, वेस्टफेलिया की संधि द्वारा फ्रांस एवं फ्रांसीसी राजा दोनों की ही शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। रिशील्यू की मृत्यु के बाद अगले राजा लुई चौदहवें की अल्पवयस्कता के समय कार्डिनल मज़ारिन ने 1661 तक फ्रांस का कार्यभार संभाला। वह जन्म से इतालवी था जो फ्रांस में आकर बस गया था। उसने रिशील्यू की नीतियों को जारी रखा और फ्रोंद या जन-विरोध के बावजूद लुई के निरंकुश राजतंत्र को दृढ़ किया। फ्रोंद पार्लेमां के मामलो में मज़ारिन के हस्तक्षेप के विरुद्ध होने वाला एक जन-विरोध था। पार्लेमां का यह फ़र्ज समझा जाता था कि वह राजा के कानूनों एवं आदेशों का पंजीकरण करें। पार्लेमाँ ने मजारिन का विरोध करते हुए एक कानून का पंजीकरण करने से इन्कार कर दिया और अन्य कई कानूनों को अवैध घोषित कर दिया। मज़ारिन ने जर्मनी से फ्रांसीसी सेना के लौटने पर इस विरोध को दबा दिया और पुराने कानूनों को फिर से मान्यता दिलवा दी। फ्रोंद के कारण फ्रांसीसी कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा और गिर गई। राजनीतिक एवं वित्तिय मामलों में पार्लेमाँ के हस्तक्षेप का अधिकार छीन लिया गया। पेरिस में हथियार छीन लिए गए एवं राजकीय शक्ति पहले की तुलना में अधिक बढ़ गई। रिशील्यू एवं मज़ारिन के कार्यों ने ही लुई चौदहवें के निरकुंश राजतंत्र को संभव बनाया जो यूरोप में उस राजकीय शासन-व्यवस्था का प्रतीक बन गया जो फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रारम्भ तक चली।

इंग्लैंड

पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों में ट्यूडर वंश ने इंग्लैंड को एक शक्तिशाली एवं गरिमामय शासन-परंपरा प्रदान की। ट्यूडर वंश का प्रथम शासक हेनरी सप्तम 'गुलाबों के युद्ध' की समाप्ति पर 1485 में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इस युद्ध में परस्पर विराधी सामंत गुटों ने एक-दूसरे के साथ भंयकर संघर्ष किया था। इन युद्धों से उत्पन्न अव्यवस्था की स्थिति से लोग बहुत तंग आ चुके थे और उन्होंने विकल्प रूप में निरंकुश राज्य को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया। ट्यूडर वंश के नए राजतंत्र का आधार राजतंत्र एवं भद्रजन वर्ग का मेंत्री संबंध रहा जिसने इंग्लैण्ड में राजतंत्र के स्वरूप पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। फ्रांस एवं स्पेन में राजा की शक्ति के उदय के साथ पूर्ण निरंकुशता जुड़ी है किंतु ट्यूडर शासक प्रशासन एवं युद्ध दोनों के लिए स्वंय भी संपत्तिवान भद्रजनों पर आश्रित थे। इस वर्ग का नष्ट करना उनके लिये संभव नहीं था, क्योंकि एक तो उनके पास कोई अन्य मित्र बनाने का विकल्प नहीं था- कुलीन सामंतो की सहायता पर वे निर्भर नहीं कर सकते थे। दूसरा संभव विकल्प पशु बल था किंतु स्थायी सेना रखने का खर्च तथा प्रशासन के लिये एक नियमित वेतन वाली नागरिक सेवाओं को रखने का खर्च बहुत अधिक आता था। अत ट्यूडर शासक सहायता के लिये भद्रजन पर ही निर्भर रहे जिन्होंने जस्टिस ऑफ पीस के रूप में स्थानीय प्रशासन का पूर्ण रूप से संचालन किया। अपने स्पेनी एवं फ्रांसीसी समकालीन शासकों की भाँति ट्यूडर शासकों ने अँग्रेजी प्रशासन को न तो सुधारने का प्रयास किया, न ही राज-परिषद् का उपयोग अन्य विभागों पर हावी होने के लिये किया।

1485-1509 तक हेनरी सप्तम ने इंगलैंड की संस्थाओं को अपने राज्य की आवश्यकतानुसार ढालने का प्रयत्न किया एवं देश को अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाया। शांति एवं व्यवस्था स्थापित की, विदेशों के साथ युद्ध को यथासंभव बचाया। प्रशासन को दिशा-निर्देश देकर अपने नियंत्रण में लाने के उपाय किए, सामंतों की उपद्रवी शक्ति को समाप्त किया और बजट को संतुलित किया। राज-परिषद् को, जो राजकीय सलाहकारों की एक संस्था थी, एक कुशल एवं शक्तिशाली संगठन के रूप में विकसित किया गया: उसकी कई उपशाखाएँ विकसित हुईं जिन्हें 'परमाधिकार न्यायालय' (Prerogative Courts) कहा गया। इन न्यायालयों में सबसे प्रसिद्ध 'कोर्ट ऑफ स्टार चेंबर' था जिसमें हठी कुलीन सामंतों को सामान्य न्यायिक प्रक्रिया का पालन किए बिना दंड दिया जा सकता था। किंतु विशेष राजकीय न्यायालयों के साथ ही इंग्लैंड में सामान्य न्याय-प्रणाली भी चलती रही। यह न्याय-प्रणाली इंग्लैण्ड की विशेषता थी जिसका विकास शताब्दियों की अवधि में हुआ था। यह महाद्वीपीय देशों के विपरीत था जहाँ सामंत प्रणाली का स्थान रोमन मॉडल पर निर्मित प्रणाली ले रही थी जिसमें कानून राज्य-सत्ता की आज्ञा मात्र था। इंग्लैंड में पार्लियामेंट भी विद्यमान रही यद्यपि इसके अधिवेशन अनियमित हो गये थे। यह देश के महत्वपूर्ण प्रतिनिधियों की संस्था थी जिसमें कुलीन सामंत, बिशप, शहरों एवं नगरों के चुने हुए प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इंग्लैंड में यह बात राज्य के आधारभूत कानून के रूप में मान्य हो गई थी कि कोई भी नया कर राजा पार्लियामेंट की अनुमति के बिना लागू नहीं कर सकता

था। इंग्लैंड में पार्लियामेंन्ट द्विसदनीय संस्था के रूप में विकसित हो गई थी। उच्च सदन में सामंत, कुलीन वर्ग एवं उच्च क्लर्जी वर्ग के प्रतिनिधि थे। इस सदन को 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' कहा जाता था। दूसरे सदन में शहरों एवं ग्रामों के प्रतिनिधि थे। 'हाउस ऑफ कॉमन्स' कहा जाता था। अपनी मितव्ययितापूर्ण नीतियों एवं सामंतों से विभिन्न बहानों से राज्य के लिए उपहारस्वरूप धन प्राप्त कर लेने की नीतियों के कारण हेनरी सप्तम राजतंत्र को आर्थिक रूप से बहुत हद तक स्वतंत्र बनाने में सफल हो गया था।

ट्यूडर वंश का दूसरा शासक हेनरी अष्टम (1509-47) था। उसके राज्य काल में इंग्लैंड में धर्मसुधार आंदोलन हुआ जिसके महत्वपूर्ण सांविधानिक एवं धार्मिक प्रभाव पड़े। इस आंदोलन ने राजा और पार्लियामेंट को देश के धार्मिक जीवन पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया। इसके कुछ वर्षों के उपरान्त मठों एवं समर्पित पूजागृहों के विसर्जन ने राजा को धन एवं समर्थक दोनों ही प्रदान किए। ट्यूडर वंश की अंतिम शासक एलिज़ाबेथ प्रथम 1558-1603 ने भी राज्य की संस्थाओं को परिवर्तित किए बिना राजा की शक्ति में वृद्धि की। ट्यूडर वंश की राज्यावधि में इंग्लैंड में उल्लेखनीय स्थिरता आई थी। एलिज़ाबेथ के राज्यकाल में सामाजिक परिवर्तनों की वह प्रक्रिया भी पूर्ण हुई जो कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

व्यापार

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इंग्लैण्ड की व्यापारिक शक्ति नीरदलैण्ड के साथ कपड़ा व्यापार में ही पूरी तरह लगी हुई थी। 'कंपनी ऑफ द स्टेपल' द्वारा कच्ची ऊन कैले के बंदरगाह पर भेजी जाती थी किंतु भारी कर होने के कारण इसकी बिक्री पर प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे यह ऊन भी देशी विनिर्माताओं के पास ही जाने लगी। कपड़ा-उत्पादक ट्यूडर इंग्लैण्ड का एक प्रमुख उत्पादन था। प्रमुख निर्यातकर्ता थें लंदन के व्यापारी जिन्हें हेनरी सप्तम ने आज्ञापत्र प्रदान किया था। उनका प्रथम समुद्रपार कार्यालय एन्टवर्प में था जहाँ से अंग्रेज कपड़ा यूरोप के समस्त देशों में जाता था। और जब तक इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड के बीच यह कपड़ा व्यापार पनप रहा था, इंग्लैण्ड के पास न तो समुद्रपार यात्राओं के लिए कोई प्रलोभन था और न ही उसमें निवेश के लिए पूंजी। हेनरी इंग्लैण्ड के व्यापार को विस्तृत करना चाहता था क्योंकि चुंगी कर के माध्यम से उसे भी लाभ पहुंचता था। नौचालन अधिनियम के माध्यम से हेनरी ने जहाजों की कमी का भी हल खोज निकाला। उसने इंग्लैण्ड के व्यापारियों पर यह रोक लगा दी कि जब तक अपने जहाज उपलब्ध है तब तक वे विदेशी जहाजों का प्रयोग नहीं कर सकते। व्यापारिक जहाजों के निर्माण को प्रोत्साहन देकर, राज-नौसेना का प्रारंभ करके तथा अपने देशवासियों के लिए व्यापार में अधिक भाग प्राप्त करके हेनरी सप्तम ने उस व्यापारिक प्रगति एवं स्वरूप की नींव रखी जिसका इंग्लैण्ड ने भविष्य में पालन किया।

एलिजाबेथ के समय तक यद्यपि नई दुनिया में इंग्लैण्ड का कोई भी उपनिवेश सफलतापूर्वक स्थापित नहीं किया गया था किन्तु अंग्रेजी सहासिक नाविक प्रत्येक दिशा में देखे जा सकते थे। बाल्टिक व्यापार में इंग्लिश ईस्टलैंड कंपनी प्रमुख हो गयी थी और लीवेंट कंपनी ने वेनिस व्यापार में प्रमुख स्थान ले लिया।

समाज (कुलीन व भद्रजन)

सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ट्यूडरकालीन इंग्लैण्ड, बढ़ती हुई जनसंख्या एवं कीमतों में भारी वृद्धि- इन दो कारकों से बहुत प्रभावित हुआ। कुलीन वर्ग के लिए तो कीमतों में बढ़ोत्तरी कई अन्य प्रभावों में से एक था जिन्होने उनका राजनीतिक महत्व भद्रजन वर्ग की तुलना में कम करने में योगदान दिया। वे अब भी इंग्लैण्ड के समाज का उच्च वर्ग बने रहे किंतु अब उनका दायरा बहुत संकीर्ण नहीं रह गया था। कई कुलीन वर्ग पुरुष-उत्तराधिकारी के अभाव के कारण समाप्त हो गये थे। हेनरी सप्तम ने जितनी नई उपाधियाँ दी थीं वे अधिकतर राजकीय सेवा के बदले में दिए गए पुरस्कार थे। बहुत से कुलीन परिवार बहुत अधिक खर्च करने की अपनी आदत के कारण ऋण में डूब गये थे।

भद्रजनों का स्थानीय जीवन एवं संसद में पहले भी महत्वपूर्ण स्थान था किंतु मठों के विनाश के बाद जो भूमि का पुनर्वितरण हुआ उसने उन्हें देश में भूमि का एक अपेक्षाकृत अधिक भाग नहीं दिया, बल्कि इससे उनकी राजनीतिक सत्ता में भी वृद्धि हुई। आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो यह भद्रजन वर्ग के उत्थान की बजाय विस्तार अधिक था। मठों की भूमि के स्वामित्व ने उन्हें प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार आन्दोलन से बांध दिया। इसने उनमें यह जागृति भी भर दी कि अब उनका अपने देश के प्रशासन में बहुत अधिक महत्व था। वस्तुतः मठों की भूमि को भद्रजन वर्ग में वितरित करके हेनरी अष्टम ने स्वयं राजतंत्र के लिए एक प्रतिद्वंद्वी खड़ा कर दिया था। भद्रजन का बढ़ता हुआ महत्व सबसे अधिक स्थानीय

प्रशासन में देखा जा सकता है। प्रत्येक काउंटी का नाममात्र का अध्यक्ष एक लॉर्ड लैफ्टिनेंट होता था किंतु वास्तविक शक्ति 4-5 भद्र पुरुषों के हाथों में होती थी जिन्हें 'जस्टिस आफ पीस' नियुक्त किया जाता था। वे न्यायधीश भी होते थे और प्रशासक भी। ट्यूडर काल में इनके कार्य बहुत बढ़ा दिए गए थे। उसके समय में निर्धनों के लिये जो कानून बनाए जा रहे थे उन्हें लागू कराना भी इन न्यायाधीशों का ही काम था और विद्रोहों आदि के समय राजतंत्र की सहायता के लिए सेना खड़ी करना भी उनका ही दायित्व था। वास्तव में जस्टिस ऑफ पीस की राजभक्ति के बिना कोई भी सरकार खड़ी नहीं रह सकती थी। राज-परिषद् के आदेश भी यदि जस्टिस ऑफ पीस के स्वार्थों के विरुद्ध जाते थे तो वे अनसुना कर देते थे। 'बाड़बंदी आन्दोलन' के साथ ऐसा हुआ भी था। राजतंत्र के पास इन न्यायाधीशों को बाध्य करने की शक्ति बहुत सीमित थी। स्टुअर्ट वंश में कठिनाइयों का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उन शासकों की बहुत सी नीतियाँ भू-स्वामियों को मान्य नहीं थीं, अतः उनसे सहयोग की आशा नहीं की जा सकती थी। इंग्लैण्ड में निर्वाचित सभाओं की परंपरा की दो ऐसी विशेषताएँ थीं जो यूरोप में अन्यत्र विद्यमान नहीं थीं। इंग्लैण्ड में कुछ मौलिक एवं सार्वभौमिक अधिकार लिखित प्रमाण के रूप में घोषित किये जा चुके थे जैसे कि 'मेंग्ना कार्टा' इंग्लैण्ड में 'शायर के नाइटों' तथा 'शहरी बरोवासियों' दोनों को निर्वाचित किया गया था। जेम्स से प्रारंभ करके स्टुअर्ट राजाओं ने एकतंत्रवाद का दावा रखना प्रारंभ किया तो इंग्लैण्ड में व्यापारी पियरों एवं धनी कुलीन वर्ग के पास उसका विरोध करने का एक परखा हुआ एवं प्रतिष्ठित पारस्परिक तरीका था जो यूरोप के किसी भी और देश में उपलब्ध नहीं था।

इंग्लैण्ड में ट्यूडर एवं आरभिक स्टुअर्ट नरेशों के निरंकुश राजतंत्रों में अपने वर्ग-आधार तथा कानूनी एवं रानीतिक तंत्र की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण अंतर थे। इसी वजह से वहाँ कृषि, वाणिज्य एवं उद्योगों में पूंजीवादी संबंधों का विकास संभव हो सका। गुलाबों के युद्धों के बाद जो वर्ग स्थायित्व चाहते थे (जैसे मध्य स्तर के भूस्वामी, भद्रजन और कुलीन वर्ग के कुछ भाग) उनका समर्थन प्राप्त करके ट्यूडर शासकों ने 15वीं शताब्दी के अंत में सामंती लार्डो के गुटवाद को दबाने की प्रक्रिया शुरू कर दी। राजा को समर्थन देने वाले इन वर्गों की समृद्धि का आर्थिक आधार पूंजीवादी कृषि का विकास था। इस प्रकार की कृषि में पट्टाधारी किराएदार, पगार श्रमिकों की सहायता से उत्पादन का वास्तविक गठन करते थे और भू-स्वामियों की लगान संबंधी मांग कृषिगत उत्पादकता में सुधार लाने के लिए प्रेरित करती थीं। मठों का विघटन हो गया और उन मठों की संपत्ति अभिजात वर्ग के सदस्यों, भद्रजनों तथा संपन्न भूस्वामियों में बंट गईं। इन गतिविधियों से भूमि का बाजार तैयार हुआ जिससे पद-प्रतिष्ठा के पुराने अनुक्रम तथा गैर आर्थिक दबावों द्वारा अधिशेष हड़पने की पुरानी पद्धति और भी ज्यादा विघटित हुई। 1540 के बाद अनेक नए परिवार अभिजात वर्ग के अंतर्गत शामिल हुए। 1569 में उत्तरी अर्लो का विद्रोह ''सामंती विरोध की अंतिम टिमटिमाहट थी''। लॉरेंस स्टोन के शब्दों में, "जब-तब लोगों को फाँसी पर लटकाकर तथा उन्हे हमेंशा के लिए बदनाम करके और पुराने भूस्वामी परिवारों के समाप्त हो जाने पर उनके स्थान पर नए भूस्वामी परिवारों के विकास पर रोक लगाकर ट्यूडर नरेश बड़े क्षेत्रीय जमींदारों की संख्या घटाने में सफल हो गए। जो इने-गिने परिवार 15वीं शताब्दी के अंत तक समाज एवं राजनीति पर हावी थे उनमें केवल हॉवर्ड परिवार ही ऐसा था जो 17वीं सदी के तीसरे दशक तक बचा हुआ था और वह भी काफी सीधा हो गया था"।

ट्यूडर राजतंत्र ऐसा कोई कानूनी ढाँचा अथवा नौकरशाही तंत्र विकसित करने में असमर्थ रहा जैसा कि यूरोप के निरंकुश राजतंत्र ने किया था। यूरोप में रोमी कानून अपनाने के दोहरे उद्देश्य की ओर ऊपर इशारा किया जा चुका है: सिविल मुकद्दमों में उसमें असीम निजी संपत्ति की स्पष्ट अवधारणा तथा अधिक तेज कानूनी प्रक्रिया द्वारा, संपत्तिशाली वर्ग की सहायता की; दूसरी ओर सम्राट से सबंधित मामलों में उसने राजा की निरंकुश सत्ता को दृढ़ किया। इंग्लैण्ड में रोमन कानून का अध्ययन तो किया गया किंतु उसे केवल आंशिक रूप से लागू किया गया और वहाँ के लोक-विधि एवं संविधि कानून से उसका सामंजस्य भी स्थापित किया गया। लोक-विधि न्यायालयों में जिन संपत्ति संबंधी मुकद्दमों के निपटाने में देरी होती थी, उनसे निपटने के लिए राजाओं ने कोर्ट ऑफ चांसरी तथा कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट स्थापित किए। चांसरी ने (जिसकी स्थापना ट्यूडर काल से पहले ही हो चुकी थी) उन कानूनों का विकास किया जिन्हें 'ईक्विटी' के नाम से जाना जाता है। 15वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में स्थापित कोर्ट ऑफ रिक्वेस्ट ने कापी होल्डरों को सस्ता एवं अविलंब न्याय प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। यह न्यायालय इस बात का उदाहरण था कि ट्यूडर राजा किस प्रकार यह कोशिश कर रहे थे कि वे विभिन्न वर्गों के बीच निष्पक्ष मध्यस्थ प्रतीत हों।

यूरोपीय महाद्वीप में करारोपण की आवश्यकताओं ने नौकरशाही के विकास में योगदान दिया और नौकरशाही के विकास से और अधिक करों की मांग को बढ़ावा मिला। ट्यूडरकालीन इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम को छोड़कर

(विशेषकर जब कार्डिनल बूल्जे उसका मंत्री था) सभी राजा इस बात के प्रति सावधान थे कि उन्हें अपनी शाही जमीन से प्राप्त होने वाली आमदनी में ही काम चलाना है। इसलिये महाद्वीप के अन्य देशों में जिस स्तर पर करों में वृद्धि की आवश्यकता महसूस की गई थी उस स्तर पर इंग्लैण्ड में यह स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। 16वीं एवं 17वीं शताब्दी के दौरान इंग्लैण्ड में मध्ययुगीन संसद को संपतिशाली वर्गों की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लिया गया। लॉर्ड एवं जनसाधारण दोनों ही अपने ऊपर कर लगवाने के लिए तैयार थे बशर्ते कि खर्च की जाने वाली राशि को उनकी स्वीकृति प्राप्त हो (इसकी तुलना फ्रांस में कुलीन वर्ग की करारोपण से छूट और वहां की स्टेट्स जनरल के अनुपयोगी हो जाने से कीजिए) इंग्लैण्ड में शाही नौकरशाही के स्थान पर मध्य वर्ग के भूस्वामी वर्गों में से लिए गए जस्टिसेज ऑफ पीस तथा नव-अभिजातवर्गीय परिवारों के विश्वसनीय सदस्यों में से लिए गए काउंटियों के लॉर्ड लैफ्टिनैंट ही देश में कानून एवं व्यवस्था कायम रखने के लिए उत्तरदायी थे। वे ही विभिन्न प्रकार के संपत्तिशाली वर्गो के झगड़ों में मध्यस्थता करते थे। उन्हें ही उस ग्रामीण समाज की कठिनाइयों से सामना करना पड़ता था जिसमें विशिष्टीकरण की वजह से विभिन्न स्तर बनते जा रहे थे और जो उत्तरोत्तर वाणिज्य-आधारित होता जा रहा था। आंग्ल क्रान्ति (दीर्घकालीन संसद एवं गृहयुद्ध) उस समय हुई जब दो दशकों के व्यापारिक उतार-चढ़ाव, ग्रामीण असंतोष और मनमाने करारोपण की वजह से विभिन्न वर्गों, भूमिधर किसानों, व्यापारियों एवं शिल्पियों की आरंभिक स्टुअर्ट राजाओं के सौम्य किस्म के निरंकुश राजतंत्र में भी कोई आस्था नहीं रह गई थी।

स्पेन

पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में भूमध्यसागर, अतलांतिक और पुर्तगाल से घिरा पठारी इलाका स्पेन है। स्पेन आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोप के सबसे शक्तिशाली एवं उन्नत देशों में से एक था। स्पेन का अतीत स्वर्णिम रहा है किंतु यह अल्पकालीन ही रहा, क्योंकी स्पेन की महानता के भौतिक स्रोत उस देश में नहीं थे। दीर्घकालीन एकीकरण के प्रयासों के पश्चात् सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में स्पेन में राष्ट्रीय राजतंत्र का उत्कर्ष सम्भव हुआ। स्पेन के राष्ट्रीयकरण के मार्ग में विघटनकारी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त ईसाई धर्म के विरुद्ध इस्लाम धर्म की पारस्परिक शत्रुता भी बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हुई। इस शत्रुता का कारण यह था कि उत्तरी अफ्रीकी मुसलमानों (मूरों) ने मध्ययुग के आरम्भ से मध्याह्न तक स्पेनी प्रायद्वीप पर आधिपत्य स्थापित कर रखा था, परन्तु मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में स्पेन के ईसाईयों ने मूरों को परास्त कर स्पेन से खदेड़ दिया। यह कैसे हुआ?

1469 ई. में अरागान के युवराज फर्डिनेण्ड एवं कास्तील की उत्तराधिकारी इसाबेला के मध्य विवाह सम्पन्न हो गया। विवाहोपरान्त दोनो राज्यों-अरागान एवं कास्तील का एकीकरण स्वाभाविक था। यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इनकी संयुक्त सेनाओं ने मूरों को परास्त किया एवं ग्रेनेडा पर 1492 ई. में अधिकार कर लिया। इसी के साथ स्पेन को पूर्ण धार्मिक एवं राष्ट्रीय एकता प्राप्त हुई। अब स्पेन एक पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया।

स्पेन ने शीघ्र ही मोरक्को के तट पर अल्जीरिया एवं ट्यूनिस आदि के विरुद्ध अपने सैनिक अभियान शुरु किए। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी में तुर्की के बढ़ते प्रभाव से आक्रांत ईसाई जगत् में जहाँ पूर्व में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और साम्राज्य की राजधानी विएना भी सुरक्षित नहीं रही थी वहाँ पश्चिम में स्पेन के सैनिकों ने मुसलमानों के सदियों पुराने प्रभाव का अंत कर दिया और ईसाई प्रभाव की पुनर्स्थापना की। कोई भी अन्य वस्तु स्पेनिश राजतन्त्र के लिए इससे बढ़कर गौरव व उन्नति नहीं ला सकती थी। पोप अलैक्जैण्डर षष्ठ ने फर्डिनेण्ड एवं इसाबेला को "कैथोलिक राजाओं" की उपाधि प्रदान की किंतु इस महत्वपूर्ण समय में स्पेन के राजा अपनी राजवंशीय महत्वकांक्षाओं में फँस गये जिसने अगली दो शताब्दियों तक थका देने वाले संघर्षो में स्पेन को व्यस्त रखा। परन्तु हाथ क्या आया? संहार व पतन।

स्पेन ने यूरोपीय राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति को बनाने के लिए अपना ध्यान वैदेशिक तथा औपनिवेशिक विस्तार की ओर आकृष्ट किया। कोलम्बस की खोज ने अमेरिका में वृहत्तर स्पेनी साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया। शीघ्र ही अमेरिका के अधिकांश भाग पर स्पेन का प्रभुत्व स्थापित हो गया।इन प्रदेशों में सोने और चांदी की बहुलता थी। इस प्रकार स्पेन को एक ऐसा कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ जिसने उसको आधुनिक काल के प्रारम्भ में यूरोप के सब से शक्तिशाली एवं उन्नत देशों की श्रेणी में लाकर खड़ा करने में उल्लेखनीय योगदान दिया।

फर्डिनेण्ड ने अपनी पुत्रियों का विवाह पुर्तगाल, आस्ट्रिया एवं इंग्लैण्ड के राजघरानों से कर अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया[1]। फर्डिनेण्ड एवं इसाबेला ने राज्य के समस्त राजनीतिक अधिकारों को केन्द्रित करने तथा समस्त राज्य में धार्मिक एकता स्थापित करने की नीति अपनायी। उन्होंने राजपद की गौरव वृद्धि के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रिय शासन स्थापित किया, उद्दण्ड एवं स्वतंत्र सामन्तों को दबाकर राज्यों में शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित की एवं लुटेरों का दमन कर व्यापार-वाणिज्य तथा आवागमन के साधनों में वृद्धि की। किंतु वे स्पेन में एक समान प्रशासन की स्थापना करने में असफल रहे। वस्तुतः दो सिंहासनों का एकीकरण वैयक्तिक था, संस्थागत नहीं। सभी वर्गो के लोगों से सख्ती के साथ कर वसूले गये। स्पेनी चर्च पर पोप के अधिकार क्षेत्र को सीमित कर दिया गया। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च को मान्यता प्रदान की और धर्म विरोधियों का दमन किया गया। इस प्रकार, धार्मिक एकता के आधार पर राजनीतिक एकता स्थापित करने की नीति अपनायी।

स्पेन के राष्ट्रीयकरण व एकीकरण के मार्ग में अन्तिम महत्वपूर्ण कदम सन् 1512 में उठाया गया, जब स्पेन ने फ्रांस को परास्त कर नैवारे पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसाबेला मृत्यु 1504 ई. और फर्डिनेंड मृत्यु 1516 ई. के संयुक्त प्रयासों के परिणामस्वरूप आधुनिक एवं शक्तिशाली स्पेन राष्ट्र का निर्माण सम्भव हुआ

फर्डिनेंड की मृत्यु के बाद उसकी बड़ी पुत्री का पुत्र, चार्ल्स प्रथम (1516-1556) के नाम से स्पेन की गद्दी पर बैठा। 1519 ई. में चार्ल्स पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट चुना गया। पवित्र सम्राट के रूप में वह चार्ल्स पंचम कहलाया। उसने स्पेन के अतिरिक्त पवित्र रोमन साम्राज्य, नीदरलैण्ड, बर्गडी, नेपल्स, सिसली, सार्डीनिया, सम्पूर्ण स्पेनिश अमेरिका, फिलिपाइन्स और अफ्रीका के कुछ भागों पर शासन किया। निःसन्देह उसने दुनिया के सबसे बड़े भू-भाग पर शासन किया। चार्ल्स के शासन काल में स्पेन अपने गौरव की पराकाष्ठा पर पहुँचा। किंतु यह पराकाष्ठा स्थायी नहीं रह सकी।

आर्थिक दृष्टि से राज्य में कमजोरियां अन्तर्निहित थीं। चार्ल्स के समय युद्धों पर खर्चा बेहिसाब हुआ। उसे विस्तृत एवं दीर्घकालीन युद्ध लड़ने पड़े। इन युद्धों का सिलसिला उसके शासनारोहण के साथ शुरू हुआ, जो अंत तक नहीं टूटा। वह कभी फ्रांस की सीमाओं पर, कभी इटली में और कभी साम्राज्य की पूर्वी सीमाओं पर लडा। उसे एक शक्तिशाली नौसेना की जरूरत भी रही क्योंकी अटलांटिक महासागर पार के उपनिवेशों की रक्षा के लिए ऐसा आवश्यक था। इतने सारे खर्च राजस्व से पूरे नहीं हो सकते थे क्योंकि कर व्यवस्था न केवल पंगु थी वरन् उसे ठीक से लागू भी न किया जा सका था। ऐसी स्थिति में सोना-चांदी उगलते उपनिवेश वरदान थे। किंतु बिना अर्जित किया, लूटा हुआ धन थोडे दिन तो राहत देता रहा लेकिन इससे अर्थव्यवस्था पराश्रयी हो गई थी। यदि राष्ट्र इस लुटे हुए धन का उपयोग अपनी आर्थिक दशा सुधारने में करता तो स्पेन का इतिहास आने वाले समय में कांतिमय होता। लोग अकर्मण्य हो रहे थे। साम्राज्य में राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों से अशांति थी। स्थानीय शासक एवं सामंत सिर उठाने लग गए थे। लूथर के प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन को जर्मन शासन का समर्थन मिलने से चार्ल्स को आंतरिक राजनीतिक खतरे का आभास हो गया था। इन परिस्थितियों में उसने 1556 ई. में साम्राज्य से मुक्ति पाने का निर्णय किया किन्तु उसे छोड़ने से पहले उसने एक फैसला किया। उसने देखा था कि राज्य की सबसे बड़ी कमजोरी उसका अत्यधिक विस्तृत होना ही था, अतः उसने साम्राज्य का विभाजन कर दिया। स्पेन, नीदरलैण्ड, इतालवी राज्य और अमरीकी साम्राज्य उसने अपने पुत्र फिलिप 1556-1598ई. को दिया और यूरोप के राज्य अपने भाई फर्डिनेण्ड को सौपें।

अध्याय : 4 कृषि क्रान्ति एवं औद्योगिक क्रान्ति Agriculture Revolution and Industrial Revolution

कृषि क्रान्ति

अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दी में इग्लैण्ड तथा समूचे यूरोप में कृषि वैज्ञानिक तरीके से की जाने लगी। कृषि के ढंगों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए। खेतों की बाड़बन्दी व चकबन्दी की गई, बदल-बदल कर फसले उगाई जाने लगीं, खेती में मशीनों तथा नऐ बीजों का प्रयोग होने लगा, भेड़ों तथा अन्य पशुओं की नस्ल में सुधार हुआ। इन सारे परिर्वतनों को सामूहिक रूप से कृषि क्रान्ति कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'दास कैपिटल' में किया।

कृषि क्रान्ति के उत्थान के कारण

कृषि क्रान्ति सबसे पहले इग्लैण्ड में तथा उसके पश्चात् फ्रांस, जर्मनी, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, इटली, स्पेन आदि पश्चिमी देशों में आई। कृषि क्रान्ति का मूल कारण पुरानी कृषि व्यवस्था का त्रुटिपूर्ण होना था परन्तु इसके अतिरिक्त कई अन्य कारक भी इस क्रान्ति को लाने में सहायक सिद्ध हुए। इन सब कारकों का विवरण इस प्रकार है।

(i) प्राचीन कृषि व्यवस्था का दोषपूर्ण होना

यूरोपीय देशों के 80 प्रतिशत से भी अधिक लोग गॉवों में रहते थे और उनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। गांव के सभी कृषकों के खेती-बाड़ी के ढंग पुराने तथा एक समान होते थे। वे एक ही समय में एक जैसी फसलें उगाते थे; उनके काम करने के तरीके भी एक जैसे होते थे। कृषि में नये परिवर्तन लाने, तजुरबे करने तथा सुधार लाने की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। गांव के इर्द-गिर्द तीन प्रकार की भूमि होती थी- 1. कृषि योग्य भूमि जिस पर कृषकों का व्यक्तिगत अधिकार होता था और जिस पर फसलें बोई जाती थीं; 2 चरागाहे जो गांव के लोगों की सांझी जमीन होती थी और जहां सभी ग्रामवासी अपने पशु चरने के लिए भेज देते थे; बंजर भूमि जो व्यर्थ पड़ी रहती थी। कृषि-योग्य भूमि के अधिकतर भाग के स्वामी सामन्त होते थे। वे अपनी भूमि का कुछ हिस्सा निश्चित शर्तो पर काश्तकारों अथवा मुज़ारों को दे देते थे और उनसे पैदावार का निश्चित भाग अथवा जमीन का किराया ले लेते थे। न तो सामन्त और न ही मुजारे अथवा काश्तकार जमीन के सुधार की ओर कोई ध्यान देते थे। अतः कृषि क्रान्ति से पूर्व कृषि की अवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी। ये दोष निम्न प्रकार के थे।

1. कृषकों के खेत प्राय बहुत छोटे-छोटे एवं बिखरे हुए होते थे। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैण्ड में एक कृषक की 80 एकड़ भूमि के 166 अलग-अलग टुकड़े थे; एक अन्य कृषक की 166 एकड़ भूमि के 217 टुकड़े और दो छोटे दर्जे के कृषकों की दो एकड़ तथा एक एकड़ भूमि के क्रमशः 8 और 6 टुकड़े थे। इससे किसानों को काफी असुविधा होती थी। उनका एक खेत से दूसरे खेत में जाने पर बहुत सा समय व्यर्थ हो जाता था। छोटे-छोटे खेतों के चारों ओर सीमा निर्धारित करने पर काफी भूमि खर्च हो जाती थी। खेतों के बिखरे होने के कारण इनकी बाड़बंदी संभव नहीं थी तथा इनकी पशुओं से रक्षा करनी भी व्यावहारिक रूप में असम्भव हो जाती थी। इस अवस्थ में कृषकों के खेतों की सीमा सम्बन्धी आपसी झगड़े होने अनिवार्य थे।

2. कृषकों के खेती करने के तरीके एवं औजार प्राचीन ढंग के थे। उनके हल दोषपूर्ण थे जिनमें लोहे के फाले नहीं होते थे। उनकी दांतियां एवं कंडनिषां तेज़-धारी नहीं होती थी। उनके छकड़ों के धुरे एवं पहिए भी लकड़ी के होते थे। वे

अच्छे बीज एवं खाद का प्रयोग नहीं करते थे। बीजों को ठीक ढंग से जमीन में नहीं दबाया जाता था और उनमें से कुछ भाग तो पक्षी पहले ही खा जाते थे। बीजों से केवल 5-6 गुणा फसल ही पैदा होती थी। आर्थर यंग (Arthur Young) ने 18 वीं शताब्दी की फ्रांसीसी कृषि-अवस्था के बारे में कहा था कि यह 10 वीं शताब्दी से ऊपर नहीं उठ पाई थी। यह कथन अधिकतर यूरोपीय देशों की कृषि-क्रान्ति से पूर्व कृषि-अवस्था पर लागू होता था।

3. भूमि की उत्पादन शक्ति को स्थिर रखने के लिए इसका प्रायः एक-तिहाई भाग प्रत्येक वर्ष खाली छोड़ दिया जाता था और केवल दो-तिहाई भाग पर ही खेती की जाती थी। कई स्थानों पर तो भूमि का एक आधा भाग प्रति वर्ष खाली रहता था और शेष आधे भाग पर ही कृषि की जाती थी। इस कारण न केवल काफी भूमि प्रति वर्ष कृषि से वंचित रह जाती थी अपितु खाली छोड़े गए खेतों में अनावयश्यक घास एवं पौधे उग जाते थे जो आस-पास के खेतों में बोई फसलों के लिए भी प्रायः हानिकारक सिद्ध होते थे। भूमि के एक भाग को प्रत्येक वर्ष खाली छोड़े जाने के कारण अनाज की नित्य बढ रही मांग को पूरा नहीं किया जा सकता था।

4. पशुओं एवं भेड़ों की नस्ल सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। सभी कृषक बैलों, घोड़ों आदि को चरने के लिये चरागाहों में भेज देते थे जो गांव की सांझी जमीन होती थी। अतः उनमें प्रायः छूत के रोग फैल जाते थे। पशुओं को न तो अच्छा चारा दिया जाता था और न ही उनकी देखभाल उचित ढ़ग से की जाती थी। परिणामस्वरूप खेतों में लगाये जाने वाले पशु आम तौर पर दुबले होते थे। इसी प्रकार भेड़ों के पालन-पोषन की ओर भी उचित ध्यान न दिये जाने के कारण उनकी नस्लों में भी कोई सुधार न हुआ।

5. काफी भाग बंजर एवं व्यर्थ भूमि का था। इसे कृषि-योग्य बनाने के प्रयत्न नहीं किये जाते थे। नहरों तथा सिंचाई के अन्य साधनों की व्यवस्था असंतोषजनक एवं अपर्याप्त थी। सिंचाई के साधनों के अभाव के कारण कृषकों को प्रायः अकाल तथा सूखा जैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। अतिरिक्त पानी के निकास के लिए नालियों की उचित व्यवस्था नहीं होती थी और न ही दलदली जमीन के सुधार के लिए कोई उपाय किया जाता था।

प्रचलित कृषि-व्यवस्था का एक बड़ा दोष इसमें किसी भी व्यक्ति, चाहे वह ज़मीदार हो अथवा किसान, द्वारा नये परिर्वतन लाने अथवा सुधार में पहल करने के मार्ग में बाधा थी। एक तो सामन्त-व्यवस्था के अनुसार न तो जमीदार अथवा सामन्त और न ही किसान अथवा मुज़ारे इस व्यवस्था के नियमों एवं शर्तों को भंग किये बिना कृषि-व्यवस्था में सुधार कर सकते थे। दूसरे, चरागाहों में जमीदारों के अतिरिक्त गांव के छोटे किसान, काश्तकार तथा मजदूर भी अपने अपने पशु चराने के लिए भेज देते थे जो कि सांझी जमीन मानी जाती थी और वे अपने इस अधिकार को कदापि त्याग देने के लिए तैयार नहीं थे। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि गांव आमतौर पर आत्मनिर्भर होते थे, और ग्रामीण समुदाय के सभी लोग कृषि-उत्पादन एवं गांव की अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे का सहयोग देते थे। अतः वे कृषि-व्यवस्था के प्रचलित परम्परागत परखे हुए ढंगो को नये एवं अज्ञात ढंगों से तरजीह देते थे। परन्तु यदि उन्हें कृषि-उत्पादन बढ़ाने का पूरा ज्ञान करवाया जाये और उन्हें यह विश्वास हो जाये कि नये ढंग अपनाने से जमीदारों तथा किसानों दोनों की आय में वृद्धि होगी उन्हें ऐसे ढंग अपनाने के लिए आवश्यक पूंजी भी उपलब्ध होगी तो कृषि-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिर्वतन आने की सम्भावना थी। 18वीं शताब्दी में उन्हें यही ज्ञान करवाया गया और उनका कृषि-उत्पादन के नये ढ़ंगों पर दृढ़ विश्वास हो गया।

(ii) कृषि-उत्पाद के नये ढंगों का प्रचार

इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में कृषि-उत्पादन के नये ढंगों का जोर-शोर से प्रचार किया गया। 1700 ई. तक इंग्लैण्ड में ग्रामीण एवं कृषि की समस्याओं तथा प्रथाओं सम्बन्धी लगभग सौ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इनमें कृषि के पुराने ढंगों की त्रुटियां बताई गईं तथा कृषकों के लिये अधिक उपयोगी नये ढंगों की चर्चा की गयी। कृषको को सलाह दी गई कि उन्हें अच्छी खाद का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहिये, खाली छोड़ी गई भूमि पर शलगम एवं त्रिपत्रि घास उगाना चाहिये, आलू को बाग से खेत में ले आना चाहिये, बंजर झाड़ीदार एवं दलदली भूमि को कृषि योग्य बनाना चाहिये, चरागाहों में चरने के लिये पशु भेजने के अधिकार को समाप्त कर देना चाहिये और सांझी भूमि को आपस में बांट लेना चाहिये, छोटे एवं बिखरे खेतों को मिलाकर बड़े फार्म स्थापित करने चाहिएं आदि आदि। इस सम्बन्ध में राबर्ट वेस्टर्न द्वारा रचित कृषि सम्बन्धी पुस्तक

(Discouresae on Husbandry), जो 1645 ई. में प्रकाशित हुई, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने विशेष रूप से शलगम तथा तीनपतिया घास जैसी जड़ वाली फसलों को उगाने के महत्व एवं उपयोगिता पर बल दिया।

परन्तु कृषि-व्यवस्था के नवीनतम एवं सर्वोत्तम ढंगों का जगत-विख्यात प्रचारक आर्थर यंग था। उसने इंग्लैण्ड के विभिन्न भागों, आयरलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि देशों की यात्रायें कीं और कृषि के नये ढंगों सम्बन्धी अनेक पुस्तकों की रचना की। 1780 ई. के पश्चात् वह 'ऐनल्ज ऑफ ऐग्रीकल्चर' का सम्पादक भी रहा जिसक 45 जिल्दें प्रकाशित हुईं। उसकी कई पुस्तकों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ और फ्रांस, इटली, जर्मनी और रूस की कई प्रतिष्ठित संस्थाओं ने उसे सम्मानित भी किया। आर्थर यंग के विचारों का न केवल इंग्लैण्ड अपितु कई अन्य यूरोपीय देशों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा और उन देशों के कृषकों ने कृषि के नवीन ढंगों को अपना लिया।

(iii) जनसंख्या में वृद्धि

18 वीं शताब्दी में यूरोप की जनसंख्या में अत्याधिक वृद्धि हुई और यह यूरोप में आर्थिक जीवन की वस्तुतः एक क्रान्तिकारी प्रक्रिया थी। यह अनुमान लगाया है कि 1700 ई. में यूरोप-महाद्वीप की कुल जनसंख्या 118 मिलियन थी जो 1750 ई. में बढ़कर 140 मिलियन हो गई और 1800 ई. में 187 मिलियन तक पहुंच गयी। पश्चिमी यूरोप के लगभग प्रत्येक देश में जनसंख्या में वृद्धि हुई। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैण्ड की जनसंख्या 18वीं शताब्दी के आरम्भ में लगभग 5 मिलियन थी जो इस शताब्दी के अंत में 9 मिलियन हो गई; फ्रांस की जनसंख्या 1715 ई. में 18 मिलियन से फ्रांसीसी क्रान्ति के समय (1789) तक बढ़ कर 26 मिलियन हो गई। जनसंख्या में इस भारी वृद्धि के कारण अनाज तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं का मांग भी बढ गई। परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन में वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जो कृषि में परिवर्तन लाने का एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुई।

(iv) मूल्यों में वृद्धि

कृषि-क्रान्ति का एक और महत्वपूर्ण कारण अनाज तथा अन्य आवश्यक खाद्य-वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि माना जाता है। मूल्यों की वृद्धि नें कृषकों को अधिक उपज पैदा करने के लिये प्रोत्साहित किया। इस समय तक पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण बदल चुका था। लोग अधिक भौतिकवादी हो गये थे ओर परलोक की अपेक्षा वर्तमान जीवन को सुखी बनाने की ओर अधिक ध्यान देने लगे थे। नगरों के व्यापारियों की तरह गांवों के कृषकों में भी अधिक धन कमाने की लालसा जागृत हो उठी थी। अतः अनाज के नित्य बढ़ रहे मूल्यों ने उन्हें कृषि के नये ढंग को अपनाकर उत्पादन बढ़ाने तथा अपनी आय में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

हरबर्ट हीटन के मतानुसार प्रारम्भ में मूल्यों में वृद्धि की लालसा कृषि के श्रेष्ठ ढंग को अपनाने का करण नहीं थी। कृषि के नये ढंगों को अपनाने के पीछे कृषकों की उत्पादन के व्यय को कम करने तथा जमींदारों की व्यर्थ भूमि से अधिक उत्पादन एवं किराया प्राप्त करने की इच्छा थी। इसका एक कारण उनमें इस शताब्दी में कृषि के नये ढंगों के बारे में उत्पन्न चेतना भी थी। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अनाज आदि के मूल्यों में वृद्धि कृषि क्रान्ति के कारणों में से एक जरूर था, चाहे यह मूल कारण न माना जाये।

(v) धनी व्यापारियों का योगदान-

17वीं एवं 18वीं शताब्दियों में यूरोप, विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप के देशों में व्यापार का अत्याधिक विकास हुआ जिसके फलस्वरूप व्यापारी बहुत धनी हो गए। इन व्यापारियों ने अपनी अतिरिक्त पूंजी गांवों में भूमि खरीदने पर लगा दी क्योंकि एक तो वे कृषि से मुनाफा कमाना चाहते थे और दूसरे वे अपनी सामाजिक स्थिति को ऊंचा करना चाहते थे। वे प्रगतिशील विचारों के थे और कृषि के नये ढंगों एवं इनके महत्व से भली-भांति परिचित थे। अतः उन्होंनें सबसे पहले कृषि के नये ढगों को अपना लिया और इस प्रकार गांवों के जमीदारों एवं कृषकों का पथ प्रदर्शन किया। निस्सन्देह व्यापारी-जमींदारों ने कृषि-क्रान्ति लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कृषि क्रान्ति का आरम्भ

इंग्लैण्ड में कृषि-क्रान्ति

इंग्लैण्ड में कृषि-क्रान्ति की शुरूआत 1700 ई. के आसपास हुई और विकास की प्रक्रिया 18वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। उपरोक्त कारणों का प्रभाव इंग्लैण्ड में अन्य यूरोपीय देशों की तुलना में सबसे अधिक और सबसे पहले पड़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि इंग्लैण्ड के ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे-छोटे किसान भूमि के स्वामी नहीं थे और वहां धनी जमींदारों अथवा कृषकों का बोलबाला था जो कृषि-परिवर्तन लाने की इच्छा भी रचाते थे तथा क्षमता भी। इंग्लैण्ड में व्यापार के अत्यधिक विकास के कारण कृषि विकास के लिए आवश्यक पूंजी की कमी नहीं थी; नगरों के बहुत से व्यापारियों ने गांवो में भूमि खरीद ली थी। कृषि के नये ढंगों को अपनाने के बारे में भी सबसे पहले चेतना इंग्लैण्ड के लोगों में ही आई। इंग्लैण्ड में कृषि क्रान्ति के विभिन्न पहलूओं का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों में करना उचित होगा:

1. रार्बट वेस्टर्न की खोज- नई जड़ वाली फसलों की खेती- कृषि-क्रान्ति से पूर्व प्रचलित कृषि-व्यवस्था के अनुसार भूमि की उत्पादन शक्ति को कायम रखने के लिये प्रत्येक वर्ष इसका एक तिहाई भाग खाली छोड देना पडता था। 17वीं शताब्दी की दूसरी चौथाई में फ्लैंडर्स के निवासी राबर्ट वेस्टर्न ने खाली छोड़ी गई भूमि में नई जड़ वाली फसलें उगाने का विचार प्रस्तुत किया। उसने अपनी भूमि पर निजी तजरबे किये और इनके आधार पर 1645ई. में अपनी पुस्तक (Discourse on Husbandry) प्रकाशित की। इस पुस्तक में उसने विस्तारपूर्वक बताया कि शलगम तथा तीनपत्तियां घास जैसी जड़ वाली फसलों की काश्त से भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ाई जा सकती है और भूमि को खाली छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ाने के अतिरिक्त इसका एक बड़ा लाभ यह होगा कि शीत ऋतु में पशुओं के लिए पर्याप्त घास अथवा चारा प्राप्त हो सकेगा। इससे पहले शीत ऋतु में घास के अभाव के कारण काफी संख्या में पशुओं को मार दिया जाता था परन्तु अब उन्हें इस प्रकार मारने की आवश्यकता न रही। पशुओं के अधिक संख्या में जीवित रहने के परिणामस्वरूप खेतों के लिए पर्याप्त खाद उपलब्ध होने की सम्भावना बढ़ गई जिससे इन्हें अधिक उपजाऊ बनाया जा सकता था।

2. जेथ्रो टुल द्वारा ड्रील मशीन का आविष्कार- जेथ्रो टुल (1674-1741) नामक अंगेज कृषक ने इंग्लैण्ड में वज्ञानिक कृषि के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह बर्कशायर का निवासी था जिसने कानून की डिग्री प्राप्त की थी और बैरिस्टर बन गया था। उसकी राजनीति में भी बड़ी रुचि थी। परन्तु स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह कानून एवं राजनीति छोड़कर अपनी भूमि में अधिक रुचि लेने लगा। वह एक धनी जमीदार था। उसने फ्रांसीसियों को अंगूरों के बागीचों में काम करते हुए देखा था और उनसे खूब प्रेरणा प्राप्त की थी। उसने अपनी भूमि का उत्पादन बढ़ाने के लिये अनेक प्रयोग किये। 1701 ई. में उसने 'ड्रिल' नामक मशीन का आविष्कार किया जो नालियां बनाती थी, बीज बोती थी ओर बीजों को उचित ढंग से मिट्टी से ढांपती थी। इस मशीन के प्रयोग से काफी समय एवं परिश्रम की बचत हो जाती थी, भूमि का वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग होता था तथा पानी एवं हवा पौधों की जड़ों तक पहुंच पाते थे। परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होती थी। जेथ्रो टुल ने खाद तथा नालियों की व्यवस्था सम्बन्धी भी प्रयोग किये। उसने अपने अनुभवों एवं विचारों के आधार पर एक पुस्तक (The Horse Hoeing Husbandry) लिखी जो 1733 ई. में प्रकाशित हुई। टुल के जीवन-काल में उसके विचारों एवं विधियों को मान्यता प्राप्त न हुई परन्तु बाद में इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड तथा यूरोप के अन्य देशों में इन्हें अपना लिया गया। इस प्रकार टुल ने कृषि के विकास में चिरस्थाई योगदान दिया है।

3. टाऊनशैड द्वारा बदल-बदल कर फसलें उगाने का प्रयोग- राबर्ट वेर्स्टन ने खाली छोडी गई भूमि पर शलगम एवं तीनपत्तियां घास जैसी जड़ वाली वस्तुएं उगाने सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया था। परन्तु इंग्लैण्ड के जमीदार तथा कृषक इसके महत्व एवं उपयोगिता को भली भांति नहीं समझ पाये थे। चार्ल्स विस्कांऊट टाऊनशैंड नामक अंग्रेज जमीदार ने इस विचार को कृषकों में सर्वप्रिया करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह जार्ज प्रथम तथा जार्ज द्वितीय के अधीन सैक्रेटरी ऑफ स्टेट रह चुका था। प्रधानमंत्री रार्बट वालपोल से मतभेद हो जाने के कारण उसने राजनीति को त्याग दिया और 1730 ई. में नारफोक में अपनी भूमि पर कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयोग करने में जुट गया। उसका अपनी भूमि पर गेंहू, शलगम, जौ तथा तीनपत्तियां घास को बदल-बदल कर बोने का प्रयोग विशेष रूप से सफल सिद्ध हुआ। इससे भूमि को खाली रखने की आवश्यकता न रही, इसकी उत्पादक-शक्ति में वृद्धि हुई और अनाज के साथ-साथ पशुओं के लिए भी पर्याप्त मात्रा

में चारा प्राप्त होने लगा टाऊनशैंड ने शलगम की फसल की उपयोगिता पर उत्साहपूर्वक बल दिया जिसका कारण उस समय के लोग उसे 'टर्पिन टाऊनशौंड' कहने लगें। टाऊनशैंड द्वारा प्रचलित की गई बदल-बदल कर फसले उगाने की विधि को इंग्लैण्ड के बहुत से कृषकों ने अपना लिया और शनैः शनैः यह विधि अन्य यूरोपीय देशों में भी प्रचलित हो गई।

टाऊनशैंड की अंग्रेज कृषकों को एक अन्य महत्वपूर्ण देन रेतली एवं दलदली भूमि को उपजाऊ भूमि में परिवर्तित करने की विधि थी। उसने यह विधि हालैण्ड से सीखी थी। उसने सिद्ध कर दिया कि रेतली अथवा दलदली जमीन में चूने-मिट्टी की खाद डालकर इसे उपजाऊ बनाया जा सकता हैं।

4. पशुओं की नस्ल में सुधार- कृषि क्रान्ति से पूर्व खेती से सम्बन्धित पशुओं की नस्लों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था जिस कारण बैल, घोड़े, भेड़ें आदि पशु बहुत दुबले होते थे और उन में प्राय छूत के रोग भी फैल जाते थे। राबर्ट बेकवैल ने भेड़, घोडा, गाय आदि पशुओं की नस्लों को सुधारने के लिए विशेष प्रयत्न किये। उसने अपने पिता के 440 एकड़ के विशाल फार्म में इन पशुओं के नये ढंग से पालन-पोषण करने के सफल प्रयोग किये। उसने एक नई किस्म की भेड़ को पाला जिसे 'न्यू लीसेस्टर' कहा जाने लगा। इस भेड का भार 60 पौंड था, जबकि इससे पहले भेड़ का भार 21 पौंड से अधिक नहीं होता था। वह अन्य कृषकों को अच्छी नस्ल की भेंड़ें उत्पन्न करने के लिए विशेष भेड़ा किराये पर दिया करता था और उनसे भारी किराया वसूल करता था। ''उसके पशु इतने हष्ट-पुष्ट होते थे और उनके मूल्य इतने अधिक होते थे कि उनके बारे में कहा जाता था, "उसके पशु इतने मंहगे है कि इन्हे खरीदा नहीं जा सकता और इतने मोटे है कि खाया नहीं जा सकता।"

चार्ल्स कोलिंग ने बैलों की नस्ल सुधारने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उस द्वारा विकसित की गई बैलों की नस्ल को 'Shörthorn' कहा जाता था। पशुओं की कई अन्य नस्लों का विकास भी हुआ। ट्रेविलियन के कथनानुसार, "इंग्लैण्ड में इस 'सुधार की शताब्दी' में भेड़ों, पशुओं एवं घोड़ों की नस्लों का पूर्णतया विकास हुआ।" इसके फलस्वरूप न केवल खेतों की काश्त हष्ट-पुष्ट पशुओं द्वारा कुशलतापूर्वक होने लगी बल्कि ऊन, मांस एवं दूध के उत्पादन में भी अत्याधिक वृद्धि हुई।

5. आर्थर यंग द्वारा खेतों की बाडबन्दी पर जोर देना- छोटे-छोटे तथा बिखरे हुए खेतों में नये वैज्ञानिक ढंगों से खेती करना सम्भव नहीं था। अतः कृषि के आधुनिक ढंग के विकास के लिये खेतों की बाड़बन्दी अति आवश्यक थी। आर्थर यंग जिसे 'जिसे नवीन कृषि का पैगम्बर' माना जाता है, ने इंग्लैण्ड के बाड़बन्दी आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसने कृषि के नये ढंगों से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखीं एवं प्रकाशित की जिनमें अन्य सुझावों के साथ-साथ खेतों की बाड़बन्दी पर अत्यधिक जोर दिया गया। 1793 ई. में वह 'कृषि बोर्ड' का सचिव बन गया। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप बाड़बन्दी आन्दोलन को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और सरकार ने अनेक बाड़बन्दी अधिनियम पास किये।

अंग्रेज जमींदारों ने वैज्ञानिक ढंग से कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के उद्देश्य से अपने खेतों की चकबंदी एवं बाडबंदी सम्बन्धी निरन्तर प्रयास किये। उन्होंने अपने खेतों के क्षेत्र बढ़ाने के लिए अपने पड़ोस के छोटे छोटे कृषकों से भूमि खरीद ली; उन्होंने मुज़ारों अथवा सहकृषकों के साथ भी समझौते कर लिये। जहां पर समझौते करने सम्भव नहीं थे अथवा बाधाओं को दूर करने के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती थी, जमीदारों ने इंग्लैण्ड की संसद से सहायता के लिये प्रार्थना की। संसद प्रायः जमीदारों का पक्ष लेती थी और बाड़बन्दी को प्रोत्साहन देने के लिये उचित कानून पास करने के लिए तैयार रहती थी। 1700-1760 ई. के बीच औसतन प्रति वर्ष लगभग चार बाड़बंदी कानून पास हुए, 1760-1792ई. के बीच औसतन 40, और 1793-1814 के बीच औसतन 80 ऐसे अधिनियम पास हुए। 1845 ई. तक कुल 4000 के लगभग बाड़बन्दी अधिनियम पास हो गये थे जिनके अन्तर्गत 60लाख एकड़ जमीन बाड़बन्दी आन्दोलन को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। इंग्लैण्ड में अब बड़े-बड़े कृषि फार्म कायम हो गए जिनकी उचित बाड़बन्दी की होती थी। इन फार्मों में कृषि के नये वैज्ञानिक ढंगों को भली-भाति कार्यरूप दिया जा सका।

6. बंजर एवं बेकार भूमि को कृषि-योग्य बनाना- यह अनुमान लगाया गया है कि 1696 ई. में इंग्लैण्ड के लगभग 10 मिलियन एकड़ भूमि बंजर एवं बेकार पड़ी थी जो कि समस्त देश के क्षेत्रफल का चौथा भाग था। इस व्यर्थ भूमि को कृषि योग्य बनाने के प्रयत्न किये गए। बंजर जमीनों में, जिन्हें पानी की आवश्यकता थी, सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध करवाई

गई और उनमें नये ढंगों एवं औजारों द्वारा काश्त करने के प्रयास किये गये। दलदली एवं रेतली जमीनों में चूने मिट्टी की खाद डाल कर तथा, जहां भी आवश्यकता थी, पानी के निकास की उचित व्यवस्था करके उन्हें कृषि -क्षेत्रों में फिर से खेती करने की व्यवस्था की गई। सांझी चरागाहों को, जहां गांव के सभी कृषकों को पशु भेजने के अधिकार होते थे, समाप्त कर दिया गया; इन्हें जमीदारों एवं अन्य कृषकों ने आपसी समझौतों के फलस्वरूप अपने-अपने कृषि-क्षेत्रों में शामिल कर लिया। इस प्रकार बंजर, बेकार एवं सांझी चरागाहों वाली जमीन का बहुत बड़ा भाग कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित हो गया। 19वीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैण्ड में केवल 2 मिलियन एकड़ भूमि बंजर अथवा सांझी रह गई।

6. आर्दश-फार्मों की स्थापना- 18वीं शताब्दी के उत्तर-अर्ध में इंग्लैण्ड के विभिन्न भागों में जमींदारों ने बडे-बडे कृषि-फार्म स्थापित कर लिए। इन फार्मो की नियमानुसार बाड़बन्दी की होती थी और इन में नवीन ढंगोंके अनुसार कृषि की जाती थी। खेती की काश्त मशीनों द्वारा की जाती थी; अच्छे बीजों एवं खाद का प्रयोग किया जाता था; फसलों को बदल-बदल कर उगाया जाता था; नई नस्लों के हष्ट-पुष्ट पशुओं को कृषि सम्बन्धी कार्यों में लगाया जाता था, आदि आदि। उदाहरणस्वरूप, कोक ऑफ होल्कहम ने एक विशाल आर्दश-फार्म की स्थापना की जिसमें कृषि के नवीन वैज्ञानिक ढंग अपनाये गये जिनके फलस्वरूप उसके खेतों के उत्पादन में लगभग दस गुणा वृद्धि हुई। इंग्लैण्ड के सम्राट जार्ज तृतीय 1760-1820 ने कृषि के नवीन ढंगों से प्रभावित एवं प्रोत्साहित हो कर विंडसर में आदर्श-फार्म स्थापित किया और वह कृषक राजा कहलाने में गर्व अनुभव करता था। कोक का अनुसरण करते हुए ड्यूक ऑफ बेडफोर्ड ने भी एक आदर्श-फार्म कायम किया। स्कॉटलैण्ड में जॉन सिन्क्लेअर 1754-1835 ने अपनी एक लाख एकड़ भूमि में विशाल आधुनिक ढंग का कृषि-फार्म विकसित किया। इसी प्रकार कई अन्य अंग्रेज जमीदारों ने भी ऐसे ही कृषि फार्म स्थापित किये जो इंग्लैण्ड में आई कृषि-क्रान्ति के द्योतिक थे तथा देश एवं अन्य देशों के कृषकों के लिए पथप्रदर्शन एवं प्रेरणा का साधन सिद्ध हुए।

इस प्रकार मशीनों, खादों एवं नालियों से सुसज्जित अंग्रेजी कृषि ने 1840 ई. के उपरान्त चांदी-युग और तत्पश्चात् स्वर्ण युग में प्रवेश किया।

पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में कृषि क्रान्ति

इंग्लैण्ड के बाद अन्य यूरोपीय देशों में इसका उदय बाद में एवं धीरे-धीरे हुआ। महाद्वीप के इन देशों में कृषि-क्रान्ति का स्वरूप भी भिन्न था। इन देशों में कृषि-क्रान्ति की प्रमुख विशेषतायें कृषि को प्राचीन सामन्तवादी व्यवस्था के प्रतिबन्धों से मुक्त करावाना तथा किसान-काश्तकार को स्वतंत्र भूस्वामी बनाना था। इन देशों में कृषि के विकास की प्रक्रिया इंग्लैण्ड की प्रक्रिया के बिल्कुल विपरीत थी। जमींदार द्वारा किसान को बेदखल करने की अपेक्षा इन देशों में किसान ने जमीदार को बेदखल कर दिया। इन देशों में कृषि विकास का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:

फ्रांस- 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप फ्रांस में दास-प्रथा तथा सामन्तों के सभी विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया और किसान स्वतन्त्र रूप से भूमि के स्वामी बन गये। परन्तु किसानों के पास छोटे-छोटे खेत होने के कारण फ्रांस में काफी समय तक कृषि का नये वैज्ञानिक ढंगों के अनुसार विकास न हो सका। इस दौरान फ्रांसीसी कृषकों में उत्पादन बढ़ाने के लिए नये ढंगों को अपनाने के बारे में चेतना आ गई। अतः 1850ई. के पश्चात फ्रांस में कृषि का आधुनिकीकरण हुआ। कृषि में मशीनों एवं नये औजारों का अधिक प्रयोग होने लगा; 1840-1890 ई. के दौरान लगभग 27 मिलियन एकड़ बंजर एवं बेकार भूमि कृषि योग्य बनाई गई; अच्छे बीजों एवं रासायनिक खादों का प्रयोग होने लगा; अत्यधिक संख्या में खेतों की बाड़बन्दी की गई। परिणामस्वरूप कृषि-उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। यह अनुमान लगाया गया है कि उपरोक्त वर्षो में गेहूं के प्रति एकड़ उत्पादन में लगभग 35 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

जर्मनी- पूर्वी जर्मनी (जिसमें प्रशिया शामिल था) की कृषि व्यवस्था इंग्लैण्ड से मिलती-जुलती थी। वहां बड़े-बड़े जमींदारों का बोल बाला था जो विशाल भूमि के स्वामी थे और काश्तकारों से खेती करवाते थे। परन्तु पश्चिमी जर्मनी में फ्रांस की भांति भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होते थे। समूचे जर्मनी की तीन-चौथाई भूमि के स्वामी किसान थे। कृषकों के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होने के कारण वैज्ञानिक कृषि का विकास धीरे-धीरे हुआ। 1771-1870 ई. के बीच विभिन्न जर्मन राज्यों की सरकारों की ओर से कृषि के सुधार सम्बन्धी आदेश जारी किये गये। परिणामस्वरूप अनेक राज्यों में खेतों की

चकबंदी एवं बाड़बन्दी की गई, चारगाहों में सांझे अधिकारों को समाप्त कर दिया गया और सांझी भूमि को कृषकों में बांट दिया गया; अच्छे बीजों एवं खादों का प्रयोग किया जाने लगा; काश्त के लिए नये औजारों एवं मशीनों को अपनाया गया; सैक्सनी, प्रशिया तथा कई अन्य जर्मन राज्यों में नई नस्लों की भेड़ें पाली गई जिसके फलस्वरूप जर्मनी में उत्तम किस्म की ऊन तैयार होने लगी। उत्तम ऊन उत्पन्न करने में जर्मनी ने स्पेन को भी मात दे दी।

डेनमार्क- डेनमार्क में सामन्त-व्यवस्था के समाप्त होने पर किसानों ने देश की काफी भूमि खरीद ली थी परन्तु जमीदारों को अपनी भूमि का विस्तार करने का अधिकार नहीं दिया गया था। जमीदारों एवं किसानों, दोनों ने ही 19वीं शताब्दी के उत्तर-अर्ध में कृषि-उत्पादन बढ़ाने के लिए नये ढंगों को अपना लिया। अच्छे बीजों एवं खादों का प्रयोग किया गया। अनाज तथा पशुओं के लिए चारा एवं घास उगाने के लिए नई विधियों तथा औजारों को अपनाया गया। परिणामस्वरूप अनाज एवं मांस के उत्पादन में बड़ी वृद्धि हुई जिसके अधिकतर भाग का इंग्लैण्ड को निर्यात किया जाने लगा। सुअर, गाय तथा मुर्गी की नस्लों को नये ढंगों के अनुसार पाला जाने लगा जिसके फलस्वरूप, दूध तथा दूध से बने पदार्थों, मांस एवं अंडों के उत्पादन में डेनमार्क अन्य यूरोपीय देशों से आगे निकल गया।

हालैण्ड- हॉलैण्ड में भी अधिकतर भूमि के स्वामी किसान थे जिनके पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े थे। यह अनुमान लगाया गया है कि आधे से अधिक भूमि के टुकड़े 2.5 एकड़ से लेकर 12.5 एकड़ तक के थे। हालैंड में काफी भूमि रेतली व दलदली थी। इसे कृषि योग्य बनाने के प्रयत्न किये गये। इस उद्देश्य के लिए चूने-मिट्टी की तैयार की गई खाद का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया जिसके फलस्वरूप बहुत सी व्यर्थ जमीन कृषि योग्य बन गई। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध जमीदारों एवं कृषि सुधारकों ने रेतीली एवं दलदली भूमि को कृषि योग्य बनाने की विधि हालैण्ड से ही सीखी थी। हालैंड में बदल-बदल कर फसलें उगाने की विधि भी प्रचलित हो गयी थी। डेनमार्क की तरह हालैंड में भी सुअर, गाय एवं मुर्गी की नस्लों को नये ढ़ग के अनुसार विकसित किया गया जिसके परिणामस्वरूप हालैंड के मांस, अण्डों एवं दूध के पदार्थों के उत्पादन में इतनी वृद्धि हुई कि इनका निर्यात किया जाने लगा।

बेल्जियम- 1815ई. तक बेल्जियम के किसान सामन्तवादी व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त हो गये थे। परन्तु वहां के कृषकों के पास भी भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े थे जिस कारण बडे पैमाने पर नये एवं वैज्ञानिक ढंगों के अनुसार कृषि का विकास न हो सका। फिर भी कृषि-परिवर्तन में बेल्जियम कई अन्य यूरोपीय देशों से आगे रहा। यहां रेतली एवं दलदली भूमि को कृषि-योग्य बनाने के सफल प्रयोग किये गए। घास का उत्पादन काफी मात्रा में होने के कारण अत्याधिक संख्या में पशुओं को नये ढंगों सें पाला जा सका। इससे काफी मात्रा में खाद भी उपलब्ध होने लगी जिसका खेतों को उपजाऊ बनाने में प्रयोग किया जा सका। भूमि को खाली छोड़ने की अपेक्षा इस पर शलगम एवं घास उगाया गया। शनैः शनैः खेती के लिए नये औजारों एवं मशीनों का प्रयोग होने लगा।

इटली- इटली के उत्तरी भागों, विशेष रूप से सार्डीनिया में कृषि का बड़ा विकास हुआ। 18वीं शताब्दी के अन्त में वहां दास-प्रथा एवं सामन्त-व्यवस्था लगभग समाप्त हो गई थी और किसान सामन्तीय बन्धनों से स्वतन्त्र हो गये थे। परन्तु किसानों से बढ़ कर वहां के जमीदारों ने कृषि परिवर्तन में योगदान दिया। कावूर 1810-1861, जो 1850 ई. में पीड़माण्ट-सार्डोनिया का कृषि-मन्त्री तथा 1852ई. में प्रधानमंत्री बना, ने स्वयं एक विशाल कृषि-फार्म की स्थापना की, जहां कृषि के नये वैज्ञानिक ढंगों को अपनाया गया। इटली के कई अन्य जमीदारों ने भी इंग्लैण्ड की नवीन कृषि विधियों से प्रेरणा प्राप्त की और उन विधियों के अनुसार कृषि-विकास के प्रयास किये। गेहूं, सन आदि फसलों को उगाया गया और रेशम के कीड़े पाले गए। शीघ्र ही इटली रेशम एवं अंगूर के उत्पादन के लिए यूरोप में प्रसिद्ध हो गया और इन दोनों का अनेक यूरोपीय देशों में निर्यात होने लगा।

स्पेन- स्पेन का अधिकतर भाग पर्वतों से घिरा हुआ था जिस कारण वहां चारगाहों की भरमार थी। इन चारगाहों के स्वामी मुख्यतः बड़े-बड़े जमीदार होते थे जो भेड़ों से उत्तम ऊन का उत्पादन करते थे। स्पेन की उत्तम ऊन की समस्त यूरोप में बडी मांग होती थी। ऊन के अतिरिक्त स्पेन में गेंहू, चावल, रेशम तथा अंगूर आदि फलों का भी उत्पादन होता था। स्पेन में 'कृषि-क्रान्ति' अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों की तुलना में बहुत बाद में आई। 20वीं शताब्दी से पहले स्पेन में कृषि-परिवर्तन बहुत कम हुआ। वहां कृषि के नये वैज्ञानिक ढंगो को इस शताब्दी में ही अपनाया गया।

कृषि-क्रान्ति के प्रभाव

कृषि-क्रान्ति आधुनिक यूरोप एवं विश्व के इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह यूरोपीय देशों के लोगों के आर्थिक जीवन में भारी परिवर्तन ले आई। यद्यपि इस क्रान्ति के सामाजिक जीवन पर कुछ बुरे प्रभाव भी पड़े, तथापि यह क्रान्ति, आर्थिक दृष्टिकोण से वरदान सिद्ध हुई। इसने विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से बदल दिया। इसके महत्वपूर्ण प्रभाव निम्नलिखित थे:

(i) उत्पादन में भारी वृद्धि- इंग्लैण्ड तथा पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों द्वारा कृषि के नये एवं वैज्ञानिक ढंग अपनाये गए- जैसे अच्छे औजारों; बीजों एवं खाद का प्रयोग, मशीन द्वारा बीज बोने की विधि, बदल-बदल कर फसलें उगाने की क्रिया, नई नस्लों के पशुओं को खेतों में लगाना आदि, के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में अत्याधिक वृद्धि हुई। इससे इन देशों की नित्य बढ़ रही जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सका। उत्पादन की वृद्धि से इन देशों की धन-सम्पति में भी वृद्धि हुई। उस समय अधिकतर यूरोपीय देश कृषि-प्रधान थे और कृषि के विकास से निस्सन्देह ये देश धनी एवं समृद्धशाली हो गए।

(ii) भूमि की मांग एवं मूल्य में वृद्धि- कृषि-क्रांन्ति ने भूमि की मांग एवं मूल्य में वृद्धि कर दी। इंग्लैण्ड तथा कई अन्य यूरोपीय देशों में भूमि का केवल आर्थिक अपितु सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी महत्व बढ़ गया था। भूमि का स्वामित्व सामाजिक सम्मान एवं प्रतिष्ठा का चिन्ह माना जाने लगा था। इसके अतिरिक्त संसद अथवा राष्ट्रीय सभा का सदस्य बनने तथा वोट देने के अधिकार के लिए भी प्रायः निश्चित भूमि का स्वामी होना आवश्यक था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1832 ई. से पूर्व इंग्लैंड की संसद में भूस्वामियों का बोलबाला था। कृषि-क्रान्ति के उपरान्त भूमि उत्पादन के रूप में पर्याप्त आय भी प्राप्त हो सकती थी। भूमि की मांग बढ़ जाने के साथ-साथ भूमि के मूल्य में भी वृद्धि हो गई। इंग्लैण्ड के धनी जमीदारों एवं व्यापारियों ने छोटे किसानों को भारी मूल्य देकर उनसे जमीनें खरीद ली।

(iii) इंग्लैण्ड में छोटी किसान-श्रेणी का अन्त- कृषि क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में छोटे किसानों की श्रेणी का अन्त हो गया। इन लोगों के पास भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े होते थे और धन का भी अभाव था। अतः वे खेती के लिए नवीन औजार एवं मशीनें खरीदने में असमर्थ थे। विवश होकर उन्होने अपनी भूमि को बड़े-बड़े जमीदारों के हाथ बेच दिया जिन्होंने इसकी काफी कीमत अदा कर दी। इन परिस्थितियों में वे गांवों को छोड़कर नगरों में चले गए जहां वे नये लगे कारखानों में श्रमिकों के रूप में काम करने लगे। छोटी किसान श्रेणी की समाप्ति अंग्रेजों के ग्रामीण सामाजिक जीवन के लिए कभी पूरी न होने वाली हानि थी। किसी भी अन्य देश में किसानों को भूमि से इस प्रकार पूर्णतया अलग नहीं किया गया।

(iv) अन्य देशों में किसानों की अवस्था में सुधार- इंग्लैण्ड को छोड़कर पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में कृषि-क्रान्ति का किसानों के पक्ष में प्रभाव पड़ा। फ्रांस, बेल्जियम, पश्चिमि जर्मनी, हालैण्ड, डेनमार्क, आदि देशों में किसान सामन्तवादी-व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त हो गए। वे भूमि के स्वतन्त्र रूप में स्वामी बन गए और उनकी आर्थिक अवस्था में दिन प्रतिदिन सुधार होता चला गया। जहां इंग्लैंड में जमीदारों ने किसानों को बेदखल कर दिया था, वहां इन यूरोपीय देशों में किसानों ने जमीदारों को बेदखल कर दिया। इन देशों के किसानों में शनैः शनैः कृषि की नई वैज्ञानिक विधियों को अपना लिया जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हुई और वे समृद्धशाली हो गए।

(v) कृषि में पूंजीवादी व्यवस्था का प्रचलन- कृषि क्रान्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव कृषि में पूंजीवादी व्यवस्था का प्रचलन था। भूमि की बाड़बन्दी के लिए तथा नई मशीनों, औजारों, बीज, नई नस्ल के पशु एवं खाद आदि खरीदने के लिये काफी धन अथवा पूंजी की आवश्यकता थी। छोटे किसानों के लिए धन के अभाव के कारण पूंजी लगाना सम्भव नहीं था। अतः बड़े-बडे जमींदारों एवं व्यापारी-जमीदारों ने अपने विशाल फार्मों पर कृषि के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में भारी धनराशि लगाई। इस प्रकार कृषि में बडे पैमाने पर पूंजीवादी व्यवस्था का प्रचलन हुआ। इस क्षेत्र में इंग्लैण्ड ने पहल की क्योंकि वहां के जमींदार एवं व्यापारी-जमींदार काफी धनी थे। अन्य यूरोपीय देशों में कृषि की बड़े पैमाने पर पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारशिला का क्रम धीरे-धीरे प्रचलित हुआ।

(vi) बेकार भूमि का कृषि-योग्य बनना- कृषि-क्रान्ति से पूर्व विभिन्न यूरोपीय देशों में हजारों-लाखों एकड़ भूमि बंजर एवं बेकार पडी थी। इस भूमि को कृषि योग्य बनाने के भरपूर एवं निरन्तर प्रयास किये गये। खेतों को जोतने के लिये नवीन वैज्ञानिक ढंग अपनाये गए; नये प्रकार के बीजों एवं खाद का प्रयोग किया गया; जमीनों की गैर-कुदरती साधनों द्वारा सिंचाई

करने की व्यवस्था की गई; रेतली एवं दलदली जमीनों में चूने-मिट्टी आदि की खाद डाली गई और अतिरिक्त पानी के निकास के लिये उचित नालियों की व्यवस्था की गई; चारगाहों अथवा सांझी भूमि को कृषकों में बांट दिया गया तथा इसे कृषि योग्य बना दिया गया; बाडबन्दी एवं चकबन्दी से भी बेकार भूमि को कृषि योग्य भूमि के क्षेत्र में लगाया गया। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड तथा अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों में लाखों एकड़ बेकार भूमि कृषि योग्य बन गई।

(vii) कृषको का उच्च जीवन-स्तर- कृषि क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप के विभिन्न देशों के जमींदारो एवं कृषकों (इंग्लैण्ड के छोटे किसानो को छोड़कर) की आर्थिक अवस्था आम तौर पर पहले से अधिक अच्छी हो गयी। कई बड़े-बड़े फार्मों के स्वामी जमींदार तो धनी हुए ही, परन्तु अन्य कृषकों (छोटे जमींदारो एवं किसानों) की आय में भी काफी वृद्धि हुई और उनका जीवन-स्तर ऊंचा हो गया। उनके पास अब अच्छे भोजन एवं पहरावे के लिए पर्याप्त साधन थे। उन्होनें शिकार करने के लिए अच्छे घोड़े पाल रखे थे। वे मदिरा-पान करते तथा अतिथियों को भी मदिरापान करवाते थे। उनके घरों में फर्नीचर, संगीत के साज़ आदि देखे जा सकते थे। उनकी स्त्रियां अच्छे वस्त्र पहनने लगी थीं तथा श्रृंगार-सामग्री का प्रयोग करने लगी थीं। यह तथ्य सभी कृषकों के बारे में शायद सत्य न हो, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पश्चिमी यूरोप के बहुसंख्यक कृषकों की आर्थिक स्थिति पहले से बहुत अच्छी हो गई थी।

(viii) गांव-समुदाय की व्यवस्था की समाप्ति- कृषि-क्रान्ति ने मध्यकालीन गांव-समुदाय की व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त कर दिया तथा सामूहिक कृषि-व्यवस्था के स्थान पर आधुनिक, व्यक्तिगत कृषि-व्यवस्था प्रचलित कर दी। इस क्रान्ति से पूर्व प्रत्येक गांव के लोग इकट्ठे मिलकर संयुक्त परिश्रम द्वारा खेती करते थे। गांव की भूमि को तीन विशाल क्षेत्रों में बांट दिया जाता था और प्रत्येक क्षेत्र को आगे छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किया जाता था। प्रत्येक कृषक को तीनों क्षेत्रों में बिखरे हुए भूमि के टुकड़ों (खेंतो) पर काश्त करनी होती थी। ऐसा करने का उद्देश्य यह भी था कि सभी कृषकों में अधिक उपजाऊ, उपजाऊ तथा कम उपजाऊ भूमि का एक समान वितरण हो सके। प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में गांव की सभा में फसलों की किस्मों को उगाने के बारे में निर्णय कर लिए जाते थे। चरागाहें, गावं की सांझी भूमि होती थी जहां सभी कृषक अपने-अपने पशु चरने के लिये भेज देते थे। कृषि-क्रान्ति के परिणामस्वरूप इस सामूहिक कृषि-व्यवस्था का सर्वथा अन्त हो गया। अब विभिन्न यूरोपीय देशों में ज़मींदार अथवा किसान व्यक्तिगत रूप में कृषि करने लगे और उन्होंने कृषि के नये एवं वैज्ञानिक ढंगों को अपना लिया। इंग्लैण्ड में जमींदारों द्वारा छोटे किसानों को बेदखल कर दिया गया; कई अन्य यूरोपीय देशों में किसानों द्वारा जमींदारों को बेदखल कर दिया गया। नगरों के कई व्यापारियों ने भी गांवों में जमीनें खरीद लीं। कृषि का वाणिज्यकरण हो गया और प्रत्येक कृषक गांव के लिए नहीं अपितु अपने निजी लाभ के उद्देश्य से खेती करने लगा।

(ix) बेरोज़गारी एवं निर्धनता- कृषि क्रान्ति का एक बुरा सामाजिक प्रभाव यह पड़ा कि इसके कारण गांवों के काफी लोगों को बेरोजगारी एवं निर्धनता का सामना करना पड़ा। क्रान्ति से पूर्व गांवों के सभी अमीर एवं गरीब लोग मिलकर कृषि का काम करते थे जिससे निर्धन लोग भी काम में लगे रहते थे और उनको जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हो जाते थे। परन्तु सामूहिक कृषि-व्यवस्था के समाप्त हो जाने से निर्धन कृषकों की अवस्था खराब हो गई। मशीनों से खेती की जाने के कारण अब काश्तकारों के लिए खेतों में काम न रहा और वे बेरोजगार हो गए। इंग्लैण्ड जैसे देश में छोटे किसानों को विवश होकर अपनी भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े बेचने पड़े और वे या तो बेरोजगार हो गए या उनकी स्थिति खेतों के मज़दूरों अथवा कारखानों के श्रमिकों की हो गई। भूमि की बाड़बन्दी हो जाने से छोटे किसानों एवं काश्तकार सांझी भूमि के लाभ से पूर्णतया वंचित हो गए। आर्थर यंग, जो भूमि की बाडबंदी का उत्साही समर्थक था, ने स्वयं माना कि "बीस में से उन्नीस बाड़बन्दी अधिनियमों से निर्धनों को भारी हानि होती है।" इस प्रकार इंग्लैण्ड तथा कई अन्य यूरोपीय देशों के भूमिहीन ग्रामवासियों की अवस्था शोचनीय हो गई। उन्हें गांवों के उत्पादन से अनाज, मांस एवं अण्डों का कोई भाग नहीं मिलता था और इन वस्तुओं को खरीदने के लिए उनके पास काफी पैसा नहीं होता था। खेतों में काम करने वाले मज़दूरों को बहुत कम वेतन मिलता था। इन निर्धन मजदूरों की अवस्था को सुधारने के लिए बाद में विभिन्न देशों की सरकारों ने कई कानून पास किये।

(x) औद्योगिक क्रान्ति के लिए मार्ग- कृषि-क्रान्ति ने विभिन्न यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति के लिये मार्ग बनाया। इस क्रान्ति के फलस्वरूप कृषि उत्पादन में अत्याधिक वृद्धि हुई जिससे कारखानों एवं मिलों में कई वस्तुएं तैयार करने के लिए काफी मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध हो सका। दूसरा, कृषि क्रान्ति के कारण गांवों में छोटे किसान, काश्तकार मुज़ारे बेरोज़गार हो गये थे अथवा खेतों में मजदूरी करने लगे थे। ये लोग बाद में कारखानों के मजदूरों के रूप में काम करने लगे। इस प्रकार कारखानों में काम करने के लिए श्रमिकों की कमी न रही। तीसरा, कृषि मशीनों अथवा नये यन्त्रों द्वारा की जाने

लगी थी। ऐसी मशीनों एवं यन्त्रों को तैयार करने के लिए कारखानों की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यकताओं की कृषि-क्रान्ति ने और कृषि-क्रान्ति की आवश्यकताओं को औद्योगिक क्रान्ति ने पूरा किया।

औद्योगिक क्रान्ति

18वीं शताब्दी के शेषार्द्ध में यूरोप में दो क्रान्तियां हुई। फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति। फ्रांस की क्रान्ति समाजिक और औद्योगिक क्रान्ति आर्थिक क्रन्ति थी। दोनों क्रन्तियों का मावन समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इतना कहना ठीक है कि क्रान्तियों का काफी महत्व है दोनों क्रान्तियों ने मानव को विकास की ओर अग्रसर किया। साधारण अर्थ में क्रान्ति का अर्थ भयानक मारकाट तथा रक्तपात किया जाता है परन्तु बिना लड़ाई झगड़े के किसी क्षेत्र में अचानक महान् परिवर्तन होना भी क्रान्ति कहलाता हैं। इंग्लैण्ड में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूवार्द्ध में औद्योगिक क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए और अचानक ही उद्योग धन्धों में महान विकास हुआ। इस अचानक विकास को ही औद्योगिक क्रान्ति का नाम दिया गया है।

इंग्लैण्ड के इतिहास में 1815 ई. को पुराने और नये युग के विभाजन की रेखा कहा जाता है। ब्रिटेन में राजनीतिक समाजिक और आर्थिक जीवन में ऐसे परिवर्तन हुए जिस के कारण ब्रिटेन ने एक नवीन और महत्वपूर्ण दिशा की ओर कदम रखा।

उन्नीसवीं शताब्दी का युग ब्रिटेन और यूरोप के लिये महत्वपूर्ण परिवर्तनों का था। इंग्लैण्ड उस समय यूरोप में सबसे आगे था उसने अब आर्थिक व्यवस्था में भी यूरोप का नेतृत्व किया और एक नवीन क्रान्ति को जन्म दिया जिसे औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं, इस क्रान्ति ने इंग्लैण्ड के आर्थिक, राजीनतिक, तथा समाजिक जीवन को प्रभावित किया। इससे व्यक्ति सम्पन्नता, और राज्य की आय में वृद्धि हुई, नवीन नगरों का निर्माण हुआ, नैतिकता पर प्रभाव पड़ा और आर्थिक साम्राज्यवाद का निर्माण हुआ। अन्त में सम्पूर्ण विश्व के लिये सामाजिक, राजनीतिक, औद्योगिक कृषि, शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन देखने में आये।

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ

क्रान्ति का अर्थ कठिन प्रतीत जरूर होता है फिर भी इसका अर्थ विभिन्न इतिहासकारों के द्वारा विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। डा० वी०पी०जी० सक्सेना संक्षेप में औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ स्पष्ट करते है "उत्पादक के साधनों में परिवर्तन होने का नाम औद्योगिक क्रान्ति है।" परन्तु इस परिभाषा से कई इतिहासकार सन्तुष्ट नहीं होता। एक इतिहासकार ने इस क्रान्ति का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया है।- "औद्योगिक क्रान्ति परिवर्तन की उस स्थिति की द्योतक है जिसके कारण से प्राचीनकाल से सीमित गृह उद्योगो की अपेक्षा आज वाष्प (भाप) अथवा विद्युत् की सहायता से बड़े-बड़े कारखानों में बहुत बड़ी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन हो रहा है।"

अठारहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक आविष्कारों का सूत्रपात होने लगा। वस्त्र की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिये कपड़े बुनने के नवीनतम साधन निकाले गये। लोहा अब लकड़ी के कोयले की आग में नहीं पिघलाया गया बल्कि पत्थर के कोयले की भट्ठी में गलाया गया। अधिक उत्पादन को खपाने के लिये उपनिवेशों की स्थापना होने लगी। इस प्रकार लोहे और कोयले की खानों के समीप विशाल नगर आबाद होने लगे।

नवीन उद्योगों का निर्माण हुआ और उनसे सम्बन्धित अनेक साधनों की प्रगति हुई। इसलिये आरनोल्ड टोयनबी ने औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है "औद्योगिक क्रान्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु विकास की निरन्तर क्रिया है।" नवीन परिवर्तन प्राचीन व्यवसाय एवं कृषि में भी हुआ उस समय खोज शुरु हुई और पता चला कि कुछ जड़ों या घास के उगाने से भूमि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है। इस तरीके का उपयोग जार्ज के प्रथम मन्त्री टाउनशेण्ड ने किया। इससे काफी काम हुआ। इससे अन्त के उत्पादन में वृद्धि हुई। कृषि के साथ कृषि योग्य भूमि को देखा गया। इससे छोटे-छोटे फार्मो को बढ़ाया गया, बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाया गया, भूमि की घेराबन्दी में वृद्धि की गई। पशुओं की नस्ल में सुधार किया गया।

प्रो० हेजन ने औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ समझाते हुए लिखा है "औद्योगिक क्रान्ति कौं अर्थ है घरेलू उत्पादन प्रणाली को कारखानों की उत्पादन प्रणाली में बदल देना।" औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1837 ई० में फ्रांस के समाजवादी नेता लुई ब्लेनकुई (Blanqui) ने किया। उसका विश्वास था कि फ्रांस की क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति

आधुनिक इतिहास की दो महत्वपूर्ण क्रान्तियां हैं। जिन्होनें मध्यकालीन और आधुनिक सभ्यता का भेद स्पष्ट किया है। यह क्रान्ति बिना रक्तपात के शुरू हुई।

औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ

इस मदान क्रान्ति का शुभ-आरम्भ इंग्लैण्ड से हुआ। यह क्रान्ति इंग्लैण्ड में पहले देखी गई। अठारहवीं शताब्दी में पहला अविष्कार सूती कपड़े के उद्योग में हुआ। लंकाशायर में 1738 में जान के ने फ्लाईंग शटल का आविष्कार किया जिसे करघे के दोनों तरफ फैंका जा सकता था इससे कपड़े की बुनाई तेज हो गई। इसी कारण सूती धागें की मांग बढ़ गई, इस मांग की पूर्ति के लिए जेम्ज हारग्रीव्ज (Jamesa Hargreavesa) ने 1765 ई० में 'Spinning Jenny' का आविष्कार किया।

उसने अपनी मशीन का नाम अपनी पत्नी के नाम पर 'स्पिनिंग जेनी' रखा था। 1771 ई० रिचर्ड आर्कराई (Richard Arkwright) ने कातने के चक्के को घुमाने के लिये (Spinning Frame) पानी का प्रयोग शुरू किया ओर सेमुअल क्रोम्पटन (Samuel Crompton) ने एक ऐसी मशीन तैयार की जिससे कताई जल्दी हो सकती थी, इसे (Crompton's Mule) कहते थे। 1785 ई० में पादरी एडमण्ड कार्टराइट (Edmund Cartwright) ने पावर लूम (Power Loom) का आविष्कार किया जिस से बुनाई शीघ्रता से होने लगी।

कोयला और लोहा **(Coal and Iron Industry)**—मशीनों के कारण पत्थर के कोयला का उपयोग शुरू हुआ हेनी कोर्ट (Henry Cort) ने लोहा बनाने की भट्ठी का निर्माण किया। रेलवे पुल, तथा पानी के जहाज आदि भी बनने लगे।

भाप शक्ति **(Steam Energy)**—1769 ई० में जेम्स वाट (Jamesa watt) ने भाप के इंजन का प्रयोग शुरू किया।

रेल का इंजन **(Railway Engine)**—भाप का प्रयोग होने से रेल का आविष्कार हुआ। 1813 में जार्ज स्टीफेंसन (George Stephens) ने भाप का इंजन बनाया जिस की गति तीन मील प्रति घण्टा थी। 1818 में रेल लाईन बिछाने का कार्य शुरू हुआ और 1850 तक यह कार्य बढ़ता ही रहा।

सड़के और नहरें **(Road and Canals)**—1811 में जान मेंकडम (John Loudon, Macadam) ने सड़क बनाने का नया तरीका निकाला।

खान-उद्योग **(Coal Minesa)**—1815 में खानों में पहले गैसों में आग लग जाने के कारण दुर्घटनाएं होती थीं। ऐसे समय 'हम्फ्री डेवी का सुरक्षित लैम्प' (Humphrey Davy's Safety Lamp) का आविष्कार हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात के कारण

व्यावसायिक क्रान्ति सबसे पहले इंग्लैण्ड में हुई। इस क्रान्ति से काफी परिवर्तन हुए: (1) यन्त्रोद्योग का विकास, (2) इस्पात बनाने की प्रणाली का विकास, (3) कपड़ा बनाने के लिए वाष्प चलित यन्त्रों (Steam Enginesa) का विकास, (4) यातायात का विकास।

सवाल यह उठता है कि यह औद्योगिक क्रान्ति सबसे पहले इंग्लैण्ड में क्यों हुई यद्यपि फ्रांस की जनसंख्या, पूंजी, आयात-निर्यात, व्यापार, औपनिवेशिक व्यापार इंग्लैण्ड से अधिक विकसित थे।

(1) इंग्लैण्ड के पास धन की अधिकता—18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की विदेशी व्यापार की उन्नति हो चुकी थी और नवीन आविष्कारों से लाभ उठाने के लिए उसके पास धन अधिक था। इंग्लैण्ड के पूंजीवादी कारखाने खोलने में अपनी पूंजी लगाने की क्षमता रखते थे।

(2) इंग्लैण्ड के पास व्यापारिक मण्डियां—आविष्कारों से उत्पादन बढ़ता गया जिसके लिए देश और विदेश में माल बेचने के लिए उसके पास बड़े इलाके थे। इन मंडियों के कारण कारखानेदारों को प्रोत्साहन मिलता था।

(3) इस्पात बनाने की सुविधाएं—इंग्लैण्ड के पास इस्पात बनाने की सुविधाएं थीं। वहां लोहे और कोयले की खानें पास-पास थीं।

(4) यन्त्रों का विकास–इंग्लैण्ड में यन्त्रों का विकास सबसे पहले हुआ। बढ़ती हुई खतप को पूरा करने के लिए उत्पादन की गति बढ़ाने की आवश्यकता थी। इसलिए आविष्कारों का ध्यान इस ओर गया।

(5) औपनिवेशिक व्यापार–18वीं शताब्दी में औपनिवेशिक व्यापार काफी आगे बढ़ गया। मानचैस्टर और लिवरपूल में उत्पादन बढ़ा जिसकी खपत भारत में होती थी। बढ़ते हुए औद्योगिक विकास की पूर्ति बढ़ता हुआ व्यापार करता था।

(6) बैंक प्रणाली का विकास–फ्रांस से पहले इंग्लैण्ड में बैंक प्रणाली का विकास हुआ। बैंकों में संचित धन उद्योगों में लगाया जा सकता था। इंग्लैण्ड के पूंजीपति विश्वास से यहां धन लगा सकते थे।

(7) इंग्लैण्ड के व्यापार जहाजों की कुशलता–इंग्लैण्ड के व्यापारी को जहाजों के विकास से दूसरे की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। यातायात के साधनों के विकसित होने का लाभ उद्योगपतियों ने पूरा-पूरा उठाया। इन लोगों को काफी लाभ हुआ। इनके कारण इंग्लैण्ड का माल विश्व में हर स्थान में पहुंचने लगा।

(8) भौगोलिक स्थिति से इंग्लैण्ड का महत्त्व–इंग्लैण्ड का महत्त्व भौगोलिक दृष्टि से कहीं अधिक है। यह एटलांटिक सागर (Atlantic Ocean) और यूरोप के बीच है। इसलिए यह अमेरिका तथा यूरोप के विभिन्न भागों में सम्पर्क आसानी से स्थापित कर सकता है।

(9) विचारों की स्वतन्त्रता–इंग्लैण्ड में विचारों, भाव प्रकट करने तथा लिखने की स्वतन्त्रता थी। इस कारण वैज्ञानिक आविष्कार होने में सुविधा मिली।

(10) राजनैतिक स्थिरता तथा शान्ति–राजनैतिक स्थिरता, शान्ति तथा व्यापारिक सुरक्षा के कारण भी इंग्लैण्ड में औद्योगिक विकास हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति की उत्पति के कारण

क्रान्ति किसी भी प्रकार की हो, उसके सफल संचालन के लिये कुछ कारण अवश्य होते हैं। अतः औद्योगिक क्रान्ति जैसी महत्वपूर्ण एवं दीर्घकालीन क्रान्ति के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह क्रान्ति अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही आरम्भ क्यों हुई और इतने दीर्घकाल तक वह किन साधनों के सहारे चलती रही। यदि हम इसके कारण का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो वे तत्व हमें यूरोप की तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में अन्तर्निहित मिलते है। इस क्रान्ति के प्रेरक तत्व निम्नलिखित माने जाते हैं।

1. जनसंख्या में वृद्धि- अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप के देशों की जनसंख्या में आशातीत वृद्धि हो गई थी।। जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण की दैनिक जीवन की आवश्यकताओं में भी वृद्धि दिनों-दिन होती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति में लघु-उद्योग व कुटीर उद्योगों के माध्यम से उत्पादित सामान जनसाधारण के लिए पर्याप्त नहीं होता था। इस कारण वैज्ञानिक ऐसे साधनों की तलाश करने लगे जिनसे कि उत्पादन में वृद्धि हो सके। उनकी इस अभिलाषा ने औद्योगिक क्रान्ति के सूत्रपात में महान प्रेरणा प्रदान की।

2. जीवन स्तर का उन्नत होना- जैसा कि बताया जा चुका है कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों की आवश्यकताएं भी दिनों-दिन वृद्धि पा रही थीं। आज के समाज में मानव की दैनिक आवश्यकताओं की वृद्धि से प्रयोजन उसके जीवन-स्तर के उन्नत होने से लिया जाता है। अतः स्पष्ट है कि अठारहवीं सदी में यूरोप के लोगों का जीवन-स्तर काफी उन्नत हो गया। इसके पीछे विकसित वाणिज्यवाद तथा पूंजीवाद थे। मनुष्य अब मोटे और खुरदरे वस्त्र धारण न कर मुलायम व अच्छे रंगो से रंजित वस्त्र धारण करना चाहते थे। जीवन के कार्य-कलापों में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं को अब मानव विकसित एवं अधिक आराम प्रदायक रूप में देखना चाहता था। उन वस्तुओं का इस प्रकार का रूपान्तर मशीनों के माध्यम से ही हो सकता था। इस कारण अब लघु-उद्योगों का स्थान मशीनें लेने लगीं। उन मशीनों के माध्यम से उत्पादन में भी वृद्धि हुई तथा साथ में वस्तुओं का भी नवीनीकरण सम्भव हो सका।

3. यूरोप में साम्राज्यवाद का प्रबल होना- अठारहवीं सदी में यूरोप की यह अवस्था नहीं रही थी जो उसकी चौदहवीं व पन्द्रहवीं शताब्दियों में थी। अठारहवी शती के अन्तिम चरण में होने वाली फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने समस्त

यूरोप को झकझोर कर रख दिया था। परन्तु यह भी सत्य है कि इस क्रान्ति ने वहां राष्ट्रवाद को भी प्रबल बल दिया था। राष्ट्रवाद के प्रभाव से यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता की भावना हिलोरे लेने लगी और उन्होंने आसपास व दूर के निर्बल देशों को अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा का ग्रास बनाना आरम्भ किया। इस साम्राज्यवादी दौड़ में इंग्लैण्ड व फ्रांस की कड़ी प्रतिद्वंदता आरम्भ हुई। स्पेन व बेल्जियम भी इस दौड़ में भाग लेने को आतुर हो उठे। इस साम्राज्यवाद के प्रसार का परिणाम यह निकला कि शक्तिशाली देशों को अपने पराधीन देशों से कच्चा माल सुगमता से उपलब्ध होने लगा। इसके साथ ही यूरोप के शक्तिशाली एवं विकसित देशों को अपना उत्पादित सामान अपने ही उपनिवेशों में खपाने का अवसर मिल गया।

4. व्यापारिक क्रान्ति- निःसंदेह यह सत्य है कि औद्योगिक क्रान्ति से व्यापारिक क्रान्ति और प्रखर हुई थी पर यह भी सही है कि व्यापारिक-क्रान्ति का आरम्भ औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व हो गया था। इगलैण्ड, फ्रांस व स्पेन में व्यापारिक होड़ सोलहवीं सदी में ही आरम्भ हो गई थी। वे एशियाई व अमेरिका के देशों में अपना-अपना व्यापार विकसित करने में व्यस्त थे। भारत में इंग्लैण्ड व फ्रांस की व्यापारिक कम्पनियां स्थापित हो गई थीं। अतः स्पष्ट है कि यूरोप के देश सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही उपनिवेशीय व्यापार में व्यस्त हो गये। परन्तु उपनिवेशीय व्यापार की सफलता के लिए वस्तुओं का अधिक उत्पादन आवश्यक था। अतः व्यापारिक क्रान्ति ने भी औद्योगिक क्रान्ति को प्रेरणा प्रदान की।

5. यातायात के साधनों का विकास- व्यापार के विकास में यातायात के साधनों से सहयोग मिलता है। आन्तरिक व्यापार के विकास हेतु तो पक्की सड़कों का निर्माण आरम्भ हो ही गया था। परन्तु कुतुबनुमा के आविष्कार के उपरान्त पुर्तगाल व स्पेन समुद्री मार्गो की खोज में जुट गये। उनके इस प्रयासों का परिणाम यह निकला कि यूरोप के देश अमेरिका व एशिया के कई देशों में जलमार्गो से आने-जाने लग गये। समुद्री मार्ग के विकसित हो जाने पर ही यूरोप के देश उपनिवेशीय व्यापार में सफल हुए। यातायात के साधनों के विकसित हो जाने पर व्यापार का क्षेत्र विस्तीर्ण हो गया और व्यापार का क्षेत्र विस्तृत हो जाने पर अधिक उत्पादन आवश्यक हो गया। इस अधिक उत्पादन हेतू विशाल यन्त्रों का सहारा लिया गया।

6. शिक्षा का विस्तार- यूरोप में आधुनिक युग का आरम्भ शिक्षा के विस्तार के साथ हुआ। शिक्षा के प्रसार से जन-साधारण के ज्ञान में विकास हुआ। वे अब मध्य-काल की भांति अन्ध-विश्वासी नहीं रहे। छापेखाने के आविष्कार ने शिक्षा-प्रसार व ज्ञान की रश्मियों के विकीर्ण में महान सहयोग दिया। छापेखानें की सहायता से मुद्रित समाचारों के माध्यम से अन्य देशों के विषय में जानकारी सुगमता से होने लगी। इससे राष्ट्रीय भावना प्रबल हुई तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का मार्ग खुल गया। दूसरे देशों के भौगोलिक ज्ञान से वहां से आयात करने वाले कच्चे सामान की जानकारी मिली तथा वहां भेजे जाने वाले तैयार माल का भी क्षेत्र ज्ञात हुआ। इस प्रकार शिक्षा के प्रसार ने भी औद्योगिक-क्रान्ति में अपूर्व सहयोग प्रदान किया।

7. विज्ञान का प्रसार- विशाल यन्त्रों का निर्माण विज्ञान की सहायता से ही सम्भव हो सका। प्रौद्योगिकी प्रगति पदार्थ विज्ञान से ही सम्भव हो सकी। इसके अलावा रसायन-शास्त्र में भी उस समय अच्छा विकास हुआ। इससे वस्त्रों के रंगने का ज्ञान उपलब्ध हुआ। वस्त्रों के रंगने के अलावा रसायन-शास्त्र की सहायता से ही लोहा व इस्पात का उत्पादन सम्भव हुआ और विशाल यंत्रों का निर्माण इस्पात व लोहे से संभव हो सका। इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति का आशाप्रद प्रसार विज्ञान ने ही किया।

8. शक्ति के साधन- विशाल यंत्रों के निर्माण हेतु कच्चे लोहे को गलाने हेतु शक्ति की आवश्यकता थी। लकड़ी की गर्मी में लोहा पिघलना अति दुष्कर कार्य था। परन्तु जब कोयले की खानें खोदी जाने लग गई तो पत्थर के कोयले की गर्मी से कच्चा लोहा गलाया जाने लगा और उससे निर्मित इस्पात से यन्त्रों का निर्माण होने लगा। यन्त्रों के निर्मित हो जाने के उपरान्त उनको चलाने की समस्या उत्पन्न हुई। परन्तु कोयले की उपलब्धि ने इस समस्या का भी समाधान कर दिया। कोयले की गर्मी को वाष्प शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा तथा उससे यंत्र-संचालित होने लगे। यंत्रों के संचालन से ही दैनिक जीवन की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा। कोयले के अलावा आज तो शक्ति के अनेक विकसित साधन उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से विशालकाय यंत्र सुगमता से संचालित हो रहें हैं और औद्योगिक-क्रान्ति प्रखर एवं विश्वव्यापक बन रही है। इसमें विद्युत व जल-विद्युत परम सहयोगी हो रही है। परमाणु-शक्ति का भी प्रयोग किया जाने लगा है।

9. व्यापारी वर्ग- यूरोप में आधुनिक युग के आरम्भ होते ही व्यापारी-वर्ग भी पनपने लगा। सामन्तवाद के समाप्त हो जाने से व्यापारी वर्ग शक्तिशाली एवं महान शासकों के संरक्षण में पनपने लगा। अपने शासन के शक्तिशाली होने पर वे निःसंकोच एवं निर्भीक होकर विदेशों में जाकर व्यापार करने लगे। इससे व्यापारी वर्ग दिन पर दिन धनी होने लगा और वह अपने धन को बड़े कारखानों की स्थापना में लगाने लगा। उसके इस प्रयास का प्रतिफल यह निकला कि यूरोप में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित होने लगे और उन कारखानों से उत्पादन दिनोंदिन वृद्धि पाने लगा। इस प्रकार व्यापारी वर्ग ने भी अपने धन की सहायता से औद्योगिक क्रान्ति को विकसित बनाने में अपूर्व सहयोग दिया।

10. फ्रांस की राज्य-क्रान्ति- अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने एक ओर तो नर-संहार का वीभत्स दृश्य प्रस्तुत किया तथा दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति के विकास का समुचित क्षेत्र प्रस्तुत किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से उत्पन्न युद्ध की भयंकर ज्वाला ने अपने पडौसी राष्ट्रों के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया था। नैपोलियन ने 'बर्लिन-आज्ञा' और 'मिलान-आज्ञा' की घोषणा कर अपने अधीन राज्यों को इंग्लैण्ड से सामान मंगाने के लिये मना किया। इन आज्ञाओं की घोषणा के उपरान्त भी यूरोपीय देश चोरी-छिपे इंग्लैण्ड से सामान मंगाते रहे और साथ ही वे अपने यहां भी औद्योगिक विकास का प्रयत्न करते रहे। इसके बाद शान्ति स्थापना पर तो ये देश तेजी से अपने औद्योगिक विकास में लग गये। इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास के लिये तो इस क्रान्ति ने एक स्वर्ण अवसर प्रदान किया था।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम

रैमजे म्यूर का कहना है कि औद्योगिक क्रान्ति एक मौन किन्तु महान क्रान्ति थी। इस क्रान्ति ने मानव जीवन में महान परिवर्तन किये। मनुष्यों के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में इस क्रान्ति से महान परिवर्तन आये। उन महान परिवर्तनों में से कुछ प्रमुख अग्रलिखित हैं-

(अ) सामाजिक परिणाम

1. समाज का वर्गीकरण- क्रान्ति से पूर्व सामन्त व धर्माधिकारियों का तो एक वर्ग था। यह वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त होता था। यह वर्ग धनी होने के कारण सुखी जीवन व्यतीत करता था। दूसरा वर्ग मध्यम श्रेणी के लोगों का था। इस वर्ग के लोगों का जीवन सुखी नहीं था। तीसरा वर्ग था कृषक व मजदूरों का। इस वर्ग का सामंतों द्वारा शोषण होता था। अतः उनके जीवन में भी आनन्द नहीं था। परन्तु औद्योगिकीकरण से एक नवीन वर्ग और पनप गया और वह वर्ग पूंजीपितयों का था। मशीने खरीदने तथा व्यापार जमाने में धन की परम आवश्यकता होती है। अतः यूरोपीय देशों में ज्यों-ज्यों उद्योगों का मशीनीकरण होता गया त्यों-त्यों वहां पूंजीपतियों का नवीन वर्ग पनपता गया। औद्योगिक-क्रान्ति के परिणामस्वरूप पूंजीपति दिन पर दिन शक्तिशाली एवं धनी होते गये और वे अपनी पूंजी से कारखाने खोलते गये। सामन्त वर्ग के स्थान पर यह वर्ग समाज में अधिकाधिक सम्मान पाता गया। प्रो० डेविड ने लिखा है- "उद्यमशील व्यापारियों और निर्माताओं को ही सम्पत्ति और सत्ता प्रदान करके तथा औद्योगिक श्रमजीवी वर्ग के निर्माण द्वारा ही औद्योगिक-क्रान्ति के प्रमुख रूप से शासन और राजनीति को प्रभावित किया।" इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री डिजरैली ने भी लिखा है- " दोनों के कानून में अन्तर था। पूंजीपति धनी थ और मजदूर गरीब। धनी और गरीब का अन्तर कोई नया नहीं था। किन्तु मशीन और फैक्ट्री के कारण दोनों के ह ब की खाई गहरी होती चली गई.....।"

2. मजदूर वर्ग की दयनीय अवस्था- इस औद्योगिक विकास में मजदूरों का जीवन दयनीय हो गया। उन्हें अपने गांवों को छोडकर औद्योगिक नगरों में आना पड़ा जहां की जन-संख्या औद्योगिक विकास के कारण दिनोंदिन बढ़ रही थी। उन्हें कारखानों में बारह से चौदह घण्टों तक काम करना पड़ता था। फैक्ट्रियों का निर्माण आज का सा स्वास्थ्यप्रद नहीं होता था। उनके भवन अन्धकारपूर्ण, शुद्ध हवा से वंचित तथा गन्दे होते थे। फैक्ट्री के कार्य-काल में मजदूरों के जीवन की सुरक्षा नहीं होती थी। उनकी मजदूरी कम तथा उन्हें कार्य अधिक करना होता था। उन दिनों बोनस का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। उनको फैक्ट्री में जीवन भर एक ही प्रकार का काम करना पड़ता था।इस कारण वह कार्य भी उन्हें रुचिपूर्ण नहीं रहता था। इसके अलावा उन्हें कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। तनिक से अपराध पर उन पर जुर्माना कर दिया जाता था व शारीरिक यातना भी दी जाती थी। उनके वस्त्र गन्दे व भोजन अपौष्टिक होते थे। निवास के लिए उन्हें कारखानों के पास ही क्वार्टर दिये जाते थे जो छोटे, तंग तथा स्वच्छ हवा से परे होते थे। मजदूरों को इस प्रकार के क्वार्टर्स में रहने को विवश होना पड़ता था; क्योंकि वे अब संपत्तिहीन, मुद्राहीन तथा घरहीन हो गये थे।

मजदूर वर्ग में पुरुष, स्त्री व बच्चे सभी होते थे। स्त्रियों को पुरुषों से कम मजदूरी मिलती थी। इस कारण कभी-कभी तो पुरुष-मजदूरों को हटा कर स्त्रियों को रख लिया जाता था। उनसे भी कठोर कार्य लिया जाता था। बहुधा स्त्रियों से कोयले की खानों में काम लिया जाता था जहां कि उन्हें शुद्ध वायु से वंचित रहना पड़ता था। इसका उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता था और गर्भवती स्त्रियों पर तो तलघरों में काम करने का प्रभाव और भी बुरा पड़ता था।

3. बच्चों का शोषण- स्त्रियों के अतिरिक्त कारखाने के स्वामी पैसे बचाने के लिये बच्चों को भी काम पर लगा देते थे। 6 वर्ष की आयु के बच्चों को ही खानों व कारखानों में नौकर रख लिया जाता था। खानों में वे कोयले से लदे वैगनों को पेट के बल खींचते थे। बच्चो के साथ बच्चियां भी नौकर रखी जाती थीं। वे उन कोयलों के वैगनों को पीछेसे धकेलतीं थीं। इन बच्चे-बच्चियों की मजदूरी और भी कम दी जाती थी। दुबले-पतले व अल्पपोषित तीन साल के बच्चों को कभी-कभी धुंआ छोडती चिमनियां साफ करना पड़ता। यह कार्य बड़ा ही दर्दनाक होता था। कभी-कभी तो अनाथालयों के प्रबन्धक अनाथ बच्चों की संभाल से बचने के लिये उन्हें कारखानों में मालिकों के हवाले कर देते थे भाग जाने से रोकने के लिये उन्हें मशीनों के साथ जंजीरों से जकड़ देते थे। तथा नींद से मुक्त रखने के लिये उन्हें कोड़े मारे जाते थे।

कारखानों के मालिकों को मजदूरों के दु:ख-दर्द की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी। उन्हें केवल अधिकाधिक धन कमाने की चिन्ता रहती थी। इसका परिणाम यह होता था कि मजदूरों का स्वास्थ्य शीघ्र ही खराब हो जाता था। स्त्रियां व बच्चियां तो रविवार को पूर्ण विश्राम कर लेती थीं ताकि आगामी सप्ताह के काम के लिए वे समर्थ बन जावें। मजदूर नाना प्रकार की बीमारियों से सदैव ग्रसित रहते थे। क्षय रोग, मलेरिया, टाईफाइड-ज्वर व चेचक के वे शिकार रहते थे। औद्योगिक नगर ज्यों-ज्यों घने आबाद होते जा रहे थे, वैसे-वैसे मजदूरों की मृत्यु संख्या भी बढ़ती जा रही थी।

4. संयुक्त परिवारों का टूटना- औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व कृषि भी छोटे खेतों में होती थी तथा दैनिक जीवन की वस्तुओं का उत्पादन भी गृह-उद्योग धन्धों से ही होता था। जीविका उपार्जन के इन दोनों ही साधनों से गांवों की संयुक्त परिवार व्यवस्था व्यवस्थित बनी हुई थी। परन्तु कारखानों के स्थापित होने से किसान मजदूरी करने नगरों में आ गये। उधर गृह-उद्योग इन फैक्ट्रियों से नष्ट हो गये तो उनके कारीगर भी मजदूर बन कर नगरों में आ गये। इस प्रकार ग्रामों की संयुक्त परिवार प्रथा दिन पर दिन शिथिल पड़ने लगी।

5. मजदूरों का जीवन अनैतिक होना- मजदूरों को कारखाने में बारह से चौदह घण्टे कठोर काम करना पड़ता था। कारखानों से वे पूर्ण थके आते थे। नीरसता, मानसिक तनाव तथा बहुत देर तक काम करने के कारण खिन्न होकर मजदूर मद्यपान और अनाचार की ओर चल पड़ते थे। मद्यपान के साथ जो अन्य बुराइयां सम्भावित होती हैं वे सब उनमें घर कर जाती थीं। जुआ वे खेलते थे तथा वेश्यागामी वे हो जाते थे। इसी प्रकार स्त्रियां चरित्र से गिर जाती थीं। उनमें भी नाना प्रकार के व्यसन घर कर जाते थे। सत्य तथा सदाचार उनके जीवन में कोई महत्व नहीं रखता था।

6. जनसंख्या में वृद्धि- औद्योगिक विकास से जनसंख्या में आशातीत वृद्धि हुई। औद्योगिक क्रान्ति ने मानव जीवन को अनेक सुख सुविधाएँ प्रदान कर दीं। जिससे जन-साधारण का जीवन दीर्घायु हो गया। इसके अलावा जिन देशों ने इस क्षेत्र में जितनी प्रगति की वहाँ की आबादी उतनी ही बढ़ी। इंग्लैण्ड में अन्य पड़ौसी देशों के मजदूर आ गये। 1700 ई. में इंग्लैण्ड की आबादी 55लाख थी तो 1750 में 60 लाख हो गई और वही 1801 में 90 लाख हो गई। इस क्रान्ति का विकास यूरोप के पश्चिमी भाग में हुआ तो पश्चिमी यूरोप की जन-संख्या पूर्वी यूरोप से स्वाभाविक रूप से बढ़ गई। आबादी की वृद्धि आमतौर से औद्योगिक नगरों में हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि उन औद्योगिक नगरों का जीवन स्वास्थ्य के लिए और भी दूषित हो गया। कारखानों से निकलने वाली धुंआ नगर की सारी वायु दूषित कर देता था। वहां मकान मंहगे व गन्दे मिलते थे। अत: दीन मनुष्यों को नीचे के अंधेरे मकानों में रहना पड़ता था। औद्योगिक नगरों का ट्रेफिक बढ़ जाने के कारण भी लोगो के जीवन पर बुरा असर पड़ता था तथा जीवन भी सदैव संकटग्रस्त रहने लगा।

7. मानव जीवन का सुखी होना- उपयक्रक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि कारखानों कें प्रादुर्भाव से मानव-जीवन दु:खी एवं अस्वास्थप्रद हो गया। परन्तु इसके विपरीत हमारे सामने मानव जीवन का दूसरा स्वरूप भी प्रस्तुत है। इन कारखानों के प्रभाव से उत्पादन में वृद्धि हुई। दैनिक जीवन की वस्तुएं सस्ती एवं अच्छी मिलने लगीं। अधिक उत्पादन से कारखानों के स्वामी व उनका देश अधिक धनाढ्य हो गये। पूंजीपति इस क्रान्ति द्वारा प्रस्तुत विभिन्न उपकरणों

से अपना जीवन सुखी एवं आरामदायक बनाने लगे। नवीन आविष्कारों ने जीवन के विभिन्न उपकरण प्रस्तुत किये, उनके परिणामस्वरूप मानव-जीवन का स्तर ऊंचा उठा। यदि हम आज के जीवन की तुलना दो सौ वर्ष पुराने जीवन से करें तो हमें मानव जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर दृष्टिगत होता है और इसका श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को ही जाता है। मानव-समाज को यदि उपभोग के लिए विकसित यातायात व संदेशवाहन के साधन सुलभ हुए तो इसका श्रेय भी औद्योगिक क्रान्ति को ही जाता है। इन दोनों साधनों ने मानव जीवन को सुखी एवं सुविधाजनक बनाया।

(ब) राजनीतिक परिणाम

1. साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का प्रसार- ज्यों-ज्यों देशों का औद्योगिक विकास वृद्धि पाता गया त्यों-त्यों उन देशों को अपने अधिक उत्पादन को खपाने की चिन्ता सताने लगी। अधिक उत्पादन खपाने के साथ-साथ अपने औद्योगिक विकास को बनाये रखने के लिए उन्हें कच्चे माल की भी चिन्ता हुई। इन दोनों चिन्ताओं का निवारण उन देशों को साम्राज्यवाद के प्रसार में दृष्टिगत हुआ। इसलिए उन औद्योगिक देशों ने विश्व में जहां कहीं भी संभव हो सका अपना साम्राज्य बढ़ाना आरम्भ किया तथा जगह-जगह अपने उपनिवेश कायम करना शुरू किया। इस क्रान्ति का प्रारम्भ सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ और वहीं पर यह क्रान्ति अत्यधिक विकसित हुई। इस कारण साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद में भी समस्त यूरोपीय देशों में इंग्लैण्ड ही आगे रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के समय विश्व के समस्त महाद्वीपों में इंग्लैण्ड के उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। उसके विशाल साम्राज्य में कभी सूर्य नहीं छिपता था।

2. सरकार द्वारा व्यापार में अहस्तक्षेप की नीति का आचरण करना- औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ होने के समय इस क्रान्ति का सारा भार व्यापारियों व उद्योगपतियों पर ही था। इस क्रान्ति को सफलीभूत बनाने की दृष्टि से सरकार ने व्यापारिक विषयों में अहस्तक्षेप की नीति अपनाई। आज की भांति उस काल में सरकार ने राष्ट्रीयकरण व बात-बात में हस्तक्षेप करने की नीति नहीं अपनाई। उद्योगपति अपने उद्योगों में स्वतन्त्र थे। उत्पादन में वे मुक्त प्रतिद्वन्द्वता की भावना रखते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रों का औद्योगिक विकास दिनोंदिन होता चला गया।

3. मजदूरों का संगठित होना- जैसा कि बताया जा चुका है कारखानों में मजदूरों की अवस्था दयनीय थी। स्वामी केवल उनसे काम लेना जानते थे। उनके दुःख-दर्द से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। वे मजदूरों का नाना प्रकार से शोषण करते थे। उन्हें करखानों में किसी प्रकार की सुविधा प्रदान नहीं करते थे। काम लेते समय उन्हें नाना प्रकार की यातनाएं दी भी जाती थीं।

इसका परिणाम यह हुआ कि मजदूर-वर्ग अपनी समस्याओं पर सामूहिक रूप से विचार करने लगा और बाद में उनका हल भी सामूहिक एवं संगठित रूप से ढूंढने लगा। इसके फलस्वरूप उन्होंने अपने विभिन्न प्रकार के संघ बनाना आरम्भ कर दिया। आज मजदूर अपने संघों के अन्तर्गत संगठित हैं। इस श्रमिक संगठनों के निर्माण में कई समाज सुधारक और राजनीतिक विचारकों ने भी सहयोग दिया। इंग्लैण्ड में रोबर्ट ओवन ने श्रमिकों की दयनीय अवस्था पर प्रकाश डाल कर संसद में इनके सुधारों की मांग की। अंत में संसद ने श्रमिकों के भले के लिए कुछ कानून भी बनाये। इससे श्रमिकों में संगठित होने की भावना और भी प्रबल हुई और उन्होंने अपने ट्रेड यूनिन के माध्यम से सरकार में भी प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का प्रयास किया। संघों के माध्यम से वह अपनी समस्याओं का समाधान सुगमता से कर लेता है। इन विभिन्न प्रकार के संघों से सरकार के सामने विभिन्न प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हो गईं और उनके समाधान के लिए सरकार को विभिन्न प्रकार के कानून बनाने पड़े।

4. अन्तर्राष्ट्रीय भावना का प्रसार- इस औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व के लोगों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना का भी प्रसार किया। एक देश के लोग दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बंध स्थापित करने लगे। पिछड़े देश विकसित देशों के ऊपर आश्रित हो गये। विकसित देशों के उत्पादन से अविकसित देशों के लोंगों की इच्छायें पूर्ण होने लगीं। इसी प्रकार विकसित राष्ट्र अविकसित देशों के कच्चे माल पर आश्रित रहने लगे। इसका परिणाम यह निकला कि एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियों के सम्पर्क में अधिक आये और एक-दूसरे के भले बुरे की सोचने लगे। इसके अलावा विश्व के सारे मजदूर आज एक हो रहे हैं। उनकी एकता का प्रतीक संयुक्त राष्ट्र संघ में आज कार्य करने वाला अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ है। इस मजदूर संघ ने दुनियां के मजदूरों को एकता के सूत्र में पिरो दिया है। एक देश के मजदूर दूसरे अपने पड़ौसी देशों के मजदूरों की भले बुरे की बात विचारते हैं। इस प्रकार इन संघों ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता विकसित करने में अपना योगदान दिया हैं।

5. सरकार द्वारा मजदूरों के संरक्षण के लिए कई कानून बनाना- मजदूर की दयनीय अवस्था से यह स्पष्ट हो गया कि कारखानों के स्वामी मजदूरों के प्रति कठोर थे। उन्हें लम्बे समय तक काम करना पड़ता था तथा गन्दी

बस्तियों में अपना जीवन बिताना पड़ता था। स्त्री व बच्चों को भी कठोर काम करना पड़ता था। उनकी दयनीय अवस्था के कारण देश की सरकारों को हस्तक्षेप न करने की नीति का परित्याग करने को बाध्य होना पड़ा। उन्हें मजदूरों के हितों के लिए विभिन्न समय विभिन्न कानून बनाने पड़े जिनसे कारखानों में बच्चों का काम करना बन्द हो गया तथा स्त्रियों का कोयले की खानों में काम करना बन्द हो गया। इसके अलावा उन्हें बारह या चौदह घंटे काम करने की बजाय आठ घण्टे काम करना पड़ने लगा। निवास के लिये स्वच्छ मकानों की व्यवस्था की गई। इसके अलावा उन्हें बारह या चौदह घंटे काम करने की बजाय आठ घण्टे काम करना पड़ने लगा। निवास के लिए स्वच्छ मकानों की व्यवस्था की गई। उनके बच्चों की शिक्षा के लिये स्कूल व उनके रोग निदान के लिये अस्पताल भी उनकी बस्ती में कारखानों के मालिकों द्वारा खोले जाने लगे। कारखानों में उनके जीवन की सुरक्षा के लिए कानून बनाये गये। उनके वेतन व मजदूरी में सुधार किया गया तथा साथ में उन्हें बोनस दिलाने व उनके जीवन बीमा की भी सरकार द्वारा व्यवस्था की गई। इसी प्रकार हड़ताल के समय भी सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने का प्रावधान इन फैक्ट्री नियमों द्वारा आज भी विद्यमान है। उदाहरणार्थ हम ब्रिटेन की संसद द्वारा परित 1802, 1819 व 1832 के श्रमिक कानून ले सकते हैं।

6. निर्वाचन क्षेत्रों में परिवर्तन- इंग्लैण्ड जैसे प्रजातन्त्र देशों में निर्वाचन क्षेत्र जनसंख्या की दृष्टि से बनाये जाते हैं। परन्तु इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप गांव उजड़ गये और वहां की आबादी औद्योगिक नगरों में एकत्रित हो गई इसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक नगरों व उसके आसपास के नगरों की आबादी अधिक हो गई। अतः जनसंख्या को आधार मानकर सरकार को निर्वाचन क्षेत्रों में परिवर्तन करना पड़ा और जनसंख्या के अनुपात से प्रतिनिधि लिये जाने लगे।

7. लोकतंत्र में प्रगति- लोकतन्त्र को प्रगतिशील बनाने में भ औद्योगिक क्रान्ति महान सहायक सिद्ध हुई। पूंजीपती वर्ग ने अपने प्रतिनिधि भेजकर सरकार को प्रभावित किया। कालान्तर में इसी प्रकार संगठित मजदूरों ने अपने प्रतिनिधित्व की मांग की। आर्थिक प्रश्न व मजदूरों के हितों पर राजनीतिक दलों का गठन हुआ। क्रान्ति से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु मतदाताओं ने बुद्धिमत्तापूर्ण मत प्रदान करना आरम्भ किया। श्रमिकों के प्रतिनिधि भी निर्वाचित होकर संसद में जाने लगे। इस प्रकार संगठित मजदूरों ने मताधिकार के क्षेत्र को विस्तृत कर लोकतन्त्र को और भी सफल बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार के कार्य-कलापों से लोकतन्त्रीय भावना को बल मिला।

(स) मानसिक परिणाम

यह तो सत्य है कि इस क्रान्ति ने कारीगरों को मजदूरों में परिवर्तित कर दिया। जो कारीगर इस क्रान्ति से पूर्व अपने कार्य का पूर्ण ज्ञाता होता था वह अब अन्य फैक्ट्री में पैदा होने वाली वस्तुओं के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं रखने वाला बन गया। परन्तु इसके साथ ही साथ हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस क्रान्ति ने मानव-मस्तिष्क के द्वार विकास के लिए खोल दिये। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप बड़े-बड़े आविष्कारक व इंजीनियर पैदा हुए। ज्यों-ज्यों क्रान्ति का कलेवर विस्तृत होता गया वैसे-वैसे इंजीनियरिंग विद्या भी कई शाखाओं में विभक्त होती चली गई। आगे चलकर यह इंजीनियरिंग विज्ञान व उद्योग के बीच एक कड़ी बन गई। इस कड़ी का परिणाम यह निकला कि धीरे-धीरे विज्ञान व उद्योग आपस में एक-दूसरे पर अवलम्बित रहने लगे। आज यह औद्योगिक-क्रान्ति का ही परिणाम है कि परमाणु-शक्ति व जल-विद्युत के लिए विशाल बांध बना लिए गये हैं। यातायात के क्षेत्र में द्रुतगामी जलयान, रेलगाड़ी व वायुयान बना लिए हैं। इतनी विशालकाय मशीनें बनने लग गई हैं कि जिन्हें देखते ही हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। मानव-जीवन को हर प्रकार से सुखी बनाने के उपकरण भी उन वैज्ञानिकों के आविष्कारों के ही परिणाम हैं जिन्होंने अपना मस्तिष्क इस क्षेत्र में लगाया।

(द) आर्थिक परिणाम

1. दैनिक जीवन की वस्तुओं का सस्ता होना- जब दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं का उत्पादन गृह उद्योग-धन्धों द्वारा होता था तो उनका उत्पादन कम व सीमित मात्रा में होता था और जनसंख्या की वृद्धि के वे दिन पर दिन मात्रा में कम तथा महंगी होती जा रही थीं परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के कारण उनका उत्पादन दिनों-दिन बढ़ने लगा और दिनों-दिन वे वस्तुएं सस्ती होती गईं।

2. मानव जीवन-स्तर ऊँचा उठना- इस क्रान्ति ने धीरे-धीरे इतनी प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करना आरम्भ कर दिया कि उनके मानव-जीवन का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। आज के मानव-जीवन में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों

की तुलना में हम यदि गत सौ वर्षों के उपकरण देखें तो वे नगण्य लगते है। आज का मानव इतना सुखी एवं सम्पन्न हो गया है कि उसका गत सौ वर्षो का जीवन हमें हास्यप्रद प्रतीत होता हैं। निवास के लिए भव्य-प्रासाद व मकान हैं जो मानव जीवन की नवीन वस्तुओं से सुसज्जित है और उनमें से अधिकांश का उत्पादन यन्त्रों द्वारा ही हुआ है। उसको एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए यातायात के विभिन्न साधन प्रस्तुत है। वार्तालाप के लिए टेलिफोन प्रस्तुत हैं। रोग निदान के लिये हर रोग के विशेषज्ञ डाक्टर उपलब्ध हैं। मनुष्य का जीवन-स्तर उन्नत होने का एक प्रमाण यह भी है कि आज बालकों की मृत्यु-संख्या दिनों दिन कम हो रही है।

3. पूंजीवाद का प्रादुर्भाव- आज हमारा विश्व जो पूंजीवाद व साम्यवादी दो गुटों में विभक्त है, वह भी इसी क्रान्ति का ही परिणाम है। कारखानों के स्वामी मजदूरों का शोषण कर उत्तरोत्तर पूंजी संकलित करते जा रहे हैं। ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ने लगा त्यों-त्यों कारखानों के मालिकों की पूंजी बढ़ने लगी। इस बढ़तें हुए पूंजीवाद के साथ ही अर्थशास्त्र का नियमित विकास पाते है। पूंजीवादी अर्थशास्त्र की बुनियाद इसी क्रान्ति के कारण पड़ी। इस क्रान्ति से पूर्व इस वर्ग का कहीं नामों-निशान नहीं था। आज यह धनी वर्ग समाज की आंखों में खटकने लगा है। समाजवादी व साम्यवादी सरकारों के लिये यह सिर का दर्द बन गया है। परन्तु जब तक विश्व में औद्योगिक क्रान्ति सरकारी नियन्त्रण से दूर रह कर विकास को पाती रहेगी-यह वर्ग समाप्त होने वाला नहीं होने का है।

4. व्यापार के क्षेत्र का विस्तृत होना - कल कारखानों की वृद्धि के साथ-साथ व्यापार का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया। अधिक उत्पादन करने वाले देश बड़ी मात्रा में अपना सामान विदेशों को भेजने लगे तथा वहां का कच्चा माल अपने यहां मंगाने लगे। इस प्रकार औद्योगिक विकास से आन्तरिक तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के व्यापार में वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप संगठित बाजारों का विकास तथा मध्यस्थ व्यापारी वर्ग का जन्म हुआ। श्रम-विभाजन के परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के धन्धे केन्द्रित हो गये और उनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक हो गया।

5. वर्ग संर्घष- आज समाज के सामने वर्ग-संघर्ष भी एक भयंकर समस्या के रूप में विद्यमान है। इस औद्योगिक-क्रान्ति ने मानव-समाज को उद्योग के क्षेत्र में दो वर्गों में विभक्त कर दिया हैं। कारखानों के स्वामी हैं पूंजीपति और कारखानों में अपना खून-पसीना एक कर उत्पादन करने वाले हैं मजदूर। पूंजीपति को केवल धन कमाने की चिन्ता है जबकि आज का संगठित मजदूर अपने उचित अधिकार चाहता है। वह अपने स्वामी से शोषित होना नहीं चाहता। इसका परिणाम यह हो रहा है कि दोनों वर्ग अपने उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न हैं। धनी वर्ग के शोषण के परिणामस्वरूप मजदूर वर्ग-संघर्ष के लिए दिनों दिन उग्र रूप धारण करता जा रहा है। दोनों वर्गों के अलग-अलग विचार तथा अलग आदर्श हैं। उन्होंने अपने आदर्शों की पूर्ति के लिए साधन भी विभिन्न अपनाये। इंगलैंड का चार्टिस्ट आन्दोलन इसी वर्ग-संघर्ष का परिणाम था।

6. औद्योगिक नगरों का विकास- औद्योगिक-क्रांति के परिणामस्वरूप यूरोप व विश्व के अन्य महाद्वीपों में कई औद्योगिक नगर आबाद हो गये। क्रान्ति से पूर्व लंकाशायर, लिवरपूल व मेंनचेस्टर इंग्लैण्ड के नगण्य नगर थे। परन्तु इस क्रान्ति के विकास के कारण वे इंग्लैण्ड के प्रमुख नगर बन गये। इस क्रान्ति से पूर्व जर्मनी में कोई बड़ा नगर नहीं था। परन्तु आज जर्मनी में कई विशाल नगर स्थित हैं। भारत में अहमदाबाद व बम्बई का क्रान्ति से पूर्व यह रूप नहीं था जो हम आज पाते हैं। राजस्थान में कोटा नगर इसकी मिशाल है। निःसंदेह यह नगर आज व्यापार व उद्योग-धन्धों के केन्द्र हो गये।

7. गृह उद्योग धन्धों का ह्रास- इस क्रान्ति का पहला घातक प्रहार घरेलूं उद्योग-धन्धों पर ही हुआ। जैसा कि हमें विदित है कि इस क्रान्ति के आरम्भ से पूर्व हमारे दैनिक जीवन की वस्तुओं का उत्पादन इन गृह-उद्योग व लघु -उद्योग धन्धों के माध्यम से होता था। उनमें वस्तुओं का उत्पादन बिना मशीनों का सहारा लिये मनुष्यों के श्रम द्वारा ही होता था। परन्तु क्रान्ति के प्रारम्भ होने पर उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक मात्रा में मशीनों के माध्यम से होने लगा। स्वभावतः वे वस्तुएं उद्योगों में निर्मित वस्तुओं से सस्ती व साथ में अच्छी होने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण ने मशीनों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का खरीदना आरम्भ कर दिया। इससे उद्योग-धन्धें शनैः शनैः विनाश की ओर अग्रसर होने लगे।

8. बेरोजगारी का फैलना- यह भी सही है कि इस क्रान्ति ने लोगों के सामने रोजगार का मार्ग खोल दिया है। एक-एक कारखाने में हजारों मजदूर काम पर लगने लगे। परन्तु साथ में ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि एक कारखाना हजारों मजदूरों को रोजगार देता है तो वह लाखों का रोजगार छीन लेता है। उदाहरणार्थ, हम भारत का वस्त्र -उद्योग ले सकते है। यदि कपड़ो की मिलों ने लाखों मजदूरों को रोजी दी है तो उन्होने करोड़ों की रोजी

छीनी है। अतः हम देखते है कि इस क्रान्ति के विकास के साथ-साथ ज्यों-ज्यों गृह उद्योग-धन्धें विनष्ट होते गये त्यों-त्यों कारीगर मजदूरों के रूप में बेरोजगार होते गये और मजदूरों की संख्या अधिक होने के कारण उन्हें मजदूरी भी कम मिलने लगी। इसी प्रकार चलते हुए कारखाने किसी कारणवश बन्द भी हो जाते हैं, तब बेकारी की समस्या और भी विकराल हो जाती है।

9. यातायात व संदेशवाहन के साधनों का विकास- कारखाना पद्धिति के परिणामस्वरूप यातायात व संदेशवाहन के साधनों का विकास हुआ। माल भेजने व मंगाने के लिए यातायात के साधनों का विकास परम आवश्यक था। इसलिए टैल्फोर्ड तथा मेंकडम नामक इंजीनियरों ने सड़कों के निर्माण में सुधार किया। आन्तरिक जल-मार्ग को विकसित करने हेतु नहरों का निर्माण किया गया। रेलवे लाईनें बिछाई गईं। कालान्तर में विशाल जलपोत तथा वायुयान भी बनने लगे। आज के युग में ट्रक भी व्यापार के क्षेत्र में अति उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

यातायात के साधनों के साथ-साथ समाचार भेजने के साधनों का भी विकास हुआ। इंग्लैण्ड में 1835 ई. में तार जाने लगा। 1857 ई. में समुद्र में तार डाले गये। 1840 ई. में डाक प्रणाली प्रचलित की गई। 1876 ई. में बेल के परिश्रम से टेलिफोन जारी हुआ। मारकोनी के परिश्रम से बेतार का तार समाचार भेजने का माध्यम बन गया।

10. समाजवाद व साम्यवाद का प्रादुर्भाव- समाजवाद का प्रादुर्भाव मजदूरों की दयनीय अवस्था से हुआ। जब इंग्लैण्ड के उदार विचारकों ने गरीब मजदूरों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण होता देखा तो उनका हृदय पसीज गया। परन्तु एडम स्मिथ व डेविड रिकार्डो ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को अवांछनीय के सिद्धांत का समर्थन करते हुए पूंजीपतियों का ही समर्थन किया।

परन्तु उन्नीसवीं सदी के पूवार्द्ध में कुछ विचारकों का ध्यान मजदूरों की दयनीय अवस्था पर फिर गया। रोबर्ट ओवन ने गरीब मजदूरों के हित के लिए सरकार से कुछ सुधार कराने चाहे। प्रारम्भ में वह स्वयं दीन था और धीरे-धीरे वह कई कारखाने स्थापित करने में समर्थ हुआ। उसका कहना था कि जब तक स्वतन्त्र प्रतियोगिता के सिद्धांत पर औद्योगिक विकास होता रहेगा, मजदूरों का इस प्रकार शोषण होता रहेगा। अतः उसने मजदूरों की दयनीय अवस्था में सुधार करने की दृष्टि से उत्पादन से होने वाले लाभ को मालिक व मजदूर के बीच बांटने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। फ्रांस के विचारक सेंट साइमन तथा फाउरिये भी समाज का नव-गठन चाहते थे और उसका आधार था सहकारी समुदायों में संगठन। परन्तु इन विचारों की योजना अधिकांश कल्पना पर आधारित थी। रोबर्ट ओवन तथा सैंट साइमन दोनों ही यूरोपीय समाजवादी थे। इनका समाजवाद कल्पना पर अधिक आधारित था और उन्होंने अपने विचार सर थामस मोर की पुस्तक से लिए थे। साइमन का कहना था कि सम्पत्ति अधिकार व्यक्तियों को नहीं वरन् सरकार को मिले। इससे उनका यह प्रयोजन था कि धन कारखानों के विकास व मजदूरों के सुधार में प्रयुक्त किया जा सकेगा और यदि उत्तराधिकार के नियम के अनुसार सम्पत्ति व्यक्ति विशेष को मिलती है तो उसका उपयोग कारखानों के विकास तथा मजदूरों के हित में नहीं हो सकेगा।

समाजवादियों का मुख्य ध्येय पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर नवीन आर्थिक व्यवस्था स्थापित करना है जिससे मजदूरों का शोषण न हो तथा उन्हें उचित मजदूरी मिल सकें। इसके लिए वे भूमि व औद्योगिक पूंजी पर सामूहिक स्वामित्व तथा प्रबंध चाहते हैं। इस ओर ठोस कदम उठाने वाला फ्रांस का विचारक लुई ब्लां था। उसने 1840 में "The Organisation of Labour" प्रकाशित करा। इसके अन्तर्गत् उसनें व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता का विरोध करते हुए मजदूर के काम के अधिकार की मांग की और उस मांग की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय कारखानों की आवश्यकता बताई। लुई ब्लां के विचार इतने प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए कि फ्रांस सरकार को 1848 की क्रान्ति के समय में उसकी मांग को स्वीकार करना पड़ा। परन्तु इस योजना के अन्तर्गत फ्रेंच सरकार ने केवल बेरोजगारों को ही कुछ राहत देने का प्रबन्ध किया था। इंग्लैण्ड में रोबर्ट ओवन के विचारों से वहां के मजदूरों को बड़ी राहत मिली परन्तु जब उसने 1817 में यह उद्घोषित किया कि सब धार्मिक संप्रदाय नवीन समाज के निर्माण में बाधक हैं तो उसके समर्थकों में कमी आने लगी। यह सब होते हुए भी उसने इंग्लैण्ड में तथा लुई ब्लां ने फ्रांस में समाजवादी विचारधारा की नींव जमा दी। उन्होंने 1848 तक समाजवादी विचार जन साधारण के समक्ष प्रस्तुत किये। तत्कालीन समाज की बुराइयों पर उनके द्वारा विशद् प्रकाश डाला गया। इंग्लैण्ड के मजदूर संगठित हो गये और उन्होंने अपने पूंजीपति मालिकों के सामने धरना देना तथा कारखानों में हड़ताल करना आरम्भ कर दिया। इसी के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन भी आरम्भ हो गया। इनका परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड की सरकार ने मुक्त -व्यापार की नीति का परित्याग कर संसदीय कानूनों द्वारा मजदूरों को संरक्षण देना आरम्भ किया। यही ये समाजवादी विचारक चाहते थें। धीरे-धीरे ये विचार यूरोप के अन्य देशों में प्रबल होने लग गये।

अध्याय : 5 गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688)
Glorious Revolution (1688)

1655ई. में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंन्ट और स्टुआर्ट राजाओं के बीच चला आ रहा वैधानिक संघर्ष बिना किसी खून-खराबे के समाप्त हो गया, इतिहास में इस घटना को गौरवपूर्ण क्रान्ति के नाम से जाना जाता है। ट्यूडर काल की पार्लियामेंन्ट राजाओं के आधीन थी और राजाओं की इच्छा के अनुसार कार्य करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि ट्यूडर वंश के राजा पार्लियामेंट के बिना किसी रुकावट के अपनी इच्छा के अनुसार शासन करते रहे। 1585 में आरमेंडा की हार के बाद स्थिति बदल गई। पार्लियामेंट ने अनुभव किया कि उसका सेवा काल समाप्त हो चुका और अब वह शासकों के निरंकुश आदेशों को मानने के लिये तैयार न थी। चूंकि इंग्लैण्ड के शासक पार्लियामेंट की इस मांग को मानने के लिए तैयार न थे, इसलिए इन दोनों में संघर्ष शुरु हो गया। प्रश्न यह था कि राज्य-शक्ति का स्रोत राजा है या पार्लियामेंन्ट। रानी ऐलिजाबेथ को भी पार्लियामेंन्ट के कारण कुछ कठिनाइयां पेश आई परन्तु 1603में उसकी मृत्यु के बाद तो हालात और भी अधिक बिगड गये। जेम्स प्रथम पार्लियामेंन्ट के साथ निभा न सका। एक विरोधी पार्लियामेंन्ट का स्थान दूसरी विरोधी पार्लियामेंट लेती गई। ऐसी स्थिति से वह बहुत दुखी हो गया और 1625 में उसकी मृत्यु तक भी हालात सुधरे नहीं थे। चार्ल्स प्रथम के राज्यकाल में स्थिति और भी नाजुक हो गई। 1628 में उसे अधिकारों के लिए प्रार्थनापत्र स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया। 1626 से1640 तक उसने पार्लियामेंट की सहायता के बिना राज्य किया और भिन्न-भिन्न ढंगों से धन इकट्ठा किया। परन्तु 1640 में हालात ने उसे दीर्घकालीन पार्लियामेंट बुलाने के लिये मजबूर किया। दो वर्षो के संघर्ष के बाद पार्लियामेंट और चार्ल्स प्रथम में खुला युद्ध छिड़ गया और वह युद्ध 1644 में चार्ल्स प्रथम को मृत्यु-दण्ड मिलने तक चलता रहा।

1649 से 1660 तक इंगलैंड पर क्रामवैल और उसके पुत्र ने शासन किया। 1660 में चार्ल्स द्वितीय को पुनः राज्य सौंपा गया और उसने 1685 तक शासन किया। उसनें बड़ी सावधानी से राज्य किया क्योंकि वह फिर देश-निकाला नहीं चाहता था। कैथोलिक जनता को सुविधायें देने के लिए उसने जो प्रयत्न किये वह व्यर्थ रहे परन्तु उसने इस विषय पर झगड़ा करना ठीक नहीं समझा। अतः उसकी महत्वकांक्षा पूरी न हो सकी।

1685 में चार्ल्स द्वितीय के बाद उसका भाई जेम्स द्वितीय राजा बना। उसके विरोधियों ने उसे सिंहासन से अलग करने के लिये जो प्रयत्न किए वह सफल न हो सके। उल्टा उससे उसकी स्थिति और भी पक्की हो गई। प्रोफेसरा ऐडम्ज ने ठीक ही कहा है कि 1655 में सिंहासनारूढ़ होने के समय जेम्स द्वितीय सब राजाओं में से अधिक शक्तिशाली था। परन्तु इतना होते हुए थी वह बहुत ही थोड़े समय में राज्य खो बैठा। इस बात से हैरानी तो होती है परन्तु राज्य के खोए जाने का कारण जेम्स द्वितीय की अपनी गलतियां ही थीं।

गौरवपूर्ण क्रान्ति के कारण-

1. जेम्स द्वितीय के राज्य खो बैठने का पहला कारण यह था कि उसने कैथोलिक धर्म को फिर से इंग्लैण्ड में लाना चाहा। वह अपने धर्म के लिये अपना राज्य खोने के लिये तैयार भी था। वह स्वयं कैथोलिक धर्म का अनुयायी था और यह किसी से छुपा नहीं था। परन्तु मुश्किल यह थी कि वह केवल स्वयं ही कैथोलिक धर्म का अनुयायी होने से सन्तुष्ट न था। वह चाहता था कि उसका धर्म खूब फैले और अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करें। उसके बड़े भाई चार्ल्स द्वितीय ने भी Declaration of Indulgence के द्वारा कैथोलिकों को कुछ सुविधायें देनी चाही थीं परन्तु जनता के विरोध के कारण उसका प्रयत्न सफल न हो सका था। जेम्स द्वितीय ने यह जानते हुए भी इस कार्य में सफलता प्राप्त करने की आशा करने की भूल की। विलियमसन के अनुसार, जेम्स द्वितीय की हार निश्चित ही थी। 1685 की पहली पार्लियामेंन्ट पूरे तरीके से टोरी और

स्वामिभक्त थी। इसने राजा को बहुत सा धन खर्च करने की इजाजत दी। परन्तु जब जेम्स ने Tesat Act को रद्द करने की मांग की तो पार्लियामेंट ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इतना होने पर भी राजा ने साहस न छोड़ा।

2. सैजमूर के युद्ध में हारें हुए मनमथ के ड्यूक को प्राणदण्ड देना जेम्स की दूसरी भारी भूल थी। विलियमसन के अनुसार, जेम्स के द्वारा ऐसा किया जाना एक बहुत ही बड़ी गलती थी। मनमथ को जेल-दण्ड या देश-निकाला देना अधिक ठीक था; उसको प्राण-दण्ड मिलना विग (Whig) दल के लिए लाभदायक था। क्योंकि लोगों में फैली हुई इस धारणा के कारण कि विग लोग जेम्स द्वितीय के स्थान पर मनमथ के ड्यूक को राजा बनाना चाहते हैं विग दल की बड़ी बदनामी हो रही थी। जनता मनमथ के ड्यूक से घृणा करती थी। इसीलिए उसको राजा बनाने के समर्थन विग दल के संबंध में इसकी धारणा अच्छी नहीं थी। ड्यूक की मृत्यु ने विग-दल के माथे से यह कलंक का टीका मिटा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विग दल धीरे-धीरे शक्तिशाली और लोकप्रिय होने लगा। अन्त में 1688 में यह विग पार्टी जेम्स द्वितीय को सिंहासन से उतारने में सफल हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि जेम्स ने ऐसी भूल न की होती तो विग दल को इतना शक्तिशाली बनकर जेम्स द्वितीय का विरोध करने का मौका न मिलता।

3. जेम्स द्वितीय की दूसरी भारी भूल न्यायाधीश जैफ़रिज की आधीनता में खूनी अदालतों की स्थापना करना था। इन अदालतों ने मनमथ के ड्यूक के साथ विद्रोह में भाग लेने वाली साधारण जनता को प्राण-दण्ड दिया। इन अदालतों के घोर अत्याचारों ने टोरी दल को भी जेम्स द्वितीय की कठोर नीति ने कँपा दिया।

4. इंग्लैण्ड की जनता को जेम्सय द्वितीय की योजनाओं और इरादों पर भी सन्देह हो गया। लोगों को शक था कि वह इंग्लैण्ड में घृणा की दृष्टि से देखे जाने वाले फ्रांस के सम्राट लुई चौहदवें से सहायता ले रहा था और उसकी आज्ञाओं के अनुसार शासन-कार्य कर रहा था। जनता को यह सब पसन्द नहीं था क्योंकि लुई चौहदवें ने 1685 में नैन्टीज की आज्ञाओं को रद्द करके Henry of Navare द्वारा किया हुआ सारा काम मिट्टी में मिला दिया था। परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी सरकार ने प्रोटेरस्टेण्ट धर्म के लोगों पर अत्याचार करने शुरू किये और वे हजारों की संख्या में फ्रांस से निकलकर अन्य देशों में जा बसे। यह स्पष्ट था कि लुई चौदहवाँ भी जैसुइट लोगों के प्रभाव में आकर इसी नीति पर चल रहा था। लोगों को यह विश्वास था कि जेम्स द्वितीय भी कैथोलिक धर्म को पुनः उसकी पहली जगह देने की कोशिश कर रहा है और वह लुई चौदहवें और जैसुइट लोगो के साथ था। इंग्लैण्ड की जनता यह सहन नहीं कर सकती थी कि उनका राजा विदेशी राजा से आज्ञाएं प्राप्त कर उनके अनुसार कार्य करें।

5. मनमथ के ड्यूक के विद्रोह को दबाने के लिए भर्ती किए गए सैनिकों की पलटन को भंग करने से इन्कार कर जेम्स ने एक और भारी भूल की। अंग्रेज लोग स्थाई सेना रखने के घोर विरोधी थे परन्तु जेम्स उनके इस विचार को समझ न सका। लोगों की इच्छाओं को रत्ती भर भी ध्यान में न रख कर कार्य करने वाले राजा के विरूद्ध लोगों का विद्रोह करना स्वाभाविक ही था।

6. जेम्स द्वितीय इससे भी आगे बढ़ा। उसने धार्मिक न्यायालय नाम से एक विशेष न्यायालय की स्थापना की परन्तु 1641 के एक्ट के अनुसार कोर्ट ऑफ स्टार चैम्बर, कौंसिल ऑफ दी नार्थ, हाई कमीशन आदि विशेषाधिकारों वाले न्यायालयों को निषिद्ध ठहराया गया था। अतः इस विशेषाधिकार वाले विशेष न्यायालय की स्थापना देश विधान के विरुद्ध थी। जनता ने देश के कानून के उल्लघंन किए जाने पर रोष प्रकट किया।

जेम्स द्वितीय का विचार था कि उसे किन्हीं विशेष मामलों में और विशेष अवसरों पर देश के कानूनों को बिना ध्यान में रखे कार्य करने का अधिकार है। उसका दृष्टिकोण यह था कि राज्य के कानून को भंग करने वाले व्यक्ति पर किए हुए जुर्माने का धन राजा के कोष में ही जाता है। अतः राजा को इस बात का अधिकार है कि वह नियम-भंग करने वाले व्यक्ति से जुर्माना हासिल करे या न करें। उसका कहना यह था कि यदि राजा किसी व्यक्ति से नियम-भंग करने के अपराध में धन नहीं प्राप्त करता तो इससे हानि राजा की ही होगी। इतने से भी सन्तुष्ट न होकर जेम्स ने कानूनों को कुछ समय तक रद्द कर देने के अधिकार की मांग की। कानून रद्द हो जाने पर उसके उल्लंघन के परिणाम का प्रश्न ही नहीं उठता।

7. राजा ने अपनी इच्छानुसार चाहे कितनी ही युक्तियाँ दीं,, परन्तु जनता तो कानून को बिना ध्यान में रखें कार्य करने को और कानून को कुछ समय के लिए रद्द कर देने के अधिकारों के प्रयोग को देश के विधान के विरुद्ध समझती थी। राज्य

नियम को तोड़ने वाले व्यक्ति को दण्ड से मुक्त करने का राजा का अधिकार नाराजगी का विषय था। जनता अनुभव करती थी कि राज्य नियमों का जो कि राजा की आज्ञा से भी बढ़कर हैं, उल्लंघन तो राजा भी नहीं कर सकता। और यदि राजा स्वयं इन कानूनों के विरुद्ध नहीं जा सकता तो यह स्वाभाविक है कि वह दूसरों को भी उन कानूनों को तोड़ने का अधिकार नहीं दे सकता।

8. जनता द्वारा विरोध किए जाने पर भी जेम्स द्वितीय ने कैथोलिक धर्म के अनुयायियों को सहायता देने का प्रयत्न न छोड़ा। उसने बहुत से रोमन कैथोलिको को सैनिक और अन्य सरकारी पदों पर नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। परन्तु ऐसा करना टैस्ट-ऐक्ट के विरुद्ध था, जिसके अनुसार सरकारी नौकरियों पर नियुक्त किए जाने वाले लोगों को अपने प्रोटैस्टेण्ट होने की घोषणा करनी पड़ती थी। यही नहीं जेम्स द्वितीय ने उन लोगों को भी नौकरियां दीं जिन्होंने आवश्यक शपथ लेने से भी इन्कार कर दिया था। उसने कैथोलिकों को यूनिवर्सिटियों और चर्च में भी नौकरियां देनी आरम्भ कर दी। यह सब कुछ सहन करना लोगों के लिए कठिन था। जेम्स के जोरदार समर्थकों को भी उसके कार्यो की बुद्धिमत्ता पर सन्देह होने लगा।

9. लन्दन के निवासियों को भयभीत रखने के लिए जेम्स ने लन्दन के आस-पास एक स्थाई सेना रख दी। वास्तव में राजा जनता पर आतंक जमाना चाहता था। परन्तु उसे इस बात का पता नहीं था कि अंग्रेज लोग इस प्रकार के व्यहवार को सहन करने में असमर्थ थे।

11. रोमन कैथोलिक लोगों को सुविधाएं देने की नीति पर चलते हुए जेम्स द्वितीय ने 1687 पहले डिक्लेरेशन ऑफ इण्डल्जैंस के द्वारा कैथोलिक लोगों पर से सम्पूर्ण रोकें हटा दीं। परिणाम यह हुआ कि रोमन कैथोलिक और अन्य प्रोटैस्टेण्ट धर्म न मानने वाले लोग खुले तौर पर अपने-अपने धर्म के अनुसार पूजा-पाठ करने लगे। इस घोषणा से टोरी दल के लोग जो कि इंगलैंड के चर्च के समर्थक थे, जेम्स द्वितीय से अत्यन्त रुष्ट हो गए। विग दल भी सहमत न हो सका। उन्हें डर था कि जेम्स द्वितीय धार्मिक सहिष्णुता के चोले के अन्दर रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार कर रहा है। उन्हें शक था कि डिक्लेरेशन ऑफ इण्डल्जैंस इंग्लैण्ड में कैथोलिक धर्म के प्रचार का प्रारम्भ है।

12. 1688 में जेम्स ने इसी प्रकार की एक दूसरी घोषणा निकाली और आज्ञा दी कि सब पादरी लोग इस घोषणा को गिरजाघरों में पढ़कर सुनाएं। सात पादरियों ने इस घोषणा को पढ़ने के कार्य से मुक्त होने के लिये राजा के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा। राजा ने उत्तर में ये कहा कि पादरियों को राजा के पास ऐसा प्रार्थनापत्र भेजने का अधिकार नहीं है। पादरी बन्दी करके जेल में डाल दिये गये। अभियोग चलाया गया परन्तु ज्यूरी ने उन्हें निर्दोष ठहराया और वे मुक्त किये गये।

अभी लन्दन के नागरिक पादरियों की रिहाई पर खुशियां मना रहे थे कि जेम्स द्वितीय के पुत्र पैदा होने की सूचना मिली। इससे पहले लोग आशा लगाये बैठे थे कि जेम्स द्वितीय पुत्रहीन ही मर जायेगा और उसकी मृत्यु के पश्चात उसकी प्रोटेस्टैण्ट पुत्री मेंरी जो हालैण्ड के प्रोटेस्टैण्ट शासक विलियम ऑफ औरेंज के साथ ब्याही हुई थी शासक बनेगी। लोग जेम्स द्वितीय के अत्याचारों को यह सोचकर सहन कर रहे थे कि राजा वृद्धावस्था के कारण शीघ्र ही मर जाएगा। जेम्स के पुत्र के जन्म के समाचार ने उनके दिल दहला दिये। उन्हें डर था कि कैथोलिक शिक्षकों की देखरेख में पला हुआ जेम्स द्वितीय का लड़का कट्टर कैथोलिक बनेगा और इस प्रकार इंग्लैण्ड पर सदा के लिये कैथोलिक धर्म के अनुयायियों का अधिकार हो जायेगा। इस प्रकार उनकी कठिनाइयों का अन्त न होगा। इन विचारों ने लोगों को अत्याधिक निराश कर दिया और इस घोर निराशा के वातावरण में लोगों ने विलियम और मेंरी को प्रोटेस्टेण्ट धर्म और विधान द्वारा दिये गये जनता के अधिकारों की रक्षा करने के लिये सेना सहित आने का निमन्त्रण दिया। वे कुछ कठिनाइयों का सामना करने के बाद इंग्लैण्ड आ पहुंचे। अब भी जेम्स द्वितीय अपने सिंहासन की रक्षा कर सकता था यदि वह अपने कानून-विरोधी कार्यों के लिये शोक प्रकट करता। और भविष्य में देश के कानूनों के अनुसार आचरण करने की प्रतिज्ञा करता। परन्तु उसके अड़ियलपन के कारण उसके सभी मित्र उसके विरुद्ध हो गये। उसकी सेना दूसरे पक्ष में जाकर मिल गई और वह राज्य की मोहर टेक्स नदी में फैंक कर फ्रांस भाग गया।

गौरवपूर्ण क्रान्ति के परिणाम

(1) इस क्रान्ति ने कई सालों से चले आ रहे स्टुआर्ट राजाओं और पार्लियामेंट के झगड़े का अन्त कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में ही राजा और पार्लियामेंन्ट में से कौन राज्य शक्ति का स्रोत है इस प्रकार का प्रश्न उठना शुरु हो गया

था। दोनों पक्षों ने अपनी पूरी शक्ति लगाई और इंग्लैण्ड को गृह-युद्ध देखना पड़ा। एक राजा की भी बलि चढ़ी। जेम्स द्वितीय ने संघर्ष में पूरा बल लगाया जिससे हालात और अधिक बिगड़ते गये। जेम्स द्वितीय जो कि एक निरंकुश राजा था भागने और उसके स्थान पर देश के कानूनों के अनुसार चलने की प्रतिज्ञा करके मेंरी और विलियम के सिंहासन पर बैठने के परिणामस्वरूप इस संघर्ष में पार्लियामेंन्ट की विजय हुई। अब इसमें कोई सन्देह न रहा कि भविष्य में इंग्लैण्ड का वास्तविक शासक पार्लियामेंन्ट होगी। इस विजय ने शासन-कार्य में निरंकुशता का अन्त कर दिया। इसके बाद किसी भी राजा ने स्वेच्छापूर्ण ढंग से शासन करने का साहस नहीं किया। जेम्स द्वितीय और चार्ल्स प्रथम के राज्यकाल की घटनाएं भविष्य में चेतावनी का काम देती रहीं।

(2) स्टुआर्ट वंश के राजाओं की हार ने कैथोलिक धर्म को भारी धक्का पहुंचाया। इंग्लैण्ड में इस धर्म की पुनर्स्थापना की कोई सम्भावना न रही। यदि जेम्स द्वितीय का राज्य चलता रहता तो सम्भव था कि इंग्लैण्ड में कैथोलिक धर्म का प्रचार हो जाता परन्तु उसके भागने से जैसुइटों की सब आशाएं समाप्त हो गईं। यह सच है कि कुछ समय बाद अन्य तमाम धर्मो को कुछ अंश तक सुविधाएं दी गईं परन्तु कैथोलिक धर्म के सम्बन्ध में ऐसा न हुआ। कैथोलिक धर्म के अनुयायियों पर वर्षो तक घोर अत्याचार होते रहे। एक शताब्दी से भी अधिक समय तक उन्हें कष्ट भोगने पड़े।

(3) पार्लियामेंट का स्टुअर्ट वंश के राजाओं के साथ संघर्ष प्रजा के अधिकारों की रक्षा के लिए था। अब स्टुअर्ट वंश के राजाओं की पूर्ण पराजय ने लोगों के अधिकारों को सुरक्षित कर दिया। 1689 में जब विलियम और मेंरी को इंग्लैण्ड का सिंहासन भेंट किया गया तो उन्हें अधिकार घोषणा की रक्षा की शपथ लेनी पड़ी। और यही अधिकार घोषणा 1689 के बिल ऑफ राइट्स के रूप में राज्य-नियमों में परिवर्तित कर दी गईं। इस अधिकार-घोषणा के राज्य-नियमों में परिवर्तित हो जाने से राजा के अधिकार सीमित हो गए। अब वह पार्लियामेंन्ट की स्वीकृति के बिना मनमाने कर नहीं लगा सकता था। अब वह राज्य-कार्यो में मनमानी नहीं कर सकता था। उसे निश्चित समय पर पार्लियामेंन्ट के अधिवेशन बुलाने पड़ते थे। तीन साल के कानून के अनुसार पार्लियामेंट के अधिवेशन का समय निश्चित किया गया। राजा को राज्य-नियमों के रद्द करने और उनको बिना ध्यान में रखे आचरण करने का अधिकार न रहा। जनता को राजा के पास प्रार्थनापत्र भेजने का अधिकार दिया गया। राजा को प्रजा से भारी जमानतें मांगने का अधिकार न रहा, क्योंकि भारी जमानतों का मांगना लगभग प्रजा को न्याय से वंचित करना था। स्थायी -सेना को रखना कानून विरुद्ध ठहराया गया। कोर्ट ऑफ इक्लैजियस्टिकल कमीशन जैसे विशेष न्यायालयों को भी कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। राजा को पार्लियामेंन्ट के निर्वाचन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न रहा। वह अपने कृपापात्रों और समर्थकों को पुनःनिर्वाचित करवाने के लिये अनुचित प्रभाव नहीं डाल सकता था। पार्लियामेंन्ट के सदस्यों को वाद-विवाद की स्वतन्त्रा थी। राजा को उनके इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं था। इंग्लैण्ड का शासक कोई कैथोलिक नहीं हो सकता था। राजा के अधिकारों को इस प्रकार सीमित करने का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड में स्वेच्छाचारी शासन के युग का अन्त हो गया और जनता के अधिकारों की रक्षा की नींव स्थाई रूप से दृढ़ हो गई।

(4) प्रोफैसर ट्रिविलियन के कथनानुसार हमारे पूर्वज कई पीढ़ियों तक 1688-89 में हुई इस क्रान्ति को गौरवपूर्ण क्रान्ति का नाम देते रहे। इसको गौरवपूर्ण क्रान्ति का नाम देने का कारण सैनिक सफलता या अंग्रेजों का कोई अद्वितीय वीरतापूर्ण कार्य या राजा के विरुद्ध सम्पूर्ण प्रजा की शक्ति की सफलता नहीं थी। उलटा एक विदेशी राजा और विदेशी सेना की सहायता से अपने ही दलों के झगड़ों के कारण खोए हुए अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करना अंग्रेज नागरिकों पर एक प्रकार का कलंक ही था। इस क्रान्ति को गौरवपूर्ण कहने का असली कारण यह था कि इससे देश में इतना बड़ा परिवर्तन रक्त की एक बूंद बहाये बिना हो गया। यही नहीं, इस क्रान्ति ने लोगों और दलों को भंयकर रूप से एक दूसरे का शत्रु बना देने वाले देर से चले आ रहे धार्मिक और राजनैतिक मतभेदों का शान्तिपूर्वक समझौता करवा दिया। 1689 की व्यवस्था सफल सिद्ध हुई। इससे इंग्लैण्ड के लोगों को पहले कभी न देखी गई नई और पूरी स्वतन्त्रा ही प्राप्त नहीं हुई बल्कि सरकार और राजनैतिक संस्थाओं में एक नया जोश और अच्छी प्रकार कार्य करने की ताकत आ गयी। राजा और पार्लियामेंन्ट में चले आ रहे लम्बे संघर्ष का स्थान इन दोनों के सहयोग ने ले लिया। इन दोनों में से पार्लियामेंन्ट देश के शासन की मुखिया हो गई और इसके बाद राजा तथा पार्लियामेंन्ट में कोई झगड़ा नहीं हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में दिखाई देने वाली बाहर की कमजोरियों का अन्त हो गया और मार्लबरो, वालपोल और चटहम के युग में से गुजरता हुआ इंग्लैण्ड सैनिक, औपनिवेशिक, व्यापारिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में संसार का नेता माना जाने लगा।

(5) बर्क के विचार में 1688-89 की घटनायें गौरव और प्रसन्नता का विषय थीं। इंग्लैण्ड का यह सौभाग्य था कि वहां स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर वैधानिक राज्यतंत्र की स्थापना बिना किसी गृह-युद्ध या हत्याकांड के हुई। फ्रांस के गृहयुद्ध के काल के समय इंग्लैण्ड में आतंक का साम्राज्य न स्थापित हो सका। गौरवपूर्ण क्रान्ति तो एक प्रकार से सहयोग और समझौते से हुई। विरोधी दल अपने आपस के मतभेद भुलाकर राजा के विरुद्ध संगठित हो गए। यह क्रान्ति किसी एक दल का कार्य नहीं था अपितु सारे राष्ट्र का था और और इसमें और मेंग्नाकार्टा और पैटीशन ऑफ राइट्स में यही भारी अन्तर था।

यह सत्य कहा जाता है कि उस क्रान्ति ने राजा के दैवी पवित्र और उससे न छीने जाने वाले अधिकारों का अन्त कर दिया। इस क्रान्ति ने राजा और प्रजा के अधिकारों को मूर्त रूप दिया। इसने इस बात पर जोर दिया कि राजा और प्रजा में एक प्रकार का समझौता सा है और यदि राजा उस समझौते की शर्तों का पालन नहीं करता तो प्रजा को उसे शासन से अलग करने का अधिकार है।

अध्याय : 6 अमेरिका की क्रान्ति (1776)
American Revolution (1776)

कोलम्बस द्वारा खोज करने के बाद धीरे धीरे की जातियों ने इस प्रदेश की भूमि पर अपने उपनिवेश कार्य शुरू कर दिये और संयुक्त राज्य अमेरिका आज विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली ओर सम्पन्न राष्ट्र है। यह उत्तरी महाद्वीप के मध्य भाग में स्थित है। क्षेत्रफल के दृष्टिकोण से संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व के सर्वाधिक बड़े राज्यों में है। जिस समय इसकी स्थापना हुई थी उस समय इसका क्षेत्रफल 3,15,065 वर्गमील था और इसमें 13 राज्य थे। आज इसमें 50 राज्य हैं और इसका क्षेत्रफल 36,15,522 वर्गमील है। पर आज का यह आजाद देश कभी गुलाम था, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है।इस प्रभुत्वशाली देश के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास इंग्लैण्ड के आधिपत्य से मुक्ति का संघर्षपूर्ण इतिहास है। परन्तु यह अविस्मरणीय संघर्ष इतिहास के अन्य जझारू संघर्षों से मिन्न है। यह संघर्ष न ता घोर गरीबी के कारण उत्पन्न असन्तोष का परिणाम था और न सामन्ती व्यवस्था के बर्बर अत्याचारों के विरूद्ध एकजुट होने का परिणाम। वस्तुतः यह शानदार संघर्ष, अमेरिकी उपनिवेशों द्वारा इंग्लैण्ड के विरूद्ध स्वतन्त्रता कायम करने के लिए तथा इंग्लैण्ड द्वारा अपनाई गई कठोर औपनिवेशिक नीति के विरूद्ध था। इस दृष्टि से विश्व इतिहास में अमेरिका की क्रांति एक विशिष्ट घटना है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेंरिकन बस्तियों एवं ग्रेट ब्रिटेन में एक नये दृष्टिकोण के विकास ने अमेरिका की क्रांति को अवक्षिप्त होने का अवसर प्रदान किया। एक ओर अमेंरिकन लोग ब्रिटेन के प्रभुत्व के अन्तर्गत अपनी अधीनस्थ स्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार ने 1763 के पश्चात ऐसी नीतियों की अभिकल्पना कर उनका अनुसरण किया जिनसे अमेंरिकन अपनिवेशों पर पूर्व की अपेक्षा अधिक मजबूत शिकंजा स्थापित हो सके। फलतः सामाज्यवादी ब्रिटेन एवं उपनिवेशी अमेंरिकन राज्यों में संघर्ष अवश्यमभावी हो गया।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट पर यूरोपीय बस्तियाँ निर्मित होने लगी थीं, जिनमें रहने वाले 90 प्रतिशत अंग्रेज तथा 10 प्रतिशत डच, जर्मन, फ्रांसीसी और प्रर्तगाली थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तेजी से बस्तियां बसाई जाने लगीं। 1775 ई० तक अमेरिका में 13 उपनिवेश बसाये जा चुके थे। इनकी कुल जनसंख्या 50 लाख से अधिक थी।

अमेरिकी उपनिवेशें में इंग्लैंण्ड या यूरोप के सामान्य नागरिकों के लिए 5,000 कि. मी. चौड़े प्रशान्त महासागर को पार करना काफी कठिन कार्य था। लकड़ी के जहाजों में 2-3 महीने की इस यात्रा में अपर्याप्त भोजन, बीमारी और तूफान से बचकर कुछ ही लोग अमेरिका पहुँचते थे और वहाँ पहुँचकर भी वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों तथा प्रकृति के कोप का उन्हें सामना करना पड़ता था, जिसमें दोनों पक्षों के व्यक्ति मारे जाते थे। इस संघर्षों के अतिरिक्त, वहाँ की भूमि भी घने जंगल और लम्बी घास से पटी हुई थी। इस भूमि को खेती के लिए तैयार करना आसान कार्य नहीं था। प्रश्न उठता है कि फिर यूरोपीय यहाँ आकर कयों बसे ?

(i) यूरोप में निरन्तर होने वाले जन-संहारक युद्धों से मुक्ति की आशा ने प्रव्रजन के लिए प्रेरित किया।

(ii) निर्धन लोगों को दास बनाकर युद्धों में झोंकने के लिए अमीरों एवं सत्ताधारियों के हाथों बेच दिया जाता था। इससे बचने के लिए उन्होंने अमेंरिकन उपनिवेशों में बसना उपयुक्त समझा।

(iii) अधिकांश यूरोपीय उत्प्रवासियों (देश छोड़कर उपनिवेशों में बसने वाले लोग) ने अपना घर इसलिए छोड़ा था कि उन्हें वहाँ अधिक आर्थिक लाभ के अवसर मिलेंगें। इस प्रेरणा को बहुधा धार्मिक स्वतन्त्रता की लालसा अथवा राजनीतिक उत्पीड़न से बच कर भागने के दृढ़ संकल्प ने और भी बल दिया।

(iv) धार्मिक तथा साम्प्रदायिक अत्याचार एवं उत्पीड़न से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से वे ईश्वर की आराधना कर सकेंगे, जहाँ न तो चर्च का दबाव होगा और न ही सरकारी कर्मचारियों का। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों की धार्मिक उथल-पुथल ने भी बहुत से लोगों को अपना देश छोड़ने के लिए विवश किया। मेंसाचूसेट्स के समीप प्लीमथ उपनिवेश की स्थापना करने वाले प्यूरिटन अंग्रेज ही थे जो अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए जेम्स प्रथम के समय में इंग्लैण्ड से अमेरिका आकर बसे थे क्वेकर सम्प्रदाय के अनुयायी विलियम पेन तथा उसके साथी क्वेकरों ने धार्मिक दृष्टि से ही पेनसिलवेनिया की स्थापना की। उपनिवेश के विभिन्न धर्मावलम्बियों में धार्मिक मतभेद होते हुए भी मौलिक एकता थी और वह थी मातृभूमि में प्रचलित व्यवस्था के प्रति असंतोष। न्यू हैम्पशायर से जार्जिया तक जितनी भी बस्तियाँ स्थापित हुई, उनकी पुष्टभूमि में धार्मिक असंतोष का कुछ ने कुछ अंश अवश्य था।

(v) स्वदेश छोड़कर अमेरिका में बसने का एक अन्य कारण राजनीतिक था। चार्ल्स प्रथम के शासन काल में स्टुअर्ट वंश समर्थक गृह-युद्ध में परजित होकर अमेरिका चले गये। जर्मन राजाओं की निरंकुशता ने बहुत से जर्मनों को उपनिवेशों में बसने को प्ररित किया।

उपनिवेशों को भौगोजिक स्थिति-

अमेरिकी उपनिवेशों को भौगोलिक दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है-उत्तरी, मध्य और दक्षिणी।

(i) उत्तरी उपनिवेशों में जैसे मेंसाचूसेट्स, न्यू हैम्पशयर, रोड टापू आदि थे। ये उपनिवेश पहाड़ी और बर्फीले प्रदेश होने के कारण खेती के उपयुक्त नहीं थे। यहाँ से इंग्लैण्ड को मुख्यतः लकड़ी, मछली और वन सम्पत्ति प्राप्त होती थी। स्वतन्त्रता के पूर्व स्वयं इंग्लैण्ड के अधिकांश जहाज यहीं निर्मित होते थे।

(ii) मध्य उपनिवेशों में न्यूयार्क, न्यूजर्सी और मैंरीलैण्ड आदि थे। यहाँ के उद्योग जिनमें शराब और चीनी उद्योग प्रमुख थे, प्रगतिशील अवस्था में थे।

(iii) दक्षिणी उपनिवेशों में उत्तरी केरोलिना, दक्षिणी केरोलिना, वर्जीनिया आदि थे। यहां की जलवायु गर्म होने के कारण ये प्रदेश खेती के लिए उपयुक्त थे। प्रमुखतः अनाज, गन्ना, तम्बकू तथा कपास का उत्पादन होता था।

उपनिवेशों की संस्कृति-

अमेरिका के उपनिवेशों में एक मिश्रित संस्कृति का जन्म हुआ, इसके कारण थे-

(i) यहाँ आकर बसने वाले लोग यूरोप के विभिन्न प्रदेशों से आये थे जो विभि सम्प्रदायों तथा एंग्लिकन, प्यूरिटन, क्वेकर, लूथरवाद, प्रेसबीटिरियन आदि को मानने वाले थे।

(ii) इनके भिन्न-भिन्न शासन संगठन एवं कानून थे।

(iii) जीवन यापन के साधन अलग-अलग थे।

अतः यहाँ एक ऐसी संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें अनेक तत्वों का मूल विद्यमान था। विभिन्न धर्मों, विश्वासों और भिन्न प्रकार के कार्यों को करने पर भी यहाँ के लोगों के सामने एक जैसी समस्याएँ थीं, जिनके लिए उन्हें मिलकर संघर्ष करना था। इस तरह अस्तित्व की भावना ने शनैः शनैः उनके बीच की खाई को समाप्त कर दिया जिससे इस धरती पर एक ऐसी संस्कृति उदित हुई जो यूरोप से मिलती -जुलती होने पर भी अपने में विशिष्ट थी।

क्रांति पूर्व अमेरिका की स्थिति-

उत्तर में मेंन से दक्षिण में जार्जिया तक कुल तेरह अंग्रेजी बस्तियाँ थीं। इन उपनिवेशों में 1713 से 1763 ई. के बीच जनसंख्या में चार गुना वृद्धि हुई। इसकी तुलना में क्षेत्रफल में तीन गुना बढ़ोतरी हुई जो कि बस्तीवासियों के पश्चिम की ओर अग्रसर होने से हुई। 1713 से 1763 ई. के बीच बड़ी संख्या में अंग्रज, स्कॉट जर्मन तथा फ्रेंच आप्रवासी अमेरिका की बस्तियों में जाकर बसे। ये वाणिज्यवाद के महत्वपूर्ण वर्ष थे। अमेरिका के सभी उत्पादनों तथा लकड़ी, चमड़ा, तम्बाकू,

चीनी, तांबा, मछली आदि की कीमतें इंग्लैण्ड तथा पूरोप में तेजी से बड़े जिससे अमेरिकी लोग समृद्ध हुए, यद्यपि इंग्लैण्ड की व्यापारिक नीति लगातार बाधाएँ खड़ी करती रही। 50 वर्षों की लगातार खुशहाली के कारण ही अमेरिकी तत्कालीन विश्व में ऊँचा जीवनस्तर बना पाये। इंग्लैण्ड की यात्रा पर जाना अब एक आम बात बन गई थी। विदेशों से पुस्तकों का आयात बहुत बड़े स्तर पर किया जाने लगा था और कई पत्र-पत्रिकायें अमेरिका में भी छपने लगी थीं। पत्रकारिता से अमेंरीकियों का लगाव पैदा हो चुका था। कुछ पत्रों जैसे गजट, न्यूयॉर्क रिपोर्टर आदि की यूरोप तक में माँग हो चुकी थी। बोस्टन व अनापोलीस जैसे नगरों में इंग्लैण्ड की तुलना में अधिक सुन्दर भवनों का निर्माण किया गया। कई प्रसिद्ध अमेरिकी विश्वविद्यालय जैसे प्रिंस्टन, येल, डार्ट माउथ, ब्राउन इत्यादि क्रांति से पूर्व स्थापित्त हो चुके थे। क्रांति काल के कूछ महत्वपूर्ण अमेरिकी नगर थे-बोस्टन, न्यूसार्क, जेम्स टाउन, चार्ल्स टाउन, सवानाह, फिलाडेलफिया आदि।

अमेरिकी क्रांति के कारण-

1. उपनिवेशवासियों का चरित्रः- अमेरिका का स्वतन्त्रा संग्राम विदेशियों से आरम्भ नहीं किया गया था, इसके आरम्भ करने वाले इंग्लैण्ड वासी ही थे। जब इंग्लैण्ड के कैथोलिक लोगों को जेम्स प्रथम द्वारा भी धार्मिक स्वतन्त्रता नहीं दी गई और टेरट-अधिनियम (Tesat Act) को समाप्त नहीं किया गया तो वे 'में फ्लावर' (May Flower) नामक जहाज में बैठ कर अमेरिका गये थे। ये लोग 1820 में अमेरिका पहुंचे। वहां जाने पर इनके आचार-विचार में परिवर्तन आने लगा। वे इंग्लैण्ड के प्रति वफादार नहीं रहे। इसके अलावा इंग्लैण्ड की सरकार ने जहाजों की तलाशी ले कर अमेरिका के भले आदमियों को जाने से रोकने का भी प्रयास किया था। अतः अमेरिका जाने वाले लोगों में ऐसे आदमी कम थे जो कि इंग्लैण्ड के हित की बात सोच सकते थे। अमेरिका में इंग्लैण्डवासियों को भूमि तो काफी मिल गई और वहां बसनेवाले कम रहे। इस कारण इंग्लैण्डवासियों ने अपने साथ अन्य देशों के लोगों को भी बसने की अनुमति दे दी। इस कारण भी अमेरिका के उपनिवेशों के लोगों में इंग्लैण्ड के प्रति देश-भक्ति की भावना कम हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों के लोग इंग्लैण्ड विरोधी आसानी से हो गये और इंग्लैण्ड का हित चाहने वाले कम ही लोग रह गये।

2. अपनिवेशवासियों पर इंग्लैण्ड के प्रशासन का प्रभावः- अमेरिका के उपनिवेशों के निवासी इंग्लैण्ड से आये थे। उन पर इंग्लैण्ड की राजनीति का प्रभाव स्पष्ट था। वे अमेरिका में बैठे-बैठे इंग्लैण्ड में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों की जानकारी भी प्राप्त कर रहे थे। उन्हें मालूम था कि इंग्लैण्ड के शासन में संसद (Parliament) कितनी शक्तिशली हो रही है। उन्हें ज्ञात था कि इंग्लैण्ड की संसद ने अपने राजा चार्ल्स प्रथम को फांसी पर लटका दिया है तथा जेम्स द्वितीय को 1688 में इंग्लैण्ड की गद्दी छोड़ने को बाध्य कर दिया है। अतः वे अपने ऊपर इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा थोपे हुए गवर्नरों को पसन्द नहीं करते थे। सैनिक अधिकारी कैप्टिन व कर्नल भी इंग्लैण्ड से नियुक्त हो कर आते थे। वे उपनिवेशों की सरकार के प्रति उत्तरदायी न हो कर इंग्लैण्ड की सरकार के प्रति उत्तरदायी होते थे। इनके अलावा उच्च पदों के लिए अफसर भी इंग्लैण्ड से आते थे। उनके वेतन के सम्बन्ध में भी उपनिवेशों के लोग मत-भेद रखते थे। अतः वे चाहते थे कि उनके यहां भी इंग्लैण्ड की भांति उत्तरदायी सरकार स्थापित हो, गवर्नरों की नियुक्ति में उनका हाथ हो और वे गवर्नर उपनिवेश की व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हों। इंग्लैण्ड की सरकार इस परिवर्तन के के लिए तैयार नहीं थी। अतः उनमें विरोध बढ़ना स्वाभाविक था।

3. उपनिवेशवासियों का बौद्धिक विकासः- अमेरिका में आकर बस जाने से उपनिवेशवासियों का बौद्धिक विकास भी हो रहा था; क्योंकि यहां आकर वे कई नियन्त्रणों से मुक्त हो गये थे। इंग्लैण्ड में वे वहां की सरकार की सुरक्षा में रहते थे, परन्तु इस नई दुनिया में आकर उन्हें अपनी सुरक्षा स्वयं को करनी पड़ी। यहां उन्हें लार्ड्स के आगे टोप उतार कर अपनी हीनता प्रदर्शित नहीं करनी पड़ती थी। सच पूछा जाय तो उन्हें इंग्लैण्ड से अधिक स्वतन्त्रता नई दुनियां में मिली थी। यहां वे अपनी व्यवस्थापिका का गठन स्वयं करते थे और इसमें कोई आर्थिक प्रतिबन्धों का प्रश्न नहीं था। यहां उन पर न तो राजा का ही निन्त्रण था और न लार्ड्स (Lords) का ही। धर्माधिकारियों के प्रभाव से भी वे मुक्त थे। इन परिवर्तनों से उनके स्वभाव में भी परिवर्तन आ गया था। इतिहासकार ट्रेवेलियन लिखता है कि जहां अंग्रेजी समाज पुराना था और उसमें पेचीदापन तथा कृत्रिमता आ चुकी थी, वहां अमेंरिकन लोग अभी नये-नये थे और वे सरल थे। दोनों स्थानों के लोगों में धार्मिक मत-भेद भी बहुत था। इसके परिणामस्वरूप उपनिवेशवासियों का बौद्धिक विकास शीघ्रता से होने लगा। उनमें आत्म-विश्वास भी जाग्त हुआ।

4. नवविजित क्षेत्र की समस्याः- अमेरिका के मूल निवासी (Red Indians) अंग्रेजों से घृणा करते थे; क्योंकि अंग्रेज उनके साथ दास-तुल्य व्यवहार करते थे। खेती करने के लिए उन्होंने मूलनिवासियों से ही जंगल साफ करवाये थे। इसके विपरीत फ्रांसवासी उनके साथ अच्छा व्यवहार करते थे। वे मूलनिवासियों को आवश्यकता की वस्तुएं उपलब्ध कराते थे। अतः जब सप्त वर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप वर्तमान कनेडा (Canada) अंग्रेजों द्वारा जीत लिया गया तो मूल निवासियों के समक्ष समस्या उत्पन्न हो गई। परन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने मूलनिवासियों तथा अन्य निवासियों को विश्वास दिलाया कि उनके साथ समानता का व्यवहार किया जावेगा। नवविजित प्रदेशों को इंग्लैण्ड की सरकार ने पूर्णतः अपने अधिकार में रखा। उनके लिए अलग कानून बनाये गये और उपनिवेशवासी अंग्रेजों को नवविजित प्रदेशों में जाने से रोक दिया। वहां के मूल निवासियों में विश्वास उत्पन्न करने की नियत से इंग्लैण्ड की संसद ने 1763 में एक अधिनियम पारित कर एलेगनीज, फ्लोरिडा, मिसिसिपी और क्वेबेक के बीच का प्रदेश मूल निवासियों के लिए आरक्षित कर दिया। इससे उपनिशों के अंग्रेज निवासी उस प्रदेश में नहीं जा सकते थे। इससे उपनिवेशवासी अपनी सरकार से नाराज हो गये क्योंकि वे उन प्रदेशों में सस्ती कीमत पर जमीन खरीद कर अपने व्यापारिक प्रतिष्ठान कायम करना चाहते थे। इसी प्रकार इंग्लैण्ड की सरकार ने अपने उपनिवेशवासियों को एपलेचियन (Appalachian) पर्वत के उस पार जाने से भी रोक दिया। इससे अंग्रेज पश्चिम में नहीं जा सके और उनको जानवरों के मुलायम बालों (Fur) के व्यापार से वंचित होना पड़ा। इस कारण उपनिवेशवासियों ने इंग्लैण्ड सरकार के 1763 के अधिनियम को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार संघर्ष का एक कारण यही भी बन गया।

5. प्राचीन शत्रुताः- निःसंदेह स्वतन्त्रता-संग्राम के समय अमेरिका के इन तेरह उपनिवेशों में यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी आबाद हो गये थे; परन्तु उनमें सर्वाधिक इंग्लैण्डवासी ही थे। इंग्लैण्डवासी 1620 ई. में में फ्लावर नामक जहाज से अमेरिका पहुंचे थे और वहां न्यू-इंग्लैण्ड का उपनिवेश स्थापित किया था। इंग्लैण्ड से जाने वालों में प्युरिटन लोग अधिक थे और वे जेम्स प्रथम की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से क्रूद्ध हो अमेरिका गये थे। अमेरिका जाने में उन्हें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था उन्हें वे भूले नहीं थे। निःसंदेह चार्ल्स द्वितीय ने उन्हें कुछ सुविधायें प्रदान करने का प्रयत्न अवश्य किया था। शेष सभी इंग्लैण्ड के शासकों ने उनको हर प्रकार से शोषित करना ही अपना परम-कर्त्तव्य समझा था। अतः उनके हृदय में इंग्लैण्ड की सरकार के प्रति द्वेष व प्रतिकार की भावना विद्यमान थी। इसके अलावा 10 प्रतिशत अमेरिका में बसने वाले तो इंग्लैण्ड गये नहीं थे। इस कारण भी उन्हें इंग्लैण्ड के प्रति कोई प्रेम नहीं था। इंग्लैण्ड की सरकार उनका भला भी नहीं विचारती थी। जार्ज तृतीय के अनुसार शासन ने उनमें प्रतिशोध की भावना को और भी उग्र बना दिया था।

6. सप्त-वर्षीय युद्धः- किन्हीं कारणें से इंग्लैण्ड को 1756 ई० में फ्रांस के विरूद्ध युद्ध करना पड़ा और यह युद्ध 1763 ई० तक चलता रहा। इसीलिये इस युद्ध को इतिहास में 'सप्त-वर्षीय युद्ध' (Seven Year's War) कहते हैं। इस युद्ध की घटनायें भारत, यूरोप तथा अमेरिका में घटित हुई। इस सप्त वर्षीय यूद्ध के परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए। इस युद्ध की समाप्ति पेरिस की सन्धि से हुई। इस सन्धि के परिणामस्वरूप भारत तथा अमेरिका में अंग्रेजों का प्रभाव दृढ़ता से स्थामित हो गया पर इंग्लैण्ड की सरकार अपने उपनिवेशों के प्रति संशकित हो गई। अतः उसकी 1763 ई० के उपरान्त अमेरिका के प्रति भी नीति बदल गई। परन्तु नई दुनियां के उपनिवेशों के प्रति नीति बदलने के पीछे आर्थिक परिस्थितियां प्रमुख थीं। सप्त वर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड को इतना धन खर्च करना पड़ा था कि उसकी आर्थिक अवस्था चरमरा गई थी। इंग्लैण्ड की सरकार ने युद्ध का खर्च अमेरिका के उपनिवेशों से वसूल करना चाहा और उपनिवेशवासियों ने उसे देने से इन्कार किया। इसी कारण इंग्लैण्ड की सरकार को अब सख्त होना पड़ा। अपने इस आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड की सरकार को अनेक अधिनियम पारित करने पड़े और उन अधिनियमों के कारण 'सप्त-वर्षीय युद्ध' इस स्वतन्त्रता संग्राम का प्रमुख कारण बन गया। जैसा कि हम निम्न अवतरणों में पाते हैं-

(i) इंग्लैण्ड की संसद ने 1763 के उपरान्त अमेरिका के उपनिवेशों के सन्दर्भ में आर्थिक अधिनियम पारित किए। उनकी भूमिका में सप्त-वर्षीय युद्ध ही प्रमुख रूप से आता है। इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था के खराब होने का कारण सप्त-वर्षीय युद्ध था। इस युद्ध के कारण ही इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था दयनीय हुई थी। उसकी यह धारणा थी कि हमने यह युद्ध अमेरिका के उपनिवेशों की रक्षा के लिए लड़ा था। अतः उपनिवशों का कर्त्तव्य है कि वे युद्ध का खर्च दें। उपनिवेशवासियों ने इसका कड़ा प्रतिरोध किया और कहा कि युद्ध में उपनिवेशों की सेनाएँ भी लड़ी थीं। इस प्रकार युद्ध का खर्च भी उपनिवेशों ने ही वहन किया।[1] इसके अलावा उन्होंने इंग्लैण्ड की संसद को चुनौती भी दी और कहा कि इंग्लैण्ड की संसद को उनके विषय में कानून बनाने का अधिकार ही नहीं है। इस चुनौती के परिणमस्वरूप

उपनिवेशवासियों और इंग्लैण्ड की सरकार के मध्य वाक-युद्ध आरम्भ हो गया जो शीघ्र ही शस्त्रों के युद्ध में परिणित हो गया।

(ii) उपनिवेशवासियों को बाहरी संकट का भय नहीं रहाः- सप्त-वर्षीय युद्ध से पूर्व तक उपनिवेशवासी इस बात से डरते थे कि यदि हम हमारी गृह-सरकार से स्वतन्त्र होते हैं तो फ्रांस हमें अपने प्रभुत्व में कर लेगा और वे अपने को फ्रांसवासियों से रक्षा करने में सक्षम समझते थे। अतः सुरक्षा के क्षेत्र में वे इंग्लैण्ड सरकार पर ही निर्भर रहते थे। इसी कारण वे इस युद्ध से पूर्व न तो अपनी सरकार का ही विरोध करते थे और न वे इंग्लैण्ड की सरकार की प्रभुता से स्वतन्त्र ही होना चाहते थे। परन्तु सप्त-वर्षीय युद्ध के समाप्त होते ही उनके विचारों में बदलाव आ गया। कनेडा से फ्रांसवासी निकाल दिए गये। फ्रांस का अमेरिका में कोई प्रभाव नहीं रहा। अतः उपनिवेशवासी फ्रांस के भय से तो मुक्त हो गये, सुरक्षा के क्षेत्र में उन्हें इंग्लैण्ड की आवश्यकता नहीं रही। अतः वे अब निर्भीक हो कर अपनी इंग्लैण्ड की सरकार से मुक्त होने का प्रयास करने लगे।

(iii) सप्त-वर्षीय युद्ध में सैनिक अनुभव होनाः- यह सही है कि अमेरिका में इंग्लैण्ड के अधिकांश लोग वणिक वृत्ति के आये थे। उनका उद्देश्य अमेरिका में व्यापार करके धन कमाना ही था। परन्तु जब वहां के मूल निवासियों से उन्हें अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ी तो वणिक वृत्ति के लोग सैनिक भी बन गये। इस सप्त-वर्षीय युद्ध ने उन्हें युद्ध का अनुभव भी करा दिया। इस युद्ध के दोरान उन्होंने फ्रांस की भी सैनिक शक्ति देख ली और अपने देश इंग्लैण्ड की भी देख ली। अब वे युद्ध से नहीं डरते थे। इस कारण वे अब अपने सरकार के विरूद्ध युद्ध करने से नहीं हिचक रहे थे।

(iv) सप्त-वर्षीय युद्ध में उपविनेशवासियों को आर्थिक लाभ होनाः- सप्त-वर्षीय युद्ध के दौरान अमेरिका के उपनिवेशवासियों को अच्छा धन कमाने का अवसर मिल गया। युद्ध के समय उनको ठेके लेने पड़े तथा युद्ध के समय सामान की सप्लाई भी उन्हें करनी पड़ी। इसके अलावा और भी कई कारोबार उन्हें युद्ध के समय करने पड़े। इस प्रकार अधिक धन कमाने से उनकी वणिक-वृत्ति और अधिक बढ़ गई। वे अब इंग्लैण्ड की सरकार को कुछ देना नहीं चाहते थे। इसीलिए वे इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा थोपे जा रहे व्यापारिक नियन्त्रणों को मानने के लिए तैयार नहीं थे।

(v) फ्रांसवासियों द्वारा युद्ध के लिए प्रेरणाः- सप्त-वर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड से फ्रांस को परास्त होना पड़ा था और इस पराजय के परिणामस्वरूप फ्रांसवासियों को भारत व अमेरिका दोनों में अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा था। वे न तो इस पराजय के अपमान को ही भूले थे और न अपने आर्थिक नुकसान को ही। अतः अपनी पराजय का बदला लेने की नियत से उन्होंने अंग्रेज उपनिवेशवासियों को उनकी सरकार के विरूद्ध शस्त्र उठाने को प्रेरित करना आरम्भ किया। उन्होंने अंग्रेज उपनिवेशवासियों को सैनिक सहायता देने का वचन दिया। इस प्रकार फ्रांसवासियों ने इस युद्ध को छिड़वाने में सहयोग दिया।

7. उपनिवेशवासियों में स्वतन्त्रता की भावनाः- नई दुनियां में आकर इंग्लैण्डवासी और निर्भीक एवं स्वतन्त्र प्रवृत्ति के हो गये थे। अनेक कठिनाइयां सहन करने के उपरान्त वे नई दुनियां में आये थे। उनमें कुलीन-वर्ग व अभिजात-वर्ग नहीं पनपा था। वे सब समान थे। प्लाई माउथ पर उतरते ही उन्होंने एक इकरारनामें (में प्लावर कम्पैक्ट) पर हस्ताक्षर किए थे और कहा था कि हम न्याय व सामन्त के सिद्धान्त पर रहेंगें और किसी के गुलाम नहीं रहेंगे।

8. इंग्लैण्ड के व्यापारियों की स्वार्थपूर्ण नीतिः- विलियम पिट और बेन्जामिन फ्रेंकलिन तो विस्तारवादी साम्राज्यवाद के पक्षपाती थे। वे इंग्लैण्ड के साम्राज्य का विस्तार करके उसे महान बनाना चाहते थे। परन्तु इंग्लैण्ड के व्यापारी वाणिज्यवाद के समर्थक थे। वे अमेरिका स्थित इंग्लैण्ड के उपनिवेशों को केवल व्यापार का केन्द्र बनाये रखना चाहते थे। अतः वे केवल ऐसे उपनिवेशों के पक्ष में थे जिनसे कि उन्हें व्यापार में अधिक लाभ हो सके। इसी कारण वे कनाडा को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने के पक्षपाती नहीं थे। वे चाहते थे कि कनाडा के बदले हम ऐसे उपनिवेश प्राप्त करलें जहां तम्बाकू व चावल अधिक उत्पन्न होते हों। वे नहीं चाहते थे कि उपनिवेशवासी ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करें जिनका उत्पादन इंग्लैण्ड में होता है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के व्यापारी यह नहीं चाहते थे कि उपनिवेशवासी अपने यहाँ का कच्चा सामान यूरोप के किसी अन्य देश को निर्यात करें। इसलिए इंग्लैण्ड की सरकार ने इस प्रकार के वाणिज्यवादी सिद्धांत पर आचरण करते हुए

उपनिवेशवासियों को इंग्लैण्ड में निर्मित होने वाली अस्तुओं के निर्माण करने से रोक दिया। अमेरिका के उपनिवेशवासियों ने सरकार की इस नीति का कड़ा विरोध किया।

9. इंग्लैण्ड का उपनिवेशों पर आर्थिक नियन्त्रणः- इंग्लैण्ड की सरकार की देश के बढते हुए उपनिवेशवाद (Colonialism) के साथ यह नीति हो गई थी कि उपनिवेश देश को लाभ पहुंचाने को हैं। इस सि द्धान्त पर आचरण करते हुए इंग्लैण्ड की संसद में अनेक इस प्रकार के अधिनियम पारित किये जिनका मूल उद्देश्य अमेरिका के उपनिवेशों से आधिकाधिक धन प्राप्त करना था। उनमें प्रमुख अधिनियम अग्रलिखित हैं-

(i) जहाजरानी अधिनियमः- इस अधिनियम का आशय यह था कि उपनिवेशवासी केवल इंग्लैण्ड के जहाज से ही माल मंगा सकते हैं तथा भेज सकते हैं। इसके साथ ही उपनिवेशवासियों को बाध्य किया गया कि प्रथम तो वे अन्य देशों से सामान आयात करें ही नही और करें तो केवल इंग्लैण्ड के जहाजों से ही करें। उन जहाजों के नाविक भी अंग्रेज ही हों। इसके साथ ही व्यापारिक नियम (Trade Laws) भी पारित किये गये। इनके अन्तर्गत उपनिवेशवासियों को बाध्य किया गया कि वे अपना कच्चा सामान इंग्लैण्ड को ही बेचें और तैयार माल इंग्लैण्ड से खरीदें। हालंकि इस प्रकार के अधिनियम 1651, 1660, और 1689 में भी बन चुके थे पर उन्हें सख्ती से लागू नहीं किया गया था। परन्तु चार्ज तृतीय ने इन पर सख्ती से अमल करने का प्रयास किया। इससे उपनिवेशवासी इंग्लैण्ड विरोधी हो गये।

(ii) शक्कर अधिनियम (Sugar Act) पारित करनाः- इंग्लैण्ड की सरकार नहीं चाहती थी कि उनके उपनिवेशवासी फ्रांस की बस्तियों से कुछ भी वस्तुएँ खरीदें। 1764 ई० से पूर्व उपनिवेशों के व्यापारी फ्रांसीसी वैस्ट इंडीज से चीनी खरीदते थे; क्योंकि वहाँ उन्हें चीनी सस्ती उपलब्ध थी। इंग्लैण्ड की सरकार को यह पसन्द नहीं था। वह चाहती थी कि उसके उपनिवेशों के व्यापारी ब्रिटिश वैस्टइण्डीज से चीनी खरीदें। इसीलिए इंग्लैण्ड की सरकार ने 1764 ई० में शक्कर अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम के अन्तर्गत् इंग्लैण्ड सरकार ने उपनिवेशों में आने वाली चीनी पर टैक्स लगा दिया। जब उपनिवेशवासियों ने इस टैक्स का विरोध किया तो इंग्लैण्ड की सरकार ने चिन्ता नहीं की। बनदरगाह पर उसने चुंगी वसूल करने के लिए अपने कर्मचारी नियुक्त कर दिए। चीनी के साथ अन्य आयात होने वाली वस्तुओं पर भी चुंगी लगादी। इस कानून का यही आशय था कि अमेरिका के उपनिवेश अन्य देशों से सामान का आयात न करें। इससे उपनिवेशवासी नाराज हो गये।

(iii) मुद्रा अधिनियम :- उपनिवेशवासियों को व्यापार सुगमता से करने हेतु कागज मुद्रा चलाने का अधिकार था और सप्त-वर्षीय-युद्ध के समय तो उपनिवेशों ने कागज की मुद्रा पर्याप्त मात्रा में प्रचलित क्री थी। परन्तु 1764 ई० में इंग्लैण्ड की सरकार ने पत्र-मुद्रा-अधिनियम पारित कर उपनिवेशों को इस अधिकार से वंचित कर दिया तथा उनसे कहा गया कि उनके पास जितनी भी कागज की मुद्रा है- वह सरकार को लौटा दें। इंग्लैण्ड-सरकार के इस अधिनियम को भी उपनिवेशवासियों ने अपनी स्वायत्तता पर महान आघात समझा।

(iv) खोज-वारन्ट अधिनियमः- जब इंग्लैण्ड की सरकार ने अमेरिका में अपने वाणिज्यवाद को सुरक्षित रखने हेतु कई अधिनियम पारित कर दिये और उपनिवेशवासियों को यूरोप के अन्य देशों से माल मंगाने से नियन्त्रित कर दिया तो उपनिवेशों के व्यापारियों ने चोरी से माल का आयात करना आरम्भ कर दिया। रात्रि के समय माल से लदे जाहजों को बन्दरगाहों से कुछ मील दूर जाकर रोकते तथा रातों-रात जहाज से माल उतार कर कहीं मकानों में छुपा दिया करते। इससे इंग्लैण्ड की सरकार को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। अतः इंग्लैण्ड की सरकार ने खोज-वारण्ट अधिनियम (Writs of Ass istance) परित किया। इसके अन्तर्गत रैवेन्यू अधिकारियों को अमेरिकन्स के मकानों की तलाशी लेने का अधिकार मिल गया। इसका परिणाम यह निकला कि उपनिवेशों को अन्य देशों से सस्ती कीमत पर माल मंगाने में कठिनाई होने लगी। मकानों की तलाशी लेने से भी उपनिवेशवासी इंग्लैण्ड की सरकार के विरोधी हो गये।[1] उन्होंने इसे अपने मौलिक अधिकार का अपहरण समझा।

10. जार्ज तृतीय का शासन :- जार्ज तृतीय 1760 ई० में इंग्लैण्ड का शासक बना। वह अपने पिता जार्ज द्वितीय व पितामह जार्ज प्रथम की भांति प्रशासन के प्रति उदासीन रहने वाला नहीं था। वह यूरोप के अन्य शासकों की भांति सच्चे अर्थ में शासक बनाना चाहता था।[2] इस क्षेत्र में उसे अपनी माता से भी मन्त्रणा मिलती थी। उसने संसद के वैधानिक कार्यो में तो किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं की, परन्तु येन-केन-प्रकारेण उसने अपनी एक अलग पार्टी बना ली और उस पार्टी की सहायता से उसने स्वयं को ह्विग-दिल के प्रभाव से मुक्त कर अमेरिका स्थित अपने उपनिवेशों को मनमाने कानून पास करने लगा।

लार्ड सदन के सदस्य विलियम पिट तथा कामन्स के सदन के सदस्य एडेमण्ड बर्क के विरोध करने पर भी जार्ज तृतीय अपने इरादे से टस से मस नहीं हुआ। उसका कहना था कि अमेरिका को हमने फ्रांस के प्रभुत्व से मुक्त कराया है। अतः वहाँ के उपनिवेशों से युद्ध का खर्च वसूल करना हमारा परम-कर्त्तव्य एवं अधिकार है। इसके अलावा वह वहाँ के प्रशासन का व्यय भी उपनिवेशवासियों से ही वसूल करना चाहता था। उसकी इस नीति से वह अमेरिकावासियों में अपयश का भाजन बना। इस स्वतन्त्रता-संग्रम का उत्तरदायी भी इतिहासकार कुछ सीमा तक जार्ज तृतीय को ही बताते हैं। उसको इस कार्य में उसके प्रधानमन्त्री ग्रेनविल से भी महान सहयोग मिला। सम्राट जार्ज तृतीय ने निम्न अधिनियम पारित करायेः-

(i) विद्रोह अधिनियमः- फ्रांस की पराजय से इंग्लैण्ड की सरकार उपनिवेशों की सुरक्षा से निश्चिन्त नहीं हुई थी। उसे भय था कि फ्रांस कभी भी अमेरिका पर आक्रमण कर सकता है। अतः जार्ज तृतीय के प्रधान-मंन्त्री ग्रेनविल ने उपनिवेशों की सुरक्षा के लिये स्थायी सेना रखने का विचार किया। इस विचार को क्रियानिवत करने के लिये उसने 1765ई० में विद्रोह-अधिनियम पारित करवाया। इस अधिनियम के अन्तर्गत् प्रत्येक उपनिवेश में निर्धारित संख्या में अंग्रेज सैनिक रहने लगे। उनका सारा व्यय उपनिवेशवासियों को ही सहन करना पड़ता था। सरकार का कहना था कि यह सब उनकी सुरक्षा के लिये किया जा रहा है। परन्तु उपनिवेशवासी इस कानून की सच्ची मन्शा जानते थे। इसलिये उन्होंने इसका विरोध किया।

(ii) स्टाम्प अधिनियमः- जार्ज तृतीय के प्रधान-मन्त्री ग्रेनविल ने स्टाम्प अधिनियम पारित कराया। इसके अन्तर्गत उपनिवेशवासियों को समाचार-पत्रों से लेकर सरकारी सभी दस्तावेजों पर स्टाम्प लगाना आवश्यक कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस अधिनियम से व्यापारी-वर्ग भी क्रोधित हो गया और साथ में ही बुद्धिजीवी वर्ग भी। वकील लोग भी इस अधिनियम से आतंकित हो उठे। समाचार-पत्र भी इससे प्रभावित हुए। इस कारण समाचार-पत्र भी इंग्लैण्ड की सरकार से नाराज हो गये और उन्होंने अपने समाचारों के माध्यम से इसका विरोध जन-साधरण के पास पहुँचना आरम्भ किया।

इस अधिनियम का विरोध सर्वप्रथम वर्जीनिया की प्रतिनिधि सभा में हुआ। वर्जीनिया के विख्यात वक्ता पैट्रिक हैनरी ने जार्ज तृतीय को एक निरंकुश शासक बताया। यह विरोध यहीं तक सीमित नहीं रहा। पैट्रिक हैनरी ने इसके विरोध में वर्जीनिया की एसेम्बली में एक प्रस्ताव रखवाया जिसमें मुख्य तर्क यह था। कि अमेरिकावासियों पर केवल उनके प्रतिनिधि ही कर लगा सकते हैं। इस पर इंग्लैण्ड की सरकार ने प्रतिक्रिया की कि ब्रिटिश संसद का प्रत्येक सदस्य समस्त साम्राज्य का प्रतिनिधित्व करता है।[1] इस प्रतिक्रिया से उपनिवेशवासी और भी क्रोधित हो उठे। उन्होंने स्टाम्पस की होली मनाना आरम्भ कर दिया। स्टाम्पस पर जिन व्यक्तियों के चिन्ह अंकित थे उनके पुतले जलाना आरम्भ कर दिया।

उपनिवेशवासियों ने कानून व व्यवस्था को अपने हाथों में लेने का प्रयास किया। उन्होंने 'स्वतन्त्रता-पुत्रों' के नाम की संस्था स्थापित की। यह संस्था मजदूर व किसानों की थी। इस संस्था के माध्यम से अमेरिका में विरोध और भी उग्र होता चला गया। इस संस्था के सदस्यों ने टिकट विक्रेताओं को आतंकित करना आरम्भ किया। बोस्टन इस विद्रोह का प्रमुख केन्द्र बना। उत्तेजित भीड़ ने लेफ्टीनेन्ट गवर्नर थामस हचिन्सन के भवन को अग्नि-देव की भेंट चढ़ा दिया। इसके उपरान्त पैट्रिक हैनरी ने जेम्स ओटिस (Jamesa Otis) के सहयोग से न्यूयार्क (New York) में अकटूबर 1765 ई० में एक कांग्रेस का आयोजन किया। इस कांग्रेस के उपरान्त वो उपनिवेशों की एसेम्बलियों में इस अधिनियम के विरूद्ध प्रस्ताव और पारित हुए। उपनिवेशवासियों के इस विरोध से इंग्लैण्ड की सरकार हिल गई। अतः उसने इस अधिनियम को वापिस ले लिया। इससे आन्दोलन तो कुछ शान्त हो गया, परन्तु नो उपनिवेशों में एकता की भावना उत्पन्न हो गई।

(iii) घोषणा अधिनियमः- निः सन्देह इंग्लैण्ड की सरकार ने इन हिंसात्मक विद्रोहों की अधिक चिन्ता नहीं की। परन्तु इंग्लैण्ड के व्यापारी-वर्ग ने अपनी सरकार को स्टाम्प अधिनियम रद्द करने को बाध्य कर दिया। उपनिवेशवासियों ने इंग्लैण्ड के सामान की खरीद बन्द कर दी। व्यापारिक हानि से अगत कराते हुए इंग्लैण्ड के व्यापारियों ने अपनी सरकार से स्टाम्प-अधिनियम वापिस लेने की प्रार्थना की। भाग्यवश इस समय ग्रेनबिल प्रधानमन्त्री पद से हट चुका था और उसके स्थान पर रोकिंघम प्रधानमन्त्री बना था। वह

इंग्लैण्ड व अमेरिका दोनों स्थानों के व्यापारियों को प्रसन्न करना चाहता था। इसके अलावा अब जार्ज तृतीय स्वयं भी इस परिणाम पर पहुँच चुका था कि इस अधिनियम को वापिस लेना ही श्रेयस्कर होगा। अतः 1766 ई० में यह अधिनियम तो वापिस ले लिया गया। परन्तु इसके स्थान पर इंग्लैण्ड की संसद ने 'घोषणा-अधिनियम' को पारित कर दिया। इस अधिनियम को पारित कर ईलैण्ड की ससंद यह दिखाना चाहती थी वह 'स्टाम्प-आधिनियम' अवश्य वापिस ले रही है, पर उसे अपने उपनिवेशों पर टैक्स लगाने का पूरा अधिकार है। इस अधिनियम ने उपनिवेशवासियों के क्रोध को और भी उग्र बना दिया क्योंकि उनकी धारणा थी कि बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाना अत्याचार है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जार्ज तृतीय ने 1765 ई० के समय तक जो भी अधिनियम पारित किये उनसे उसकी स्थिति अमेरिका में सुदृढ़ तो हुई नहीं बल्कि इसके विपरीत वे स्वतन्त्रता संग्राम के कारण बन गये।

11. टाउनशेण्ड प्रोग्रामः- स्टाम्प अधिनियम के वापिस लेने से रोकिंघम जनता में शीघ्र ही बदनाम हो गया। इंग्लैण्ड के भूस्वामियों ने कहा, "सरकार ने व्यापारियों और उपनिवेशवासियों के हित में हमारे हितों का बलिदान किया है।" अतः इंग्लैण्ड की जनता ने विलियम पिट को प्रधानमन्त्री चुना। वह इंग्लैण्ड व अमेरिका दोनों देशों में अच्छी कीर्ति प्राप्त कर चुका था। परन्तु इस समय वह मानसिक पीड़ा से पीड़ित था। अतः उसके प्रधानमन्त्री काल में उसका वित्त-मंन्त्री टाउनशैण्ड का प्रभुत्व बना रहा। टाउनशैण्ड ने भी अमेरिका पर इंग्लैण्ड का प्रभुत्व थोपने के लिए कई अधिनियम पारित किये। उन अधिनियमों के पारित करने को ही टाउनशैण्ड प्रोग्राम की संज्ञा दी जाती है। इसके द्वारा पारित कराये कुछ आधिनियम निम्नलिखित हैं-

(i) कार्टरिंग अधिनियमः- घोषणा-अधिनियम के माध्यम से इंग्लैण्ड की सरकार ने यह बताना चाहा था कि उसे अपने उपनिवेशों पर कर लगाने का पूरा अधिकार है और उसकी सच्चाई सिद्ध करने हेतु उसने यह अधिनियम पास किया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत उपनिवेशों में इंग्लैण्ड के सैनिकों का रहना आवश्यक हो गया। उपनिवेशवासियों को बाध्य किया गया कि वे ही उन सैनिकों के ठहरने व खाने की व्यवस्था भी करें। उपनिवेशवासी यह नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने इस अधिनियम का भी कड़ा विरोध किया। मैंसेचूसैट्स की एसेम्बली ने इस अधिनियम का कड़ा विरोध किया। न्यूयार्क की एसेम्बली ने उसका अनुसरण किया क्योंकि वहाँ सेना का प्रधान कार्यालय था और इस अधिनियम के पारित होते ही 1000 सैनिक बोस्टन भेज भी दिए गये थे। अतः यह अधिनियम भी स्वतन्त्रता संग्राम का प्रमुख कारण बन गया।

(ii) न्यूयार्क एसेम्बली को भंग करनाः- जब न्यूयार्क की एसेम्बली ने क्वार्टरिंग अधिनियम का विरोध किया तो टाउनशैण्ड ने वहाँ की एसेम्बली को भंग करने का प्रस्ताव अपनी संसद के सामने रखा। उनका कहना था कि न्यूयार्क की एसेम्बली जब तक इंग्लैण्ड की संसद के द्वारा पारित अधिनियम को मानने के लिए बाध्य नहीं हो जाती-उसे भंग कर दिया जावे। इसके अलावा उसने न्यूयार्क निवासियों पर सीसा, रंग, कागज, अब चाय पर कर भी लगा दिया। न्यूयार्कवासी दन दोनों ही बातों के लिए राजी नहीं थे। अतः वहाँ तो इससे विरोध प्रखर हुआ ही पर साथ में ही अन्य उपनिवेशों में भी क्रोध की अग्नि भभक उठी। उन्हें भी आशंका हो गई कि उनकी एसेम्बलियों को भी इसी प्रकार भंग कर दिया जावेगा। मैंसेचूसैट्स की एसेम्बली ने एक परिपत्र अन्य उपनिवशों के पास भेजा कि जिसमें सभी से प्रत्येक कर चाहे वह आन्तरिक हो अथवा बाह्य, का विरोध करने का आग्रह किया गया था। केवल पैनसिलवेनिया (Pennsylvania) ने इस परिपत्र का विरोध किया। इस प्रकार न्यूयार्क की एसेम्बली भंग करने से उपनिवेशों में इंग्लैण्ड का विरोध और तीव्र हो गया।

(iii) तटकर अधिकारी मण्डल की स्थापनाः- टाउनशैण्ड वाणिज्य सम्बन्धी नियम भी अमेरिका में कड़ाई से लागू करना चाहता था। इसलिये उसने इस मण्डल की स्थापना की। इस मण्डल की सहायता से वह तस्कर व्यापार को समाप्त करना चाहता था। इस मण्डल का प्रधान कार्यालय बोस्टन में था। अतः बौस्टन में तो तस्कर-व्यापार समाप्त हो गया पर वह अन्य बन्दरगाहों पर जारी रहा। इस प्रतिबन्ध से भी अमेरिका के व्यापारी नाराज ही हुए।

(iv) ब्रिटिश अधिकारियों पर इंग्लैण्ड में अभियोग चलानाः- टाउनशैण्ड ने एक कानून और पास किया जिसके अन्तर्गत अमेरिका में काम करने वाले ब्रिटिश अधिकारियों पर कोई अपराध करने पर अभियोग केवल इंग्लैण्ड में ही चलाया जा सकता था। इससे भी उपनिवेशवासी क्रुद्ध हुए। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसक कानून से ब्रिटिश सरकार अपने अपराधी अधिकारियों को भी इंग्लैण्ड की अदालतों में ले जाकर केवल आश्रय ही देना चाहती है।

12. चाय का व्यापार सम्बन्धी कानूनः- 1776 और 1773 में ब्रिटिश संसद ने चाय के सन्दर्भ में दो अधिनियम पारित किये। इन अधिनियमें के अन्तर्गत ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत से अमेरिका सीधे चाय भेज सकती थी। इसका उद्देश्य अमेरिका में चाय को सस्ता करना था। परन्तु इस चाय पर भी उपनिवेशवासियों को तीन पैसे प्रति पौण्ड टैक्स देना पड़ता था। लार्ड नार्थ ने सत्ता संभालते ही उपनिवेशवासियों की एकता समाप्त करने की दृष्टि से टाउनशैण्ड द्वारा लगाये गये सारे टैक्स हटा दिए थे; परन्तु चाय का टैक्स नहीं हटाया था। हालांकि यह टैक्स कम था-परन्तु यह तो बताता ही था कि इंग्लैण्ड की संसद को उपनिवेशों पर कर लगाने का अधिकार है। उपनिवेशवासी मूलतः इसी सिद्धान्त के विरोधी थे कि इंग्लैण्ड की संसद को उन पर चुंगी लगाने का अधिकार नहीं है। अतः उपनिवेशवासियों ने लार्ड नार्थ के इस कानून का भी कड़ा विरोध किया। इस कानून का विरोध करने की नियत से एक बौस्टन टी पार्टी नाम का एक दल गठित कर लिया गया।

13. बोस्टन का हत्याकाण्डः- बोस्टन टी पार्टी का नेतृत्व सैमूअल एडैम्स ने संभाला था। वह चाय पर लगे टैक्स का विरोध कर रहा था। इसका स्पष्ट कहना था कि बिना प्रतिनिधित्व के हम टैक्स नहीं देंगे। अतः जब भारत से 340 चाय के बक्स आये तो उन पर चुंगी वसूल करने का प्रयास किया गया। उपनिवेशवासियों ने टैक्स देने से इन्कार किया और चाय से लदे जहाजों को वापिस करने का प्रयास किया। जब बोस्टनवासी उन्हें वापिस करने में सफल नहीं हुए तो 16 दिसम्बर 1773 को सैमुअल के नेतृत्व में वे जहाज पर चढ़ गये और चाय की पेटियों को उन्होंने समुद्र में फैंक दिया। इस पर सैनिकों व बौस्टनवासी में झगड़ा हो गया। अंग्रेज सैनिकों ने गोली चला दी। इसमें तीन बोरटनवासी मारे गये। अपने देशवासियों में क्रान्ति की लहर उत्पन्न करने की दृष्टि से इसे 'बोस्टन हत्याकाण्ड' की संज्ञा दे दी गई। इस घटना से उपनिवेशवासियों में इंग्लैण्ड के विरूद्ध भारी आक्रोश उत्पन्न हो गया।

14. क्यूबैक अधिनियमः- चाय अधिनियम से तो उपनिवेशवासी नाराज थे ही पर उसी वर्ष (1774) लार्ड नार्थ ने क्यूबैक अधिनियम और पारित कर दिया। इस अधिनियम से क्यूबैक उपनिवेश की दक्षिण में सीमा आहियो नदी तक बढ़ा दी। इससे मेंसचूसैट्सवासियों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई; क्योंकि वहाँ वे अपना अधिकार मानते थे। इसके अतिरिक्त इंग्लैण्ड की सरकार ने क्यूबैक के कैथोलिक लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी इससे मेंसेचूसैट के प्रोटेस्टैंट इंग्लैण्ड की सरकार के विरोधी हो गये। प्रथम तो इस कानून से उनकी पश्चिम में बढ़ने की प्रगति रूक गई। दूसरे कैथोलिक सम्प्रदाय को स्वतन्त्रता दे कर सरकार ने उनके धर्म पर आघात किया था।

15. फिलडेलफिया का अन्तर-उपनिवेशीय सम्मेंलनः- सैमुअल एडम्स उपनिवेशों के लोगों को राजनीतिक गतिविधियों से परिचित रखना चाहता था। इसीलिए उसने वहाँ कई संगठनों की स्थापना की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सितम्बर 1774 ई० में फिलडेलफिया में एक अन्तर-उपनिवेशीय सम्मेंलन का आयोजन किया। इस सम्मेंलन में जार्जिया को छोड़कर 12 उपनिवेशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेंलन में अधिकारों का घोषणा-पत्र तैयार किया गया और ब्रिटिश संसद की भर्त्सना की गई। साथ में ही जार्ज तृतीय को एक याचना-पत्र भी भेजा गया। उसमें कहा गया था कि ब्रिटिश-सरकार द्वारा उपनिवेशों पर लगाये प्रतिबन्ध हटा लिए जाने चाहिएँ अन्यथा वे इंग्लैण्ड के साथ व्यापार करना बन्द कर देंगे। परन्तु इंग्लैण्ड की सरकार ने इस याचना-पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया और इसके परिणामस्वरूप उपनिवेशवासी इंग्लैण्ड के प्रभुत्व से स्वाधीन होने का प्रयास करने लगे।

16. अमेरिका के प्रभावशाली व्यक्तिः- पेन ने 'साधारण तर्क बुद्धि' (Common Sense) नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। उस पुस्तक के माध्यम से उसने अपने देशवासियों के दिलों में देश-प्रेम की नवीन चेतना जाग्रत की। उसने अपनी पुस्तक में स्पष्ट किया कि अब अमेरिकावासियों को इंग्लैण्ड से अपने अधिकारों की रक्षार्थ सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने चाहिएँ। उसने दैवी-सिद्धान्त की भी कटु आलोचना की। इसके अलावा इस जागरण में जेम्स आटिस, पैट्रिक हेनरी तथा सैमूअल एडम्स की भी काफी हाथ था। जेम्स आटिस ने खोज-वारण्ट अधिनियम का विरोध किया तो पैट्रिक हेनरी ने स्टाम्प अधिनियम

का किया। वह एक युवक था। उसने युवकों में नई जान फूंक दी। वह कहता था, "या तो मुझे स्वतन्त्रता दो वरना मृत्यु दो।" सैमूअल एडम्स तो वह व्यक्ति था जिसने अमेरिका वालों में क्रान्ति की भावना को प्रबल बनाया। वह ब्रिटिश सरकार को उसकी ज्यादतियों का अच्छा सबक सिखाना चाहता था। क्रान्ति की भावना का उसने स्कुरण किया तथा अपने देशवासियों को स्वतन्त्रता-संग्राम के लिये भी उद्यत किया। अन्त में जार्ज वाशिंगटन का नाम भी लिये बिना नहीं रह सकते। यही वह व्यक्ति था जिसके नेतृत्व में यह संग्राम सफलता के साथ लड़ा गया और अमेरिका इंग्लैण्ड की दासता से मुक्त हुआ।

17. यूरोपीय देशों का सहयोगः- फ्रांस सप्त-वर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड से परास्त हो चुका था। इस पराजय के कारण उसे अमेरिका में कनाड़ा तथा भारत में अपने महान भू-भाग से हाथ धोना पड़ा था। अतः यह स्वाभाविक था कि इंग्लैण्ड को निर्बल बनाने तथा अपने खोये उपनिवेशों की प्राप्ति के लिये वह अमेरिकावासियों को इंग्लैण्ड के विरूद्ध भड़काये।

फ्रांस के अलावा स्पेन व हालैंड भी अमेरिकावासियों को इंग्लैण्ड के विरूद्ध क्रान्ति करने को प्रोत्साहित कर रहे थे। स्पेन इस युद्ध में इंग्लैण्ड को फ्लोरिडा, मिनोरका व जिब्राल्टर दे बैठा था। वह इंग्लैण्ड से उन्हें वापिस प्राप्त करना चाहता था। हालैंड इंग्लैण्ड के विकासित व्यापार से परेशान था। वह उसके व्यापार को समाप्त करने हेतु उसे निर्बल देखना चाहताथा। कुछ यूरोप के देश इंग्लैण्ड से इसलिय नाराज हो गये थे क्योंकि वह युद्ध के समय तटस्थ देशों के जहाजों को पकड़ लिया करता था तथा उनकी तलाशी ले लिया करता था। इन कारणों से यूरोपीय देशों ने इंग्लैण्ड के विरूद्ध 'शस्त्रों से सुसज्जित देशों का एक संघ' गठित किया। यूरोपीय देशों के इस संघ ने अमेरिकावासियों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये संघर्ष करने को और प्रोत्साहित किया।

संघर्ष की तैयारी-विलियम पिट व बर्क के समझाने पर भी जार्ज तृतीय अमेरिका में उपनिवेशवासियों के विरूद्ध कठोर कदम उठाने को कटिबद्ध रहा। वह चाहता था अमेरिका स्थित उसके उपनिवेश पूर्णातः उसके अधिकार में रहें तथा उसकी आज्ञा का पालन करते रहें। परन्तु इंग्लैण्ड की सारी जनता इस दिशा में जार्ज तृतीय की समर्थक नहीं थी। वहाँ का व्यापारी-वर्ग अमेरिका के साथ युद्ध करने का पक्षपाती नहीं था। इसी प्रकार अमेरिका में सब लोग थोम्स पेन, थोम्स जैफरसन तथा स्वतन्त्रता प्रेमी देश-भक्तों के समर्थक नहीं थे। जो लोग जार्ज तृतीय के विरूद्ध युद्ध का समर्थन नहीं कर रहे थे, वे स्वामिभक्त कहलाये और जो लोग स्वतन्त्रता संग्राम के समर्थक थे वे देश-भक्त कहलाये।

इस प्रकार दल बन जाने के उपरान्त अमेरिका वालों ने 10 मई, 1775 को द्वितीय अन्तर-उपनिवेशीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन ने पूर्व लेक्सिटन (Lexington) कनकार्ड की घटनाएँ घट चुकी थीं। कनकार्ड से लौटती अंग्रेजी सेना का मार्ग हजारों स्वयंसेवकों ने रोकने का प्रयास किया। इस प्रयास में बहुत से सैनिक मारे गये। इस प्रकार इन घटनाओं ने स्वतन्त्रता-संघर्ष का बिगुल बजा दिया। फिलेडेलफिया की इस दूसरी बैठक में बौस्टन का व्यापारी हैनकाक अध्यक्ष बना। यहाँ एक घोषणा-पत्र तैयार किया गया। उसमें स्पष्ट किया गया कि हम दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होकर मरना अधिक पसन्द करेंगे। इस घोषणा के तुरन्त बाद कांग्रेस ने सेना का गठन आरम्भ कर दिया और सेना का प्रधान सेनापति जार्ज वाशिंगटन को बनाया गया। थोम्स जेफरसन तथा बेनजामिन फ्रेंकलिन के नेतृत्व में स्वतन्त्रता-घोषणा पत्र तैयार करवाया गया। इस घोषणा पत्र में थोप्स जेफरसन (Thomesa Jefferson) ने राजा के 'दैवी अधिकार' पर प्रहार किया और कहा कि जिस सरकार में जनता का प्रतिनिधि नहीं- वह व्यर्थ है। इस प्रकार की अत्याचारी सरकार को पलट देना न्यायोचित है। जेफरसन ने यह घोषणा-पत्र निम्न चार सिद्धान्तों पर बनाया थाः-

1. ईश्वर ने सबको समान बनाया है। अतः स्वतन्त्रता को अधिकार भी सबको है।
2. इन अधिकारों से वंचित करने वाली सरकार को पलट देना चाहिए।
3. इन अधिकारों से वंचित करने वाली सरकार को पलट देना चाहिए।
4. सरकार की स्थापना जनता की सुरक्षा व समृद्धि के लिए होनी चाहिए।
5. 4 जुलाई 1776 को स्वतन्त्रता की घाषणा कर दी गई। इस घोषणा में बताया गया कि सब मनुष्य समान रूप से उत्पन्न हुए हैं। इस घोषणा में दो सिद्धान्त स्पष्ट कर दिए-प्रथम सरकारों का गठन जनता की शक्ति व उनकी सहमति पर ही किया जाना चाहिए। दूसरे उपनिवेश अब स्वतन्त्र होंगे। इस स्वतन्त्रता की घोषणा का अमेरिकावासियों ने महान स्वागत

किया और बेन्जामिन फ्रेंकलिन को फ्रांस की सहायता प्राप्त करने के लिए फ्रांस भेज दिया। इस प्रकार इस स्वतन्त्रता की घोषणा के उपरान्त अमेरिका को इंग्लैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद हो गया और अमेरिका का यह स्वतन्त्रता संग्राम प्रारम्भ हो गया।

घटनायें:- स्वतन्त्रता संग्राम अनेक कठिनाइयों के साथ आरम्भ हुआ। अमेरिकावासी कई स्थलों पर परास्त हुए और कई स्थानों पर विजयी। भूख-सर्दी की चिन्ता न करते हुए वे अंग्रेजी सेना का वीरता से मुकाबला करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि अक्टूबर 1777 ई० में जार्ज वाशिंगटन ने सरेटोगा (Saratoga) पर महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की। इस लड़ाई में अंग्रेज सेनानायक बरगायन (Burgoyne) था। इस लड़ाई को इतिहासकारों ने बड़ा महत्वपूर्ण बताया है। प्रथम इस लड़ाई ने बता दिया कि अशिक्षित अमेरिकन स्वयं-सेवक शस्त्रों से सुसज्जित अंग्रेज सैनिकों से युद्ध कर सकते हैं। दूसरे इस विजय के उपरान्त ही फ्रांस ने अमेरिका के साथ एक समझौता कर लिया और उस समझौते के अनुसार उसने अमेरिका को सहायता देने का वायदा किया। उसने 1778 में इंग्लैण्ड के विरूद्ध की घोषणा कर दी। फ्रांस के सहायता देते ही स्पेन व हालैण्ड भी अमेरिका की सहायता के लिये आ गये। इन तीनों देशों के आते ही रूस, प्रशा, डेनमार्क व स्वीडन ने अंगलैण्ड के विरूद्ध एक संघ (Armed Neutrality) का गठन कर लिया। इस संघ का उद्देश्य तटस्थ राष्ट्रों के जहाजों की तलाशी लेने से इंग्लैण्ड को रोकना था। इस प्रकार यह संघर्ष अमेरिका व इंग्लैण्ड के बीच का युद्ध न रह कर एक अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध हो गया। इस प्रकार यह सरेटोगा का युद्ध उपनिवेशवासियों के पक्ष में एक क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ।[1]

इस प्रकार इंग्लैण्ड युद्ध में अकेला रह गया और उसे हजारों मील दूर स्थित उपनिवेशों से युद्ध करना पड़ रहा था। फ्रांस के युद्ध में आ जाने से इंग्लैण्ड को अमेरिका सेना भेजना कठिन हो गया। इंग्लैण्ड ह्वीगी पार्टी (Whig Party) भी जार्ज तृतीय की युद्ध नीति के विरूद्ध हो गई। इन कठिनाइयों के उपरान्त भी 1780 में इंग्लैण्ड की सेनाएं कई स्थानों पर विजयी रहीं। कार्नवालिस व क्लिन्टन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेनाओं ने सवाना और चार्लेस्टन बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया। परन्तु फ्रांस का जहाजी बेड़ा आ जाने के कारण कार्नवालिस की विजय अब पराजयों में बदलने लगी। वह 7 अक्टूबर 1780 को किंग माउन्टेन पर और 19 अक्टूबर 1781 को यार्क टाउन (Yorktown) पर परास्त हो गया। यार्कटाउन में कार्नवालिस का परास्त होना इस युद्ध की महत्वपूर्ण घटना थी। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री लार्ड नार्थ (Lord North) को जब इस पराजय का पता चला तो उसने कहा- हे ईश्वर! सब कुछ समाप्त हो गया। हालांकि इंग्लैण्ड 1783 तक युद्ध करता रहा - परन्तु भाग्य का फैसला तो यार्क टाउन में ही हो गया।

पेरिस की संधि (1783)

इंग्लैण्ड जब निरन्तर परास्त होता गया और उधर वाशिंगटन को फ्रांस से सहयोग मिलने की आशा नहीं रही तो दोनों ही दल सन्धि करने को इच्छुक हो गये। इंग्लैण्ड की संसद में भी अमेरिका में इंग्लैण्ड की हार की कटु आलोचना हुई और इस आलाचना का परिणाम यह निकाला कि प्रधानमन्त्री नोर्थ को अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ा। उसका स्थान रोकिंघम ने लिया, पर उसे भी त्याग-पत्र देना पड़ा। उस संकट के समय में प्रधानमन्त्री का पद शेलबर्न को ग्रहण करना पड़ा। यह संकट प्रधानमन्त्री के पद तक ही.सीमित न रहा। यहाँ तक इंग्लैण्ड का शासक जार्ज तृतीय भी इंग्लैण्ड की गद्दी छोड़ने को उद्यत हो गया। पर जब रिचार्ड ओसवाल्ड पेरिस समझौता करने चला गया तो अपने विचार को उसने संतुलित कर लिया।

रिचार्ड ओसवाल स्काटलैण्ड का एक व्यापारी था। वह पेरिस इंग्लैण्ड की ओर से संधि-वार्ता फ्रैंकलिन से करने गया। पेरिस में पहले से विद्यमान था। फ्रैंकलिन को अमेरिका के अलावा बहुत कुछ मिलने की आशा थी। वह कनेडा (Canada) भी लेना चाहता था। इसके अलावा न्यूफाउण्डलैण्ड पर अधिकार करके वह मछली के व्यापार पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु अमेरिका व फ्रांस के भेदभाव शीघ्र ही स्पष्ट हो गये। फ्रैंकलिन तथा उसके साथी जे तथा एडेम्स को स्पष्ट हो गया कि फ्रांस का विदेश मन्त्री वरजेन्स उन्हें नयूफाउन्डलैंड दिलाना नहीं चाहता और वह स्पेन को विशेष लाभ पहुँचाना चाहता है। इस पर वे इंग्लैण्ड से अपनी अलग फ्रांस से अप्रभावित सन्धि के पक्ष में हो गये। इंग्लैण्ड के प्रधान-मन्त्री शेलर्बन को भी इसका आभास हो गया और वह भी अमेरिका व फ्रांस के इस मतभेद से अधिकाधिक लाभ उठाने की इच्छा करने लगा और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अमेरिका के साथ उदार सन्धि करना चाहा।

सन्धि की शर्तें

1. इंग्लैण्ड द्वारा अमेरिका की स्वतन्त्रता मान ली गई।
2. अमेरिका की सीमाएं स्पष्ट कर दी गईं।
3. अमेरिका को न्यूफाउण्डलैंड नहीं दिया गया। वह वहाँ मछली का व्यापार भी नहीं कर सकता था।
4. नोवा स्कोटिया (Nova Scotica) तथा लेब्रेडौर (Labrador) में भी मच्छी सुचाने का अधिकार अमेरिका को नहीं दिया गया।
5. अमेरिका को यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि वह इंग्लैण्ड के व्यापारियों को वहाँ से अपना रुपया वसूल करने से कानूनन नहीं रोकेगा और उनकी जब्त की गई सम्पत्ति वापिस लौटा देगा।
6. इंग्लैण्ड ने फ्रांस को सेनेगल (Senegal) तथा टोबेगो (Tobago) लौटा दिया।
7. फ्रांस को इंग्लैण्ड ने भारत में पुनः 1763 के समय की सम्पतियों पर अधिकार करने तथा किलों को वापिस लेने का अधिकार दे दिया।
8. न्यूफाउण्लैंड में फ्रांस को कुछ सीमा तक मच्छली का व्यापार करने की अनुमति दे दी गई।
9. स्पेन को जिब्राल्टर तो नहीं दिया- पर मिनोरका (Minorca) अवश्य दे दिया गया और फ्लोरिडा (Floridas) पर उसका पूर्ण अधिकार मान लिया गया।

सन्धि की समीक्षा-हालंकि इस उदार-सन्धि के कारण शेलबर्न की भी इंग्लैण्ड की संसद में कटु आलोचना हुई और इसके परिणामस्वरूप उसे भी अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। परन्तु फिर भी इस उदार सन्धि से इंग्लैण्ड व अमेरिका दोनों को ही लाभ पहुंचा। इससे अमेरिका व इंग्लैण्ड के बीच मैत्री भाव शीघ्र ही स्थापित हो गये। व्यापारिक सन्धि भी दोनों देशों में शीघ्र ही हो गई। पर इंग्लैण्ड के व्यापारी व इंग्लैण्ड के प्रति वफादार रहने वाले व्यक्तियों (Loyalists) को उनकी जब्त की गई सम्पत्ति पूरे रूप में नहीं मिली। इस कारण इंग्लैण्ड की संसद इस सन्धि की आलोचक ही रही और यहां तक कि शेलबर्न के उत्तराधिकारी पिट (Pitt) की भी अमेरिका के विषय में आलोचना ही होती रही। लार्ड शेफिल्ड ने पिट का भारी विरोध किया और उसके विरोध के कारण ही अमेरिका से व्यापारिक सन्धि सम्पन्न नहीं हो सकी। इंग्लैण्ड के व्यापारियों को अमेरिका के उपनिवेशों से पूरा पैसा नहीं मिला। इस कारण सन्धि हो जाने पर भी दोनों देशों की कटुता समाप्त नहीं हुई। इंग्लैण्ड ने अपनी सारी सेना वहां से शीघ्र नहीं हटाई और 1796 ई० तक वहां के दुर्गों को खाली नहीं किया।

इस सन्धि से अमेरिका के सम्बन्ध फ्रांस के साथ भी अच्छे नहीं रहे। हालांकि फ्रांस के शासक लुई सोलहवें ने अपनी सेना इंग्लैण्ड के विरूद्ध अपने विदेश मन्त्री बरजेन्स के अनुरोध पर भेजी थीं-परन्तु सन्धि के समय बरजेन्स ही अमरिका का विरोधी बन गया। सन्धि के समय वह उपनिवेशवासियों का अहित करने की सोचने लगा। उसके व्यवहार के कारण अमेरिका वाले इंग्लैण्ड से अलग सन्धि करने को उद्यत हुए। इसी प्रकार अमेरिका के सम्बन्ध स्पेन से भी नहीं सुधरे। स्पेन ने इस युद्ध में भाग केवल फ्रांस के कहने से लिया था। वह अमेरिका पर सन्देह करता था। इसी कारण उसने भी सन्धि के उपरान्त अपनी सेना अमेरिका से नहीं हटाई। मिसीसिपी के बायें किनारे पर स्पेन अपना प्रभुत्व बनाये रहा। इस युद्ध में हालैण्ड को कुछ नहीं मिला। सबसे अधिक नुकसान में यही देश रहा। 1793 ई० से पूर्व सीमा सम्बन्धी समस्या का भी पूरा समाधान नहीं हआ। इसीलिए कहा जाता है कि 1793 ई० तक अमेरिका की स्वाधीनता अधूरी ही रही।

अमेरिका की विजय तथा इंग्लैण्ड की पराजय के कारण

1. अमेरिका का इंग्लैण्ड से बहुत दूर होना- निः संदेह उस समय भी इंग्लैण्ड की सामुद्रिक शक्ति विश्व में प्रथम थी। परन्तु फिर भी अमेरिका की दूरी ने इंग्लैण्ड को समय पर वहाँ पर्याप्त सेना भेजने में असमर्थ बना दिया। इसके अलावा उसके जहाजी बेड़े को अमेरिका पहुंचने में फ्रांस व स्पेन बाधक बन गये। इन दोनों देशों के जहाजी बेड़ों ने अंग्रेजी जहाजी बेड़े

को अमेरिका पहुंचने ही नहीं दिया। अतः जब इंग्लैण्ड की सेना वहां समय पर नहीं पहुंच सकी तो इंग्लैण्ड निरन्तर पराजय का ही मुंह देखता रहा।

2. *इंग्लैण्ड को वहां का भौगोलिक ज्ञान न होना- इसके अलावा अमेरिकावासियों को अपने घर में ही युद्ध करना* पड़ा जबकि अंग्रजों को एक विदेश में जा कर युद्ध करना पड़ा। इंग्लैण्ड के सैनिक वहाँ की भौगोजिक परिस्थतियों से भी पूर्णतः अनभिज्ञ थे। इस कारण भी अमेरिकावासियों को अपने शत्रु के विरूद्ध युद्ध करने में अधिक काठिनाई नहीं हुई जबकि *अंग्रेजी सेना को पद-पद पर विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ा।*

3. *विस्तृत युद्ध-स्थल- इंग्लैण्ड का अमेरिका में परास्त होने का एक कारण यह भी था कि उसे वहाँ विस्तृत युद्ध-स्थल* पर युद्ध करना पड़ा उसके पास सेना तो सीमित थी और वह भी समय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुंच सकती थी। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के सैनिकों को एक हजार मील के युद्ध-स्थल में युद्ध करना पड़ता थ। यातायात के साधन *उस समय विकासित थे नहीं और युद्ध-स्थल घने जंगलों वाला प्रदेश था। अतः उन्हें युद्ध करने में भी कठिनाई हुई।*

4. *इंग्लैण्डवासियों का युद्ध को पूर्ण समर्थन न होना- इंग्लैण्ड की संसद के समस्त सदस्य इस बात पर सहमत नहीं* थे कि अमेरिकावासियों से युद्ध किया जावे। ब्रिटिश संसद में विलियम पिट, एडमण्ड, बर्क तथा चार्ल्स जेम्स फॉक्स ने अमेरिका के प्रति अपनाई गई इंग्लैण्ड की युद्ध नीति का विरोध किया। इसके अलावा इंग्लैण्ड के व्यापारी भी अमेरिका से युद्ध करना नहीं चाहते थे। संसद सदस्यों की भर्त्सना से अंग्रेजों के कई वर्गों में अमेरिका का स्वतन्त्रता-संग्राम अप्रिय हो गया था। इस कारण इस युद्ध में इंग्लैण्ड की सारी जनता अपनी सरकार के साथ नहीं थी जबकी समस्त अमेरिकावासी अपने देश को स्वतन्त्र करना हेतु इंग्लैण्ड से युद्ध करने को एक मत थे।

5. *इंग्लैण्ड को इस युद्ध में एक साथ कई शत्रुओं से लड़ना पड़ा-* यह युद्ध प्रारम्भ में तो इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच ही लड़ा गया परन्तु शीघ्र ही यूरोप के अन्य देश अमेरिका की सहायता हेतु युद्ध में कूद पड़े। सर्वप्रथम फ्रांस, अमेरिका की सहायता के लिए आ गया। उसके आते ही स्पेन व हॉलैण्ड भी इंग्लैण्ड के विरूद्ध अमेरिका की सहायता करने लगे। इनके अलावा बाल्कन राज्यों व रूस ने Leage of Armed Neutrality का गठन कर लिया। इससे इंग्लैण्ड के सामने अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो गईं। इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े को फ्रांस ने यूरोप में ही घेर लिया और उसे अमेरिका नहीं पहुंचने दिया। इसके अलावा इंग्लैण्ड को फ्रांस व उसके सहयोगी अन्य यूरोपीय देशों से अपने घर (इंग्लैण्ड) की सुरक्षा की चिन्ता हो गई। इस कारण उसे अपनी सेना का अधिकांश भाग तो इंग्लैण्ड के समुद्री किनारे की रक्षा के लिए ही रखना पड़ा। इसके विपरीत फ्रांस व स्पेन आदि के इंग्लैण्ड विरोधी बन जाने के कारण अमेरिका को युद्ध करने में जन व धन की पर्याप्त सहायता उपलबध हो गई। इस कारण वह सुविधा से इंग्लैण्ड के साथ युद्ध संचालित करता रहा और उसे सफलता भी मिलती रही। इन देशों के इंग्लैण्ड विरोधी होते ही आयरलैण्ड ने भी इंग्लैण्ड विरोधी अपना आन्दोलन तीव्र कर दिया। अत : इंग्लैण्ड को आयरलैण्ड की ओर से भी चिन्ता हो गई।

6. अमेरिका के देश-भक्तों का सहयोग- इंग्लैण्ड के सैनिकों को प्रोत्साहित करने वाला कोई देश-भक्त नहीं था; क्योंकि यह युद्ध उनके लिए स्वतन्त्रता-संग्राम न होकर साम्राज्यवाद का युद्ध था। इसके विपरीत अमेरिका वालों को यह युद्ध उनके जीवन-मरण का युद्ध था। वे अपनी स्वतन्त्रता के लिए युद्ध में जूझ रहे थे। जार्ज वाशिंगटन, थोम्स जैकरसन तथा थाम्स पैन जैसे देश-भक्त अमेरिका वालों में स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए अपूर्व उत्साह उत्पन्न कर रहे थे। जैफरसन ने कहा कि ''निरन्तर क्रान्तियां करना ही स्वतन्त्रता की अच्छी औषधि है।'' इसी प्रकार थोम्स पेन ने कहा कि ''ये ही ऐसे समय होते हैं जबकि मानव-आत्मा का परीक्षण होता है।'' इस सबके प्रयत्नों का फल यह हुआ कि अमेरिकावासियों ने इस स्वतन्त्रता-संग्राम में अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया और वे इसमें सफल भी रहे।

7. अमेरिका के योग्य सेनापति- अमेरिका को अपने इस स्वतन्त्रता-संग्राम में सफलता उसके योग्य एवं उत्साहर्वधक सेनापतियों के कारण भी मिली थी। अमेरिका की युद्ध-भूमि में अंग्रेज सेनापति अपनी वह युद्ध-कुशलता नहीं दिखा सके जो उन्होंने समय-समय.पर फ्रांस व अन्य यूरोपीय देशों के विरूद्ध दिखाई थी। अमेरिका की सेना को वाशिंगटन जैसे योग्य सेनापति का नेतृत्व प्राप्त था जिसने कि इंग्लैण्ड के सेनापति कार्नवालिस को यार्कटाउन में 7000 सैनिकों के साथ आत्म-समर्पण करने को बाध्य कर दिया। यद्यपि आरम्भ में वाशिंगटन भी अंग्रेजी सेना से परास्त हुआ था पर उसने सेना की हिम्मत परत नहीं होने दी। इसीलिए अंग्रेज इतिहासकार लेकी (W.E.H. Lecky) ने वाशिंगटन को अमेरिका की सफलता

का सर्वाधिक श्रेय दिया है। योग्य सेनापति होने के अलावा वह एक चरित्रवान व्यक्ति था। ऐसा कहा जाता है कि उससे योग्य सेनापति व राजनीतिज्ञ हो सकता है, किन्तु उससे बढ़कर कोई चरित्रवान व्यक्ति नहीं था।

8. उपनिवेशों की शक्ति का सही अन्दाज न होना- अंग्रेजों को अपनी शक्ति पर बड़ा भरोसा था। अब तक वह यूरोप व एशिया के देशों को निरन्तर परास्त करता चला आ रहा था। सप्त-वर्षीय युद्ध में भी उसके सैनिकों ने अच्छी वीरता प्रदर्शित की थी और एक साथ तीन महाद्वीपों में युद्ध किया था। पर यहां अपनी शक्ति पर अधिक विश्वास होने के कारण उपनिवेशों की सैनिक शक्ति का बिना पता चलाये ही उसने उन पर आक्रमण कर दिया। यह भी इंग्लैण्ड की हार का एक कारण बताया जाता है। पर सच पूछा जाय तो अमेरिका की सेना इंग्लैण्ड की सेना के आगे कुछ नहीं थी। यह फ्रांस व स्पेन की सैनिक सहायता ही थी जिसके कारण अमेरिका इंग्लैण्ड पर विजय पा सका।

9. जार्ज तृतीय का घमण्डी होना- जार्ज तृतीय अपने पूर्वज जार्ज प्रथम व द्वितीय की भांति नाम मात्र का शासक नहीं रहना चाहता था। वह दैवी-सिद्धान्त में विश्वास रखता था। उपनिवेशों पर वह निरंकुशता से शासन करना चाहता था। सप्त-वर्षीय युद्ध का खर्च वह अमेरिका से वसूल करना चाहता था। इसीलिए वह मनमाने कानून पास कराता चला गया। इस क्षेत्र में वह संसद के सदस्यों का भी सहयोग प्राप्त नहीं कर सका। संसद की चिन्ता न करते हुए वह अपने अहंभाव में डूबा रहा। वह इसके दूरगामी परिणामों पर विचार न करके केवल उन बस्तियों से धन प्राप्ति की ही सोचता रहा। इस कारण भी अमेरिका विजयी तथा इंग्लैण्ड युद्ध में असफल रहा।

अमेरिका क्रान्ति के परिणाम

1. एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना- इस संघर्ष का सबसे महान परिणाम यह निकला कि अमेरिका अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया और इंग्लैण्ड की सरकार ने उसकी स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान कर दी। यह युद्ध अमेरिकावासियों द्वारा मूलतः इसी उद्देश्य से लड़ा गया था और उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिली। कड़े संघर्ष के उपरांत अपनी प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु अमेरिका ने एक लिखित संविधान तैयार किया। इस संविधान के अन्तर्गत तेरह राज्यों ने एक संघीय सरकार में मिलना स्वीकार किया। प्रत्येक राज्य ने अपना लिखित संविधान बनाया। वहां की विधान-सभाएँ वहाँ के नागरिकों द्वारा निर्वाचित सदस्यों के सहयोग से कार्य करने लगीं। राज्य आन्तरिक विषय में पूर्णः स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार इस युद्ध के उपरान्त अमेरिका ब्रिटिश शासन से पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया और आज विश्व के महान स्वतन्त्र राष्ट्रों में से एक राष्ट्र है।

2. अमेरिका इंग्लैण्ड के अलावा अन्य शक्तियों से भी स्वतन्त्र हो गया- अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में अमेरिका को फ्रांस, स्पेन, हालैण्ड आदि देशों ने सहायता की थी। फ्रांस का प्रभाव तो अमेरिका में 1763 ई० में ही सप्त वर्षीय युद्ध के उपरांत समाप्त हो गया था और इस युद्ध में उसने अमेरिका का साथ केवल इंग्लैण्ड से बदला लेने की नियत से ही दिया था। परन्तु स्पेन की अमेरिका के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। उसने इस युद्ध में अमेरिका का साथ केवल इसलिए दिया था कि वहाँ उसका मित्र फ्रांस सहायता कर रहा था और अमेरिका स्थित वह अपने उपनिवेश सुरक्षित रखना चाहता था। परन्तु स्पेन अपने उद्देश्य में असफल रहा। थोड़े समय के उपरांत (1780) अमेरिकावासियों ने स्पेन की शक्ति के विरूद्ध विद्रोह किया और स्पेन के प्रभुत्व वाले उपनिवेशों को भी उसने स्वतन्त्र करा लिया।

3. अमेरिका की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति- अंग्रेजों की दासता में अमेरिका का औद्योगिक विकास न होने के बराबर था। यहां का कच्चा माल इंग्लैण्ड अपने यहां मंगा लिया करता था तथा अपना तैयार माल वहां भेज दिया करता था। इसके परिणामस्वरूप अमेरिकावासियों को युद्ध के समय भी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु स्वतन्त्रता मिलते ही पहले अमेरिका ने अपने गृह-उद्योग-धन्धों को विकासित किया। वस्त्र अमेरिका में ही अच्छी मात्रा में तैयार होने लगे। इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड से माल कम आने लगा। इसके फलस्वरूप अमेरिका ने अपने बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करना आरम्भ किया और यह आज उसकी स्वतन्त्रता का ही प्रतिफल है कि वह औद्योगिक विकास में विश्व का एक महान् राष्ट्र बन गया है।

औद्योगिक विकास का सबसे बड़ा परिणाम यह होता है कि वह राष्ट्र निर्यात अधिक करता है तथा आयात कम। इसके फलस्वरूप राष्ट्र की आर्थिक दशा सुधरती है। ठीक यही बात संयुक्त-राज्य-अमेरिका के साथ गठित हुई। ज्योंही

अमेरिका ने अपना औद्योगिक विकास करना आरम्भ किया कि उसकी आर्थिक दशा में सुधार होना आरम्भ हुआ और वह आज विश्व का सबसे बड़ा धनी देश बना हुआ है।

4. धर्म-निर्पेक्ष राज्य की स्थापना- अमेरिका ने अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने व शासन को सुचारू रूप से संचालित करने की दृष्टि से एक लिखित संविधान तैयार किया था। उस संविधान में अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं। सबको समान समझा गया था। स्वतन्त्रता का अधिकार प्रत्येक को दिया गया था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उस संविधान में लॉक, रूसो व माण्टेस्क्यू के विचारों का समन्वय किया गया था। पर इन सबसे प्रमुख बात यह रखी गई थी कि राज्य को धर्म-निर्मेक्ष रखा गया। इससे पूर्व राज्य का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध होता था। धार्मिक परम्पराएं प्रशासन को प्रभावित रखती थीं। परन्तु प्रजातन्त्र की दृष्टि से अमेरिका प्रथम देश था जिसने कि धर्म को राज्य से सर्वथा विलग रखा और धर्म को मनुष्य का व्यक्तिगत कार्य समझा गया। धर्म का प्रशासन व राज्य से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखा। इस दिशा में थोम्स पेन (Penn) का सहयोग सराहनीय रहा। उसका कहना था कि "में यहूदी चर्च, रोमन चर्च, ग्रीक चर्च, प्रोटैस्टेंट चर्च व किसी भी चर्च, जिसे मानता हूँ धर्म-पालन में विश्वास नहीं करता। मेंरा अपना मस्तिष्क ही मेंरा अपना चर्च है।" इसीलिए कांग्रेस को किसी धर्म को राज्य-धर्म बनाने या किसी धर्म के स्वतन्त्र पालन में नियन्त्रण लगाने का अधिकार नहीं दिया गया।

5. अमेरिका समाज का प्रभावित होना- इस संघर्ष से अमेरिका में राजनीतिक परिवर्तन होना तो स्वाभाविक था ही परन्तु इससे समाज पर भी प्रभाव कम नहीं पड़े। इस संघर्ष के फलस्वरूप लक्षित हुए सामाजिक प्रभावों को देखकर ही तो कतिपय इतिहासकारों ने इसे केवल सामाजिक आन्दोलन ही माना है। अतः स्पष्ट है कि इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप अमेरिका का समाज भी प्रभावित हुआ। प्रथम तो इस संघर्ष में स्त्रियों ने अपना महान योगदान दिया। संघर्ष के समय उन्होंने गुप्तचरों का कार्य किया, शस्त्रों के निर्माण में उन्होंने सहयोग दिया। युद्ध के समय अपने सम्बन्धियों को रसद पहुँचाने का कार्य उन्होंने किया। इसीलिए अमेरिका की औरतों की इस प्रकार की कार्य-क्षमता देखकर अंग्रेज सेनानायक कार्नवालिस ने कहा था-"यदि हम लोग उत्तरी अमेरिका सभी पुरुषों को खत्म भी कर दें तो औरतों को जीतने के लिए हमें काफी लड़ना पड़ेगा।" इस संघर्ष की सफलता के उपरांत अमेरिका के उत्तराधिकार नियम में भी परिवर्तन किया गया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मृत जमींदार की सम्पत्ति अब केवल जेष्ठ पुत्र को ही न दी जाकर उसके समस्त परिवार के सदस्यों में विभक्त की जाने लगी। भागीदारों में जमींदार की पुत्रियां भी सम्मिलित होती थीं।

इंग्लैण्ड के स्वामी-भक्तों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। ज्योंही इंग्लैण्ड की सरकार ने अमेरिका से कूंच किया, उसके राज-भक्तों को भी अमेरिका छोड़ना पड़ा। उनकी सम्पत्ति छीन ली गई।

गुलामें को भी यह संघर्ष लाभप्रद नहीं रहा। उनको मुक्ति नहीं मिली। उन पर पूर्ववत अत्याचार होते रहे। यहां ता कि उन्हें सेना में भर्ती होने की भी अनुमति नहीं दी गई।

6. अमेरिका पर अन्य कठिनाइयों का आना- निःसन्देह अमेरिका इंग्लैण्ड के कठोर शासन से मुक्त हो गया था पर आजादी के मिलते ही उसकी कठिनाइयों की, समाप्ति नहीं हुई ब्रिटिश सरकार ने अमेरिका की स्वतन्त्रता अवश्य स्वीकार कर ली थी पर उसने अपनी सेनाएँ वहां से नहीं हटाई थीं। बहुत से दुर्गों में स्वतन्त्रता के उपरान्त भी अंग्रेजी सेनाएं वहां टिकी रहीं। उनको देश से निकालने में अमेरिका को कई कठिनाइयां उठानी पड़ीं तथा उन्हें निकालने में समय लगा। अंग्रेजों के अलावा स्पेन ने भी अमेरिकावासियों के मार्ग में कठिनाइयां उत्पन्न कर रहा था। स्पेन अपने उपनिवेश वहां बनाये रखना चाहता था जबकि अमेरिकावासी उससे भी मुक्त होना चाहते थे। अतः अमेरिकावासियों को फिर स्पेन से संघर्ष करना पड़ा।

अमेरिका का इंग्लैण्ड से मनमुटाव तो हो ही गया था। अतः इंग्लैण्ड अमेरिका के व्यापार में अब बाधा डालना चाहता था। इस कारण उसे अपने दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक कठिनाई का सामना करना पड़ा इसके अलावा देश आजाद अवश्य हो गया था पर उसकी आन्तरिक कठिनाइयों की समप्ति नहीं हुई थी। तेरह राज्यों में अब भी कई बातों पर मत-भेद बना हुआ था तथ केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों में मत-भेद बना हुआ था। अतः स्वतन्त्रता प्रप्ति के उपरान्त अमेरिका को भी हमारे देश भारत की तरह कई आन्तरिक तथा बाह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

7. इंग्लैण्ड के साम्राज्वाद पर आघात तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उसके यश में कमी- यूरोप के अधिकांश देश साम्राज्यवादी थे। परन्तु उनमें सर्वाधिक साम्राज्यवादी इंग्लैण्ड था। उसका साम्राज्य अति विस्तृत था। परन्तु अमेरिका के

स्वतन्त्र हो जाने से उसकी साम्राज्यवादी नीति को बड़ा धक्का लगा। कनाडा इंग्लैण्ड को 1763 ई० में फ्रांस से मिल ही गया था। इस प्रकार लगभग सारे उत्तरी अमेरिका पर इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया था। इससे इंग्लैण्ड को गर्व भी हो गया था। व्यापार की दृष्टि से भी उसे महान् लाभ हो रहा था। अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने में भी अमेरिका से सहयोग मिल रहा था। परन्तु अमेरिका के स्वतन्त्र हो जाने से इंग्लैण्ड के साम्राज्य में कमी आ गई। और इसके फलस्वरूप उसके व्यापार को भी बड़ा धक्का लगा। इंग्लैण्ड के व्यापारियों को अमेरिका छोड़ना पड़ा और वे भी अपनी सरकार से नाराज हो गये।

विश्व में सबसे अधिक साम्राज्य का स्वामी होने के कारण इंग्लैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बड़ी धाक जमी हुई थी। परन्तु अमेरिका में उसकी पराजय हो जाने से उसकी निर्बलता विश्व को स्पष्ट हो गई। विश्व के देश मानने लगे कि इंग्लैण्ड अब एक निर्बल देश हो गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड की विश्व में प्रतिष्ठा घटी।

8. जार्ज तृतीय के स्वाभिमान को बड़ी ठेस लगी- जैसाकि बताया जा चुका है कि जार्ज तृतीय एक अभिमानी शासक था। हालांकि उसके शासन-काल में इंग्लैण्ड की संसद काफी शक्तिशाली हो गई थी, फिर भी वह इंग्लैण्ड का वास्तविक शासक बनना चाहता था। अमेरिका को वह अपना गुलाम समझता था। वहां के लोगों को वह किसी प्रकार के अधिकार देने के पक्ष में नहीं था। अमेरिका से धन वसूल करना व उसके लिए मनमाने कानून पास करना वह अपना अधिकार समझता था। हालांकि कई संसद सदस्यों ने उसे अमेरिका के प्रति कठोर नीति न अपनाने की सलाह दी थी, परन्तु उसने किसी की सलाह को नहीं माना। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका स्वतन्त्र हो गया। संसद में जार्ज तृतीय व उसके प्रधानमन्त्री ग्रेनविल की कटु आलोचना हुई। प्रधान मन्त्री को त्याग-पत्र देना पड़ा तथा सम्राट को भी गद्दी छोड़ने का विचार करना पड़ा और अन्त में उसे अपना व्यक्तिगत शासन समाप्त करना पड़ा। इस युद्ध में देश की हार के उपरान्त जब डेनिंग का प्रस्ताव पारित हो गया तो उसकी निरंकुश शक्ति का पूर्णतः विनाश हो गया। अमेरिका में इंग्लैण्ड की पराजय ने उसे निरुत्साही तथा देश में अपयश व निन्दा का भाजन बना दिया।

9. इंग्लैण्ड की सरकार तथा उसकी नीति में परिवर्तन- सर्वप्रथम तो इस संघर्ष के कारण जार्ज ग्रेनविल को त्याग-पत्र देना पड़ा उसके उपरान्त टाउनशेण्ड भी अमेरिका के प्रति अपनाई नीति के कारण बदनाम हुआ। 1770 ई० में जब उसकी मृत्यु हो गई तो लार्ड नार्थ इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री बना। उसकी नीति के कारण बोस्टन चाय काण्ड घटा। उसे भी अपने पद से हाथ धाना पड़ा और फिर पिट (Pitt, the Younger) ने इस पद को संभाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम के कारण इंग्लैण्ड की सरकार में निरन्तर परिवर्तन होते रहे।

सरकारी परिवर्तनों के फलस्वरूप इंग्लैण्ड ने अमेरिका व अन्य उपनिवेशों के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन किया। इंग्लैण्ड की संसद ने अब यह राय व्यक्त की कि इंग्लैण्ड की सरकार अब अपने किसी भी उपनिवेश पर कर न लगाये। इसके अलावा इंग्लैण्ड की सरकार ने आयरलैंड व भारत के प्रति भी अपनी नीति बदली जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

10. इंग्लैण्ड की उपनिवेशीय नीति में परिवर्तन- अमेरिका की स्वतन्त्रता से पूर्व इंग्लैण्ड की उपनिवेशीय नीति कठोर एवं शोषण पर आधारित होती थी। अब तक इंग्लैण्ड की उपनिवेशों में वाणिज्यवाद पर आधारित होती थी। उपनिवेशों की स्थापना ही इस उद्देश्य के साथ करता था कि उपनिवेश तो इंग्लैण्ड के लिए धन कमाने के साधन हैं। धर्म प्रसार का प्रश्न तो बाद में आता था। वहाँ का वह कच्चा माल अपने यहां मंगाता था तथा तैयार माल वहाँ भेजता था। इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड धनी होता जाता था और उसके उपनिवेश दरिद्र। परन्तु अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम ने इंग्लैण्ड को इस दिशा में अच्छा सबक सिखाया। उसे वाणिज्यवाद की नीति छापनी पड़ी। इस क्षेत्र में उसने नवीन नीति अपनाई। इंग्लैण्ड की सरकार ने वाणिज्यवाद का त्याग कर वहाँ प्रशासनिक सुधार अपनाये। यह नवीन नीति अधिक उदार तथा उपनिवेशवासियों के लिए हितकर थी। इसीलिए यह नवीन नीति ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का अच्छा माध्यम बन गई।

11. इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था का दयनीय होना- सप्त-वर्षीय युद्ध में इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था बहुत शोचनीय हो गई थी। उस अवस्था को सुधारने हेतु ही उसने अमेरिका पर नाना प्रकार के कर लगाये थे। उन करों की तो पूरी वसूली हुई भी नहीं कि अमेरिका ही उसके हाथ से निकल गया। अमेरिका से युद्ध करने में उसे पैसा और खर्च करना पड़ा। इससे इंग्लैण्ड की आर्थिक अवस्था और भी बिगड़ गई और सुधारना कठिन हो गया क्योंकि अमेरिका अब इंग्लैण्ड का बाजार नहीं रहा। इस प्रकार व्यापार को भी धक्का पहुँचा और उसकी आर्थिक अवस्था दयनीय हो गई।

12. इंग्लैण्ड का अन्य उपनिवेशों के प्रति सतर्क होना- इंग्लैण्ड के अधिकार से जब अमेरिका निकल गया तो वह भारत व आस्ट्रेलिया के प्रति सतर्क हो गया। उन पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने हेतु उसने उनके प्रति प्रशासनिक सुधार एवं उदारता की नीति अपनाई। भारत के लिए तो 1784 ई० में पिट आधिनियम पारित किया गया। उसने प्रमुख जलडमरूमध्यों (Straits) पर अधिकार कर लिया। इससे मलाया व आस्ट्रेलिया पर उसका प्रभुत्व सुदृढ़ हो गया। कैनेडा व आस्ट्रेलिया के प्रति उसने उदारता की नीति अपना कर उन्हें अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखा।

13. आयरलैंड के प्रति इंग्लैण्ड का उदार होना- इस स्वतन्त्रता संग्राम से पूर्व आयरलैंड के प्रति भी इंग्लैण्ड की नीति उदार नहीं थी। आयरलैंडवासियों को न तो राजनीतिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त थी और न आर्थिक ही। आयरलैंड में होम रूल आन्दोलन चल ही रहा था। आयरलैंडवासियों ने भी यह समय उचित समझाा क्योंकि इंग्लैण्ड इस समय अमेरिका से उलझा हुआ था। अमेरिका के स्वतन्त्र होते ही इंग्लैण्ड ने आयरलैंड की ओर ध्यान दिया। उसकी मांगों पर इंग्लैण्ड ने सहानुभूति से विचार किया और 1780 ई० में वहाँ के वाणिज्य कानून को समाप्त कर दिया और 1782 ई० में पोइंग अधिनियम (Poying Act) समाप्त कर दिया। इन दोनों के समाप्त होने से आयरलैंड वालों को आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता मिली तथा वहाँ की व्यवस्थापिका को भी स्वतन्त्रता प्राप्त प्राप्त हो गई। इस प्रकार स्पष्ट है कि अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम ने आयरलैण्ड को भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होने में बड़ा सहयोग दिया।

फ्रांस पर अमेरिका के स्वातन्त्रय-संग्राम का प्रभाव

यूरोपीय देशों में इंग्लैण्ड के उपरान्त फ्रांस ही इस स्वतन्त्रता संग्राम से सर्वाधिक प्रभावित हुआ। यह तो हम देख ही चुके हैं कि अमेरिका को इस युद्ध में विजय ही फ्रांस के सहयोग से मिली थी। अमेरिका भी इस दिशा में फ्रांस की सहायता अनिवार्य समझता था। इसी कारण उसने फ्रांस में फ्रेंगलिन के नेतृत्व में एक कमीशन भेजा था। सरेटोगा पर अमेरिका को विजय मिलते ही फ्रांस ने अमेरिका को संयुक्त-राज्य (U.S) मान लिया और युद्ध में वह अमेरिका की ओर से कूद पड़ा। उसके सैनिक वहां लड़ने गये। वे भी वहाँ से नवीन विचार लेकर फ्रांस लौटे। अतः फ्रांस पर इस संघर्ष का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उनमें से कतिपय निम्नलिखित हैं-

1. फ्रांस की आर्थिक अवस्था का दयनीय होना- फ्रांस की भी आर्थिक अवस्था इंग्लैण्ड की भांति सप्तवर्षीय युद्ध में बहुत खराब हो गई थी। परन्तु इंग्लैण्ड को तो अपनी विजय तथा भारत व अमेरिका में फ्रांस के उपनिवेश विजित कर लेने के कारण सन्तोष था। और उसकी तो आर्थिक अवस्था इन उपनिवेशों के शोषण से सुधर भी सकती थी। परन्तु फ्रांस के पास ऐसा कोई साधन नहीं था। इसी कारण फ्रांस का शासक लुई सोलहवां अमेरिका को सहायता देने के पक्ष में नहीं था। परन्तु फ्रांस के विदेश मन्त्री बरजेन्स के अनुरोध पर वह तैयार हो गया। फ्रांस का जहाजी बेड़ा व सैनिक अमेरिका में युद्ध करने गये। इस प्रकार फ्रांस को भी इस युद्ध में काफी खर्चा करना पड़ा। विजय मिलने पर उसे कोई विशेष उपनिवेशक लाभ मिला नहीं। सिवाय अपने पुराने कट्टर शत्रु को हराने के अलावा उसे विशेष उपनिवेशक लाभ नहीं हुआ। अतः अमेरिका के संघर्ष में सेना व युद्धपोत भेजने से फ्रांस को बड़ा आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा और वह इस युद्ध के परिणामस्वरूप दिवालिया हो गया। फ्रांस का दिवालिया होना भी उसकी राज्य क्रान्ति का प्रमुख कारण बना था।

2. फ्रांस की राज्य क्रान्ति में प्रेरणा प्रदायक होना—फ्रांस के सैनिक अमेरिका युद्ध करने गये थे। वहां रहने के समय उन्हें अमेरिकावासियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। ये उनके स्वतन्त्रता व समानता के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। वे जब फ्रांस लौटे तो यह विचार लेकर लौटे कि हमें भी अपने यहां अमेरिकी संस्थाओं की सी व्यवस्था करनी चाहिए। अतः अमेरिका सै लौटे फ्रांस के सैनिकों ने अपने भाइयों को अपने निरंकुश शासक के विरूद्ध हथियार उठाने को प्रोत्साहित किया।

3. फ्रांस के औपनिवेशिक लाभ- फ्रांस ने अमेरिका को इस संकट की घड़ी में जितनी सहायता दी थी उस अनुपान में तो उसे उपनिवेश नहीं मिलें। परन्तु फिर भी कुछ उपनिवेशिक लाभ उसे अवश्य हुआ। जो उपनिवेश उसे मिले वे थे जो उससे इंग्लैण्ड ने सप्त वर्षीय युद्ध में छीन लिये थे। प्राप्त उपनिवेश थे-टोवेगो तथा सेनीगल। इन उपनिवेशों के अतिरिक्त फ्रांस को न्यूफाउण्डलैण्ड पर कुछ सीमा तक मछली का व्यापार करने का भी अधिकार प्राप्त हुआ। इसी प्रकार भारत से जो उसका प्रभुत्व समाप्त हो गया था वह चन्द्रनगर, पाण्डेचेरी व त्रिचनापल्ली मिल जाने के कारण फिर से स्थापित हो गया।

4. स्पेन से सम्बन्ध और मधुर होना- स्पेन तथा फ्रांस यूरोप महाद्वीप में पड़ौसी देश हैं। सोलहवीं सदी तक तो दोनों देश एक दूसरे के शत्रु थे। परन्तु बाद में उनके सम्बन्ध सुधरने लगे थे। अमेरिका के स्वातन्त्र्य-संग्राम के समय उनके सम्बन्ध मधुर थे। स्पेन ने इस युद्ध में भाग इसलिए लिया था कि उसका मित्र फ्रांस उसमें भाग ले रहा था। परन्तु इस संघर्ष में वे एक-दूसरे के और समीप आये और स्पेन को जब फ्लोरिडा तथा मिनोरका प्राप्त हो गये तो वह फ्रांस का और भी घनिष्ठ साथी बन गया।

अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव

इतिहासकार जे. सी. एपिल की मान्यता है कि अमेरिका के स्वातन्तत्र्य संग्राम की सफलता ने अपना विश्व-व्यापक प्रभाव स्थापित किया और इस मान्यता का समर्थन अधिकांश इतिहासकारों ने किया है। इसलिए इस घटना को विश्व की एक महान घटना माना जाता है।

प्रजातन्त्र को विश्व में लोकप्रिय बनाने का श्रेय इस स्वतन्त्रता संग्राम को ही जाता है। इसने ही विश्व के उदार विचारवालों को निरंकुशता के विरूद्ध युद्ध करते रहने के लिए प्रेरित किया। विश्व के देशों में निरंकुश राज्यों से मुक्ति पाने के लिए जो भी संघर्ष हुए वे सब इसी से प्रेरित थे।

स्वतन्त्रता व समानता के विचार तो इससे पूर्व भी प्रचलित थे। परन्तु ये विचार केवल बुद्धिजीवी व्यक्तियों तक ही सीमित थे। परन्तु अमेरिका क इस स्वतन्त्रता संग्राम ने स्वतन्त्रता व समानता के विचारों के लिए नए दायरे खोल दिए। अठाहरवीं सदी के आरम्भ से यूरोप में अनेक दार्शनिक लेखक तथा आलोचक उत्पन्न हुए जिनके विचारों से यूरोप में एक व्यापक तथा प्रभावपूर्ण आन्दोलन चल पड़ा जो कि 'बौद्धिक आन्दोलन' के नाम से विख्यात है। इनमें वाल्तेयर, माण्टेस्क्यू, रूसो, दिदेरो, एडमस्मिथ, टरगोट अधिक उल्लेखनीय है। इनके विचारों के माध्यम से स्वतन्त्रता व समानता के सिद्धान्त जनसाधारण के दिलों को प्रभावित करने लगे। इन सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप सर्वप्रथम अमेरिका ने ही दिया। उनके विचारों के अनुसार लिखित संविधान सर्व प्रथम विश्व के सामने अमेरिका ने ही प्रस्तुत किया।

इस प्रकार उन बुद्धिजीवियों ने मानव-समाज में चिन्तन का नवीन युग ला दिया। इस स्वतन्त्रता-संग्राम की सफलता के उपरान्त अमेरिका मानवता की आशा तथा स्वतन्त्रता का आश्रय-स्थान बन गया। अतः यहाँ से ये दोनों उत्तरोत्तर विश्व व्यापक बनते गये और राजनीतिक विचारक, दार्शनिक तथा सुधारक इन सिद्धान्त पर अधिक बल देते हुए प्रजा वर्ग की अनुमति से बनी सरकार के सिद्धान्त को और प्रभावशाली बनाते रहे। अमेरिका के घोषणा-पत्र ने जब यह स्पष्ट कर दिया कि सब मनुष्य समान हैं - सरकार उनकी अनुमति से ही निर्मित होनी चाहिए तो इन दार्शनिक व विचारकों ने धर्म-व्यवस्था एवं दैवी-सिद्धान्त पर आधारित सरकार की आलोचना करना आरम्भ किया।

अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम का महत्व- अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम को विश्व-इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी ने विश्व के लोगों के सामने यह विचार प्रस्तुत किया कि राष्ट्रीय जागरण हो जाने के उमरान्त उपनिवेशों को कोई भी सरकार अपने अधिकार में नहीं रख सकती। इस संग्राम ने प्रमाणित कर दिया कि वाणिज्यवाद की नीति से उपनिवेशों का सिवाय आर्थिक शोषण के और कुछ नहीं हो सकता है। इसने दैवी-सिद्धान्त पर आधारित वंशानुगत राजतन्त्र को समाप्त किया। स्वतन्त्रता व समानता के विचारों को नवीन रूप देकर अमेरिका मानवता की आशा बन गया। उसने विश्व के लोगों के सामने एक नवीन आदर्श राज्य का उदाहरण प्रस्तुत किया। जिस प्रकार वंशानुगत राज्य को इस संघर्ष ने समाप्त किया उसी प्रकार समानता की धारणा को बलबती बनाते हुए वंशानुगत अभिजात वर्ग को भी इसी ने समाप्त किया। इसने लिखित संविधान तैयार किया तथा उसमें शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को स्थान देते हुए धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की। इस स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना पर यूरोप में अन्य स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। बीसवीं सदी में भी विश्व के अनेक देशों के उपनिवेशों में निवास करने वाली जनता ने अपनी आजादी के लिए संघर्ष किया- उसका भी श्रेय इसी संग्राम को जाता है। इसीलिए इस स्वातन्त्र्य संग्राम को विश्व में महान परिवर्तन लाने वाला माना जाता है।

अमेरिकी क्रांति का स्वरूप

अमेरिका की इस क्रांन्ति का स्वरूप मुख्यतः मध्यवर्गीय था। अमेरिका के मध्यवर्गीय लोग अत्यन्त उदार एवं प्रगतिशील थे। यह जागृत वर्ग था। जिसमें राजनीतिक चेतना का अभाव नहीं था। यह वर्ग उपनिवेशी शासकों के विशेष

अधिकारों और सुविधाओं से घृणा करता था। यह वर्ग सामाजिक समानता की माँग करता था। और अपने राजनीतिक अधिकारों को मान्य बनाना चाहता था। इस वर्ग में निराशा व असंतोष की भावना थी जिसे वह संघर्ष करके मिटाना चाहता था। प्रारम्भ में यह वर्ग भी उपनिवेशों में सच्चे अर्थों में प्रजातन्त्र की स्थापना को लक्ष्य रखता था और मातृ-राज्य से विछोह नहीं चाहता था। किन्तु इस वर्ग में जब यह चेतना उत्पन्न हुई कि उपनिवेशी शासकों तथा स्वर्थी वर्गों की शक्ति का स्त्रोत इंग्लैण्ड में है तो इ वर्ग ने सम्पूर्ण उपनिवेशी स्वायत्त सरकार की स्थापना को लक्ष्य बनाया। इसके लिए अठारहवीं सदी के अन्तिम तीन दशकों में पढ़े-लिखे लोगों, मध्यवर्गीय व्यवसायियों तथा किसानों ने प्रयास किया। स सबका यह तात्पर्य नहीं है कि सर्वसाधारण ने संग्राम में भाग नहीं लिया। क्रान्ति में नगरों के साधारण मैंकेनिकों तथा मिस्त्रियों ने खुलकर भाग लिया। निःसन्देह सर्वसाधारण ने संग्राम को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं दिखा किन्तु संग्राम का पथ-प्रदर्शन मध्यम वर्ग ने ही किया। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि स्वतन्त्रता के घोषणा पत्र पर जितने लोगों ने हस्ताक्षर किये थे उनमें अधिकांश लोग मध्यम वर्ग के ही थे। उनमें आधे तो केवल वकील थे। संविधान-परिषद् में भी मध्यम वर्ग के व्यक्तियों का बोलबाला था। अतः जो संविधान बना, उसके अनुसार पूर्ण जनतन्त्र राज्य कायम नहीं हुआ। जन-साधारण को मताधिकार से वंचित रखा गया। स्त्रियों, नीग्रो तथा बहुत से श्वेतों को भी मतधिकार नहीं मिला। इतिहासकार इरविंग क्रिस्टोल ने यह मत व्यक्त किया है कि अमेरिकी क्रांति फ्रांसीसी क्रान्ति की भांति आधुनिक नहीं थी क्योंकि इस क्रांति ने जन-साधारण को भविष्य के प्रति आश्वासन तो नहीं दिया परन्तु जन-साधारण को सुखमय जीवन का लक्ष्य बोधप्राप्त करने की प्रेरणा अवश्य दी।

एक बात और, अमेरिकी क्रान्ति में एक वर्ग-संघर्ष देखा जा सकता है जिसमें एक ओर, इंग्लैण्ड का कुलीन शासनवर्ग था जिसके समर्थन में स्वयं अमेरिका का धनी वर्ग था, जो प्रजातन्त्र के आगमन और उसकी प्रतिक्रियाओं से भयभीत तो था। दूसरी ओर, अमेरिका के परिश्रमी, मध्यम व उच्च वर्ग के लोग थे।

अमेरिकी क्रांति का महत्व

अमेरिका स्वतन्त्रय युद्ध की वास्तविक महत्ता ने तो स्पेन या फ्रांस के प्रादोशिक लाभों, न हॉलैण्ड की व्यापारिक क्षतियों तथा इंग्लैण्ड के साम्राज्य की अवनति में ही थी, वरन् इसकी वास्तविक महत्ता अमेरिकी क्रान्ति के सफल सम्पादन में पाई जाती है। अमेरिका की क्रान्ति विश्व इतिहास की प्रमुख घटनाओं में एक है। इस क्रांति का महत्व कई दृष्टियों से आंका जा सकता है। आधुनिक मानव की प्रगति में अमेरिका की क्रान्ति एक महत्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप नई दुनिया में न केवल एक राष्ट्र का जन्म हुआ वरन् मानव जाति की दृष्टि से एक नये युग का आरम्भ हुआ। अमेरिका की यह क्रान्ति कार्ल एल. बेकर के अनुसार, "एक नहीं अपितु दो क्रान्तियों का सम्मिलन थी। प्रथम, 'बाह्य क्रान्ति' थी जिसके अन्तर्गत उपनिवेशों में ब्रिटेन के विरूद्ध विद्रोह किया गया तथा जिसका कारण उपनिवेशों व ब्रिटेन के मध्य आर्थिक हितों का संघर्ष था। द्वितीय, 'आन्तरिक क्रान्ति' थी, जिसका प्रयोजन स्वतन्त्रता के पश्चात् अमेरिका के भविष्य की रूपरेखा तैयार करना था।"

क्रान्ति ने संयुक्त राज्य अमेरिका के रानीतिक जीवन को एक नया मोड़ तो दिया ही, इसके अतिरिक्त वहाँ के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन की भी कायापलट कर दी। क्रान्ति के द्वारा अमेरिकी जनता को एक परिवर्तित सामाजिक अवस्था प्राप्त हुई जिसमें परम्रा, धन और विशेषधिकारों का महत्व कम था और मानवीय समानता का महत्व अधिक। विशेषाधिकारों का तीन प्रमुख दिशाओं में सफल आधिक्रमण करने के पश्चात् जनतन्त्र को काफी प्रोत्साहन मिला-अर्थात् परम्रागत साम्पति अधिकारों की समाप्ति, टोरियों की विशाल जायदादों का विघटन और जहाँ कहीं भी ऐंग्लीकन चर्च के केन्द्र थे, उनकी समाप्ति। 1786 ई. में वर्जीनिया में धार्मिक स्वेच्छा अधिनियम पास हुआ। इसके अनुसार किसी भी व्यक्ति को चर्च जाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। प्रत्येक व्यक्ति को पूजा और आराधना की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई। संघीय संविधान में भी फेटरल कर्मचारियों के लिए किसी धार्मिक योग्यता की आवश्यकता न रही। परन्तु अभी भी कई राज्यों के विधानों में धार्मिक बंधन विद्यमान थे।

अब पहले से अधिक शिक्षा का महत्व अमेंरिकन समाज ने समझा। क्रान्ति के पश्चात् स्वतन्त्र सार्वजनिक स्कूलों तथा जनसाधारण की प्रशिक्षा की माँग की गयी। यह तत्काल अनुभव किया गया कि प्रजातन्त्रीय स्वराज्य में शिक्षित मतदाताओं का होना आवश्यक है। न्यूयार्क के गवर्नर जॉर्ज क्लिन्टन ने 1782 ई. में कहा था कि "जहाँ सर्वोच्च नौकरियाँ प्रत्येक स्थिति के नागरिक के लिए उपलब्ध हैं उस स्वाधीन राज्य की सरकार का यह विशेष कर्त्तव्य है कि उस स्तर के साहित्य का

विद्यालयों तथा विशेष संस्थाओं द्वारा प्रचार होना चाहिए जो जन संस्थाओं की स्थापना के लिए आवश्यक है।" जैफरसन ने लिखा, "मैं आशा करता हूँ कि सब चीजों से अधिक प्राथमिकता जन-साधारण की शिक्षा को दी जायेगी क्योंकि यह सिद्ध है कि जनता की सुबुद्धि पर ही स्वाधीनता के उचित स्तर को सुरक्षित रखना निर्भर है।" एलन नेक्हिस एवं हेनरी स्टील कोमैंगर का निष्कर्ष है कि "प्रारम्भ में राज्यों की गरीबी इस कार्य में बाधक हुई किन्तु इस नयी माँग का परिणाम यह हुआ कि युद्ध के पूर्व से कहीं अधिक सुविधायें प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्राप्त होने लगीं और शिक्षा सम्बन्धी बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय 1785 ई. के भूमि अध्यादेश में थे जिसके द्वारा सावर्जजनिक शिक्षण संस्थाओं को लाखों एकड़ सरकारी भूमि प्रदान की गई।"

अमेरिकी क्रान्ति के आर्थिक परिणाम भी इसके सामाजिक एवं राजनीतिक परिणामों की भाँति अत्यधिक महत्वपूर्ण थे। आर्थिक क्षेत्र में क्रान्ति में मूलतः पूँजीवादी अथव्यवस्था के मार्ग की सभी बाधाओं को समाप्त कर इसके विकास को प्रोत्साहित किया। पुरातन व्यवस्था तथा इससे सम्बन्धित रीति-रिवाज की समाप्ति से अमेरिकी उपनिवेशों में पूँजीवाद के विकास को बहुत प्रोत्साहन मिला।

अमेरिकी क्रान्ति का वहाँ की कृषि पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। क्रान्तिकाल में बड़े-बड़े भूमिपति उपनिवेशों को छोड़कर कनाडा आदि देशों को चले गए जिससे उनकी बड़ी-बड़ी भू-सम्पदाओं को तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़ों में इनका वितरण निम्न तथा मध्यम वर्गों के हाथ में किया गया। क्रान्ति से कृषि के विकास को प्रोत्साहन मिला। "यदि समग्र रूप से देखा जाए तो अद्यतन एवं खर्जीले ढंग से की जाने वाली अमेरिका की कृषि को लाभ ही हुआ, हानि नहीं। साथ ही, युद्ध काल में आये विदेशियों से यूरोप के कृषि सुधारों के सम्बन्ध में अमेरिका को जानकारी प्राप्त हुई।"

कृषि की अपेक्षा उद्योग-धन्धों पर क्रान्ति का प्रभाव अधिक पड़ा। क्रान्ति से अमेरिका के उद्योग दो तरह से लाभान्वित हुए-प्रथम, अमेरिकी उद्योग अग्रंजों द्वारा लगाये गये व्यापारवादी प्रतिबन्धों से मुक्त हो गये, द्वितीय, युद्धकाल में इंग्लैण्ड से वस्तुओं का आयात बन्द हो जाने के कारण उपनिवेशों के उद्योग के विकास को प्रोत्साहन मिला। ब्रिटेन से ऊनी वस्त्र के आयात बन्द हो जाने के कारण देशी वस्त्र की माँग बहुत बढ़ गयी। सूत कातने और वस्त्र बुनने का कार्य राष्ट्रीय स्तर पर घर-घर में किया जाने लगा। औरतें भी इस कार्य में जूट गयीं।

क्रान्ति ने अमेरिकी नौ-परिवहन को भी दो प्रकार से प्रभावित किया- प्रथम, औपनिवेशिक बन्दरगाहों को संसार के लिए खोलकर। इससे फ्रांस, स्पेन तथा हालैण्ड आदि के साथ अमेरिका के व्यापार में काफी वृद्धि हुई। इन देशों से विलासिता की वस्तुओं का आयाात किया जाने लगा जिनका भुगतान अमेरिका द्वारा तम्बाकू तथा चावल के निर्यात से किया जाता था। द्वितीय, क्रान्ति ने व्यक्तिगत नो-परिवहन व्यवस्था को भी प्रोत्साहित किया। व्यक्तिगत कम्पनियों का कार्य भी इस क्षेत्र में अत्याधिक महत्वपूर्ण था।

अमेरिकी क्रान्ति ने दैवी अधिकार पर आधारित राजन्तत्र तथा कुलीनतन्त्रीय एकाधिकार पर घातक प्रहार किया। युद्ध के बाद इंग्लैण्ड की संसद में राजा के अधिकारों को कम करने की जोरदार माँग उठने लगी। परिणामस्वरूप राजा की शक्तियों पर अंकुश लग गया और "केबिनेट" की शक्ति को पुनः स्थापित किया गया।

अमेरिकी क्रान्ति से इंग्लैण्ड की "रक्तहीन राज्य क्रान्ति" द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का और अधिक विकास हुआ। यदि इंग्लैण्ड की क्रान्ति ने प्रतिनिधि सत्तात्मक प्रथा को जन्म दिया था तो अमेरिकी क्रान्ति ने जन्तन्त्रात्मक प्रथा को जन्म दिया, जिसमें पहली बार सर्वसाधारण को मताधिकार प्राप्त हुआ। अमेरिकी क्रांति को आधुनिक युग में गणतन्त्र की जननी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस क्रांति के पश्चात ही विश्व में लिखित सांविधानों की परम्पराओं का प्रचलन हुआ। संघीय शासन व्यवस्था का प्रयोग किया गया। धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में अमेरिका आधुनिक युग का विश्व का प्रथम देश बना। इस क्रांति ने साम्राज्यवाद को प्रथम पराजय दी तथा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को मानव समाज के समक्ष रखा।

फ्रांस भी क्रान्ति के प्रभाव में आ गया। अमेरिका से लौटकर आने वाले फ्रांसीसी अधिकारियों ने अमेरिका के अनुभवों को लिखा। लाफायत ने विशेष रूप से अमेरिकी क्रान्ति की भावना फ्रांसीसी जनमानस तक पहुँचाई। फ्रांसीसी समाज में अमेरिकी लेखक एवं दार्शनिक फ्रैंकलिन का विशेष प्रभाव था। उसकी लेखनी ने फ्रांस के दार्शनिकों को प्रभावित किया। अमेरिकी क्रान्ति ने ही फ्रांसीसी क्रान्ति का रास्ता खोला और अमेरिकी क्रान्ति की भूमिका दीदरो, रूसो, वाल्तेयर की भूमिका से किसी प्रकार कम न थी। इतिहासकार हेज के अनुसार, "स्वतन्त्रता की यह मशाल, जो अमेरिका में जली तथा फलस्वरूप

गणतन्त्र की स्थापना हुई, का फ्रांस में तीव्र प्रभाव पड़ा तथा फ्रांस को क्रान्ति के मार्ग की ओर प्रेरित किया। वे भी अब अमरीकियों के समान स्वतन्त्र होना चाहते थे।" फ्रांसीसी क्रान्ति के मुख्य सिद्धान्त-स्वतन्त्रता समानता तथा बन्धुत्व का मूल अमेरिकी संघर्ष में निहित है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अमेरिकी स्वाधीनता-संग्राम में योगदान देने के कारण फ्रांस जो पहले ही आर्थिक संकट में था, आर्थिक दृष्टि से और अधिक क्षतिग्रस्त हुआ जिसके कारण उसकी कठिनाइयाँ बढ़ीं। इन कठिनाइयों ने फ्रांसीसी क्रान्ति को अवश्यम्भावी बना दिया।

इस क्रान्ति ने पूरे पूरोप में उपनिवेशवाद विरोधी क्रान्तिकारियों को नया जीवन दिया। स्वयं इंग्लैण्ड में व्हिग दल ने क्रान्ति को खुला समर्थन दिया तथा हार्न टूक ने संसद सदस्यों तक से आव्हान किया कि वे अमेरिकी क्रान्ति को समर्थन दें अन्यथा अमरीकियों के असफल हो जाने से अंग्रेजों की स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जायेगी। इस संघर्ष से प्रेरणा पाकर दक्षिाणी अमेरिका के लोग भी स्पेन तथा पुर्तगाल के शासन से मुक्त होने में सफल रहें।

आयरलैण्ड, जो सदियों से पिसता रहा था, ने अमेरिकी क्रान्ति के परिणामों का स्वागत किया। हौरेस वालपोल ने इंग्लैण्ड की संसद में कहा- 'आयरलैण्ड अमेरिका के लिए पागल हो रहा था।' उस समय आयरलैण्ड की जनता भी अपनी आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए इंग्लैण्ड के विरूद्ध संघर्ष कर रही थी। वे व्यापारिक प्रतिबन्धों का अन्त और स्वतन्त्र पार्लियामेंट की स्थापना करना चाहते थे। अमेरिकी उपनिवेशों की इस माँग ने, "टेक्स लगाने का अधिकार हमें स्वयं है" आयरलैण्ड के निवासियों को बहुत अधिक प्रभावित किया। अतः अब आयरलैण्ड की शोषित जनता पहले से अधिक उत्साह से संघर्ष में जुट गई। फलतः इंग्लैण्ड ने आयरिश जनता की अधिकांश माँगें मान ली।

भारत पर अमेरिका की क्रांति का तत्कालीन प्रभाव प्रतिकूल रहा। अमेरिकी स्वतन्त्रता-संग्राम के काल में जब फ्रांस ने युद्ध में प्रवेश किया तो भारत में अंग्रेज-फ्रांसीसियों में युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिससे लाभ उठाकर अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों की शक्ति को भारत में क्षति पहुँचाई तथा अपने साम्राज्य विस्तार के मार्ग को सुलभ बना लिया। किन्तु यह भी सच है कि भारत सहित गुलामी की जंजीरों से जकड़े हुए अनेक राष्ट्रों के राष्ट्रवादियों को इस क्रान्ति ने सशक्त प्रेरणा प्रदान की।

अमेरिकी क्रान्ति का महत्व इस सन्दर्भ में भी है कि इंग्लैण्ड के उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने से वाणिज्यवादी सिद्धान्तों को आघात पहुँचा। अब तक उपनिवेशों का आर्थिक शोषण करना ही मुख्य ध्येय था। उपनिवेशों की स्वतन्त्रता से बहुत से लोगों ने सोचा था कि इंग्लैण्ड से व्यापार-वाणिज्य को जबरदस्त धक्का लगेगा। किन्तु जब कुछ ही वर्षों बाद इंग्लैण्ड का अधिक व्यापार होने लगा तो अधिकांश देशों की वाणिज्यावादी नीतियों से आस्था जाती रहीं स्वयं इंग्लैण्ड ने भी वाणिज्यवादी नीति को त्याग दियाँ।

अमेरिकी क्रान्ति का महत्व क्रान्ति से पूर्व स्वतन्त्रता की घोषणा (4 जुलाई, 1776) में निहित है। स्वतन्त्रता की घोषणा न केवल एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा थी अपितु उन्नीसवीं सदी में यूरोप के इतिहास में राजनैतिक दर्शन तथा क्रान्तिकारी विचारों की भूमिका थी। इस घोषणा की पृष्ठभूमि पर 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति की आधारशिला रखी गई। यही नहीं, 1848 ई. में आयरलैण्ड, फिनलैण्ड, इटली, जर्मनी आदि देशों में हुए राष्ट्रवादी आन्दोलनों में घोषणा-पत्र की स्पष्ट झलक मिलती है। "विश्व का प्रत्येक मानव पूर्ण रूपेणा स्वतन्त्र है एवं समान है तथा उसे अपनी स्वतन्त्रता, अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष का अधिकार प्राप्त है।" इन्हीं धारणाओं को धरातल पर प्रायोगिक स्वरूप देने का यह प्रथम प्रयास था।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम संसार के इतिहास में एक महतवपूर्ण घटना थी। एक विद्वान् लेखक का इस सन्दर्भ में कहना है कि "अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम का महत्व इंग्लैण्ड के लिए चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, परन्तु विश्व इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना है। इस घटना ने नई दुनिया में एक नये युग को जन्म दिया और पुरानी दुनिया के लिए भी एक नये युग का मार्ग प्रशस्त कर दिया।"

अध्याय : 7 फ्रांस की क्रान्ति (1789) (French Revolution 1789)

फ्रांस की क्रान्ति

1789 ई० में विश्व में एक महत्वपूर्ण घटना हुई इस घटना का नाम था "फ्रांस की क्रान्ति"। इस घटना का इतना असर हुआ इसने न केवल यूरोप बल्कि पूरे विश्व को हिला कर रख दिया। दुनिया में और किसी घटना का इतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा होगा जितना कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति का।

फ्रांस की यह राज्य क्रान्ति, फ्रांस की पुरानी शासन व्यवस्था, वर्ग-विशेषाधिकार-युक्त सामाजिक व्यवस्था, निरंकुश शासन, उच्च पदाधिकारियों के नैतिक पतन तथा भेदभाव पूर्ण आर्थिक और न्याय-सम्बन्धी प्रणाली के विरुद्ध देश की जनता का शंख नाद था। यह महान क्रान्ति फ्रांस के आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित ही कोई घटना न थी अपितु इसने तो सम्पूर्ण यूरोप की नींव हिला दी तथा एक नवीन युग एवं व्यवस्था को जन्म दिया। इसने शासन व्यवस्था के नवीन सिद्धान्तों, सामाजिक जीवन सम्बन्धी नवीन विचारों तथा मानव के मूलभूत अधिकारों उद्घोषों नई विचारधाराओं को जन्म दिया। इस तरह यह क्रान्ति यूरोप की चिरस्थिति राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं एवं संस्थाओं को एक बड़ी चुनौति थी। यहां तक कि तत्कालीन साहित्य भी इसके प्रभाव से अछूता न रहा। स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality), तथा बन्धुत्व (Fraternity) से सारा यूरोपीय महाद्वीप गूंज उठा।

फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण

क्रान्ति का आधार—फ्रांस का प्रशासन, चर्च, समाज, तथा आर्थिक ढांचा तर्कविहीन एवं हानिकारक प्राचीन परम्पराओं पर आधारित था। सम्राट निरंकुश था। उसकी आज्ञा कानून थी। राज्य की सभी शक्तियां उसी में केन्द्रित थीं। उसकी शक्तियों पर किसी प्रकार भी जनता का कोई नियन्त्रण न था। लिखने, पढ़ने, भाषण तथा प्रैस आदि की कोई स्वतन्त्रता न थी। जनता को कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न थी। किसी भी व्यक्ति को वर्षों तक बिना किसी मुकद्दमा चलाए जेलों में ठूंसा जा सकता था। फ्रांसीसी समाज अधिकार-युक्त तथा अधिकार-रहित - दो भागों में विभक्त था। एक वर्ग को तो कई राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त थीं। उन्हें कई टैक्सों में छूट प्राप्त थी। टैक्सों का भार समाज के उन निर्धन वर्गों पर था जो इनको देने में समर्थ न थे। समाज के दूसरे वर्ग - मजदूरों तथा किसानों, का शोषण हो रहा था। मध्य वर्ग यद्यपि धनी, एवं बुद्धिमान् था तथापि अपनी निम्न सामाजिक स्थिति के कारण वह भी असन्तुष्ट उदार था।

उस समय की फ्रांस की स्थिति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार लिओ गरशॉय लिखता है, "लुई सोलहवें तथा उसके मन्त्रियों को 1774 ई. से लेकर 1789 ई. तक कुछ ऐसे कारणों का सामना करना पड़ा जैसे कि किसानों की शिकायतें; कई प्रतिबन्धों के नीचे दबा मध्यवर्ग; अधिकार-युक्त वर्ग तथा स्वार्थी तत्व जो आपस में द्वेष रखते थे परन्तु संयुक्त रूप से देश पर भार थे; अपनी विनाशकारी विदेशनीति, फिजूल खर्ची, प्रशासनिक योग्यता और घूंसखोरी से बदनाम सरकार तथा शक्तिशाली जनमत जो कि सरकार की दुर्बलता तथा उसकी न्यूनताओं तथा निरंकुशता के सिद्धान्त का प्रबल विरोध करता था।" इतिहासकार टामसन के शब्दों में, "सरकार संसार की सबसे अधिक निकम्मी सरकारों में से एक होने के साथ ही सबसे निरंकुश सरकारों में से एक थी।"

फ्रांस के सभी व्यक्ति एवं वर्ग अपनी अवस्था और स्थिति से असन्तुष्ट ही नहीं वरन् जागरूक थे। दूसरे शब्दों में फ्रांस 1789 ई. के पूर्व एक ज्वालामुखी के शिखर पर खड़ा था। उसकी राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं में भयंकर बारूद के वे सभी तत्व विद्यमान थे। जिनके परिणाम स्वरूप एक भयंकर आग का भड़क उठना स्वाभाविक ही था। समस्त देश क्रोध और अशान्ति के वातावरण में उबल रहा था। फ्रांस के प्रबुद्ध लेखकों, साहित्यकारों, नाट्यकारों तथा आलोचकों ने अपनी रचनाओं द्वारा देश की सोई हुई जनता को जगा दिया। 'यह क्रान्ति जितनी शस्त्रों का संघर्ष थी उतनी विचारों की भी'।

अब हम क्रान्ति के मुख्य कारणों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं-

दोषपूर्ण प्राचीन शासन व्यवस्था

फ्रांसीसी क्रान्ति का सबसे प्रथम महत्वपूर्ण कारण थी- फ्रांस की दोषपूर्ण प्राचीन शासन व्यवस्था। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में सरकार पर जो प्रतिबन्ध लगे होते हैं उनका नितान्त अभाव था। सरकार किसी के प्रति उत्तरदायी न थी। सरकार की आलोचना करने के लिए कोई संस्था न थी। प्रैस को कोई स्वतन्त्रता न थी। सरकार की आलोचना करने वाले को दण्डित किया जाता था। सारे देश में एक समान कानून न थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए कोई आश्वासन न था। हेबियस इक्ट (Habeas Act) की कोई व्यवस्था न थी। राजा के हस्ताक्षरों वाले लिखित पत्रों (Letters de Cachet) पर किसी भी व्यक्ति का नाम व दण्ड लिख कर, उसे जेल में ठूसा जा सकता था। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन व्यवस्था खोखली हो चुकी थी। घूंसखोरी का बाजार गर्म था। सरकार के सभी उच्च पद कुलीन वर्ग के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित थे। इतना ही नहीं कुछ पदों पर नियुक्तियों की नीलामी भी होती थी। जब लोगों के लिए यह निकम्मी शासन व्यवस्था, असह्य हो गयी तो वे एक भयंकर तूफान के रूप में उठ खड़े हुए।

1. निरकुंश एकतन्त्र—लुई चौदहवें के शासन काल में फ्रांस में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र की स्थापना थी। राजा का पद वंशक्रमानुगत था। राजा 'राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त' में विश्वास रखता था, वह अपने आप को पृथ्वी पर परमेश्वर का प्रतिनिधि समझता था। उसका विश्वास था कि यदि शासक दयालु है तो प्रजा का सौभाग्य है और यदि वह अत्याचारी है तो प्रजा को सहन करना पड़ेगा। जैसे परमात्मा का क्रोध आंधियों, तूफानों, भूकम्पों, महामारियों, अकाल, सूखे अथवा बाढ़ों के रूप में प्रकट होता है, इसी प्रकार राजा प्रजा को दण्डित करता है, जुर्माना करता है और जेलों में फैंकता है। 18वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में "दैवी अधिकारों का सिद्धांत" प्रभावहीन हो चुका था। जमाना लोकतन्त्र की ओर भाग रहा था। निरंकुश एकतन्त्र शासन प्रणाली तभी सफल हो सकती है यदि सम्राट शक्तिशाली, योग्य, निपुण तथा दूरदर्शी हो परन्तु फ्रांस में लुई 15वें तथा लुई 16वें के अधीन शासन दुर्बल हो गया। सम्राट् की अयोग्यता तथा अकर्मण्यता शासन की प्रत्येक शाखा में प्रकट होती थी।

चौदहवें लुई के कारण स्थापित हुई निरंकुश एकतन्त्र शासन-व्यवस्था, उसके उत्तराधिकारियों के काल में भी चलती रही। लुई ने "मैं ही राज्य हूं। मेंरी आज्ञा ही कानून है।" कह कर अपनी निरकुंशता का परिचय दिया। उसका शासन पर व्यापक नियन्त्रण था। वह सभी कार्य अपनी इच्छा से करता था उस पर न तो जनता और न पार्लियामेंट का अंकुश था। उसके रिश्तेदारों को इसी प्रकार असीमित अधिकार प्राप्त थे, जिनका वे दुरुपयोग करते थे। राजा एक विशेष प्रकार के मुद्रित पत्र (Letters de Cachet) जारी करता था जिन पर राजा के हस्ताक्षर अथवा मुद्रा अंकित रहती थी। इन पत्रों के आधार पर किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता था। इन मुद्रित पत्रों के कारण जनता का जीवन राजा और उसके सम्बन्धियों और कृपा-पात्रों के हाथों की खिलवाड़ बन गया था। पुस्तकों और समाचार-पत्रों के प्रकाशन पर भी उसका पूरा नियन्त्रण था। किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं थी।

स्वयं व्यवस्था के चक्र में—लुई 16वें के शासन-काल के आरम्भ से तो शासन-व्यवस्था का यह हाल था कि स्वयं निरंकुशता का स्वामी होने की बजाए, वह इसका दास बन चुका था। जिस बात को वह न चाहता था, उसे वह सुधार न सकता था। यदि वह किसी बुराई को सुधारना चाहता या कोई आर्थिक बचत करना चाहता तो उसका दरबार उसे ऐसा करने न देता। नागरिकों अथवा सैनिकों-किसी पर भी वह भरोसा नहीं कर सकता था। अधिकार-युक्त वर्ग के दो प्रमुख अंग-कुलीन तथा पादरी राजे को कोई ऐसा कार्य न करने देते थे, जिसके परिणामस्वरूप उनका कोई अहित हो या उन पर कोई आर्थिक भार पड़े। इन परिस्थितियों में जन-क्रान्ति स्वाभाविक ही थी।

2. अव्यवस्थित प्रशासन- फ्रांस का प्रान्तीय शासन दो प्रकार के प्रान्तों में बंटा हुआ था। एक प्रकार का प्रान्त 'गवर्नमेंट' कहलाता था तथा दूसरे प्रकार का शासन जनरेलिटी में होता था। राजा इन में इंटैण्डैण्ट (Intendant) नामक अधिकारी नियुक्त करता था। ये सभी कुलीन होते थे। ये ग्रामीण पुलिस पर नियंत्रण रखते थे। स्थानीय शासन का कहीं जिकर भी नहीं था। केन्द्रीयकरण (Centralization) काफी बढ़ गया था। राजनैतिक शिक्षा के अभाव में अराजकता फैल रही थी। जनता और शासन के बीच धीरे-धीरे सम्बन्ध टूट गया था। अतः केन्द्र तथा प्रान्तों में शासन व्यवस्था अव्यस्थित थी, जटिल थी, अवैज्ञानिक थी, तथा निकम्मी भी थी। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में क्रान्ति के अंकुर फूट रहे थे।

3. वर्साय के महलों की शान-शौकत- राजा-रानी और उनके सम्बन्धी एवं कृपापात्र फ्रांस की राजधानी पेरिस से दस बारह मील दूर वर्साय के राज-महलों में ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। वहां का जीवन सांसारिक सुखों से भरा पड़ा था। यह देखकर यूरोप का सम्पूर्ण ईसाई जगत् ईर्ष्या की भावना से जल उठा था। लम्बे दालानों, उद्यानों, पर्यटन मार्गों सरोवरों, फव्वारों, गिरजाघरों नाट्यशाला तथा भोजन कक्षों से परिपूर्ण राजमहलों के निर्माण पर 30 करोड़ रूपये व्यय हुए थे। इन महलों को देखकर मनुष्य की आंखें चकाचौध हो जाती थीं। इनमें 18 हजार व्यक्ति निवास करते थे। उनकी सेवा के लिए 16000 नौकर नियुक्त थे। अकेली रानी के 500 नौकर थे। रानी की घुड़साल (Stable) में 200 बघियां थीं। शाही घुड़साल पर एक करोड़ रूपये सालाना खर्च होते थे। राजा के खाने-पीने पर 50 लाख रु. तथा उसके आमोद-प्रमोद पर 6 करोड़ रुपये सालाना नष्ट किये जाते थे। वर्साय के राजमहलों में राजा-रानी, राजकुमारों, राजकुमारियों तथा उनके सगे-सम्बन्धियों के लिये अलग-अलग महल थे, जिनमें सभी प्रकार की सुविधाएं मौजूद थीं। अतः यह स्पष्ट है कि जनता की कमाई को राजा खुले हाथ बहाता था। ईर्ष्या के कारण लोग राजदरबार को 'राष्ट्र की कब्र' (Nation's Grave) कहते थे। जो लोग राजा और रानी की छत्र-छाया में पलते थे वे स्वर्ग का आनन्द लूटते थे। यद्यपि फ्रांस का राजकोष खाली हो चुका था तथापि महलों के विलासी जीवन में कोई कमी न आई। उधर बढ़ते हुए करों के कारण जनता की कमर टूट रही थी। कुलीन वर्ग भी गांवों में अपनी जमीनों से दूर वर्साय की नगरी में आनन्द लूटता था। उनकी अनुपस्थिति के कारण उपज बढ़ न सकी, इस का भी फ्रांस के आर्थिक ढांचें पर बुरा प्रभाव पड़ा। अतः वर्साय का विलासपूर्ण जीवन राजनैतिक विस्फोट का कारण बना। ऐसी अवस्था में भी राजा तथा उसका अधिकारी वर्ग जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य से पूर्ण रूप से विमुख हो चुका था।

4. लोकसभा का अभाव—कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने तथा कानून बनाने के लिए फ्रांस में कोई लोक सभा अथवा कोई प्रजातांत्रिक संस्था न थी। राजा के आदेशों तथा कार्यों की आलोचना न हो पाती थी। इसलिये यह न पता चलता था कि राजा जो कुछ कर रहा है अथवा शासन व्यवस्था में जो गड़बड़ चल रही है, वह उचित है, राष्ट्र के हित में है अथवा नहीं। फ्रांस में एस्टेट-जनरल नामक एक राजनैतिक संस्था थी। यह तीन भागों में विभक्त थी। प्रथम में पादरी, द्वितीय में कुलीन तथा तृतीय में जन-साधारण के प्रतिनिधि आते थे। प्रत्येक भाग (Esatate) को इकट्ठी एक वोट का अधिकार था, वोट सदस्यों को मुख्य रख कर नहीं गिने जाते थे अपितु एस्ट्ेट को मुख रख कर। अतः पादरी तथा कुलीन सदा तृतीय वर्ग (Third Esatate) के विरुद्ध वोट देते थे। इसी कारण कोई ऐसा सुधार सम्भव न था जिसके द्वारा कुलीनों और पादरियों का नुक्सान हो। इसके अतिरिक्त 1614 ई. के पश्चात एस्ट्ेटस जनरल का कोई अधिवेशन न हुआ था। लोग इसकी रचना, कार्यों, कार्य-विधि तथा शक्तियों को पूरी तरह से भूल चुके थे। ग्रांट तथा टैम्परली लिखते हैं, "तीनों एस्ट्टेस - पादरी, कुलीन तथा जन-साधारण अलग-अलग सदनों में बैठते थे। इस तरह से अधिकार-युक्त वर्ग के दो सदन होते थे और जन-साधारण का केवल एक। एस्टेट्स जनरल की कोई महत्वपूर्ण शक्तियां न थीं। वे अपनी मांगें तथा सुझाव प्रस्तुत कर सकते थे। फ्रांस की सरकार ने उन्हें कानून बनाने तथा कर लगाने में कोई अधिकार नहीं दिया था। प्रत्येक सदस्य अपने निर्वाचन क्षेत्र से शिकायतों की एक सूची' तैयार करके लाता था। प्रत्येक एस्टेट् का कर्तव्य होता था इन शिकायतों की सूची बना कर अलग से राजा को प्रस्तुत कर देना। इसके पश्चात् उसका काम समाप्त हो जाता था।" निस्संदेह फ्रांस की वैधानिक नैय्या तूफानी समुद्र की लहरों में डोल रही थी।

5. राष्ट्रीयता की भावना का अभाव—मध्य काल में फ्रांस अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। यूरोप के इस भू-भाग पर विविध राजाओं तथा सामन्तों का शासन था। यद्यपि 18वीं शताब्दी में ये सभी राज्य नष्ट हो चुके थे तथापि उनकी पुरानी स्मृतियां अभी शेष थीं। लोगों को अपने-अपने प्रान्त से ही लगाव था। वे एक राष्ट्र के रूप में नहीं सोचते थे। विभिन्न प्रान्तीय कानून तथा संस्थाएं अभी भी विद्यमान थीं। सारे फ्रांस में चुंगी घरों का जाल-सा बिछा हुआ था। प्रान्तीय स्तर

पर ही आयात-निर्यात कर लगाए जाते थे। अलग-अलग स्थानों पर कर व्यवस्था तथा न्याय प्रणाली अलग-अलग थी। इस तरह से राष्ट्रीय एकता के अभाव के परिणामस्वरूप फ्रांस में राजनैतिक अराजकता तथा अनेकता थी। इसी कारण देश का विकास रुक गया था।

5. अतिकेन्द्रीकरण—18वीं शताब्दी में फ्रांस में शक्तियों का अतिकेन्द्रीकरण हो गया था। प्रान्तीय तथा स्थानिक अधिकारी केन्द्र के हाथ में केवल कठपुतलियां मात्र थे। वे स्वतन्त्रतापूर्वक कोई निर्णय न ले सकते थे। वे राजा की कौंसिल के आदेशों के अनुसार कार्य करते थे। केन्द्रीय अधिकारी तथा शासक वर्ग, जो स्वयं भोग-विलास में डूबा हुआ था, इन स्थानीय अधिकारियों का मार्ग-दर्शन कैसे कर सकता था। ऐसी व्यवस्था में केन्द्र की दुर्बलता शासन-प्रबन्ध की छोटी-छोटी इकाई पर दिखाई देती थी। परिणामतः प्रशासन में अनियमितता तथा गड़बड़ थी और लोग असंतुष्ट थे। ऐसी परिस्थितियों में क्रान्ति का फूट पड़ना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

6. असंतोषजनक न्याय व्यवस्था-फ्रांस में प्रचलित दोषपूर्ण एवं असंतोषजनक न्याय व्यवस्था ने भी जनता को क्रान्ति के लिए उत्तेजित किया। वहां कई न्याय-प्रणालियां प्रचलित थीं। कुछ भागों में जर्मन कानून-लागू थे और कुछ में रोमन। यहां एक स्थान पर एक कार्य कानूनी समझा जाता था तो 5 मील की दूरी पर ही उसे गैर-कानूनी स्वीकार किया जाता था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सारे फ्रांस में 400 तरह की अलग-अलग कानून प्रणालियां थी। ऐसा प्रसिद्ध इतिहासकार हेजन (Hazen) का मत है। लोगों को कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त न थी। बिना अभियोग चलाए उन्हें जेल में भेजा जा सकता था। राजा की मुद्रा के अन्तर्गत उनके कृपापात्रों को दिये गये पत्रों (Letters de Cachet) में किसी व्यक्ति का भी नाम भर कर उसे दण्डित किया जा सकता था। राजा किसी भी व्यक्ति को अपराधी घोषित होने से पहले बन्दी बना सकता था और घोर अपराध के बदले क्षमा कर सकता था। देश में असंख्य छोटे-बड़े न्यायालय थे जिनका अधिकार क्षेत्र निश्चित न था। फौजदारी मुकद्दमों की न्याय व्यवस्था भी बड़ी अजीब थी। दण्ड कई बार मामूली अपराधों पर ही दे दिया जाता था। न्याय क्षेत्र में सभी उच्च पद कुलीन वर्ग के लिये सुरक्षित थे और कई बार तो ये पद वंशानुगत (Hereditary) होते थे। न्यायाधीशों के पदों की नीलामी भी होती थी। कुलीनों को घोर-अपराधों के लिये अत्यन्त साधारण दण्ड दिया जाता था। फ्रांस की तत्कालीन न्याय व्यवस्था में लिओ गरशाय लिखता है, "न्याय का प्रबन्ध निरंकुश, देर लगाने वाला तथा खर्चीला था" न्याय व्यवस्था की एक विशेषता यह भी थी कि अदालतों की भाषा लैटिन थी जिसे फ्रांसीसी भाषा जानने वाली आम जनता समझ न पाती थी।

7. फ्रांस का सैनिक प्रबन्ध-फ्रांस का सैनिक संगठन भी दोष रहित न था। सभी उच्च पद कुलीन वर्ग के लिए सुरक्षित थे। फ्रांसीसी सेना में, 35,000 अधिकारी थे। इनमें से उच्चाधिकारियों (जैसे जनरल आदि) की संख्या 1171 थी। इन अधिकारियों पर 46,000,000 पर वार्षिक खर्च उठता था। दूसरी ओर सैनिकों की संख्या केवल 1,35,000 थी। इस पर 44,000,000 के लगभग वार्षिक व्यय किये जाते थे। सेना में अनुशासन बड़ा कड़ा था। सिपाहियों को घटिया खाना मिलता था और उनके वेतन भी बहुत कंम थे। यह स्वाभाविक ही है कि इंग्लैण्ड के साथ कई यूरोपीय युद्धों में फ्रांसीसी सेना ने मार खाई थी। इससे इनका मनोबल भी गिर गया था। परन्तु अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम (1775-76 AD) में जब फ्रांसीसी सैनिक अंग्रेजों के विरुद्ध अमेरिकन लागों की सफलतापूर्वक सहायता करके स्वदेश लौटे तो वे स्वतंत्रता के नये विचारों से उत्प्रेरित थे। उन्होंने गांव-गांव स्वतन्त्रता और क्रान्ति का संदेश पहुंचाया।

8. दोषपूर्ण कर प्रणाली-उस समय फ्रांस में लोगों पर दो प्रकार के कर लगाये जाते थे। भूमिकर तथा आय-कर, प्रत्यक्ष करों (Direct Taxesa) की श्रेणी में आते थे जबकि नमक, शराब, तम्बाकू तथा आयात-निर्यात कर अप्रत्यक्ष करों (Indirect Taxesa) की श्रेणी में आते थे। टैक्स एकत्रित करने का तरीका बड़ा दोषपूर्ण था। जो अधिक बोली दे देता, उसे टैक्स इकट्ठे करने का कार्य सौंप दिया जाता। वह लोगों पर मनमानी निर्दयता करता था। मजे की बात यह कि कुलीनों तथा पादरियों को साधारणतया टैक्स से छूट थी और गरीब किसानों तथा आम जनता के कन्धों पर टैक्सों का बोझा था जिसे उठाने में वह असमर्थ थी। राजा इन टैक्सों से इकट्ठी की हुई धन राशि को अपनी इच्छा से खर्च करता था। उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उसके निजी खर्च तथा राज्य कार्यों के खर्च में कोई अन्तर न था।

इसके अतिरिक्त फ्रांस भर में विभिन्न तोल के वाट (Weight) तथा नाप के पैमाने (Measurements) प्रयोग किये जाते थे। इस सम्बन्ध में भी वहां कोई समानता न थी।

उपर्युक्त राजनैतिक व्यवस्था एवं प्राचीन शासन प्रणाली के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस क्रान्ति के मोड़ पर खड़ा था। केटलबी ने उचित ही लिखा है, 'विशेषाधिकर, रियायत, छूट फ्रांसीसी समाज का आधार था, न कि कानून अथवा न्याय। इसके शासकों की नीति थी काल-उपयुक्तता (Expediency) न कि सिद्धान्त। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि क्रान्तिकारियों की सर्वप्रथम मांग थी 'संविधान' जिससे उनका अभिप्राय था कोई व्यवस्था तथा संगठन। वास्तव में फ्रांस का पुराना निज़ाम वास्तील के दुर्ग के समान दृढ प्रतीत होता था परन्तु मुरम्मत के न होने के कारण इस की दीवारें गिर रही थीं और इसकी नीवों के टूट जाने के चिन्ह दृष्टिगोचर होते थे। चारों ओर अराजकता, अनियमितता तथा अव्यवस्था का दौर था। लोक-हित के प्रति निरंकुश एकतन्त्र उदासीन था।

सामाजिक असमानताएं

उस समय फ्रांस की सामाजिक व्यवस्था भी शोचनीय थी। फ्रांसीसी समाज मुख्यतया दो भागों में विभक्त था-विशेषाधिकार-युक्त वर्ग (The Privileged Classesa) तथा विशेषाधिकर-रहित वर्ग (Unprivileged Classesa)। प्रथम श्रेणी में पादरी तथा कुलीन आते थे तथा द्वितीय श्रेणी में नगरों का मध्यम वर्ग, शिल्पी, मजदूर तथा ग्रामों के कृषक। प्रथम श्रेणी के लोगों को कई विशेष राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, न्याय सम्बन्धी तथा सैनिक अधिकार प्राप्त थे। उन्हें टैक्सों से छूट थी। उच्च सरकारी पद उनके लिये सुरक्षित थे। वे राजा के कृपापात्र होते थे तथा अनेक सुविधाओं का भोग करते थे। कुलीनों तथा पादरियों की संख्या 3 लाख से कम थी तथा अधिकार रहित वर्ग के व्यक्तियों की संख्या 2 करोड़। पादरी वर्ग तथा कुलीन वर्ग को प्रथम तथा द्वितीय वर्ग (First and Second Esatate) के नाम से पुकारा जाता था। अधिकार-रहित वर्ग के लोगों को सख्त परिश्रम करना पड़ता था और टैक्सों का बोझा भी उन्हीं को उठाना पड़ता था। इन सामाजिक असमानताओं ने फ्रांस के सामाजिक जीवन को दुर्बल तथा दोषपूर्ण बना दिया। कुछ इतिहासकारों का तो यह भी मत है, "1789 ई० की क्रान्ति निरंकुशता के विरुद्ध कम परन्तु सामाजिक असमानता के विरुद्ध अधिक विद्रोह था।'

अब हम फ्रांस के सामाजिक ढांचे का विस्तृत वर्णन करते हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार से 18वीं शताब्दी की सामाजिक व्यवस्था क्रान्ति का एक प्रमुख कारण बनी।

1. फ्रांस का प्रथम वर्ग—पादरी—फ्रांस पर रोमन कैथोलिक धर्म का आधिपत्य था उसकी अपनी प्रशासनिक व्यवस्था तथा अपने कर्मचारी होते थे। देश की लगभग 40 प्रतिशत सम्पत्ति पर उसका अधिकार था। वह टिथं (Tithe) नामक कर प्राप्त करता था। चर्च की कुल वार्षिक आय तीस करोड रु. थी। चर्च कोई टैक्स न देता था। राज्य की सरकार के पश्चात् राजसत्ता के क्षेत्र में चर्च का स्थान आता था। इसका संचालन पुरोहित श्रेणी (The Clergy) के हाथ में था। उनके पास अतुल धनराशि थी तथा वित्तीय, न्याय, सम्बन्धी और शैक्षिक अधिकार प्राप्त थे। राज्य पर उनका काफी प्रभाव था। वे एक विशेष प्रकार का कर (Tithe) लोगों से वसूल करता था जोकि उत्पादन का 1/10 भाग होता था परन्तु यह सारे फ्रांस में समानरूप से प्राप्त नहीं किया जाता था। इस कर का अधिकांश भाग पादरियों को मिलता था। चर्च की चल तथा अचल सम्पति पर सरकारी कर नहीं लगता था क्योंकि पादरी राजा को मुफ्त उपहार देते थे। इनका कुछ अंश गिरजाघरों को विशेष छूट के रूप में लौटा दिया जाता था। पादरी वर्ग आगे दो भागों में बंटा हुआ था- उच्च पादरी तथा निम्न पादरी।

उच्च पादरी—इनकी संख्या 6000 के लगभग थी। आर्क बिशप, बिशप, एबट, इत्यादि इस श्रेणी में आते थे। वे अति प्रभावशाली तथा समृद्ध होते थे। इन पदों पर कुलीनों के पुत्र नियुक्त होते थे अतः धर्म में उनकी रुचि कम होती थी। वे ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। वे कोई धार्मिक कर्तव्य न निभाते थे।

पेरिस के आर्कबिशप की नियुक्ति के समय लुई 16वें ने कहा था कि फ्रांस में एक आर्कबिशप तो आस्तिक होना ही चाहिये।- अनेक उच्च पादरी तो राजनैतिक षड्यंत्रों में क्रियाशील भाग लेते थे। वे भव्य सहभोजों तथा शराब की दावतों में भाग लेते थे। उन्हें लाखों की आमदनी थी। रोहां के कार्डिनल की वार्षिक आय 2 करोड़ 50 लाख लिवरज (Livers) थी। स्ट्रैसबर्ग के आर्क बिशप की वार्षिक आमदनी 3 लाख डालर थी। वह भव्य महलों में निवास करता था। उसके अस्तबल में 180 घोड़े थे। उसका भोजन सोने-चांदी के बर्तनों में पकता तथा परोसा जाता था। इनके सम्बन्ध में हेज तथा मून लिखते है, "अनेक उच्च पादरी कुलीन परिवारों के छोटे लड़के होते थे। वे अच्छी तनख्वाहें पाते थे तथा राजदरबार की खुशियों

तथा विलासिता के लिए अपने धार्मिक कर्त्तव्यों से विमुख होते थे। वे वाल्तेयर (Valtaire) की कटु अलोचना का शिकार हुए।"

निम्न पादरी—इनकी संख्या सवा लाख के लगभग थी। दैनिक धार्मिक कर्तव्यों का पालन ये पादरी ही करते थे। वे देहातों में रहते थे और जनता के विवाहोत्सवों, जन्मोत्सवों, मृत्यु के समय तथा अन्य धार्मिक कर्मकाण्डों में भाग लेते थे। निम्न पादरी बेचारे फटे-पुराने कपड़े पहनते थे। उनमें अधिकांश का जीवन निर्वाह कठिनता से चलता था। वे साधारण वर्ग के मित्र थे तथा उच्च पादरियों से घृणा करते थे। लिओ गरशॉय का मत है कि उच्च तथा निम्न पादरियों में अभिमान और शत्रुता का सम्बन्ध था। निम्न पादरी उच्च-पादरियों उनके प्रति बे-इज्जतीपूर्ण व्यवहार का विरोध करते थे। उच्च पादरी उन्हें एक भद्दी, गन्दी, तथा अज्ञानी जाति से सम्बन्धित समझते थे। इसलिए निम्न पादरियों ने अपने पादरी वर्ग का परित्याग कर के, 1789 ई. में तृतीय वर्ग (Third Esatate) का साथ दिया। उच्च पादरियों के दुर्व्यवहार से तंग आकर ही निम्न पादरी क्रान्तिकारियों से मिल गए।

2. फ्रांस का द्वितीय वर्ग-कुलीन—इस वर्ग के लोग उच्च स्थान और सम्मान के अधिकारी थे। इनको सर्वसाधारण जनता 'मेरे स्वामी' ('Your Grace' or 'My Lord')आदि की उपाधियों से सम्बोधित करती थी। इंग्लैण्ड में तो कुलीन की मृत्यु पर केवल उसका सबसे बड़ा पुत्र कुलीन बनता था, इसलिए वहां कुलीनों की संख्या में वृद्धि न हुई परन्तु फ्रांस में स्थिति इसके विपरीत थी। यहां तो कुलीन के सभी पुत्र कुलीन बन जाते थे और निरन्तर इनकी संख्या बढ़ रही थी। क्रान्ति के समय फ्रांस में लगभग 50,000 कुलीन परिवार थे और कुलीनों की व्यक्तिगत संख्या 2 और 2-5 लाख के बीच थी। वास्तव में ये मध्यकालीन सामन्त पद्धति के अवशेष थे। ये तीन प्रकार के होते थे-देहाती कुलीन, दरबारी कुलीन तथा सरकारी नौकर। कुलीनों में आपस में पारस्परिक फूट और प्रतिस्पर्धा थी। वे एक-दूसरे को वंश अथवा सम्पत्ति के आधार पर ऊंचा-नीचा समझते थे।

कुलीनों के विशेषाधिकार—इन्हें कई राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विशेषाधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त थी। फ्रांस की भूमि के लगभग 1/4 भाग पर कुलीनों का अधिकार था। वे राजा से भेंट कर सकते थे, राज-दरबार की शानो-शौकत, चाटुकारिता, भ्रष्टाचार व षड्यन्त्र आदि में भाग लेते थे। वे शिष्टाचार और वार्तालाप में इतने पारंगत थे कि उनके भ्रष्ट चरित्र एवं दोषों को कोई जान नहीं सकता था। प्रत्येक कुलीन के पास सेवकों का समूह था जो अपने प्रभु एवं स्वामी की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए खूब सज-धज कर रहता था। इन कुलीनों को उच्च नागरिक तथा सैनिक पद प्राप्त होते थे। उन्हें टैक्सों में सामान्यतः छूट प्राप्त थी। वंश, मर्यादा तथा शान-शौकत के लिए वे राजा की कृपा पर निर्भर थे। राजा कभी-कभी इनकी चटुकारिता (Flattery) से प्रसन्न होकर इनको उपहार भी दिया करता था। अधिकांश कुलीन पेरिस अथवा वर्साय में अपने किलेनुमा महलों में भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी अनुपस्थिति में उनके मुनीम गांवों में उनकी जमीन की देख-रेख करते थे। ये मुनीम कृषकों का शोषण करते थे। कुलीन की मृत्यु पर उनके सबसे बड़े लड़के को उसकी सम्पत्ति का 2/3 भाग प्राप्त होता था जबकी शेष 1/3 भाग अन्य सभी उत्तराधिकारियों को मिलता था। इसके कारण तथा जुए, शराब और भोग-विलास पूर्ण जीवन के कारण अनेक कुलीन निर्धन तथा ऋणी हो गए थे। परन्तु अब भी उन्हें विशेषाधिकार तथा सामाजिक सम्मान प्राप्त था। इसके साथ-साथ राजा के कई कृपा-पात्र आम जनता से कुलीन वर्ग में आ गये थे। मध्यकाल में तो कुलीन देश के प्रशासन और सुरक्षा में प्रमुख भूमिका अदा करते थे परन्तु रिशल्यू (Richelieu) के समय से फ्रांसीसी कुलीनों से राजनैतिक शक्ति तथा सैनिक नेतृत्व छीन लिया गया था। अब तो वे केवल राज-दरबार की सजावट का गहना मात्र रह गये थे। वे शायद ही कभी जमीन-जायदाद को देखने के लिए जाते थे। किसानों के साथ उनका व्यक्तिगत सम्पर्क टूट चुका था।

यद्यपि वैधानिक रूप से सामन्त पद्धति का पतन हो चुका था तथापि "अभी भी किसान अपने स्वामी के कारखाने पर ही अपना अनाज पिसवाने के लिये बाधित होते थे, वे उसी की प्रैस में अपने अंगूर का रस निकलवाते, कई तरह के कर देते, बेगार करते तथा अपमानजनक सामाजिक परम्पराओं के आगे सिर झुकाते थे। कुलीन किसानों से घृणा करते थे और किसान कुलीनों से। स्थिति भयानक थी क्योंकि फ्रांस की जनसंख्या का बहुमत किसान थे।" भूमि क्रय-विक्रय पर उनके मूल्य का 1/5 भाग जमींदार प्राप्त कर लेते थे। उन्हें न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। वे अपने अधीन किसानों के झगड़ों का फैसला करते थे तथा जुर्माने लगाकर अपनी आय में वृद्धि करते थे। उनको शिकार करने का विशेषाधिकार प्राप्त था। इस काम के लिये काफी भूमि सुरक्षित रखी जाती थी ताकि उसमें शिकारी जानवर पल सकें। ये

जानवर किसानों की फसलों को नष्ट करते रहते थे। जमींदारों को कबूतर रखने का भी शौक था। ये कबूतर भी किसानों की फसलों को नष्ट करते रहते थे परन्तु वह बेबस था। विवाह आदि के अवसर पर जमींदार किसानों से अनिवार्य रूप से उपहार प्राप्त करते थे। जो वस्तुएँ जमींदारों के प्रदेश में आती थीं, उन पर ये कर भी लेते थे। स्वतन्त्र किसानों से भी ये उनकी उपज का कुछ भाग छीन लेते थे। वास्तविकता यह थी कि जमींदारों से इतना तंग आकर भी किसान उन्हें अपना 'स्वामी' अथवा माई-बाप कह कर पुकारते थे।

अतः यह उचित ही कहा गया है "न ही करों ने, न ही लैत्र डी काशे ने **(Letters de Cachet)**, न ही प्रशासन की अन्य बुराइयों ने, न ही प्रीफेक्टों **(Prefects)** की परेशानियों ने और न ही न्याय की न्यूनताओं ने, फ्रांस की जनता को क्रोधित किया, ये कुलीन वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा थी जिसने कि सारे आन्दोलन को प्रज्वलित किया। दियर्स (Thiers) का मत उल्लेखनीय है- "आन्दोलन राजगद्दी के विरुद्ध कम और कुलीन वर्ग के अत्याचारों के विरुद्ध अधिक था।"

3. फ्रांस का तृतीय वर्ग--फ्रांस के अधिकार-रहित वर्ग को तृतीय वर्ग की संज्ञा दी गई थीं यह आगे चार भागों में विभक्त था- मध्यम वर्ग, शिल्पी, मजदूर तथा किसान।

(क) मध्यम वर्ग--इस वर्ग के लोग अधिकतर नगरों में रहते थे। इसमें व्यापारी, महाजन (Bankers), कारखानेदार, कलाविज्ञ, वैज्ञानिक, वकील, मैंजिस्ट्रेट, सरकारी नौकर, अध्यापक, प्रोफेसर, लेखक, विचारक, दार्शनिक, साहित्यकार तथा डाक्टर आते थे। इन्हीं लोगों ने फ्रांस में 'लोकमत' को तैयार किया। इनके पास फ्रांस का धन, दिमाग, ज्ञान तथा व्यापार था। राजा तथा विलासी कुलीन इनसे ऋण प्राप्त करते थे। सांसारिक दृष्टि से इस वर्ग की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी परन्तु पादरियों तथा कुलीनों की तरह इस वर्ग की कोई विशेष राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त न थे। इस दृष्टि से इनकी स्थिति भूखे-नंगे किसानों के समान थी। अतः यह वर्ग कुलीनों से बड़ा असंतुष्ट था और उसके साथ ईर्ष्या करता था। यह वर्ग अपने आपको कुलीनों से श्रेष्ठ समझता था और राज्य द्वारा किये गये भेद-भाव को अपमान समझता था। इस वर्ग के लोग फ्रांस के गले-सड़े निज़ाम को समाप्त कर सुशासन स्थापित करना चाहते थे। इसमें ऐसे व्यक्ति थे जो वैधानिक आधार पर राजा की सत्ता को चुनौती दे रहे थे। इन्होंने विशेषाधिकारों के विरुद्ध आवाज उठाई। इन्होंने सुझाव दिया कि प्रशासन और गिरजाघरों के उच्च पदों के लिये नियुक्तियां वर्ग-विशेषाधिकार पर आधारित न होकर योग्यता पर आधारित हों। इन्होंने प्रशासनिक सुधारों की मांग की । वे अपने राजा को जनता का मालिक न मानकर, उसका प्रतिनिधि मानते थे। उन्होंने व्यापारिक प्रतिबन्धों का विरोध किया और स्वतंत्र व्यापार (Laissez Faire) की नीति का समर्थन किया। राबर्ट बर्न्स का कथन है, "इसमें संदेह नहीं कि फ्रांसीसी क्रान्ति का एक प्रमुख कारण था-व्यापारियों का मध्ययुगीन व्यापारिक व्यवस्था से छुटकारा प्राप्त करना"।

इसी वर्ग के लोग समकालीन लेखकों की रचनाओं को पढ़ते थे, सेलोनर्ज़ (Salons) के समाज में उठते-बैठते थे, वैचारिक क्लबों एवं संस्थाओं के सदस्य बनकर राजनैतिक विषयों, उदार प्रजातांत्रिक तथा क्रान्तिकारी विचारधाराओं पर वाद-विवाद करते थे। इनकी गतिविधियों के कारण फ्रांस में राजनैतिक जागृति तथा जनमत का निर्माण हुआ। इस वर्ग के बारे में गरशॉय लिखता है, "वे धन, योग्यता, शिक्षा तथा संस्कृति के क्षेत्र में अपने आपको जन्मजात कुलीनों के समान समझते थे तथापि कई सरकारी पदों के द्वार उनके लिए बन्द थे.....सामाजिक अपमानता के कारण उनके गर्व तथा आत्मसम्मान को आघात पहुँचा.....वे चाहते थे कि शासन सुधार के लिए उनकी आवाज सुनी जाए. .....-1788-89 ई. में प्राचीन शासन व्यवस्था को दुर्बल बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

(ख) नगरों का शिल्पी वर्ग--नगरों में कई प्रकार के शिल्पी निवास करते थे इन्होंने अपने संघ (Guilds) बना रखे थे। इन संघों के नियम अति कठोर थे। शिल्पियों के शर्गिदों (Apprenticesa) को अपने उस्ताद (Master) के अधीन कई वर्षों तक काम करना पड़ता था तब जाकर उसे स्वतन्त्र काम शुरू करने की आज्ञा थी। कोई शिल्पी अपनी इच्छा से वस्तु का नमूना नहीं बदल सकता था। इस सम्बन्ध में उसे संघ (Guilds) के नियमों का पालन करना पड़ता था। इस व्यवस्था के कारण शिल्प तथा व्यापार के क्षेत्र में विकास सम्भव न था। मध्य वर्ग के लोगों ने इस व्यवस्था का भी कड़ा विरोध किया।

(ग) मजदूर वर्ग--इंग्लैण्ड के पश्चात् फ्रांस में भी औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ हो रही थी। उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या 25 लाख के लगभग थी। इनकी दशा बड़ी दयनीय थी। इनको वेतन बहुत कम मिलता था और काम का समय बहुत ज्यादा होता था। सरकार की ओर से इनकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए कोई पग न उठाए जाते थे

न ही कारखानेदारों के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाने के लिये मजदूर संगठन ही थे। इस समय जब वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ रहे थे, इनकी वेतन वृद्धि सम्भव नहीं हुई थी। अतः ये अपनी आर्थिक दशा से बहुत असंतुष्ट थे। क्योंकि इनका सम्पर्क नगरों के शिक्षित एवं प्रबुद्ध (Enlightened) वर्ग से था इसलिए इनमें भी राजनैतिक चेतना थी।

(घ) किसान—फ्रांस का सबसे अधिक निर्धन, दुःखी, भूखा-नंगा तथा शोषित वर्ग था किसान वर्ग। इसकी संख्या 2 करोड़ के लगभग थी। ये फ्रांस की जनसंख्या का लगभग 80 प्रतिशत थे। फ्रांस के कृषकों में दो वर्ग थे-प्रथम स्वतन्त्र किसान (जो भूमि के मालिक थे) तथा द्वितीय भूमिदास अथवा अर्द्धदास (Serfs)। अर्द्धदास किसान अपनी इच्छा से अपने मालिक जमींदार की भूमि को त्याग कर बाहर नहीं जा सकते थे। स्वतन्त्र किसान जहां चाहे जा सकते थे। वे अपनी जमीन बेचने में स्वतन्त्र थे परन्तु दोनों ही वर्गों के किसान कुलीनों के शोषण का शिकार थे। इन पर कई तरह के सरकारी तथा सामन्तीय करों का भार था। कृषि उत्पादन के ढंग पुराने (Primilitve methods of farming) थे, जिनके कारण उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों को भी किसानों को सहन करना पड़ता था।

कुलीनों द्वारा किसानों की दुर्दशा—कुलीनों के शिकार-विशेषाधिकार तथा कबूतरखानों के कारण भी उनकी फसल की हानि होती थी यद्यपि फ्रांस में सामन्त प्रथा (Feudal System) का अन्त हो चुका था तथापि इस प्रथा के अवशेष अभी विद्यमान थे। किसानों को स्वामी की कुछ परम्परागत सेवाएं करनी पड़ती थीं। भूसक्तदास (Serfs) सप्ताह में तीन दिन कुलीनों के खेतों में काम करते थे। उन्हें पुल, सड़कें, बांध आदि बनाने में बेगार (Corvee) आदि भी करनी पड़ती थी। विवाहोत्सवों पर जमींदार को उपहार देने पड़ते थे। भूमि की बिक्री के समय पर अपने स्वामी को 1/5 भाग देना पड़ता था। उसे स्वामी के कारखाने, तंदूर, बूचड़खाने आदि से ही अपनी वस्तुएं जुटानी जरूरी थीं। उस के कमजोर कंधों पर चर्च-कर (Tithë), भूमि-कर (Taille), आय-कर (Vingtieme), नमक-कर (Gabelle) तथा अन्य करों का भार था। इन सभी करों को अदा करके आय में से केवल 20% उसके पास शेष रह जाते थे। अनावृष्टि, अतिवृष्टि तथा बाढ़ आदि के समय तो उसे भूखें मरना पड़ता था। टेन (Taine) ने एक किसान की आय-व्यय का ब्योरा इस प्रकार दिया है। प्रत्येक 100 फ्रैंक्स आय में, 53 फ्रैंक्स वह राज्य को कर के रूप में चुका देता था। 14 फ्रैंक्स वह कुलीन को देता था, 14 फ्रैंक्स वह चर्च कर (Tithe) के रूप में देता था और शेष 19 फ्रैंक्स में वह एक्साइज कर देता था और अपने जीवन की गाड़ी आगे बढ़ाता था। इसके अतिरिक्त किसानों के लिये चिकित्सा और शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। वे गंदे घरों में रहते थे। अशिक्षा और भूख ने उनकी विचार-शक्ति का हनन कर दिया था। वे अपनी दुर्दशा को दैवी प्रकोप समझ कर संतुष्ट थे।

परन्तु इंग्लैण्ड को छोड़ कर अन्य देशों की अपेक्षा फ्रांस के किसानों की दशा अच्छी थी और उन्हें अपनी दुर्दशा का आभास होने लगा था। विचारकों के प्रचार से उनमें जागृति भी आने लगी थी। यहीं फ्रांसीसी क्रान्ति के बीज छिपे हुए थे।

इस प्रकार फ्रांस के सामाजिक जीवन में चारों ओर पक्षपात, असमानता, अन्याय और अत्याचार का प्राबल्य था। फ्रांस का समाज जन्म-मूलक स्थिति तथा विशेषाधिकारों पर आधारित था। यह सिद्धान्त प्रचलित था कि सब मनुष्य समान और स्वतन्त्र नहीं, कुछ लोग जन्म से ही बड़े हैं, विशेष अधिकार रखते हैं और अमीर हैं तथा अन्य जन्म से छोटे हैं, अधिकार-रहित हैं और निर्धन है। इसके मुकाबले में रूसों नें इस सिद्धान्त को प्रचारित किया - ''परमेश्वर ने सब मनुष्यों को समान और स्वतन्त्र उत्पन्न किया है।'' यह सामाजिक असंतोष अब मौन न रह कर, मुखरित होने लगा था। 1789 ई. में यह अक्रोश निरंकुश शासन के विरुद्ध ही नहीं अपितु सामाजिक असमानता और अन्याय के विरुद्ध एक भयंकर संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ।

फ्रांसीसी दार्शनिक तथा बौद्धिक जागरण

केटलबी का कथन है, ''विभिन्न लेखकों ने क्रान्ति की भूमिका तैयार की'' वास्तविक क्रान्ति से पूर्व 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक वैचारिक क्रान्ति (Intellectual Revolution) की नींव रखी जा चुकी थी। शायद ही विश्व इतिहास के किसी काल में लेखकों ने मानव विचारों और कार्यों को इतना अधिक प्रभावित किया हो जितना कि फ्रांसीसी लेखकों ने 18वीं शताब्दी में यूरोप और विशेषकर फ्रांस को किया। इस प्रकार एक बौद्धिक आंदोलन आरम्भ हो गया। यह आन्दोलन अत्यन्त व्यापक और विस्तृत था। विज्ञान, साहित्य, धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में इन्होंने एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उसे

क्रान्ति की संज्ञा दी जा सकती है। इनकी कृतियों के कारण लोगों को स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने का अवसर मिला। इस वातावरण में लोग दोषों के निवारण का उपाय सोचने लगे। इस नवीन विचारधारा के द्वारा उन्होंने राजवंश के दैवी रूप, समाज की घोर असमानता, धार्मिक असहिष्णुता, सामाजिक वर्गभेद, प्रशासनिक बुराईयों और दोषयुक्त आर्थिक एवं न्याय सम्बन्धी व्यवस्था की तीक्ष्ण आलोचना की। इन लेखकों ने शताब्दियों से प्रतिष्ठित मान्यताओं को अपदस्त कर अधिकार, अत्याचार, अन्धविश्वास पर आधारित संस्थाओं और विचारों की श्रंखला से मानव-मस्तिष्क को उन्मुक्त किया। केटलबी ने उचित ही लिखा है, "वे (लेखकों) लोगों को प्राण दे रहे थे, उनके असंतोष को व्यक्त कर रहे थे, उनको नेतृत्व और विश्वास दे रहे थे। संसद्-विहीन देश में विचारक ही राजनीतिज्ञ बन गये थे।" इन्हीं लेखकों ने लोगों को बताया कि बुरे शासकों के कार्यों पर विचार-विमर्श करना जनता का अधिकार ही नहीं वरन् कर्तव्य भी है। बेयल (Bayle) ने कहा-सार्वभौमिक सत्ता जनता से उत्पन्न होकर को ही लौट जाती है। यदि शासक शक्तियों का दुरुपयोग करे तो उसे शक्ति से वंचित कर देना चाहिये, परन्तु राष्ट्र को अधिकारों से कभी वंचित नहीं किया जा सकता। विचारकों, लेखकों तथा साहित्यकारों में प्रमुख थे- मांतेस्क्यू (Montesaquieu, 1689-1755), वाल्तेयर (Voltaire, 1694-1778), रूसो (Rousseau, 1712-1778), दिदरो (Diderot, 1713-84), ऐबे डी कोण्डिलाक (Abbe de Condillac 1774-80), हेलवेशस (Helvetius), डी एलम्बर्ट (D' Alembert), डी होल्बाश (Baron de' Holbach), ऐबे माब्ली (Abbe Mobly, 1709-85), ऐबे रेलन (Abbe Raynal), कोण्डरसट (Condorcet), तुर्गो (Turgot), क्वेरने (Quesanay), गूर्ने (Gournay) तथा डूपां डी नेमूर (Dupont de Nemours) इत्यादि। अब हम इनमें से प्रमुख विचारकों एवं लेखकों की कृतियों, विचारो तथा उनके प्रभाव का अध्ययन करेगें।

मांतेस्क्य (Montesaquieu, 1689-1755 A.D.)—मांतेस्क्यू उन विचारकों में से एक था जो राजतन्त्र की निरंकुशता तथा राजा के दैवी अधिकारों के प्रबल विरोधी थे। वह एक कुलीन परिवार से सम्बन्धित था। वह वोर्दो की पार्लेमा का अध्यक्ष था। उसकी सर्वप्रथम रचना थी 'पर्शियन लैटरज'। जिसमें उसने एक काल्पनिक ईरानी यात्री के द्वारा फ्रांस की प्राचीन संस्थाओं का खूब मजाक उड़ाया था। 1748 ई. में उसने जगत् प्रसिद्ध पुस्तक 'ल एस्प्रिट दश ल्वायस' अथवा 'स्प्रिट आफ दा लाज' की रचना की। इसमें उस पृथक्करण के सिद्धांत को स्थापित किया गया। जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये शासन की शक्तियों- कार्यपालिका, व्यवस्थापिका सभा और न्यायपालिका एक ही व्यक्ति अथवा संस्था में केन्द्रित न हों। तीनों शक्तियों के एक ही संस्था अथवा व्यक्ति में केन्द्रिकरण से निरंकुशता की स्थापना होती है। इस पुस्तक का 18वीं शताब्दी के कई प्रबुद्ध शासकों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

मांतेस्क्यू प्रथम विचारक था जिसका प्रभाव राजनैतिक विचारों के क्षेत्र में बहुत दिनों तक चलता रहा। उसके निष्कर्षों में क्रान्ति का कोई सुझाव नहीं मिलता। वह प्रशासन के गुण-दोषों का विवेचन करता है। वह राजनैतिक अतिवादों से घृणा करता है। वह इंग्लैण्ड में कुलीनतंत्र और लोकतन्त्र के सर्वोत्तम गुणों के सामंजस्य को मान कर उसी का पक्ष लेता है। उसकी मृत्यु के पश्चात् निरंकुशता से संघर्ष करने के लिए जितने प्रयत्न किये गये, उनमें उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। अमेरिका के संविधान-लेखन पर मांतेस्क्यू के विचारों का काफी प्रभाव पड़ा था।

वाल्तेयर (Voltaire, 1694-1778 A.D.)—प्रचलित विश्वासों और संस्थाओं के आलोचकों में वाल्तेयर का नाम प्रमुख था। वह इतिहासकार नाटककार, पद्यलेखक, विधिवेत्ता और दार्शनिक था। लोग जो कुछ भी अस्पष्ट रूप से सोचते अथवा अनुभव करते थे, वाल्तेयर ने उसको अपनी लेखनी द्वारा प्रचारित किया। वह उच्च कोटि का व्यंग लेखक था। "उसे लेखन कला का जादूगर कहा गया है।" वह अपनी लेखनी द्वारा सागर को गागर में भर देता था। उसने आने वाली शताब्दी तक के लिये फ्रांसीसियों को कई लोकोक्तियां प्रदान की। उसमें कोई निश्चित मौलिकता नहीं थी। अपने विषय को विशिष्ट शैली में प्रस्तुत करने में उसको कमाल हासिल था। अपने युग के विचारक जगत का वह सच्चा प्रतिबिम्ब था। उसकी ख्याति फ्रांस के बाहर भी फैल चुकी थी। प्रशा का फ्रैड्रिक महान् उसके विचारों से प्रभावित था।

वह राजतन्त्र का प्रबल समर्थक था परन्तु वह चाहता था कि राजा स्वतन्त्रता के पौधे की सुरक्षा करे तथा लोगों की दशा सुधारने के लिए बुद्धिमत्तापूर्ण सुधार करे। उसने धर्म, प्राचीन शासन-व्यवस्था तथा निरंकुशता से जेलों में बन्द करने का विरोध किया। उसका विचार था कि चर्च अंधविश्वास, अज्ञानता तथा असहिष्णुता का गढ़ और स्वतन्त्रता का कट्टर शत्रु है। फिर भी वह नास्तिक न था। वह कहता था कि 'यदि ईश्वर नहीं है तो भी उसका निर्माण करना आवश्यक हो जायेगा।' उसने पुरानी शासन-व्यवस्था के राजनैतिक रूपों पर प्रहार नहीं किया परन्तु सत्ता, परम्परा और रूढ़ी के विचारों पर जिस पर कि वे टिके थे, आक्रमण करके, उसने उसकी नींव को खोखला करना शुरू किया। 1773 ई० में उसने

इंग्लैण्ड और फ्रांस के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी। उसे इसके कारण देश निकाला हुआ। उसकी रचनाओं के कारण उसे बास्टील के दुर्ग में बन्द कर दिया गया था। जिस पादरी ने उसे कब्र में दफनाया था उसे नौकरी से वंचित कर दिया गया था। 12 वर्ष के पश्चात् क्रान्तिकारियों ने उसकी अस्थियों को वहां से निकलवाकर शाही कब्रस्तान में दफनाकर उसका सम्मान किया।

रूसो–(Jean Jacquesa Rousseau 1712-78 A.D.) "मांतेस्क्यू तथा वाल्तेयर ने तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये सुधारों की इच्छा की थी तथा अत्याचार का अन्त चाहा था परन्तु रूसो ने उनके काफी आगे बढ़ कर समाज के सम्पूर्ण परिवर्तन की इच्छा की क्योंकि उसका विचार था कि केवल मुरम्मत करने से कार्य सिद्ध न होगा। गरशाय ने उसे 'क्रान्तिकारियों का पैगम्बर' कहा था। वह जनेवा के एक बदनाम घड़ीसाज का पुत्र था। उसने कई देशों का भ्रमण किया तथा जीवन के कई खुशगवार तथा तलख तजुर्बे हासिल किये। उसे जीवन में कई पापड़ बेलने पड़े जैसे अध्यापन तथा प्राइवेट सेक्रेटरी के रूप में कार्य करना, गोटा बनाने का काम, संगीत, अध्यापन, विश्वकोष के लिए लेख लिखना, नाटक तथा उपन्यास लिखना तथा अपनी नौकरानी से प्रेम आदि। आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसने अपने बच्चे एक अनाथायल में भर्ती करवा दिये थे।

इन्हीं अनुभवों के कारण, उसने लेख लिखे। उसकी पुस्तकों में प्रमुख थीं-'Confesasions', 'Emile' तथा 'Social Contract' सोशिल कांट्रेक्ट अभी तक लिखी गई सभी पुस्तकों में सबसे अधिक प्रभावशाली थी (हेजन)। वह समझता था कि सच्चे ईमानदार मनुष्य का समाज में कोई स्थान नहीं है। 'सोशल कांट्रेक्ट' के आरम्भ में ही वह क्रान्तिकारी शब्द लिखता है "व्यक्ति जन्म से स्वतन्त्र होता है परन्तु प्रत्येक स्थान पर उसे जंजीरों से जकड़ा जाता है" (man is born free but everywhere he is in chains)। जिस समय से मनुष्य को दूसरे व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और उसको यह मालूम हो गया कि एक के बजाये दो व्यक्तियों के लिये व्यवस्था रखना अधिक उपयोगी है तो उसी समय समानता समाप्त हो गई। सम्पत्ति का जन्म हुआ और श्रम अनिवार्य हो गया। विशाल जगत मनुष्य के द्वारा सींचे जाने वाले लहलहाते खेतों में बदल गये। इन्हीं खेतों में दासता और दुःखों ने जड़ें पकड़ीं और अनाज की बालियों के साथ पकती चली गई। कृषि और धातुकर्म ने मनुष्य के पतन को सहायता दी और तर्क-बुद्धि (Reason) और विचार ने पूर्णता को पहुँचा दिया। रूसो कहता है कि हमें उस आदिम काल की ओर लौट चलना होगा जब मनुष्य पहली बार स्वतन्त्र और समान गठबन्धन में जुड़े हुए थे। समस्या उस प्रकार के संघ बनाने की है जो सम्मिलित शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की सुरक्षा का प्रबन्ध करे, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के साथ रहते हुए भी अपनी ही आज्ञा का पालन करना पड़े और व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र बना रहे जितना कि पहले था। इस ढंग से रूसो एक आदर्शवादी राज्य (Ideal State) की कल्पना करता है जो कि प्राचीन शासन पद्धिती से बिल्कुल भिन्न थी। उसने प्रतिनिधि सरकार का खण्डन किया। वह चाहता था कि लोग सीधे अपने कानून आप बनाएं। वह स्वतन्त्रता के स्थान पर समानता पर अधिक बल देता था।

वह निरंकुश शासन का प्रबल विरोधी था। उसके अनुसार जनता ही सर्वोपरि थी। वह चाहता था कि सत्ता जनता के हाथ में हो न कि किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग के हाथ में। सार्वभौम इच्छा जनता की इच्छा में ही होती है। रूसो ने इसी इच्छा के लिये 'सामान्य इच्छा' शब्द का प्रयोग किया। वह चाहता था कि राज्य इसी 'सामान्य इच्छा' के अनुसार कार्य चलाए तथा कानून बनाए परन्तु उस समय राज्य का संचालन केवल एक राजा की इच्छा से ही होता था। अतः इस तरह से राजा ने मूल संविदा का उल्लंघन किया है। क्योंकि जनता से उनके अधिकार छीन लिये गये हैं इसलिये अब समझौता टूट चुका है। समाज के सभी व्यक्तियों ने एक समझौता करके सार्वजनिक हित के लिये एक व्यक्ति को शासन सत्ता सौंपी थी और अब जब कि वह व्यक्ति उस समझौते को भंग कर स्वयं एक स्वेच्छाचारी शासक बन गया था तो वह जनता को कदाचित् भी मंजूर नहीं हो सकता। ऐसे विचारों ने जनता में आग लगा दी। निरंकुश शासन डोलने लगा। रूसो के इस सिद्धांत ने सारे यूरोप में एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। अमेरिका के अधिकारों की घोषणा (American Declaration of Rights) की रचना करने वालों ने रूसो के विचारों से बहुत कुछ उद्धरित किया।

रूसो ने तत्कालीन राजनैतिक जीवन को दो प्रमुख विचार प्रदान किये-

1. जनता की सार्वभौमिकता (Sovereignty of the People)
2. नागरिकों की राजनैतिक समानता (Political Equality of all Citizens)

नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था कि यदि रूसो न होता तो क्रान्ति भी न होती।

अन्य विचारक (**Other Thinkers**)—इन विचारकों के अतिरिक्त प्रकृति-विधानवादियों (Physiocrats) के दल ने उन आर्थिक परिस्थितियों का विवेचन किया जिन पर आर्थिक समृद्धि निर्भर करती थी। इस दल के प्रमुख विचारक थे क्वेसने (Quesanay), गोर्ने (Gournay) तथा तुर्गो (Turgot) आदि अर्थशास्त्री। क्वेसने लुई 15वें का राजवैद्य था। उसने अनेक विद्वानों को आश्रय दिया था। उस ने भूमि को धन का एकमात्र तथा मुख्य साधन मानकर कृषि विकास पर जोर दिया। उसने निष्कर्ष निकाला 'दरिद्र कृषक, दरिद्र राज्य, दरिद्र राजतंत्र।" गोर्ने ने क्वेसने के विचारों का समर्थन किया और स्वतन्त्र व्यापार और आर्थिक उत्पादन के सिद्धान्तों को प्रस्तावित किया। इन विचारकों ने व्यापारियों पर चुंगी-कर लगाने का कड़ा विरोध किया था। तुर्गो ने स्वतन्त्र व्यापारिक नीति (Policy of Laissez Faire) का समर्थक था। जब वह फ्रांस का वित्तमंत्री नियुक्त हुआ तो उसने अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने का यत्न किया था।

वैचारिक क्रान्ति के क्षेत्र में दिदरो (Diderot) का भी महत्वपूर्ण स्थान था। उसनें एक विशाल विश्वकोष (Encyclopaedia) को सम्पादित किया। इस पुस्तक की रचना 1750-60 ई० के बीच हुई। इसमें राजनीति, धर्म, विज्ञान तथा अन्य विषयों पर विद्वानों के आलोचनात्मक लेख संकलित किये गये। इसमें निरकुंश राजतन्त्र चर्च के दोषों, सामन्त प्रथा और समाजिक एवं आर्थिक विषमताओं तथा प्रशासनिक दुर्बलताओं का वर्णन भी था। एक सरकरी आदेश के द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन बन्द करवा दिया गया था और दिदरो को गिरफ्तार कर लिया गया था। परन्तु इसका प्रकाशन न रुका और इसके प्रथम दो भाग हाथों-हाथ बिक गये। प्रतिक्रियावादी लोग विश्वकोष को मानव-समाज और धर्म की जड़ पर कुठाराघात करने वाला मानते थे परन्तु जनता में इसकी लोकप्रियता तथा प्रभाव बढ़ता गया। सरकारी विरोध के बावजूद इस ग्रन्थ के दस भागों को पूर्ण करने में दिदरो सफल हुआ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में डी एलम्बर्ट (D Alembert) ने भी योगदान दिया था।

पोस्टरों का महत्व (**Importance of Posters**)—यद्यपि उस समय तक समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ नहीं हुआ था तथापि छोटी-छोटी पुस्तकाएं, तथा पोस्टर छपने लगे थे। इन को पढ़ कर लोग इस पर वाद-विवाद करने लगे थे। इस से आम जनता में राजनैतिक चेतना आई।

रंग-मंच के माध्यम से क्रान्ति का प्रचार (**Theatre inspired Revolution**—कई बार क्रान्ति के विचारों के प्रचार के लिये रंग-मंच को भी प्रयुक्त किया जाता था। 1784 ई. में एक ऐसा नाटक खेला गया था जिसके सम्बन्ध में नेपोलियन ने कहा था कि क्रान्ति अपना कार्य कर रही है। यह नाटक 'ब्यूमारकेस' का 'मैरेज डी फिगारों' अथवा 'फिगारो का विवाह' था। ऐसे कई नाटक इस काल में अभिनीत किये गये जिनके द्वारा जनता में जागृति आई।

दो विभिन्न विचार (**Two opposite Views**)— दार्शनिकों की क्रान्ति लाने में महत्ता पर दो विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रथम विचार के अनुसार क्रान्ति के लिये पूरा श्रेय दार्शनिकों, लेखको, तथा बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों को मिलना चाहिए। नेपोलियन का कथन था "यदि रूसो न हुआ होता तो फ्रांसीसी क्रान्ति सम्भव न होती" **"Without Rousseau there would have been no Revolution".**

पुरातन व्यवस्था; भेद-पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों; गला-सड़ा प्रशासन; मध्य युगीन सामन्तवाद की प्रणाली बूर्बो वंश के विवेकहीन शासक; राजा, कुलीनों तथा पादरियों का विलासतापूर्वक जीवन आदि तो सैंकड़ों वर्षों से चले आ रहे थे, परन्तु क्रान्ति तो पहले न हुई। यह फ्रांसीसी लेखक व दार्शनिक ही थे जिन्होंने अपनी लेखनी के बल से लोगों को इन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों के प्रति जागरूक किया। रूसो को पढ़ कर वे लोक सत्ता के बारे में सोचने लगे; मान्तेस्क्यू को पढ़ कर शक्तियों की स्वतन्त्रता (Separation of Powers) को जानने लगे, वाल्तेयर ने पादरियों की विलासिता, पुरातन प्रशासन, न्याय व्यवस्था तथा बिना दोष के जेल भेज देने के दोषों को लोगों के समक्ष रख दिया तथा दिदरो को पढ़ कर जनता के मन में फ्रांसीसी निरंकुशता, राजा के दैवी अधिकारों तथा अधिकार-युक्त वर्ग के प्रति घृणा की भावना भर गई। इसी कारण दार्शनिकों की भावना ही क्रान्ति की आत्मा बन गई (The spirit of the philosophers was the spirit of the Revolution)। मैलट (Mallet) ने भी इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा है, "इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा बोये गये बीज उपजाऊ धरती पर पड़े.....मानव की जन्मजात महानता और उस समय के समाज के प्रति घोर घृणा उस युग के विचारों में ओत-प्रोत थी..... विचारक और वक्ता दोनों ही कल्पना, उत्सुकता, निःस्वार्थपरता

और असीम आशा से भरे हुए थे।" क्रोपटकिन (Kroptkin) के अनुसार, "विचारकों ने निस्संदेह कम से कम मनुष्यों के दिमागों में, पुराने शासन के पतन की भूमिका तैयार कर दी थी।

द्वितीय विचार इस से सर्वथा भिन्न है। प्रो. हेज़न तथा टामसन का विचार है कि क्रान्ति लाने में दार्शनिकों ने कोई विशेष रोल अदा नहीं किया। टामसन लिखता है, "फ्रांस के दार्शनिकों और 1789 ई. की क्रान्ति के बीच बड़ी दूरी का और परोक्ष का सम्बन्ध था। उन्होंने क्रान्ति का उपदेश नहीं दिया।..... 1789 ई. में फ्रांस की जनता को बिना इच्छा के क्रान्तिकारी बना देने के लिये सब से बड़ा कारण उस समय की क्रान्तिपूर्ण परिस्थितियां थी।" हेज़न ने तो स्पष्ट लिखा है, "दार्शनिकों के कारण क्रान्ति नहीं हुई, अपितु राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियों और बुराइयों द्वारा और शासन की गल्तियों द्वारा क्रान्ति हुई थी।" ("The Revolution was not caused by the philosophers, but by conditions and evils of the national life and by the mistakesa of the govt."–**Hazen**)

परन्तु वास्तविकता तो यह है कि क्रान्ति न तो अकेले दार्शनिकों द्वारा ही हुई और न ही केवल राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों के कारण ही। यह तो इन सब का संयुक्त परिणाम था। यह वस्तु-स्थितियों का प्रस्फुटन था परन्तु बौद्धिक जागरण के बिना शायद यह न होती। (The Revolution was the out-come of realitiesa but it cannot be denied that without the enlightenment it could not have arisen) क्रान्ति बौद्धिक जागरण तथा अन्य समस्याओं का सांझा परिणाम था। इन दोनों कारणों में से यदि एक न होता तो शायद इसके घटित होने में देर लग जाती।

लुई 14वां तथा उसके उत्तराधिकरी

फ्रांस की प्राचीन शासन व्यवस्था के उत्थान और पतन की कहानी दो शताब्दियों के काल रूपी आंचल में लिपटी हुई है। 1589 ई. में दृढ निश्चयी, प्रतापी तथा साहसी हेनरी चतुर्थ ने बूर्बों (Bourbon) वंश के साम्राज्य की नींव रखी और 1789 ई० में ठीक दो सौ वर्षों के पश्चात् इस महान् वंश के शासक लुई 16वें के शासन काल में फ्रांस में एक भंयकर क्रान्ति ने इस वंश की लीला समाप्त कर दी। इस काल में फ्रांस विकास की चोटी की ओर बढ़ता गया। वह यूरोप की एक महान् सैनिक तथा राजनैतिक शक्ति बन गया। कला, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में उसने अपूर्व उपलब्धियां प्राप्त कीं। लुई 14वें के शासन काल में फ्रांस उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच चुका था परन्तु इसके साथ ही इसका पतन भी प्रारम्भ हो गया। लुई 15वें के शासनकाल के आरम्भ में बूर्बों वंश की वही स्थिति थी जो कि औरगंजेब की मृत्यु पर भारत में मुगल वंश की थी।

लुई **13**वां (Louis XIII, 1610-1643 ई०)–हेनरी चतुर्थ के उत्तराधिकारी लुई 13वें ने अनेक प्रान्तीय शासकों और सामन्तों पर विजय प्राप्त करके फ्रांस में राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की थी। लुई 13वें ने 1610 ई० से लेकर 1643 ई० तक राज्य किया। उसके प्रमुख मंत्री रिशिल्यू ने सामन्तों की शक्ति का अन्त करके अति-केन्द्रीयकरण की नीति को जन्म दिया।

लुई **14**वां (Louis XIV, 1643-1715 ई०)–लुई 13वें के उत्तराधिकारी लुई 14वें ने लगभग 72 वर्ष तक फ्रांस पर शक्तिशाली ढंग से राज्य किया। उसके काल में राजा की शक्ति और गौरव में और भी वृद्धि हुई। वह सम्भवतया बूर्बो वंश का सबसे प्रसिद्ध एवं शक्तिशाली शासक था। वह बड़ा महत्वकांक्षी था। उसकी यह तीव्र इच्छा थी कि फ्रांस यूरोप की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन जाये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस का अपना विशिष्ट स्थान है। वह फ्रांस को इंग्लैण्ड के मुकाबले में आर्थिक तथा औपनिवेशिक (Colonial) दृष्टि से एक बड़ा राष्ट्र बनाना चाहता था। इसी कारण इंग्लैण्ड से उसकी प्रतिस्पर्धा हो गई जिसके कारण दोनों में कई महाद्वीपीय (Continental) युद्ध भी हुए। इन युद्धों के कारण फ्रांस का सरकारी कोष खाली होने लगा। यहीं पर फ्रांसीसी क्रान्ति के बीज बोये गये। लुई 14वां अपने देश के लिए प्राकृतिक सीमा (Natural borders) का निर्माण करना चाहता था। इसके लिये भी उसे अपने पड़ोसी राज्यों के साथ कई युद्ध करने पड़े। इनका भी फ्रांस के आर्थिक जीवन पर कुप्रभाव पड़ा। मरने से पूर्व लुई 14वें ने अपने उत्तराधिकारी को यह आदेश दिया था- "मेंरे बच्चे, अपने पड़ोसियों के साथ शान्ति से रहना। मेंरी युद्ध के प्रति अनुराग की नीति का अनुकरण न करना।" परन्तु दुर्भाग्यवश लुई 15वें ने उस के आदेश का पालन नहीं किया और युद्धों की नीति पर चलता गया। वास्तव में फ्रांस की प्राचीन शासन-व्यवस्था के दोषों की नींव लुई 14वें ने ही रखी थी। उसके काल में अतिकेन्द्रीकरण की नीति का पालन किया गया। उसने यह कह

कर "में ही राज्य हूं", निरंकुशता को बढ़ावा दिया। वह राजा के दैवी अधिकारों का प्रबल समर्थक था। 1614 ई. के पश्चात् फ्रांस की केन्द्रीय संसद् (Esatatesa General) का कोई अधिवेशन नहीं हुआ था। अतः राजा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली फ्रांस में कोई संस्था न थी। जार्ज र्यूड का मत है "लुई 14वें ने वर्साय के स्थान पर सारी शक्ति को केन्द्रित कर दिया था। पुराने सामन्तों की राजनैतिक सत्ता उनसे छीन ली गई थी। वे राजदरबार में सज धज के साथ प्रस्तुत होते थे। केवल राजा से ही प्रशासन, न्याय तथा चर्च के उच्चपदों की पदोन्नति का कार्य संचालित होता था"। अतः उस दोषपूर्ण शासन-प्रणाली जिसके कारण क्रान्ति हुई, के बीज लुई 14वें ने ही बोये थे।

लुई **15**वां (Louis XV, 1715-74 ई०)—लुई 14वें का प्रपोत्र लुई 15वां 1715ई. में फ्रास की गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी आयु केवल 5 वर्ष थी। उसकी पालना लाड-प्यार और भोग-विलास के वातावरण में हुई। इसी बीच कुलीन वर्ग शासन कार्यों में महत्वपूर्ण बन गया। लुई 15वां अपना अधिकांश समय शिकार खेलने और राजमहलों की विलासिता में लगाता था। इससे प्रशासन के कार्य की ओर ध्यान न दिया जा सका। परिणामस्वरूप शासन-प्रबन्ध कमजोर, निकम्मा तथा दोषपूर्ण बन गया। उसने अपने पूर्वज लुई 14वें की युद्ध की नीति को जारी न रखने की सलाह न मानी। उसने सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस को झोक दिया। इस का भी फ्रांसीसी खजाने पर बुरा प्रभाव पड़ा। जब उसकी मृत्यु हुई तो ऐसा लगता था कि क्रान्ति के बीज बोये जा चुके हैं तथा बूर्बों वंश की शान एवं सम्मान का सूर्य अस्त होने जा रहा था। मृत्यु से पूर्व वह अपने उत्तराधिकारी के लिये सैनिक पराजय की विरासत, अधिक उलझनें, खाली कोष, प्रशासनिक अयोग्यता, पार्लियामेंण्ट **(Parliament)** का विरोध, तथा प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध शक्तिशाली बौद्धिक जागरण छोड़ गया।

लुई **16**वां (Louis XVI 1774-92 ई०)—राजगद्दी पर बैठते समय लुई 16वें की आयु 20 वर्ष थी। वह अयोग्य, अपरिपक्व, अनुभवहीन, डरपोक, अस्थिर प्रकृति, मूर्ख तथा शर्मीला था। वह शिकार खेलने तथा आमोद-प्रमोद में मस्त रहता था। वह अपनी रानी दरबारियों, कुलीनों तथा कृपापात्रों के दबाव के नीचे आकर अपने सही फैसलों को बदल देता था। कोई भी उस पर विश्वास न करता था क्योंकि वह अपनी इच्छा का स्वयं मालिक न था। "घटनाओं को दिशा देने की बजाए, वह स्वयं धारा के साथ बह जाता था।" इतिहासकारों का यह मत है कि यदि लुई चतुर तथा दृढ़-निश्चयी होता तो 1789 ई. की क्रान्ति को टाला जा सकता था। क्रान्ति के आगमन को रोकने की बजाय, कुछ बड़ी भूलें करके, उसने क्रान्ति को शीघ्र लाने में ही भाग अदा किया। वह लाचार खड़ा क्रान्ति को देखता रहा। हालांकि वह फ्रांस के प्रशासन में कई उपयोगी सुधार लाकर लोगों की दशा को सुधारना चाहता था परन्तु दृढ निश्चय और निर्भयता से वह अपनी योजनाओं को कार्यरूप न दे सका। जब फ्रांस की आर्थिक स्थिति डावांडोल थी तो उसने देश को बड़े युद्धों-आस्ट्रिया तथा पोलैण्ड के उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्धों तथा अमेरिका के स्वतन्त्रता सग्राम में धकेल दिया। सिंहासन पर बैठते ही उसने कहा था, "ऐसा लगता है जैसे विश्व मुझ पर गिर रहा है।" वास्तव में स्थिति ऐसी ही थी। इस भार को उठाने के स्थान पर वह उसके नीचे दब गया।

मेंरी ऐन्त्वायनेत (Marie Antoinette, 1755-93 ई०)—लुई 16वें की रानी मेंरी ऐन्त्वायनेत आस्ट्रिया की शासक मेंरिया थेरेसा (Maria Theresaa) की पुत्री थी। फ्रांस और आस्ट्रिया की पारम्परिक शत्रुता थी। इसलिये मेंरी ऐन्त्वायनेत फ्रांस के लोगों में कभी लोकप्रिय न हुई। वह फिजूलखर्च, घमण्डी, स्वेच्छाचारी, जल्दबाज तथा लुई की तरह अनुभवहीन थी। राजा उसकी सुन्दरता पर लट्टू था और उसके इशारों पर नाचता था। मिराबों (Mirabeau) का कथन है, "राजा के इर्द-गिर्द केवल एक ही पुरुष है और वह है उसकी स्त्री।" राजा के साथ उसका स्नेह नहीं था। वह उसके भारी तथा आलसी शरीर से घृणा करती थी। कई वर्षों तक उनके यहां कोई सन्तान न हुई। इससे भी राजा की बदनामी हुई। वह कुलीनों तथा अपने कृपापात्रों को बहुमूल्य उपहार देती थी और उनके परामर्श मानती थी। इसीलिये जब भी कभी लुई का कोई मन्त्री कोई प्रशासनिक सुधार लाने का प्रयत्न करता और यदि यह सुधार कुलीनों के हित के विरुद्ध होता तो वे रानी को कह कर उस मंत्री की छुट्टी करवा देते। क्रान्ति के समय इन्हीं मित्रों ने उसके साथ विश्वासघात किया था। उसकी फिजूलखर्ची के कारण लोग उसे (Madam Deficit) के घृणित नाम से पुकारते थे। फिशर ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में रानी ऐन्त्वायनेत के क्रान्ति के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व पर लिखा है, "आलोचकों को वह ऐसे सायरिन (खतरे की सूचना देने वाला भोंपू) के समान प्रतीत होती थी, जो कि राज्य रूपी जहाज को चट्टानों की ओर ले जा रहा हो।"

दुर्बल आर्थिक अवस्था

फ्रांस की तत्कालीन आर्थिक अवस्था भी क्रान्ति का एक प्रमुख कारण थी। एक कथन के अनुसार आर्थिक कारण क्रान्ति की जड़ थे। आर्थिक कारण के द्वारा क्रान्ति शीघ्र गति से घटित हुई। उस गाड़ी को जो विचारों से युक्त थी, वित्त अथवा आर्थिक व्यवस्था ने आग लगा दी। लुई 16वें के राजसिंहासन पर बैठने से पूर्व ही राजकीय कोष खाली हो चुका था। राष्ट्रीय ऋण इतना बढ़ चुका था कि राजकीय आय का आधा भाग तो इस ऋण का ब्याज चुकाने में ही लग जाता था। आय का 3/4 भाग ऋण चुकाने तथा राष्ट्रीय सुरक्षा पर व्यय हो जाता और शेष नागरिक शासन प्रबन्ध और शाही खर्च में नष्ट हो जाता। लोक भलाई के कार्यों की ओर न तो किसी का ध्यान ही था और न ही उसके लिये धन बचता था। इस सारी दुर्बलता आर्थिक व्यवस्था का कारण था- टैक्स लगाने की दोषपूर्ण नीति, आय-व्यय का ब्योरा (Budget) न बनाया जाना, शाही ऐश्वर्य पर धन पानी की तरह से बहाया जाना और फ्रांस का व्यर्थ के युद्धों में भाग लेना। लुई के समय की अर्थ व्यवस्था के निम्नलिखित दोष थे :-

(i) महाद्वीपीय युद्ध—फ्रांसीसी शासक राज्य विस्तार और साम्राज्यवाद की नीति के प्रबल समर्थक थे। इसलिये उन्होंने कई बार फ्रांस को महाद्वीपीय युद्धों (Continental Wars) में धकेला। इससे एक तो जान और माल की हानि होती थी और दूसरे ओर खजाने पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था।

(ii) भोग विलासी राज परिवार—लुई 14वें तथा उसके उत्तराधिकारी भोग विलासी थे। लुई 14वें ने यूरोप में सबसे बढ़ कर भव्य भवन तथा राजमहल बनाए। इनकी देखरेख, सजावट तथा मुरम्मत पर प्रत्येक वर्ष लाखों उठते थे। लुई 15वें ने महलों और रखैलों पर लाखों रुपये लुटा दिये। लुई 16वें के समय में जबकि राज्य का दीवाला निकल चुका था, शाही घरेलू खर्च में कोई कमी न हुई। खजाना खाली था, तब भी उसने इंग्लैण्ड से सप्तवर्षीय युद्ध की हार का बदला लेने के लिये, अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्रामियों की सहायता के लिये सैनिक तथा अस्त्र-शस्त्र भेजे।

(iii) कृषि, उद्योग तथा व्यापार—व्यापार, अर्थव्यवस्था कृषि उत्पादन और उद्योगों के विकास के लिये किसी बूर्बों शासक ने कुछ विशेष नहीं किया। देश के भीतर स्थान-स्थान पर प्रान्तीय अथवा स्थानीय चुंगीघर बने हुए थे। इसके कारण व्यापार का प्रसार असम्भव था। नगरों में शिल्पियों की श्रेणियों (Guilds) के कठोर पारम्परिक नियमों के कारण घरेलू उद्योगों तथा बड़े उद्योगों को प्रोत्साहन न मिल पाता था। कृषि उत्पादन में कोई वृद्धि न हो पा रही थी-इसका एक कारण तो यह था कि निर्धन किसान जमींदारों और उनके मुनीमों के अत्याचारों तथा सरकार की किसान विरोधी नीतियों के कारण कृषि उत्पादन में कोई विशेष रुचि न लेते थे। उधर जमींदार अपनी जमीनों से सैकड़ों मील दूर पेरिस अथवा वर्साय में अपने किले-नुमा महलों में विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। कृषि उत्पादन के पुराने ढंग ही अभी तक फ्रांस में प्रचलित थे। अधिक अन्न उपजाने के नये बीज, वैज्ञानिक ढंग से फसलों को बदल-बदल कर बोना (Scientific Rotation of Crops), खादों का प्रयोग तथा सिंचाई के लिये नये कृत्रिम साधन जुटा पाने-इनमें से फ्रांस के कृषि क्षेत्र में कुछ भी तो न था। ऐसी स्थिति में देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध पड़ा था।

(iv) कर व्यवस्था—फ्रांस की कर व्यवस्था (Taxation Policy) असमानता तथा पक्षपात के सिद्धान्त पर आधारित थी। सभी नागरिकों पर समानतापूर्वक टैक्स नहीं लगाए जाते थे। इससे जन-साधारण दुःखी तथा असंतुष्ट था। कुलीन 'जो लड़ते थे', पादरी 'जो प्रार्थना करते थे' बहुत कम कर देते थे। करों का अधिकतर बोझ गरीब किसानों पर पड़ता था। इस दृष्टि से यह बड़ी विचित्र बात थी कि जो लोग धनवान और कर देने के लिये समर्थ थे उन्हें तो विशेष सुविधाओं के कारण टैक्सों में छूट थी परन्तु जो निर्धन और शोषित लोग टैक्स देने में असमर्थ थे, उन्हीं से कर वसूल किये जाते थे। सभी राजकीय तथा सामंतीय कर देने के पश्चात् एक कृषक के पास उसकी आय का केवल 20 प्रतिशत भाग शेष रह जाता था। गरशॉय का मत है "टैक्स असमान रूप से लगाये जाते थे। अधिकार-युक्त श्रेणियों को टैक्सों से छूट थी। इनका सारा भार किसानों को ढोना पड़ता था। टैक्स इकट्ठा करने का सही ढंग तो असहनीय तथा निर्दयतापूर्ण था।"

(v) कर वसूली—कर वसूल करने की प्रणाली बड़ी खर्चीली, भ्रष्ट और अन्यायपूर्ण थी। अधिकारी अथवा ठेकेदार जितना कर वसूल करते थे, उसका कुछ भाग ही राजकीय कोष में जमा करवाया जाता था। एक तो वे जनता से निर्धारित कर प्राप्त कर लेते थे और दूसरे वे जनता पर अत्याचार करते थे इस प्रणाली से जनता दुःखी थी और सरकार को भी कोई लाभ न हो रहा था।

(vi) विभिन्न कर—फ्रांस में कर की दरें भिन्न-भिन्न थीं। लोगों को दो प्रकार के टैक्स देने पड़ते थे-प्रत्यक्ष कर तथा अप्रत्यक्ष कर। टैले (Taille) , केपिटेशन (Capitation) तथा विनतायमेंस (Vingtiemesa) आदि प्रत्यक्ष कर थे। टैले भूमि-कर तथा विनतायमेंस आय कर के रूप में एकत्रित किया जाता था। केपीटेशन सम्पत्ति कर था। इन दोनों करों का भार भी साधारण मनुष्य पर पड़ता था। इसके अतिरिक्त कोर्वी (Corvee) भी प्रत्यक्ष कर था जो शारीरिक परिश्रम अथवा बेगार के रूप में वसूल किया जाता था। इसके लिये प्रत्येक कृषक को सड़क निर्माण अथवा मुरम्मत, पुल निर्माण, फसल आदि काटना पड़ता था। अप्रत्यक्ष कर राज्य द्वारा वसूल नहीं किये जाते थे। अप्रत्यक्ष कर पद्धति और भी अधिक अन्यायपूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण थी। ये कर गैर सरकारी लोग एकत्रित करते थे। वे सब सम्पत्ति बटोर लेते थे। अप्रत्यक्ष करों में प्रमुख थे-गैबेल (Gabelle) अथवा नमक कर, एक्साईज कर (Excise aidesa), चुंगी कर (Traitesa and Douanesa), तम्बाकू पर सरकार का अधिकार नियन्त्रण तथा सरकारी भूमि से आय आदि। नमक कर जनता को बहुत चुभता था। चोरी-छिपे कई व्यक्ति नमक एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में ले जाते थे। नमक-कर इकट्ठा करने वालों ने घर-घर जाकर तलाशियां लीं। हजारों दोषियों को कठोर दण्ड दिये गये। कई लोगों को तो फांसी पर भी लटका दिया गया। ऐसा सरकारी विवरण भी प्राप्त होता है कि नमक कर का उल्लघंन करने पर लगभग 4,000 लोग घरों में बन्द होते थे, 34,000 जेलो में बन्द किये जाते और 500 को देश-निर्वासन, फांसी या कोड़े मारने की सजा दी जाती थी। इस टैक्स के कारण नमक की कीमत 10 गुणा बढ़ जाती थी।

(vii) बजट का अभाव—फ्रांस की अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा दोष यह भी था कि सरकारी आय और व्यय का कोई वार्षिक विवरण (Yearly Financial Statement or Annual Budget) तैयार नहीं किया जाता था। इससे आर्थिक व्यवस्था पूर्णरूप से अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। चादर देख कर पांव नहीं पसारे जाते थे और न ही व्यय कियी योजनाबद्ध ढंग से हो पाता था।

(viii) सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों में सीमित—फ्रांस की धन सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियों में सीमित थी। कुलीन तथा पादरी सारे फ्रांस की धन सम्पत्ति के 40 प्रतिशत भाग के स्वामी थे परन्तु उन्हें टैक्सों से छूट प्राप्त थी। वे राष्ट्र के आर्थिक जीवन में कोई भाग न अदा कर सकते थे। जब कुछ वित्तमंत्रियों ने टैक्सों के लिए उनकी जेबों में हाथ लगाने का यत्न किया तो उन्होंने राजा और रानी को कहकर उन मंत्रियों की छुट्टी करवा दी। फ्रांस में आर्थिक असमानता के सम्बन्ध में यह कहावत बड़ी प्रसिद्ध थी कि फ्रांस की जनसंख्या का 9/10 भाग भूख से मर जाता था और 1/10 भाग बदहज़मी से।

इसी दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था के कारण राष्ट्रीय ऋण दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था और राष्ट्रीय आय वहीं की वहीं खड़ी थी। ऋण की सीमा 60 करोड़ डालर पहुंच चुकी थी और प्रतिवर्ष 2.5 करोड़ रुपये का घाटा पड़ता था। ऐसी अवस्था कब तक टिकती ? लोगों में व्याकुलता बढ़ रही थी। महाजन अब राजा को ऋण देने के लिये तैयार न थे। क्योंकि इसको वापस प्राप्त करने की उन्हें कोई आशा न थी। इस बात से फ्रांसीसी राजतन्त्र को बड़ा धक्का लगा। जनता इस बात से क्षुब्ध थी कि एक ओर तो सरकार का दिवाला निकला हुआ था और दूसरी ओर राजमहलों की फिजूलखर्ची बढ रही थी। इस आर्थिक दशा को सुधारने का लुई 16वें ने असफल प्रयत्न किया।

तर्गो (Turgot 1774-76 ई०)—1774 ई. में लुई ने तुर्गो को राजस्व नियंत्रक (Controller of Finance) अथवा वित्तमंत्री नियुक्त किया। तब ही देश में दार्शनिकों और अर्थशास्त्रियों की आशाएं पुनः जागृत हो गईं। उनको ऐसा लगा कि तुर्गो के माध्यम से फ्रांस का कुछ भला होगा। तुर्गो परिवर्तित अर्थव्यवस्था तथा कुशल शासन प्रबन्ध के द्वारा फ्रांस की आर्थिक दशा सुधारना चाहता था। उसकी नीति थी "दिवालियेपन को रोकना, टैक्स न बढ़ाना तथा और ऋण प्राप्त न करना"। इस कार्य की पूर्ति के लिये वह फिजूलखर्ची को रोकना चाहता था और राष्ट्रीय वित्त (Public Wealth) की वृद्धि चाहता था। उसने भीतरी व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों तथा चुंगीकरों को समाप्त करने का यत्न किया। वह जमींदारों, पादरियों तथा सामन्तों पर कर लगाना चाहता था। उसने अनाज व्यापार से सम्बन्धित विधान बनाये। सरकार द्वारा अनाज के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण स्थापित किया गया। परन्तु इस कार्य में उसे विशेष सफलता न मिली क्योंकि देश में अनाज की भारी कमी थी। फिर किसानों से बेगार लेने की प्रथा बन्द करवाई। उसने शिल्पियों के संघों (Guilds) की प्रथा को भी समाप्त किया। वह लैत्र डी काशे (Letters de Cachet) अथवा बिना अभियोग के गिरफ्तारी के वारंट को जारी करने का विरोधी था तथा अधिक स्वायत प्रशासनिक स्वतंत्रता का पक्षपाती था। वह कानूनों के विधिवत् संग्रह करने, नमक कर समाप्त करने, टिथ (Tithe) अथवा चर्चकर, सम्पति कर समाप्त करने तथा व्यापारिक तथा समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था।

परन्तु कुलीनों, पादरियों तथा अधिकार-युक्त वर्ग के अन्य व्यक्तियों ने लुई तथा रानी ऐन्त्वायनेत को कह कर तुर्गो को पद-मुक्त करवा दिया। इस तरह से क्रान्ति को रोकने की ओर बढ़ा हुआ एक कदम अब असफल रहा था।

नेकर (Necker 1776-81 ई०)—तुर्गों के पश्चात् लुई 16वें ने नेकर को अपना वित्तमंत्री नियुक्त किया। वह जनेवा का एक प्रोटेस्टैण्ट साहूकार (Banker) था। वह आर्थिक मामलों में दक्ष था। उसने ज्वलन्त सामाजिक समस्याओं को स्थगित करके राज्य की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में अपना ध्यान लगाया। उसने लुई को यह समझाया कि अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम में इंग्लैण्ड के विरुद्ध भाग लेना आर्थिक रूप से घातक होगा। परन्तु उसका परामर्श न माना गया। वह फ्रांस का प्रथम वित्तमंत्री था जिसने राजकीय आय-व्यय का वार्षिक ब्योरा (Annual Budget) लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। इससे लोगों की आंखे खुल गईं। उनको यह ज्ञान हो गया कि राजमहलों में कितना धन फिजूलखर्ची में नष्ट किया जाता है। नेकर ने राजकीय खर्चों में कटौती की। उदाहरणतया प्रति तीन वर्ष के स्थान पर उसने प्रति सात वर्षों में एक बार राजमहलों के फर्शों को लगाने का क्रम चलवाया। वह स्वयं अपने व्यक्तिगत भत्ते (Personal Allowancesa) नहीं लेता था। उसने कठोर दण्ड कम करवाये तथा उसी के यत्नों से प्रोटैस्टैण्ट (Protesatants) को कई सुविधायें प्राप्त हुईं। परन्तु वह भी स्वार्थी कुलीनों तथा पादरियों के षड्यन्त्रों का शिकार बना। उसे विदेशी कहकर बदनाम किया गया। उसे प्रोस्टैण्ट कह कर विधर्मी कहा गया। उसने लुई को एक आवेदन-पत्र के द्वारा फ्रांस की आर्थिक दशा का कटु एवं सत्य चित्रण प्रस्तुत किया। इस पत्र की 80,000 प्रतियां छपवाकर जनता में बाँटी गईं। इससे जनता में जागृति आई।

कैलोन (Calonne 1783-86 ई०)—नेकर के पश्चात् जोली डी फ्ल्यूरी (Joly de Fleury) तथा डी ओरमेंसन (D' Ormesason) ने फ्रांस के वित्त का संचालन किया। 1783 ई. में कैलोन की वित्तमंत्री के रूप में नियुक्ति हुई। उसने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये ऋणों का सहारा लिया। तीन-चार वर्षों में उसने 300,000,000 डालर का ऋण उठाया। परन्तु अब तो महाजनों ने ऋण देना भी बन्द कर दिया। स्थिति बड़ी नाजुक बन चुकी थी। इस काल में नेकर (Necker) ने एक पुस्तक 'The Administration of the Financesa of France' की रचना की जिसमें उसने फ्रांस की अर्थव्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया। इस पुस्तक की 12,000 प्रतियां हाथों हाथ बिक गईं। नेकर को देश निर्वासन का दण्ड दिया गया। अब कैलोन ने लुई को यह सुझाव दिया कि कुलीनों तथा पादरियों पर अन्य लोगों की भान्ति भूमि कर लगाया जाए। उसने यह परामर्श भी दिया कि अधिकारयुक्त (Privileged) वर्ग के प्रमुख व्यक्तियों की सभा (Assembly of Notablesa) बुलाई जाये तथा उनके आगे नई अर्थ-सुधार योजना प्रस्तुत की जाए।

विशिष्ठ व्यक्तियों की सभा—उसके सुझाव पर 1786 ई. में कुलीन तथा पुरोहित वर्ग के विशिष्ट व्यक्तियों की सभा (Assembly of the Notablesa) बुलाई गई। इसमें कैलोन ने बड़ी निर्भीकता से फ्रांस की शोचनीय आर्थिक अवस्था का वर्णन किया। उसने सभा में उपस्थित लोगों को बताया कि राष्ट्रीय ऋण की मात्रा 24 करोड़ बढ़ गई है। 12 करोड़ रु. का वार्षिक घाटा हो रहा है। इस आर्थिक कमी को अब न कटौती और न ही अधिक ऋण प्राप्त करके पूरा किया जा सकता है। ऋण तो अब उपलब्ध ही नहीं होते थे। अतः एक ही समाधान है कि कुलीन तथा पादरी भी करों का बोझा समान रूप से उठाएं। अधिकार-युक्त वर्ग ने टालमटोल की नीति अपनाई तथा अपने ऊपर लगने वाले करों का विरोध किया। कैलोन को भी मंत्री पद से हटा दिया गया और साथ ही विशिष्ट व्यक्तियों की सभा की बैठक का अन्त कर दिया गया।

विस्फोटक स्थित तथा एस्टेट जनरल के अधिवेशन को बुलाया जाना—कैलोन के पश्चात ब्रियेन (Brienne) को वित्तमंत्री का पद सौंपा गया। राजा ने दो नये टैक्स लगाने चाहे। पेरिस के न्यायालय (Paris Parlement) ने इन करों को लगाने की अनुमति नहीं दी और साथ में यह उद्घोषणा की कि एस्टैट्स जनरल की स्वीकृति के बिना कोई नया टैक्स नहीं लगाया जा सकता। राजा क्रोधित हो उठा। उसने पेरिस की पार्लेमां को भंग करने का असफल प्रयास किया। उसके आदेश का विरोध हुआ। देश के विभिन्न भागों से एस्टेटस जनरल (Esatatesa General) के अधिवेशन की मांग उठने लगी। अन्त में आर्थिक विपत्तियों से घिरा होने के कारण लाचार लुई 16वें को जनता की मांग के आगे झुक कर एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन मई, 1789 ई. में बुलाना ही पड़ा। यही से क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। नेकर को फ्रांस की आर्थिक बागडोर फिर से संभालने के लिए पुनः आमन्त्रित किया गया। एस्टेट्स जनरल की मांग पर पेरिस पार्लेमां के एक कुलीन सदस्य ने लिखा था, "श्रीमान् यह बच्चों का खेल नहीं, पहली बार जब फ्रांस एस्टेट्स जनरल देखेगा तो वह एक भंयकर क्रान्ति भी देखेगा।"

अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम

आर्थिक एवं राजनैतिक प्रतिस्पर्धा के कारण फ्रांस तथा इंग्लैण्ड में 18वीं शताब्दी में शत्रुता रही। इनके मध्य कई युद्ध हुए जिनके परिणामस्वरूप फ्रांस को अपने अधिकांश औपनिवेशिक साम्राज्य तथा भारत स्थित अपनी बस्तियों से हाथ धोना पड़ा। सप्तवर्षीय युद्ध के घाव अभी हरे थे कि 1774 ई. में अमेरिका निवासियों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध संग्राम छेड दिया। फ्रांस को अपनी पराजयों का बदला लेने का इससे अच्छा अवसर नहीं मिल सकता था। लुई 16वें ने अपनी आर्थिक कठिनाईयों की परवाह न करते हुए लाफायते (Lafayette) के अधीन सैनिक स्वयं-सेवक अमेंरिकन की सहायता के लिए भेजे। फ्रांस की सैनिक सहायता अमेंरिकन के लिए निर्णायक सिद्ध हुई। अमेंरिकन स्वतन्त्रता संग्राम ने जहां एक देश को स्वतन्त्रता प्रदान की, वहां एक अन्य देश (फ्रांस) में एक नवीन राजनैतिक चेतना उत्पन्न की, जो वहां की क्रान्ति का एक प्रमुख कारण बनी।इस महत्वपूर्ण घटना के निम्नलिखित प्रभाव फ्रांस पर पड़े-

(i) लाफायते (Lafayette) तथा उसके साथी सैनिकों ने अमेंरिकन क्रान्ति से यह सीखा कि "विद्रोह करना पवित्र कर्तव्य है।"

(ii) दूसरी बात फ्रांसीसी सैनिकों ने यह सीखी "राजनैतिक सत्ता उन्हीं से प्राप्त होती है जिन पर इसे थोपा जाता है तथा यह सत्ता उन लोगों की इच्छा पर निर्भर करती है। इस तरह से न बनी हुई सरकार गैरकानूनी तथा गलत है।" दूसरे शब्दों में जनता ही वास्तविक सार्वभौमिक सत्ता की स्वामिनी है, न राजा अथवा शासक।

(iii) फ्रांसीसियों ने अमेंरिकन लोगों के इस विचार को भी ग्रहण किया कि 'सरकार का मुख्य उद्देश्य है कि स्वतन्त्रता, (Liberty), न कि प्रसन्नता अथवा खुशहाली अथवा सत्ता अथवा ऐतिहासिक विरासत की सुरक्षा अथवा बौद्धिक विकास अथवा सत्यगुण की वृद्धि।

(iv) अमेरिका से वापिस लौटने वाले फ्रांसीसी सिपाहियों ने यह अनुभव किया कि यदि वे एक पराधीन जाति को अंग्रेजों के शासन एवं शोषण से मुक्त करवा सकते हैं तो क्या वे स्वयं प्राचीन शासन व्यवस्था (Ancient Regime) से आप खुद मुक्त नहीं हो सकते। वे अपने साथ स्वतन्त्रता की भावना और क्रान्तिकारी विचारधारा लेकर लौटे और इसी विचारधारा को उन्होंने अपने गांवों में पहुंच कर आम जनता तक फैला दिया। आर्थर यंग (Arthur Young) ने ठीक ही लिखा था कि यदि सरकार ने ध्यान न दिया तो अमेंरिकन क्रान्ति फ्रांस में एक अन्य क्रान्ति को जन्म देगी।

इंग्लिश शासन पद्धति एवं विचारों का प्रभाव

इंगलिश चैनल (English Channel) के दूसरी ओर इंग्लैण्ड में एक व्यवस्थित तथा उन्नत सरकार कार्य चला रही थी। सारा प्रशासन संवैधानिक नियमों के आधार पर चलता था। जार्ज तृतीय की अपना व्यक्तिगत शासन (Personal Rule) स्थापित करने की कोशिश असफल रही थी। इस असफलता के कारण इंग्लैण्ड में उत्तरदायी मन्त्रिमंडल (Resaponsible Cabinet) की व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित हो गई थी। वहां पर सरकार का कार्य द्विसदानात्मक विधान मण्डल द्वारा संचालित होता था। राजा के अधिकार सीमित थे। संसद की सर्वोच्चता पर किसी को संशय न था। नागरिकों को वयक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ऐसे विचारों से पड़ोसी कैसे अछूते रह सकते थे? जो फ्रांसीसी इंग्लैण्ड जाते थे, वे वहां की व्यवस्था का अपने देश की पुरानी शासन प्रणाली (Ancient Regime) से मुकाबला करके हीन भावना को अनुभव करते थे। फ्रांस के कई विचाराकों ने इंगलिश व्यवस्था और विचारों से प्रभावित होकर अपनी रचनाओं द्वारा इन गुणों की प्रशंसा की तथा फ्रांसीसी जनता को राजनैतिक जागृति का मार्ग दर्शाया। इस कारण भी फ्रांस में क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित हुई।

इसी काल में आयरलैण्ड (Ireland) निवासी अंग्रेजों से अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। उन्होंने यत्न करके 1779 ई. तथा 1782 ई. में कई अधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त कीं। इससे भी फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों को प्रेरणा मिली।

भंयकर अकाल

भाग्य और प्रकृति भी लुई 16वें के पक्ष में न थी। 1788 ई. में फसलो के नष्ट हो जाने से फ्रांस में एक भयंकर अकाल पड़ गया। लोगों को भुखमरी और बेकारी की विपत्तियों का सामना करना पड़ा। सैंकड़ों-हजारों व्यक्ति इस भयंकर अकाल की भेंट चढ़ गये। दूसरी ओर महलों में राजसी ठाठ का जीवन व्यतीत किया जा रहा था। पादरी तथा कुलीन ऐश्वर्यपूर्ण जीवन की मौज में डूबे हुए थे। इस भुखमरी से तंग आकर ही पेरिस की महिलाओं ने वर्साय (Versaillesa) के राजमहलों की ओर प्रस्थान किया। वे राजा तथा उसके परिवार को घसीटते हुए पेरिस ले आए। यह क्रान्ति का प्रारम्भ था।

पेरिस का महत्व

फ्रांस की राजधानी पेरिस के लोगों ने फ्रांस में क्रान्ति लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की। पेरिस का नगर विभिन्न प्रकार के लोगों से भरा पड़ा था। इसमें उच्च पादरी, उच्च कुलीन, उच्च मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, मजदूर, शिल्पी, गरीब, बेकार, प्रतिक्रियावादी तथा क्रान्तिकारी, चोर-उच्चके आदि विभिन्न वर्गों के लोग विद्यमान थे। वे फ्रांस की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराईयों के प्रति जागरूक थे। जब एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन आरम्भ हुआ तो ये सभी तत्व राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त करने के लिये संघर्ष में कूद पड़े और इस तरह क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। क्रान्ति के आरम्भिक काल में पेरिस की भीड़ ही इसका संचालन कर रही थी।

निष्कर्ष—उपरोक्त विस्तृत वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि फ्रांस में 1786 ई. में जो क्रान्ति हुई वह किसी एक कारण का परिणाम न थी, उसके लिए न तो अकेली पुरातन शासन व्यवस्था, न अकेला भेदपूर्ण सामाजिक ढांचा, न आर्थिक दिवालियापन और न केवल लुई 16वें की अयोग्यता एवं बौद्धिक जागरण ही उत्तरदायी थे। वास्तव में यह महान क्रान्ति इन सभी कारणों का संयुक्त परिणाम थी। शातोब्रिया का कथन सत्य प्रतीत होता है :-

"फ्रांसीसी क्रान्ति बौद्धिक आन्दोलन एवं भौतिक दुःखों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई थी। बौद्धिक आन्दोलन ने ही भौतिक दुःखों का अधिक भयानक रूप से विरोध किया था। क्रान्ति लाने में पेरिस के लोगों तथा मध्यवर्ग ने विशेष कार्य किया।

फ्रांसीसी क्रान्ति की प्रगति (1789-99 ई०)

फ्रांस में 1789 ई० में जिस क्रान्ति की लहर उठी, वह एक युग के अन्त और दूसरे युग के उदय की सूचक थी। इस के तीन प्रमुख उद्घोषों-स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality), तथा भ्रातृत्व (Fraternity) से सम्पूर्ण यूरोप का वातावरण गूंज उठा। फ्रांस में इस क्रान्ति ने स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के स्थान पर लोकतन्त्र तथा सामाजिक असमानता (Class distinction) के स्थान पर सामाजिक समानता को जन्म दिया। "अगर उदारता से देखा जाये तो यह एक सम्पूर्ण यूरोपीय आन्दोलन था जो फ्रांस में आरम्भ हुआ तथा नेपोलियन के काल में यूरोप में फैल गया तथा इसने पुरातन व्यवस्था (Old Regime) की जडें हिला दीं।" 19वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों तथा प्रेरणा ने यूरोप की राजनीति को प्रभावित किया। इस क्रान्ति की सबसे बड़ी ऐतिहासिक विशेषता यह थी कि इसने विश्व क्रान्ति के विचार को जन्म दिया। इसके पश्चात् यूरोप के अन्य देशों में भी पुरातन व्यवस्था तथा राजतन्त्र के विरुद्ध जनता ने संघर्ष प्रारम्भ किये। स्वाभाविक ही था कि अन्य देशों के निरंकुश शासकों को अपने ताज एवं राजसिंहासन हवा में उड़ते दिखाई दिये। वे क्रान्ति के विरोधी हो गये। यहीं से क्रान्तिकारी फ्रांस के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी युद्ध आरम्भ हुए। फ्रांस को लगभग 23 वर्षों तक इन युद्धों का सामना करना पड़ा परन्तु क्रान्ति की जो चिंगारी 1789 ई. में फूट पड़ी थी, उसको बुझाया न जा सका।

ऐस्टेट्स जनरल का अधिवेशन (5 मई, 1789 ई०)

जब लुई 16वें की आर्थिक परिस्थियों का तुर्गो, नेकर, केलोन तथा ब्रियेन कोई समाधान न कर सके, और जब धिकारयुक्त (Privileged) वर्ग के विशिष्ठ व्यक्तियों की सभा ने अपने ऊपर कोई भी नये कर लगाने का विरोध किया और जब पेरिस की पार्लेमां के सदस्यों ने राजा द्वारा लगाए गये दो नये करों को स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया तथा जब राजा ने इस पार्लेमा को भंग करने का असफल प्रयास किया, जब इस पार्लेमां, अन्य प्रान्तीय पार्लेमां, पेरिस के लोगों तथा

देश के विभिन्न भागों से एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाने की मांग बल पकड़ने लगी तो लुई 16वें के पास कोई अन्य चारा नहीं रहा था, सिवाय इसके कि वह इस पुरातन संसद् का अधिवेशन बुलाए। उसके कानों में यह स्वर भी पड़ गया था कि जब तक एस्टेट्स जनरल का अधिकार अधिवेशन नहीं बुलाया जाएगा तब लोग किसी प्रकार का टैक्स नहीं देंगे। अन्त में 5 जुलाई, 1788 ई. को लुई को जनमत के आगे झुकना पड़ा। उसने एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन 5 मई, 1789 ई. को बुलाया। इस पुरातन संसद् का अधिवेशन के बुलाये जाने का अर्थ था निरंकुश राजतन्त्र की महान् असफलता। यह अधिवेशन 175 वर्ष पश्चात् बुलाया जा रहा था। यहां तक कि लोग इस की रचना, कार्यविधि तथा अधिकारों के बारे में भूल चुके थे। 5 मई, 1789 ई. को एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन पेरिस में आरम्भ हुआ। फ्रांस में इस संसद की 1302 ई० में स्थापना हुई थी और 1614 ई० के पश्चात् इसका कोई अधिवेशन न हुआ था। इस में तीन सदन थे- पहला सदन (First Esatate), द्वितीय सदन (Second Esatate), तथा तृतीय सदन (Third Esatate)। पहला सदन पादरियों का, दूसरा कुलीनो का तथा तीसरा साधारण वर्ग का था। प्रत्येक सदन में प्रतिनिधियों की संख्या 300 के लगभग थी। जन-साधारण के प्रबुद्ध लोगों (Enlightened Commoners) का यह विचार था कि वे राष्ट्र की बहुसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए उन्हें दो गुणा प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। लुई ने उनकी यह मांग भी स्वीकार कर ली। अधिवेशन के समय पर कुलीनों की संख्या 285, पादरियों की 308, तथा साधारण वर्ग के सदस्यों की संख्या 621 थी। इस तरह जन-साधारण के प्रतिनिधि प्रथम तथा द्वितीय सदनों की कुल संख्या (593) से 28 अधिक थे। इसी कारण तृतीय सदन अधिक शक्तिशाली बन गया। यह क्रान्ति की प्रथम महत्वपूर्ण विजय थी।

मत-निर्णायक प्रणाली—सदनों की कार्यप्रणाली दोषपूर्ण थी। किसी भी विषय पर तीनों सदनों में अलग से विचार होता था। मत निर्णय 'सदन' के आधार पर होता था नकि 'सदस्य' के आधार पर। इस तरह प्रत्येक सदन का एक मत होता था। कुलीन तथा पादरी वर्ग सदैव एक-मत हो जाते थे और अधिकारयुक्त वर्ग के विरुद्ध कोई कानून पास नहीं होने देते थे। इस दृष्टि से साधारण वर्ग को अधिक सदस्य संख्या प्राप्त करने का भी कोई लाभ न था। उनके हाथ में तो एक वोट थी जब कि अधिकार युक्त वर्ग के पास दो। स्वाभाविक ही है कि तृतीय वर्ग ने इस कार्य-प्रणाली के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया। उनकी मांग थी कि तीनों सदन एक ही सदन के रूप में बैठें और प्रत्येक सदस्य की एक वोट गिनी जाए। वे जानते थे कि बिना इस मांग की पूर्ति के फ्रांस में कोई भी सुधार सम्भव नहीं। बड़े मजे की बात थी कि वे न तो राजतन्त्र के विरोधी थे और न ही बूर्बो वंश के। वे तो केवल एक नियमित संविधान की कामना करते थे।

अधिवेशन का आरम्भ—प्रथम मई, 1789 ई० को एस्टेट्स जनरल के प्रतिनिधि पेरिस में जमा होने लगे। 2 मई को उनका स्वागत किया गया। 4 मई को सार्वजनिक सभा हुई तथा 5 मई को विधिवत् अधिवेशन आरम्भ हुआ। सभी प्रतिनिधि अपने-अपने क्षेत्र से शिकायत पत्र (Cahiers) अथवा कॉये लेकर आये थे। इन कॉये की संख्या 60,000 के लगभग थी। उनमें अनेक विषयों का वर्णन था। 1214 सदस्य अपने इलाकों के लोगों के दुःख-दर्दों को प्रस्तुत करने के लिये दृढ़ संकल्प थे। कुछ कॉये तो महत्वहीन शिकायतों की सूची मात्र ही थे जैसे बिल्ली पालने की आज्ञा, बिना पैसे दिये आग जलाने देना, लावारिस कुत्तों को मारना, शराब खुलेआम बेची जाय, विवाह तथा अन्तेष्टि क्रिया के शुल्कों तथा नमक टैक्स में कमी, जलाशय साफ किये जाएं तथा पेरिस में रात्रि के समय अधिक लैम्प जलाए जाएं इत्यादि। परन्तु उन में कुछ अति महत्वपूर्ण मांगें भी थीं जैसे एक नियमित संविधान द्वारा सरकार की शक्तियां कम की जाएं; राजा और नागरिकों की घोषणा की जाए, प्रैस, बोलने तथा लिखने की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो; लैत्र डी काशे (Letters de Cachet) जारी न किये जाएं; जनता पर कर वर्ग-भेद रहित समान रूप से लगाए जाएं, एस्टेट्स जनरल की मीटिगें नियमित रूप से हों; सामन्ती करों का अन्त किया जाए तथा बेगार की प्रथा (Corvee) को समाप्त किया जाये इत्यादि। इन कॉये के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह था कि इन में से किसी एक में भी लुई 16वें के शासन के अंत की मांग न की गई थी। हेयज तथा मून का कथन है "कॉये कहलाने वाले पत्रों के शब्द क्रान्तिकारी न थे तथा हैरानी की बात यह थी कि एकमत से इन में राजा के प्रति वफादारी वर्णित की गई थी परन्तु इन से सरकार और समाज में आधारभूत सुधार करने की भावना प्रकट होती थी।

एस्टेट्स जनरल की कार्यवाही राजा के एक भाषण से शुरू हुई। उसने अपने उद्घाटन भाषण में अपने अधिकारों तथा भावनाओं का वर्णन किया। उसके मंत्री बेरंटिन (Barentin) ने कुछ आशावादी शब्द कहे। नेकर ने फ्रांस की निराशाजनक आर्थिक स्थिति प्रस्तुत की। इसके पश्चात् लुई 16वां, उसके मंत्री, कुलीन तथा पादरी सभा-भवन से बाहर चले गये। सदन में केवल जन-साधारण वर्ग के सदस्य ही शेष रह गये। उनको अपनी मांगें मनवाने के लिये योजना बनाने

का सुअवसर प्राप्त हो गया। कुछ इतिहासकारों का यह विचार है कि यदि इस समय लुई कोई क्रियात्मक कार्यक्रम सदस्यों के सामने रख पाता तो शायद क्रान्ति टल जाती। तृतीय सदन के सदस्य अपनी मांगों पर डट गये। वे तीनों सदनों की संयुक्त बैठक चाहते थे।

राष्ट्रीय सभा का जन्म Birth of the National Assembly, 17 June 1789 ई.—कुछ दिनों तक कुलीनों, पादरियों तथा साधारण वर्ग के लोगों में वार्तालाप तथा गतिरोध चलता रहा। 13 जून, 1789 ई. को तीन पादरी Lecesave, Ballard तथा Jallet तृतीय सदन में आ मिले। इसके अगले दिन 9 अन्य पादरी तृतीय सदन के सदस्यों के साथ मिल गये। अब तो धड़ा-धड अधिकारयुक्त वर्ग के लोग तृतीय सदन (Third Esatate) में सम्मिलित होने लगे। 17 जून 1789 ई. के ऐतिहासिक दिन तृतीय सदन के सदस्यों ने अपने आपको फ्रांस की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था घोषित कर दिया और एस्टेट्स जनरल का नाम 'राष्ट्रीय सभा (National Assembly) रखा तथा शेष रह गये प्रथम तथा द्वितीय सदने के सदस्यों को इस संस्था में शामिल होने के लिये आमंत्रित किया। राष्ट्रीय सभा की घोषणा 91 के मुकाबले पर 491 वोटों के बहुमत से पारित हुई थी। निश्चय ही यह एक क्रान्तिकारी पग था जो कि तृतीय सदन के लोगों ने उठाया था।

टेनिस कोर्ट शपथ

राष्ट्रीय सभा के जन्म की घोषणा तथा पादरियों द्वारा सर्व-साधारण लोगों का साथ देने के समाचार से लुई घबरा गया और कठोर पग उठाने का विचार करने लगा उसने 23 जून को अधिवेशन बुलाया। इस बीच तृतीय सदन के सदस्य अपनी बैठकें करते रहे। 20 जून को उन्होने देखा कि सदन के दरवाजे उनके लिये बन्द थे। वे बाहर खड़े वर्षा में भीगते रहे। अन्त में उन्होंने साथ में पड़ने वाली टेनिस कोर्ट (Tennis Court) की छत के नीचे शरण ली। वहाँ पर बेली (Bailly) के सभापतित्व में उन्होंने यह शपथ ली "जब तक वे फ्रांस के लिए एक संविधान की रचना नहीं कर लेते, तब तक वे अपने आप को भंग नहीं होने देंगे।" इस शपथ ने राजतन्त्र की जड़ों को हिला दिया। पुरातन व्यवस्था का महल टूटने लगा। रूसो के स्वप्न साकार होते दिखाई दिये।

निराश होकर लुई ने 23 जून, 1789 ई. को तीनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलाई। उसने तृतीय सदन (Third Esatate) के कार्यों को संवैधानिक घोषित कर दिया और आदेश दिया कि तीनों सदन अलग-अलग बैठकें करें। इतना कह कर वह फिर से कुलीनों तथा पादरियों के साथ सदन से बाहर चला गया। परन्तु तृतीय सदन अपने निश्चय पर अडिग रहा और अपनी बैठक करता रहा। सदन के अधिकारी ने सदस्यों को सदन छोड़ देने को कहा। इस पर वीर क्रान्तिकारी मिराबो ने कहा, "जाओ, अपने स्वामी से कह दो कि हम यहां पर लोगों की इच्छा से हैं और कि हमें यहां से तलवार की नोक से ही उठाया जा सकता है। मिराबो के प्रस्ताव पर यह भी पास हो गया कि जो भी व्यक्ति इस सदन के किसी व्यक्ति को हाथ लगायेगा वह देशद्रोही होगा और फांसी के दण्ड का अधिकारी होगा।

लुई नतमस्तक—इस दृढ़ निश्चय के आगे लुई 16वें को नतमस्तक होना पड़ा। 27 जून, 1789 ई. को लुई ने तीनों सदनों को मिला कर एक ही सदन बनाने की अनुमति दे दी। इस प्रकार स्वयं राजा द्वारा राष्ट्रीय सभा को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई। यह जनता की एक अति महत्वपूर्ण प्राप्ति थी। राजसत्ता राजा और अधिकार-युक्त वर्ग के हाथ से निकलकर आम जनता की प्रतिनिधि संस्था राष्ट्रीय सभा के हाथ में आ गई। इसके पश्चात् देश में अराजकता फैलने लगी। लोगों ने कर देने बन्द कर दिये। कुलीनों तथा पादरियों के घर लूटे जाने लगे। व्यापार अस्त-व्यस्त हो गया। पेरिस में भूखे और बेकार युवक उत्तेजित हो उठे। परन्तु अभी राष्ट्र सभा का मार्ग कांटो से भरा हुआ था। कुलीनों, पादरियों तथा प्रतिक्रियावादियों की ओर से विरोध अभी समाप्त नहीं हुआ था। कॉम्टे डी आरट्वायस (Comte de Artois) तथा मेंरी ऐन्तवायनेत तथा उसके साथी क्रान्ति के प्रबल विरोधी थे।

बास्तील का पतन, (14 जुलाई 1789 ई०)

राजा ने तृतीय सदन की बात तो मान ली थी परन्तु अन्दर से वह दुखी था। दरबारियों, कृपापात्रों, कुलीनों तथा पादरियों ने राजा को और भी बहका दिया। स्विस (Swiss) और जर्मन सैनिक पेरिस में जनता के प्रतिनिधियों को आतंकित करने के लिये तैनात कर दिये गये। पेरिस के लोग उत्तेजित हो उठे। राजा ने 11 जुलाई, 1789 ई० को नेकर को पुनः मंत्री

पद से मुक्त कर एक और गलती कर दी। नेकर लोगों में लोकप्रिय था। नेकर को यह आदेश भी दिया गया कि वह तत्काल देश छोड़ कर चला जाय। पेरिस के निर्वाचकों ने लाफायते (Lafayette) के अधीन नागरिक सुरक्षा दल (Civil Guards) की स्थापना की। इसी आधार पर तत्पश्चात राष्ट्रीय सुरक्षा दल (National Guards) की स्थापना की। इसी बीच एक तरुण वकील तथा प्रभावशाली पत्रकार कैमाइल देसमौलां (Camile Desamoulin) ने अपने उत्तेजनापूर्ण भाषण से पेरिस के लोगों में आग लगा दी। उसने लोगों को हथियार इकट्ठे करने को कहा। पेरिस की भीड़ ने हथियारों के भण्डारों को लूटना शुरू कर दिया। राजा के फ्रांसीसी सुरक्षा सैनिक तथा अंगरक्षक भी क्रान्तिकारियों के साथ मिल गये। लोगों के मन में यह बात घर कर गई कि एक सफल प्रहार से राजा को चेतावनी मिल जायेगी तथा पेरिस की शक्ति का प्रदर्शन भी हो जायेगा। अकाल के कारण पेरिस के आसपास लोग भूखे मर रहे थे। बेरोजगारी बढ़ गई थी। लोग सरकार के विरुद्ध कुछ भी करने के लिए तैयार थे। जनता की उत्तेजना का भयानक रूप बास्तील के दुर्ग पर आक्रमण के रूप में प्रकट हुआ। किसी ने यह अफवाह फैला दी कि बास्तील के दुर्ग में काफी गोला-बारूद और हथियार पड़े हैं। बस फिर क्या था पेरिस की भीड़ उसी ओर हो ली।

पेरिस की चार दीवारी से कुछ दूर ही बास्तील का दुर्ग स्थित था। इसकी दीवारें 10 फीट मोटी तथा इसके बुर्ज 90 फीट ऊंचे थे। यह दुर्ग मजदूरों की आबादी में विद्यमान था तथा राजनैतिक कैदियों के लिये प्रयोग किया जाता था। "बास्तिल का दुर्ग निरकुंशता और निर्दयता का घृणित चिन्ह था।" उत्तेजित भीड़ का एक समुद्र 14 जुलाई 1789 ई. को इस दुर्ग की ओर बढ़ने लगा। इसका नेतृत्व कैमाइल देसमोलां (Camile Desamoulin) कर रहा था। इस समय दुर्ग में गर्वनर डी लानेय (De Launay) तथा केवल 95 सैनिक थे। भीड़ ने गर्वनर का वध कर दिया। उसने किले में कैद व्यक्तियों को मुक्त कर दिया: फिर यह भीड़ होटल डी विले (Hotel de Ville) की ओर बढ़ गई। भीड़ ने फूलोन (Foulon) तथा बरदियर (Bertheir) नामक मंत्रियों को मार दिया। इन मृतक व्यक्तियों के सिर बाँसों पर लटका कर भीड़ आगे बढ़ रही थी। बच्चे तथा स्त्रियां जलुस में नाच रहे थे। 17 जुलाई, 1789 ई. को होटल डी विले (Hotel de Ville) के स्थान पर पहुंच कर लुई ने बास्तिल के पतन को स्वीकार कर लिया। उसने अपनी टोपी पर तिरंगे (क्रान्तिकारियों ने नीले, सफेद, तथा लाल रंग के तिरंगे झंडे को अपनाया था) का निशान धारण किया जिसे बेली (Bailly) ने उसे दिया था। उसने बास्तील के स्थान पर अपनी मूर्ति की स्थापना की अनुमति दे दी। उसने बेली को पेरिस का मेंयर तथा लाफायते (Lafayette) को राष्ट्रीय रक्षक-दल (National Guards) का सेनापति मान लिया।

इस घटना के पश्चात् पेरिस स्थित इंग्लैण्ड के राजदूत ने लंदन यह सन्देश भेजा, "फ्रांस अब एक स्वतन्त्र राष्ट्र था तथा इसका राजा एक संवैधानिक शासन-लोग नेतृत्व कर रहे थे और वह उनका अनुकरण कर रहा था। पहले उन्होंने राष्ट्रीय सभा के माध्यम से नेतृत्व किया और बाद में शक्ति तथा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप से।"

बास्तील के पतन का महत्व (Importance of the Fall of Bastille)—बास्तील का पतन फ्रांस के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह निरंकुशता पर लोकतन्त्र की विजय थी। सम्पूर्ण यूरोप कांप उठा। 16वें लुई को जब इसकी सूचना मिली तो उसने पूछा "तो यह विद्रोह है?" एक दरबारी ने उत्तर दिया "राजन् यह एक क्रान्ति है।" सारा फ्रांस हर्ष से उल्लासित हो उठा। अमेरिका के इतिहास में 14 जुलाई, 1776 ई. जिस तरह एक महत्वपूर्ण घटना है उसी तरह फ्रांस के इतिहास में बास्तील का पतन (14 जुलाई, 1789) का दिन भी गौरवपूर्ण है। फ्रांसवासियों के लिये यह मुक्ति दिवस के समान था। आज भी यह दिन राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया जाता है। प्रो० गुडविन (Goodwin) इसके महत्व के सम्बन्ध में लिखता है-"सारे क्रान्ति काल में बास्तील के पतन जैसी बहुमुखी और बहुत गहरे परिणामों वाली अन्य कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। इसने फ्रांस में शाही स्वेच्छाचारिता का अन्त, राजनैतिक सत्ता को राष्ट्रीय संविधान को हस्तान्तरिक करके तथा किसानों को विद्रोह करने के लिए भड़का कर सामन्तशाही के पतन का द्वार खोल दिया।

बास्तील के पतन के निम्नलिखित प्रभाव पडे :-

(i) इससे राजा की असहाय स्थिति तथा कमजोरी प्रकट हुई और निरंकुशता को बड़ा धक्का लगा।

(ii) इससे किसानों को विद्रोह करने की उत्तेजना मिली। उन्होंने सामन्तों के घरों को लूटना और आग लगाना शुरू कर दिया। इस तरह क्रान्ति सम्पूर्ण देश में फैल गई।

(iii) अब राजसत्ता पूर्ण रूप से राष्ट्रीय सभा के हाथ में आ गई।

(vi) समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता का मार्ग खुल गया।

(v) इससे फ्रांस के नगरपालिका प्रबन्ध तथा स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में विकास हुआ। राजा ने बेली को पेरिस की नगरपालिका का मेंयर स्वीकार करके विकेन्द्रीकरण की नीति का द्वार खोल दिया।

(vi) पेरिस के पदचिन्हों पर फ्रांस के विभिन्न भागों में रक्षक दलों (National Guards) की स्थापना होने लगी। इन का उद्देश्य था। राष्ट्रीय सम्पत्ति को समाज विरोधी तत्वों से सुरक्षित करना।

(vii) बास्तील के पतन का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उच्च कुलीन, पादरी तथा प्रतिक्रियावादी फ्रांसीसियों ने देश त्याग दिया तथा फ्रांस के पड़ोसी देशों में रहने लगे। वहां पर इन्होंने क्रान्ति विरोधी शक्तियों (Emigresa) का गठन कर के क्रान्ति को समाप्त करने के यत्न शुरू कर दिये।

(viii) बास्तील के पतन में पेरिस के लोगों की सफलता ने इस नगर को विशेष महत्व प्रदान कर दिया। पेरिस अब क्रान्ति का केन्द्र बन गया। पेरिस की भीड़ और इच्छाओं को अब कोई भी राजनेता दृष्टि-ओझल नहीं कर सकता था।

(ix) इस घटना के स्वाभाविक परिणाम था-देश में अराजकता, लूटमार, आग लगाना, महलों तथा अन्नगृहों को नष्ट करना, फसलों को नष्ट करना तथा शासन व्यवस्था को तहस-नहस करना।

अतः निश्चय ही बास्तील का पतन स्वतन्त्रता के एक नवीन युग का संदेश था। इससे निरंकुश निर्दयता नामक अध्याय का अन्त हुआ।

महिलाओं का वर्साय की ओर प्रस्थान (5 अक्टूबर, 1789 ई.)

5 अक्टूबर, 1789 ई. को पेरिस की भूखी महिलाओं का एक बड़ा जलूस वर्साय के राजमहलों की ओर बढ़ा। कुछ पुरुष भी स्त्रियों के वेश में इस जलूस में शामिल हुए। इनके पीछे राष्ट्रीय रक्षक (National Guards) दल तथा पेरिस की भीड़ चल रही थी। महिलाओं के वर्साय की ओर प्रस्थान के कई कारण थे:

(i) राजा ने मानव अधिकारों की घोषणा को अपनी स्वीकृति देने में आनाकानी की।

(ii) यह अफवाह फैल रही थी कि राजा सेनाएं इकट्ठी कर रहा है और क्रान्तिकारियों का दमन करना चाहता है।

(iii) वर्साय के एक राजभोज में तिरंगे के निशान को पांवों तले कुचला गया था। तिरंगा क्रान्ति का सूचक था।

(vi) भूख और बेकारी से लोग दुःखी थे।

(v) प्रथम अगस्त, ई. को राजतन्त्रवादियों (Royalists) ने राजा के पक्ष में एक जलूस निकाला। इससे पेरिस के लोग उत्तेजित हो उठे। वे भी अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहते थे।

दिन भर महिलाएं प्रदर्शन करती रहीं और रात्रि को उन्होंने महलों पर आक्रमण कर दिया। वे 5 अक्तूबर को रानी के टुकड़े-टुकड़े कर देतीं यदि उनके अंगरक्षक तथा लाफायते हस्तक्षेप न करते। यह भीड़ राजा, रानी और उसके पुत्र को धकेलती हुई पेरिस के स्थान पर तुईलरी (Tuilleriesa) के महलों में ले आई। भीड़ में यह नारे भी लग रहे थे "हम अपने साथ रोटी बनाने वाला (Baker), उसकी पत्नी (Baker's wife) तथा उसके पुत्र (Baker's son) को लाए हैं अब हम सबको भोजन मिलेगा।" इस घटना के बाद लुई को वर्साय के महल देखने नसीब नहीं हुए। वास्तव में अब राजा क्रान्तिकारियों के हाथों में कैदी था। केटलबी का कथन है कि पेरिस की बर्छी नीति (हिंसात्मक नीति) ने भविष्य में राष्टीय सभा के कार्यों को बहुत प्रभावित किया। पेरिस के लोग अपनी हिंसा के बलबूते राष्ट्रीय सभा पर दबाव डाल कर अपनी बातें मनवा लेते थे। बास्तील के पतन के पश्चात् महिलाओं का वर्साय की ओर प्रस्थान राजतन्त्र को नष्ट करने की ओर दूसरा महत्वपूर्ण पग था।

राष्ट्रीय सभा की उपलब्धियां (17 जून, 1789 ई. से 30 सितम्बर, 1789 ई.)

राष्ट्रीय सभा की रचना 17 जून, 1789 ई. को हुई थी। 9 जुलाई, 1789 ई. को इसे संवैधानिक सभा (Constituent Assembly) की संज्ञा दी गई। रचना के पश्चात् ही इसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके सम्मुख सब से बड़ा कार्य फ्रांस की पुरातन शासन व्यवस्था और सामाजिक विषमताओं का अन्त करके राष्ट्र के लिये एक नवीन संविधान

का निर्माण करना था। सभा के सदस्य वैधानिक कार्यों में दक्ष नहीं थे। इनके भाषणों में न कोई क्रम होता था और न ही सभा के कार्यक्रम में ही कोई पूर्व-निश्चित योजना। सदस्य संयोजित ढंग से कार्य करने के अभ्यस्त न थे। पेरिस की भीड़ भी कई बार अपनी बात सभा पर ठोंसने के लिये हिंसा पर उतर आती थी। दर्शक-गैलरियों से दर्शक कई बार सभा के कार्यों में हस्तक्षेप करते थे। इसके अतिरिक्त लुई 16वें का भी सभा को पूर्ण सहयोग प्राप्त न था। सदस्यों और मन्त्रियों में वाद-विवाद होता था। इन कठिनाइयों के बावजूद राष्ट्रीय सभा अपने मार्ग पर अग्रसर रही। उसने फ्रांस की शासन व्यवस्था, न्याय, समाज, कर व्यवस्था तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में कई आवश्यक सुधार किये।

(i) सामन्तशाही का अन्त (Abolition of Feudalism)-राष्ट्रीय सभा ने सर्वप्रथम विशेषाधिकार, सामन्तवादी करों, कुलीनों द्वारा शिकार के एकाधिकार, नमक कर, टिथ (Tithe), नगरों के संघों (Trade Guilds), तथा अन्य राजनैतिक तथा सामाजिक विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया। 4 अगस्त की रात्रि को 30 के लगभग ऐसे कानून पास किये गये जिनके द्वारा मध्ययुगीन सामन्तशाही प्रथा के अवशेष भी पूरी तरह से समाप्त कर दिए। कहते हैं कि सरदारों तथा पादरियों में उस रात जैसे होड़ लगी हुई थी। वे एक दूसरे से आगे बढ़ कर कानून पास करवाने में लगे हुए थे। इस एक बैठक ने जितना कार्य कर डाला उतना फ्रांस की राजतन्त्रीय सरकार 15 वर्षों में भी न कर पाई थी। रात्रि की बैठक आरम्भ होने पर एक कुलीन विस्काऊंट आफ न्याय (Viscount of Noaillesa) ने ओजपूर्ण भाषण दिया "फ्रांस में जो घटनाएं हो रही हैं, उनका आधार है सामाजिक असमानता। अगर हम अपने विशेषाधिकारों को छोड़ दें तो अवश्य ही यह सामाजिक असमानता नष्ट हो जाएगी। में अपनी स्वेच्छा से अपने विशेषाधिकारों का परित्याग करता हूँ और प्रस्ताव रखता हूं कि मेंरे अन्य साथी भी ऐसा ही करेंगे।" बिशप आफ नेनसी (Bishop of Nancy) ने पादरी वर्ग के अधिकारों का त्याग किया।

दो कुलीनों का 16वें लुई के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव सभा ने पारित कर दिया। इस में लुई को 'फ्रांस की स्वतन्त्रता का उद्धारक' (Louis is the resatorer of French Liberty) कहा गया था। प्रों० हेर्ज़न का मत है, "सामन्तवाद का अन्त हो गया। सामन्तशाही करों का अन्त हुआ। चर्च कर समाप्त कर दिये गये। संघ (Guild) तथा उनके कट्टर प्रतिबन्धों को खत्म कर दिया गया.....समाज की असमानता का अन्त करके समानता के सिद्धान्त को राज्य का आधार बनाया गया। वास्तव में सामाजिक क्रान्ति का मार्ग खोल दिया गया था।

(ii) मानव अधिकारों की घोषणा, 26 अगस्त 1789 ई. (Declaration of the Rights of Man and Citizen)—सामन्तवाद की अन्तेष्टि के उपरान्त संवैधानिक परिषद् ने फ्रांस के लिये एक नवीन संविधान बनाने का कार्य शुरू किया। सारी ज़नता और परिषद् कर अदायगी के लिये इतनी उत्सुक नहीं थी जितनी कि मानव अधिकारों की घोषणा की उचित शब्दावली के निर्माण के लिए। संविधान का कार्य बड़ी सोच-विचार करके करने वाला था और इस में समय भी अधिक चाहिये था। नागरिकों के कर्त्तव्यों समबन्धी कुछ प्रस्ताव अस्वीकृत कुछ मतों से अस्वीकृत हो गया। कई सप्ताहों के वाद-विवाद के बाद रूसो की पुस्तक 'सोशल कान्ट्रेक्ट' को आधार मानकर 26 अगस्त, 1789 ई. को मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा की गई। हेनरी लिटलफील्ड का मत है, कि यह घोषणा ग्रेट ब्रिटेन के मैंगनाकार्टा (Magna Carta of 1215 A.D.), बिल आफ दी राईट्स (Bill of Rights, 1688 A.D.), तथा अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा (American Declaration of Independence, 1776 A.D.), विश्वकोष के लेखको तथा रूसो के विचारो से प्रभावित थी। यह घोषणा पत्र यूरोप के इतिहास की एक मूल्यवान् निधि थी। सन् 1848 ई. तक फ्रांस में जब भी किसी नये संविधान का निर्माण होता तो यह घोषणा-पत्र प्रेरणा स्रोत बन जाता। अन्य देशों ने भी इसको आधार मान कर ऐसे घोषणा-पत्र जारी किये।

मानव अधिकार घोषणा पत्र के आरम्भ में एक प्रस्तावना थी जिसमें अधिकारों की आवश्यकताओं एवं प्रयोग का संक्षिप्त विवरण था। घोषणा में 17 धारायें थीं, जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख थीं:-

(i) मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, स्वतन्त्र रहेगा तथा समान अधिकारों का उपयोग करेगा। सामाजिक भेद का आधार सार्वजनिक उपयोगिता के अतिरिक्त और कुछ न होगा।

(ii) राज्य की स्वामित्व शक्ति जनता में निहित होगी।

(iii) प्रत्येक राजनैतिक संस्था का एक मात्र उद्देश्य है: मानव के प्राकृतिक तथा आन्तरिक अधिकारों का संरक्षण। ये अधिकार हैं: स्वतन्त्रता, सम्पत्ति सुरक्षा तथा अत्याचार का विरोध।

(iv) सार्वभौमिक सत्ता सिंद्धात राष्ट्र में निहित है। यदि किसी विषय का निर्णय राष्ट्रहित में निहित न हो तो कोई भी सत्ता अथवा व्यक्ति उसे लागू न करे।

(v) स्वतन्त्रा का अभिप्राय है स्वेच्छा से केवल ऐसे कार्य करना जिनसे दूसरे को हानि न पहुंचे।

(vi) कानून अथवा विधान सामान्य इच्छा (General Will) की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक नागरिक को स्वयं अपने प्रतिनिधियों के द्वारा विधान अथवा कानून बनाने में भाग लेने का अधिकार है।

(vii) किसी व्यक्ति के विचारों का, चाहे वे धार्मिक हों, तब तक विरोध नहीं किया जाएगा, जब तक वे सार्वजनिक हित के विरुद्ध न हों।

(viii) विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक आदान-प्रदान करना प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है।

(ix) सम्पत्ति धारण करना अक्षुण्ण तथा पवित्र अधिकार है। सम्पत्ति से तब तक वंचित नहीं किया जाएगा जब तक विधान के अनुसार ऐसा करना लोकहित में आवश्यक न हो जाए।

(x) सब के लिये कानून एक समान होगा।

(xi) नागरिकों को यह अधिकार है कि वे राज्य कर्मचारियों के काम का ब्योरा प्राप्त करें।

घोषणा का स्वरूप **(Nature of the Declaration)**- यह एक ऐसी घोषणा थी जिसका मुख्य उद्देश्य पुरातन व्यवस्था को समाप्त करना था। दूसरे, यह अधिकारों की घोषणा थी, कर्त्तव्यों की नहीं। इसके द्वारा फ्रांस की जनता को अपने अधिकारों का तो ज्ञान हो गया परन्तु उसे कर्त्तव्यों से अवगत नहीं कराया गया। यह एक भंयकर भूल थी, जो कि अराजकता का कारण बनी। तीसरे यह सभी कालों के लिये, सभी देशों के लिए तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के विश्वव्यापी महत्व की परिचायक थी। चौथा, यह घोषणा मानव अधिकारों के साथ नागरिक अधिकारों की भी घोषणा थी। इसमें मध्य वर्ग के हित को ध्यान में रखा गया था, क्योंकि फ्रांसीसी क्रान्ति में इस वर्ग ने प्रमुख भूमिका निभाई थी। कानून के समक्ष, समता, गैर-कानूनी गिरफ्तारी से मुक्ति, सार्वजनिक पद प्राप्त करने की समता तथा वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार आदि मध्य वर्ग के हित में थे।

आलोचना **(Criticism)**—इस घोषणा पर टिप्पणी करते हुए मिराबो ने कहा था, "ज्यादा अच्छा होता यदि मानव अधिकारों के स्थान पर नागरिक कर्तव्यों की सूची होती।" इस घोषणा द्वारा वह पर्दा उठा दिया गया जिसके पीछे असम्भव स्वतन्त्रता छिपी हुई थी परन्तु संविधान (Constitution) ने उस पर्दे को फिर से गिरा दिया। नये संविधान में कई मानव अधिकारों की काटी-छांटी कर दी गई थी। प्रो० टामसन ने मानव अधिकारों की आलोचना करते हुए लिखा है, "घोषणा में न तो अमेरिका के समान राष्ट्र-निर्माण की घोषणा थी और न 1918 ई. के सोवियत रूस के संविधान की क्रान्तिकारी घोषणा ही थी। यह केवल अधिकार विधेयक ही था जिसके द्वारा उन स्वाधीनताओं और अधिकारों को पुनः स्थापित किया गया जो अन्याय और निरंकुशता के कारण दबा दिये गये थे। इस घोषणा की रूप-रेखा सामाजिक संविदा **(Social Contract)** से तथा विषय वस्तु 'कॉये' **(Cahiers)** से ली गई थी। काये से फ्रांस की जनता ने सामाजिक समानता, विचारों की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा, योग्यता के अनुसार नौकरियां, करों का न्यायोचित निर्धारण तथा पुरानी व्यवस्था का विरोध लिया था।"

त्रुटियां **(Defects)**—घोषणा में कई त्रुटियां थीं। तत्कालीन साधारण वर्ग की दशा बड़ी शोचनीय थी। (i) उनको रोटी-रोजी दिलाने का कोई आश्वासन न दिया गया। अन्य त्रुटी थी कि (ii) लोग अपने कर्तव्यों को भूल कर केवल अधिकारों के पीछे ही भागने लगे। इससे लोकतन्त्र को बड़ा नुक्सान पहुचा। इसमें यह भी दोष था कि (iii) अधिकारों की घोषणा तो कर दी गई परन्तु उन को उपलब्ध कराने की कोई गारण्टी (Guarantee) नहीं दी गई। भारत के संविधान में जिस प्रकार डायरेक्टिव प्रिंसिपल्ज ऑफ स्टेट पालिसी (Directive Principlesa of State Policy) हैं वैसे ही फ्रांस में मानव अधिकार थे। बाद में जब नवीन विधान (1791 ई.) के अनुसार ही सभी व्यक्तियों को वोट डालने का अधिकार प्राप्त न हुआ तो उस समय समानता का अधिकार कहां चला गया।

ऐतिहासिक महत्व **(Historical Importance)**-इन त्रुटियों के बावजूद यह घोषणा-पत्र अपना विशेष महत्व रखता है। यूरोप के अन्य देशों के सुधारक एवं क्रान्तिकारी लगभग 25 वर्षों तक इस घोषणा से प्रेरणा लेते रहे। "वास्तव में यह घोषणा पत्र फ्रांसीसी क्रान्ति का एक उज्जवल पक्ष था जिसके बिना यह क्रान्ति यूरोप की महान् घटना न बनती। गरशॉय का मत है, "यह (घोषणा) पुरातन शासन व्यवस्था का मृत्यु सर्टीफिकेट थी। इस में फ्रांस के नये जीवन की आशा थी।" यह जनतान्त्रिक और गणतान्त्रिक विचारों के विकास के इतिहास में सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य था।

(iii) **1791ई० का नवीन संविधान** (New Constitution of 1791A.D.)-विधान निर्माण के लिये संविधान परिषद् (Constituent Assembly) ने 6 जुलाई, 1789 ई. को एक समिति नियुक्त की थी जो प्रस्तावित संविधान के प्रारूप (Draft of the proposed Constitution) को तैयार करने में व्यस्त थी। इस बीच कई घटनाएं घट चुकी थीं। बास्तील का पतन, वर्साय की ओर महिलाओं का प्रस्थान, देश के विभिन्न भागों में अराजकता एवं लूट-मार, मानव अधिकारों की घोषणा तथा संविधान परिषद् में कुछ राजनैतिक दलो का प्रादुर्भाव इत्यादि। कई सदस्य उग्रवादी थे और कुछ प्रतिक्रियावादी। कुछ राजतंत्र के पक्षपाती थे, कुछ गणतंत्रात्मक शासन प्रणाली चाहते थे और कुछ संवैधानिक राजतंत्र के समर्थक थे। पेरिस की अति उग्रवादी हिसांत्मक भीड़ परिषद् की कार्यवाही पर अपना दबाव डाल रही थी। ऐसी परिस्थियों में परिषद् का संविधान निर्माण कार्य भी बड़ा कठिन हो गया था। संविधान थोड़ा-थोड़ा करके बना, इसमें कांट-छांट की गई और अन्त में एक प्रपत्र के रूप में संग्रहीत कर लिया गया। 1791 ई० में लुई 16वें ने इस संविधान को मान्यता प्रदान कर दी। यह फ्रांस का पहला लिखित संविधान था। इस संविधान की मुख्य दो बातें थीं। प्रथम, लोक प्रभुत्व का सिद्धान्त **(Sovereignty of the people)** अर्थात् जनता की इच्छा और अनुमति ही सरकार की शक्तियों का स्रोत है। द्वितीय, कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका के शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण (Separation of Powers)।

संवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy)-संविधान के अनुसार फ्रांस में राजतंत्र को ही कायम रखा गया परन्तु संविधान द्वारा इसकी शक्तियों को सीमित कर दिया गया। राजा को कार्यपालिका का मुखिया बना दिया गया। उसे सेना और नौ सेना का सर्वोच्च सेनापति माना गया। इस संविधान से पूर्व लुई 16वां "ईश्वर की कृपा" से फ्रांस का नरेश था परन्तु अब वह "ईश्वर और राज्य के संविधान की कृपा से" से फ्रांसीसियों का नरेशा था। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि उसके लिये 'फ्रांस का नरेश' (King of France) के स्थान पर 'फ्रांसीसियों का नरेश (King of the French) की उपाधि का प्रयोग किया गया। राजा को अपने मंत्री नियुक्त करने तथा पदाच्युत करने का पूर्ण अधिकार दिया गया परन्तु शर्त यह थी कि उसके मंत्री विधानसभा के सदस्य नहीं होंगे। राजा की कोई भी आज्ञा तब तक वैधानिक नहीं मानी जा सकती थी जब तक उस पर किसी मंत्री के हस्ताक्षर न हों। मंत्री विधानसभा के प्रति उत्तरदायी थे। राजा को मुद्रा जारी करने का अधिकार प्राप्त था। राजा विधान सभा की अनुमति के बिना न तो युद्ध की घोषणा कर सकता था और न ही शान्ति-संधि। वह न तो विधान सभा को भंग कर सकता था और न ही शक्ति के प्रयोग से (By use of force) इस के कार्यों में हस्तक्षेप ही कर सकता था। उसे विधान सभा भवन के 60,000 गज की परिधि के अन्दर सेना रखने का अधिकार न था। उसके पास न्याय सम्बन्धी कोई प्राधिकरण (Authority) न था और न्यायधीशों पर भी उसका कोई नियन्त्रण न था।

राजा को स्थगन निषेधाधिकार (Suspensory Veto) की शक्ति प्राप्त थीं। यदि वह किसी प्रस्ताव व कानून को स्वीकृत न करे, और विधान सभा उसे तीन बार निरन्तर पास करती जाए, तो राजा की स्वीकृति के बिना भी वह लागू हो सकता था। इस तरह राजा किसी प्रस्ताव व कानून को पास होने के लिये केवल कुछ समय तक ही रोक सकता था।

राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया गया और इंग्लैण्ड के नरेश की भांति उसका खर्च (Civil List Pension) 25,000,000 फ्रैंक्स निश्चित कर दिया गया। इस तरह से शाही फिजूल खर्ची पर प्रतिबन्ध लगाया जा सका।

इस व्यवस्था पर मान्तेस्क्यू के सिद्धान्तों तथा अमेरिका के उदाहरण का स्पष्ट प्रभाव था। संविधान के अनुसार राजा की स्थिति एक संवैधानिक शासक (Constitutional King) के अनुरूप हो गई थी। स्वयं लुई 16वें ने इस सम्बन्ध में कहा,-"राजा को राज्य प्रशासन का सर्वोच्च अध्यक्ष घोषित किया गया है परन्तु सभा के निर्णय के बिना वह कोई परिवर्तन नहीं कर सकता।"

व्यवस्थापिका का निर्माण (Legislature)-देश के लिये कानून बनाने का कार्य एक सदन वाली व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) को सौंपा गया। इस सभा के सदस्यों की संख्या 745 रखी गई। इसका कार्यकाल 2 वर्ष निश्चित

किया गया। राजा सभा को भंग (Dissolve) नहीं कर सकता था। इसके अलावा कोई अन्य संस्था अथवा राजा विधान निर्माण नहीं कर सकता था। राजा का स्थगनकारी निषेधाधिकार (Suspensory Veto) प्रशासकीय, वित्तिय तथा घोषणात्मक विषयों पर लागू नहीं होता था परन्तु अन्य विषयों पर वह कानून पास होने के मार्ग पर कुछ समय तक रुकावट बन सकता था। किसी विधेयक को अधिक से अधिक राजा सात वर्ष तक रोक सकता था। राजा युद्ध एवं सन्धि व्यवस्थापिका सभा की अनुमति के बिना न कर सकता था।

चुनाव के लिये नागरिकों को दो भागों में बांटा गया था। प्रथम सक्रिय नागरिक (Active Citizens) तथा द्वितीय निष्क्रिय नागरिक (Passive Citizens)। निर्वाचन के लिये मतदाताओं की आर्थिक योग्यता निश्चित थी। सक्रिय नागरिक ही वोट देने का अधिकार रखते थे। परन्तु उन्हें भी प्रत्यक्ष रूप से वोट देने (Direct Voting) का अधिकार प्राप्त न था। वे प्रति 100 सक्रिय नागरिकों के पीछे एक के अनुपात से निर्वाचकों को चुनते थे और निर्वाचकों में वही व्यक्ति चुना जाता था जो काफी बड़ी सम्पत्ति का स्वामी होता था अर्थात् जो 150 से 200 दिन का वेतन प्रत्यक्ष करों (Direct Taxesa) के रूप में देता हो। सारे फ्रांस में केवल 4300 ऐसे व्यक्ति मिले जो निर्वाचकों के चुनाव के लिये खड़े होने के योग्य थे। इन्हीं निर्वाचकों के हाथ में व्यवस्थापिका के सदस्य-प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार था। ये न्यायधीशों को भी चुनते थे। अतः वोट का अधिकार उनको ही मिला जिनके पास निश्चित सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualification) थी। इससे समानता के अधिकार का उल्लघंन हुआ।

न्यायपालिका (Judiciary)-नये संविधान के अनुसार न्याय व्यवस्था में आधारभूत सुधार कि गये। पुराने न्यायालयों अथवा पार्लेमां (Parlements)ो समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर श्रेणीबद्ध (Graded and Classified) केन्द्रीय तथा स्थानीय न्यायालयों की स्थापना की गई। न्यायालयों पर राजा अथवा व्यवस्थापिका का कोई नियन्त्रण नहीं था। न्यायाधीशों को सहायता देने के लिये ज्यूरी प्रथा (Jury System) चलाई गई। पहले न्यायाधीश अपने पदों को खरीद लेते थे किन्तु अब प्रत्येक श्रेणी के न्यायधीश उपयुक्त निर्वाचकों के द्वारा चुने जाने थे। उनकी कार्य अवधि 2 से 4 वर्ष के लिए रखी गई। ऐसी व्यवस्था की गई कि अभियुक्त को उपयुक्त तथा खुले मुकद्दमें का मौका मिल सके। पुराने कड़े शारीरिक दण्ड समाप्त कर दिये गये। सारे राज्य में अब एक जैसे अपराधों के लिये एक जैसी सजा की व्यवस्था की गई। पेरिस में उच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इन सुधारों के कारण फ्रांस की न्याय व्यवस्था में क्रान्ति आ गई।

प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms)-राष्ट्रीय सभा ने फ्रांस में एकरूप (Unifom) प्रशासन पद्धिति की स्थापना की। सारे फ्रांस को 83 प्रांतों (Departments) में विभाजित किया गया। प्रत्येक प्रान्त जिलों में, प्रत्येक जिला कैटंनों (Cantons) तथा प्रत्येक कैंटन कम्यूनों (Communesa) में विभाजित किया गया। इंटेण्डेण्ट (Intendant) का पद समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर स्थानीय शासन का भार स्थानीय अधिकारियों को सौंप दिया गया। प्रत्येक प्रान्त, कैंटन तथा कम्यून के लिये निर्वाचित सभा (Elected Council) तथा कार्यपालिका की व्यवस्था की गई। क्रान्तिकारी शासन का विकेन्द्रीकरण करके राजा को एकदम निर्बल बना देना चाहते थे। इसीलिए पदाधिकारियों के चुनाव की व्यवस्था की गई। परन्तु अतिविकेन्द्रीकरण की नीति का प्रशासन पर बुरा प्रभाव पड़ा। 44000 कम्यून छोटे-छोटे स्वतन्त्र गणराज्य बन गये। इससे प्रशासनिक अराजकता बढ़ गई।

कर व्यवस्था में सुधार (Reform of the Taxation System)-संविधान सभा ने स्टाम्प ड्यूटी (Stamp Duty) के अतिरिक्त पुरातन सभी कर हटा दिये। कॉये (Cahiers) की मांगों के अनुसार नये कर लगाये गये। करों का भार समानरूप से समाज के सभी वर्गों पर फैंका गया। अब किसी वर्ग को करों से छूट प्राप्त न थी। नये लगाए गए तीन प्रत्यक्ष कर थे-भूमि कर (Land Tax), सम्पति कर (Property Tax) तथा व्यापार तथा उद्योगों पर कर (Revenue from Commerce and Industry)। पदों की बिक्री बन्द कर दी। पत्र-मुद्रा (Paper Currency) भी जारी कर दी गई। इस नई मुद्रा को 'आसीया' (Assignats) की संज्ञा दी गई। परन्तु आर्थिक कठिनाईयों के कारण 'आसीया' का अवमूलन (Devaluation) होने लगा।

सैनिक सुधार (Military Reforms) - कई उपयोगी सैनिक सुधार किये गये। पदों की नीलामी बन्द कर दी गई। पदोन्नति (Promotion) के नियम बनाये गये। जब साधारण व्यक्ति भी अपनी योग्यता के आधार पर सेना में उच्च पद प्राप्त कर सकता था।

गिरजाघरों की सम्पत्ति पर अधिकार (Confiscation of Church Property)-फ्रांस के चर्च के प्रति जो नीति इस्तेमाल की गई उसके दो मुख्य उद्देश्य थे एक तो शासन पर से चर्च के प्रभाव को कम करना था तथा दूसरा चर्च की सम्पति

का फ्रांस की अर्थव्यवस्था की पुनरुस्थापना में प्रयोग करना। अगस्त, 1791 ई. को चर्च कर (Tithe) को समाप्त कर दिया गया। इससे चर्च को 30,000,000 डालर वार्षिक नुकसान हुआ। फ्रांस के चर्च के पास इतना धन था कि उससे सारे राष्ट्र का ऋण चुकाया जा सकता था। तैलीरां (Talleyrand) के प्रस्ताव तथा मिराबों (Mirabeau) के समर्थन पर (पक्ष में 368 वोट, विपक्ष में 346 वोट पड़े) चर्च की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार कर दिया गया। लोग चर्च की सम्पत्ति पर इसलिये भी राज्य का अधिकार चाहते थे कि इससे पादरियों की विलासिता, आलस्य और फिजूलखर्ची समाप्त हो जाएगी। 2 नवम्बर, 1789 ई. को संविधान सभा ने गिरजाघरों की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया। इस भूमि को बेचने से जो धन प्राप्त हुआ, उसके आधार पर आसिया अथवा असाइनेट (Assignats) के रूप में खजाने के बांड (Bond) निकाले गए। पत्र मुद्रा (Paper Currency) अथवा आसिया (Assignats) मुद्रा के रूप में ही नहीं वरन् विनिमय बीजक के रूप में किये जाने लगे। यह खजाने का बांड (Bond) था जिस पर 5% ब्याज दिया जाता था । एक बैंक की भी स्थापना की गई परन्तु आर्थिक स्थिति में कोई सुधार न हुआ। गिरजाघरों की सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण से फ्रांस के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पहले चर्च की बहुत-सी परोपकारी संस्थाएं होती थीं जो गरीबों की देखभाल करती थी। अब चर्च की सम्पत्ति समाप्त हो गई तो इन गरीबों की दुर्दशा हो गई। संविधान परिषद् ने इन गरीबों को राज्य की ओर से सहायता दी । इस लिये चर्च के अन्तरगत अनेक कार्यालय खोले गये, फिर भी इसका परिणाम अच्छा नहीं निकला। गरीबों की संख्या बढ़ने लगी और उन पर राज्य का अपना धन व्यय होने लगा।

(viii) पादरियों का लौकिक संविधान (Civil Constitution of the Clergy)- राष्ट्रीय सभा ने जुलाई, 1790 ई० में पादरियों का लौकिक संविधान (Civil Constitution of Clergy) बनाया। इससे फ्रांस में मठों की संख्या 117 से घटाकर 83 कर दी। धार्मिक प्रशासन के लिए फ्रांस को राजनैतिक दृष्टि के अनुरूप 83 भागों में ही बांटा गया। पादरियों के निर्वाचन की पद्धति शुरू की गई। चर्च के पादरी तथा अन्य अधिकारी सरकार के वेतन भोगी (Paid Servants) के समान बन गये। पद पर नियुक्त किये जाने से पूर्व प्रत्येक पादरी को यह शपथ लेनी होती थी कि वह देश के संविधान के प्रति वफादार रहेगा (Oath of Fidelity to the Constitution) । जिन पादरियों ने यह शपथ ग्रहण कर ली वे 'संवैधानिक' (Constitutionalists) तथा जिन्होने शपथ नहीं ली वे 'भिन्न धर्मावलम्बी' (Dissidents or non-Constitutionalists) कहलाए। इस तरह फ्रांस के चर्च पर पोप का नाममात्र का स्वामित्व रह गया। इतना ही नहीं फ्रांस में धार्मिक सहिष्णुता (Religious Toleration) प्रदान की गई (13 अप्रैल, 1790)। लौकिक संविधान के अनुसार पादरियों को लौकिक जीवन में प्रवेश करने की छूट दे दी गई। इस संविधान से क्रान्ति को बड़ी हानि हुई। लुई 16वां तथा पोप दोनों इसके विरोधी थे। चर्च के प्रति ऐसे व्यवहार से यूरोप का सारा कैथोलिक चर्च क्रान्ति का विरोधी हो गया। सर्वसाधारण लोगों में चर्च तथा पादरियों के प्रति श्रद्धा की भावना थी। इस राष्ट्रीय संविधान से लोगों की सहानुभूति क्रान्ति से कम हो गई। गरशाय का विचार है, "प्रतिकूल क्रान्ति (Counter-Revolution) को ले आने में सबसे अधिक काम राष्ट्रीय सभा के यदि किसी एक कार्य ने किया तो वे थे इसके धार्मिक कानून। इनके कारण हठी पादरी तथा उनके लाखों अनुयायी क्रान्ति के विराधी बन गए।

राष्ट्रीय सभा की वैदेशिक नीति (Foreign Policy of the National Assembly)-सभा की वैदेशिक नीति जनता की सार्वभौमिक सत्ता (Sovereignty of the People) पर आधारित थी। वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्षपाती थी तथा राष्ट्रों की राज्य विस्तार नीती की विरोधी थी। राब्सपीयर (Ronbesapierre), पेशन (Petion), बार्नेव (Barnave) फ्रांस तथा अन्य देशों के साथ हुई पहली संधियों को संवैधानिक नहीं मानते थे। उनका तर्क था कि ये संधियां राजा ने की थीं न कि लोगों ने।

1790 ई. फ्रांस और स्पेन (Spain) के मध्य युद्ध का खतरा हो गया। स्पेन ने अपने पुराने पारिवारिक मित्र फ्रांस से सहायता की याचना की परन्तु फ्रांस ने कोई मदद न की। इससे स्पेन नाराज हो गया।

जर्मन शासकों तथा जर्मीदारों के आल्सास (Alsace) के प्रान्तों में कुछ सामन्ती अधिकार थे। क्रान्ति के मध्य जब सभी फ्रांसीसी सामन्तों के अधिकारों की समाप्ती हुई तो इन जर्मन सामन्तों के अधिकार भी समाप्त हो गये। नाराज हो कर इन्होंने फ्रांस के पडोस में उपद्रव करने शुरू कर दिये। सिविल कांस्टीट्यूशन आफ दी कलर्जी के कारण पोप फ्रांसीसियों का विरोधी हो गया। कुलीन वर्ग तथा राजतंत्र के पक्षपाती देश छोड़ने लगे। वे काम्टे डी आर्ट्वायस (Comte de Artois) के नेतृत्व में संगठित हो रहे थे। वह पेरिस और वर्साय में उपद्रव मचा रहा था। उसकी कोशिश थी कि विदेशी शासकों से सम्पर्क स्थापित करके क्रान्तिकारियों का दमन किया जाये। अविग्नान (Avignan) में पोप की प्रजा ने क्रान्तिकारी विचारों

से उत्प्रेरित होकर विद्रोह कर दिया था परन्तु इस मामले में भी फ्रांस ने हस्तक्षेप नहीं किया। सारांश यह कि राष्ट्रीय सभा के नेता विदेशों में शान्ति की नीति के समर्थक थे क्योंकि वे अपना ध्यान देश में रचनात्मक कार्यों की ओर लगाना चाहते थे। परन्तु उनकी इच्छा न होते हुए भी प्रतिक्रियावादी यूरोप क्रान्तिकारी फ्रांस का शत्रु बनता जा रहा था।

राष्ट्रीय सभा का अन्त (End of the National Assembly)-अपना प्रमुख कार्य-फ्रांस के लिये एक नये संविधान का निर्माण करना, समाप्त करके 30 सितम्बर, 1791 ई० को राष्ट्रीय सभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि इस सभा का कोई सदस्य भी आगामी व्यवस्थापिका सभा अथवा मंत्रीमंडल का सदस्य नहीं बनेगा और साथ ही अपने आप को भंग कर दिया। इस तरह से क्रान्ति की प्रगति के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय समाप्त हुआ।

राष्ट्रीय सभा के कार्यों का समीक्षात्मक अध्ययन

राष्ट्रीय सभा के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए कई इतिहासकारों ने इसकी आलोचना की है। उचित निर्णय देने के लिए हम दोनों पक्षों का ध्यान रखेंगे।

आलोचना-राष्ट्रीय सभा के कार्यों की आलोचना करते हुए केटलबी लिखता है-"यह अनेक घरेलू तथा बाहरी समस्याएं विरासत में छोड़ गयी। इसने सम्पूर्ण शासन व्यवस्था को नष्ट कर दिया। इसने भीड़ द्वारा शासन के द्वार खोल दिये। इसने खतरनाक सिद्धान्तों को जन्म दिया। चर्च की सम्पत्ति को जब्त करके इसने देश में धार्मिक दरार उत्पन्न कर दी तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उल्लघंना की।"

दोष (Defects) :-

राष्ट्रीय सभा के कार्यों के निम्नलिखित दोष थे :-

(i) इसने उस समय की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था को नष्ट कर दिया और उसके मुकाबले में कोई उच्च कोटि का शासन स्थापित नहीं किया।

(ii) अतिविकेन्द्रीकरण की नीति अपना कर इसने भीड़ के राज्य (Mob Rule) के लिये द्वार खोल दिये। इससे देश में अराजकता फैल गई।

(iii) इसने कुछ खतरनाक सिद्धांत प्रस्तुत किये जैसे मंत्री व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं होंगे। व्यवस्थापिका सभा उन पर नियन्त्रण कैसे रख सकती थी।

(iv) चर्च की सम्पत्ति जब्त करके तथा पादरियों का लौकिक संविधान बनाकर सभा ने फ्रांस में धार्मिक मतभेद उत्पन्न कर दिया। इसके कारण देश तथा विदेश में क्रान्ति के कई शत्रु बन गये।

(v) अति विकेन्द्रीकरण की नीति से राष्ट्रीय एकता को धक्का लगा। केन्द्र की सरकार का स्थानीय अधिकारियों पर कोई नियंत्रण न था।

(vi) अधिकारियों, पादरियों तथा न्यायाधीशों की चुनाव द्वारा नियुक्ति के कारण प्रशासनिक कठिनाइयां उत्पन्न हुईं। इससे प्रशासन ढीला पड़ गया।

(vii) व्यवस्थापिका को कार्यपालिका से इतना अलग तथा स्वतन्त्र बना दिया गया कि दोनों में कोई तालमेंल ही न रहा। इससे भी प्रशासन को नुक्सान पहुंचा।

(viii) अपने एक प्रस्ताव द्वारा सभा ने अपने सदस्यों को आगामी सभा तथा मंत्री-मण्डल का सदस्य बनने से रोक दिया। इससे आगामी सभा अनुभवी राजनीतिज्ञों से वंचित हो गई।

(ix) राजा के निषेधाधिकार का अधिकार इतना प्रभावशाली नहीं था कि वह स्वयं को व्यवस्थापिका सभा के आक्रमण से सुरक्षित रख सके तथापि यदि वह इस अधिकार का प्रयोग करता, तो व्यवस्थापिका सभा नाराज अवश्य हो सकती थी।

(x) चुनाव के लिये नागरिकों को दो श्रेणियों -सक्रिय नागरिक (Active Citizens) तथा असक्रिय नागरिक (Passive

Citizens) में बांट कर सभा ने मानव के अधिकारों की घोषणा (Declaration of the Rights of Man and Citizen) की उल्लंघना की।

(xi) सभा ने संविधान बनाते समय केवल मध्य श्रेणी (Middle Class) का ही अधिक ध्यान रखा, अन्य वर्गों का नहीं।

मिराबो ने तो यहां तक कहा है कि इससे अधिक राज्य को और अव्यवस्थित नहीं किया जा सकता था।

गुण (Merits)-उपयुर्क्त दोषों के होते हुए, सभा के द्वारा किये गये कार्यों में कई प्रशंसनीय गुण भी थे।

(i) इसने समानता तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो को काफी हद तक कार्य रूप देने का यत्न किया।

(ii) इसने देश में एकता-स्थापित की।

(iii) इसने पुरातन व्यवस्था तथा वर्ग भेद की बुराइयों का अन्त करके नवीन प्रशासन एवं सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की।

(iv) इसने घृणित सामन्ती अधिकारों का अन्त किया।

(v) इसने फ्रांस को प्रथम लिखित संविधान प्रदान किया।

(vi) नवीन संविधान द्वारा इसने जनता की सार्वभौमिकता स्थापित की।

(vii) मानव के अधिकारों की घोषणा करके, राष्ट्रीय सभा ने मानव के व्यक्तित्व को वैधानिक तथा प्रशासनिक अनुभव भी तो प्राप्त नहीं था। इस सभा का बहुत सा कार्य एक अनुभव के रूप में था और अस्थाई सिद्ध हुआ। परन्तु इसका बहुत सा कार्य रचनात्मक तथा चिरस्थाई प्रकृति का था।

लुई का फ्रांस से भागने का यत्न, 20 जून, 1791 ई०

पेरिस में राजा की स्थिति दिन-प्रतिदिन बिगड़ रही थी। वह लोगों के हाथ में कठपुतली बन गया था। वह अन्दर से क्रान्ति के विरुद्ध हो रहा था। यद्यपि वह बास्तील के पतन के समय खुश हुआ था। उसने महिलाओं की मांग को माना था। उसने तइलरी (Tuilleriesa) में राजनैतिक अवकाश को ग्रहण किया था। उसने सभा के पर्वो पर उत्साह दिखाया था। प्रजा राजा का स्वागत करती थी और उसे सर्वश्रेष्ठ राजा कहती थी परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न थी। मेंरी ऐन्तवायनेत किसी भी स्थिति में राजा की घटती हुई शक्तियों को सहन नहीं कर सकती थी। वह क्रान्ति विरोधी षड्यन्त्रों को पूर्ण सहयोग दे रही थी। वह राजा को साथ लेकर अपने भाई लियोपोल्ड (Leopold) जो कि आस्ट्रिया का शासक था के पास जाना चाहती थी। इसलिए राजा का फ्रांस से भागने के लिये प्रयास होने लगा। उसी समय राजा पर कुलीनों का प्रभाव बढ़ गया। वह उनका विरोध न कर सका। उसकी आजादी दिन-प्रतिदिन कम हो रही थी। वह पेरिस की भीड़ का बन्दी बना हुआ था। स्वयं लुई ने कहा था, "में इस अवस्था में फ्रांस का सम्राट रहने की अपेक्षा मेंटज़ नगर का राजा होना अधिक पसन्द करूगां। परन्तु यह स्थिति शीघ्र समाप्त हो जाएगी।" उसने अनिच्छा से पादरियों के लौकिक संविधान पर हस्ताक्षर किये थे। दिसम्बर, 1790 से उसके भागने की योजना बनने लगी। 18 अप्रैल, 1791 ई० में ईस्टर का मौसम उसने (Easter Season) सेंट क्लाउड (St. Cloud) में व्यतीत करना चाहा परन्तु राष्ट्रीय रक्षकों तथा पेरिस की भीड़ ने उसे ऐसा न करने दिया। इससे वह और भी उत्तेजित हो उठा। 20 जून, 1791 ई० को आधी रात्रि को राजा ने एक नौकर तथा रानी ने एक रूसी महिला का वेश धारण करके तुइलरी के महलों का त्याग कर दिया। वे लक्जमबर्ग (Luxemburg) की सीमा की ओर बढ़ने लगे। परन्तु फ्रांस की सीमा पार करने से पूर्व ही एक नवयुवक ड्राउट (Drouet) ने उन्हें पहचान लिया। वह जंगलों में से अपने घोडे पर सवार होकर वारनेज़ (Varennesa) नामक नगर पहुंचा और वहां पर राजा के पहुंचने से पहले ही उसने लोगों को सूचना दे दी। जब राजा की बग्घी (Royal Coach) मांटमेंडी (Montmedy) नामक स्थान पर पहुंची (यहां लक्जमबर्ग की सीमा केवल 10 मील थी) तो राजा ने देखा कि लोगों ने अपनी गाड़ियों (Car) के द्वारा मार्ग का घेराव कर लिया है। वापिसी पर लोगों ने रानी के साथ भद्दे मजाक किये, राजा पर थूका गया। राजा की रिश्वत और रानी की सिसकियां कुछ काम न कर सकीं। राजा तो इस घटना से शान्त रहा परन्तु रानी ने अपने घुटनों पर अपना सिर झुका लिया। पेरिस में जब

राजा-रानी ने प्रवेश किया तो ऐसा लगता था कि यह कोई मातमी जलूस हो। राष्ट्रीय रक्षकों के शस्त्र झुके हुए थे। इन्हीं कुछ दिनों में रानी के बाल इतने सफेद हो गये कि वह 72 वर्ष की बुढ़िया लगने लगी।

राजा के भागने के असफल प्रयास के फ्रांस के राजनैतिक जीवन पर कई प्रभाव पड़े :-

(i) राजा पर से जनता का विश्वास उठ गया।

(ii) इस घटना के पश्चात राजा की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई। जब इस सम्बन्ध में मेंरी ऐन्तवायनेत के भाई लियोपोल्ड ने लुई से पूछा कि इन दिनों आप क्या कर रहे हैं तो लुई ने उत्तर दिया 'में केवल अपने हस्ताक्षर कर रहा हूं।''

(iii) लोगों को यह ज्ञात हो गया कि अन्दर से राजा क्रान्ति का विरोधी है। भागने से पूर्व राजा एक पत्र छोड़ गया था जिसमें लिखा था कि जो भी कानून पास हुए हैं, वे असंवैधानिक हैं।

(iv) इस घटना ने क्रान्ति को नई दिशा दी। जनता का एक बडा वर्ग अब फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करने का पक्षपाती बन गया। राब्सपीयर तथा दांतों ने यह प्रस्ताव रखा कि राजा का पद समाप्त करके फ्रांस में गणतंत्र की स्थापना की जाये परन्तु संवैधानिक राजतंत्र के समर्थकों ने ऐसा नहीं होने दिया। इससे फ्रांस में गृहयुद्ध का भय था।

(v) 15 तथा 16 जुलाई 1791 ई० को राष्ट्रीय सभा ने लुई 16वें को भागने के प्रयास के अपराध से माफ कर दिया तथा उसे फिर से संवैधानिक शासक मानने के लिए इस शर्त पर तैयार हो गई कि वह नए संविधान पर फिर से अपनी स्वीकृति दे दे। राजा ने ऐसा कर दिया।

व्यवस्थापिका सभा, प्रथम अक्टूबर, 1791 ई.—19 सितम्बर 1792 ई०

राष्ट्रीय सभा की समाप्ति के दूसरे दिन प्रथम अक्तूबर, 1791 ई० को नये संविधान के अनुसार चुनी हुई व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। इसमें पुरानी सभा का कोई सदस्य न था। इसके अधिकांश सदस्य अपरिवक्व तथा अनुभवहीन थे। इस सभा के सम्बन्ध में एक मजाक प्रसिद्ध था कि इसमें शायद ही कोई सफेद बालों वाला सदस्य होगा।

लेजिस्लेटिव असैम्बली में तीन प्रमुख दल थे। रूढ़िवादी (Conservativesa) अथवा संवैधानिक (Constitutionalists) नवीन संविधान के पक्षपाती थे। द्वितीय दल का नाम जिरोंदित्स (Girondits) वे शान्तिमय तरीकों से फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। सबसे प्रथम Brissot ने ही फ्रांस को गणतन्त्र की विचारधारा दी। उसके अतिरिक्त इस दल के अन्य प्रमुख नेता थेः Bozot, Vergniaud, मादाम रोलां (Madame Roland), जेन्सो तथा म्वादे। क्योंकि इस दल के अधिकांश नेता जिरोंद प्रदेश (Grionde) के रहने वाले थे, इसी लिये इस दल का नाम जिरोंदित्स पड़ गया। ये राजनैतिक प्रयोगवादी तथा सिद्धान्तवादिता को मानने वाले थे। तृतीय दल जेकोबिन्ज (Jacobins) कहलाता था। इस दल के सदस्य असभ्य, अशिक्षित, हिंसक तथा निर्दयी थे। वे भी फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे परन्तु हिंसा और शक्ति के द्वारा। वे यर्थाथवादी थे। राब्सपीयर (Robesapierre), मारा (Marat), तथा दांतों (Danton) इस दल के प्रमुख नेता थे। यद्यपि पेरिस में इनकी प्रमुखता थी परन्तु फ्रांस के अन्य नगरों में भी इनके दल की शाखाएं कम थीं।

फ्रांस की अवस्था (State of Affairs of France)-जब व्यवस्थापिका सभा का अधिवेशन शुरु हुआ तो फ्रांस की दशा बड़ी शोचनीय थी। यह सभा न तो राष्ट्रीय गर्व और न ही राजा की स्थिति को धक्का पहुंचाना चाहती थी। अधिवेशन के शुरु होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि राजा को कैसे पुकारा जाए। कुछ ने 'Sire' अथवा 'Majesaty' नामक शब्दों का प्रयोग करने को कहा परन्तु अधिकांश सदस्य न माने। उनका विचार था कि अब कानून के अनुसार फ्रांसीसी लोग ही 'Majesaty' हैं न कि राजा। अन्त में लुई को 'फ्रांसीसियों का राजा' (King of the French) के नाम से पुकारना माना गया। राजा को साधारण कुर्सी पर ही बिल्कुल सभा के अध्यक्ष की पंक्ति में बैठाने का निर्णय लिया गया। घटनाओं की पृष्ठभूमि में लुई के फ्रांस से भागने के असफल प्रयास ने, जनता के मन में संशय और संदेह की भावना उत्पन्न कर दी थी। राजा ने सभा के इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया था कि जो प्रवासी (Emigresa) कुलीन जनवरी, 1792 तक स्वदेश वापिस नहीं लौटेंगे उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा। राजा ने उन पादरियों को देश निकाला देने से इन्कार कर दिया जिन्होंने

संविधान के प्रति अपनी वफादारी की शपथ पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। दूसरी ओर, विदेशों में क्रान्ति का विरोध बढ़ रहा था। प्रवासी कुलीन (Emigresa) पड़ोस में क्रान्ति के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे। चर्च की सम्पत्ति के राज्य द्वारा जब्त किये जाने तथा पादरियों के लौकिक संविधान (Civil Constitution of the Clergy) के कारण पोप तथा यूरोप का सम्पूर्ण कैथोलिक जगत क्रान्ति विरोधी हो गया था। अतः यूरोप के क्रान्ति, विरोधी देशों से युद्ध की संभावनाएं बढ़ गई थीं।

पिलनित्स की उद्घोषणा (Declaration of Pillnitz, 27th August, 1791)-आस्ट्रिया का शासक लियोपोल्ड अपने बहनोई (लुई 16वें) की सत्ता को फ्रांस में फिर से स्थापित करना चाहता था। उसका राजा, रानी तथा अन्य क्रान्ति विरोधी तत्वों से सम्पर्क था। उसने रूस, प्रशिया, स्पेन, नेपल्ज (Naplesa), साडींनिया (Sardinia), तथा इंग्लैण्ड के शासकों को क्रान्तिकारियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ देने को कहा। प्रशिया के शासक फ्रैड्रिक के साथ मिलकर पिलनित्स (Pillnitz) के स्थान पर 27 अगस्त, 1791 ई. को उसने एक उद्घोषणा की कि वे दोनों फ्रांस के लुई 16वें की राजसत्ता की पुनरुस्थापना के लिये प्रयत्न करेंगे अगर देश अपने देश के सैनिकों तथा धन के द्वारा उनको (आस्ट्रिया तथा प्रशिया को) सहयोग दें। इस उद्घोषणा से क्रान्तिकारियों में सनसनी फैल गई। फ्रांसीसी समाचारपत्रों में राजतन्त्र के विरोधी लेख प्रकाशित हुए। फ्रांसीसी इसलिये उत्तेजित हुए कि यह फ्रांस का भीतरी मामलों में हस्तक्षेप था।

युद्ध की घोषणा (Declaration of War, 20th April, 1792 A.D.)-फ्रांस पर युद्ध के बादल मंडरा रहे थे। जिरोंदित्स इसलिए युद्ध चाहते थे कि इस से राजा की दुर्बलता तथा अयोग्यता प्रकट होगी और इससे गणतन्त्र की विचारधारा फ्रांस में बल पकड़ेगी। राजा के मित्र तथा प्रतिक्रियावादी इसलिए युद्ध चाहते थे कि इसके माध्यम से विदेशों से सहायता प्राप्त करके क्रान्तिकारियों का दमन हो सकता था। जेकोबिन्ज युद्ध के विरोधी थे। उनका विचार था कि युद्ध के द्वारा या तो फ्रांस में शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना हो जाएगी और या फिर यहां पर डिक्टेटरशिप स्थापित होगी। व्यवस्थापिका सभा में युद्ध के पक्षपातियों की संख्या अधिक थी। इसलिए इसकी सम्भावना भी बढ़ गई। एक धारणा यह भी थी कि पुरानी और नवीन व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष का होना अनिवार्य था। धीरे-धीरे क्रान्तिकारी विचारों की अग्नि सम्पूर्ण यूरोप में फैलने लगी। जर्मन प्रदेशों में किसानों के विद्रोह होने लगे। बेल्जियम (Belgium) में आस्ट्रिया के विरुद्ध आवाज उठती हुई दिखाई दी।

व्यवस्थापिका सभा द्वारा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा का प्रस्ताव पास किया गया। केवल 7 सदस्यों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। विरोधियों में रॉब्सपियर का नाम उल्लेखनीय है। राजा को वाधित होकर 20 अप्रैल, 1792 ई. में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पड़ी। इस युद्ध का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि क्रान्ति सारे यूरोप में फैल गई। इस तरह से यूरोप को एक लम्बी अवधि (23 वर्ष के लिये) के लिए युद्ध की आग में धकेल दिया गया। इस बीच फ्रांसीसी क्रान्ति पर अनेक बार शक्तिशाली आक्रमण हुए, फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना हुई, हिंसा और आतंक के युग (Reign of Terror) का जन्म हुआ, नेपोलियन के महान साम्राज्य की स्थापना हुई। अन्त में यह युद्ध 1815 ई० वीएना सम्मेलन (Vienna Congresas) द्वारा समाप्त हुआ।

जिरोंदित्स ने इस युद्ध का संचालन किया। 5 महीनों तक फ्रांसीसियों को पराजयों का सामना करना पड़ा। उच्च सैनिक अधिकारी कुलीन परिवारों से सम्बन्ध रखते थे। क्रान्ति के मध्य वे देश छोड़ गए थे। अतः नए अधिकारी अनुभवहीन तथा अयोग्य थे। फ्रांसीसी सेना का संगठन भी उचित ढंग से नहीं किया गया था। सेना के पास सीमित साधन थे। ऐसी परिस्थितियों में फ्रांस की पराजय में कोई संशय नहीं था। युद्ध की असफलता के लिए जिरोंदित्स ने राजा को उत्तरदायी ठहराया।

तुइलरी पर प्रथम आक्रमण (First Attack on Tuilleriesa, 20th June, 1792 A.D.)-20 जून, 1792 ई. को पेरिस की सैंकड़ों की भीड ने तुइलरी के राजमहलों पर आक्रमण किया। यह भीड़ बर्छों, भालों से सज्जित थी तथा ऐसे झंडे उठाए हुए थी जिन पर मानव के अधिकारों को अंकित किया गया था। इस आक्रमण का प्रमुख कारण यह था कि लुई ने व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास किये गये दो प्रस्तावों को निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करके अस्वीकृत कर दिया था। इन प्रस्तावों के द्वारा संविधान के लिए वफादारी न प्रकट करने वाले पादरियों के लिये दण्ड तथा पेरिस की सुरक्षा के लिये 2 लाख की सेना तथा छावनी की स्थापना की मांग की गई थी। पेरिस के लोग भड़क उठे। भीड़ ने सभा भवन में प्रवेश किया और यह मांग-पत्र पेश किया कि 25,000,000 लोगों की इच्छा का हनन एक व्यक्ति (राजा) नहीं कर सकता। फिर

यह भीड़ तुइलरी के राज-प्रसादों में घुस गई। गेट (Gate) तोड़ कर लोग राजा के प्राइवेट कमरों में दाखिल हो गए। राजा तीन घण्टे तक एक खिड़की से झांकता हुआ खड़ा रहा। भीड़ का नारा था, 'इन आदेशों पर हस्ताक्षर करो' ("Sign the Decreesa") तथा 'पादरी मुर्दाबाद' (Down with the Priesats)। राजा ने बुद्धि से काम लिया। उसने क्रान्तिकारियों की लाल टोपी पहन ली तथा तिरंगे के निशान को छाती से लटका लिया। क्रान्ति के ये चिन्ह देख कर क्षुब्ध भीड़ कुछ शान्त हो गई। भीड़ में से एक व्यक्ति लेजेण्डर (Legendre) ने राजा को ललकार कर कहा, "श्रीमान् आप देशद्रोही हैं। आपने सदैव हमें धोखा दिया है। अब भी धोखा दे रहे हैं परन्तु खबरदार सब्र का प्याला भर चुका है।" एक स्वर यह भी सुनाई दिया कि हम फिर आएंगे और अपनी मांग मनवा कर रहेंगे। इस बीच रानी को बहुत अपमानित किया गया। लोगों ने उसे 'Austrian Woman' तथा 'Madame Veto' कह कर पुकारा। परन्तु बिना कोई हिंसा किये भीड़ लौट गई।

ब्रुन्सविक की घोषणा (Brunswick Declaration, 27th July, 1792 A.D.)-जिस समय तुइलरी पर आक्रमण का समाचार यूरोप के अन्य देशों में फैला तो क्रान्ति विरोधी प्रचार और भी अधिक हो गया। प्रशा के राजा फ्रैड्रिक ने यह घोषित किया कि फ्रांस के विरुद्ध वह आस्ट्रिया का साथ देगा। 25 जुलाई, 1792 ई. को वह युद्ध में शामिल हो गया। प्रशा की सेनाओं के सेनापति ड्यूक आफ ब्रुन्सविक (Duke of Brunswick) ने 27 जुलाई, 1792 ई० को एक धमकीपूर्ण घोषणा की कि फ्रांस के लोग पुनः सारी सत्ता अपने राजा के हाथ में सौंप दें। यदि किसी ने आस्ट्रिया तथा प्रशा की सेनाओं का इस संदर्भ में विरोध किया तो पेरिस को तबाह कर दिया जाएगा। उसने यह भी घोषित किया कि हम फ्रांस में अराजकता (Anarchy) समाप्त करने आये हैं। यह घोषणा ब्रुन्सविक का अति मूर्खतापूर्ण कार्य था। इससे सारे फ्रांस की भावनाओं को ठेस पहुंची। लोग देशभक्ति की भावना से उत्प्रेरित हो उठे। लोगों का यह विश्वास पक्का हो गया कि राजा तथा रानी शत्रुओं से मिले हुए हैं। अतः यह घोषणा लुई 16वें के लिये घातक सिद्ध हुई।

तुइलरी पर द्वितीय आक्रमण (Second Attack on Tuilleriesa, 10th August, 1792 A.D.)-पेरिस की क्षुब्ध भीड़ ने दूसरी बार 10 अगस्त, 1792 ई. को प्रातः 9 बजे के लगभग तुइलरी के राज-महलों पर आक्रमण किया। राजा तथा रानी ने महलों से भागकर सभा भवन में शरण ली। वे सारी रात्रि एक रिपोर्टर के कमरे (Reporter's Box) में रहे। राजा के स्विस रक्षकों (Swiss Guards) ने क्रान्तिकारियों का डटकर मुकाबला किया। राजा ने उन्हें संघर्ष बन्द करने का आदेश भेजा। उन्होंने वीरतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन किया। 800 स्विस रक्षक मारे गये। इस दिन लगभग 5000 व्यक्ति मृत्यु का शिकार हुए। नवयुवक नेपोलियन ने इस घटना के दर्दनाक दृश्य को देखा तथा इससे पाठ सीखा जो कि उसे भविष्य में लाभकारी सिद्ध हुआ। भीड़ ने राजा, रानी तथा उसके पुत्र को टेम्पल (Temple) नामक दुर्ग में बन्दी बना लिया।

राजा की पदमुक्ति (Dismissal of the King)-अगले दिन व्यवस्थापिका सभा की बैठक में राजा को उसके पद से मुक्त कर दिया गया। अब फ्रांस के राजनैतिक जीवन में नया संकट उत्पन्न हो गया। राजा की पदच्युति से संवैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो गया। 1791 ई. के संविधान द्वारा स्थापित कार्यपालिका भंग हो गई थी। लोग अब राजतंत्र को किसी भी हालत में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। वे फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। इसके लिये एक नवीन संविधान की आवश्यकता थी और नवीन संविधान निर्माण के लिये वर्तमान व्यवस्थापिका सभा के पास कोई शक्ति अथवा अधिकार न थे। इस लिये इस विशेष कार्य के लिए व्यवस्थापिका सभा ने नेशनल कनवेन्शन (National Convention) बुलाई। पेरिस कम्यून (Paris Commune) के आदेश पर सभी व्यक्तियों को मत का अधिकार (Universal Suffrage) प्रदान करके नेशनल कनवेन्शन के सदस्यों के चुनाव की व्यवस्था की गई। नये प्रबन्ध के होने तक अस्थायी रूप से सरकार का सारा नियंत्रण दांतों (Danton) के हाथ में सौंप दिया गया।

इस प्रकार से व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) का कार्यकाल समाप्त हुआ। जेकोबिन दल का महत्व भी बढ़ गया। जिरोंदित्स धीरे-धीरे महत्वहीन होते गये। व्यवस्थापिका सभा को अनेक घरेलू तथा विदेशी समस्याओं का सामना करना पड़ा। इन में से कुछ एक का तो समाधान इसके काल में हो सका परन्तु अनेक समस्याएं लटकती रहीं। इसके शासन काल में कुछ नयी समस्याएं भी उत्पन्न हुई, जेकोबिन तथा जिरोंदित्स दलों में संघर्ष तथा क्रान्तिविरोधी विदेशी शासकों से युद्ध। पहले-पहल फ्रांसीसी सेनाओं को पराजय का मुंह देखना पड़ा परन्तु वाल्मी (Valmy) की लड़ाई ने पलड़ा फ्रांस के पक्ष में झुका दिया। व्यवस्थापिका सभा के काल में 1791 ई० के संविधान की परीक्षा हुई, जिसमें वह असफल रहा। अतः गणतंत्र के लिए मार्ग खुल गया।

सितम्बर 1792 ई० का नरसंहार

10 अगस्त, 1792 ई० को दांतों की तानाशाही की स्थापना हुई तथा अगले दिन व्यवस्थापिका सभा भंग हो गई। तब से लेकर 20 सितम्बर तक दांतों फ्रांस का एक मात्र शासक रहा। फ्रांस के शासन का कार्य पेरिस कम्यून (Paris Commune) के हाथ में आ गया। राब्सपीयर, मारा तथा दांतों का इस नागरिक सभा पर नियंत्रण था। वे क्रान्ति के विरोधियों का सफाया करना चाहते थे। दांतों ने राजा के समर्थकों को भयभीत कर डाला। उसका कहना था-''साहस, अधिक साहस, और सर्वदा अधिक साहस।" इसी साहस के द्वारा वह आतंक फैलाना चाहता था और शत्रुओं का दमन करना चाहता था। सितम्बर, 1792 ई.में आतंक फैलाने के लिए काफी रक्तपात किया गया। 2 तथा 3 सितम्बर को लगभग 3000 व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया। कुछ इतिहासकारों ने यह संख्या 1500 बताई है। इस भंयकर रक्तपात को सितम्बर नरसंहार (September Massacre) की संज्ञा दी गई है। स्वतन्त्रता और न्याय के नाम पर केवल संदेह के कारण न्याय का उपहास करके कई लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया।

कारण (Causesa)—इस रक्तपात के कई कारण थे :—

(i) प्रशा तथा आस्ट्रिया की सेनाएं पेरिस से कुछ दूर ही वरदून (Verdun) तक पहुंच चुकी थी। अतः पेरिस कम्यून उन सभी तत्वों को पाठ सिखाना चाहती थी जिनके विदेशी सेनाओं के साथ मिलने की आशंका थी।

(ii) राजा के समर्थक, पादरी तथा कुलीन इस युद्ध का लाभ उठाकर राजतन्त्र को पुनरुस्थापित करना चाहते थे। आतंक फैला कर उनका दमन किया जा सकता था।

(iii) आतंक की नीति अपना कर देश में अनुशासन की स्थापना की जा सकती थी। उस समय अनुशासन की अत्यन्त आवश्यकता थी।

(iv) दांतों, राब्सपीयर तथा जैकोबिन दल के अन्य नेता राष्ट्र की सुरक्षा के बहाने अपने राजनैतिक विरोधियों-जिरोंदिस्त का दमन भी करना चाहते थे।

(v) दांतों ने कहा था कि "क्रान्ति दो अग्नियों के बीच में स्थित है- घर पर शत्रु तथा सीमा पर शत्रु। राजा के पक्षपातियों में आतंक फैला कर, हमें शत्रु का आगे बढ़ना रोकना है।''

परिणाम (Effects)—सितम्बर नरसंहार के कई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े :-

(i) यह क्रान्ति का सबसे निर्दयतापूर्ण अपराध था जिसके परिणामस्वरूप सैंकडों व्यक्तियों को मृत्यु ने ग्रस लिया।

(ii) इसके पश्चात् सम्पूर्ण फ्रांस में आतंक का राज्य शुरू हो गया। अनेक अबोध व्यक्तियों को मार डाला गया।

(iii) इससे राष्ट्रीय अनुशासन और एकता की भावना स्थापित हुई। क्रान्ति के विरोधी फिर न उठ सके। क्रान्तिकारियों की विजय का एक कारण यह भीवत्स हत्याकाण्ड था।

"सितम्बर के नरसंहार ने क्रान्ति तथा स्वतन्त्रता के उद्देश्यों पर बुरा प्रभाव छोड़ा।"

वामी की लड़ाई में सफलता, 20 सितम्बर, 1772 ई.

वामी की लड़ाई (20 सितम्बर, 1792 ई.) इतिहास की कुछ निर्णात्मक लड़ाईयों में से एक थी। इसमें सफलता के कारण क्रान्ति की सुरक्षा हो सकी। जनरल दूमोरिये (General Dumouriez) के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेनाओं ने मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं को करारी हार दी। यह क्रान्तिकारियों की प्रथम गौरवपूर्ण विजय थी। इससे उनका साहस बहुत बढ़ गया। कुछ सप्ताहों में फ्रांस की भूमि पर एक भी आस्ट्रिया अथवा प्रशा का सैनिक न रहा। फ्रांस क्रान्ति विरोधियों के चंगुल से बच गया। कवि गेटे (Goethe) ने इस लड़ाई को नवयुग का सूत्रपात करने वाला स्वीकार किया है। इसके पश्चात फ्रांसीसी सेना ने आस्ट्रियन सेना को जेमापीस (Jemappesa) के स्थान पर हरा कर बैल्जियम पर कब्जा कर लिया। दूसरी ओर, सेवाय (Savoy) तथा मध्य नीस (Nice) पर फ्रांस का अधिकार हो गया। क्रान्तिकारियों की सेनाएं मध्य राइन तक के प्रदेशों तक पहुंच गई।

राष्ट्रीय सम्मेलन, 21 सितम्बर, 1792-26 अक्तूबर, 1795 ई०

लुई 16वें को 11अगस्त, 1792ई० को पदच्युत किया गया। इसके साथ ही 1791 ई. के संविधान की भी समाप्ति हो गई। अब नया संविधान बनाने की आवश्यकता थी, जिसके अनुसार फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना हो सके। व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) के पास नवीन संविधान का निर्माण करने का कोई अधिकार न था अतः पेरिस की कम्यून (Commune), जो कि उस समय अति शक्तिशाली बन गयी थी, ने सभी व्यस्क व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करके नये निर्वाचन करके नेशनल कन्वेंशन बुलाई। 21 सितम्बर, 1792 ई० से इसका सम्मेलन शुरू हुआ। यद्यपि इसका प्रमुख कार्य फ्रांस को एक गणतन्त्रात्मक संविधान प्रदान करना था तथापि इसने क्रांति की प्रगति में बाधा डालने वाली अन्य कई समस्याओं के समाधान का प्रयत्न भी किया। "शायद ही इतिहास में किसी वैधानिक संस्था को अपने आरम्भ में ही इतनी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा हो जितना कि नेशनल कन्वेंशन को।"

राष्ट्रीय सम्मेलन की समस्यायें (Problems faced by Nation Convention)-राष्ट्रीय सम्मेलन को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था, उन में से प्रमुख थीं :-

(i) राष्ट्र के लिये नवीन संविधान की रचना करना।

(ii) पद्च्युत राजा लुई 16वें का क्या किया जाए?

(iii) फ्रांस में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना तथा क्रान्ति विरोधी तत्वों से छुटकारा पाना।

(iv) फ्रांस में एक नियमित सरकार की स्थापना करना, जो प्रशासन को दृढ़ता एवं योग्यतापूर्वक चला सके।

(v) समाजसुधार के कार्यों को संगठित तथा सुयोजित करना।

(vi) विदेशी शक्तियों की ओर से क्रान्ति के विरुद्ध होने वाले खतरे का सामना करना तथा देश की सुरक्षा करना।

(vii) राष्ट्रीय सम्मेलन के सम्मुख सबसे विकट समस्या थी-जिरोंदिस्त तथा जैकोबिन दलों में आपसी मतभेद। यद्यपि दोनों दल फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये वे अलग-अलग तरीके अपनाना चाहते थे। जिरोंदिस्त शान्तिमय ढ़ग से गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे जबकि कैकोबिन उग्रवादी थे तथा हिंसा और आतंक का सहारा लेना चाहते थे। इनके आपसी मतभेदों के कारण फ्रांस में गृह-युद्ध (Civil War) हो सकता था।

(viii) इसको प्रवासियों (Emigers) की समस्या को हल करना था। इनमें से अधिकांश समस्यायों का समाधान तो राष्ट्रीय सम्मेलन ने किया परन्तु कुछ मामलों में उसे सफलता न मिली।

राष्ट्रीय सम्मेलन के कार्य (Works of the National Convention)

दल स्थिति (Party Position)-जब राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन आरम्भ हुआ तो इसके सदस्यों की संख्या 782 थी। इन में से अधिक संख्या उन लोगों की थी जो राज्य-सत्ता के विरोधी तथा गणतन्त्र के पक्षपाती थे। 200 के लगभग जिरोदिस्त (Girondists) थे जिनमें ब्रिसो, वर्जनियाण्ड (Vergniand), टामसन (Thomas), पेने (Paine) तथा कंडोर्सत (Condorcet) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वे संवैधानिक तरीके से गणतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्य महत्वपूर्ण राजनैतिक दल था जैकोबिन का। उसके सदस्यों की संख्या 100 के लगभग थी। उनके नेताओं में प्रमुख थे-दांतों, कार्नो (Carnot), राब्सपीयर तथा सेंट जस्ट (St. Just)। वे हिंसा और शक्ति का प्रयोग करके गणतन्त्र लाना चाहते थे। जैकोबिन दल के सदस्यों की संख्या तो कम थी परन्तु उसका नेतृत्व नवयुवक, साहसी, यथार्थवादी तथा प्रभावशाली नेताओं के हाथ में था। उनकी गतिविधियों का केन्द्र था-पेरिस का नगर। इन दो दलों के अतिरिक्त शेष 482 सदस्य स्वतन्त्र विचारों के थे जो स्थिति और कार्यक्रम के अनुसार अपना मत देते थे। इस तरह राष्ट्रीय सम्मेलन का स्वरूप पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं था।

(i) गणतन्त्र की स्थापना (Esatablishment of Republic)-सर्वप्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन ने गणतन्त्र की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में पूर्ण सहमति से 21 सितम्बर, 1792 ई. के ऐतिहासिक दिन यह घोषित किया गया कि अब फ्रांस में राजतन्त्र का अन्त कर दिया गया है ('Royality is abolished in France')। सदस्यों में गणतन्त्र की स्थापना

के लिये इतना उत्साह था कि इस प्रस्ताव पर कोई बहस न हुई। एक सदस्य ने कहा "बहस करने की क्या जरूरत है जबकि हम सब एकमत हैं। राजा के दरबार अपराधों तथा घूंसखोरों के गर्म बिस्तर हैं। राजाओं का इतिहास कौमों की शहादत की कहानी है।" राजा का बंदीगृह (Temple) के पास ढिंढोरा पिटवा कर गणतन्त्र की स्थापना की घोषणा की गई।

(ii) उपाधियों का अन्त (Abolishing the Titlesa)- दूसरा महत्वपूर्ण कार्य जो इस सम्मेलन ने पूर्ण किया वह था विभिन्न उपाधियों तथा अधिकार-युक्त पदों की समाप्ति। इसके पश्चात् लुई 16वें को भी एक साधारण नागरिक (Citizen Capet) की तरह ही पुकारा जाना था। यहां तक कि ताश के पत्तों से भी बेगम और बादशाह का उन्मूलन कर दिया गया (Even Kings and Queens were discarded from playing cards)।

(iii) राजा को मृत्युदण्ड (Guillotining of the King 21th Jan. 1793)- राष्ट्रीय सम्मेलन के समक्ष एक महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि राजा का क्या किया जाए। लुई 16वें पर देशद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। मुकद्दमें के सिलसिले में एक संदूकची प्रस्तुत की गई, जिसमें वह गुप्त पत्र व्यवहार बन्द था, जो कि राजा और उसके परिवार ने विदेशी राजाओं तथा फ्रांस से भागे हुए कुलीनों के साथ किया गया था। राजा पर तीन दोष लगाये गये (i) उसने प्रवासियों (Emigresa) का साथ दिया था। (ii) उस ने संविधान का गला घोंटने की कोशिश की थी। (iii) आस्ट्रिया तथा प्रशा के साथ युद्ध में उसने फ्रांसीसी सेना का नेतृत्व ठीक ढंग से नहीं किया था और कि वह क्रान्ति के शत्रुओं से मिला हुआ था। जिरोंदिस्त ने वर्जिन्याड (Vergniand) के अधीन यह मांग की थी कि राजा के मामले को हल करने के लिये सम्पूर्ण फ्रांस में जनमत करवाया जाए परन्तु जैकोबिन राजा को मृत्युदण्ड देने के लिये कटिबद्ध थे। मुकद्दमें के समय दांतों ने एक प्रभावशाली भाषण दिया। इसमें उसने कहा "यूरोप के राजाओं ने हमें चुनौती दी है। इस के उत्तर में हम राजा का सिर उनके पांवों में फेंक देंगे।" राब्सपीयर ने कहा, "राजा को मरना ही पड़ेगा ताकी राष्ट्र जीवित रह सके।" सभा भवन में बैठे उत्तेजित लोगों ने ललकार कर कहा कि 'जो लुई को बचाने का यत्न करेगा, हम उसका वध कर देंगे।" मत के समय सदन में 721 सदस्य उपस्थित थे। 387 सदस्यों ने राजा के लिए मृत्यु नामक प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया तथा 334 ने इसका विरोध में इन 387 मतों में से 26 सदस्यों का मत था कि राजा के वध को स्थगित कर दिया जाए। इस तरह से केवल 361 (334-26) सदस्य राजा को तत्काल मृत्युदण्ड देने के हक में थे तथा 360 (334+26) इस मामले को टालना चाहते थे। अतः केवल एक वोट के बहुमत से 21 जनवरी, 1793 को प्रातः 10-20 बजे लुई 16वें को गिलोटिन किया गया। मृत्यु के समय लुई ने ये शब्द कहे "हे महानुभावों, मुझ पर जो दोष लगाया गया है में उसमें निर्दोष हूँ। मेंरे खून से फ्रांसीसी लोगों को प्रसन्नता प्राप्त हो।" उसके ये शब्द नगाड़ों की आवाज में कहीं खो गये। एक ओर से यह नारा सुनाई दिया 'राष्ट्र जिन्दाबाद' (Vive la nation or long live the Nation) पीछे एक क्रान्तिकारी पुकार उठा, "हमने अपने पीछे परम्परा की सड़कें तोड़ दी हैं।"

राजा की मृत्यु का प्रभाव (Effects of Louis's Death)-राजा के वध का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस घटना के पश्चात् इंग्लैण्ड भी क्रान्ति विरोधी युद्ध में शामिल हो गया। पिट (Pitt) ने लुई की मृत्यु को एक 'अमानवीय घटना' (Most Inhuman Act) की संज्ञा दी। इंग्लैण्ड भी क्रान्ति विरोधी युद्ध में शामिल हो गया। इंग्लैण्ड से फ्रांसीसी राजदूत को बाहर निकाल दिया गया। अतः यह घटना प्रथम संगठन (First coalition) का कारण बनी। इस संगठन में इगंलेण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल, सार्डीनिया, टस्कनी (Tuscany) तथा नेपल्ज (Naplesa) इकट्ठे हो गये थे। राजा की मृत्यु से लेकर नेपोलियन के उदय तक फ्रांस ने कभी पीछे की ओर नहीं झांका। उसके लोगों में राजतन्त्र के प्रति घृणा की भावना इतनी तीव्र हो गई कि वे किसी एक व्यक्ति में शक्ति का केन्द्र नहीं चाहते थे। यही विचार डायरेक्टरी के संविधान की आधारशिला बना। राजा की मृत्यु के साथ जिरोंदिस्त पार्टी का प्रभाव भी कम होने लगा। जैकोबिन दल फ्रांस की राजनीति पर छा गया।

(iv) फ्रांस के लिये नया कैलेण्डर (New Calendar for France)-22 सितम्बर, 1792 ई० को राष्ट्रीय सम्मेलन ने क्रिश्चियन कैलेण्डर के स्थान पर फ्रांस में एक नवीन गणतन्त्रीय पंचाँग (Calendar) चालू किया। इस पंचाँग में 12 मास का वर्ष और तीस दिन का एक मास माना था। प्रत्येक दसवां दिन छुट्टी का निश्चित किया गया था। वर्ष के अन्त में 5 छुट्टियों की व्यवस्था थी। रविवार (Sunday) तथा अन्य पर्व दिवस (Saint days) समाप्त कर दिये गये थे। दिनों तथा महीनों के पुराने नामों को बदल कर ऋतुओं, पालतू पशुओं तथा वनस्पतियों के आधार पर नये नाम दिये गये थे। उदाहरणता सर्दी के महीनों को ये नाम दिये गये- 'Snowy', 'Rainy' तथा ' Windy' इत्यादि। बसन्त ऋतु के महीनों के लिए 'Buddy', 'Flawery' तथा 'Meadowy' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि लोग रूढ़ियों को नष्ट करना चाहते थे।

(v) धर्म पर आक्रमण (Attack on Christianity)-पेरिस नगर की सभा (Paris Commune) के कई प्रमुख नेता चाहते थे कि क्रान्ति का अन्त केवल राजा की मृत्यु के साथ ही नहीं हो जाना चाहिए। हमें तब तब सांस नहीं लेनी चाहिए जब तक कि हम, 'धरती के राजाओं' (Kings of the Earth) तथा स्वर्ग के राजाओं (Kings of the Heaven) अथवा ईश्वर को सिंहासन से न उतार दें। वे गिरजाघरों को 'तर्क के मन्दिर' (Templesa of Reason) बनाना चाहते थे तथा बुद्धिदेवी की पूजा को महत्व देना चाहते थे। हरबर्ट ने कहा था, "प्रकृति के अलावा हम किसी और धर्म को नहीं चाहते ; तर्क के सिवाय हम किसी अन्य मन्दिर को नहीं चाहते। हम स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातत्व के अतिरिक्त कोई अन्य पूजन नहीं चाहते।" 10 नवम्बर, 1793 ई० को 'Feast of Reason' को मनाया गया। इस मौके पर 'Notre Dome' में एक नवयुवती ने स्वतन्त्रता की टोपी पहन कर तथा हाथ में बर्छी लेकर नृत्य किया। वह 'तर्क की देवी' का प्रतिनिधित्व करती थी।

(vi) राष्ट्र सुरक्षा (Defence of the Nation)-राष्ट्रीय सम्मेलन ने देश में एक राष्ट्रीय चेतना पैदा कर दी। 1794 ई. में इसकी ओर से एक आदेश निकाला गया कि सशक्त नवयुवक फ्रांसीसी सेना में भर्ती हों। इस आदेश में सब आयु और सब प्रकार की शारीरिक क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिए अलग-अलग कार्य बनाये गये। जवानों को सैनिक बन कर लड़ने का काम सौपा गया। प्रौढ़ व्यक्ति शस्त्र बनाने और मोर्चों पर शस्त्र पहुँचाने का काम करें। स्त्रियों को तम्बू व कपड़े तैयार करने तथा युद्ध में घायल सैनिकों की देखभाल का कार्य सौंपा गया। राष्ट्रीय संकट के समय राष्ट्रीय युद्ध में प्रत्येक नागरिक का पूर्ण सहयोग लेने के लिये यह आदेश सर्वाधिक उपयुक्त था। इस प्रबन्ध का श्रेय रक्षा-मन्त्री कार्नो (Carnot) को दिया जाता है। उसने लोगों में लड़ने की देश-भक्ति की भावना भर दी। सारा फ्रांस शस्त्र-युक्त (Nation of Arms) बना दिया। इसी लिये उसे विजय का संगठन-कर्ता (Organiser of the Victory) कहा गया है लोगों को यह बात स्पष्ट हो गई कि वे अपनी स्वतन्त्रता, क्रान्ति, देश-रक्षा तथा जनता की सार्वभौमिकता के लिये लड़ रहे थे।

कन्वेन्शन के इन प्रयत्नों का यह प्रभाव हुआ कि स्पेन को फ्रांस के साथ अपमानजनक सन्धि करनी पडी। 1795 ई० में प्रशा के शासक ने राईन (Rhine) प्रदेश में फ्रांसीसियों को खुली छूट दे दी। हालैण्ड के शासक विलियम पंचम (William V) को अपदस्थ करके उसके भू-भाग को बटेविया (Batavia) के गणतन्त्र के अधीन कर दिया गया। बटेविया के गणतन्त्र ने फ्रांस के साथ गठजोड़ कर लिया। बेल्जियम को फ्रांस ने पूर्ण रूप से जीत लिया। इस तरह से विदेश में फ्रांस की शक्ति का डंका बजने लगा।

(vii) राष्ट्र-भाषा (National Language)-राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने की दृष्टि से नेशनल कन्वेन्शन ने यह आदेश भी दिया कि सारे फ्रांस में फ्रेंच भाषा का ही प्रयोग किया जाए।

(viii) शिक्षा सम्बन्धी सुधार- नेशनल कन्वेन्शन ने शिक्षा सम्बन्धी कई सुधार किये। देश में नार्मल स्कूल, पोलिटैक्निक स्कूल तथा मेंडिकल शिक्षा केन्द्र खोले गये। राष्ट्रीय अजायबघर तथा लाईब्रेरी की स्थापना की गई। निशुल्क, जरूरी तथा धर्म-निरपेक्ष आरम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया।

(ix) सामाजिक सुधार- सामाजिक क्षेत्र में कन्वेन्शन ने कुछ क्रान्तिकारी कार्य किये। जो बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, उन्हें सरकार ने अपने कब्जे में ले लिया। उनके मालिकों (Emigresa) को इसका कोई मुआवजा नहीं दिया गया। इन जागीरों तथा जमीनों को छोंटे-छोटे भागों में बॉट कर उन किसानों को दे दिया जिनके पास जमीन नहीं थी। इस प्रकार निर्धन कृषकों को राहत मिली। यह एक सामाजिक न्याय भी था। मारा (Marat) ने कहा था कि अब तक अमीर गरीबों का खून चूसते आये हैं और अब उनके विरुद्ध बदला लेने का समय आया है।

(x) कानून संहिता (Code of Laws)-कानून के क्षेत्र में कन्वेन्शन के शासन-काल में कई सुधार हुए। सम्पूर्ण देश के लिए एक समान कानून संहिता (Code of Laws) बनाने का कार्य शुरू हुआ। यह कानून भी पास हुआ कि अगर किसी व्यक्ति ने ऋण लिया और वह उसे वापिस न कर सका तो ऋणी होने के कारण उसे दण्डित नहीं किया जायेगा। उत्तराधिकार संबन्धी कानून में संशोधन किया गया। पहले यह कानून था कि किसी व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसकी अधिकांश सम्पत्ति तथा अधिकार उसके सबसे बड़े लड़के को मिलते थे। अब यह नियम बनाया गया कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसके सब बच्चों को उत्तराधिकार का समान अधिकार होगा अर्थात मृतक की सम्पत्ति उसके बच्चों में समान रूप से बांटी जायेगी।

(xi) कुछ फुटकर सुधार (Some Miscellaneous Reforms)-कुछ फुटकर सुधार भी किये गये, जैसे 'Laws of the

Maximum' के अनुसार आवश्यक वस्तुओं के भाव तथा मजदूरी के अधिकतम दर निश्चित कर दिये गये। इससे अधिक दाम लेने वालों को दण्ड दिये जाते थे। नीग्रो (Negro) दासता (Slavery) को समाप्त कर दिया गया। सारे फ्रांस में नाप-तोल की एक मीट्रिक प्रणाली अपनाई गई।

(xii) आन्तरिक सुरक्षा के पग (Steps for Internal Security)- जब नेशनल कन्वेन्शन का शासन प्रारम्भ हुआ तो देश में अराजकता तथा राजनैतिक अस्थिरता का वातावरण था। यह क्रान्ति के नाम पर धब्बा था। इस गम्भीर स्थिति से निपटने के लिये एक शक्तिशाली सरकार की जरूरत थी। उस समय यह आवश्यकता थी कि किसी व्यक्ति व समूह को सारे अधिकार दे दिये जायें। कन्वेन्शन के लिये यह सम्भव न था कि एक लोकतन्त्रीय रिपब्लिक की स्थापना करे इसलिये उसने एक ऐसी समिति का निर्माण किया जिसे कि शासन और व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त थे। इस समिति का नाम लोक सुरक्षा समिति (Committee of Public Safety) रखा गया। इसका गठन 6 अप्रैल, 1793 को हुआ। इसके 12 सदस्य थे। यह समिति स्वतन्त्रता के नाम पर कार्य करती थी परन्तु इसके हथियार थे जुल्म, अन्याय, अत्याचार, हिंसा तथा आतंक। राब्सपीयर, कार्नो (Carnot) तथा सेंट जस्ट (St. Just) इसके प्रमुख सदस्य थे।

इसके सम्बन्ध में मारा (Mara) ने कहा था "राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने के लिये स्वतन्त्रता का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करना आवश्यक है।" इसके साथ-साथ 21 सदस्यों की एक सामान्य रक्षा समिति (Commettee of General Security) की स्थापना भी की गई। इसका काम शान्ति एवं व्यवस्था कायम करना था। यह जिसे चाहे जेल भेज सकती थी। 10 मार्च, 1793 ई० को क्रान्तिकारी न्यायालय (Revolutionary Tribunal) की स्थापना की गई। क्रान्ति के विरोधियों को इस न्यायालय के सामने पेश किया जाता था और इस माध्यम से उन्हें कठोर दण्ड दिये जाते थे। कन्वेन्शन के एक सदस्य ने कहा था, "कानून की छाया में निर्दोष व्यक्तियों का वध करने के लिए इस न्यायालय की स्थापना की गई थी।" इस न्यायालय में संक्षिप्त रूप से मुकद्दमें चलाए जाते थे और झटपट फैसला करके दोषी को दण्ड दिया जाता था। इसके इलावा संदेह-युक्त व्यक्तियों को दण्ड देने के लिये 'Law of the Suspects' नामक कानून द्वारा किसी भी व्यक्ति को शक की बिना पर गिरफ्तार करके क्रान्तिकारी न्यायालय के सामने पेश किया जा सकता था। 21 जिरोंदिस्त नेताओं मादाम रोलां, बेली, मेंरी एन्तवायनेत, ड्यूक आफ ओर्लिया (Duke of Orlean) तथा बार्नव (Barnave) आदि व्यक्तियों को गिलोटिन कर दिया गया। Lyons, Marseillesa, Bordeaux तथा La Vendee आदि स्थानों पर विद्रोह को कुचल डाला गया। हजारों की संख्या में लोगों को मृत्यु की भेंट चढ़ा दिया गया। जेकोबिन दल के नेताओ ने जिरोंदिस्त दल का अन्त करने के लिए लोक सुरक्षा समिति, सामान्य रक्षा समिति, क्रान्तिकारी न्यायालय तथा संदेह-युक्त व्यक्तियों सम्बन्धी कानून का अनुचित प्रयोग किया। इनके द्वारा देश में पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित हो गई।

(xiii) **1795 ई० का संविधान** (Constitution of 1795 A.D.)- नेशनल कन्वेन्शन ने फ्रांस के लिए एक नया संविधान तैयार किया। इस संविधान को तैयार करने में लगभग 3 वर्ष का समय लगा। 26 अक्तूबर, 1795 ई० को यह संविधान बन कर तैयार हो गया।

दो सदन :-

नये संविधान में दो सदन वाले विधानमंडल की व्यवस्था की गई थी। उच्च सदन का नाम बुजुर्गों का सदन (Council of Elders or Ancients) तथा निम्न सदन का पांच सौ का सदन (Council of Five Hundred) रखा गया। इन सदनों के सदस्यों का चुनाव अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली (Indirect System of Election) के द्वारा होता था। उच्च सदन के प्रत्येक सदस्य के लिये कम से कम आयु 40 वर्ष निश्चित्त की गई। उसके लिये विवाहित होना आवश्यक ठहराया गया। इनको किसी कानून को Veto करने का अधिकार प्राप्त था। निम्न सदन के सदस्यों की कम से कम आयु 30 वर्ष रखी गई। इनका कार्य देश के कानून बनाना था। इनकी अनुमति के बिना कोई युद्ध अथवा सन्धि की घोषणा नहीं हो सकती थी। प्रत्येक वर्ष इन दोनों सदनों के 1è3 सदस्यों का रिटायर होना आवश्यक किया गया।

कार्यपालिका- कार्यपालिका के सभी अधिकार 5 सदस्यों की एक डायरेक्टरी (Directory) को प्रदान किये गये। निम्न सदन (Council of Five Hundred) जिन 50 प्रत्याशियों को नियुक्त करता था, उनमें से उच्च सदन (Council of Ancients) डायरेक्टरी के लिए 5 सदस्य चुनता था। प्रत्येक डायरेक्टर केवल 3 मास तक डायरेक्टरी का अध्यक्ष अथवा फ्रांस का प्रधान बनता था। प्रत्येक वर्ष एक डायरेक्टर रिटायर होता था। डायरेक्टरी 6 व्यक्तियों के एक मन्त्रिमण्डल का गठन

करती थी। डायरेक्टर तथा मन्त्री दोनों में से किसी सदन में नहीं बैठते थे। डायरेक्टरों को अधिक्षेप करके (Impeach) पद-मुक्त किया जा सकता था।

प्रान्तीय प्रशासन- प्रान्तीय तथा स्थानीय प्रशासन में 1791 ई० के विभाजन को ही अपनाया गया। डिपार्टमेंट तथा जिलों की सभाओं को तोड़ दिया गया। निर्वाचित अधिकारियों के स्थान पर डायरेक्टरी द्वारा नियुक्त अधिकारियों की व्यवस्था की गई। नगर सभाओं की संख्या घटा दी गई।

अन्य विषय- लोगों को धर्म-पूजन तथा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता दी गई। उन्हें सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन भी दिया गया परन्तु राजनैतिक कल्बों तथा शस्त्र-युक्त सभाओं (Armed Assembliesa) का निषेध कर दिया गया।

1795 ई० के संविधान का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि पिछली घटनाओं से फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों ने बहुत कुछ सीखा। द्विसदनीय प्रणाली; कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से अलग करना; नई सरकार की विभिन्न शाखाओं की शक्तियों का स्पष्टीकरण आदि ने 1791 ई. के संविधान की कई त्रुटियों को पूरा कर दिया। सदनों में गुप्त मतदान की व्यवस्था; सदन की गैलरी में दर्शकों की संख्या कम करना; अगर जरूरत पड़े तो सदन की बैठकें किसी अन्य स्थान पर भी की जा सकती हैं; सेनाएं सदन को भयभीत करने के लिए इसके समीप न आएं आदि कुछ ऐसी बातें थीं जिनके कारण 'भीड़ का राज्य' (Rule of the Mob) समाप्त हो गया, परन्तु इतना अवश्य है कि यद्यपि संविधान गणतन्त्रात्मक था तथापि प्रजातान्त्रिक होने की अपेक्षा यह मध्यवर्गीय (Bourgeois) बन गया। सभी व्यक्तियों को वोट का अधिकार न दिया गया।

नेशनल कन्वेन्शन की विदेश नीति (Foreign Policy of the National Convention) -फ्रांस के सामने विदेशी आक्रमण का भारी खतरा था। इसलिये नेशनल कन्वेन्शन ने फ्रांस को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली किया।

प्रथम संगठन-फ्रांस की क्रान्ति को कुचलने के लिये आस्ट्रिया, प्रशा, इंग्लैण्ड, हालैण्ड, स्पेन और सार्डीनिया ने एक संघ बना लिया था। आरम्भ में इस संघ को कुछ सफलताएं मिलीं, परन्तु 1793 ई० में फ्रांस के पास अधिक सेना हो गई थी।

फ्रांस की हार- प्रथम संगठन की शक्तियां नीदरलैण्ड पर आक्रमण करके आगे बढ़ीं। प्रशा की सेना ने भी फ्रांसीसियों को हरा दिया। मेंज जीत लिया गया। स्पेन की सेना ने पिरेनीज के पर्वतों को पार किया। उत्तर में अंग्रेजी सेना ने डेनमार्क पर घेरा डाल दिया। इस प्रकार फ्रांस चारों ओर से घिर गया और हारने लगा।

फ्रांस की विजय- फ्रांस में आन्तरिक संघर्ष छिड़ा हुआ था फिर भी शत्रुओं से लड़ाई चलती रही थी। फ्रांस के सैनिकों ने उत्साह से काम लिया और इस के लिए देशव्यापी प्रयत्न किए गए।

मित्र दल की आरम्भिक सफलताओं का कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ क्योंकि फ्रांस वालों ने शीघ्र ही पुर्नगठन करके भंयकरता के साथ युद्ध आरम्भ कर दिये। उनको जीते हुए प्रदेश फिर वापिस मिल गये; बल्कि उनकी सेनाएं आगे बढ़ कर आक्रमण करने में सफल हुई। जून 1794 ई. के अन्त में फ्रांस ने बेल्जियम को विजय कर लिया तथा अंग्रेजों तथा आस्ट्रिया को पीछे खदेड़ दिया। फ्रांस वालों ने 1794 में आठ युद्धों को विजित किया; 116 नगर, 230 दुर्ग जीते, 90,000 शत्रु सैनिकों को बन्दी बनाया और 3800 तोपें शत्रुओं से छीन लीं। बेल्जियम पर अधिकार करके सेनाएं हालैण्ड में बढ़ गई। 1795 ई० उन्होंने वहां बेटेवियन प्रजातन्त्र की स्थापना की। अन्य युद्धों में भी फ्रांसीसी सेना ने विजय प्राप्त की। इंग्लैण्ड ने हर क्षेत्र में सेना हटा ली। इससे प्रथम संघ की कमर टूट गई। हालैण्ड फ्रांस का मित्र बन गया एवं स्पेन तथा प्रशा ने फ्रांस से सन्धि कर ली। आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, सार्डीनिया ने भी सन्धि कर ली।

राष्ट्रीय सम्मेलन का अन्त (End of the National Convention)—संविधान की व्यवस्थाओं ने जनता में काफी असन्तोष पैदा किया। इसमें कर देने वालों को ही मताधिकार दिया गया था। जनता की भीड़ ने 5 अक्तूबर, 1795 को राष्ट्रीय सम्मेलन भवन पर आक्रमण कर दिया। यह घटना तेरहवीं वर्देतमरे (13th Verdemaire) का विद्रोह कहलाती है। उस समय नेपोलियन पेरिस में था।

नेपोलियन बोनापार्ट—क्रोधित भीड़ का आक्रमण विफल करने के लिए सरकारी खजाने का एक अफसर नेपोलियन बोनापार्ट अपने एक सौ सैनिकों के साथ राष्ट्रीय सम्मेलन भवन में पहुंचा। उसने बड़ी कठोरता से इस विद्रोह को दबा दिया। 26 अक्तूबर, 1795 को कन्वेन्शन विसर्जित हो गयी।

कन्वेन्शन के कार्यों का मूल्यांकन (Assesasment of the Achievements of National Convention)-हेजन ने लिखा है कि "सम्भवतः इतिहास में किसी विधान सभा को ऐसी जटिल समस्याएं सुलझाने के लिऐ नहीं बुलाया गया था, जैसी कि कन्वेन्शन के सामने विद्यमान थीं।" उसे बन्दी तथा पदच्युत राजा के भाग्य का निर्णय करना था। उसे फ्रांस के आक्रमणकारियों को खदेड़ना था। देश के आन्तरिक उत्पातों और विद्रोहों का दमन करके शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करनी थी। अराजकता दूर करने के लिए एक शक्तिशाली सरकार को कायम करना था। उसे एक नया संविधान बनाना था और उसको विधान-परिषद् एवं व्यवस्थापिका सभा के कार्यों को लागू करना था। उस ने बड़े धैर्य के साथ इन कार्यों को किया।

(i) उस को आतंक का राज्य स्थापित करना पड़ा जिसके कारण हजारों व्यक्तियों को सजा हो गई। यह सारे के सारे देशद्रोही थे। कुछ निर्दोष लोग भी मारे गये।

(ii) उसने फ्रांस को संकट के समय बचाया। इस काम को चलाने के लिए उसने निर्दयता और निरंकुशता से काम लिया।

(iii) उसने अच्छे कार्य भी किये। उसने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की योजना तैयार की। उसने आर्ट्स कालेज, मेडिकल कालेज, नार्मल स्कूल, पोलीटेक्निक स्कूल, पेरिस का ला कालेज, आर्ट्स और क्राफ्टस कालेज, नेशनल लाइब्रेरी, म्यूजियम आदि संस्थाओं की स्थापना की।

(iv) धर्म के क्षेत्र में अनेक प्रयोग आरम्भ किये। धर्म को राष्ट्रीयता के अधीन बना दिया। उसने संसार को नाप-तोल की मीट्रीक प्रणाली (Meteric System) प्रदान की। उसने एक सिविल कोड बनाया जिस का उद्देश्य समानता के सिद्धांत पर पूरे समाज को खड़ा करना था। उसने एक क्रान्तिकारी कैलेण्डर भी शुरू किया।

(v) इसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राज्य को यह अधिकार है कि राष्ट्र की रक्षा के लिये नागरिकों से कोई काम ले और उनसे हर तरह के त्याग की अपेक्षा करे तो उसका यह कर्तव्य है कि उन नागरिकों की भलाई के लिये कार्य करे, उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यत्न करे। इसी कारण सार्वजनिक सुरक्षा समिति ने मजदूरों की चीजों के मूल्य पर नियन्त्रण किया, सरकारी देख-रेख में खाद्य पदार्थों का बंटवारा किया। मुद्रा को नियमित किया। व्यापार तथा शिक्षा को प्राश्रय दिया, गरीबों की सहायता की। कृषकों को उत्पादन वृद्धि के लिये प्रोत्साहित किया तथा अन्य कई तरह के लोकहित कार्यों को शुरू किया। इस प्रकार राज्य और नागरिक का सम्बन्ध एक नये सिद्धान्त पर निर्धारिक होने लगा। दोनों ने एक-दूसरे के महत्व को समझा और देशभक्ति की भावना के साथ लोक कल्याणकारी राज्य की भावना का प्रादुर्भाव हुआ।

हेज़न का मत है कि, "गणतन्त्र के अपने शानदार विजायोपहार थे, इसके अपने गौरवपूर्ण रिकार्ड थे, जिससे भविष्य में प्रेरणा तथा निर्देशन प्राप्त किया जाना था।"

आतंक का शासन (1792-95)

यदि हम विश्व की महान् क्रान्तियों के इतिहास का गहन अध्ययन करें तो हमें यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्रत्येक क्रान्ति का आरम्भिक काल बड़ा संकटमय तथा नाजुक होता है। उस समय क्रान्तिकारियों के लिए यह भय बना रहता है कि कहीं पूर्व स्थिति पुनः न स्थापित हो जाए अथवा क्रान्ति विरोधी तत्व फिर से बलशाली न बन जाए। कई बार ऐसा भी होता है कि कुछ बहारी तत्व उस परिवर्तन (जिसका प्रभाव उन पर पड़ने की सम्भावना होती है) से असंतुष्ट होकर, उसे नष्ट करना चाहते हैं। कुछ ऐसी ही स्थिति फ्रांसीसी क्रान्ति के साथ भी हुई। राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) के काल (1792-95 A.D.) में क्रान्तिकारियों को अनेक भीतरी तथा विदेशी संकटों का सामना करना पड़ा। देश में पूर्ण अव्यवस्था और अराजकता फैली हुई थी। राजतन्त्र-भक्त, कुलीन तथा क्रान्ति विरोधी इसका लाभ उठाना चाहते थे। आस्ट्रिया तथा प्रशा आदि विदेशी शक्तियों से क्रान्ति को भयंकर खतरा था। ऐसी स्थिति में क्रान्ति विरोधियों तथा क्रान्ति के विरूद्ध षड्यन्त्र करने वालों का दमन करने के लिए; विदेशी विरोधियों से क्रान्ति की सुरक्षा के लिये ; राष्ट्र को संगठित, अनुशासित तथा शक्तिशाली बनाने के लिए राष्ट्रीय सम्मेलन ने आतंक तथा हिंसा के काल को आरम्भ किया जिसे इतिहास में 'आतंक के शासन' (Reign of Terror) की संज्ञा दी गई है।

आतंक का समय (Period of Terror)- इस काल का क्रम स्पष्ट रूप से निश्चित तो नहीं किया जा सकता परन्तु इतना तो अवश्य है कि साधारणतया आतंक के काल का आरम्भ 9 मार्च, 1793 ई० में क्रान्तिकारी न्यायालय (Revolutionary Tribunal) की स्थापना से हुआ तथा इसका अन्त 28 जुलाई, 1794 ई० में राब्सपीयर की मृत्यु के सथ हुआ। इन 16 महीनों में क्रान्तिविरोधियों को आतंकित करने तथा लोगों को बलपूर्वक क्रान्ति का पक्षपाती बनाने के लिये सहस्त्रों व्यक्तियों की बलि चढ़ा दी गई। इसीलिये इस काल के लिए 'आतंक का शासन' (Reign of Terror) का नाम प्रयुक्त किया गया है।

आतंक के शासन की आवश्यकता (Need for the Reign of Terror) -आतंक के शासन की आवश्यकता पर बल देते हुए दांतों ने कहा कि क्रान्ति दो प्रकार की अग्नियों से घिरी हुई है- "घर का शत्रु तथा सीमा पर शत्रु।" राब्सपीयर ने कहा था, "क्रान्ति की लोकप्रिय सरकार के प्रमुख स्त्रोत हैं- सद्व्यवहार तथा आतंक। सद्व्यवहार के बिना आतंक नाशकारी है तथा आतंक के बिना सद्व्यवहार शक्तिहीन है।" सेंट जस्ट (St. Just) ने तो यह बात स्पष्ट कर दी, जब उसने कहा, "गणतन्त्र में प्रत्येक उस वस्तु का नाश हो जाना चाहिए जो इसका विरोध करती है।"

आतंक के शासन की आवश्यकता के प्रमुख कारण थे-

(i) क्रान्ति की भीतरी संकटों तथा बाहरी आक्रमण से सुरक्षा करना। केवल कठोर नीति अपनाकर ही राष्ट्र को संगठित तथा अनुशासित किया जा सकता था।

(ii) क्रान्ति-विरोधियों तथा क्रान्ति के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालों का दमन करना।

(iii) जैकोबिन नेताओं द्वारा हिंसा का प्रयोग करके अपने विरोधी राजनैतिक दल-जिरोंदिस्त का सफाया करना।

आतंक के नेता (Leaders of the Terror)-फ्रांस में आतंक का शासन आरम्भ करने में शक्तिशाली जैकाबिन दल के प्रभावशाली तथा अनुभवी नेताओं ने मुख्य भूमिका अभिनीत की। वे सभी यथार्थवादी थे। उनमें प्रमुख थे-दांतों (Danton), कार्नो (Carnot), राब्सपीयर (Robesapierre) तथा सेंट जस्ट (St. Just)।

आतंक लाने के लिये उठाये गये पग (Steps taken to bring the Reign of Terror)-क्रान्तिकारी नेताओं ने आतंक का शासन लाने के लिये कई महत्वपूर्ण पग उठाए-

(i) लोक सुरक्षा समिति (Committee of Public Safety)- इस समिति के 12 सदस्य थे। सभी राजकीय आदेश इस समिति द्वारा दिये जाते थे। यह एक तरह से राष्ट्रीय सम्मेलन की कार्यपालिका थी। इस ने स्वतन्त्रता, समानता तथा क्रान्ति के नाम पर लोगों पर असंख्य जुल्म किये:-

(ii) सामान्य सुरक्षा समिति (Committee of General Security)- इस समिति का काम देश में सामान्य रूप सें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना था। जिसे चाहे यह जेल में भेज सकती। इसके सदस्यों की संख्या 21 थी।

(iii) क्रान्तिकारी न्यायालय- 9 मार्च, 1793 ई० को पेरिस में एक क्रान्तिकारी न्यायालय (Revolutionary Tribunal) की स्थापना की गई। इसकी नकल पर देश के अन्य भागों में ऐसे अनेक न्यायालय कायम किये गये। इन न्यायालयों का कर्तव्य था क्रान्ति विरोधियों तथा राजतन्त्र भक्तों पर मुकद्दमें चलाना। इन न्यायालयों में न्याय का केवल मात्र ढोंग ही रचा जाता था। मुकद्दमों की सुनवाई संक्षिप्त रूप में होती थी। उदाहरणतया मुकद्दमें की सूचना दस बजे प्रातः दी जाती, मुकद्दमा 11 बजे शुरू होता, उसका निर्णय 2 बजे दोपहर बाद होता तथा सांय 4 बजे अपराधी को फांसी दे दी जाती। इन न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील (Appeal) नहीं हो सकती थी। इनके द्वारा दिये जाने वाले अधिकांश दण्ड मृत्युदण्ड ही होते थे।

(iv) संदेह-युक्त व्यक्तियों का विधान (Law of the Suspects)-17 सितम्बर, 1793 ई० को संदेहयुक्त व्यक्तियों को कानून के माध्यम से दण्ड देने के लिये एक विशेष कानून पास किया गया, इसे Law of the Suspects कहते हैं। इसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को संशय अथवा शक (Doubt) के आधार पर दण्ड दिया जा सकता था। इसकी सहायता से जैकोबिन दल के नेताओं ने अपने विरोधियों का सफाया किया।

(v) गिलोटिन का आविष्कार (Discovery of Guillotin)-क्रान्ति काल में अपराधियों का वध करने के लिये डॉ० गिलोटिन नामक व्यक्ति ने एक उपकरण का आविष्कार किया था। एक रेढ़ी पर दो स्तम्भ स्थापित किये जाते थे। इनके

बीच एक तेज धार वाला ब्लेड (Blade) बांध दिया जाता था। जिस व्यक्ति को दण्ड देना होता था, उसको इन स्तम्भों क बीच लिटा दिया जाता था। और रस्सी खेंचने से तेज धार वाला ब्लेड उसकी गर्दन पर गिरता था, जिससे उसका सिर धड से अलग हो जाता था, दो पहियों वाली जिस रेढ़ी पर यह उपकरण लगाया जाता था उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना आसान था। सार्वजनिक स्थानों पर इस उपकरण को रख कर क्रान्ति-विरोधियों का अन्त किया जाता था ताकि लोगों में भय फैल जाए। आविष्कारकर्त्ता के नाम पर ही फांसी देने की इस प्रणाली का नाम 'गिलोटिन' पड़ गया।

(vi) अन्य पग (Other Steps)- इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का गला घोंट दिया गया। मानवीय अधिकारों की घोषणा की खुले आम उल्लघंना की गई। क्रान्ति के विरुद्ध न कोई आवाज उठा सकता था और न लिख सकता था। लोगों पर निगरानी रखने के लिये प्रत्येक डिपार्टमेंट (Deparment) में राष्ट्रीय एंजेटों (National Agents) की नियुक्ति की गई। प्रत्येक कम्यून (Commune) में 'Watch Committer' कायम की गई जो क्रान्ति विरोधियों पर कड़ी नजर रखती थीं। प्रत्येक जैकोबिन क्लब में एक Sub-Section बना दिया गया जिसे (Peoplesa Society) कहते थे। इसका कर्तव्य होता था सैनिक, धन, अन्न इकट्ठा करना तथा संदेह युक्त व्यक्तियों की सूचियाँ तैयार करना।

अतः हम देखते हैं कि फ्रांस में इस काल में अवैधानिक शासन-तंत्र की स्थापना हो गई थी।

आतंक भयंकरता (The Hideous Terror)- इस काल में विभिन्न स्थानों पर गणतन्त्र के विरुद्ध विद्रोह हुए। लिअन्ज़ (Lyons) का विद्रोह अति महत्वपूर्ण था। कुलीनों की शक्ति का अन्त होने के कारण लिअन्ज़ के वासियों का रेशम का व्यवसाय ठप हो गये थे। क्योकि केवल कुलीन ही रेशम का कपड़ा खरीदते थे। अब वे फ्रांस छोड गये थे। इसलिये यहां के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इसको कुचलने में 4.5 महीने लगे। लिअन्ज के नगर को तबाह कर दिया गया। क्रान्तिकारियों ने इस नगर का नाम बदल कर स्वतन्त्र नगर (Commune Affranchie or Liberated City) रख दिया।

ला वैंडी (La Vendee) के स्थान पर भी लोग गणतन्त्र के विरुद्ध भड़क उठे। सेनापति कैरियर (Carrier) ने लगभग 1800 विद्रोहियों को नाव में भरकर निर्दयतापूर्वक लोइर (Loire) नदी में डुबो दिया। यहां तक कि लाशों से नदी का पानी विषैला हो गया। रानी ऐन्त्वायनेत, ड्यूक ऑफ ओरलिया (Duke of Orleans), मादामा रोलां (Madame Roland), बेली (Bailly), कास्टिन (Custine) तथा बीरों (Biron) को गिलोटिन की भेंट चढ़ा दिया गया। मृत्यु का आलिंगन करते हुए मादाम रोलां ने कहा था; "हे स्वतन्त्रते तेरे नाम पर क्या-क्या अत्याचार किये जाते हैं।" गिलोटिन होते समय उसका मुख स्वतन्त्रता देवी की एक मूर्ति की तरफ था जिसे सम्बोधित करके रोलां ने उक्त शब्द कहे थे।

Besatillesa नामक एक गणतन्त्रवादी ने कहा था, "ये हैं वे नाम जिनकी गिलोटीन की लाटरी निकल आई है।"

गिलोटिन का उपकरण इतना लोकप्रिय हो गया था कि इसकी शक्ल के गहने बना कर औरतें पहनने लगी थीं। बच्चे गिलोटीन के खिलौनों से खेलते थे। इन खिलौनों पर कुलीनों को गिलोटिन होते दिखाया गया था।

पेरिस में क्रान्तिकारी न्यायालय द्वारा 2639 लोगों का खून बहाया गया। सारे फ्रांस में ऐसे न्यायालयों पर 17,100 व्यक्ति मृत्यु की गोद सुला दिये गये। लिअन्ज़ तथा ला वैण्डी के स्थानों पर 40,000 व्यक्ति संक्षिप्त की मुकद्दमेबाजी (Summary Trials) द्वारा दण्डित किये गये।

आतंक के शासन का अन्त(End of the Reign of Terror)- अन्त में राब्सपीयर की मृत्यु के पश्चात् इस घृणित तथा हिंसात्मक आतंक काल का अन्त हुआ। इसके कई कारण थे-

(i) आतंक के शासन को प्रशासन का स्थायी उपकरण बनान सम्भव न था क्योंकि लोग इसके विरुद्ध हो रहे थे।

(ii) आतंक के कारण जनता में क्रान्ति तथा गणतन्त्र शासन-प्रणाली के विरुद्ध घृणा बढ़ रही थी।

(iii) आतंक का शासन एक सैनिक कार्यवाही थी। इस को अधिक समय तक कायम रखना कठिन था। जब नागरिक प्रभुत्व (Civil Authority) स्थापित हो गया, इसका अन्त निश्चित था।

(iv) अब युद्ध में क्षेत्र में फ्रांस ने स्पेन, प्रशा तथा हालैण्ड के विरुद्ध विजयें प्राप्त कर ली थीं। इन देशों को फ्रांस के साथ अपमानजनक संधियां करनी पड़ीं। क्रान्ति का बाहरी खतरा टल गया तो आतंक के शासन की भी आवश्यकता न रही।

(v) जैकोबिन दल की आपसी फूट भी इसके अन्त का कारण बनी। दल तीन भागों में टूट गया। इन तीना उपदलों के नेता थे हरबर्ट (Herbert), दांतों तथा राब्सपीयर (Robesapierre)। पहले पिछले दो ग्रुपों ने मिल कर हरबर्ट का अन्त कर दिया और बाद में जब दांतों ने अप्रैल, 1794 ई. में आतंक का राज्य का अन्त करने का सुझाव दिया तो रॉब्सपीयर तथा उसके साथी सेंट जस्ट (St. Just) ने उसको गिलोटिन की भेंट चढ़वा दिया। इस आपसी फूट के कारण आतंक का राज्य ढीला पड़ गया।

(vi) कन्वेन्शन में रॉब्सपियर का विरोध बढ़ रहा था। उसके विरोधी संगठित हो गये थे। उनको यह सह्य नहीं था कि रॉब्सपियर सारी शक्तियों का स्वामी बन जाए और मनमानी करे। 27 जुलाई, 1794 ई. जब रॉब्सपियर कन्वेन्शन के आगे भाषण देने लगा तो उसके विरोधियों ने चिल्लाना शुरू कर दिया, "अत्याचारी हाय, हाय। एक सदस्य बोला, "दांतों का खून इसका (राब्सपीयर) का गला घोंट रहा है।" उन्होंने उस पर आक्रमण कर दिया। उसने भाग कर जैकोबिन क्लब भवन में शरण ली। कन्वेन्शन की सेनाओं ने भवन को घेर कर उस पर धावा बोल दिया। एक गोली रॉब्सपियर के जबाड़े पर लगी। वह गम्भीर रूप से घायल हो गया। 17 घण्टों तक वह कष्ट में रहा। घायल अवस्था में उसे गिरफ्तार कर लिया गया और 28 जुलाई, 1794 ई. को गिलोटिन को मार दिया गया। रॉब्सपियर की मृत्यु के साथ ही आतंक का राज्य का अन्त हो गया।

आतंक के राज्य का प्रभाव (Effect of the Reign of Terror)-आतंक के शासन के फ्रांस तथा उसके अड़ोस-पड़ोस पर कई प्रभाव पड़े -

(i) फ्रांस में आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था कायम हो गई, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता थी।

(ii) राष्ट्र संगठित तथा अनुशासित हो गया।

(iiii) सगंठित तथा अनुशासित होकर फ्रांस की सेनाओं ने विदेशी राज्य की सेनाओं को पछाड़ दिया ।

(iv) विदेशों पर आतंक के राज्य का बुरा प्रभाव पड़ा। क्रान्ति के प्रति सहानुभूति रखने वाले अनेक व्यक्ति जैसे कॉलरिज (Coleridge), वर्डजवर्थ (Wordsworth), तथा सदे (Southey) आदि प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार प्रतिक्रियावादी बन गये। क्रान्ति के परम मित्रों में क्रान्ति के प्रति घृणा पैदा हो गयी। उनके लिये फ्रांसीसी क्रान्ति 'केवल ईश्वर निन्दापूर्ण पाखण्ड तथा गिलोटिन की भंयकरता की परिचायक मात्र बन कर ही रह गई।'

आलोचना (Criticism)- कई इतिहासकारों ने आतंक के राज्य की कटु आलोचना की है तथा अनेक ने इस को न्यायोचित ठहराया है। कुछ इतिहास तो इस काल को विश्व के इतिहास का सबसे अधिक भंयकर तथा वीभत्स काल कहते हैं। गरशॉय का कथन हैं "सारांश में, यह एक सैनिक सरकार थी। यह वैधानिक नहीं अपितु क्रान्तिकारी थी। यह अति केन्द्रित तानाशाही थी जिसके पास विदेशी शत्रु तथा गणतन्त्र के भीतरी शत्रुओं के विरुद्ध आतंक का प्रयोग करने के अधिकार थे।'' शान्ति विरोधियों के साथ-साथ असंख्य निर्दोष व्यक्तियों, जैकोबिन दल के विरोधियों और कुछ ऐसे महत्वपूर्ण महापुरुषों को इस काल में मौत के घाट उतार दिया गया, जिन्होंने फ्रांस में क्रान्ति लाने में प्रमुख भूमिका अदा की थी।

न्यायोचित (Justified)-परन्तु अपना निर्णय देने से पूर्व हमें उन हालात को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये जिनके अन्दर फ्रांस का आतंक का शासन शुरु किया गया था। देश भीतरी तथा बाह्य शत्रुओं से घिरा हुआ था। यदि लोगों को आतंकित करके अनुशासित न किया जाता तो शायद क्रान्ति का ही अन्त हो जाता। विश्व के इतिहास में हमें इससे भी बढ़ कर आतंक के उदाहरण मिलते हैं। चार्ल्स 5वें के शासनकाल में नीदरलैण्ड जैसे छोटे से देश में 50,000 आदमियों को जीवित जला दिया गया था। सेण्ट बोर्थोलोमियों के दिन फ्रांस में ही 2,000 निरपराध व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया थे। इंग्लैण्ड की खूनी मेंरी (Bloody Mary) के शासन काल में असंख्य धार्मिक विरोधियों (Protesatants) को जीवित जलाया गया था। हिटलर (Hitler) तथा इखमेंन (Eichmann) ने जर्मनी में जिस निर्दयता से यहूदियों की नस्ल-नाश का दौर चलाया था, उसका अन्य उदाहरण नहीं मिलता। इनके मुकाबले में फ्रांस का आतंक तो कुछ भी न था। इस काल में जो लोग गिलोटिन किये गये थे, वे तो कुलीन थे, वास्तव में वह आतंक का काल था। इस काल में तो आम जनता को अधिक आत्म सम्मान और सुरक्षा मिली। इस भयंकर आग की लपटों में अगर कुछ निर्दोष व्यक्ति आ भी गये अथवा कुछ लोगों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये दूसरों का गला काटा-तो यह अस्वाभाविक नहीं था।

फ्रांसीसी क्रान्ति के परिणाम अथवा प्रभाव

आधुनिक फ्रांस का इतिहास 1789 ई० की महान् क्रान्ति का ही विकसित रूप है। इस क्रान्ति ने फ्रांस की राजनैतिक, धार्मिक तथा आर्थिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया। वास्तव में फ्रांस की क्रान्ति केवल मात्र बन्धुत्व के नारों से सम्पूर्ण गूंज उठा। इसीलिए कहा गया है कि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसके उदय होने से फ्रांस का इतिहास यूरोप का इतिहास बन जाता है तथा फ्रांस का राष्ट्रनायक नेपोलियन यूरोप का नायक बन जाता है। यह कहना भी उचित होगा कि यदि फ्रांस को जुकाम होता था तो सारा यूरोप छींकता था। फ्रांसीसियों ने अपना जो खून बहाया, वह मानवता के लिए था; उन्होंने जो कष्ट सहन किये वे सम्पूर्ण मानव जाति के लिए थे; उनके संघर्ष तथा उनके विचार (जिनसे उन्होंने संसार की सारी व्यवस्था को झकझोर दिया) मानवता की बपौती (वरासत) हैं। ये सभी प्रयत्न फलीभूत हुए। इसी क्रान्ति ने विश्व को जनतन्त्र, समाजवाद तथा राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित किया। इस सन्दर्भ में यह 18वीं शताब्दी की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इस के प्रभाव हमें आज भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

कुछ ऐसे भी इतिहासकार हैं कि जिनका विश्वास है कि क्रान्ति एक भूल थी। यह फ्रांस तथा यूरोप के लिए 'बुरी वस्तु' थी और कि यह प्रतिक्रियावादी, प्रजातन्त्र विरोधी तथा अप्रगतिशील थी। अन्य इतिहासकारों का मत है कि यह आधुनिक इतिहास में सबसे महान घटना थी आधारभूत रूप से यह सबके लिए एक 'अच्छी वस्तु' थी और इसने आधुनिक यूरोप के उदारवाद, प्रजातान्त्रिक तथा प्रगतिवादी जीवन की आधारशिला रखी है। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों की ओर से युक्ति-युक्त तक प्रस्तुत किये गए हैं।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति का अध्ययन करने के लिये हम इसको चार भागों में बांट सकते है:-

प्रथम :- फ्रांस पर प्रभाव।

द्वितीय :- इंग्लैण्ड पर प्रभाव।

तृतीय :- सम्पूर्ण यूरोप पर प्रभाव।

चतुर्थ :- क्रान्ति के चिरस्थायी प्रभाव।

फ्रांस पर प्रभाव

1789 ई० की क्रान्ति ने मुख्य रूप से फ्रांस के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। वास्तव में 1789 ई. की जनक्रान्ति, पुरातन शासन व्यवस्था, असमानता पर आधारित फ्रांसीसी समाज, विलासितापूर्ण उच्च पादरी वर्ग तथा आर्थिक दीवलियेपन के विरुद्ध एक सशक्त आन्दोलन था, जिसने बूर्बों वंश के कुशासन का अन्त कर दिया तथा फ्रांस में प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली के लिये मार्ग खोल दिया। एक नवीन समाज का निर्माण आरम्भ हुआ। इस क्रान्ति के फ्रांस के जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े :-

(i) अनेक कष्ट (Numerous Sufferings)-इस क्रान्ति के मध्य फ्रांसीसी जनता को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। असंख्य व्यक्ति मृत्यु की गोद सुला दिये गये। रक्तपात की होली से फ्रांस की धरती लाल हो गई। जमींदारों के भवनों को आग लगा दी गई, फसलें नष्ट कर दी गईं। व्यापार, उद्योग तथा धन्धे चौपट हो गये। फ्रांसीसियों को अनेक आर्थिक कष्ट सहने पड़े। विदेशी आक्रमणों से फ्रांस की जन-धन की असीमित हानि हुई। आतंक के शासनकाल में असंख्य निरपराध लोगों को गिलोटिन कर दिया गया।

(ii) व्यापार तथा उद्योग को गहरा आघात (Big Setback to Trade and Industry)-क्रान्ति के कारण सामान्य जीवन में अव्यवस्था तथा अस्थिरता आ गई। इसी बीच विदेशी राज्यों की ओर से क्रान्ति का अन्त करने के लिए युद्ध छिड़ गये जो लगभग 23 वर्षों तक चलते रहे। इसके कारण फ्रांस का व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक विकास रुक गया। मुद्रा की कीमत घटने लगी। भुखमरी तथा बेरोजगारी काफी बढ़ गई। नेपोलियन इस आर्थिक अव्यवस्था को कुछ ठीक करने में सफल हो सका।

(iii) राजा के दैवी अधिकारों का अन्त (A big blow to Divine Rights to Kings)- बूर्बो वंश के सभी शासक अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि समझते थे और जनता की कोई परवाह नहीं करते थे, परन्तु क्रान्ति ने इस सिद्धान्त को जड़ से उखाड़ दिया। 1791 ई० के नवीन संविधान के अनुसार लोगों की इच्छा तथा परमात्मा की कृपा से फ्रांसीसी लोगों का शासक (King of the French) घोषित किया गया। इस के पश्चात् फ्रांस के किसी शासक ने राजा के दैवी अधिकारों का ढिंढोरा नहीं पीटा।

(iv) फ्रांस में लिखित संविधान (Written Constitution for France) -इसी क्रान्ति ने फ्रांस को प्रथम लिखित संविधान प्रदान किया। यह क्रान्ति की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी, लोग न तो राजा के इतने विरुद्ध थे और न ही उसके शासन के। वे तो एक व्यवस्थित प्रशासन तथा लिखित संविधान चाहते थे, जिसके द्वारा उनको भी कुछ अधिकार प्राप्त हो सकें। यद्यपि 1791 ई० का संविधान दोष रहित न था तथापि इसके द्वारा राजा के अधिकारों को सीमित कर दिया गया था। 1795 ई० में एक नवीन संविधान द्वारा फ्रांस में प्रथम गणतंन्त्र की स्थापना की गई थी।

(v) पुरानी तानाशाही का अन्त (End of Ancient Regime)- क्रान्ति ने पुरातन तानाशाही का अन्त करके नवीन शासन व्यवस्था की आधारशिला रखी। इसके अन्तर्गत आम लोगों को कई राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार प्राप्त हुए थे। अब प्रशासन के उच्च पदों के द्वार सामाजिक मतभेद की बजाए व्यक्तिगत योग्यता के लिये खुले थे।

(vi) समाजवाद का अन्त (End of Feudalism)- फ्रांसीसी क्रान्ति ने सदियों से चली आ रही सामन्तवाद की दुर्व्यवस्था का जड़ोन्मूलन कर दिया। अब सामाजिक भेदभाव का अन्त कर दिया गया। अब फ्रांस के समाज में अधिकार-युक्त तथा अधिकार विहीन वर्ग नहीं रहे थे। सभी को समान अवसर तथा अधिकार प्राप्त थे। यह क्रान्ति की एक अति गौरवपूर्ण सफलता थी।

(vii) आर्थिक परिवर्तन (Economic Changesa) - क्रान्ति के कारण फ्रांस के आर्थिक जीवन में कई परिवर्तन हुए। पत्र-मुद्रा प्रचलित की गई। गिल्ड सिस्टम (Guild System) के कट्टर नियमों का अन्त कर दिया गया। टैक्सों का भार समान रूप से सारी जनता पर फैल गया। प्रवासी जमींदारों की जमीनें सरकार द्वारा प्राप्त करके किसानों में सस्ते भाव पर बांट दी गईं। चर्च की असीमित सम्पत्ति पर अधिकार करके सरकार ने उससे सम्पूर्ण जनता को लाभ पहुंचाया। राजदरबार की फजूलखर्ची का अन्त हो गया। सारे फ्रांस के लिए दशमलव प्रणाली पर आधारित नाप-तोल के पैमाने चालू किये गये। पैरिस में बैंक ऑफ फ्रांस (Bank of Fance) की स्थापना की गयी। व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए आन्तरिक व्यापारिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। असंख्य चुंगी घर समाप्त कर दिए गए। वे व्यापार के विकास में बड़ी बाधा थे।

(viii) मानव अधिकारों की घोषणा (Declaration of the Rights of Man) - क्रान्तिकारियों ने सर्वप्रथम मानव अधिकारों की घोषणा (Declaration of the Rights of Man and Citizen) करके जनसाधारण को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता तथा भाषण-लेखन तथा प्रकाशन एवं संगठन की स्वतन्त्रता प्रदान की। उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार मिला। उसे कानून के आगे समानता का अधिकार प्राप्त हुआ। उसे सरकारी कर्मचारियों के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार भी मिला। यह क्रान्ति का मानवीय पक्ष था।

(ix) धार्मिक प्रभाव (Religious Effects) - क्रान्ति के अनेक धार्मिक प्रभाव भी पड़े। फ्रांस में उच्च पादरियों का प्रभाव कम हो गया। अनेक तो देश छोड़ कर भाग गए। जो रह गए उन्हें राज्य एवं संविधान के प्रति स्वामीभक्त (Faithful) रहने की शपथ लेनी पड़ी। चर्च की सम्पत्ति पर सरकार ने अधिकार कर लिया। चर्च के अधिकारी सरकार के अधिकारी बन गए क्योंकि अब उनको सरकार से वेतन मिलने लगा था। चर्च का दर्जा राज्य से नीचा हो गया। फ्रांस में पोप का प्रभाव कम हो गया पादरियों की विलासिता कम हो गई। कैथोलिक चर्च के अतिरिक्त अन्य धर्मानुयायियों को भी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। क्रान्ति ने लोगों में धर्म की भावना को भी कम किया। कट्टर क्रान्तिकारी धर्म के स्थान पर बुद्धि एवं तर्क की पूजा (Worship of Reason) को अधिक महत्व देने लगे।

(x) प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms) - क्रान्ति के परिणामस्वरूप फ्रांस के प्रशासन में कई उपयोगी तथा आवश्यक सुधार किए गए। सम्पूर्ण फ्रांस के लिए एक समान कानून व्यवस्था तथा प्रशासनिक ढांचे का संगठन किया गया। कानूनों के संग्रहण (Codification of Laws) कर दिया गया। इस सम्बन्ध में नेपोलियन ने उल्लेखनीय कार्य किया। केन्द्रीय,

प्रान्तीय तथा स्थानीय प्रणाली में परिवर्तन कर उसका स्वरूप ही बदल दिया गया। प्रशासन की प्रत्येक शाखा में निर्वाचित प्रतिनिधियों की भरमार कर दी गई। यद्यपि यह प्रयोग देर तक सफल न हो सका तथापि इसने फ्रांस में प्रजातन्त्र की नींव को सुदृढ़ किया।

(xi) लोक निर्माण कार्य (Public Welfare Activitiesa) - क्रान्ति-काल में प्रशासन ने अनेक लोक निर्माण कार्यों (Public works) की ओर ध्यान दिया। गरीब किसानों में सस्ते दामों में जमींदारों की जमीनें बांट दी गईं। कृषि उत्पादन के साधनों का आधुनिकीकरण किया गया। पुलों, बांधों, सड़कों, नहरों का विकास किया गया फसलों के लिए कृत्रिम जनसिंचन के साधनों का विकास गया। दल-दली जमीन को साफ करवा कर उत्पादन के योग्य बनाया गया। व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए आने-जाने के साधनों को विकसित किया गया।

(xii) सांस्कृतिक प्रभाव (Cultural Effects) - क्रान्ति बुद्धिजीवी वर्ग की महान् सफलता थी। इससे भाषण-लेखन एवं प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। क्रान्तिकारी साहित्य की रचना हुई। तर्क को रूढ़ियों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा। प्रशासन और लोगों का ध्यान शिक्षा प्रसार की ओर गया। अनेक स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, शिक्षा-केन्द्र खोले गए जिनमें साहित्य, कला, विज्ञान, गणित, सामाजिक विषयों मेंडिकल शिक्षण, टैकनीकल शिक्षा तथा शारीरिक शिक्षा के विकास की ओर रुचि ली गई। अनेक लायब्रेरीज तथा अजायबघर खोले गए। सरकारी उच्च पदों को योग्यता के आधार पर भरने की प्रणाली शुरू हुई। शिक्षा पर धीरे-धीरे चर्च का प्रभाव कम होने लगा। इन सब बातों से फ्रांसीसियों का बौद्धिक विकास हुआ तथा वे जीवन के प्रति प्रगतिशील तथा उदारवादी (Liberal) बने।

(xiii) क्रान्ति के कुछ कुप्रभाव (Some Bad Effects)- क्रान्ति के फ्रांस पर कुछ कुप्रभाव भी पड़े, जैसे-

1. लोगों को अनेक कष्ट झेलने पड़े। काफी समय तक फ्रांस में अव्यवस्था फैली रही।
2. फ्रांस एक लम्बे समय के लिए (23 वर्ष) प्रतिक्रियावादी यूरोप से युद्धों में उलझ गया।
3. क्रान्तिकारी फ्रांस को कोई चिरस्थाई संविधान न दे सके।
4. प्रजातन्त्र को पूर्ण रूप से कभी लागू न किया। आतंक के काल में तो प्रजातन्त्र और न्याय की धज्जियां उड़ा दी गईं।
5. मानव अधिकारों की घोषणा करके लोगों को अधिकारों के प्रकाश से प्रकाशमान तो कर दिया गया, परन्तु कर्त्तव्य अंधेरे की परतों में छुपे रहे।
6. कृषि के क्षेत्र में कोई विशेष आधुनिकीकरण न किया गया।
7. कारखानों के मजदूरों को अपने संगठन आदि बनाने के कोई अधिकार प्राप्त न हो सके न ही उन्हें अन्य जरूरी सुविधाएं ही प्राप्त हुईं।
8. सामाजिक तौर पर मध्यवर्ग को विशेष लाभ हुआ तथा जनसाधारण में अभी भी जातिवाद की चेतना (Class Consciousnesas) विद्यमान थी।

उपरोक्त कुप्रभावों के बावजूद फ्रांसीसी क्रान्ति फ्रांस वासियों के लिये एक वरदान सिद्ध हुई। यद्यपि सब कुछ परिवर्तित नहीं किया जा सका तथापि परिवर्तन के सिद्धान्त को तो सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया था। फ्रांस के नवनिर्माण और उज्जवल भविष्य के लिए इस क्रान्ति ने मार्ग अवश्य खोल दिया था। आज भी स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तों की छाया में फ्रांस की जनता विकासोन्मुख है।

इंग्लैण्ड पर प्रभाव

(i) क्रान्ति का स्वागत (Welcome of the Revolution)-पहले-पहल इंग्लैण्ड में क्रान्ति का स्वागत किया गया। प्रधान मन्त्री पिट दी यंगर (Pitt the Younger) की भी क्रान्ति के प्रति सहानुभूति थी। जनसाधारण ने क्रान्ति का इसलिए स्वागत किया क्योकि वे अनुभव करते थे कि इससे फ्रांस में इंग्लैण्ड की भान्ति लोकतन्त्र की स्थापना होगी। वर्डज़वर्थ (Wordsworth) तथा कौलरिज़ (Coleridge) जैसे कवियों को इसमें नवीन युग की प्रसन्नता तथा स्वतन्त्रता दिखाई दी।

प्रगतिशील पादरियों ने इसके पक्ष में प्रचार किया। प्रगतिशील राजनीतिज्ञों ने इसके (क्रान्ति के) नेताओं से बातचीत करके क्रान्तिकारी संस्थाओं की स्थापना की ह्विगों ने सोचा कि यह उनकी 1688 ई० की शानदार क्रान्ति (Glorious Revolution) से मिलती-जुलती थी। प्रमुख ह्विग नेता फाक्स (Fox) ने विशेष रूप से क्रान्ति को अपना समर्थन बास्तील के पतन के बारे में यह कह कर दिया, "संसार के इतिहास में यह कितनी बड़ी घटना थी और कितनी अच्छी।"

(ii) क्रन्ति का विरोध (Opposition to the Revolution)- परन्तु ज्यों-ज्यों क्रान्ति हिंसात्मक होती गई, अंग्रेजों द्वारा इसका विरोध बढ़ता गया। सितम्बर के नरसंहार, आतंक के शासन (Reign of Terror), राजा तथा रानी का वध आदि घटनाओं से अंग्रेजों की सहानुभूति कम हो गई। उन्हें यह आभास हुआ कि यदि क्रान्ति के हिंसात्मक रूप को इंग्लैण्ड में प्रचारित होने दिया गया तो उनका राजतन्त्र रूपी संवैधानिक प्रशासन नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। नवम्बर, 1790 ई. में अन्य ह्विग नेता बर्क (Burke) ने 'Reflection on the French Revolution' नामक पुस्तक लिखकर फ्रांसीसी क्रान्ति की कटु आलोचना की। उसने भविष्यवाणी की कि क्रान्ति का परिणाम होगा अव्यवस्था तथा गड़बडी (He prophesaied that its ultimate resault would be anarchy) इस पुस्तक का इंग्लैण्ड ही नहीं सम्पूर्ण यूरोप पर प्रभाव पड़ा। प्रधानमंत्री पिट भी क्रान्ति का विरोधी बन गया।

(iii) इंग्लैण्ड और फ्रांस के मध्य युद्ध (Anglo-French Wars) - क्रान्तिकारी फ्रांस का राजतन्त्र यूरोपीय देशों से 1792 ई० में संघर्ष शुरू हो गया। सर्वप्रथम आस्ट्रिया तथा प्रशा ने युद्ध द्वारा क्रान्ति का विरोध किया परन्तु तत्पश्चात् अन्य राष्ट्र भी इस संघर्ष में कूद पड़े। इंग्लैण्ड भी फ्रांस का शत्रु बन गया। जब नेपोलियन ने क्रान्ति का कर्णधार बनकर इंग्लैण्ड की सत्ता समाप्त करने की योजना बनाई तो सारा इंग्लैण्ड फ्रांस के विरोध में उठ खड़ा हुआ। इंग्लैण्ड ने क्रान्तिकारी फ्रांस को पराजित करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों के चार संगठन (Four Coalitions) स्थापित किये तथा अन्त में वाटर लू की लड़ाई (1815 ई.) में नेपोलियन को निर्णायक पराजय दी।

(iv) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)-क्रान्तिकारी युद्धों (Revolutionary wars) के कारण इंग्लैण्ड को काफी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। महाद्वीपीय व्यवस्था (Continental System) द्वारा तो नेपोलियन इंग्लैण्ड को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना चाहता था परन्तु उसे सफलता न मिल सकी। फिर भी उसके द्वारा इंग्लैण्ड के व्यापार तथा उद्योगों को काफी नुक्सान हुआ। यूरोप के देशों के नेपोलियन के विरुद्ध संगठन (Coalitions) बनाने में भी इंग्लैण्ड को असीम धनराशि खर्च करनी पड़ी। उसका राष्ट्रीय ऋण बहुत बढ़ गया। लोगों को अतिरिक्त करों का भार उठाना पड़ा। वस्तुओं के भाव बढ़ गए। मुद्रा का अवमूल्यन हो गया। कागजी नोट प्रचलित करने पड़े।

(v) पिट की प्रतिक्रियावादी नीति (Reactionary Policy of Pitt) - इंग्लैण्ड में क्रान्ति की बाढ़ को रोकने के लिए प्रधानमंत्री पिट को प्रतिक्रियावादी नीति अपनानी पड़ी। उसने समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता, राजनीतिक सभाओं तथा भाषणों आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया। हैबियस कार्पस ऐक्ट (Habeas Corpus Act) को स्थगित कर दिया गया। संदिग्ध विदेशियों को इंग्लैण्ड से बाहर निकालने के लिए विधान बनाया गया। सभी प्रकार के राजनैतिक तथा संवैधानिक सुधारों को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया। अब मजदूर अपने संगठन (Unions) नहीं बना सकते थे। फिर भी क्रान्ति की भावनाओं से उत्प्रेरित होकर इंग्लैण्ड के लोग पार्लियामेंटरी सुधारों के लिये आन्दोलन करते रहे।

(vi) ह्विग पार्टी में फूट (Split in the Whig Party)- क्रान्ति का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि इंग्लैण्ड के एक प्रमुख राजनैतिक दल ह्विग पार्टी में फूट पड गयी। फाक्स (Fox) क्रान्ति का समर्थक था और बर्क (Burke) इसका कट्टर विरोधी। इसलिए उनमें सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न हो गए। इसी फूट से यह दल दुर्बल हो गया।

(vii) आयरिश लोगों का राष्ट्रीय आन्दोलन (National Movement in Ireland)- फ्रांसीसी क्रान्ति ने आयरिश लोगों (The Irish People) में राष्ट्रीयता की भावना को प्रदीप्त किया। इंग्लैण्ड से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए उन्होंने वोल्फ टोन (Wolfe Tone) की अगवाई में आन्दोलन छेड़ दिया। फ्रांस उनको उत्तेजित कर रहा था और सैनिक मदद भी दे रहा था। 1800 ई. में आयरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड की यूनियन (Anglo-Irish Union) करवा कर पिट ने आयरिश समस्या का समाधान करना चाहा परन्तु यह यूनियन आयरलैण्ड में लोकप्रिय न हो सकी। वहां के लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिए सारी 19वीं सदी संघर्ष करते रहे।

इंग्लिश साहित्य पर प्रभाव (Effects on English Literature) - इंगलिश भाषा के साहित्य पर भी क्रान्ति का उपयोगी प्रभाव पड़ा। क्रान्ति के पक्ष तथा विरोध में प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना हुई। इसी क्रान्ति ने इंगलिश साहित्य में रोमांटिसिज्म (Romanticism) नामक एक नई धारा को जन्म दिया। वर्डजवर्थ, कूपर (Cooper), कौलरिज, शैली (Shelley) तथा बायरन (Byron) की कविताओं में क्रान्ति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। बर्क ने 'Reflections on French Revolution' की रचना की। पेन (Paine) तथा सदे (Southey) ने क्रमशः 'Rights of Man' तथा 'Life of Nelson' आदि पुस्तकें लेखनी बद्ध कीं।

सम्पूर्ण यूरोप पर प्रभाव

(i) राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष (Struggle for Political Rights)- क्रान्ति के स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व आदि नारों से सम्पूर्ण यूरोप का वातावरण गूंज उठा। राजाओं के सिंहासन डोलने लगे तथा जनसाधारण में जाग्रति आ गई। फ्रांस मानव जाति का प्रवक्ता बन गया। स्वतन्त्रता की विचारधारा सभी सुधारकों तथा क्रान्तिकारियों का नारा बन गई। स्वतन्त्रता मानो विश्व धर्म बन गई हो। लोग अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने लगे।

(ii) क्रान्तिकारी युद्ध (Revolutionary Wars)- क्रान्ति के भय के कारण फ्रांस के पड़ोसी देश फ्रांस के विरोधी हो गये। फ्रांस के प्रवासी पादरी तथा कुलीन भी उन राजाओं को क्रान्ति के विरुद्ध उत्तेजित करने लगे। इसके परिणामस्वरूप 1792 ई. में क्रान्तिकारी युद्ध छिड़ गए। सारा यूरोप लगभग 23 वर्ष तक इन संघर्षों में घिरा रहा। इससे असीम जन-धन की हानि हुई। नेपोलियन क्रान्ति का छाता बनकर यूरोप पर छा गया। उसके विरुद्ध इंग्लैण्ड ने चार बार संगठन स्थापित किए। अन्त में 1815 ई. में वाटर लू में नेपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप के लोगों ने शान्ति की सांस ली।

(iii) यूरोप में प्रतिक्रियावाद का युग (Era of Reaction)- क्रान्ति की भयानक हिंसा तथा युद्धों के कारण यूरोप के शासक अति प्रतिक्रियावादी बन गए। वे प्रत्येक निर्णय क्रान्ति के भय को मुख्य रख कर करते थे। वीएना की कांग्रेस (Vienna Congresas) के सभी निर्णय इसी आधार पर किए गए थे कि क्रान्ति पुनः न फूट उठे और कि फ्रांस कभी शक्तिशाली न बनने पाए तथा इसके चारों ओर शक्तिशाली देशों का घेरा स्थापित कर दिया जाए। 1815 से 1848 ई. तक का यूरोप का इतिहास प्रतिक्रियावाद युग (Era of Reaction) के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में आस्ट्रिया के मन्त्री मेंटरनिख (Metternich) ने क्रान्ति की भावनाओं को कुचलने का प्रत्येक सम्भव यत्न किया।

(iv) कांग्रेस युग (Era of Congresasesa)- लम्बे काल तक चलने वाले युद्धों से भयभीत होकर, यूरोप के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि आपसी झगड़ों को युद्ध के मैदान में हल न करके बातचीत द्वारा कांफ्रेंस टेबल पर हल करना चाहिए। इसी अनुभव के आधार पर एक्स ला शैपल (Aix-la-Chapelle, 1818 A.D.), ट्रापा (Troppau, 1820 A.D.), लैबाक (Laiback, 1821 A.D.), तथा विरोना (Verona, 1802 A.D.) आदि स्थानों पर यूरोपीय राष्ट्रों के सम्मेलन हुए। यद्यपि इनके द्वारा कोई विशेष सफलता न प्राप्त हो सकी तथापि इन्होंने आधुनिक संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization) की आधारशिला का कार्य किया।

(v) यूरोपीय साहित्य पर प्रभाव (Effects on European Literature)- क्रान्ति की भावनाओं से उत्प्रेरित होकर अनेक यूरोपीय विद्वानों ने उच्चकोटी के क्रान्तिकारी साहित्य की रचना की। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा स्वतन्त्रता, समानता तथा लोकतन्त्र की भावनाओं को आम जनता तक पहुंचा दिया। इन रचनाओं में प्रमुख थीं-विक्टर ह्यूगो (Victor Hugo) की ला मिजरेबल (Lesa Miserable), सदे (Southey) की जोन आफ आर्क (Joan of Arc), वर्डजवर्थ की प्रोल्यूड (Prelude), शैली (Shelley) की मिस्टेक आफ अनार्की (Mistake of Anarchy) आदि। क्रान्ति की झलक गेटे (Goethey) की फास्ट (Faust) तथा कालरिज की पहली रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है।

क्रान्ति के स्थायी प्रभाव

फ्रांसीसी क्रान्ति के निम्नलिखित स्थायी एवं विश्वव्यापी प्रभाव पड़े।

(i) स्वतन्त्रता की भावना (Ideas of Freedom)- फ्रांसीसी क्रान्ति ने स्वतन्त्रता की भावना को बल दिया। इस क्रान्ति का अरम्भ स्वेच्छाचारी शासकों के चंगुल से मुक्त होने के लिए किया गया था। क्रान्तिकारियों का प्रथम नारा था-'स्वतन्त्रता'।

रूसो जैसे योग्य दार्शनिक ने भी स्वतन्त्रता की भावना को ही अपनी लेखनी द्वारा प्रतिपादित किया था। उसका कथन था कि जन्म के समय तो मनुष्य स्वतन्त्र था परन्तु बाद में वह कई तरह की जंजीरों में जकड़ा गया। क्रान्तिकारियों ने पुरातन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक परम्पराओं को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया। उन्होंने सर्वप्रथम 'मानव अधिकारों' की घोषणा (Declaration of the Rights of Man) की तथा राजा के दैवी अधिकारों (Divine Rights of King) का खण्डन किया। सामंतीय अधिकारों का अन्त कर दिया गया, समाज का वर्गीकरण समाप्त कर दिया गया तथा उच्च पादरियों की विलासिता तथा उच्चता को दूर फैंक दिया गया। कानून के सम्मुख मनुष्य की समानता को स्थापित किया गया। इसी बात को आधार मान कर बाद में नेपोलियन ने विधानों (Codesa of Napoleon) की व्यवस्था की। इन सभी बातों से प्रेरणा लेकर यूरोप के अन्य राष्ट्रों के शासकों ने कई उपयोगी सुधार किए। जनता ने अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन चलाए।

(ii) समानता (Equality)-फ्रांसीसी क्रान्ति ने ही राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समानता की भावना को जन्म दिया। मानव अधिकारों की घोषणा में इस सिद्धान्त को अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया गया था। अधिकारयुक्त तथा अधिकर विहीन वर्गों का अन्त कर दिया गया। कानूनी समानता स्थापित की गई। टैक्सों को इकट्ठा करने में भी समानता के सिद्धान्त को ही प्रमुखता दी गई। सरकारी पदों के द्वार सभी के लिए खोल दिए गए। राज्य पदों पर नियुक्तियां योग्यता और कार्यक्षमता को ध्यान में रख कर की जाने लगी। इस सिद्धान्त ने भी विश्व के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ी।

(iii) नागरिक स्वतन्त्रता (Liberty)- मानव अधिकारों की घोषणा से अन्य देशों के लोग बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने भी अपने लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सम्पत्ति का अधिकार, वोट देने का अधिकार, सरकारी अधिकारियों के कार्य की जाँच करना, उत्तरदायी सरकार की स्थापना, लेखन, भाषण तथा प्रकाशन आदि की स्वतन्त्रता की मांग के लिए आन्दोलन शुरु कर दिए।

(iv) राष्ट्रीयता की भावना (Spread of Nationalism)-परोक्ष (Indirect) रूप से फ्रांसीसी क्रान्ति ने संसार को राष्ट्रीयता नाम की प्रबल भावना प्रदान की। जब क्रान्ति का विरोध करने के लिए यूरोपीय देशों ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिए तो फ्रांसीसी एक प्रबल राष्ट्रीय भावना से उत्प्रेरित होकर क्रान्ति और अपने देश की सुरक्षा के लिए संघर्ष में कूद पड़े। इसी तरह प्रायद्वीपीय युद्ध (Peninsular War) के मध्य स्पेन तथा पुर्तगाल में यही भावना जागृत हुई, नेपोलियन के मास्को अभियान के समय यही भावना रूसियों के हृदयों में प्रवाहित हो उठी और बाद में इसी भावना के बल पर प्रशा तथा आस्ट्रिया ने नेपोलियन का कट्टर विरोध किया और इस शक्तिशाली भावना के कारण ही इंग्लैण्ड फ्रांस को क्रान्तिकारी युद्धों में पराजित कर सका। फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा पैदा की गई इसी भावना ने इटली तथा जर्मनी वासियों को अपने प्रदेशों में एकता के लिए (For unification) एक लम्बे काल तक सघर्ष करना पड़ा। बाल्कान राज्य तुर्क शासन के विरुद्ध उठ खड़े हुए।

(v) लोकतन्त्र का प्रसार (Spread of Democratic Ideas)- क्रान्ति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव था-लोकतन्त्र (Democracy) का सारे संसार में प्रसार। क्रान्ति से पूर्व (इंग्लैण्ड और स्विट्जरलैंड के अतिरिक्त) लगभग सम्पूर्ण यूरोप में निरकुंश राजाओं (Desapotic Kings) का ही शासन था उनकी आज्ञा को ही कानून समझा जाता था। उनके पास असीम अधिकार होते थे। लोगों को कोई व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त न थे। उन्हें लेखन, भाषण तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता न थी। रूसो ने यह कहा था कि सर्वसत्ता जनता में ही निहित है। कानून केवल लोगों की इच्छा को ही प्रकट करता है। शासन का उद्देश्य अधिक लोगों का भला होना चाहिये। क्रान्ति के मध्य इन्हीं विचारों को बल दिया गया। 1791 ई. तथा उसके पश्चात् के फ्रांसीसी संविधान इसका प्रमाण हैं। अगर नेपोलियन फ्रांस का सम्राट बना था तो राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त पर नहीं अपितु जनता की इच्छा से। क्रान्ति ने इस सिद्धान्त को स्थापित कर दिया कि शासन जनता के लिये (For the People) ही नहीं अपितु 'जनता द्वारा' (By the People) भी होना चाहिये। डेवी का कथन है--"19वीं शताब्दी का इतिहास प्रजातन्त्र की ओर धीमी परन्तु निश्चित प्रगति का इतिहास है तथा इस उन्नति के लिए बड़े भाग पर प्रत्यक्ष (Direct) अथवा (Indirect) परोक्ष रूप से फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव था।"

(vi) समाजवाद का प्रसार (Spread of Socialism)- इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप विश्व में समाजवाद (Socialism) का भी प्रसार हुआ। क्रान्तिकारियों का नारा था -'समानता' (Equality)। वे राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समानता चाहते थे। सरकार द्वारा प्रवासियों (Emigresa) की सम्पत्ति को जब्त करने से सम्पत्ति की पवित्रता के विचारों को धक्का लगा। क्रान्तिकारी अन्य देशों के लोगों को अपने भाई समझते थे। उन्होंने बन्धुत्व (Fraternity) का नारा देकर कार्ल मार्क्स

(Karl Marx) के लिए यह नारा लगाने "दुनिया भर के मजदूरों एक हो जाओ" (Workers of the world unite) की नींव रख दी। क्रान्तिकारी केवल फ्रांस में ही परिवर्तन से ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने अन्य देशों में घुसकर वहां के निरंकुश शासकों को उलट कर लोकतन्त्रीय सरकारों की स्थापना की। इस तरह से हम देखते हैं कि यह क्रान्तिकारी एक विश्वव्यापी (International) आन्दोलन बन गया और उसके द्वारा ही समाजवाद की आधारशिला रखी गई। महान् क्रान्ति के अध्ययन से हम सीखते हैं "वह समस्त वर्तमान विचारधाराओं - साम्यवादी-, आंतकवादी, एवं समाजवाद - का मूल एवं स्रोत थी।"

(vii) शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन (Changesa in Education)-नेपोलियन ने राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली (National Education) को जन्म दिया था। पहले शिक्षा का कार्य चर्च के नियन्त्रण में था परन्तु ज्यों ही चर्च की शक्ति को कम किया जाने लगा त्यों ही शिक्षा पर भी उसका नियन्त्रण समाप्त होने लगा। पेरिस में विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। इसके द्वारा शैक्षिक एकरूपता (Uniformity) स्थापित हुई। पेरिस विश्वविद्यालय के नमूने पर लंदन, बर्लिन तथा न्यूयार्क आदि में विश्वविद्यालय स्थापित किये गए।

(viii) लोक कल्याण की भावना (Urge for Public Welfare)- फ्रांसीसी क्रान्ति ने मानवतावाद को एक नूतन जीवन दिया। इसी से प्रेरित होकर बाद में दास प्रथा नष्ट कर दी गई। कैदियों की अवस्था सुधारने का भी यत्न किया गया। कानूनों द्वारा दुखीः पीड़ितों का कल्याण किया गया। मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए कई कानून पास किये गए। अनपढ़ों के लिए स्कूल खोले गये तथा रोगियों के लिए चिकित्सालय। अमानुषिक दण्ड (Inhuman punishments) समाप्त कर दिये गये।

निष्कर्ष- सारांश यह कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। इसने न केवल फ्रांस के जनजीवन को ही प्रभावित किया। अपितु सम्पूर्ण यूरोप इस घटना से प्रभावित हुआ। यह क्रान्ति विचार, समाज एवं राजनीति के क्षेत्रों में एक विजय थी जिसे एक राष्ट्र ने प्रभुता, वर्ग-विशेषाधिकार तथा निरंकुश शासन की प्राचीन व्यवस्था से ऊपर प्राप्त किया था। यह पीड़ित तथा उपेक्षित मानवता के युगों से इकट्ठे हो रहे दुःख दर्दों का एक भयंकर विस्फोट था। यह निर्धन, दुःखी तथा शोषित जनता के दुःखी हृदयों से उठने वाली ज्वाला थी जो शीघ्र ही सम्पूर्ण यूरोप में फैल गई। प्रो० गुडविन का मत है कि हमारे युग में 1789 ई. की क्रान्ति 1917 ई. की रूसी क्रान्ति की ज्वाला में दब गई और इसके आदर्श नाजी (Nazi) तथा फासिस्ट (Fascist) क्रान्तिओं से अस्थाई रूप से धुंधले पड़ गये हैं, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि बहुत पहले (1789 ई० में) फ्रांसीसी क्रान्ति ने 1917 ई. की रूसी क्रान्ति की आधारशिला रख दी थी।

भाग एक

अध्याय : 8 एशिया में साम्राज्यवाद (Imperialism in Asia)

प्राचीन काल में एशिया का विश्व में दबदबा था। किन्तु यह स्थिति सदा नहीं रही। उन्नीसवीं सदी में जब यूरोप में राष्ट्रवाद प्रबल हुआ तो यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने तुर्की, अरब, ईरान, भारतवर्ष, चीन आदि देशों पर अपना राजनैतिक व आर्थिक प्रभाव जमा लिया। जापान पर पश्चिमी देश राजनीतिक प्रभुता तो स्थापित नहीं कर सके परन्तु वहाँ अपना सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित करने में वे अवश्य सफल हो गये। अतः 19वीं सदी तो निःसन्देह यूरोपवासियों की एशिया के देशों पर प्रभुता स्थापित करने की रही परन्तु बीसवीं सदी में इसके विरुद्ध एशिया में प्रतिक्रिया आरंभ हो गई। परन्तु यह प्रतिक्रिया यूरोप के साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी नवीन साम्राज्यवाद के विरुद्ध नहीं थी। इस नवीन-साम्राज्यवाद का आरंभ ही उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। इसका स्वरूप राजनीतिक कम हो कर आर्थिक व राष्ट्रीय अधिक था। नवीन-साम्राज्यवाद की प्रमुख विशेषता ही यह थी कि इसके अन्तर्गत् आर्थिक शोषण को प्रमुखता दी जाती थी और इसके साथ-साथ राजनीतिक शोषण भी किया जाता था। 1871 के उपरान्त यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। यूरोप में उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन इतना भारी मात्रा में होने लग गया था कि उसके खपाने के लिए बाजार व मण्डियों की उन्हें परम आवश्यकता हो गई। इसीलिए नवीन-साम्राज्यवाद के अन्तर्गत् निर्बल राज्यों को परास्त कर उन्हें अपने राज्य में मिलाना इतना आवश्यक नहीं था जितना कि उन राज्यों को अपने प्रभाव में लेकर उन्हे अपना माल खपाने हेतु मण्डियों में परिणीत करना।

इस प्रकार यूरोपीय देशों में इस नवीन साम्राज्यवाद का उदय हुआ। यूरोप के देश अपने को विश्व में सर्वश्रेष्ठ समझते थे और आज भी समझते हैं। उनकी धारणा है कि सारी पृथ्वी हमारे ही भोग के लिये रची गई है। इस भावना से प्रेरित होकर वे अपने अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को संसार में जीने नहीं देना चाहते थे। आधुनिक युग की विश्व राजनीति में यह धारणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनी हुई है। राजनीतिक साम्राज्यवाद का प्रसार केवल शासकों व शासन करने वाले राज्यों द्वारा ही किया गया है। परन्तु नवीन-साम्राज्यवाद के प्रसार में उद्योगपति भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे निर्बल एवं औद्योगिक क्षेत्र में पिछडे राज्यों को कच्चा माल देने को तथा अपना उत्पादित माल खरीदने को बाध्य करते हैं। अतः नवीन साम्राज्यवाद के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि यह एक नवीन वाद है जो औपनिवेशिक उदासीनता को समाप्त कर पूंजीवाद साम्राज्यवाद को विश्व व्यापक बनाना चाहता है।

नवीन साम्राज्यवाद के प्रेरक तत्व

1. अतिरिक्त उत्पादन- नवीन साम्राज्यवाद का प्रमुख प्रेरक तत्व अधिक उत्पादन है। औद्योगिक क्रान्ति के 1870 में चरम-सीमा पर पहुँच जाने पर यूरोप के औद्योगिक देशों में उत्पादन काफी तेजी से बढ़ा। वे सारा माल अपने यहां खपाने में असमर्थ थे। अतः अपने अतिरिक्त माल को खपाने हेतु उन्हें नवीन उपनिवेश तलाश करने पड़े। हेनरी स्टेनले ने इंग्लैण्ड के वस्त्र-व्यवसायियों से कहा कि यदि तुम अपने वस्त्र के अतिरिक्त उत्पादन को खपाना चाहते हो तो अफ्रीका के मूल निवासियों को वस्त्र धारण करने के अभ्यस्त बनाओ। तुम्हारा लाखों मीटर वस्त्र अफ्रीका में स्वतः खप जायेगा।

2. आत्मनिर्भरता- आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश आत्मनिर्भर होना चाहता है, परन्तु यदि एक देश के पास आत्मनिर्भरता के पूरे साधन नहीं होते हैं तो वह उन साधनों को दूसरे निर्बल परन्तु प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न देशों से प्राप्त करना चाहता है। जब एक औद्योगिक देश दूसरे देशों के साधनों से आत्मनिर्भर बनता है तो वह नवीन साम्राज्यवाद के सहारे ही बनता है।

3. अन्य निहित स्वार्थ- यह विश्व ही स्वार्थी है। इसका प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी है। वह समाज व देश के लिए जो कुछ करता है उसमें अपना स्वार्थ पहले देख लेता है। नवीन-साम्राज्यवाद को प्रबल बनाने में सैनिकवाद भी एक प्रेरक तत्व बन जाता है। आर्थिक मन्दी के अन्तराल में जापान में सैनिकवाद प्रबल बन गया तो उसने जापान को भी नवीन-साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर कर दिया। इसके पीछे उनका यही उद्देश्य था कि युद्ध होगा। युद्ध में वे भी भाग लेंगे और युद्ध में वे नाम कमा कर उच्च पद प्राप्त करेंगे। युद्ध के लिए सैनिकों की भरती होती है और सैनिकों की भर्ती के साथ ही हजारों नवयुवक सेना में नौकरी प्राप्त कर लेते हैं। कूटनीतिज्ञ अपनी प्रतिभा व गूढ राजनीति से उपनिवेशवाद व नवीन साम्राज्यवाद का समर्थन कर ख्याति प्राप्त कर लेते हैं। कुलीन वर्ग के लोग भी नाम व धन कमाने की दृष्टि से अन्य देशों में व्यापारिक केन्द्र स्थापित करने में रुचि लेते है। उपनिवेशों में व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर वे अच्छा धन व नाम कमाते हैं। इंग्लैण्ड व फ्रांन्स में ऐसे कई परिवार थे जिन्होंने विदेशों में नवीन-साम्राज्यवाद को प्रबल एवं विकसित बनाया है।

4. उग्र राष्ट्रवाद-उग्र राष्ट्रवाद ने नवीन-साम्राज्यवाद को विश्व-व्यापक बनाने में महान सहयोग दिया है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब यूरोप के चन्द देशों में उग्र-राष्ट्रवाद प्रबल हो गया तो नवीन साम्राज्यवाद की लहर तीव्र गति से प्रसारित होने लगी। इस उग्र राष्ट्रवाद ने ही जर्मनी में यह भावना प्रबल बनाई कि जर्मन लोग विश्व में सर्वश्रेष्ठ व सभ्य हैं। इसी प्रकार इंग्लैण्ड में इस उग्र राष्ट्रवाद ने यह धारण सुदृढ़ की कि इंग्लैण्ड का राष्ट्र-प्रेम विश्व में सर्वश्रेष्ठ तथा अनुकरणीय है। इंग्लैण्डवासियों ने अपने को सभ्य एवं शिष्ट समझते हुए विश्व के पिछड़े देशों के निवासियों को सभ्य एवं सुशिक्षित बनाने की दृष्टि से उन पिछड़े देशों में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे वहां के लोगों के दिलों को जीत कर वे वहां बस गये और वहां के लघु उद्योगों को समाप्त कर उन्होंने अपने यहां का उत्पादित सामान वहां भेजना आरंभ कर दिया। उधर जर्मनी ने देखा कि हालैण्ड जैसा छोटा-सा देश अफ्रीका व अन्य देशों में अपना इतना विशाल साम्राज्य स्थापित कर सकता है तो जर्मनी जैसा शक्तिशाली राष्ट्र इस दिशा में पीछे क्यों रहता है? जर्मनों ने महसूस किया कि जर्मनी को गौरवशाली बनाने हेतु उसके पास विशाल साम्राज्य व उपनिवेश अवश्य होने चाहिए। इसी प्रकार की धारणा इटली के तानाशाह मुसोलिनी की थी। और अपनी धारणा को साकार बनाने हेतु ही उसने इथोपिया पर आक्रमण कर अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार किया था।

5. आत्म रक्षा- उन्नीसवीं सदी में प्रथम साम्राज्यवाद प्रसारित हुआ और उसके बाद में नवीन-साम्राज्यवाद। इस साम्राज्यवाद की दौड़ के कारण ही यूरोप व अन्य महाद्वीपों में अनेक युद्ध लड़े गये। अतः प्रत्येक देश के समक्ष सुरक्षा का प्रश्न प्रमुख बन गया था। अपनी सुरक्षा के लिए देशों ने विशाल एवं सुदृढ़ सेनाओं का गठन आरम्भ किया। नो-सेना (Navy) को भी विकसित एवं शक्तिशाली बनाया गया। नो-सेना के लिए समुद्री अड्डों की आवश्यकता हुई। जब यूरोप के देशों ने देखा कि इंग्लैण्ड ने विश्व के प्रमुख सागर एवं महासागरों के प्रवेश द्वारों पर अपना अधिकार कर लिया है तो उन्होनें भी सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर अपने अड्डे स्थापित करना आंरभ कर दिया। इन सामुद्रिक अड्डों की रक्षा हेतु उनके आस-पास के भू-भागों पर भी उन्होने अधिकार कर लिया। इस प्रकार आत्म-रक्षा का प्रश्न भी नवीन-साम्राज्यवाद की प्रेरणा का स्रोत बन गया क्योंकि अधीनस्थ भू-भाग को अपने कच्चे माल का निर्यात करने को तथा अपने स्वामी राष्ट्र का उत्पादित सामान का आयात करने को विवश किया जाता था।

6. एशिया की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था- साम्राज्यवाद का अर्थ ही यह है कि सभ्य व शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा निर्बल एवं पिछड़े राष्ट्रों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करना। इस प्रकार ही भावना यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुई। व्यापार हेतु तो इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड, व पुर्तगाल एशिया महाद्वीप में पहले ही प्रवेश कर चुके थे। परन्तु वहां अपनी राजनीतिक प्रभुसत्ता जमाने की भावना उनके दिल में एशियाई देशों की तत्कालीन दयनीय राजनीतिक अवस्था ने उत्पन्न की। भारत में मुगल साम्राज्य के निर्बल हो जाने पर दक्षिण भारत में कई स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। उनकी फूट के कारण इंग्लैण्ड की ईस्ट इंडिया कम्पनी प्रथम दक्षिण भारत की स्वामी बनी और उसके उपरान्त बंगाल की। चीन में दो अफीम युद्ध हुए- उनमें चीन की निर्बलता स्पष्ट हो गई और वहां पश्चिमी देशों की प्रभुत्ता स्थापित हो गई। दक्षिण-पूर्वी टापुओं में भी हालैण्ड की प्रभुसत्ता इसी प्रकार सुदृढ़ हुई।

आर्थिक राष्ट्रीयता- इसका पूर्ण विवरण आप यथोचित स्थान पर पावेंगे। 1870 में औद्योगिक-क्रान्ति अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गई थी। यूरोप के देश भारी मात्रा में उत्पादन करने लग गये थे। परन्तु उत्पादन को खपाने की समस्या कई औद्योगिक देशों के सामने भयंकर समस्या बन गई थी। उस समस्या के समाधान हेतु यूरोपीय राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के

उपनिवेशों के हितों की अवहेलना कर केवल अपने आर्थिक हितों की पूर्ति करने लगे। वे अपने माल का निर्यात करने लगे और अन्य देशों के आयात को अपने यहां प्रतिबन्धित करने लगे। उन्होंने बाहरी माल पर ऊंचे प्रवेश शुल्क लगा दिए। परमिट प्रणाली प्रचलित कर दी। राष्ट्र की इस संकुचित मनोवृत्ति से अन्तराष्ट्रीय व्यापार को धक्का अवश्य लगा परन्तु उनके आर्थिक हितों का समाधान भी अवश्य हुआ।

एशिया में नवीन साम्राज्यवाद का विकास

एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद अफ्रीका महाद्वीप से पूर्व ही प्रवेश कर चुका था। अफ्रीका का बंटवारा तो यूरोप के देशों के बीच 1871 से पूर्व ही हो गया था। एशिया में यूरोपीय देशों के सामने बंटवारे का तो प्रश्न उत्पन्न हुआ ही नहीं। यहां तो इंग्लैण्ड, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैण्ड, जर्मनी आदि देशों ने जहां मौका मिला वहीं अपनी सैनिक शक्ति व कूटनीति से साम्राज्यवादी उपनिवेश स्थापित कर लिए। एशिया विश्व का सबसे महान् महाद्वीप है। यूरोपवासीयों ने इस अपने राजनीतिक दृष्टिकोण से कई भागों में विभक्त कर लिया और अपने-अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए। हम एशिया के साम्राज्यवाद को निम्न शीर्षकों के अर्न्तगत उल्लेखित करने का प्रयास करेंगे।

1. मध्य पूर्व में साम्राज्यवाद
2. सूदूर-पूर्व में साम्राज्यवाद
3. जापान में साम्राज्यवाद
4. रूस का साम्राज्यवाद
5. अमेरिका का साम्राज्यवाद
6. एशिया के दक्षिण पूर्व में साम्राज्यवाद

मध्य-पूर्व में साम्राज्यवाद (ईरान)- ईरान जो आज राष्ट्रीयता व मुस्लिम संस्कृति के सन्दर्भ में सर्वाधिक चर्चित बना हुआ है वह 1935 से पूर्व विश्व के मानचित्र में इस नाम से उल्लेखित नहीं था। इसे फारस कहा जाता था। यह फारस की खाड़ी के उत्तर-पूर्व में स्थित है। मध्य युग तक इसने अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को बनाये रखा। आधुनिक युग के आरम्भ में यह एक छोटा सा देश था और इसके निवासी ''पार्स'' कहलाते थे। अपने निवासियों के नाम पर यह फारस (Persia) कहलाया। इसके उत्तर में कैस्पियन सागर तथा रूस है और पूर्व में अफगानिस्तान है। इन दोनों (रूस व अफगानिस्तान) देशों ने इसकी राजीनतिक परिस्थियों को काफी प्रभावित किया है। यह शिया-धर्म का केन्द्र है। आज इसने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिस्र की भाँति किसी नदी व नगर के कारण प्राप्त नहीं की है वरन् अपने पैट्रोल उत्पादन के कारण प्राप्त की है। चारों ओर से मुस्लिम देशों से घिरा होने पर भी इसकी संस्कृति व सभ्यता उन देशों से भिन्न है। भाषा व जाति की दृष्टि से भी ईरानवासी अरब के नहीं है।

ईरान की प्राचीन राजनीतिक अवस्था- उन्नीसवीं सदीं के आरम्भ में भी यह राजतन्त्र था। भारत में चौदहवी सदी के अन्त में तथा अठारहवीं सदी के पूर्वाद्ध में जो दिल दहला देने वाले वीभत्स आक्रमण हुए थे- वे यहीं के शासकों द्वारा किये गये थे। 1398 ई. में तैमूर लंग ने भारत पर आक्रमण किया था तथा दिल्ली में भयंकर कत्लेआम कर अपना नाम इतिहास में किसी भी रूप में अमर किया। तैमूर लंग के साम्राज्य की राजधानी समरकन्द थी परन्तु फारस उसी के साम्राज्य का एक अंग था। 1739 ई. में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली में भंयकर कत्लेआम करके उसने अपना नाम नृशंस-शासकों में लिखवाया था। नादिरशाह भी फारस (ईरान) का ही सुल्तान था। अतः स्पष्ट है कि मध्य-काल में लूट-खसोट की दृष्टि से ईरान (फारस) का स्थान भी महत्वपूर्ण था। साम्राज्यवाद के क्षेत्र में यह काफी बढ़ा हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं सदी में ईरान के सुल्तान शक्तिशाली नहीं रहे। इस सदी में यह 'कजर' वशं का राज्य था, जिसकी स्थापना अठारहवीं सदी के अन्त में (1779 ई.) में अका मोहम्मद ने की थी।

फारस की खाड़ी के आसपास कई मुस्लिम देश हैं। वहां आज शेखों का शासन है। 1869 ई. से 1880 ई. तक के वर्षों में ब्रिटेन ने यहां के प्रायः सभी शेखों के साथ सन्धियां कर ली थीं। उन्नीसवीं सदी में रूस भी इंग्लैण्ड की भांति कट्टर साम्राज्यवादी देश था। क्रिमीया युद्ध के उपरान्त रूस का ध्यान टर्की से हटकर मध्य-पूर्व एशिया पर आ जमा था। उसने

अफगानिस्तान पर अपना प्रभाव जमाना आरम्भ कर दिया। इंग्लैण्ड को भारत की सदैव चिन्ता रहती थी। अतः वह नहीं चाहता था कि रूस ईरान पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करे। परन्तु रूस ने ईरान को 1828 में ई० में परास्त कर उसे तुर्कमनजई की सन्धि करने को बाध्य कर दिया था। इस सन्धि से रूस का प्रभाव ईरान पर जम गया था और उसने वहां एक्सट्रा-टेरिटोरिएलिटी के विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे। रूस द्वारा फारस क्षेत्रातीत अधिकार (Extra Territorial Right) प्राप्त कर उसी प्रकार नवीन साम्राज्यवाद की दौड़ में प्रवेश कर गया जिस प्रकार पश्चिमी राष्ट्रों ने चीन में टिन्टसिन की सन्धि के अन्तर्गत प्रवेश किया था। इन कारणों से ईरान, ब्रिटेन व रूस की प्रतिद्वन्द्विता का प्रमुख केन्द्र बन गया।

ईरान का विदेशियों के प्रभाव में आना- रूस व अफगानिस्तान के (1857 ई.) साथ युद्ध करने से ईरान की आर्थिक अवस्था दयनीय हो गई थी। इस समय वहां का शासक शाह नासिरुद्दीन (Shah Nasiruddin, 1845-96) था। उसने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने की हेतु विदेशों से ऋण व आर्थिक सहायता लेने की सोची। इस कारण उसने अंग्रेजों को ईरान में व्यापारिक सुविधाएं प्रदान कीं। 1872 में ईरान के शाह ने अंग्रेज साहूकार बेरन रायटर को ईरान में रेल व सड़कें निर्माण का ठेका दिया। इनमें व्यय होने वाले धन की वसूली के लिए उसे ईरान में चौबीस वर्ष तक चुंगी वसूली का अधिकार उसे ही दे दिया। 1889 ई. में शाह की आज्ञा से इम्पीरियल बैंक ऑफ पर्सिया स्थापित किया गया। इसके लिए उसने ब्रिटेन से ऋण भी लिया। उधर रूस भी ईरान में अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। उसने 1879 ई. में अपनी देख-रेख में ईरान में एक सेना तैयार की तथा 1891 ई. में उसने डिस्काउन्ट बैंक ऑफ पर्सिया स्थापित किया। 1888 ई. में रूस को कैस्पियन सागर में मच्छी पकड़ने का अधिकार भी मिल गया था। परन्तु इन सब साधनों से ईरान की आर्थिक अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। शाह की तीन विदेश-यात्राओं से ईरान की आर्थिक अवस्था को और शोचनीय बना दिया था। इन परिस्थितियों में शाह नसिरुद्दीन को मौत के घाट उतार दिया गया और मुजफ्फरुद्दीन (1896-1908) का उसके स्थान पर ईरान का शाह बनाया गया। इसके शासनकाल में देश की आर्थिक अवस्था और भी दिवालीया हो गई। इस कारण शाह ने 1900 ई. में रूस से कर्ज लिया और उसे गुल्फा से तबरीज तथा तेहरान तक रेल लाइन डालने की अनुमति दे दी। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त तक ईरान में विदेशियों की लूट-खसोट आरम्भ हो गई वह रूस व इंग्लैण्ड की प्रतिद्वन्द्विता का केन्द्र बन गया।

भारत की सुरक्षा की दृष्टि से फारस का बड़ा महत्व था। इस तथ्य का आभास सर्व प्रथम इंग्लैण्ड ने किया था, क्योकि उसे भारत पर शासन करना था। 1878 की बर्लिन काग्रेंस के उपरान्त रूस ने भी अपना ध्यान निकट-पूर्व से (टर्की) हटा कर मध्य पूर्व में लगा दिया था। बर्लिन-कांग्रेस में स्टेफेनो सन्धि से प्राप्त प्रदेशों को छोड़ने के लिए रूस को विवश इंग्लैण्ड ने ही किया था। अतः रूस मध्यपूर्व में अपना प्रभुत्व स्थापित कर बर्लिन कांग्रेस का बदला लेना चाहता था। इसके साथ ही वह भारत में ब्रिटिश-शासन को संकटग्रस्त बनाना चाहता था। इन्हीं कारणों से फारस रूस और इगंलैण्ड के मध्य झगडे का कारण बन गया। अतः जब 19वीं सदी के अन्तिम दशक में रूस ने फारस पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया तो इंग्लैण्ड की चिन्ता और बढ़ गई। आर्थिक क्षेत्र में फारस पूर्णतः रूस के प्रभाव में चला गया। उत्तरी फारस का व्यापार रूस ने अपने हाथ में ले लिया। कर्ज से लदे होने के कारण ईरान कुछ नहीं बोला। ईरान के शाह ने विदेशी ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व रूस पर छोड़ दिया। स्पष्ट है कि ईरान की इस समय आर्थिक अवस्था इतनी दयनीय हो गई थी कि शाह की निजी सुरक्षा के लिए एक छोटी सी सेना रह गई थी और वह भी रूसी सेनापति के नेतृत्व में थी।

इंग्लैण्ड ने भी फारस की इस दयनीय आर्थिक अवस्था का फायदा उठाना चाहा। 1901 में उसने वहां पैट्रोल निकालने की सुविधा प्राप्त कर ली। 1907 में रूस फारस व ब्रिटेन के मध्य एक समझौता हो गया। यह समझौता त्रिमित्र समझौता (Triple Entente) का ही परिणाम था जो 1907 में इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस के मध्य हुआ था। इस समझौते के अन्तर्गत् फारस तीन भागों में विभक्त हो गया। इसका उत्तरी भाग रूस के प्रभाव में रहा जबकि दक्षिणी भाग ब्रिटेन के प्रभाव में चला गया। मध्य फारस को दोनों के मध्य का तटस्थ (Neutral or Buffer) प्रदेश रखा गया। इस समझौते से रूस और इंग्लैण्ड के मध्य संघर्ष तो टल गया परन्तु यह फारस के लिये चिन्ता का विषय बन गया। फारस देश अविकसित व अव्यवस्थित ही बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रथम विश्व-युद्ध तक रूस व ब्रिटेन दोनों इसे अपना प्रभाव क्षेत्र बनाये रहे।

प्रथम विश्वयुद्ध और फारस- इधर प्रथम विश्व-युद्ध में फारस पहले युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। इंग्लैण्ड व रूस अपने मित्र-राष्ट्रों में लेकर उस युद्ध की पार्टी बनाना चाहते थे। टर्की के माध्यम से जर्मनी भी अपने कुछ आदमी फारस भेजने में समर्थ हो गया। इंग्लैण्ड विरोधी फारसी लोगों ने भी उनका समर्थन किया। जर्मन विशेषज्ञों ने फारस के साधनों पर अधिकार जमाने का प्रयास किया। जर्मनी ने उसे अपनी (धुरी राष्ट्रों) ओर से युद्ध करने को प्रेरित किया। टर्की

ने प्रथम विश्व-युद्ध को जिहाद (Holy War) की संज्ञा देकर ईरान के मुसलमानों को युद्ध में आने को प्रेरित किया। अपने उद्देश्य में असफल रहने पर टर्की ने 1915 में आक्रमण कर दिया। टर्की के सैनिकों ने तबरीज पर अधिकार कर लिया। फारस के सैनिक इंग्लैण्ड के सैनिकों की सहायता से भी उन्हें नहीं रोक सके। ईरान में इंगलैण्ड को अपनी तेल कम्पनियों की बड़ी चिन्ता थी। इसीलिए इंग्लैण्ड ने ईरान के स्थानीय लोगों को सेना में भर्ती कर रूस की सहायता से टर्की की सेना को पराजित कर दिया और 1917 ई० तक उसने समस्त ईरान पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसी समय रूस में बोलशेविक क्रान्ति आरम्भ हो गई और रूस युद्ध से अलग हो गया। इससे इंग्लैण्ड की बन आई। उसने उत्तरी ईरान पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार रूस की क्रन्ति ने यदि ईरान को रूस के पंजे से बचाया तो दूसरे दृढ़ साम्राज्यवादी देश इंग्लैण्ड के फंदे में फंसा दिया। रूस ने अपने को साम्राज्यवाद के विरुद्ध बताया। इसीलिए उसने स्वेच्छा से ईरान में प्राप्त अपने समस्त विशेषाधिकारों व प्रदेशों का परित्याग कर दिया। इस पर ईरान की जनता इंग्लैण्ड विरोधी हो गई। युद्ध समाप्त होने पर 1919 ई० में इंग्लैण्ड ने ईरान से एक सन्धि कर ली। उस सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :-

1. ईरान की सरकार को प्रशासन में सहायता करने देने हेतु इंग्लैण्ड अपने परामर्शदाता भेजेगा।
2. ईरान को सैन्य सामग्री भी इंग्लैण्ड भेजेगा।
3. ईरान के यातायात के साधनों को विकसित करने हेतु इंग्लैण्ड उसे ऋण देगा।
4. इंग्लैण्ड ने ईरान की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लिया।

इस सन्धि के अन्तर्गत इंग्लैण्ड ने ईरान की सावभौमिकता अवश्य स्वीकार की थी पर यह शर्त लगाकर की गई थी। इसीलिए ईरानवासियों ने तो इस सन्धि का विरोध किया ही साथ में इंग्लैण्ड की जनता को भी यह सन्धि अच्छी नहीं लगी। इसीलिए इंग्लैण्ड की गृह-सरकार ने ईरान से अपने सैनिकों को लौटने के लिए बाध्य किया। अन्य देशों को भी इंग्लैण्ड का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। रूस ने अपने को सही अर्थ में साम्राज्यवाद का विरोधी बताने की दृष्टि से जून 1919 ई. में जार के समय का जितना भी कर्ज ईरान पर था वह छोड़ दिया। परन्तु रूस का यह उदार व्यवहार शीघ्र ही समाप्त हो गया और उसने 1920 ई० में ईरान पर आक्रमण कर जोरजिया व आरमेंनिया पर अधिकार कर लिया और फारस की खाड़ी में अपना जहाजी बेड़ा भेज दिया।

इस प्रकार साम्यवादी एवं साम्राज्यविरोधी रूस ने पुनः ईरान को अपना प्रभाव स्थल बनाने का प्रयास किया। परन्तु फारसियों में इगलैण्ड व रूस दोनों के प्रति आक्रोश की भावना उत्पन्न हो गई थी और वे अपने देश को उनसे स्वतन्त्र कराने को दृढ़ संकल्प थे। रजा खां तथा जियाउद्दीन का उनको नेतृत्व प्राप्त हो गया। उनके नेतृत्व में फारसवालों ने 17 फरवरी 1921 को अहमदशाह की सड़ी गली सरकार को उखाड़ फैंका। अहमदशाह नाम मात्र का शासक बना रहा। जियाउद्दीन ने प्रधानमंत्री का पद संभाला और रजा खां सेनापति बन गया। इस नवीन सरकार ने इंग्लैण्ड के साथ की गई सन्धि मानने से इन्कार कर दिया और 26 फरवरी 1921 को इसने रूस के साथ सन्धि कर ली। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :-

1. ईरान को रूस के जो ऋण चुकाने थे उनको रूस ने रद्द किया।
2. रूस ने ईरान में जो सड़कें, पुल व बन्दरगाह निर्मित किये थे वे बिना क्षतिपूर्ति के ईरान को दे दिए।
3. कैस्पियन सागर के दक्षिण में स्थित द्वीप जिन पर रूस ने अधिकार कर लिया था वे उसने ईरान को लौटा दिये।
4. यदि ईरान पर कोई विदेशी आक्रमण होगा तो रूस ईरान की सैनिक सहायता करेगा।
5. जार के समय रूस के धर्माधिकारियों ने ईरान में अपनी जो सम्पत्ति अर्जित की थी, वह भी समाप्त कर दी गई।

यह सन्धि इस नवीन सरकार की प्रथम विजय थी। इस सन्धि के द्वारा ईरान को इंग्लैण्ड के चंगुल से बचा लिया गया। उधर ईरान व रूस के मध्य मेंत्री हो गई और रूस व इंग्लैण्ड की मित्रता समाप्त हो गई। इस सन्धि से आंग्ल-रूस मेंत्री (Anglo- Russian Entente 1907) समाप्त हो गई। इससे स्पष्ट है कि इस सन्धि के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में बड़े दूरगामी परिणाम हुए।

नवीन सरकार के अन्य कार्य- जियाउद्दीन ने ईरान की आर्थिक अवस्था को सुधारना चाहा। इसके लिए उसने

अमेरिकन अर्थशास्त्री आर्थर चेस्टर (Arthur Chesater) की नियुक्ति की। उसके प्रयासों से ईरान की आर्थिक अवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ। यातायात के साधनों का विकास किया गया। पाश्चात्य ढंग पर देश का औद्योगिक विकास भी आरंभ किया गया।

31 अक्टूबर 1925 को फारस के इतिहास में पुनः एक महान परिवर्तन आया। अहमदशाह को गद्दी से हटा दिया और 12 दिसंबर को रजा खां फारस का शाह बन गया। इस प्रकार जो कजर (Qazar) वंश 1779 ई० से ईरान पर शासन करता चला आ रहा था-वह समाप्त हो गया और 'पहलवी वंश' का शासन आरंभ हो गया। इसे फारस के इतिहास में रक्तहीन क्रान्ति कहते हैं। इस वंश का प्रथम शासक रजा पहलवी ही बना। इसने ईरान का आधुनिकीकरण कर उसे साम्राज्यवादियों के प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध और ईरान- जब द्वितीय विश्वयुद्ध आंरभ हुआ तब रजा शाह ही ईरान पर शासन कर रहा था। जर्मनी की ओर झुकाव होते हुए भी उसने तटस्थ बने रहने का ही प्रयास किया। उसकी तटस्थता से खिन्न होकर 25 अगस्त 1941 को इंग्लैण्ड और रूस ने संयुक्त रूप से ईरान पर आक्रमण कर दिया। रजा शाह दोनों देशों की संयुक्त सेना का मुकाबला नहीं कर सका। रूस व इंग्लैण्ड ने ईरान पर पुनः अधिकार कर लिया। अपनी असफलता के कारण रजा शाह ने 16 सितंबर 1941 को गद्दी त्याग दी। उसका स्थान मुहम्मद रजा ने लिया। नवीन शाह ने इंग्लैण्ड-रूस से सन्धि कर ली। उत्तरी ईरान पर प्रभाव रूस का तथा दक्षिण में इंग्लैण्ड का प्रभाव स्थापित हो गया। 1942 में जब युद्ध का पासा पलटने लगा तो ईरान ने भी अपनी तटस्थता की नीति का परित्याग कर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सितम्बर 1943 में ईरान में एक सम्मेलन (Iran Conference) हुआ। मित्र राष्ट्रों ने ईरान की स्वतन्त्रता तो स्वीकार कर ली, परन्तु उनकी सेनाएं वहां बनी रहीं।

दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति पर भी ईरान का साम्राज्यवादियों से पिण्ड नहीं छूटा। रूस व इंग्लैण्ड के अलावा अमेरिका भी वहां आ धमका और तीनों देश इसके पैट्रोल के पीछे पड़ गये। अमेरिका ने धन देकर ईरान को और प्रभावित कर दिया। 29 जनवरी 1942 को रूस व इंग्लैण्ड ने ईरान से पुनः एक सन्धि की थी। उस सन्धि के अन्तर्गत दोनों देशों ने ईरान से वायदा किया था कि वे युद्ध समाप्त होने के 6 मास उपरान्त अपनी सेनाएं हटा लेंगें। इंग्लैण्ड व अमेरिका ने तो 2 मार्च 1946 को अपनी सेनाऐं ईरान से हटा लीं पर रूस ने नहीं हटाई। इसके विपरीत उसने अपनी समर्थक तुदेह (Tudeh) पार्टी के नेतृत्व में अजरबैजान (Azerbaijan) पर प्रजातन्त्र की स्थापना कर दी। रूस का वहां बना रहना इंग्लैण्ड व अमेरिका दोनों को अखरा। मामला सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत हुआ। रूस ने सुरक्षा परिषद के निर्णय की अवहेलना की। वह ईरान के पैट्रोल से मुंह नहीं मोड़ना चाहता था। इस पर ईरान का प्रधानमंत्री अहमद क्याम फरवरी 1945 में रूस गया। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अपने विरुद्ध होता देख कर रूस ने 6 मई 1946 को अपनी सेनाएं ईरान से हटा लीं। सेना हटाने पर भी रूस ने अपना प्रभाव ईरान पर बनाए रखने का प्रयास किया।

इस प्रकार इंग्लैण्ड, रूस तथा अमेरिका ने ईरान को अपना प्रभाव स्थल बनाने तथा इसका पैट्रोल प्राप्त करने के हरचन्द प्रयास किये। ईरान के प्रधानमंत्री मुसादिक के सद् प्रयासों से 1953 में पैट्रोल का राष्ट्रीयकरण हुआ और ईरान को साम्राज्यवादियों से मुक्त होने का अवसर मिला।

अफगानिस्तान- अफगानिस्तान भी भारत का एक सीमावर्ती देश है। यह प्राकृतिक साधनों सम्पन्न नहीं है। अतः इसके लिए रूस और इंग्लैण्ड में जो प्रतिद्वन्द्विता आंरभ हुई वह नवीन-साम्राज्यवाद से इतनी प्रेरित नहीं थी। 1878 में बर्लिन कांग्रेस के निर्णयों से खिन्न रूस, इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादी क्षेत्र में कुछ कठिनाइयां उत्पन्न करना चाहता था। अफगानिस्तान में अपना प्रभाव जमा कर उसने इंग्लैण्ड के दिमाग में यह भावना उत्पन्न कर दी कि वह भारत को अधीनस्थ करना चाहता है। अतः इंग्लैण्ड ने अफगानिस्तान को अपने प्रभाव में लाने के लिए कई युद्ध किये। चाहे इंग्लैण्ड अफगानिस्तान को पूर्णतः अपने प्रभाव में नहीं ला सका पर उसने रूस का प्रभाव वहां नहीं जमने दिया।

सुदूर-पूर्व में (Far-East) नवीन साम्राज्यवाद

चीन- चीन के प्रति यूरोपीय देशों में आकर्षण अति पुरातन है। प्राचीन काल में यूरोपीय देश चीन का कीमती माल अपने यहां आयात करना चाहते थे। परन्तु उन्नीसवीं सदी में यूरोपीय देशों ने इसे अपने व्यापार का केन्द्र बनाना चाहा। अतः यूरोप

के देशों का ध्यान चीन पर केन्द्रीभूत हो गया था। चीन जैसा भीमकाय देश उनकी साम्राज्यवादी आंखों से कैसे बच सकता था ? संयुक्त राज्य अमेरिका के सचिव जान हैं ने इसके सन्दर्भ में सही ही कहा है। वे लिखते हैं कि विश्व का तूफानी केन्द्र चीन की तरफ चला गया है जो भी इस महान साम्राज्य को समझता है। वह विश्व की राजनीति की कुंजी अपने पास रखता है। हेराल्ड एम बिनाके ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ द फार ईस्ट इन मार्डन टाइम्स' में लिखा है कि द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक सुदूर-पूर्व शब्द का भौगोलिक तात्पर्य था चीन, जापान, कोरिया तथा बेकाल झील के पूर्वी प्रदेश। अतः यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने इन्हीं देशों को अपने नवीन साम्राज्यवाद का केन्द्र स्थल बनाने का प्रयास किया है।

चीन में यूरोपीय देशों का प्रवेश- 15वीं सदी के अन्तिम दशक में जब वास्को-डी-गामा ने भारत का मार्ग खोज निकाला तो पुर्तगालियों ने चीन पहुंचने का प्रयास किया। इतिहासकार बस (Buss) ने अपनी पुस्तक 'द फार ईस्ट' में उपयुक्त ही लिखा है कि चीन में 16वीं शताब्दी में पुर्तगाली, 17वीं सदी में डच, परन्तु 18वीं और 19वीं सदी में ब्रिटिश जाति का प्रभुत्व था। 1500 ई. के आसपास तक चीन व्यापार, कला व विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप से अग्रिम बना रहा। इसीलिए वह अपनी सभ्यता पर गर्व करता रहा। परन्तु मार्कोपोलो के वर्णन से यूरोप के व्यापारी चीन की ओर आकर्षित हुए। भारत की भांति यहां भी यूरोपवासी प्रथम व्यापारी के रूप में ही आए तथा यहां भी सर्वप्रथम पुर्तगाल वाले ही आये। 1519 ई. में थामस पिरेज (Thomas Piresa) के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल पेकिंग (Peking) पहुंचा। थामस पिरेज को बन्दी बना लिया। 1523 ई. में उसे कैन्टन में ही एक बन्दी के रूप में इस लोक से विदा लेनी पड़ी। इस समय पेकिंग में मिंग-वंश का कांग टी (Kang Te) सम्राट था। उसने पुर्तगालियों को अपने से हीन समझते हुए अन्य स्थानों से भी निष्कासित कर दिया। पुर्तगालियों को चीन के नगरों से निकालने का परिणाम यह निकला कि वे यहां कोई बस्ती नहीं बसा सके। परन्तु कैन्टन (Canton) के समीप एक द्वीप को उन्होंने अपने व्यापार का केन्द्र अवश्य बना लिया। 1557 ई. में उन्होंने मकाओं (Macao) पर अधिकार अवश्य कर लिया और यह आज भी उनके अधिकार में है।

भारत की भांति पुर्तगाल निवासियों ने अन्य यूरोप के देशों के व्यापारियों के लिए चीन का भी मार्ग खोल दिया। 1557 ई. में स्पेन वासी फिलीप्पीन (Philippinesa) से चीन आये और वे भी व्यापार में हाथ बटाने लगे। डच व अंग्रेजों ने भी पुर्तगाल व स्पेनिश लोगों का अनुसरण किया। अमेरिका भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहा, परन्तु उसका यहां पदार्पण 1784 में हुआ। 1698 ई. में फ्रांस का जहाज कैण्टन पहुंचा तथा 1732 ई. में स्वीडन का भी एक जहाज चीन आ गया। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक यूरोप के कई देशों के लोग चीन आ गये और उनके यहां आने का मूल कारण चीन संपदा का दोहन करना था।

नवीन साम्राज्यवाद में धर्माधिकारियों का सहयोग- नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार में सरकार का सहयोग कम रहा तथा व्यापारियों व धर्माधिकारियों का अधिक रहा है। चीन में पाश्चात्य प्रभुत्व स्थापित कराने में धर्माधिकारियों ने भी अच्छी भूमिका निभाई है। प्रारंभ में तो धर्म प्रसारकों को मिंग-वंश के शासकों ने कोई महत्व नहीं दिया। 1662 में मंचु-वंश का हांग हसी सम्राट बना। उसने 1772 तक शासन किया। उसने ईसाई धर्माधिकारियों के साथ उदार व्यवहार किया। परिणामतः दो लाख कैथोलिक पादरी चीन में प्रवेश पा गए और उन्होंने लाखों चीनियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया। कांग हसी ने बहुत से ईसाइयों को उच्च पदों पर आसीन कर दिया। परन्तु ये मधुर सम्बन्ध अस्थायी सिद्ध हुए।

सम्बन्धों में कटुता और अफीम युद्ध- 1700 के उपरान्त चीन में कन्फ्यूशियस के विचार पुनः लोकप्रिय होने लगे। चीनी सम्राट ने ईसाई धर्माधिकारियों से कहा कि वे अपने प्रवचनों में कन्फ्यूशियस (Confucias) को उचित स्थान दें। धर्माधिकारियों ने इस आदेश को स्वीकार कर लिया, परन्तु पोप के विरोध के कारण वे ऐसा नहीं कर सके। इसके परिणामस्वरूप कांग-हसी उनसे क्रुद्ध हो गया। उसके उत्तराधिकारी भी ईसाई विरोधी रहे। 1736 ई. में चिएन-लुंग (Chien-Lung) शासक बना। वह 1796 तक राज्य करता रहा। उसने ईसाई धर्माधिकारियों को बहुत परेशान किया और उन्हें धर्म प्रसार की सुविधाएं प्रदान नहीं कीं। धर्माधिकारी को केवल कर दाता समझे गये। उन्हें चीनी शासक को दण्डवत करने को बाध्य किया गया। इससे वे नाराज हो गये। इसी अन्तराल में अफीम का व्यापार कटुता का कारण बन गया। जिसके फलस्वरूप 1839 में प्रथम अफीम युद्ध हुआ। उसकी समाप्ति 1842 में नानकिंग की सन्धि (Treaty of Nanking, 1842) से हुई।

सन्धि की शर्तें

1. हांगकांग द्वीप इंग्लैण्ड को मिल गया और वह आज भी उसी के अधीन है।
2. अंग्रेजों को कैन्टन के अलावा अमाय (Amoy), फूचो (Foochow), निगपो (Nigpo), तथा शंघाई (Shanghai) बन्दरगाह और मिल गए। यहां वे बस सकते थे तथा वहां से अपना व्यापार भी कर सकते थे।

3. चीन ने अंग्रेज अधिकारियों के साथ समानता का व्यवहार करना स्वीकार कर लिया।

4. चीन की व्यापारिक संस्था 'को-हांग' (Co-hong) को भंग कर दिया गया तथा आयात व निर्यात के सामान पर चूंगी लगाने की स्पष्ट व्यवस्था कर दी गई।

5. बारह साल बाद इस सन्धि को दोहराने (Revise) का भी प्रावधान रखा गया।

6. चीन में बसने वाले अंग्रेजों को विशेषाधिकार प्राप्त हुए। उनके अभियोग अब केवल अंग्रेज न्यायाधीश ही सुन सकते थे।

7. चीन के सम्राट को धार्मिक सहिष्णुता की घोषणा करनी पड़ी तथा कैथोलिक धर्माधिकारियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।

नानकिंग-सन्धि के परिणाम- इंग्लैण्ड ने सन्धि की शर्तें बड़े अरमान के साथ रखी थीं। उसे आशा थी कि इससे उसके व्यापार में आशातीत वृद्धि होगी। चीन के सामान का इंग्लैण्ड में आयात न हो कर इंग्लैण्ड के माल की चीन में अच्छी खपत होगी। परन्तु जिस आशा के साथ वह जो स्वर्णिम स्वप्न पूरा करने जा रहा था, वह पूरा नहीं हुआ। चीन के आयात में केवल अफीम की ही वृद्धि हुई। इंग्लैण्ड के अन्य सामान को चीनवासियों ने पसन्द नहीं किया। जारडाइन (Jardine) तथा मेंथेसन (Mathesaon) इंग्लैण्ड की दो महान कम्पनियां जो चीन में व्यापार कर रही थीं, उन दोनों ने ही 1850 ई. में इंग्लैण्ड की सरकार को एक रिपोर्ट भेजी थी। उसमें कहा गया था कि नानकिंग की सन्धि के उपरान्त भी इंग्लैण्ड से सामान का आयात चीन में दिनों-दिन घट रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नानकिंग की सन्धि के उपरान्त इंग्लैण्ड ने जो स्वर्णिम-स्वप्न देखा था वह केवल स्वप्न ही सिद्ध हुआ। दोनों देशों में अब भी अविश्वास बना रहा। इस संधि से चीन की अवस्था और शोचनीय हो गई। युद्ध का खर्च देने हेतु चीन सरकार को किसानों पर नाना प्रकार के कर लगाने पड़े। किसानों ने जमीन बेच दी तथा वे मजदूर हो गये। किसानों के असंतोष के कारण 'ताइपिंग' विद्रोह हुआ। इस सन्धि से जो अभाव उसे अखर रहा था उसकी पूर्ति वह अब सैन्य बल से करना चाहता था। उसके इस हौंसले के कारण दूसरा अफीम युद्ध हुआ। इन सब परिणामों के अलावा एक प्रमुख परिणाम यह निकला कि इस सन्धि ने यूरोप के अन्य देशों को भी चीन से सन्धि कर अपने विशेषाधिकार प्राप्त करने को आतुर बना दिया। सी. डी. एम. कैटलबी के शब्दों में- "ब्रिटिश बन्दूकों ने चीन में एक दरार बना दी जिसके हुए मार्ग से न केवल इंग्लैण्ड का व्यापार चल पड़ा बल्कि दरार द्वारा यूरोप की अन्य जातियों ने भी चीन में प्रवेश किया।" अमेरिका ने 3 जुलाई 1844 को वांघया (Wanghia) स्थान पर चीन से सन्धि की तथा फ्रांस ने 24 अक्टूबर 1844 को हामपोआ (Whampoa) स्थान पर सन्धि की। उन्होंने अपने व्यापार के लिए सुविधाएं प्राप्त कीं। उनके तीन साल बाद ही नार्वे तथा स्वीडन ने चीन से सन्धियां कीं और अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त किये। इस प्रकार नानकिंग की सन्धि ने चीन को अपना द्वार पश्चिम के लिए खोलने को बाध्य कर दिया। अतः स्पष्ट है कि चीन जो सदियों से एकान्तवास की नीति (Policy of Isolation) पर आचरण कर रहा था, वह नीति इस अफीम युद्ध से समाप्त हो गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका पर प्रभाव- संयुक्त राज्य अमेरिका इस समय तक औद्योगिक विकास में बहुत बढ़ चुका था। उपनिवेशवाद (Colonialism) वहां भी दिन पर दिन जोर पकड़ता जा रहा था। अतः अमेरिका चीन व जापान के एकान्तवास को समाप्त कर वहां अपना प्रवेश चाहता था। अफीम-युद्ध में चीन के परास्त होते ही अमेरिका ने भी उसे 1844 की संधि करने को बाध्य कर दिया। इस सन्धि की शर्तें लगभग नानकिंग की सन्धि के समान ही थीं। परन्तु एक शर्त विशेष थी। अमेरिका के अभियोगियों पर अभियोग चीन में न चलाये जा कर अमेरिका में ही चलाये जाने थे। अमेरिका के धर्माधिकारियों को भी चीन में ईसाई धर्म-प्रसार की अनुमति मिल गई।

दूसरा अफीम-युद्ध (1856-60)

प्रथम अफीम-युद्ध की समीक्षा में हमने स्पष्ट किया कि नानकिंग की संधि के अन्तरगत प्राप्त विशेषाधिकारों से इंग्लैण्ड सन्तुष्ट नहीं हुआ था। वह चीन के भीतर प्रवेश चाहता था। व्यापार को बढ़ाने हेतु वह उसके और बन्दरगाह लेना चाहता था। इन सबके अलावा वह अफीम के व्यापार के सन्दर्भ में पूरा स्पष्टीकरण चाहता था, क्योंकि इस नानकिंग की

संधि में अफीम के व्यापार के विषय में कुछ नहीं स्पष्ट किया गया था। इसके लिए इंग्लैण्ड आतुर था, क्योंकि इस संधि के उपरान्त भी उसे केवल अफीम के व्यापार में ही आशातीत लाभ हो रहा था। इस युद्ध में फ्रांस ने भी चीन के विरुद्ध इंग्लैण्ड का साथ दिया गया था। अतः वह भी चीन में विशेषाधिकार चाहता था। इस प्रकार दूसरा अफीम युद्ध अनिवार्य हो गया था। इसका प्रारंभ 1856 में हुआ और 1860 में टिन्टसिन (1858) की संधि इसका अन्त हुआ। संधि की शर्तें निम्नलिखित थीं।

टिन्टसिन संधि की शर्तें

1. अफीम के व्यापार को वैद्य करार दे दिया गया। अब चीन की सरकार अफीम के व्यापार में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। इसके अलावा उसकी चुंगी दर भी निर्धारित कर दी गई।
2. पाश्चात्य देशों को अपने राजदूत पेकिंग भेजने तथा वहाँ रखने का अधिकार दे दिया गया।
3. एक्सट्रा-टेरिटोरियल विशेषाधिकार उनके और बढ़ा दिये गये।
4. पासपोर्ट प्राप्त विदेशी चीन के किसी भी भाग में जा सकता था।
5. धर्म-प्रचारकों को धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता दे दी।
6. नानकिंग की संधि के अन्तर्गत पाँच बन्दरगाहों के अलावा म्याहर बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार के लिए और खोल दिये गये।

संधि का महत्व- देखा जाय तो पश्चिमी देशों को टिन्टसिन (Tint-Sin) की संधि नानकिंग की संधि से भी अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई। इस संधि के अन्तर्गत् उन्हें वह सब कुछ मिल गया जिसके लिए वे गत बीस वर्षों से संघर्ष कर रहे थे। इस सन्धि ने चीन द्वारा अपनाई गई सहस्र वर्ष पुरानी द्वार-बन्द (Closed Door) की नीति को समाप्त कर दिया। पश्चिमी संस्कृति व सभ्यता के प्रसार हेतु चीन उपलब्ध हो गया। संधि से प्राप्त बन्दरगाहों में यूरोपीय देशों ने अपनी बस्तियां बसाना आरंभ कर दिया। इन 16 नगरों पर चीन का कोई प्रभाव नहीं रहा। क्षेत्रातीत अधिकार (Extra Territorial Rights) के अन्तर्गत चीन सरकार इन बस्तियों में कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। उनका प्रशासन पूर्णतः पश्चिमी देशों के ही आधीन था। इन सोलह नगरों के जाने से चीन की सम्प्रभुता पर भारी आघात हुआ। चीन के व्यापार के क्षेत्र में भी भारी नुक्सान उठाना पड़ा। उसकी सैन्य शक्ति निर्बल हो गई। आर्थिक क्षेत्र में वह और भी जर्जर हो गया। इसके अलावा इस संधि के उपरान्त चीन के सम्राट को ताइपिंग के विद्रोह को दबाने हेतु इंग्लैण्ड की सैनिक सहायता भी उपलब्ध हो सकी।

पेकिंग कन्वेनशन

टिन्टसिन की संधि तो हो गई थी, पर उस संधि की पुष्टि के लिए पेकिंग जाना था। अंग्रेजों व फ्रांसीसियों को पेंकिग जाने की अनुमति तो पेकिंग सरकार द्वारा दे दी गई पर उस मार्ग से जाने की अनुमति दी जिससे गुलाम जाते थे। इसके विपरीत अमेरिका व रूस को उस मार्ग से पेकिंग जाने की अनुमति दी गई जिससे उनके साथ समता का व्यवाहर झलकता था। इस व्यवहार से अंग्रेजों का नाराज होना स्वाभाविक था। उन्होंने फ्रेंच लोगों के साथ पुनः चीन के विरुद्ध सैनिक अभियान आरम्भ कर दिया ओर पेकिंग की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। 1860 ई. में उन्होंने उसे जीत लिया। सम्राट हि-सएन-फेंन राजधानी छोड़कर जेहोल (Johol) को भाग लिया और उसके भ्राता राजकुमार कुंग (Kung) ने संधि वार्ता की। इस अभियान के समय अंग्रेजों ने सम्राट चिरान-लुंग द्वारा निर्मित ग्रीष्म प्रासाद (Summer Palace) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह प्रासाद झील के किनारे बहुत ही सुन्दर रूप से बनाया गया था। इसकी प्रशंसा स्वयं विजेताओं ने की है। इस विनाश से विवश हो चीनी सम्राट ने अंग्रेजों के प्रतिनिधियों से मुलाकात की और उन्हें निम्नलिखित सुविधाएँ और प्रदान कर दीं जो पेकिंग कन्वेनशन (Peking Convention, 1860) के नाम से विख्यात हैं।

इस समय चीन का सम्राट हि-सएन-फैंग (Hsien-Feng) था। यह अपने जीवन के अन्तिम समय तक विदेशियों का विरोधी बना रहा। इस कारण जब वह पेकिंग से भाग गया तो उसकी तरफ से राजकुमार कुंग (Kung) ने ही पेकिंग कन्वेनशन को सम्पन्न किया था। सम्राट 1861 ई. में निर्वासित अवस्था में ही इस लोक से विदा हो गया। कन्वेनशन में निम्न शर्तें स्वीकार की गईं :-

1. सम्राट ने अंग्रेजों के साथ मैत्री सम्बन्ध तोड़ने पर खेद व्यक्त किया।
2. सोलह बन्दरगाहों के अलावा टिन्टसिन विदेशियों के लिए और खोल दिया गया।
3. फ्रांस के पादरियों को चीन में कहीं भी जमीन लेने व वहां भवन बनाने की अनुमति मिल गई।
4. कोलून (Kowloon) इंग्लैण्ड के अधिकार में और दे दिया गया।
5. धर्म-प्रचारकों के प्राण रक्षा की चीन सरकार द्वारा गारण्टी दी गई।
6. व्यापरिक लेन-देन में भी विदेशियों को संविदाओं (Contract) की छूट दी गई।

कन्वेनशन की समीक्षा-इस कन्वेनशन के उपरान्त निःसन्देह चीन व यूरोपवासियों के मध्य मित्रता का एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। 1861 ई. में चीन का द्वार पश्चिमी विदेशियों के लिए पूर्णतः खुल गया। पश्चिम के लोगों ने चीन की राजनीति में भी हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। परन्तु यह सब चीन की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। इसके साथ ही ग्रीष्म प्रासाद के साथ किए गए अंग्रेजों के बर्बर व्यवहार को भी वे नहीं भूले। अंग्रेजों ने शघांई में एक स्थाई सेना भी गठित कर ली थी। वह सेना पश्चिमी व्यापारियों की सुरक्षा के लिये सदैव उद्यत रहती थी।

आगामी वर्षों में चीनियों और विदेशियों में घृणा बढ़ती ही गई। घृणा बढ़ने का प्रमुख कारण ईसाई धर्माधिकारियों की गतिविधियां थी। 1890 तक चीन की सैनिक दुर्बलता पश्चिमी दुनियां को स्पष्ट हो गई। अंग्रेजों ने हांगकांग के अलावा काऊलून और ली लिया। फ्रांसीसियों ने टांकिग और अन्नाम हथिया लिए। पुर्तगालियों ने मकाओ द्वीप पर वैध अधिकार की घोषणा कर दी। क्लाउड ए.बस (Claud A.Buss) ने अपनी पुस्तक 'द फार ईसट' में लिखा है कि चीनियों ने देखा की उनकी प्राचीन महानता समाप्त हो गई, उनकी सीमाएं सिकुड़ गईं एवं उनके प्रवेश बर्बर विदेशियों के हाथ में चले गये।

पश्चिमी देशों ने अपनी बस्तियों में अपने कानून बना रखे थे। व्यवसाय में वे स्वतन्त्र थे। चीन ने सभी विदेशियों को व्यापारिक एवं राजनीतिक सुविधाएं प्रदान कर दीं। साम्राज्यवादी देश चीन में अब अपने को इतने सुरक्षित समझने लग गये थे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की भी चिन्ता नहीं करते थे। चीन के बन्दरगाह पूर्णतः उनके अधिकार में आ गये थे। चीन की भूमि पर विदेशियों ने पुलिस के अलावा सेना रखना भी आरंभ कर दिया था। इन तरीकों से पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा चीन का अर्थिक व राजनीतिक शोषण करना आंरभ किया और यह प्रथम विश्व-युद्ध तक चलता रहा।

जापान- जापान का इतिहास भी चीन के इतिहास की भांति अति प्राचीन एवं पौराणिक कथाओं पर आधारित है। उन पौराणिक कथाओं से स्पष्ट होता है कि जापान के द्वीप देवाताओं द्वारा सृजित हैं। वैसे तो जापान अनेक द्वीपों से मिलकर बना है, पर उनमें चार (क्यूशु, शिकोकू, होना तथा टोकायडी) द्वीप प्रमुख है। इजानगी (Izanagi) देवता तथा इजानमी (Izanami) के संयोग से जापान का उद्भव हुआ है। जापान को उदय होते हुए सूर्य का देश कहा जाता है। विख्यात इतिहासकार विल ड्यूरेंट (Will Durant) का भी यही कहना है कि जापान के पूर्वज देवता थे।

जापान का पश्चिम से सम्पर्क- चीन की भांति जापान ने भी बहुत लम्बे समय तक पश्चिम के लोगों को अपने यहां नहीं फटकने दिया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाल, स्पेन व नीदरलैण्ड के व्यापारियों ने जापान में प्रवेश किया। व्यापारियों के उपरान्त ईसाई धर्म प्रचारक भी यहां आने लगे और हजारों की संख्या में जापानियों को ईसाई बनाने लगे। जैसूट-सम्प्रदाय का नेता फ्रांसिस ज्वेवियर प्रथम धर्म प्रचारक था जो यहां 1549 ई. में आया था। जापानी लोग विदेशियों की इस घुसपैठ से भयभीत हो गये। इसलिए जापान सरकार ने यूरोप के लोगों का जापान आना वर्जित कर दिया। यूरोपीयन लोगों में केवल डच लोगों को जापान के साथ व्यापार करने की अनुमति प्राप्त थी, और उनका व्यापार नागासाकी (Nagasaki) बन्दरगाह तक ही सीमित था।

उन्नीसवीं सदी में यूरोपवासियों की हलचल प्रशान्त महासागर में पुनः बढ़ने लगी। 8 जुलाई, 1853 ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) की नौ सेना का कमोडोर पेरी (Comodor Perry) चार जहाजों के साथ येडो (Yedo) की खाड़ी में उतरा। उसने जापान के सम्राट को एक पत्र दिया और प्रार्थना की कि वह जापान के बन्दरगाहों में अमेरिका के जलपोतों को ठहरने

की अनुमति प्रदान कर दे। एक वर्ष उपरान्त उसने जवाब लेने आने का वायदा किया। ठीक एक वर्ष पश्चात् वह 31 मार्च को आठ युद्ध-पोत तथा चार हजार सैनिक लेकर वह जापान आ पहुंचा।

विदेशियों को जापान आने की अनुमति देने के सन्दर्भ में जापान में दो मत हो गये। एक मत उनके पक्ष में था जबकि दूसरा उनके विरोध में। दूसरे पक्ष का कहना था कि पहले वे हमें आराम देंगे और बाद में धोखा देकर वे हमारा शोषण करेंगे, जैसा कि चीन में उन्होंने किया। बहुत वाद-विवाद के उपरान्त 1854 ई० में शोगुन ने सम्राट की अनुमति से अमेरिका के साथ एक सन्धि कर ली। इस सन्धि के कराने में शोगुन का ही प्रमुख हाथ था। उसका कहना था कि अभी हम इन पश्चिमी जंगलियों का सामना नहीं कर सकेंगे। अतः उसने अमेरिका वालों को व्यापार करने के लिये दो बन्दरगाह खोल दिये। इसके उपरान्त इसी प्रकार की संधिया इंग्लैण्ड, रूस व हालैण्ड के साथ हो गई। 1858 ई० में एक अन्य सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका के लिए जापान ने चार बन्दरगाह और खोल दिए गए। इन सन्धियों के करने से शोगुन ने अपनी शक्ति को ही निर्बल बनाया। इस प्रकार जापान का द्वार विदेशियों के लिए खुल गया और 1868 ई. तक सभी यूरोप के लोग जापान के साथ व्यापारिक संधिया करने में सफल हो गये।

जापान का साम्राज्यवाद- इस प्रकार स्पष्ट है कि जापान उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में पश्चिमी शक्तियों से मुक्त हो गया। उसने पश्चिमी देशों की निगाह में अपने को एक शक्तिशाली देश भी सिद्ध कर दिया। पश्चिमी प्रभाव से मुक्त होने के उपरान्त उसकी दृष्टि भी पड़ौसी देश चीन पर पड़ी। उसने देखा कि जब पश्चिमी देशों ने चीन में लूट-खसोट मचा रखी है तो वह इसमें पीछे क्यों रहे? अतः उसने भी अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा का प्रथम ग्रास चीन को ही बनाया।

चीन-जापान युद्ध-1894 ई० में जापान ने चीन पर आक्रमण कर अपनी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को स्पष्ट कर दिया। चीन की निर्बलता सबके सामने प्रदर्शित हो गई थी। रूस का प्रभाव मंचूरिया पर बढ़ रहा था। यह भी जापान को असहय था। इन्हीं कारणों से जापान ने चीन पर आक्रमण किया और इसकी समाप्ति शिमोनोस्की की सन्धि (Treaty of Shimonsky) से हुई। विजय जापान की हुई और इस विजय के परिणामस्वरूप जापान को चीन से युद्ध का हर्जाना मिला व लियोतुंग प्रायद्वीप मिला। मंचूरिया पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इनके अलावा उसके लिए चार बन्दरगाह व्यापार के लिए मिल गये। इस सन्धि के अर्न्तगत् चीन ने कोरिया को स्वतन्त्र मान लिया था। इस विजय से जापान का व्यापार विकसित हुआ। जापान के साम्राज्यवाद का मार्ग भी खुल गया।

चीन में लूट-खसोट- शिमोनोस्की की संधि से पश्चिमी राष्ट्र प्रसन्न नहीं थे। अतः इस सन्धि की स्याही सूखी भी नहीं थी कि रूस, फ्रांस और जर्मनी ने संयुक्त रूप से जापान को मैत्री पूर्ण हिदायत दी कि वे चीन का कोई भू-भाग प्राप्त न करे। जापान ने इन राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति के सामने अपने को निर्बल समझा। अतः उसने दबाव में आकर तुंग प्रायद्वीप चीन को लौटा दिया। इन तीनों देशों ने अपने इस हस्तक्षेप से चीन को यह बताना चाहा था कि उन्होंने उसकी रक्षा कर दी है।

मून (Moon) ने सही लिखा है कि ये तीनों राष्ट्र अपने मैत्री भाव का चीन से मुआवजा चाहते थे। अतः आगामी 5 वर्षों तक वे चीन से अनेक सुविधाएं प्राप्त करते रहे और उसे अपमानजनक सन्धियां करने को बाध्य करते रहे। इस लूट-खसोट के सन्दर्भ में रूस और जापान के सम्बन्ध खराब हो गये। 1902 में जापान ने विश्व की महान शक्ति ब्रिटेन से सन्धि करके 1905 में वे रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस जापान से बुरी तरह परास्त हुआ और उसे पोर्ट्समाउथ की (Treaty of Protsmouth, सितम्बर 1905) की सन्धि करनी पड़ी। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :-

1. रूस ने कोरिया में जापान के विशेषाधिकार स्वीकार कर लिए।
2. लियोतुंग प्रायद्वीप जापान को मिल गया।
3. पोर्ट आर्थर बन्दरगाह जापान के अधिकार में आ गया।
4. रूस को मंचूरिया खाली करना पड़ा।
5. जापान को पोर्ट आर्थर जाने वाली रेल का आधा भाग व सखलीन (Sakhalin) का दक्षिणी भाग और मिल गया।

जापान में सैन्यवाद का प्रबल होना-1894 ई० में जब जापान चीन से युद्ध कर रहा था, उस समय जापान की प्रिवि कौंसिल ने यह आदेश निकाला था कि मन्त्रिमण्डल में जो मंत्री सेना व जहाजी बेड़े के हों, उनका चयन सेना के अधिकारियों में से ही होना चाहिये। इस अध्यादेश के परिणामस्वरूप यमागता (Yamagata) और चोसू (Choshu) सेनानायकों का प्रभाव देश पर बढ़ गया। उनकी अनुमति के बिना जापान का मन्त्रिमण्डल गठित ही नहीं हो सकता था। मारक्वीस इतो (Marquis Ito) को अपना मन्त्रिमण्डल बनाने में कठिनाई हुई, क्योंकि उस पर सैनिक बजट बनाने का दबाव डाला गया। 1912 ई. में सम्राट मुत्सुहितो की मृत्यु ने इस सैन्यवाद को और भी प्रबल बना दिया।

जापान का कोरिया पर अधिकार करना- जापान कोरिया को अपनी सुरक्षा व अपने औद्योगिक विकास के लिए परम आवश्यक समझता था। इसीलिए उसने 1894 ई. में उसे सैनिक अभियान से अपने अधिकार में करने का प्रयास किया। चीन कोरिया की रक्षा हेतु आगे बढ़ा पर वह जापान से परास्त हुआ। शिमोनोस्की की सन्धि से (1895 ई.) कोरिया जापान के संरक्षण में आ गया। परन्तु जापान की मुराद पूरी होने में रूस रुकावट बना हुआ था। 1905 ई० के युद्ध में यह कांटा भी मार्ग से हट गया। अब कोरिया पूर्ण रूप से जापान का संरक्षित राज्य बन गया। जापान ने वहां एक रेजिडेण्ट जनरल की नियुक्ति की । उसस मन्त्रणा से कोरिया में शासन सुधार होने लगे। कोरिया की सरकार इस समय इतनी निर्बल हो चुकी थी कि देश में वह जापान के बढ़ते प्रभाव को नहीं रोक सकती थी। जापान ने कोरिया ले लिया। जापान में औद्योगिक विकास दिनों दिन हो रहा था। उसे अब कच्चे माल की भी कमी नहीं थी और माल के खपत के लिए कोरिया का बाजार मिल गया था।

जापान और प्रथम विश्व-युद्ध- चीन और जापान दोनों मित्र राष्ट्रों की तरफ से जर्मनी के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। युद्ध में चीन कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर रहा था। अतः 27 जनवरी 1915 को को जापान ने चीन के सामने 21 मांगे (Twenty One Demands) प्रस्तुत कर दीं। इनमें से उसकी 16 मांगें की स्वीकृति कर ली गईं। इतिहासकारों का कहना है कि उसकी इन मांगो की स्वीकृति से 1915 में उसकी वह स्थिति हो गई जो कि इंग्लैण्ड की थी। प्रथम विश्व युद्ध में विजेता रहने से वह विश्व की पांच शक्तियों में गिना जाने लगा।

जापान और मंचूरिया- प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर जापान एशिया की प्रथम शक्ति स्वीकार कर लिया गया। वहां कल-कारखाने खूब खुल रहे थे। इससें उसका उत्पादन बढ़ रहा था। माल को खपाने के लिए जापान को बाजार की आवश्यकता बढ़ती जा रही थी। परन्तु 1920 से 30 के मध्य जापान की साम्राज्यवादी क्षुधा शान्त रही, क्योंकि वाशिंगटन समझौते (Washington Conference, 1921) ने उसके सैनिकवाद को निर्बल बना दिया था। परन्तु उसकी यह साम्राज्यवादी शिथिलता अस्थाई थी। वास्तव में देखा जाय तो 1920 से 30 तक का काल जापानी साम्राज्यवाद के जीवन में 'ठहरो और स्थिति का अध्ययन करो' का काल था।

1930 में विश्व आर्थिक मन्दी से परेशान था। जापान की आबादी निरन्तर बढ़ रही थी। उनको बसाने की समस्या जटिल होती जा रही थी। उत्पादन को बढ़ाने व बनाये रखने के लिए कच्चे माल की मांग बढ़ रही थी। अतः जापान को नवीन क्षेत्र की परम-आवश्यकता हो रही थी। उधर सैनिकवाद पुनः प्रबल हो गया था। सैनिकवादियों ने प्रशासन पर पूरा अधिकार कर लिया था। उधर समस्त विश्व आर्थिक संकट से ग्रस्त था। अवसर देख कर जापान ने 18 सितंबर 1931 को मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। मंचूरिया काण्ड पर टिप्पणी करते हुए कार (E.H. Carr) ने लिखा है-मंचूरिया काण्ड प्रथम विश्व युद्ध के बाद क अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण घटना थी।

चीन-जापान युद्ध- साम्राज्यवाद की भूख कभी शान्त नहीं होती। मंचूरिया से भी जापान की भूख शान्त नहीं हुई। उधर चीन में गृह-युद्ध की समस्या खड़ी हो रही थी। अतः 8 जुलाई 1937 के जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया। इस पर स्टालिन ने कहा कि आधुनिक युग में युद्ध घोषित नहीं किये जाते, वे केवल शुरू कर दिए जाते हैं। जापानी सेना विजय से आगे बढ़ती रही। चीन दो भागों में बंट गया। इस प्रकार नवीन साम्राज्यवाद के क्षेत्र में जापान भी विश्व का प्रमुख देश रहा।

रूस का साम्राज्यवाद- जब रूस ने देखा कि वह बाल्कान राज्यों में नहीं बढ़ सकता है तो उसकी दृष्टि चीन पर पड़ी। रूस ने देखा कि यूरोप के देशों ने चीन में भी अपनी लूट-खसोट आंरभ कर दी और वह शान्त हैं। विस्तार की दृष्टि

रूस विशाल देश था; परन्तु उसके पास बन्दरगाह नहीं थे। अतः उसकी निगाह ब्लाडीवोस्टक एक बन्दरगाह पर पड़ी। परन्तु इस पर अधिकार करने से पूर्व उसे कोरिया और मंचूरिया पर अधिकार करना आवश्यक था। इसमें जापान उसकी राह में आ रहा था। जब जापान चीन को परास्त कर विजयी हो गया तो रूस की चिन्ता और बढ़ गई। उसने जर्मनी और फ्रांस को अपनी ओर मिलाया; परन्तु 1905 में वह स्वयं जापान से परास्त हो गया। इससे उसकी साम्राज्यवादी आशाओं पर पानी फिर गया। 1890 में वह आमूर नदी के उत्तरी भाग पर अधिकार करने में सफल हो गया था परन्तु 1905 की पराजय ने उसके कोरिया व मंचूरिया लेने के स्वप्न धूमिल कर दिये। इतिहासकार बस लिखता है कि इस विजय से जापान ने रूस की बढ़ोत्तरी चीन में रोक दी और विश्व को बता दिया कि प्रशान्त महासागर का एक छोटा सा जापानी राज्य सुदूर पूर्वी समस्या में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

निःसन्देह रूस एक साम्राज्यवादी देश था। 1905 से पूर्व वह यूरोप की एक शक्ति माना जाता था। बीसवीं सदी के प्रारंभ में वह चीन में अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने में सफल भी रहा था। उसने चीन को कर्ज दे कर भी वहां अपना प्रभाव बढ़ाया था। परन्तु 1905 की पराजय के उपरान्त रूस सुदूर पूर्व में कुछ नहीं कर सका उसके यहां 1905 में क्रान्ति हो गई। उसमें उसकी शक्ति का ह्रास हुआ। अंतः सुदूर पूर्व में निराश होकर वह पुनः निकट पूर्व में बाल्कान राज्यों की ओर चला गया।

अमेरिका सुदूर पूर्व में- जैफरसन-सिद्धांत और मुनरो को ध्यान में रख कर कहा जाता है कि अमेरिका विश्व राजनीति में पृथकता (Isolation) की नीति का अनुसरण करता रहा। परन्तु बीसवीं सदी के आरम्भ से ही उसने विश्व की राजनीति में भाग लेना आरंभ कर दिया था और उसकी यह राजनीति नव-साम्राज्यवाद पर ही आधारित थी। अतः बीसवीं सदी के प्रारंभ में सुदूर पूर्व में जो घटनाए घट रही थीं उनके प्रति वह भी उदासीन नहीं रहा।

अमेरिका के सुदूर पूर्व में सम्बन्ध सर्व प्रथम 1844 में स्थापित हुए जबकि अमेरिका का राजदूत कोलेब कुशिंग (Coleb Cushing) ने चीन में वे सुविधाएं प्राप्त कीं जो अब तक ब्रिटेन को प्राप्त थीं। कहा जाता है कि प्रशान्त महासागर में अमेरिका (USA) ने अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा अधिक प्रगति की। जुलाई 1853 में अमेरिका ने कमोडोर पेरी (Commodor Perry) को चार जहाजों के साथ जापान भेज दिया और वह उससे सन्धि करने में सफल हो गया। इस सन्धि ने अमेरिका की सुदूर पूर्व में रुचि और बढ़ा दी। 1905 में जब रूस जापान से परास्त हो गया तो उसे चिन्ता हो गई। उसे यह भी चिन्ता हो गई कि विजेता जापान कहीं उसके प्रदेश फिलीपाईन्स पर भी अधिकार न कर ले। अतः उसने रूस-जापान के मध्य सन्धि कराने में शीघ्रता की। जापान को उसका हस्तक्षेप अखरा और कहा कि अमेरिका ने उसे विजय के न्यायोचित फलों से वंचित कर दिया है।

अमेरिका और प्रथम विश्व युद्ध- जब विश्व युद्ध के देश प्रथम विश्व युद्ध में व्यस्त थे तो जापान ने 1915 में ही चीन के सामने 21 मांगे प्रस्तुत कर दीं। इस समय तक चीन में अमेरिका अपना प्रभाव बहुत बढ़ा चुका था। अतः उसने 21 मांगों का कड़ा विरोध किया। 1918-19 में उसने जापान को मंचूरिया और साइबेरिया में आगे बढ़ने से रोका। पेरिस की सन्धि में जापान के प्रतिनिधि सैयोनजी के भाग लेने का प्रमुख उद्देश्य यही था कि युद्ध के दौरान जापान ने जिन स्थानों पर अधिकार कर लिया उन पर उसका अधिकार रहने दिया जाए। परन्तु चीन के प्रतिनिधि वेंलिगटन कू ने जोरदार शब्दों में मांग की कि युद्ध के दौरान जापान ने जिन स्थानों पर अधिकार कर लिया है-उन्हें जापान से वापस दिलाया जायें। अमेरिका ने चीन का समर्थन किया।

1920 में अमेरिका का राष्ट्रपति वारेन हार्डिंग चुन लिया गया। वह भी जापान के सैनिकवाद से चिंतित था। इसीलिए वाशिंगटन सम्मेलन में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अमेरिका ने जापान की योजना का कड़ा विरोध किया। परन्तु इस विरोध के उपरान्त अमेरिका को जापान से भय हो गया। जब 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण व अधिकार किया तो अमेरिका ने अपना कड़ा विरोध प्रदर्शित किया। 1937 में अमेरिका ने चीन को धन व शस्त्रों की सहायता देकर जापान को हराना चाहा; पर वह असफल रहा। जापान की शक्ति को समाप्त करने में वह 1945 में नगासाकी व हिरोशिमा पर परमाणु-बम गिरा कर ही सफल हुआ। अतः स्पष्ट है कि अमेरिका की नीति सुदूर-पूर्व में साम्राज्यवादी न रहकर सुरक्षात्मक अधिक रही।

दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद

1. मलेशिया- यह 14 राज्यों का एक संघ है। इसका गठन 16 सितंबर 1963 को हुआ। इन 14 राज्यों में 11 राज्य मलाया के है और तीन राज्य ये है-सिंगापुर, सरावक तथा उत्तरी बोर्नियो परन्तु 1 अगस्त 1955 कि सिंगापुर मलाया से विलग हो गया।

यूरोपवासियों का मलाया में आगमन-1511 ई. में पुर्तगालवासी अल्बुकर्क (Albuquerque) ही मलाया आया और उसने मलक्का (Malacca) पर अधिकार कर लिया। 1641 ई० इस पर डच लोगों ने अधिकार कर लिया और फ्रांस की राज्य क्रान्ति के समय मलक्का ब्रिटेन के प्रभुत्व में चला गया। यह 1818 ई० तक अंग्रेजों के अधिकार में रहा। वियाना-सम्मेलन के निर्णय से यह पुनः हालैण्ड को मिल गया। परन्तु 1824 ई. में हालैण्ड ने इसे पुनः ब्रिटेन को लौटा दिया। इस पर अधिकार करने से पूर्व 1786 ई० में ब्रिटेन पिनांग (Penang) पर अधिकार कर चुका था। 1800 ई. में उसने मलाया के एक भाग पर और अधिकार किया। वह वेलेजली प्रान्त (Wellesaley Province) कहलाया। 1819 ई० में सिंगापुर भी ब्रिटेन के अधिकार में आ गया। 1824 ई० में डच लोगो से मलक्का लेते समय यह भी तय हो गया था कि मलाया में ब्रिटिश-प्रभाव के प्रसार में हालैंड बाधक नहीं बनेगा। इस प्रकार 1824 तक ब्रिटेन के प्रभुत्व में मलक्का, सिंगापुर, पिनांग व वेलेजली प्रान्त आ गये थे और वे संयुक्त रूप से स्ट्रेटस सेटिलमेंट (Straits Settlement) कहलाते थे। इनका शासन भी भारत की ईस्ट इंडिया कम्पनी (East India Company) के अन्तर्गत् ही था। परन्तु जब यह कम्पनी समाप्त हो गई तो 1867 में यह प्राय-द्वीप भी ब्रिटिश क्राउन के प्रभुत्व में चला गया। इसके उपरान्त अंग्रेजों ने यहां अपना साम्राज्य विस्तार किया और 1909 ई० तक वे समस्त मलाया के स्वामी बन गये।

इंग्लैण्ड के प्रभुत्व में मलाया का विकास—अन्य उपनिवेशों की भांति अंग्रेजों ने यहां भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार करना आरम्भ किया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार हेतु इंग्लैण्ड की सरकार ने यहां सर्वप्रथम शिक्षा को विकसित करना चाहा। शिक्षा में विज्ञान को समुचित स्थान दिया गया। रोगों का निदान वैज्ञानिक ढंग से होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि यहां के लोग कई रोगों से मुक्त हो गये। पश्चिमी ढंग पर ही यहां विधि प्रणाली प्रचलित की गई। यातायात व संदेश वाहन के साधनों को विकसित किया गया। सिंगापुर को बैकांक (Bangkok) रेलवे लाइन द्वारा मिलाया गया। टेलिफोन व टेलिग्राफ की व्यवस्था की गई। कृषि को वैज्ञानिक रूप दिया जाने लगा। रबड़ के उत्पादन के लिए मलाया विश्व-विख्यात है। अतः रबड़ का उत्पादन बढ़ाया गया। विश्व में जितना भी रबड़ पैदा होता है उसका 90 प्रतिशत दक्षिण पूवई एशिया में होता है और उसका 40 प्रतिशत केवल मलाया में पैदा होता है। टिन भी यहां प्रचुर मात्रा में निकाला जाता है। टिन की खानों की खुदाई की व्यवस्था ठीक करके उसका विदेशों में निर्यात बढ़ाया गया। रबड़ व टिन मलाया की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने में पर्याप्त रूप से सहयोगी सिद्ध हुए। टिन व रबड़ के अतिरिक्त नारियल, चावल, चीनी व कॉफी के उत्पादन में वृद्धि की गई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मलाया की आर्थिक अवस्था में सुधार हुआ और पश्चिमी देश इसका आर्थिक शोषण करने लगे।

निःसन्देह ब्रिटेन के प्रशासन में मलाया प्रायद्वीप का आर्थिक व सामाजिक विकास हुआ। परन्तु फिर भी ब्रिटिश शासन की मलाया में निन्दा होने लगी। मलाया के मूल निवासियों के लघु उद्योग अंग्रेजों के प्रभाव में समाप्त हो गये। अतः वे अंग्रेजों को शोषण करने वाले समझने लगे और कहने लगे कि वे हमारे देश के धन को इंग्लैण्ड ले जा रहे हैं। इस कारण मलाया के लोगों ने ब्रिटिश प्रभुत्व को समाप्त करने का विचार किया।

निष्कर्ष--उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट है कि एशिया महाद्वीप यूरोप के साम्राज्यवादी देशों का द्वितीय विश्व-युद्ध तक शिकार बना रहा। एशिया महाद्वीप के विभिन्न देश यूरोपीय देशों की राजनीति प्रभुता में ही गुलाम बन कर नहीं रहे वरन् वे आर्थिक शोषण के भी अच्छे केन्द्र बन गये। यूरोप के औद्योगिक देशों के व्यापारियों ने एशियायी देशों में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये और वे यहां का धन अपने देशों में ले गये। यहां के गृह उद्योग-धन्धों को समाप्त कर उन्होंने अपना उत्पादित माल यहां भारी मात्रा में खपाया। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म का यहां प्रसार करके अपनी संस्कृति की धाक यहां जमाने का प्रयास किया। नवीन साम्राज्य के अन्तर्गत् यूरोप के देशों ने यहां के निर्बल व पिछड़े राष्ट्रों को परास्त कर गुलाम ही नहीं बनाया वरन् एशिया के देशों को असभ्य व अशिक्षित समझ उन्हें शिक्षित व सभ्य बनाने का भी उन्होंने अपना उत्तरदायित्व समझा। अफ्रीका की भांति एशियायी देशों को भी वे श्वेत लोगों का भार (White Men's Burden) की समझते

रहे। इस आदेश-पूर्ण नारे की ओट में यूरोप के औद्योगिक राष्ट्रों ने एशिया के प्राकृतिक साधनों का दोहन किया। यहां के गरीब पर मेंहनती किसानों से अपनी चाहत व लाभ की वस्तुओं का उन्होंने उत्पादन करवाया। अपने उत्पादित सामान का जबरन यहां निर्यात किया। बीसवीं सदी में संयुक्त-राज्य अमेरिका (U.S.A.) भी एशिया के क्षेत्र में उनका सहयोगी बन गया। एशिया के देशों में केवल जापान ही इस नवीन साम्राज्य के प्रसार में भाग ले सका, पर उसका क्षेत्र भी एशिया ही रहा। रूस भी साम्राज्यवादी देशों में था। परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध तक उसकी गणना यूरोपीय देशों में होती थी। अतः एशिया महाद्वीप में तो केवल जापान ही यूरोपीय देशों की भांति साम्राज्य विस्तार में भाग ले सका था। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारंभ होने के समय ब्रिटेन का विश्व के चौथाई भाग पर साम्राज्य स्थापित था। उसके साम्राज्य में कभी सूर्य नहीं छिपता था। रूस ने विश्व के सातवें भाग पर अधिकार कर लिया था जबकि फ्रांस की प्रभुसत्ता अफ्रीका व एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीप समूहों पर स्थापित थी। जर्मनी व इटली ने विशेषकर अफ्रीका को तथा हालैण्ड ने हिन्देशिया को अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा का ग्रास बनाया।

अध्याय 9: अफ्रीका में साम्राज्यवाद
(Imperialism in Africa)

उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध मे यूरोप मे नवीन सम्राज्यवाद आरम्भ हुआ। इसका स्वरुप मुख्यतः राष्ट्रीय तथा आर्थिक था। राष्ट्रीयता की जो नवीन भावना यूरोपीय राज्यों मे उत्पन्न हुई थी, वह अत्यंत प्रबल रुप धारण कर रही थी यह साम्राज्यवाद पुराने सम्राज्यवाद तथा उपनिवेश्वाद से भिन्न था। पुराने उपनिवेशवाद का मुख्य आधार वाणीज्यवाद था। इस काल मे इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, हालेण्ड आदि ने अफ्रीका तथा एशिया में विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिये थे। इन देशों का मुख्य उद्देश्य इन देशों में कच्चा माल प्राप्त करना तथा तैयार माल को इन उपनिवेशों मे बेचना। किंतु नवीन साम्राज्यवाद इन उद्देश्यों के अतिरिक्त राजनितिक शक्ति का प्रसार तथा अपनी अतिरिक्त जन संख्या को बसाने के लिये प्रयत्नशील था।

साम्राज्यवाद शब्द की व्याख्या विद्वानों ने अलग-अलग दी, लेकिन इतिहास के विद्यार्थी इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ मे करते हैं। "भिन्न प्रजाति वाले देश पर किसी दूसरे देश के अतिरिक्त आधिपत्य की व्यवस्था को साम्राज्यवाद कहा जाता है।"

आधुनिक यूरोपीय साम्राज्यवाद के इतिहास को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है -प्राचीन साम्राज्यवाद और नवीन साम्राज्यवाद। प्राचीन साम्राज्यवाद का युग प्रारम्भ पन्द्रहवीं शती में हुआ। इस शती से पूर्व किसी भी यूरोपीय देश ने यूरोप के बाहर जा कर अपना उपनिवेश स्थापित करने का प्रयास नहीं किया। परंतु पन्द्रहवीं सदी के अंतिम चरण मे स्पेन व पुर्तगाल वालों के नवीन देशों की खोज की और वहां उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये। वहां यूरोप के देश अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित कर वहां के लोगों का शोषण करने लगे। परंतु अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्राम ने प्राचीन साम्राज्यवाद को गहरा धक्का पहुंचाया। इसके उपरांत फ्रांस की राज्य-क्रांति ने इसकी गति को और मंद बना दिया; क्योंकि यूरोप के समस्त देश फ्रांस की राज्य-क्रांति की चपेट मे आ गये थे। 1815 ई. में वियाना-सम्मेलन के उपरांत यूरोप मे शांति स्थापित हुई। परंतु देश घरेलू मामलों मे फंसे रहे। 1870 ई० के उपरांत यूरोप की महत्त्वपूर्ण आंतरिक समस्याओं का समाधान हो गया। शांति-स्थापना से यूरोपीय देशों मे उत्पादन भी बढ़ा तथा उत्पादन बनाये रखने के लिए उनमे कच्चे माल की मांग भी बड़ी। इन परिस्थितियों ने यूरोपीय देशों को पुनः साम्राज्यवाद की दौड मे दौडने को बाध्य कर दिया। सभी औद्योगिक देश बाज़ार की तलाश तथा प्राकृतिक-साधनों की उपलब्धि के लिए प्रयास करने लगे। इसी समय यूरोपीय देशों को अफ्रीका के भीतरी प्रदेशों की भी जानकारी प्राप्त हो गई। अतः यूरोप के लगभग सभी शक्तिशाली देश अफ्रीका पर टूट पड़े। उसके विभाजन हेतु उनमें भयंकर संघर्ष हुए।

1820 से 1870 के अंतराल में यूरोप के सम्राज्यवादी देश इस दिशा में फिर भी कुछ उदासीन रहे। कुछ उपनिवेश तो इंग्लैण्ड व फ्रांस से स्वतंत्र भी हो गये। इन घटनाओं के सन्दर्भ में तुर्गो [Turgot] ने कहा था कि उपनिवेश उन फलों के समान हैं, जो वृक्षों पर तभी तक लगे रहेंगे जब तक की वह पक नहीं जाते। परंतु 1870 के उपरांत यूरोप के साम्राज्यवादी तथा शक्तिशाली देशों मे साम्राज्यवादी भावना प्रबल होने लगी। इंग्लैण्ड के विख्यात् विद्वान रस्किन [Ruskin] ने ऑक्सफोर्ड में भाषण देते हुए कहा कि "इंग्लैंड को शीघ्रतिशीघ्र नये उपनिवेश स्थापित करने चाहिएं। जहां भी खाली स्थान मिलता है उस पर अधिकार कर लेना चाहिए यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार फ्रांस के एक प्रख्यात अर्थशास्त्री पाल लेराय ब्यूल [Paul Leroy Baulicu] ने 1874 में एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने व्यक्त किया था कि उन राज्यों के लिए जो सभ्यता के लिए उच्च-शिखर पर पहुंच चुके हैं- उपनिवेश स्थापित करना सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। उसने आगे लिखा कि विशेषरुप से फ्रांस के लिए उपनिवेशिकरण जीवन-मरण का प्रश्न है। उधर 1880 में जर्मनी में भी औपनिवेशिक विस्तार की लहर जोर पकड़ने लग गई थी। अतः नवीन साम्राज्यवाद उन्नीसवी सदी से उत्तरार्द्ध से प्रबल होने लगा और यह दूसरे विश्व युद्ध तक प्रबल रहा।

साम्राज्यवाद की विशेषताएं-

1. प्राचीन साम्राज्यवाद का विस्तार मंद गति से हुआ जबकि नवीन साम्राज्यवाद का विकास तीव्र गति से हुआ।

2. प्राचीन साम्राज्यवाद मूलतः वाणिज्यवाद पर ही आधारित थाँ जबकि नवीन सम्राज्यवाद ने अपने उपनिवेशों के प्राकृतिक साधनों का दोहन भी आरंभ कर दिया। उपनिवेशों मे खाने खुदवाकर वहां की कीमती धातुओं की प्राप्ति आरंभ कर दी।

3. पुरातन साम्राज्यवाद में भाग लेने वाले केवल यूरोपीय देश थे जबकि नवीन साम्राज्यवाद के भागीदार संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान भी हो गये।

4. नवीन साम्राज्यवाद का क्षेत्र पुरातन साम्राज्यवाद से अधिक व्यापक था। नवीन साम्राज्यवाद के अंतर्गत राजनीतिक दृष्टिकोण भी ध्यान में रखे गये। फ्रांस ने अपनी औपनिवेशिक विस्तार की नीति को सभ्यता के विस्तार का कार्य बताया तो इंग्लैंड ने उसे 'श्वेत जाति का भार' (White men's Burden) बताया। मुसोलिनी ने नेतृत्व में इटली ने इसे अपना पुनीत कर्त्तव्य बताया।

5. नवीन साम्राज्यवाद का मूल प्रेरक तत्व औद्योगिकरण था।

नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के कारण

(अ) आर्थिक कारण:

1. औद्योगिक क्रांति का प्रसार- औद्योगिक क्रांति का प्रथम चरण तो 1870 ई. में ही समाप्त हो गया था। प्रथम चरण मे भी औद्योगिक देशों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई थी। परंतु 1871 ई. मे संयुक्त-राज्य अमेरिका, इटली, जर्मनी व फ्रांस भी औद्योगिक देशों की पंक्ति मे आ गये। वहाँ भी उत्पादन भारी मात्रा मे होने लगा। इस उत्पादन की वृद्धि ने औद्योगिक देशों को अपना माल खपाने हेतु नये बाज़ारों की तलाश करनी पड़ी। इसके साथ ही उत्पादन के कच्चे माल को देने वाले पिछडे एवं निर्बल देशों की भी तलाश हुई। इस तलाश का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के देशों को विश्व के विभिन्न भागों में नवीन उपनिवेश स्थापित करने पड़े।

2. अतिरिक्त पूंजी- अतिरिक्त पूंजी को हम नवीन साम्राज्यवाद का दूसरा प्रेरक तत्व मान सकते है। औद्योगिक क्रांति के विकास के कारण धनी वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। धनी लोगों ने अपनी अतिरिक्त पूंजी को दूसरे देशों मे लगाने की अभिलाषा व्यक्त की। उनके देश की सरकार ने उनका इस दिशा मे समर्थन किया। इसका फल यह निकला कि औद्योगिक देशों के पूंजीपतियों ने अपने देश के उपनिवेशों में रेल-तार की व्यवस्था करने तथा विभिन्न धातुओं की खानें खुदवाने में अपना धन लगाना आरंभ किया। इन कार्यों से वे वहां भारी मुनाफा कमाने लगे। अतः पूंजीपति अपनी देश की सरकारों को नवीन उपनिवेश स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करने लगे। मोरक्को में फ्रांस का साम्राज्यवाद वहां के लोगों की इसी मनोवृति की परिणामस्वरुप स्थापित हुआ था।

3. यातायात के साधनों का विकास- निःसंदेह यातायात के साधनों का विकास इस नवीन साम्राज्यवाद के आरंभ से पूर्व हो चुका था। परंतु साधनों की गति में तीव्रता उन्नीसवी सदी के अंतिम चरण में ही लक्षित हुई। जल-पोत पहले न तो इतने विशाल होते थे और न ही वह दुतगामी ही होते थे। इसके अलावा पहले उनकी समुद्र में डूब जाने की अशंका बनी रहती थी। परंतु अब संकट ग्रस्त स्थानों मं टावर-हाऊस निर्मित किये गये। जल-मार्गों का भी विकास किया गया। स्वेज-नहर व पनामा-नहर के निर्माण ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को विकसित एवं सुगम बना दिया। इन सब का फल यह हुआ कि अविकसित देशों से कच्चा माल सुविधा पूर्वक प्राप्त किया जाने लगा। और औद्योगिक देश अपना अतिरिक्त माल (Surplus production) सुविधा से अपने उपनिवेशों को भेजने लगे। इसके अलावा इन साधनों के माध्यम से शक्तिशाली देशों को अपने से दूर भी उपनिवेश स्थापित करने व उन पर नियंत्रण बनाये रखने मे कठिनाई नहीं हुई।

4. बढती हुई जन संख्या- औद्योगिक देशों की जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही थी और खाद्यान्न का उत्पादन उस अनुपात से नही बढ रहा था। अतः खाद्य-समस्या के निवारण के लिए इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व इटली को कृषि-प्रधान देशों मे अपने उपनिवेश स्थापित करने को बाध्य होना पड़ा। इसके अलावा उनकी बढती जनसंख्या के लिए रोटी व रोजी की समस्या भी खडी होने लगी। इस समस्या के समाधान हेतु भी उन औद्योगिक देशों की उपनिवेशों की खोज करनी पड़ी।

5. आत्म निर्भरता की भावना का प्रादुर्भाव- शक्तिशाली देशों मे जब आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न हो गई तो उनमे साम्राज्यवाद की भावना भी प्रबल हुई। वे चाहने लगे कि उन्हें किसी भी वस्तु के लिए दूसरे देश का मुँह न देखना पड़े। हालांकि आज का युग अर्न्तनिर्भरता का भी है। कोई भी देश पूर्णरुपेण स्वावलम्बी नहीं है। परंतु फिर भी शक्तिशाली देशों ने यथा सम्भव आत्मनिर्भरता बनने का प्रयास किया और उनके इस प्रयास ने ही उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद की दौड को तेज़ बना दिया।

6. व्यवसायिक वर्ग के निहित स्वार्थ- व्यवसायी वर्ग नवीन साम्राज्यवाद के प्रबल समर्थक व प्रेरक बन गये; क्योंकि वह जानते थे कि नवीन उपनिवेशों की स्थापना से उन्हें नये बाज़ार उपलब्ध होंगे और इससे उनका बाजार तथा उद्योग भी विकसित होंगे। अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले देश चाहते थे कि नवीन उपनिवेशों की स्थापना हो। उनकी प्राप्ति के लिए युद्ध लड़े जावें। यह भावना आज भी विद्यमान है और यह विश्व शांति में बाधक बनी हुई है। जहाज़ निर्माता चाहते थे कि कोयला प्राप्त करने के लिए जगह-जगह उनके देश में सुरक्षित अडडे हों। अतिरिक्त पूंजी लगाने वाले चाहते थे कि उनकी पूँजी उन नवीन प्रदेशों मे सुरक्षित रहे। इसके लिए वे चाहते थे कि उनकी सरकार वहाँ अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करे।

(ब)राजनीतिक कारणः

1. फ्रांस की राज्य-क्रांति- फ्रांस की राज्य क्रांति ने यूरोप के देशों मे उग्र राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत देश अपनी प्रतिष्ठा बढाने हेतु साम्राज्यवाद का अवलंबन लेने लगे। पूँजीपतिग्रों ने अपने देशवासियों मे देशप्रेम व राष्ट्रीयता को और भी विकसित किया ताकि वे भी अपनी राष्ट्रीय भावना को उपनिवेशों की स्थापना से व्यवहारिक रुप दे सकें। इसीलिए साम्राज्यप्रसार देश- भक्ति का प्रमुख लक्षण बन गया। इटली व जर्मनी विशेष रुप से उग्र राष्ट्रीयता के पोषक व समर्थक थे। राष्ट्रीय भावना जर्मनी व इटली में तो उग्र थी ही पर इंग्लैण्ड व फ्रांस भी अपने को विश्व में सर्वाधिक सभ्य समझते थे। अपने उपनिवेशवासियों को समझाने का प्रयास करते थे कि हम जो कुछ कर रहे हैं उनके हित के लिए कर रहे हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि क्रिपलिंग ने अपने लेख के द्वारा यह दर्शाना चाहा कि उपनिवेशों की जनता असम्भव है और हमें उनको सम्भव बनाना है और यह भार हमने अपने कंधों पर लिया है।

2. इटली वे जर्मनी का शक्तिशाली होना - 1871 ई. से ही नवीन साम्राज्यवाद का आरम्भ माना जाता है और इसी वर्ष इटली व जर्मनी का एकीकरण सम्पन्न होता है। जब तक ये दोनों देश शक्ति में आये तब तक यूरोप के अन्य देश उपनिवेशवाद में काफी आगे बढ़ चुके थे। अतः इन दोनों ने भी उपनिवेशवाद की दौड़ में भाग लेना चाहा और उन्होंने शीघ्रता से अधिकाधिक उपनिवेश स्थापित करने का प्रयास किया। उनके इस प्रयास से नवीन साम्राज्यवाद को महान् सहयोग मिला।

(स) धार्मिक-कारण :

1. ईसाईयों द्वारा अपने धर्म को सर्वोच्च स्थान देना- ईसाई लोग अपने धर्म को विश्व के अन्य धर्मों में सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका कहना था कि अर्द्ध-नग्न तथा असभ्य लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उन्हें सभ्य बनाना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। अन्य धर्म तो नाना अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण हैं। अतः मूर्ति पूजकों को ईसाई-धर्म की दीक्षा देकर उन्हें सही धर्म पर लाना चाहिए। इसीलिए धर्म का सही ज्ञान देने हेतु वे मूर्ति पूजकों व अन्य धर्मों के देशों पर अधिकार करने का प्रयास करने लगे।

2. धर्म प्रसार की भावना - ईसाई देशों में भी मुस्लिम देशों की भांति अपने धर्म-प्रसार की भावना बड़ी उग्र थी। अपने धर्म प्रसार के माध्यम से अन्य धर्मावलंबियों को सभ्य बनाना चाहते थे। वे वह तर्क प्रस्तुत करते थे कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान् उत्तरादायित्व है। अतः यूरोपीय देश काले लोगों के प्रदेशों को जीत कर वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित करने लगे।

3. धर्माधिकारियों का अदम्य उत्साह- जिस प्रकार मुसलमानों में अपने धर्मप्रसार का अपूर्व उत्साह था, वैसा ही उत्साह ईसाई पादरियों में आज भी पाया जाता है। जिस प्रकार एक मारवाड़ी व सिन्धी व्यापारी धन उपार्जन के लिए विश्व के किसी भी प्रदेश में जाने को उद्यत रहते हैं, ठीक उसी प्रकार एक ईसाई धर्म-प्रचारक अपने धर्म के प्रचार के लिए विश्व में कहीं भी जा सकता है। वह कठिनाइयों की चिन्ता न करता हुआ दुर्गम स्थानों पर भी जाकर अपने धर्म का प्रचार

करता है। इसीलिए नवीन उपनिवेशों की स्थापना से वे प्रसन्न होते थे क्योंकि उन्हें धर्म-प्रसार के लिए नवीन क्षेत्र मिलते थे। यदि दुर्भाग्यवश वे धर्माधिकारी कहीं कट्टर धार्मिकों (वहाँ के मूल निवासियों) द्वारा मौत के घाट उतार दिये जाते थे तो उनकी सरकार इस घटना को साम्राज्यवाद-प्रसार का ईश्वर-प्रदत्त स्वर्णिम अवसर समझती थी। अपने धर्माधिकारी के वध का प्रतिकार लेने की भावना से उस देश की सरकार वहाँ आक्रमण करती तथा वहाँ के शासक को अपनी प्रभुता स्वीकार करने को बाध्य करती थी। इस प्रकार एशिया व अफ्रीका के प्रदेशों में ये धर्माधिकारी साम्राज्यवाद को पल्लवित करने के अच्छे साधन सिद्ध हुए। डॉ. लेविंगस्टोन (Dr. Livingston) ने अपनी इंग्लैण्ड-सरकार से स्पष्ट कहा था कि अफ्रीका पर ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार किया जा सके।

नवीन साम्राज्यवाद के प्रसार के परिणाम

1. निरंकुश शासन की स्थापना - औद्योगिक एवं शक्तिशाली देशों ने अशक्त एवं अविकसित राज्यों को अपने उपनिवेशों में परिणित कर वहां अपनी शक्तिशाली सरकार कायम की। उनकी सरकार वहां के मूल निवासियों के दुःख-दर्द की कोई चिन्ता नहीं करती थीं। उनके मूल उद्देश्य वहां अपना निरंकुश-शासन स्थापित कर वहां अपना प्रभुत्व बनाये रखना होता था। जैसा कि एक बार लिंकन (Lincoln) ने कहा था, "जैसा गोरा आदमी अपने ऊपर शासन करता है तो वह स्वशासन है; किन्तु जब वह दूसरे पर शासन करता है तो वह स्वशासन नहीं निरंकुशता है।"

2. आर्थिक शोषण- नवीन साम्राज्यवाद का मूल आधार ही उपनिवेशों का आर्थिक शोषण था। शक्तिशाली देश अपने उपनिवेश देशों से कच्चा माल सस्ती दरों पर खरीदते थे और ऊँची कीमतों पर वहां अपना तैयार माल भेजते थे। वहां के प्राकृतिक साधनों का उपयोग औद्योगिक देश करते थे तथा वहां के मूल निवासियों का बहुत कम पैसा देकर उससे मजदूरी लेते थे।

3. साम्राज्यवादी देशों में मनमुटाव होना- साम्राज्यवाद की भूख कभी नहीं मिटती है। अतः यूरोप के देश जिस तीव्र गति से साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हुए उसी गति से उनमें वैमनस्य तथा साम्राज्यवाद की प्रतिद्वन्द्वता उत्पन्न हुई। फ्रांस इंग्लैण्ड से बाजी मारने का प्रयास करने लगा तथा इटली व जर्मनी इन दोनों से बाजी मारने का असफल प्रयत्न करने लगे। बीसवीं सदी के आरम्भ से एशिया में जापान साम्राज्यवाद की दौड़ दौड़ने लगा था। जिसके परिणामस्वरूप उसके सम्बंध चीन, रूस व अमेरिका से बिगड गये।

4. उपनिवेशों में औद्योगिक विकास- साम्राज्यवादी देशों की यह इच्छा कभी नहीं थी कि उनके उपनिवेशों का औद्योगिक विकास हो। वे तो वहां के प्राकृतिक साधनों का केवल दोहन करता चाहते थे। परतु जब उनको उपनिवेशों में मजदूर पर्याप्त मात्रा में तथा सस्ती मजदूरी पर मिलने लगे तो उन्होंने वहाँ भी उद्योग-धन्धों की स्थापना करना आरम्भ किया। दूसरा कारण यह बन गया कि जब यूरोप के देश पारस्परिक संघर्षों में उलझने लगे तो वहां के उद्योग-धन्धे समाप्त होने लगे। तब उन्हें विवश हो अपने उपनिवेशों में औद्योगिक विकास करना पड़ा। भारत भी इसी का एक उदाहरण है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों के परिणामस्वरूप ही अंग्रेजों को भारत में औद्योगिक विकास करना पड़ा था।

5. अविकसित देशों का साम्राज्यवादियों का शिकार होना- नवीन साम्राज्यवाद के शिकार खास तौर से एशिया व अफ्रीका महाद्वीप के देश बने। साम्राज्यवादियों ने समस्त पृथ्वी का पूरा भ्रमण किया। उत्तरी-ध्रुव व दक्षिण-ध्रुव के दुर्गम प्रदेशों व टापुओं का अवगाहन किया। अफ्रीका के घने जंगलों को पार कर उसके भीतरी भाग में जाने में यूरोपवासियों को सफलता मिल गई। इसका परिणाम यह निकला कि बीसवीं सदी के आरम्भ तक पृथ्वी का सम्भवतः ही कोई ऐसा प्रदेश शेष रहा होगा जहां यूरोपवासी न पहुंचे हों और जहां उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित न किये हों। इनके अलावा यूरोप के भी आपेक्षित दृष्टि से पिछड़े देश पश्चिमी विकसित एवं शक्तिशाली देशों की साम्राज्यवादी क्षुधा से नहीं बच सके।

6. अफ्रीका की भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी होना- क्षेत्रफल की दृष्टि से अफ्रीका विश्व का दूसरा महाद्वीप है। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ के से पूर्व यह एक 'अन्य-महाद्वीप' (Dark Continent) के नाम से विख्यात था। यूरोप के अतिसमीप होते हुए भी इसकी भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान यूरोपवासियों को नहीं था। उत्तर में भूमध्य सागर इसे यूरोप से विलग करता है और दक्षिण में इसके सिरे पर सदाशा अन्तरीय (Cape of Good Hope) है। उत्तरी अफ्रीका के मिस्र, अलजीरिया, ट्यूनिस, मोरक्को, आदि कुछ देशों को छोड़कर शेष अफ्रीका के विषय में यूरोपवासियों को बहुत कम जानकारी थी। उसके सघन वनों, भौगोलिक तथा प्राकृतिक दिशाओं व इसके अर्द्ध-नग्न निवासियों के विषय में लोगों

को कोई जानकारी नहीं थी। उसके दुर्गम प्रदेशों को खोज करना अति दुर्लभ था। परन्तु ईसाई धर्म-प्रचारक डेविड लिविंगस्टोन (David Livingston) ने 1880 ई. में अपने अदभ्य उत्साह का परिचय देकर इसके मध्यवर्ती रेगिस्तानी भाग की यात्रा कर इसकी जानकारी यूरोप को दी। इसके उपरान्त अनेक धर्म-प्रचारक व व्यापारी अपनी यात्राओं के माध्यम से इसकी भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी करते रहे। इन अवगाहन कार्यों का परिणाम यह निकला कि अफ्रीका नवीन-साम्राज्यवाद का शिकार बुरी तरह से हुआ। 1870 ई. से 1914 के बीच यह समस्त महाद्वीप यूरोप की विभिन्न शक्तियों द्वारा परस्पर में बांट लिया गया। इस प्रकार यूरोप के साम्राज्यवादियों ने इस अन्ध-महाद्वीप को समस्त विश्व की दृष्टि में ला दिया।

7. साहसिक खोजकर्त्ताओं की प्रेरणा- जिस प्रकार अफ्रीका के रेगिस्तान को पार करके डेविड लिविंगस्टोन ने अपने देश इंग्लैण्ड को वहां उपनिवेश स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया, उसी प्रकार फ्रान्स के दु-चालु (Du Chaillu) व डि ब्राजा (De Brazza) ने अफ्रीका के भूमध्यरेखा के समीप के प्रदेशों का पता लगाकर फ्रान्स को वहां उपनिवेश स्थापित करने को प्रोत्साहित किया। जर्मनी के कार्ल पीटर्स (Karl Peters) ने पूर्वी अफ्रीका में जर्मनी को उपनिवेश स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया।

8. सामरिक दृष्टि से महत्त्व- साम्राज्यवादियों ने अपने साम्राज्य तो बहुत विस्तीर्ण कर लिए। फिर उन दूरस्थ देशों की रक्षा का प्रश्न प्रस्तुत हुआ। इस समस्या के समाधान हेतु विश्व के महाद्वीपों में जगह-जगह सामरिक महत्त्व के स्थान ढूंढ निकाले गये और उन्हें अपना उपनिवेश बनाया गया।

अफ्रीका के अवगाहन कार्यों में विलम्ब के कारण :

1. अफ्रीका के समुद्री तट पर अच्छे बन्दरगाहों का अभाव।
2. अफ्रीका की जलवायु का यूरोपवासियों के प्रतिकूल होना।
3. भौगोलिक परिस्थितियों का दुर्गम होना।
4. यूरोपवासियों का अफ्रीकावासियों के प्रति कोई सद्भाव न होना।

अफ्रीका के अवगाहन में यूरोपवासियों की रूचि लेने के कारण- यूरोपवासियों का ध्यान धीरे-धीरे अफ्रीका की ओर आकर्षित होने लगा। वे अफ्रीका के महत्त्व को समझने लगे और उन्होंने अपने प्रशासन से इस महाद्वीप को एक अन्ध-महाद्वीप नहीं रहने दिया। यूरोपनिवासियों के इस महाद्वीप की ओर आकर्षित होने के कारण निम्नलिखित थे-

1. नेपोलियन द्वारा मिस्र पर आक्रमण करने पर इंग्लैण्ड को इसका महत्त्व ज्ञात हुआ। उसने सोचा कि यदि मिस्र पर नेपोलियन का अधिकार हो जाता तो भारत की सुरक्षा को संकट हो सकता था।
2. यूरोपिय देशों की राष्ट्रीय भावना में उन्हें अफ्रीका में उपनिवेश स्थापित करने को प्रोत्साहित किया।
3. अफ्रीका को यूरोप के धर्माधिकारी अपने धर्म व अपनी सभ्यता को प्रसार कर केन्द्र बनाना चाहते थे।
4. जब अफ्रीका की अमूल्य खनिज की खानों का पता यूरोप के देशों को लगा तो वे भूखे भेड़ियों की भांति इस पर टूट पड़े।
5. अफ्रीका के गुलामों के व्यापार ने तो सर्वप्रथम यूरोप का ध्यान इसकी ओर खींचा था। यहाँ काले हब्शियों को दास बना कर यूरोपवासी उन्हें अमेरिका में बेचकर अच्छा लाभ उठाते थे।
6. परन्तु उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही यूरोप के देशों में गुलामों के व्यापार को निन्दनीय समझा जाने लगा। इसके लिए इंग्लैण्ड की सरकार ने कानून बनाया तथा वियाना-सम्मेलन में भी इसे निन्दनीय बताया गया। इन प्रस्तावों के कारण जब गुलामों का व्यापार घटने लगा तो अफ्रीका में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए यूरोप के देश अन्य साधनों का सहारा लेने लगे।
7. यूरोप के धर्म-प्रसारकों ने भी अपने देश की सरकार का ध्यान अफ्रीका की ओर आकर्षित किया। डेविड लेविंगस्टन, स्टेनली, बेकर तथा ग्राफ्ट आदि ने अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों व भौगोलिक परिस्थितियों का पता लगाया। इन लोगों ने अपनी यात्राओं के वर्णन से यूरोपवासियों के दिलों में अफ्रीका के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की। अफ्रीका के

प्रदेशों की जानकारी जब यूरोप के देशों को मिलने लगी तो देशों की सरकार वहाँ अपने-अपने उपनिवेशों की स्थापना के लिए आतुर हो उठी।

अफ्रीका का बँटवारा

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अफ्रीका का बंटवारा विश्व की एक महान् घटना है। 1871 ई. के पूर्व अफ्रीका का थोड़ा सा भाग ही यूरोप के देशों के अधीनस्थ हुआ था। दक्षिण में ब्रिटेन व डच बोअरों ने ओरेंज तथा वाल नदियों के भू-भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। 1843 में इंग्लैण्ड ने केप कालोनी (Cape) तथा नेटाल पर अपना अधिकार कर लिया था। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित सेनेगल (Senegal), आइवरी कोस्ट (Ivory Cost) व गैबून पर फ्रान्स का अधिकार हो गया था। इस महाद्वीप के पूर्वी व पश्चिमी भाग के कुछ प्रदेशों पर पुर्तगाल, फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन ने अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। ट्यूनिस (Tunis) तथा ट्रिपोली (Tripoli) पर तुर्की (Turkey) का आधिपत्य था। मिस्त्र, इंग्लैण्ड व फ्रांस को कर अवश्य देता था पर वह आन्तरिक मामलों में पूर्व स्वतन्त्र था। इस महाद्वीप का वास्तविक बंटवारा 1876 ई. में आरंभ हुआ।

लियोपोल्ड द्वितीय व अफ्रीका का बंटवारा- लियोपोल्ड बेल्जियम का शासक था। उसने 1876 ई. में ब्रूसेल्स (Brussels) में भूगोल-वेत्ताओं का एक गैर सरकारी सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में सम्राट ने अफ्रीका के प्रदेशों की खोज करने तथा उसके असभ्य निवासियों को सभ्य बनाने के सुझाव आमन्त्रित किये। स्टेनली के सहयोग से लियोपोल्ड ने कांगों फ्री स्टेट की स्थापना की और स्वयं उसका शासक बन गया। इस दिशा में स्टेलनी ने 1875-76 में कांगों नदी की घाटी की खोज की। वह खोज बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उसने उसके प्राकृतिक साधनों की ओर अपने देशवासियों का ध्यान आकर्षित किया। इंग्लैण्ड उस समय पूर्वी समस्या में उलझा हुआ था। इस कारण बेल्जियम को इधर पांव पसारने का अवसर मिल गया। बेल्जियम के शासक के इस कार्य ने यूरोप के अन्य देशों का भी ध्यान अफ्रीका की ओर आकर्षित कर दिया। सब वहां पर अपने-अपने उपनिवेशों की स्थापना के प्रयास करने लगे।

1884 का बर्लिन सम्मेलन- जब यूरोप का प्रत्येक देश अफ्रीका में अपना उपनिवेश स्थापित करने को आतुर हो उठा तो उनमें वैमनस्यता होना स्वाभाविक था। इस वैमनस्यता के निराकरण के लिए 1884 ई. में बर्लिन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें स्वीटजरलैण्ड के अतिरिक्त यूरोप के समस्त देश उपस्थित थे। संयुक्त-राज्य अमेरिका भी इसमें सम्मिलित हुआ था। यह सम्मेलन तीन मास चला। इस सम्मेलन में निम्न तीन समस्याओं पर विचार किया गया।

(i) कांगों तथा नाइजीरिया प्रदेशों की सीमा निर्धारण करना। कांगो का राज्य व्यापार के लिए सब को खोल दिया गया। कांगों नदी यातायात के साधन के रूप में सबके लिए खुली रखी गई। नाइजर नदी के प्रदेशों के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गई।

(ii) भविष्य में राज्यों का बंटवारा किन नियमों के आधार पर किया जावेगा?

(iii) किसी भी प्रदेश पर अमुक देश का अधिकार तभी स्वीकार किया जावेगा जबकि उसका उस पर वास्तविक रूप में अधिकार हो जावेगा।

इस सम्मेलन में लिए गए निर्णयों पर उपस्थित सभी देशों के प्रतिनिधियों ने अपने हस्ताक्षर किए और यहां लिए गए निर्णयों के अनुसार 1914 ई. तक समस्त अफ्रीका महाद्वीप का बंटवारा कर लिया गया।

अफ्रीका की लूट - 1908 ई. में कांगों प्रदेश बेल्जियम सरकार का एक उपनिवेश बना। 1876 ई. से 1909 ई. तक यह प्रदेश लियोपोल्ड द्वितीय के व्यक्तिगत अधिकार में रहा। कांगो प्रदेश के दक्षिण में एक विशाल प्रदेश अंगोला का था। उस पर पुर्तगाल का अधिकार हो गया। इटली ने ट्यूनिस पर अधिकार करना चाहा। इसमें तो वह असफल रहा पर उसने 1893 ई. में इरीट्रिया और सोमालीलैंड पर उसने अपना अधिकार अवश्य जमा लिया। ट्यूनिस फ्रांस के प्रभुत्व में आ गया। जब फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया तो इटली ने 1885 ई. में एबीसीनिया पर आक्रमण किया। पर यहाँ भी उसे असफलता ही मिली। सन् 1911-12 में इटली ने तुर्की को परास्त कर ट्रिपोली तथा साइरीनिका पर अधिकार कर लिया। इटली अफ्रीका के अन्य प्रदेशों पर भी अधिकार करना चाहता था; पर फ्रांस से उसका टकराव होने के कारण उसे वहां अधिक सफलता नहीं मिली।

जर्मनी- जर्मनी भी इटली की भांति इस उपनिवेशवाद की दौड़ में देर से सम्मिलित हुआ। 1890 ई. तक बिस्मार्क (Bismarck) जर्मनी का चांसलर रहा। उसे उपनिवेशवाद में विशेष रूचि नहीं थी। परन्तु बाद में विशेष परिस्थितियों के उपस्थिति होने पर उसने कैमरून तथा टोगोलैण्ड (Togoland) पर अधिकार कर लिया था। इनके अलावा उसने दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका के भू-भाग पर भी अधिकार किया था।

स्पेन- स्पेन अफ्रीका की लूट में विशेष लाभ नहीं उठा सका। उसे अफ्रीका के उत्तरी-पश्चिमी समुद्री किनारे पर कुछ प्रदेश मिले। 1906 ई. में जिब्राल्टर (Gibralter) के समीप समुद्री किनारे पर थोड़े से प्रदेश अफ्रीका में उसे और मिले।

फ्रांस- 1882 ई. में उसे ट्यूनिस मिल ही गया था। 1912 ई. में उसने मोरक्को पर भी अधिकार कर लिया। सहारा-प्रान्त पर भी फ्रांस का ही प्रभुत्व रहा। सेनेगल (Senegal) तथा आइवरी कोस्ट भी फ्रांस के ही उपनिवेश रहे। अफ्रीका के पूर्व में स्थित मेडेगास्कर पर भी उसी ने अधिकार किया।

ग्रेट-ब्रिटेन- अफ्रीका की लूट में फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन को सबसे अधिक लाभ हुआ; पर इंग्लैण्ड को फ्रांस से भी अधिक प्रदेश मिले। उत्तर में काहिरा (Cairo) से लेकर दक्षिण में केप (Cape) अन्तरीप तक इंग्लैण्ड के उपनिवेश स्थापित हो गये। पूर्व अफ्रीका का छोटा सा प्रदेश जर्मनी के अधिकार में था। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर यह प्रदेश (German East Africa) भी इंग्लैण्ड के प्रभुत्व में आ गया था। उगाण्डा व मिस्र देशों के प्रभुत्व में आ जाने से भूमध्य सागर पर भी इंग्लैण्ड का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। नेटाल, ट्रांसवाल, रोडेशिया व सूडान के कुछ भाग पर भी इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया था। गैम्बिया तथा गोल्डकोस्ट भी इंग्लैण्ड के ही उपनिवेश थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि अफ्रीका महाद्वीप में उपनिवेश स्थापित करने में सर्वाधिक सफलता इंग्लैण्ड को ही मिली। आज भी उसके उपनिवेश दक्षिणी अफ्रीका में वर्तमान हैं। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इतने उपनिवेश उसे सुविधा से प्राप्त नहीं हुए, उनके लिए भी उसे युद्ध भी करने पड़े थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल बीस वर्षों में अफ्रीका जैसा विशाल महाद्वीप यूरोपीय देशों द्वारा परस्पर में बांट लिया गया और उसके प्राकृतिक साधनों का वे पूरा लाभ उठाने लगे। भाग्यवश इथोपिया (अबेसीनिया) व लाइबेरिया ही इन यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों की क्षुधा के ग्रास नहीं बन सके।

अफ्रीका के बंटवारे की विशेषतायें- अफ्रीका का बंटवारा यूरोपीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इसका बंटवारा भी यूरोपीय देशों द्वारा एक निराले ढंग से ही किया गया। इस प्रकार का विभाजन अन्य महाद्वीप का नहीं हुआ। इस बंटवारे से हमें निम्नलिखित विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं-

(i) बँटवारा अल्प समय में ही सम्पत्र हो गया।

(ii) महाद्वीप के बंटवारे में विशेष युद्ध नहीं लड़े गये। यह सही है कि इसके बंटवारे को लेकर यूरोप के देशों में मनमुटाव अवश्य उत्पन्न हुआ था। कई अवसरों पर संघर्ष का भी वातावरण उत्पन्न हुआ। परन्तु उन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों का समाधान युद्ध से न किया जाकर कूटनीति के माध्यम से ही कर लिया गया।

(iii) तीसरी विशेषता यह रही कि अफ्रीका के स्थायी सामन्त व सरदारों ने भी इन यूरोपीय देशों का विरोध नहीं किया। इसी कारण बिना युद्ध किये शीघ्रता से वहां यूरोप के उपनिवेश स्थापित होते ही चले गये। इसका एक कारण यह भी था कि अफ्रीका के सरदार अशिक्षित थे। वे सन्धि की बातों को बिना समझे ही उस पर अपने हस्ताक्षर कर उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान कर दिया करते थे। शराब की बोतलों के चमचमाते उपहारों के प्रलोभन में आकर वे अपनी भूमि को यूरोप के शासकों को सौंप देते थे।

अफ्रीका में राष्ट्रवाद का उदय

नवीन साम्राज्यवाद के परिणामों का हम उल्लेख कर चुके हैं। उन परिणामों में एक प्रमुख परिणाम यह भी था कि अफ्रीका में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। अफ्रीकावालों ने भी दूसरे विश्व-युद्ध के उपरान्त अपना नारा बुलन्द किया कि "अफ्रीका अफ्रीकावालों के लिए" (Africa for Arficans) है। अफ्रीका देशों में यह नारा शीघ्र ही जोर पकड़ने लगा और इसका परिणाम यह निकला कि एशिया की भांति अफ्रीका से यूरोपवालों के उपनिवेश समाप्त होने लगे। परन्तु जिस प्रकार

अफ्रीका में उपनिवेशों की स्थापना इतनी शीघ्रता से हुई थी उसी प्रकार पश्चिमी उपनिवेशरूपी परिपक्व फल भी सामाजवादी वृक्ष से शीघ्रता से ही गिरने लगे। 1945 ई. के उपरान्त अफ्रीका के राष्ट्रवाद में जो नवजागरण आया उसका सामना यूरोपीय साम्राज्यवादी देश नहीं कर सके। हालांकि एशिया के देश अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष के समय अधिक सभ्य हो गये थे तथापि उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति में समय लगा। इसके विपरीत अफ्रीका के देश द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त भी पूर्ण सभ्य एवं विकसित नहीं हुए थे, तब भी उन्हें स्वतन्त्रता शीघ्रता से मिली। इसीलिए इसकी स्वतन्त्रता के विशेषज्ञों को भी इस पर आश्चर्य है। परन्तु अफ्रीका के स्वतन्त्रता संग्रामी की यह विशेषता रही है कि वे एक बार प्रारम्भ हुए कि उपनिवेश लड़खड़ाने लग गये। अफ्रीका में राष्ट्रवाद के विकास के निम्नलिखित कारण कहे जा सकते हैं:-

(1) अफ्रीका की जनसंख्या में वृद्धि- निःसन्देह यूरोपीय देशों में अपने उपनिवेशों की दशा सुधारने का प्रयास किया, चाहे उसका फल थोड़े लोगों को ही मिला हो। यूरोप के लोगों ने अफ्रीका के मूल निवासियों के जीवन-स्तर को उन्नत किया। आधुनक चिकित्सा की सुविधाएं उन्हें उपलब्ध कराई। इसका प्रतिफल यह हुआ कि अफ्रीका की जनसंख्या तो तीव्रगति से बढ़ने लगी- परन्तु उनकी जीविका उपार्जन के साधनों में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। अतः उनमें निर्धनता बढ़ने लगी। वहां कृषि भूमि अति सीमित थी। उस पर भी श्वेत लोगों ने अधिकार कर लिया था। गरीबी के कारण मूल निवासी अब भी पुराने तरीकों से ही खेती करते थे। उनकी दस्तकारी चौपट हो गई थी। दीनता के कारण अधिकांश लोग अपराधी जीव बन गये और जो शिक्षित थे वे राजकीय सेवाओं में काम करने लगे उन्होंने वह नारा लगाया कि "अफ्रीका अफ्रिकियों के लिए है, यूरोपीय के लिए नहीं।"

(2) धर्म प्रचारकों का कठोर व्यवहार- निःसन्देह यूरोप के देशों से ईसाई धर्म-प्रचारक शीघ्र ही अफ्रीका के कोने-कोने में फैल गये। उन्होंने भाई चारे की भावना के साथ नीग्रो लोगों को ईसाई-धर्म का महत्व समझाया तथा अच्छी संख्या में उन्हें ईसाई भी बनाया। परन्तु सभी धर्म-प्रचारक मधुर स्वभाव के नहीं थे। साम्राज्यवाद के समर्थक धर्म-प्रचारकों ने अफ्रीका के मूल निवासियों के साथ कठोरता का व्यवहार करना आरम्भ किया। उन्हें वे असभ्य ही समझते रहे। इसका परिणाम यह निकला कि अफ्रीका के मूल निवासी इन प्रचारकों के प्रति संशयालु तथा चिड़चिड़े हो गये। वे ईसाई धर्म व उसके प्रचारकों के विरुद्ध अपने देशवासियों को उभारने लगे। अफ्रीका के देशों में शीघ्र ही श्वेत विरोधी कई संस्थाएं स्थापित होने लगीं और वे राष्ट्रवाद को प्रबल बनाने लगी।

(3) शिक्षित लोगों का पश्चिमी लोकतन्त्र से प्रभावित होना- यूरोप के लोग अफ्रीका के अर्द्ध नग्न व असभ्य लोगों को सभ्य बनाने की घोषणा के साथ आये थे। अपने विचार को क्रियान्वित करने की दृष्टि से उन्होंने अफ्रीका में शिक्षा का प्रचार भी किया। स्कूल व कॉलेज खोले गये। बहुत से अफ्रीका के विद्यार्थी यूरोपीय देशों व अमेरिका में उच्च शिक्षा पाने की दृष्टि से गये। वहां उनको पश्चिमी लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली देखने को मिली। वे उस शासन प्रणाली के प्रशंसक बन गये और वे जब स्वदेश लौटे तो अपने अधिकारों, स्वशासन व पूर्ण स्वाधीनता की मांग करने लगे। इस प्रकार अफ्रीका के शिक्षित युवकों ने देश में राष्ट्रवाद को प्रबल बनाया।

(4) असमानता का व्यवहार- यूरोपवासी आरम्भ से ही स्वयं को सभ्य तथा पूर्ण विकसित समझते थे जबकि अफ्रीका के मूल निवासियों को वे सर्वथा असभ्य समझते थे। यूरोपीय लोगों की यह धारणा बन गई थी कि परमात्मा ने उन्हें असभ्य लोगों को सभ्य बनाने हेतु ही इस पृथ्वी पर भेजा है। अतः वे अफ्रीकी लोगों के साथ असमानता का व्यवहार करते थे। अफ्रीकी बच्चे श्वेत बच्चों के साथ नहीं पढ़ सकते थे। हब्शी यूरोपीय लोगों की बस्ती में नहीं बस सकते थे। रेलगाड़ी के डिब्बे में श्वेत के साथ अफ्रीकी यात्रा नहीं कर सकते थे। सरकारी उच्च पदों पर श्वेत लोग ही आसीन होते थे। अफ्रीका का व्यापार भी यूरोपवासियों के हाथों में चला गया। अफ्रीका के लोग अपने साथ इस प्रकार का आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्र में असमानता का व्यवहार सहन करने को उद्यत नहीं थे। उनका कहना था कि हमारे देश में ही हमारे साथ यह व्यवहार कैसे चल सकता है?

(5) उग्र राष्ट्रवाद का प्रभाव- राष्ट्रवादी भी अपने देश को उच्च समझते हैं तथा अपने देश की विशालता के लिए उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद में विश्वास करते हैं। इसी विचारधारा से यूरोप साम्राज्यवादी विचारधारा का शिकार बना। परन्तु इटली व जर्मनी का उत्थान 1870 ई. के उपरान्त हुआ। इस कारण साम्राज्यवाद में वे दोनों ही देश पीछे रह गये। इस कारण 1870 के उपरान्त दोनों देशों ने अपने साम्राज्य के विस्तार में जल्दी करनी चाही। अतः दोनों ने उप-राष्ट्रवाद का सहारा ले अफ्रीका में अपने अधिकाधिक उपनिवेश स्थापित करने का प्रयास किया। दोनों देशों की

सरकारों ने वहां के मूल निवासियों की भले ही चिन्ता न कर अनुशासन व व्यवस्था पर आधारित शक्तिशाली निरंकुश सरकार की स्थापना पर ध्यान दिया। इन उग्र राष्ट्रवादियों ने वहां की सभ्यता को नष्ट करने हेतु बहुत ही कठोर व अशिष्ट उपाय अपनाये। इटली ने नारा दिया कि अफ्रीका के जिन प्रदेशों में इटली भाषा बोली जाती है उन सबको इटली के साम्राज्यवाद का अंग बना लेना चाहिए। इस प्रकार के फासीवाद तथा जर्मनी के नाजीवाद ने अफ्रीकावासियों को यूरोपीय साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी बना दिया।

(6) दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति पर उत्पन्न परिस्थितियाँ- दूसरे विश्व-युद्ध का मोर्चा उत्तरी अफ्रीका में भी लगा था। अफ्रीका वालों ने अपने ही देश में उग्र राष्ट्रवादी दोनों शक्तियों (इटली व जर्मनी) को परास्त होते देखा। दूसरे महायुद्ध में इंग्लैण्ड व फ्रांस विजयी अवश्य रहे थे पर उनकी निर्बलता अफ्रीकावासियों से छिपी नहीं रही। इसके अलावा दूसरा युद्ध प्रजातन्त्र की विजय में समाप्त हुआ। मित्र राष्ट्रों ने भी यही नारा लगाया था कि हम यह युद्ध विश्व की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। अतः इस युद्ध के समाप्त होते ही एशिया के देशों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष जोर पकड़ने लगे। अरब-देशों में स्वतन्त्रता संग्राम आरंभ हो गया। फिलीस्तीन वालों ने अपने यहां से यहूदियों के निष्कासन की मांग की। इन घटनाओं का प्रभाव अफ्रीका पर भी पड़ा। वहां के लोग सोचने लगे कि 23 करोड़ अफ्रीकावासियों पर पचास लाख श्वेत राज्य किस प्रकार कर रहे हैं?

(7) दक्षिणी अफ्रीका में काले आदमियों पर अत्याचार- दक्षिणी अफ्रीका इंग्लैण्ड के प्रभाव में था और आज भी है। वहां केवल तीस लाख श्वेत हैं जबकि मूल निवासी एक करोड़ बीस लाख हैं। परन्तु दक्षिणी अफ्रीका की गोरी सरकार वहां के मूल निवासियों के साथ बर्बरता का व्यवहार करती है। मूल निवासियों को किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं है। संयुक्त राष्ट्र-संघ (U.N.O) में कई बार उनकी स्वतन्त्रता का समर्थन हो चुका है। परन्तु वहां की गोरी सरकार अपने इरादे से टस से मस नहीं होती। वहां के मूल निवासियों पर श्वेत लोगों द्वारा जो बर्बतापूर्ण व्यवहार किया गया इससे अफ्रीका वालों की आंखें खुल गई और यूरोपीय देशों को अपने यहाँ से खदेड़ने का वे भागीरथ प्रयत्न करने लगे। अब वहां के अश्वेत नेता नेलसन मंडेला 27 वर्ष के उपरान्त कारावास से मुक्त हो गये हैं और वे गोरी सरकार से अब द.अफ्रीका के निवासियों को राजनीतिक अधिकार देने की मांग कर रहे हैं।

(8) बान्डुंग सम्मेलन- इस सम्मेलन का आयोजन 18 अप्रेल 1995 को हुआ और इसका उद्घाटन हिन्देशिया के राष्ट्रपति डा. सुकरणों द्वारा किया गया। इसमें एशिया व अफ्रीका के 29 देशों ने भाग लिया था। इस समेलन का निर्णय वास्तव में दिसम्बर 1954 में बोगोर (Bogor) स्थान पर हुआ था। जिसका मुख्य उद्देश्य अफ्रीका व एशियाई देशों में एकता स्थापित करना था। इसीलिए इस सम्मेलन में फिलीस्तीन के सन्दर्भ में संयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वारा पारित प्रस्ताव का समर्थन किया गया। अफ्रीका में व्याप्त जातिवाद की निंदा की गई। विश्व में प्रचलित किसी भी प्रकार के उपनिवेशवाद की भी निन्दा की गई और मोरक्को, एल्जेरिया और ट्यूनिसिया (Tunesia) के लोगों के अधिकारों का समर्थन किया गया। इनके इस सम्मेलन में कई अन्य प्रस्ताव भी पारित किये गये जिनसे स्पष्ट होता है कि इस सम्मेलन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद को चैलैन्ज किया और एशिया व अफ्रीका के देशों में पारस्परिक दायित्व को स्पष्ट दर्शाया।

(9) माउ-माउ संगठन- अफ्रीका के मूल निवासियों ने श्वेत लोगों के असमानता के सिद्धान्त पर आधारित व्यवहार से तंग आ कर गुप्त संगठन गठित करना आरम्भ किया। माउ-माउ संगठन भी इसी प्रकार का एक गुप्त संगठन था। इसका मूल उद्देश्य श्वेत स्त्री-पुरूषों को मौत के घाट उतारना था। इस संगठन ने 1950 में कार्य आरम्भ किया और 1956 तक कार्य करता रहा। इस अरसे में हज़ारों की संख्या में श्वेत स्त्री, पुरुष व बच्चों को निर्ममता से मौत के घाट उतार दिया गया। इसी प्रकार के संगठन के सदस्य श्वेत लोगों की सरकार द्वारा गोली से भून दिये गये व फांसी पर लटका दिए। 1956 ई. में यह संगठन दबा अवश्य दिया गया परन्तु इसने अफ्रीकी लागों में श्वेत लोगों के विरुद्ध घृणा व प्रतिशोध की भावना प्रबल रूप से उत्पन्न कर दी।

10. लीबीया तथा गोल्ड कोस्ट का स्वतन्त्र होना- द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर अफ्रीकी देशों में राष्ट्रीयता का दीपक प्रज्वलित हो गया था। अफ्रीका के विभिन्न देशों के प्रबल राष्ट्रवाद के दीपक में यूरोपीय साम्राज्यवादी देश रूपी पतंगे अब एक एक कर नष्ट होने लगे थे। 1951 ई. में लीबीया इटली के प्रभुत्व से मुक्त हो गया। इसकी स्वतन्त्रता ने अफ्रीका के अन्य देशों को स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर किया। इंगलैंड व फ्रांस भी अफ्रीका स्थित अपने उपनिवेशों की चिन्ता करने लगे। अफ्रीका के पांच अरब देशों में लीबिया सबसे पिछड़ा देश था। जब यह स्वतन्त्र हो गया

तो इसने फ्रांस की मोरक्को, ट्यूनिसिया व एल्जिरिया में स्थिति संकटग्रस्त बना दी। मिस्र के नियन्त्रण को लेकर इंग्लैण्ड चिन्तित हो उठा। 1957 ई. में गोल्ड कोस्ट स्वतन्त्र हो गया। अफ्रीका का यह प्रथम देश था जो पश्चिमी साम्राज्यवाद से मुक्त होकर घाना (Ghana) के नाम से एक स्वतन्त्र देश के रूप में कामन वेल्थ का सदस्य बना। इस प्रकार हम देखते हैं कि लीबीया की स्वतन्त्रता (1951) ने अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र बना दिया और दस वर्षों (1960) के अरसे में अफ्रीका का मान चित्र ही बदल दिया।

(11) अमेरिका की अफ्रीका के प्रति सद्भाव पूर्ण नीति- निःसन्देह अमेरिका (U.S.A.) भी एक साम्राज्यवादी देश था और वह आज भी है। दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति पर इसने इंगलैंड का स्थान ले लिया और पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में वह प्रथम देश बन गया। मुनरो-सिद्धान्त (Monroe Doctrine) को भी उसने अब ताक में रख दिया था परन्तु अफ्रीकी देशों के प्रति उसका रुख सहानुभूति पूर्ण बना रहा। संयुक्त-राज्य अमेरिका यह भली भांति जानता था कि उसकी इस नीति के परिणामस्वरूप इंगलैंड व फ्रांस उसके विरोधी हो आवेंगे। पर उनके विरोध की चिन्ता न करते हुए 1961 ई. में अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी (Kennedy) ने अफ्रीका के प्रति एक नवीन नीति अपनाई। उसने यह स्पष्ट किया कि अमेरिका हृदय से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे लोगों के साथ सहानुभूति रखता है। अमेरिका के कई राजनीतिज्ञों ने अफ्रीकी देशों की स्वतन्त्रता का अनुमोदन किया। स्वेज-नहर में इंगलैंड व फ्रांस की सेनाएं हटवाने में भी अमेरिका ने मिस्र का ही समर्थन किया था। अमेरिका के इस सहयोगपूर्ण रवैये से भी अफ्रीकी देशों में राष्ट्रवाद उत्तरोत्तर प्रबल होता गया।

मिस्र का स्वतन्त्र होना

मिस्र की अन्तराष्ट्रीय जगत में स्थिति- मिस्र आज विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका मूल कारण इसकी स्वेज-नहर (Suez Canal) है। यह देश अफ्रीका महाद्वीप के उत्तरी-पूर्वी कोने पर स्थित है। इसके उत्तर में भूमध्य सागर तथा पूर्व में लाग सागर (Red Sea) विस्तृत हैं। 1969 ई. में जब स्वेज-नहर का निर्माण हो गया तो इसे भूमध्य-सागर व लाल-सागर परस्पर संयुक्त हो गये। इस जल-मार्ग के बन जाने से यूरोप व अमेरिका के जहाजों को एशिया जाने के लिए समस्त अफ्रीका का चक्कर काट कर जाने की आवश्यकता नहीं रही। इस कारण स्वेज-नहर अन्तर्राष्ट्रीय जल-मार्ग बन गया और इस नहर के निर्माण से ही मिस्र की दुनिया में आज वह पूछ है जोकि उसकी नील नदी के कारण प्राचीन व मध्य-काल में समस्त यूरोप व पश्चिमी एशिया में थी। अतः स्पष्ट है कि मिस्र की गणना विश्व के महत्त्वपूण देशों में इसकी नदी व नहर के कारण ही हुई थी और आज भी है। इस स्वेज-नहर ने ही मिस्र का आधुनिक इतिहास बनाया है। परन्तु इस स्वेज-नहर तक पहुंचने के लिए भी इसे कई राजनीतिक उतार चढ़ाव से गुजरना पड़ा है।

उन्नीसवी सदी के आरम्भ में मिस्र की राजनीतिक अवस्था- 650 ई. के उपरान्त मिस्र चिरकाल तक अरब के खलीफाओं के अधीन रहा। 1517 ई. में यह ऑटोमन तुर्क साम्राज्य का प्रदेश बन गया। यह प्रदेश भारत की सुरक्षा के लिए ब्रिटेन को कितना महत्त्वपूर्ण है- इसका आभास सर्वप्रथम नेपोलियन बोनापार्ट (Nepoleon) को ही हुआ था। इसी कारण उसने 1799 ई. में मिस्र पर आक्रमण किया था। नेपोलियन के आक्रमण के समय भी मिस्र तुर्क-साम्राज्य का ही एक अंग था। उस समय इंग्लैण्ड टर्की की सहायता के लिए कटिबद्ध सा हो गया था। अतः नेपोलियन के आधिपत्य को समाप्त करने मिस्र में टर्की व इंगलैंड दोनों देशों की सेनाएं पहुंची। इंग्लैण्ड की सेनाएं मिस्र में अधिक दिन नहीं टिक सकीं क्योंकि फ्रांस लौटकर नेपोलियन ने इंग्लैण्ड की सुरक्षा को संकट उत्पन्न कर दिया था। नेपोलियन के समय मिस्र में तुर्की-सुल्तान का सेनापति मेहमत अली (Mahmet Ali) वह अन्बानिया निवासी था। वह एक महत्त्वकांक्षी सेनापति था। अतः मिस्र से इंग्लैण्ड की सेनाओं के हटते ही उसने वहां का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। 1805 ई. में वह टर्की के सुल्तान द्वारा मिस्र का सूबेदार (Khedive) मान लिया गया। वह मिस्र का सूबेदार 1849 ई. तक बना रहा।

मिस्र पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित होना- उन्नीसवीं सदी के पूवार्द्ध में मिस्र एक शक्तिशाली राज्य बन गया था उधर टर्की का महत्त्व घट रहा था और उसे "यूरोप का मरीज" की संज्ञा दी जाने लगी थी। इधर मिस्र का महत्त्व दिनोदिन बढ़ रहा था। महमूद द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी अपने को अधिक योग्य सिद्ध नहीं कर सके। 1863 ई. में मिस्र के पाशा सईद की मृत्यु हो गई। खदीव इस्माइल उसका उत्तराधिकारी बना। वह बड़ा फिजुल खर्ची था। उसने

1869 ई. में स्वेज-नहर का निर्माण आरम्भ करवाया। इस नहर का निर्माण फ्रांस के इन्जीनियर द-लैरसप के नेतृत्व में हुआ था। स्वेज-नहर का संचालन एक कम्पनी द्वारा होता था और उस कम्पनी के भागीदार फ्रांसीसी तथा खदीव स्वयं था। परन्तु मिस्र की आर्थिक अवस्था दिन पर दिन शोचनीय होती गई। अन्त में 1875 ई. में खदीव ने स्वेज-नहर के शेयर बेचे। उस समय इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री डिजरैली था। वह पक्का साम्राज्यवादी था। समय को पहिचान कर उसने चालीस लाख पौण्ड के शेयर खरीद लिए। इससे मिस्र पर इंग्लैण्ड के आर्थिक प्रभुत्व की शुरूआत हो गई।

इंग्लैण्ड की आर्थिक सहायता से भी मिस्र का दिवाला दूर नहीं हुआ। इसीलिए 1876 ई. में उसने विदेशियों का कर्ज न चुकाने की घोषणा की। उसकी घोषणा से इंगलैंण्ड व फ्रांस घबरा गये। उन दोनों ने मिलकर मिस्र पर अपना द्वैध आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया। 1879 ई. में उन्होंने खदीव इस्माईल को पदच्युत कर दिया और उसके स्थान पर उसके पुत्र तोफीक को खदीव बनाया। परन्तु पाश्चात्य देशों के इस हस्तक्षेप से मिस्रवासी नाराज हो गये और उन्होंने अरबी पाशा के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। 1882 ई. में यह विद्रोह दबा दिया गया और नेता अरबी पाशा को लंका भेज दिया गया। खदीव पद पर तोफीक ही बना रहा पर मिस्र की वास्तविक सत्ता अब इंग्लैण्ड के हाथ में आ गई थी। 1884 ई. में लार्ड क्रोमर को मिस्र में ब्रिटिश एजेण्ट एवं राजदूत नियुक्त किया गया। लार्ड क्रोमर ने ऐसा श्रेष्ठ शासन-प्रबन्ध किया जैसा कि उस शताब्दी में शायद कहीं देखा गया हो। यह मिस्र में इस पद पर 1907 ई. तक कार्य करता रहा और अपने योग्य प्रशासन से मिस्र पर उसने ब्रिटिश-प्रभुत्व को पूर्णरूपेण स्थापित कर दिया। उसने 1890-1900 ई. में जनरल किचनर को सूडान भेज कर मेहदी (Mehdi) को परास्त करा दिया और सूडान को भी ब्रिटिश प्रभुत्व में ले लिया। सूडान को प्रभुत्व में करते समय फशोदा (Fashoda) काण्ड भी घटा था। परन्तु यह काण्ड भी इंग्लैण्ड के पक्ष में ही गया और फ्रांस ने मिस्र व सूडान पर ब्रिटिश प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

प्रथम विश्व-युद्ध और मिस्र- प्रथम विश्व-युद्ध में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया था अतः इंग्लैण्ड नहीं चाहता था कि मिस्र अब नाम मात्र को भी तुर्की का अंग रहे। इसीलिए दिसम्बर, 1914 ई. में इंग्लैण्ड ने टर्की के समर्थक खदीव अब्बास हिल्मी (Abbas Hilmi) को पदच्युत कर दिया था और उसके स्थान पर अपने समर्थक हुसैन (Hussain) को मिस्र का सुल्तान बनाया। 18 दिसम्बर, 1914 ई. को ही इंग्लैण्ड द्वारा यह घोषणा कर दी गई कि मिस्र तुर्की के प्रभाव से मुक्त किया जाता है। युद्ध में उसकी सुरक्षा का भार इंग्लैण्ड पर रहेगा। इस प्रकार प्रथम विश्व-युद्ध के समय मिस्र इंग्लैण्ड का एक संरक्षित राज्य बन गया।

1917 में हुसैन की मृत्यु हो गई और उसका भ्राता फौद (Faud) मिस्र का शासक बना। उसने भी अपने भ्राता हुसैन की भांति ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध के समाप्त होते ही मिस्रवासी ब्रिटिश प्रभुता के विरोधी हो गये। वे ब्रिटेन की शासन-सत्ता के विरुद्ध संगठित होने लगे। 1919 में जब पेरिस में शान्ति सम्मेलन हो रहा था तो मिस्र के जागलुल पाशा (Jaghlul Pasha) ने वहां जाने का प्रयास किया। जागलुल पाशा पेरिस सम्मेलन में जा कर मिस्र की स्वाधीनता की मांग रखना चाहता था। अमेरिका का राष्ट्रपति विलसन भी राज्यों की स्वायतत्ता का समर्थक था। उधर रूस की 1977 की क्रान्ति तथा रूस में मुसलमानों के साथ किये जा रहे व्यवहार से भी जागलुल पाशा सम्मेलन में जाने को आतुर था। इसलिए प्रथम वह मिस्र में स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर से मिला, परन्तु उसे पेरिस जाने की अनुमति नहीं दी गई। इस पर उसने अपने सहयोगियों के साथ पेरिस जाने का निश्चय किया। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे बन्दी बना कर माल्टा (Malta) द्वीप भेज दिया। उसके अन्य साथी बन्दी बना लिए गये। परन्तु ब्रिटिश सरकार की यह कार्यवाही मिस्रवासियों के राष्ट्रवाद के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं कर सकी।

मिस्र में राष्ट्रवाद के विकास के कारण

1. नेपोलियन का मिस्र पर आक्रमण- नेपोलियन की विजय के उपरान्त मिस्र में नवीन विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। मिस्र को पश्चात्य देशों के सम्पर्क में लाने का नेपोलियन द्वारा यह प्रथम प्रयास था। नेपोलियन अपने साथ मिस्र में छापाखाना लाया था जिसके सहायता से पश्चिमी साहित्य मिस्रवासियों को उपलब्ध होने लगा। मिस्रवासी फ्रांस की शासन-प्रणाली से अवगत होने लगे। इसके अलावा नेपोलियन अपने साथ मिस्र में एक साहित्य-एकेडमी भी साथ लाया उसमें पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। इससे भी मिस्र में पाश्चात्य विचारों का सूत्रपात्र हुआ। नेपोलियन के फ्रांस लौट जाने के उपरान्त भी फ्रांस की राज्य-क्रांति की विचारधारा मिस्रवासियों को प्रभावित करती रही। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मिस्रवासी भी अपने देश को विकसित कर अंग्रेजों के शिकंजे में मुक्त करने का प्रयास करने लगे।

2. मेहमत अली का उदार शासन- मेहमत अली (Mehmet Ali) ने मिस्र पर लगभग अर्द्ध शताब्दी (1805-1849) तक शासन किया। वह एक योगय प्रशासक था। हालांकि वह स्वयं अशिक्षित था तथापि वह शिक्षा का महत्व समझता था। उसने शिक्षा विभाग की स्थापना की। मिस्र के नव-युवकों को शिक्षा देने के लिए स्कूल खोले। शिक्षणालयों में फ्रांस के अध्यापक नियुक्त किये गये। मिस्रवासियों को वैज्ञानिक व टेकनीकाल शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। शिक्षा के प्रसार से मिस्रवासियों की संकीर्णता का निवारण हुआ। उनके विचार केवल इस्लाम धर्म तक ही सीमित नहीं रहे। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने से मिस्रवासियों के विचारों में उदारता का समावेश हुआ तथा उनका सोचने का दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक होने लगा।

3. मिस्र के विद्यार्थियों द्वारा पश्चिमी विचार अपने देश में फैलाना- वास्तव में देखा जाय तो नेपोलियन के मिस्र-आगमन ने मिस्रवासियों के लिए यूरोप के द्वार खोल दिये। भारी संख्या में मिस्र के नवयुवक फ्रांस, इटली व इंगलैंड जाकर शिक्षा ग्रहण करने लगे। वहाँ वह इन्जीनियरिंग व विज्ञान की शिक्षा पाने लगे। सैनिक-शिक्षा में भी मिस्रवासी यूरोपीय देशों से प्रभावित होने लगे। मेहमत अली ने काफी धन नवयुवकों की शिक्षा पर व्यय किया तथा उनको यूरोप जाने के लिए प्रोत्साहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस व इटली में मिस्र के विद्यार्थियों के होस्टल ही अलग होने लगे। यूरोपीय देशों में शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्होंने वहां की उदार एवं लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का भी अध्ययन किया। वे उससे प्रभावित भी हुए और स्वदेश लौटकर अपने यहां भी वैसे ही शासन-प्रणाली प्रचलित करने को लालायित हो उठे। अतः वे ब्रिटेन की निरंकुश शासन-प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठाने लगे।

4. अंग्रेज़ों द्वारा मिस्रवासियों का शोषण- स्वेज-नहर बन जाने के उपरान्त ही मिस्र की आर्थिक अवस्था दिवालिया हो गई। मिस्र के शासक इस अवस्था में नहीं रहे कि विदेशियों का ऋण चुका सके। इसी कारण इंग्लैण्ड व फ्रांस की सरकारें अपना धन वसूल करने की नियत से मिस्रवासियों पर भारी कर लगाने लगीं तथा उनका भारी आर्थिक शोषण करने लगीं। परन्तु इससे भी मिस्र की आर्थिक अवस्था उनका ऋण चुकाने में सफल नहीं रही। उच्च पदों पर ऊँचे वेतन पर भी अंग्रेज ही आसीन होने लगे। प्रथम विश्व-युद्ध के समय मिस्रवासियों का शोषण और भी बढ़ गया। युद्ध संचालन हेतु अंग्रेज मिस्र के हर साधन का दुरुपयोग करने लगे। अतः इस आर्थिक शोषण से भी मिस्रवासी अंग्रेजों से नाराज हो गए और उनसे मुक्ति पाने का प्रयास करने लगे।

5. मिस्र के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रवाद का प्रसार- मिस्र के राष्ट्रवाद में प्रथम सहयोग अरबी पाशा (Arb Pasha) से मिला। 1775 ई. के उपरान्त इंग्लैण्ड का आर्थिक प्रभुत्व मिस्र पर स्थापित हो गया। धीरे-धीरे अंग्रेज व फ्रांसीसी मिस्र की सत्ता को हथियाने का प्रयास करने लगे। इस पर अरबी पाशा ने उनकी नीति की कटु आलोचना की और नारा लगाया कि "मिस्र मिस्रवासियों के लिए" (Egypt for Egyptians) है। मिस्रवासियों ने उसका साथ दिया और उसके नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया। परन्तु विद्रोह दबा दिया गया। फशोदा-काण्ड के उपरान्त मिस्र पूर्णतः केवल ब्रिटेन के प्रभाव में चला गया। इंगलैंड की सरकार ने अपनी प्रभुता दृढ़ता से जमाने हेतु वहां मिस्रवासियों के साथ और कठोरता बरती। इसके प्रतिकार में अबदुल्ला अन्नदीम ने अपने नाटक 'अलवतन' के माध्यम से, मुस्तफा कामिल ने 'अस-शम्स अल-मशरिका' के माध्यम से मिस्र में राष्ट्रवाद की प्रबल बनाया। जागलुल पाशा अपने ओजस्वी भाषणों के द्वारा 1927 ई. तक मिस्रवासियों को एकता व स्वतन्त्रता के लिए तैयार करता रहा। इन नेताओं के प्रयत्नों से भी मिस्र में राष्ट्रवाद दिन पर दिन जोर पकड़ता गया।

6. मिस्र में विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थापना- ब्रिटेन के कठोर शासन का परिणाम यह निकला कि मिस्रवासियों ने अपनी मुक्ति के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों की स्थापना करना आरंभ किया। 1879 ई. में अल-हिज्ब-अल-वतनी का संगठन कायम हुआ। 1907 ई. में अल-हिज्ब-अल-वतनी के संगठन को नवीन रूप दिया गया। जागलुल पाशा ने 'वफ्द पार्टी' का गठन किया। वह पार्टी हिंसा में विश्वास करती थी। अतः इसके सदस्यों ने ब्रिटिश अधिकारियों को मौत के घाट उतारना आरम्भ कर दिया। इससे 1919 ई. में मिस्र का वातावरण बहुत ही भयानक हो गया था।

7. अंग्रेजों द्वारा मिस्रवासियों के साथ असमानता का व्यवहार करना- ब्रिटिश लोगों में उच्चता की भावना तो पहले से ही विद्यमान थी। बीसवी सदी के प्रारम्भ होते ही जब ब्रिटेन मिस्र का एक छत्र स्वामी बन गया तो अंग्रेजों ने यह भावना और भी प्रबल हो गई। वे मिस्रवासियों के साथ हीनता का व्यवहार करने लगे। उन्हें सरकारी पदों पर भी

उच्च पद देते हुए भी वह हिचकिचाते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय मिस्रवासियों के साथ अंग्रेजो का व्यवहार और भी रुखा बन गया। उनको नाना प्रकार के कानून बना कर दृढ़ता से दासता मे जकड़ा जाने लगा। इससे मिस्रवासी ब्रिटेन के विरुद्ध उत्पन्न इस घृणा की भावना ने मिस्रवासियों को संगठित कर दिया। विद्यार्थी कॉलेजों के बाहर आ गये। क्रांतिकारीयों ने काहिरा को देश के अन्य भागों में विच्छिन्न कर दिया। हालांकि यह क्रांति भी निर्दयता के साथ दबा दी गइ। परंतु इसने अंग्रेजों को सुलह की नीति अपनाने को बाध्य कर दिया

8. इंगलैंड में विभिन्न दलों की सरकार का गठित होना- इंगलैंड एक प्रजातंत्र देश है। वहां विभिन्न समय में निर्वाचन के आधार पर विभिन्न दलों की सरकार गठित होती रहती है। 1906 ई. वहां उदार दल (Liberal Party) की सरकार थी। यह दल उपनिवेशवाद का अधिक समर्थन नहीं करता था। इस कारण इस दल ने मिस्रवासियों के प्रति उदारता की नीति अपनाई और मिस्रवासियों के शासन के प्रति उत्तरदायी बनाने का प्रयास किया। उदार-दल की सरकार से तो उन्हे राहत मिली । परंतु बाद मे अनुदार दल की सरकार स्थायित्व में आ गई। इंगलैंड मे अधिकांश समय सरकार अनुदार (Conservative Party) दल की ही रहती है। इस दल की सरकार सदा साम्राज्यवाद की समर्थक रही है। अतः अनुदार दल की सरकार ने मिस्रवासियों के साथ और भी जुल्म किये। उन जुल्मों से भी मिस्रवासी ब्रिटेन विरोधी हो गये।

मिस्र की स्वतंत्रता के विभिन्न चरण

1875 ई. 1914 ई. तक- 1875 ई. ब्रिटेन का मिस्र पर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित हुआ। परंतु उनकी आर्थिक नीति असंतुष्ट हो मिस्रवासियों ने अरबी पाशा के नेतृत्व में विद्रोह किया। वह विद्रोह दबा दिया और इससे 1882 ई. में इंगलैंड की प्रभुता दृढता से मिस्र पर कायम हो गई। फाशोदा-काण्ड के उपरान्त सूडान भी इंगलैंड के अधिकार में आ गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मिस्र में राष्ट्रवाद उग्र होता रहा और देशवासी अपने देश को ब्रिटेन के प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास करते रहे। इसी समय 1914 ई. में प्रथम विश्व-युद्ध प्ररम्भ हो गया। इसके परिणामस्वरुप मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ समय के लिए शिथिल पड़ गये।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय मिस्र-प्रथम विश्व-युद्ध में टर्की जर्मनी का सहयोगी था और उस समय तक मिस्र टर्की साम्राज्य का ही एंक अंग माना जाता था। युद्ध को जीतने तथा एशिया स्थित (विशेषतः भारत) अपने उपनिवेशों की सुरक्षा की दृष्टि से इंगलैंड को मिस्र पर अधिकार बनाये रखना अति आवश्यक था। उस समय मिस्र इंगलैंड की गर्दन के लिए एक फन्दा (noose) स्वरुप बन गया था। यदि इंगलैंड मिस्र पर अधिकार सुदृढ नहीं कर सकता तो दूसरी कोई महान् शक्ति उस फंदे को इंगलैंड की गर्दन पर कस सकती थी। अतः इंगलैंड ने पहला कार्य तो यह किया कि टर्की के समर्थक खदीव अब्बास हिल्मी को को पदच्युत कर अपने समर्थक को खदीव बनाया। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य ब्रिटेन ने यह किया कि मिस्र को टर्की साम्राज्य से पूर्ण रुपेण स्वतंत्र बना दिय।

युद्ध के समय मिस्र की सुरक्षा का भार इंगलैंड ने अपने हाथ लिया। परंतु युद्ध के समय जिस नीति से उन्होंने धन एकत्रित किया और मिस्रवासियों नाराज हो गये और 1919 ई. में उन्होंने भयंकर क्रान्ति कर दी। मिस्रवासियों ने हिंसा का सहारा लिया। उस रक्त-पात से ब्रिटिश सरकार इस परिणाम पर पहुंची कि मिस्र में शांति बनाये रखने के लिए हमें मिस्र के नेताओ से बातचीत करनी चाहिए। इस परिवर्तन का एक कारण यह भी था कि इस समय वहां मज़दूर सरकार (Labour Government) थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1922 ई.में इंगलैंड व मिस्र के बीच एक समझौता हुआ। उसकी शर्तें निम्नलिखित थी।

(1) ब्रिटेन द्वारा मिस्र को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया।

(2) स्वेज-नहर की सुरक्षा हेतु वहां ब्रिटिश सेना रखने की बात मिस्र द्वारा स्वीकार कर ली गई।

(3) मिस्र की विदेशी आक्रमण से सुरक्षा का उत्तरदायी ब्रिटेन द्वारा लिया गया।

(4) सूडान ब्रिटेन के साम्राज्यवाद का अंग बना रहेगा।

(5) मिस्र पर टर्की का संरक्षण नहीं रहेगा।

परंतु समझौते की इन सब शर्तों से भी मिस्रवासी संतुष्ट नहीं हुए। इसका प्रमुख कारण वफद-पार्टी का शक्ति में आना था। इसका नेता इस समय जागलुल पाशा था। वह बड़ा ही प्रभावशाली था। इसी के प्रयत्नों से मिस्र में

1923 ई. में संसदीय सरकार की स्थापना हुई। पर जागलुल पाशा इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ। इस समय टर्की मुस्तफा कमाल पाशा (Mustafa Kamal Pasha) के नेतृत्व में एक प्रजातंत्र राज्य बन चुका था। अतः वह मिस्र को भी ब्रिटिश प्रभुत्व से पूर्णरुप स्वतंत्र करा कर एक लोकतंत्र बनाना चाहता इंगलैंड की सरकार ने उसकी बात नहीं मानी। इसका परिणाम यह हुआ कि 1924 ई. में मिस्र में पुनः हिंसक क्रांति भड़क उठी। ब्रिटिश सेनापति सर ली स्टैक की हत्या करदी गई। मिस्र में पुनः संवैधानिक संघर्ष आरम्भ हो गया।

मिस्र का शासक फौद स्वभाव से निरंकुश शासक था। वह भी जागलुल पाशा का विरोधी था। अतः उसने संसद को भंग करके अपनी निरंकुश सरकार की स्थापना कर दी। परंतु चुनाव जब ही होते वफद पार्टी ही बहुमत से विजयी होती थी। जब 1927 ई. में जागलुल पाशा की मृत्यु हो गई तो उसका स्थान नहस पाशा ने ले लिया। उसने संसद में यह बिल पेश किया कि शासक कभी भी बिना संसद के शासन न चलाये। मिस्र के शासक ने उस बिल को पारित नहीं होने दिया। 1929 ई. जब मज़दूर-दल पुनः सत्ता में आया तो नहस पाशा 1930 ई. में पुनः इंगलैंड गया पर सूडान के मामले पर दोनों पक्षों में समझौते नहीं हो सका।

1934 ई. में निर्दलीय मुहम्मद तौफिक नसीम पाशा मिश्र का प्रधानमंत्री बना। 1935 ई. में इटली ने आबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। इस घटना ने विश्व को तो प्रभावित किया ही पर इससे इंगलैंड की मिश्र के प्रति कठोर नीति में भी परिवर्तन आ गया और इस परिवर्तन के फलस्वरुप ही अगस्त 1936 ई. में दोनों देशों (इंगलैंड व मिस्र) के बीच एक सन्धि सम्पन्न हुई। उस सन्धि की शर्तें निम्नलिखित हैः-

1. मिस्र की स्थिति अब पूर्णरुप से एक सम्पूर्ण प्रभुत्व गणराज्य की होंगी।

2. इंगलैंड अब मिस्र में कमिशनर नियुक्त नहीं करेगा। इसके स्थान पर दोनों देश एक दूसरे के यहां अपने-अपने राजदूत नियुक्त करेंगे।

3. मिश्र ने स्वेज-नहर के क्षेत्र में सुरक्षा की दृष्टि से ब्रिटेन की सेना रखना स्वीकार कर लिया। इस क्षेत्र के अलावा ब्रिटेन की सेना मिश्र में कहीं भी नहीं रहेगी।

4. सैनिक दृष्टि से दोनों देश एक दूसरे की सहायता करेंगे। मिस्र की सुरक्षा का उत्तरदायित्व इंगलैंड ने अपने ऊपर रखा।

5. मिश्र को यह भी स्वीकार करना पड़ा कि वह विदेशियों को सुरक्षा प्रदान करे तथा उनके साथ अनुचित व्यवहार न करे।

6. सूडान का प्रशासन इंगलैंड व मिश्र दोनों संयुक्त नियंत्रण में रहेगा।

यह सन्धि वास्तव में मिस्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण थी और इसमे मिस्र रिपब्लिक राज्य बनगया था। यह सन्धि बीस वर्ष के लिए की गई थी और इससे दस वर्ष उपरांत संशोधन होना था परंतु इस सन्धि की भी कुछ शर्तें मिस्रवासियों को पसंद नहीं आई। उनमें प्रमुख थी स्वेज नहर के क्षेत्र में अंग्रेजी सेनाओं का बना रहना। परंतु 1937 ई. मे जब मिस्र राष्ट्र संध का सदस्य बन गया तो मिस्रवासियों ने कुछ चैन की सांस ली। उधर आंतरिक रुप से भी मिस्र में शांति स्थापित हो गई थी क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने सम्राट फौद से देश में 1923 का संविधान लागू करवा लिया था इस सन्धि से मिस्रवासियों को केवल इतना ही असन्तोष था कि स्वेज-नहर के क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाएं नही हटी थीं। सेना हटाने की अवधि 20 वर्ष रखी गई थी और इस सन्धि के होने के तीन साल बाद ही द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ गया। युद्ध के कारण मिस्र पर अंग्रेजों का प्रभुत्व पुनः सुदृढ़ हो गया। संन्धि सम्पत्र होने के कुछ समय उपरान्त ही सम्राट फौद का तो देहान्त हो गया और उसके स्थान पर फारुक (Farouk) मिस्र का सम्राट बना था। युद्ध के समय तथा युद्धोपरान्त वह भी ब्रिटिश सरकार का समर्थक बना रहा और जब 1940-41 में जर्मनी व इटली की संयुक्त सेनाओं ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया तो मिस्र पूर्णतः ब्रिटिश संरक्षण मे चला गया। इस प्रकार 1936 की संन्धि द्वारा मिस्र की जो समस्या सुलझाई गई थी वह युद्धोपरान्त पुनः जटिल हो गई और मिस्रवासियों ने ब्रिटेन से मुक्ति के लिए अपना संघर्ष पुनः आरंभ कर दिया।

कांगो

अफ्रीका महाद्वीप को वहां के प्राकृतिक वातावरण के आधार पर पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं। उत्तरी अफ्रीका-इसके अधिकांश देश भू-मध्य सागर के तट पर स्थित थे। इस कारण वे यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की दृष्टि में आ चुके थे। इसका दूसरा प्राकृतिक भाग है-मध्य अफ्रीका। इस भाग में इस महाद्वीप का सहारा रेगिस्तान पश्चिम से पूर्व की और विस्तृत है। लीबिया व सूडान का दक्षिणी भाग भी इसी रेगिस्तान में आते हैं। रेगिस्तान भाग विस्तृत एवं भयानक है। इस रेगिस्तान के कारण ही अफ्रीका के मध्यवर्ती भाग के विषय में विश्ववासियों को 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक कोई जानकारी नहीं थी। परन्तु इंगलैंड निवासी डेविड लिविंगस्टन (David Livingstone) ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस सहारा रेगिस्तान को पार करने की हिम्मत की। वह बीस वर्ष तक इस दुर्दम्य रेगिस्तान के भागों की खोज-कार्य से जेम्बिसी एवं कांगो नदी के क्षेत्र भी नही बच सके। वह एक उत्साही धर्म-प्रचारक था। उसके इस खोज-कार्य के उपरान्त अन्य यूरोपीय उत्साही खोजकर्त्ताओं (बार्थ, वेगल, नाक्टिगाल) ने सूडान के रेगिस्तानी भागों की खोज की। इनके उपरान्त हेनरी मार्टन स्टेनली मध्य अफ्रीका में गया और उसने 1875-76 में कांगो नदी की घाटी तथा उसकी सहायक नदियों के क्षेत्र का अन्वेषण किया। अपनी कठिन यात्रा के उपरान्त उसने एक पुस्तक 'थ्रू दि डार्क कान्टीनेन्ट' (Through the Dark Continent) लिखी। इस पुस्तक के प्रकाशन के उपरान्त मध्यवर्ती अफ्रीका का पता चला। इसका तीसरा भाग है पश्चिमी अफ्रीका। चौथा भाग पूर्वी अफ्रीका तथा पांचवा भाग दक्षिणी अफ्रीका है। 1875 तक इस महाद्वीप का कुल 1/10 भाग ही यूरोप के साम्राज्यवादी देश अपने अधीनस्थ कर सके थे। परन्तु 1875 के उपरान्त यूरोप के साम्राज्यवादी देश इस पर ऐसे झपटे कि 1910 तक तो इसका बंटवारा पूर्ण हो गया।

अफ्रीका महाद्वीप के इस बंटवारे में स्टेनली की पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। जब बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय को स्टेनली की पुस्तक से कांगो (Congo) नदी की घाटी का पता चला तो उसने अफ्रीका के इस प्रदेश में रुची लेना आरंभ किया। लियोपोल्ड एक व्यापारी मस्तिष्क का सम्राट था। वह कांगो नदी की घाटी में अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करने लगा।

बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय द्वारा कांगो पर अधिकार करना उसकी एक बड़ी रुमानी कहानी है। उसने 1875 में स्टेनली को पुनः कांगो नदी की घाटी की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा। इधर अपनी राजधानी ब्रूसेल्स (Brussels) में उसने एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन का आयोजन 1876 में ही किया गया। इसमें कई विख्यात भूगोलवेता तथा अनुसंधान कर्त्ता उपस्थित हुए। इतिहासकार लैंगर (Langer) का कहना है कि इस सम्मेलन के माध्यम से लियोपोल्ड ने यह दर्शाना चाहा कि यह संगठन अफ्रीका की खोज के लिए गठित किया गया है।

लियोपोल्ड स्वयं इस सम्मेलन का अध्यक्ष बना और इसका नाम अन्तर्राष्ट्रीय अनुसंधान-संस्था (International Association for the Exploration and Civilization of Central Africa) रखा। इस सम्मेलन में निश्चित किया गया कि इस संस्था के अन्तर्गत् प्रत्येक राज्य में अलग-अलग समितियां गठित की जायें जो अपने क्षेत्र में सभा के उद्देश्यों को पूरा करने का कार्य करें। इस सभा का अन्तर्राष्ट्रीय रुप एवं नैतिक उद्देश्य शीघ्र ही लुप्त हो गया और प्रत्येक राज्य केवल अपने हितों के लिए कार्य करने लगा।

1878 में स्टेनली को कांगो के प्रदेशों की खोज के लिए पुनः लियोपोल्ड ने भेज ही दिया था। परन्तु जब वह 1879 में वहां पहुंचा तो वहां फ्रांसीसी डी ब्राजा (De-Brazza) को देख कर वह आश्चर्य चकित हो गया। डी ब्राजा ने वहां के स्थानीय सम्राट से मिल कर कांगो नदी के उत्तरी भाग पर फ्रान्स का प्रभुत्व स्थापित कर दिया था और बाद में यही फ्रेंच कांगो (French Congo) कहलाया। परन्तु स्टेनली वहां चार साल (1879-82) तक जमा रहा और वहां के निवासियों को फुसला कर उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के संरक्षण में रहने को तैयार कर लिया। स्टेनली ने कांगो नदी का दक्षिणी भाग सम्राट लियोपोल्ड के प्रभुत्व में ला दिया। उसका नाम 'लियोपोल्ड विले कांगो' रखा।

स्टेनली मूल रुप से इंग्लैण्डवासी था। अतः वह चाहता था कि इंग्लैण्ड भी कांगो के कुछ प्रदेश पर अधिकार करले। परन्तु इंग्लैण्ड उस समय पूर्वी समस्या मे उलझा हुआ था। अतः इंग्लैण्ड ने पुर्तगाल को वहां अपना प्रभाव स्थापित करने को प्रोत्साहित किया और पुर्तगाल ने फरवरी 1984 को कांगो नदी के मुहाने पर अधिकार कर लिया। इंग्लैण्ड ने पुर्तगाल की इस कार्यवाही का समर्थन कर दिया। इस प्रकार लियोपोल्ड द्वितीय ने सर्वप्रथम अफ्रीका के विभाजन की

प्रक्रिया को आरंभ किया। इसके उपरान्त फ्रान्स, इटली, पुर्तगाल, ब्रिटेन व जर्मनी भी इस महाद्वीप की लूट में सम्मिलित हो गये। चालीस वर्ष के अन्तराल में सिवाय एबीसीनिया और लाइबेरिया के सारा अफ्रीका बांट लिया गया।

कांगो यूरोप के देशों में झगड़े का कारण बना-पुर्तगाल ने ज्यों ही कांगो नदी के मुहाने पर अधिकार किया कि लियोपोल्ड नाराज हो गया; क्योंकि इससे 'कांगो फ्री स्टेट' का समुद्री तट से सम्बंध विच्छेद हो गया। उधर मिस्र के सन्दर्भ में इंग्लैण्ड व फ्रान्स के सम्बंध बिगड़ रहे थे। इस कारण फ्रान्स ने भी पुर्तगाल के विरुध बेल्जियम का समर्थन कर दिया। हालांकि पुर्तगाल ने कांगो नदी में सभी देशों को व्यापार करने की स्वतन्त्रता का आश्वासन दे दिया था। इस पर भी फ्रान्स व बेल्जियम इंगलैंड व पुर्तगाल के बीच हुए समझौते का समर्थन नहीं कर सके। इसी अन्तराल में जर्मनी भी फ्रांस व बेल्जियम के समर्थन पर आ गया। इस समय इंगलेंड व जर्मनी के सम्बंध भी खराब हो गये थे, क्योंकि इंग्लैण्ड ने जर्मनी द्वारा ऐंग्रापिक्वेना (Angra Piquena) पर अधिकार करने का समर्थन नहीं किया था। इस प्रकार जर्मनी, फ्रान्स व बेल्जियम ने आंगल-पुर्तगीज (Anglo-Portugese) समझौते को आमान्य कर दिया। बिस्मार्क ने जुलाई 1884 में इस समस्या पर विचार करने हेतू एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की मांग की। यह सम्मेलन बर्लिन में तीन मास तक चला। इसमें लिए गये निर्णयों का वर्णन हम पीछे कर आये हैं।

हालांकि इस अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे लिए गये निर्णय महत्वपूर्ण थे। परन्तु उन पर पूरी तरह से अमल नहीं किया गया। लियोपोल्ड का इस सम्मेलन पर प्रभुत्व रहा। अतः इस सम्मेलन के माध्यम से निर्मित 'कांगो फ्री स्टेट' चिरकाल अन्तर्राष्ट्रीय न रह कर शीघ्र ही लियोपोल्ड का व्यक्तिगत राज्य बन गया। बेल्जियम की संसद ने भी उसे लियोपोल्ड का व्यक्तिगत राज्य मान लिया। लियोपोल्ड अधीनस्थ कांगो प्रदेश में हाथी दांत और रबड़ बहुतायत से उपलब्ध थे। इस कारण लियोपाल्ड ने इससे अरबों रुपये कमाये यहां के नागरिकों से सम्राट लियोपोल्ड ने काम तो बहुत लिया पर यहां की आय का उसने उनको कुछ नहीं दिया। अतः स्पष्ट है कि सम्राट लियोपोल्ड ने 'कांगो की स्टेट' के निवासियों का भारी शोषण किया। हालांकि बर्लिन सम्मेलन में यहां के निवासियों के भले के कार्य करने तथा उन्हें दासता से मुक्त करने का भी निर्णय लिया गया था; परन्तु ये निर्णय कार्यन्वित नहीं किये गये। इसके विपरीत लियोपोल्ड ने स्त्रियों को बन्धक के रुप में रखा ताकि उनके मर्द काम करते रहें। पुरुषों के काम न करने पर उनकी स्त्रियों को नाना प्रकार की यातनाएं दी जाती थी। लियोपोल्ड ने अपनी क्रूर शोषण की नीती से हजारों मूल निवासियों को फांसी पर लटकवा दिया। लियोपोल्ड के जुल्मों का परिणाम यह हुआ कि हजारों मूल निवासी अपने जन्म-स्थानों को छोड़ कर अन्यत्र चुने गये। इस पर लियोपोल्ड ने 'कांगो फ्री स्टेट' को बेल्जियम की संसद की अध्यक्षता में रहने का प्रावधान 1908 में किया था। इस समय तक लियोपोल्ड अपने दारुण जुल्मों के लिए यूरोप में काफी बदनाम हो गया था। तब भी लियोपोल्ड ने बेल्जियम की संसद से इसके बदले 5 करोड़ बेल्जियम की मुद्रा ली थी। यह (बेल्जियम कांगो) बन जाने के उपरान्त भी बेल्जियम सरकार से शोषित होता रहा। लियोपोल्ड के ये सारे कार्य बर्लिन सम्मेलन के निर्णयों के विरुद्ध थे। परन्तु उस समय लियोपोल्ड के विरुद्ध बोलने का किसी मे साहस नहीं था।

जब बर्लिन सम्मेलन के निर्णयों के अनुसार लियोपोल्ड सम्राट ने अपने कांगो राज्य मे दास-व्यापार को बन्द नहीं किया तो ब्रिटेन के सुझाव पर बेल्जियम के राजधानी ब्रुसेल्स में यूरोप के 17 देशों को एक सम्मेलन और बुलाया गया। इस सम्मेलन में दास-व्यापार को बन्द करने का पुनः निर्णय लिया गया और इस निर्णय को 'ब्रुसेल्स अधिनियम' (Brussels Act) की संज्ञा दी गई। इसके अनुसार अरब व्यापारियों द्वारा संचालित 'दास-व्यापार' समाप्त करने की दिशा में कदम उठाया गया।

इसी प्रकार इंग्लैण्ड और संयुक्त-राज्य-अमेरिका के विरोध करने पर भी जब लियोपोल्ड ने 'कांगो फ्री स्टेट' के निवासियों पर अत्याचार करना बंद नहीं किया तो वह यूरोपीय देशों में काफी बदनाम हो गया था और इस बदनामी से घबरा कर उसने 1908 में अपने व्यक्तिगत राज्य को अपनी बेल्जियम सरकार को हस्तान्तरित किया था और इसकी वसीयत 1889 में उसने लिख दी थी।

जैसा कि प्रारंभ में ही बताया जा चुका है कि फ्रान्स ने भी कांगो नदी का उत्तरी भाग अपने अधीनस्थ किया था। फ्रान्स की सरकार ने अपने अधीनस्थ कांगो में अधिक जुल्म नहीं किये। 1911 में फ्रान्स सरकार ने अपने कांगो-स्टेट का बहुत सा भाग जर्मनी को दे दिया था। इसके बदले फ्रान्स सरकार ने जर्मनी से यह वायदा करा लिया था कि वह मोरक्को के प्रश्न पर फ्रान्स का विरोध नहीं करेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कांगो 19 वीं सदी के अन्तिम दशकों में यूरोपीय साम्राज्यवाद का ग्रास बन गया। परन्तु कांगो यूरोपीय साम्राज्यवाद की क्रूरता की कहानी प्रस्तुत करता है। प्रथम तो यह बोल्जियम को सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय की व्यक्ति संपदा के रुप में गुलाम रहा। सम्राट ने अपनी निजी खजाने को भरने की दृष्टि से अपने कांगो राज्य का भारी शोषण किया। मूल निवासियों पर क्रूर जुल्म किये। पुरुषों को कठोर व कम मजदूरी पर काम करने को विवश करने के लिए उनकी स्त्रियों को बन्धक रुप में उसने रखा। उसने गुलामों के व्यापार पर नियन्त्रण नहीं लगाया। वहां के सरदारों व आम लोगों को किस प्रकार बातों में फुसला कर मूर्ख बनाया था? लियोपोल्ड ने अपने शोषण की दारुण नीती से स्थानीय लोगों को विदेशी बना दिया तथा विदेशियों को वहां का निवासी बना दिया। आज यह कांगो दो राष्ट्रों के रुप में विधमान है। इसे अपनी स्वतन्त्रता के लिए भारी कुर्बानी करनी पड़ी है और इसकी स्वतन्त्रता में संयुक्त राष्ट्र-संघ के भी सद् प्रयासों व बलिदान की कहानी अन्तर्निहित है।

भाग दो

अध्याय : 10 इंग्लैण्ड में उदारवाद (Liberalism in England)

इंग्लैण्ड में 1688 ई॰ में शानदार क्रांति हुई तथा संसद की शक्तियों में काफी वृद्धि हुई लेकीन सबके बावजुद संसद सही मायने में जन-प्रतिनिधि सभा नहीं बन पाई। इसके सदस्य जन साधारण द्वारा न चुने जाकर अब भी धनी तथा कुलीनों द्वारा ही चुने जाते थे।

औद्योगिक क्रांति के बाद नये औद्योगिक नगरी का निर्माण हुआ तथा गांवों के बहुत से लोग इन नगरों में आकर बस गये। परंतु इन नये नगरों को संसद में कोई भी प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं था। इसलिए संसद में सुधारों की मांग की जाने लगी। फ्रांसीसी क्रांति तथा इंग्लैण्ड के फ्रांस-विरोधी युद्धों के कारण 1789 ई॰ से 1815 ई॰ के मध्य देश सरकार तथा लोगों का ध्यान विदेशी मामलों की तरफ लगा रहा। नेपोलियन की पराजय के पश्चात् यूरोप में शांति की स्थापना हो गई। परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में संसद सम्बन्धी सुधारों की माँग जोर पकड़ने लगी। 1832 ई॰ में पास हुए सुधार एक्ट से देश में संसदीय सुधारों का सिलसिला आरम्भ हुआ जो 1928 ई॰ तक चलता रहा। इन सुधारों के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में पूर्ण प्रजातंत्र स्थापित हो गया और देश की संसद जनता की वास्तविक प्रतिनिधि सभा बन गई।

1832 ई॰ से पूर्व इंग्लैंड की संसद-प्रणाली में दोष

यद्यपि 1688 ई॰ की शानदार क्रांति के पश्चात् इंग्लैंड में संसद की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी, तथापि यह संसद वास्तविक रूप में देश की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। देश के नागरिक प्रचलित दोष-पूर्ण चुनाव प्रणाली में असंतुष्ट थे तथा इसमें सुधार लाने के लिए उत्सुक थे। 1832 ई॰ में पास हुए सुधार एक्ट से पूर्व संसद की निर्वाचन-व्यवस्था में पाये जाने वाले दोषों का विवरण निम्नलिखित हैं:-

(i) सीमित मत-अधिकार:- बरतानवी संसद देश के आम लोगों का प्रतितिधित्व करने की अपेक्षा केवल कुछ बड़े-बड़े ज़मीदारों एवं अमीरों का ही प्रतिनिधित्व करती थी क्योंकि उन्हें ही वोट देने तथा चुनाव लड़ने का अधिकार प्राप्त था : साधारण वर्ग के लोगों को ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं था। उदाहरणस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में वोट डालने का अधिकार (1430 ई० में पास हुए एक कानून के अनुसार) केवल उन लोगों को ही प्राप्त था जो कम से कम 40 शिलिंग वार्षिक लगान की भूमि के स्वामी थे। शहरी क्षेत्रों में मत अधिकार एक जैसा नहीं था केवल कुछ निश्चित सम्पत्ति के स्वामियों अथवा सरकार को निश्चित कर देने वाले व्यक्तियों को ही यह अधिकार प्राप्त था।

(ii) नये औद्योगिक नगरों को प्रतिनिधित्व प्राप्त न होना:- औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप बहुत से नये तथा अधिक जनसंख्या वाले नगर (मानचेस्टर, बर्मिंघम, लीड्ज़ इत्यादि) अस्तित्व में आए थे परंतु प्रचलित पुरातन चुनाव व्यवस्था के अनुसार इन नगरों को संसद में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था।

(iii) पुराने नगरों को अधिक प्रतिनिधित्व:- बहुत से पुराने नगर (जैसे ओल्ड सैरूम, गैटन, डान्चिच इत्यादि), जिनकी जनसंख्या अब बहुत कम हो गयी थी, उजड़े क्षेत्र बन कर रह गये थे। इन क्षेत्रों को संसद में दो-दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इस प्रकार इन क्षेत्रों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त था।

(iv) ज़मीदारों का चुनाव-क्षेत्रों में प्रभुत्व:- देश के अधिकतर चुनाव-क्षेत्रों, विशेष रूप से 'पाकेट बरो' तथा उजड़े बरो पर बड़े-बड़े ज़मीदारों का प्रभुत्व कायम था। पाकेट बरो में आम तौर पर एक ही ज़मीदार समस्त क्षेत्र का स्वामी होता था और वह अपनी इच्छा के अनुसार जिसे चाहे संसद में भेज सकता था। उजड़े बरो ऐसे क्षेत्र थे जिनकी जनसंख्या इतनी कम होती थी कि वहाँ का धनी ज़मीदार सुगमतापूर्वक सभी वोटरों को रिश्वत देकर उनकी वोट खरीद सकता था अथवा उन्हें अपनी ओर कर सकता था।

बड़े-बड़े बिग ज़मीदार परिवारों ने इस पाकेट तथा उजड़े बरो का पूरा लाभ उठाते हुए स्थिति को और भी गम्भीर बना दिया था। ड्यूक ऑफ नारफ़ोक नामक एक अमीर ज़मीदार ने अकेले ही संसद में 11 सदस्य तथा ड्यूक आफ रूटलैण्ड ने छः सदस्य भेजे थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ऐसी स्थिति थी कि देश के लगभग 154 जमींदारों को संसद के निम्न संसद में 307 सदस्य भेजे थे। इस प्रकार संसद देश के मुट्ठी भर ज़मीदारों की संस्था बन कर रह गई थी।

(v) रिश्वत तथा बेईमानीः- कई चुनाव क्षेत्रों में वोटरों की संख्या बहुत कम होने के कारण धनी उम्मीदवार को रिश्वत देकर उनसे वोट खरीद लेते थे। कई क्षेत्रों में चुनाव अनेक दिनों तक चलते रहते थे तथा वोटों की गिनती भी साथ-साथ चलती रहती थी। परिणमस्वरूप जो उम्मीदवार पराजित होने लगता था वह धन का प्रयोग करके शेष वोटरों को अपनी ओर करने का प्रयत्न करता था। बड़ी-बड़ी धन राशियाँ व्यय करने के पश्चात् विजयी उम्मीदवारों से ईमानदार होने की आशा नहीं की जा सकती थी।

(vi) गुप्त वोट व्यवस्था का अभावः-चुनाव प्रणाली का एक अन्य दोष गुप्त वोट व्यवस्था का न होना था। वोट सबके सामने ड़ाले जाते थे जिसके परिणामस्वरूप नौकर अपने स्वामी के विरूद्ध, किसान अपने ज़मीदार के विरूद्ध, किरायेदार अपने मकान मालिक के विरूद्ध तथा कमज़ोर शक्तिशाली के विरूद्ध वोट ड़ालने का साहस नहीं करता था। इस व्यवस्था के अधीन रिश्वत लेने वाला वोटर उम्मीदवार को धोखा नहीं दे सकता था।

(vii) स्त्रियों को वोट अधिकार से वंचित रखनाः- इस चुनाव प्रणाली में एक बहुत बड़ा दोष स्त्री को वोट अधिकार से वंचित रखना था। अंग्रेज़ी समाज में पुरूषों का ही प्रभुत्व स्थापित था और स्त्रियों को देश के राजनीतिक एवं समाजिक जीवन में कोई स्थान प्राप्त नहीं था। इसके अतिरिक्त, 1678 ई॰ के टेस्ट एक्ट के अनुसार कैथोलिक धर्म मानने वाले व्यक्तियों को चुनाव लड़ने का अधिकार प्राप्त नहीं था।

(viii) संसद के सदस्यों को कोई वेतन न मिलनाः- 1832 ई॰ से पूर्व की संसदीय-प्रणाली में एक दोष यह था कि संसद सदस्यों को कोई वेतन नहीं मिलता था जिसके कारण साधारण वर्ग के लोग इसकी ओर आकर्षित नहीं होते थे तथा अमीर वर्ग के कुलीन लोग ही इसके सदस्य बनने के इच्छुक होते थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली अति दोषपूर्ण थी। 1763 ई॰ में इस प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए छोटे पिट् ने इसके बारे में ठीक ही कहा था, "यह संसद बरतानिया के लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु यह नाम-मात्र के क्षेत्रों, उजड़े और नष्ट हो गये नगरों, कुलीन परिवारों, अमीर व्यक्तियों तथा प्रभावशाली विदेशियों का ही प्रतिनिधित्व करती है।"

संसदीय सुधारों के लिये आरम्भिक प्रयत्न

इंग्लैंड की इस दोषपूर्ण प्रणाली के विरूद्ध आवाज़ उठाने वाला पहला व्यक्ति जॉन लॉक था। उसने 1689 ई॰ में देश में संसदीय सुधारों की ज़ोरदार माँग की परंतु उसकी माँग की ओर ध्यान नहीं दिया गया। 18वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध में बोलिंगब्रोक तथा डैशवुड जैसे सुधारकों ने इंग्लैण्ड की दोषपूर्ण संसदीय प्रणाली के विरूद्ध प्रचार किया परंतु विगो की शक्ति एवं एकता के कारण इन्हे कोई सफलता प्राप्त न हो सकी 1714-1760 ई॰ के मध्य विग पार्टी के प्रभुत्व तथा उसके स्वार्थी हितों के कारण सुधारों के समर्थकों को कोई सफलता प्राप्त न हो सकी।

संसदीय सुधारों के लिए क्रमानुसार एवं संगठित आंदोलन जार्ज तृतीय के शासन-काल में 1760 ई॰ में आरम्भ हुआ। इस समय टोरी दल ने विग दल की शक्ति नष्ट करके संसद को अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। बडा पिट् संसदीय सुधारों के लिए आवाज़ उठाने वाला प्रथम महान नेता था जिसने उजड़े नगर क्षेत्रों के स्वामियों का प्रभाव कम करने के उद्देश्य से ग्रामीण क्षेत्रों के सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने की ज़ोरदार माँग की। कुछ समय के पश्चात् विल्कीज़ ने देशवासियों को संसदीय प्रणाली में प्रचलित दोषों से परिचित करवाया।

सुधार संघ तथा फाक्सः-1780 ई॰ में हार्न टुक जॉन कार्टराईट तथा विलियम जोन्ज़ के सहयोग से 'संवैधानिक सुधार समर्थन संघ' की स्थापना की जिसका उद्देश्य संसद सम्बन्धी दोषों को दूर करना था। लगभग इसी समय फॉक्स ने एक समागम की अध्यक्षता करते हुए चुनाव क्षेत्रों में एकरूपता, संसद के उम्मीदवारों के लिये सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं का अंत, सर्वव्यापक बालिंग वोट अधिकार तथा गुप्त वोट व्यवस्था इत्यादि की माँग की।

छोटे पिट् के प्रयत्नः- अपने पिता की भांति छोटा पिट भी आरम्भ में संसदीय सुधारों का उत्साही सम्पर्क था। इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री बनने से पहले उसने 1782 ई॰ में सुधार सम्बन्धी एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया परंतु इस प्रस्ताव को बहुमत प्राप्त न हो सका। प्रधानमंत्री बनने के पश्चात् उसने 1785 ई॰ में सम्बन्ध में एक विल पेश किया। परंतु यह बिल भी पास न हो सका। फ्रांसीसी क्रांति के पश्चात् जब फ्रांस में 1793 ई॰ में आतंक शासन स्थापित हुआ तो वह सुधारों का विरोधी एवं एक प्रतिक्रियावादी बन गया। इसके पयचात् उसने सुधार सम्बन्धी सभी प्रस्तावों तथा विलों का विरोध किया।

1793-1815 ई॰ के मध्य इंग्लैण्ड फ्रांस-विरोधी युद्धों में उलझा रहां इन वर्षों में इंग्लैण्ड की सरकार तथा जनता की समस्थ शक्ति विदेशी युद्धों में लगी रही जिसके कारण संसद सम्बन्धी सुधारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा सका। 1815 ई॰ में महाद्वीप में शान्ति स्थापित हो जाने के पश्चात् इंग्लैण्ड में सुधार आंदोलन का आरंभ हुआ जिसके परिणामस्वरूप 1832 ई॰ में प्रथम सुधार एक्ट पास हुआ।

(क) 1832 ई० का सुधार एक्ट

1832 ई॰ का सुधार एक्ट इंग्लैण्ड के संवैधानिक इतिहास में एक महान् घटना मानी जाती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इस एक्ट के पास होने से इंग्लैण्ड में क्रांति आ गई और शताबदियों का प्रचलित दोषपूर्ण संसदीय व्यवस्था का अंत हो गया। यद्यपि यह विचार पूर्ण रूप से ठीक प्रतीत नहीं होता, तथापि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस एक्ट ने सुधारों का एक ऐसा सिलसिला आरंभ कर दिया जिसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

(क) एक्ट के पास होने के कारण अथवा परिस्थितियाँ

(i) प्रारम्भिक यत्नः- जैसा कि पिछले भाग बताया गया है, 18वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के कई नेताओं ने संसदीय सुधारों का प्रचार किया था। बड़े पिट, फॉक्स, जॉन विल्कीज़ और छोटे पिट जैसे राजनीतिज्ञों ने समय-समय पर संसदीय प्रणाली में प्रचलित दोषों के विरूद्ध आवाज़ उठाई थी तथा इसमें सुधार लाने के प्रयत्न भी किये थे। परंतु उन्हें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। फिर भी उन्होंने इंग्लैण्ड के लोगों को संसदीय प्रणाली में दोषों से परिचित अवश्य करवा दिया था। फ्रांसीसी क्रांति तथा नेपोलियन-विरोधी युद्धों ने इंग्लैण्ड में संसदीय सुधारों के कार्यक्रम को 25 वर्ष पीछे डाल दिया।

(ii) सुधार संघों की गतिविधियांः- नेपोलियन के विरूद्ध युद्धों के दौरान में कुछ ऐसे संघ (London Correspondence Society, friends of people society) थे जो संसद सम्बन्धी सुधारों का प्रचार करते रहे। 1815 ई॰ में यूरोप में शांति स्थापित हो जाने के पश्चात् इस संघों में सुधारों सम्बन्धी अपनी गतिविधियां तेज़ कर दीं। इन संघों के प्रयत्नों ने इंग्लैण्ड के लोगों को संसदीय प्रणाली में प्रचलित दोषों को दूर करने की आश्यकता अनुभव करवा दी।

(iii) विलियम चौथे का सम्राट बननाः- 1830 ई॰ में जार्ज चौथे की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर उसका भाई विलियम चौथा इंग्लैण्ड का सम्राट बन गया। जार्ज चौथा संसदीय सुधारों का विरोधी था किन्तु नया सम्राट संसद में उचित सुधार करने के पक्ष में था।

(iv) *द्वितीय फ्रांसीसी क्रांति का अभावः-* जुलाई 1830 ई॰ में फ्रांस में द्वितीय क्रांति हुई। इसके परिणामस्वरूप बूर्बों वंश के सम्राट चार्लस दशम को राजगद्दी से उतार दिया गया और उसके स्थान पर ओरलियन्ज़ वंश के लुई फिलिप को फ्रांस का सम्राट बना दिया गया। इस प्रकार फ्रांस में गणतंत्र की स्थापना हुई। इस क्रांति का यूरोपीय देशों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इंग्लैण्ड के लोगों को भी इस क्रांति ने बहुत प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड में संसदीय सुधार आंदोलन ज़ोर पकड़ गया।

(v) ग्रेय का प्रधानमंत्री बननाः- नवम्बर 1830 ई॰ में टोरी पार्टी का नेता ड्यूक आफ वालिंगटन प्रधान मंत्री के पद सेहट गया क्योंकि वह संसद के निम्न सदन (House of Commons) में बहुसंख्या का विश्वास खो बैठा था। सम्राट् ने अब विग दल के नेता अर्ल आफ ग्रेय (Earl of Grey) को प्रधानमंत्री बना दिया और मंत्रिमण्डल का निर्माण करने का आदेश दिया। ग्रेय संसद में सुधार करने का उत्साही समर्थक था।

(vi) प्रथम बिल, मार्च, 1831 ई॰:- लार्ड ग्रेय ने प्रधानमंत्री बनते ही जॉन रसैल के नेतृत्व में सुधार बिल का खरड़ा तैयार करने के लिए एक कमेंटी स्थापित की। मार्च 1831 ई॰ में जॉन रसैल ने एक बिल पेश किया परंतु विपक्षियों के कड़े

विरोध के कारण वह बिल कमेंटी स्टेज पर ही रद्द हो गया। लार्ड ग्रेय ने अब सम्राट विलियम को संसद भंग करने तथा नये चुनाव करवाने का परामर्श दिया। परिणामस्वरूप नये चुनाव हुये जिनमें विग पार्टी को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

(vii) दूसरा बिल, जून 1831 ई॰:- देशवासियों से प्राप्त हुये भारी समर्थन से उत्साहित होकर लार्ड ग्रेय ने जून 1831 ई॰ में दूसरी बार सुधार बिल पेश किया। इस बार यह बिल निम्न सदन में पास हो गया परंतु ऊपरी सदन, जिस में अभी भी टोरी दल को बहुमत प्राप्त था, ने इस बिल को रद्द कर दिया। इससे उदारवादीयों को भारी निराशा हुई। देश के कई भागों में दंगे-फसाद हुए और कई बड़े-बड़े ज़मीदारों के घरों को आग लगा दी गई।

(viii) तीसरा बिल, मार्च 1832 ई॰:- मार्च 1832 ई॰ में जॉन रसैल ने तीसरी बार सुधार बिल पेश किया। इसे निचले सदन ने तो पास कर दिया परंतु ऊपरी सदन ने फिर इसका विरोध किया। अब लार्ड ग्रेय सम्राट को ऊपरी सदन में कुछ बिग सदस्य मनोनीत करने का परामर्श दिया ताकि यह बिल पास हो सके। सम्राट विलियम द्वारा इस परामर्श को ठुकराये जाने पर लार्ड ग्रेय ने प्रधानमंत्री के पद से त्याग पत्र दे दिया। सम्राट ने अब वलिंगटन को मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने को कहा परंतु वह ऐसा करने में सफल न हो सका। विलियम चौथे ने अन्ततः लार्ड ग्रेय को वापस बुलाया तथा 50 नये कुलीन सदस्य मनोनीत करने का निर्णय किया। टोरी दल यह नहीं चाहता था कि 50 नये विग कुलीन ऊपरी सदन में नामज़द किये जाए। इस लिए दल ने विल के पास हो जाने का निर्णय कर लिया। 4 जून को सुधार बिल ऊपरी सदन में फिर पेश किया गया तब ड्यूफ आफ वलिंगटन बुद्धिमता से काम लेते हुए अपने 100 साथियों सहित सदन से उठकर बाहर चला गया। 7 जून 1832 ई॰ को सम्राट की अनुमति के उपरान्त इस बिल ने एक्ट का रूप धारण कर लिया।

(ख) एक्ट की मुख्य धारायें

1832 ई॰ का सुधार एक्ट एक लम्बा सरकारी पत्र था जिसकी 82 धारायें थीं। इस एक्ट का प्रथम उद्देश्य क्रांति के परिणामस्वरूप हुए आर्थिक विकास के आधार पर देश के भिन्न-भिन्न भागों की चुनाव-व्यवस्था निश्चित करना था और उसका दूसरा उद्देश्य वोट अधिकार को अधिक विस्तृत करना था। इस एक्ट की प्रमुख धाराओं का विवरण निम्नलिखित शीर्षकों में करना उचित होगाः-

(A) वोट अधिकार छीनने सम्बन्धी धारायें

(i) 56 ऐसे नगर चुनाव क्षेत्रों जिनकी जनसंख्या 2 हज़ार से कम थी (जैसे ओल्ड सैरूम, गैटन, डान्विच इत्यादि) को पूर्णतः वोट के अधिकार से वंचित कर दिया गया। अब ये क्षेत्र संसद के निचले सदन में अपना कोई भी प्रतिनिधि नहीं भेज सकते थे।

(ii) 2 हज़ार से 4 हज़ार के बीच जनसंख्या के 30 नगर-क्षेत्र (विल्टन, मेंल्मबरी इत्यादि), जिन्हें पहले दो-दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था, अब केवल एक-एक प्रतिनिधि ही भेज सकते थे। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप निचले सदन की 142 सीटें खाली हो गईं जिनका विभाजन नये क्षेत्रों में किया गया।

(B) वोट अधिकार देने सम्बन्धी धारायें

(i) नगर चुनाव क्षेत्रों में वोट अधिकार सम्बन्धी नियमों में एकरूपता लाई गई। नगरों में 10 पौंड से अधिक मकान का किराया देने वाले व्यक्तियों अथवा इस राशि के मकानों के स्वामियों को वोट का अधिकार दिया गया।
(ii) ग्रामीण क्षेत्रों में कम से कम 40 शिलिंग वार्षिक लगान वाली भूमि के स्वामियों के अतिरिक्त 10 पौंड किराया देने वाले कच्चे मुज़ारों और ठेकेदारों को भी वोट का अधिकार दिया गया।

(C) सीटों के पुर्न-विभाजन सम्बन्धी धारायें

142 सीटों, जो जो पुराने चुनाव क्षेत्रों से ले ली गई थी, का पुनः विभाजन इस प्रकार किया गयाः-

(i) ग्रामीण क्षेत्रों को 65 और सीटें दे दी गईं जिसके फलस्वरूप इनकी संख्या 94 से बढ़कर 159 हो गई।

(ii) 42 नये औद्योगिक नगरों (मानचेस्टर, लंकाशायर इत्यादि) को प्रतिनिधित्व दिया गया। इनमें से 22 नगरों को दो-दो सदस्य तथा 20 नगरों को एक-एक सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार कुल 64 सीटें नये नगरों को प्राप्त हो गईं।

(iii) स्काटलैंड के नगरों को 8 तथा आयरलैंड के नगरों को 5 और सीटें प्रदान की गई।

संसद के निचले सदन की कुल सीटें 658 ही रहीं जो 1832 ई॰ के एक्ट से पहले थी। परंतु इस एक्ट के पश्चात् ग्रामीण क्षेत्रों की कुल सीटें 188 से बढ़ कर 253 हो गईं जबकि नगर क्षेत्रों की कुल सीटें 465 से कम हो कर 405 रह गई। यद्यपि नगर क्षेत्रों की सीटें आगे से कम हो गईं, तथापि 1832 ई॰ के एक्ट से उन्हें अधिक लाभ हुआ। जहां ग्रामीण क्षेत्रों के 4,64,000 वोट देने वाले व्यक्तियों ने 253 सदस्यों का चुनाव करना था वहाँ नगर-क्षेत्रों के 3,49,000 वोट देने वाले व्यक्तियों ने 405 सदस्यों का चुनाव करना था।

(D) चुनाव व्यवस्थाओं में सुधार सम्बन्धी धारायें

प्रत्येक चुनाव से पूर्व वोट देने वालों के नामों का रजिस्टर तैयार करने की व्यवस्था कि गई। वोट के अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति का नाम इस रजिस्टर में दर्ज किया जाना होता था ताकि वोट अधिकार के प्रयोग के समय किसी प्रकार के धोखे की सम्भावना न रह सके।

सुधार एक्ट का महत्त्व

1832 ई॰ का सुधार एक्ट इंग्लैण्ड में संवैधानिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। प्रसिद्ध इतिहासकार ट्रेविलियन ने इसे आधुनिक मैगना कार्टा कह की इसकी प्रशंसा की है। कई विद्वानों का कहना है कि यह घटना किसी क्रांति से कम नहीं थी। इसने किसी सम्राट् को राजसिंहासन से उतारे बिना राजवंश में कोई तबदीली लाये बिना ही एक महान् परिवर्तन ला दिया। यह एक्ट समकालीन फ्रांसीसी क्रांति से भी अधिक प्रभाव युक्त सिद्ध हुआ। फ्रांस में 1830 ई॰ की क्रांति के उपरांत 200 व्यक्तियों के पीछे एक को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ था परंतु 1832 ई॰ के एक्ट ने इंग्लैण्ड में 30 व्यक्तियों के पीछे एक को वोट का अधिकार प्रदान कर दिया। इस एक्ट ने राजनीतिक शक्ति उच्च वर्ग के ज़मीदारों से छीन कर मध्य वर्ग के लोगों के हाथों में सौंप दी। इस सुधार एक्ट का महत्त्व निम्नलिखित है:-

(i) राजनितिक शक्ति का कुलीन वर्ग से मध्य वर्ग के पास आना:- इस एक्ट के पास हो जाने से राजनीतिक शक्ति ज़मीदारों तथा कुलीनों के हाथों से निकल कर मध्य वर्ग के पास आ गईं अब नगरों में मकान के स्वामियों के साथ-साथ किरायेदारों तथा ग्रामों में जमींदारों के साथ-साथ किसानों को भी वोट का अधिकार प्राप्त हो गया। यद्यपि एक्ट द्वारा मज़दूर वर्ग तथा साधारण वर्ग के लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त न हो सका, तथापि यह कहा जा सकता है कि यह एक्ट कुलीनतंत्र से प्रजातंत्र की ओर प्रथम महत्त्वपूर्ण कदम था।

(ii) नये नगरों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना:- 1832 ई॰ से पूर्व इंग्लैण्ड में अनेक उजड़े नगरों तथा नष्ट हो चुके ग्रामों के प्रतिनिधित्व प्राप्त था जबकि उत्तर में बसे बहुत से बड़े-बड़े नगरों को कोई भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। 1832 ई॰ के एक्ट ने इस दोषपूर्ण व्यवस्था का अन्त कर के जनसंख्या के आधार पर नये औद्योगिक नगरों को संसद में प्रतिनिधित्व प्रदान किया।

(iii) पुरातन व्यवस्था को वोट:- इस एक्ट ने इंग्लैण्ड में प्रचलित पुरातन व्यवस्था को गहरी चोट लगाई और प्रजातंत्र के लिए मार्ग साफ कर दिया। यह ठीक है कि इस एक्ट से इंग्लैण्ड में पूर्ण प्रजातंत्र न हो सका और न ही वोट अधिकार लोगों को प्राप्त हो सका। परंतु इस एक्ट ने देश के प्रजातंत्र के विकास के द्वार सदा के लिए खोल दिए। इस एक्ट ने इंग्लैण्ड में प्रचलित संवैधानिक परम्पराओं को तोड़ दिया। इसने स्पष्ट कर दिया कि संविधान में परिवर्तन लाया जा सकता है। इस एक्ट के पश्चात् वोट अधिकार को विस्तृत करने की मांग प्रतिदिन ज़ोर पकड़ती गई। 1928 ई॰ तक प्रत्येक बालिग नागरिक को वोट अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह ठीक कहा गया है कि इस एक्ट का महत्त्व इस बात में नहीं कि इसने क्या प्रदान किया अपितु इसकी महानता इस बात में है कि इसने अन्त में देशवासियों को क्या दिलवाया।

(iv) निम्न सदन की सर्वोच्चता स्थापित होना:- 1832 ई॰ के एक्ट के पास हो जाने से पूर्व इस बिल को दो बार ऊपरी

सदन (House of Lords) ने रद्द कर दिया था। परंतु निचले सदन ने House of Comons इसे पास करने के लिए संघर्ष जारी रखा। इस एक्ट के अन्ततः पास हो जाने से यह सिद्ध हो गया कि वास्तविक प्रभुसत्ता निचले सदन के पास है न कि ऊपरी सदन के पास। इस एक्ट के पश्चात् निचले सदन की और भी अधिक शक्ति प्राप्त हो गई जिससे यह सिद्ध हो गया कि यह देश की जनता का सच्चा प्रतिनिधि है। इस एक्ट ने निस्सन्देह ऊपरी सदन की शक्ति को ठेस पहुँचाई। प्रोफ्रैसर कियर ने कथनानुसार, "सुधार एक्ट के परिणामस्वरूप दोनों सदनों में मतभेद की दरार और भी गहरी हो गई।"

(v) वेल्ज़, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के प्रतिनिधित्व में वृद्धिः- 1832 ई॰ के एक्ट के परिणामस्वरूप वेल्ज़, स्काटलैंड तथा आयरलैंड का संसद में प्रतिनिधित्व बढ़ गया। इस एक्ट से पूर्व निम्न सदन में वेल्ज़ के 24 सदस्य, स्काटलैंड के 45, आयरलैंड के 100 तथा इंग्लैण्ड के 489 सदस्य थे। इस एक्ट के उपरांत वेल्ज़ के सदस्यों की संख्या 29, स्काटलैंड की 53, आयरलैंड की 105 तथा इंग्लैण्ड की 471 हो गई। यह भविष्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण बात थी कि इंग्लैण्ड के सदस्यों की संख्या कम करके वेल्ज़, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के प्रतिनिधियों की वृद्धि कर दी गई।

(vi) नया राजनीतिक वातावरणः- 1832 ई॰ के एक्ट ने देश में नया राजनीतिक वातावरण पैदा कर दिया और राजनीतिक संस्थाओं में इस वातावरण के अनुसार परिवर्तन आवश्य हो गया। आगामी 35 वर्षों तक इसने सम्राट् के विशेष अधिकारों (Prerogative), कैबिनेट शासन-प्रणाली के कार्य नियमों तथा राजनीतिक दलों के विकास इत्यादि को निर्धारित किया।

(vii) राजनीतिक दलों में परिवर्तनः- 1832 ई॰ का एक्ट इंग्लैण्ड के पुराने ऐतीहासिक राजनीतिक दलों-विग तथा टोरी- के स्वरूप में भारी परिवर्तन ले आया। पहले विग दल ने केवल कुलीन तथा उच्च वर्ग के लोग ही होते थे परंतु इस एक्ट के पश्चात् बहुत-से मध्य वर्ग के लोग तथा सुधारवादी विचारक इसके समर्थक बन कर इसमें शामिल हो गये। इन नये सदस्यों को अब विग दल अनुचित लगने लगा। इसलिये उन्होंने अब इस को 'उदारवादी' दल कहना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार टोरी दल के नेताओं ने भी अब नई परिस्थितियों से समझौता कर लिया। टोरी शब्द अब कुछ पुराने एवं हट्ठी सदस्यों के लिये ही प्रयोग किया जाने लगा तथा 'परम्परावादी' (Conservative) शब्द का प्रयोग अब इस दल के लिये प्रयोग होने लगा।

(viii) सुधारों नें युग का आरंभः- 1832 ई॰ के एक्ट ने इंग्लैण्ड में ऐसे सुधार सम्बन्धी कानूनों का कार्यक्रम आरंभ कर दिया जिसका उदाहरण हमें इससे पहले कही नहीं मिलता। नई बनाई गई संसद ने देश में सुधारों का वातावरण पैदा कर दिया। 1832 ई॰ के पश्चात् भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनेकों सुधार किये गये। दास-प्रथा का अन्त, शिक्षा के विकास के लिए बड़ी धन-राशि निश्चित करनी, नया फैक्टरी कानून, निर्धनों के कानून तथा म्यूनिसिपल स्वास्थय कानून इत्यादि इस संसद की ओर पास किये गये कुछ प्रमुख कानून थे।

(ix) चार्टिस्ट आंदोलन का उदयः- 1832 ई॰ के एक्ट ने मध्य श्रेणी को राजनीतिक शक्ति प्रदान कर दी परंतु देश के साधारण तथा मज़दूर वर्ग को एक्ट में कुछ भी प्राप्त न हुआ। मज़दूर वर्ग ने इस एक्ट को पास करवाने के लिए मध्य वर्ग को पूर्ण सहयोग दिया था और उन्हें इससे ऊंची आशायें थीं। परंतु इस एक्ट ने उनकी सब आशाओं पर पानी फेर दिया। मज़दूरों को वोट का अधिकार प्राप्त न हुआ। इस एक्ट ने इस वर्ग की आर्थिक समस्याओं का भी कोई हल न किया। उनके वेतन अभी भी बहुत कम थे; उनके काम करने के घण्टे अभी अधिक थे; उनमें अभी भी बेरोज़गारी थी और उनको मिलने वाले अनाज का मूल्य भी बहुत अधिक था। परिणामस्वरूप मज़दूर वर्ग ने 'चार्टिस्ट नामक आंदोलन आरम्भ कर दिया जो 1850 ई॰ तक चलता रहा।

एक्ट के दोषः- 1832 ई॰ के एक्ट में कई दोष थे जिसके कारण कई आलोचकों ने उसकी निंदा की है। इस एक्ट के अनुसार शहरों तथा ग्रामों में सम्पत्ति के मालिकों अथवा निश्चित भूमि-कर या मकान का किराया देने वाले व्यक्तियों को ही वोट का अधिकार दिया गया। ग्रामों तथा नगरों के निर्धन एवं मज़दूर लोगों को इस अधिकार से वंचित रखा गया। यह अनुमान लगाया गया है कि इस एक्ट से पूर्व 5 लाख लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त था और इस एक्ट के उपरांत 8 लाख 13 हज़ार लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। अभी भी देश कुल जनसंख्या के केवल 4 प्रतिशत लोगों को ही वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। सीटों के पुनः विभाजन के बावजूद संसद में पहले की तरह इंग्लैण्ड के दक्षिण प्रदेशों का उत्तरी प्रदेशों के मुकाबले में अधिक प्रभाव कायम रहा। राजनीतिक शक्ति जो पहले ज़मीदारों तथा कुलीनों के पास थी, अब कुलीनों तथा

मध्य श्रेणी के एक हिस्से में बंट गई, फिर भी सरकार में कुलीनों का ही बोलबाला रहा।

उपरोक्त दोषों के होते हुए भी 1832 ई॰ का एक्ट इंग्लैण्ड के संवैधानिक इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस एक्ट ने पुरातन तथा दोष-पूर्ण चुनाव व्यवस्था का अंत किया था सुधारों के युग का आगमन किया। इसके अतिरिक्त इस देश के अन्दर शक्ति संतुलन में भी परिवर्तन ला दिया तथा विग एवं टोरी दलों को नया रूप प्रदान किया। यद्यपि इस एक्ट से मज़दूर तथा साधारण वर्ग को भारी निराशा हुई, तथापि इस एक्ट ने देशवासियों को परिवर्तनशील युग का अहसास करवाया तथा संवैधानिक सुधारों के ऐसे युग का आरम्भ किया जो अन्त में प्रगतिशील तथा प्रजातन्त्रीय इंग्लैण्ड के निर्माण में सहायक सिद्ध हुआ।

IV. चार्टिस्ट आंदोलन

चार्टिस्ट आंदोलन का आरम्भ 1832 ई॰ में हुआ। यह आंदोलन मज़दूरों तथा कारीगरों द्वारा चलाया गया जो राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके अपनी समाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समाधान करना चाहते थे। महारानी विक्टोरिया के शासन-काल (1837-1901) के प्रारम्भिक वर्षों में यह आंदोलन ज़ोर पकड़ गया तथा यह 1848 ई॰ तक चलता रहा। इस आंदोलन के प्रमुख नेता विलियम लॉवेट (William Lovett,1800-17), थामस ऐट्वुड(Thomas Atwood,1783-1855) तथा फीयरगस ओ. कोनर (Feargus O' Connor,1794-1855) थे और इस आंदोलन के प्रसिद्ध केंद्र लंडन, बर्मिघम तथा लीडज़ आदि नगर थे। कुछ विद्वानों के अनुसार, "चार्टिस्ट आंदोलन राजनीतिक के भेस में सामाजिक क्रांति लाने का एक प्रयत्न था।"

(क) चार्टिस्ट आंदोलन की उत्पत्ति के कारण

चार्टिस्ट आंदोलन मज़दूर वर्ग में छाई भारी निराशा का परिचय था। इसके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों का वर्णन इस प्रकार है:-

(i) सामाजिक और आर्थिक कारण:- औद्योगिक तथा कृषि क्रांतियों के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड के समाजिक एवं आर्थिक जीवन में काफी परिवर्तन आया। औद्योगिक विकास तथा मशीनों के प्रयोग से देश के उत्पादन एवं विदेशी व्यापार का निस्सन्देह आश्चर्यजनक विकास हुआ था परंतु इससे देश में हज़ारों किसान, कारीगर तथा मज़दूर बेकार हो गये थे। कारखानों में लगे मज़दूरों की स्थिति भी चिन्ताजनक हो गई थी उन्हें बहुत कम वेतन प्राप्त होते थे देश में प्रचलित अनाज क़ानूनों (Corn Laws) के कारण अनाज बहुत महँगा हो गया था। इस प्रकार बेरोज़गारी, कम वेतन, काम करने के अधिक घण्टे, महँगाई तथा गरीबी इत्यादि ने मज़दूर वर्ग को आंदोलन करने के लिए तैयार कर दिया।

(ii) राजनीतिक कारण:- 1832 ई॰ के सुधार एक्ट से मज़दूर वर्ग को भारी निराशा हुई थी। इस एक्ट के पास होने से पूर्व इस वर्ग ने मध्य श्रेणी से मिलकर संघर्ष किया था परंतु इस एक्ट के पास हो जाने से इस वर्ग को काई विशेष लाभ नहीं हुआ था। इस एक्ट ने मध्य श्रेणी की शक्ति एवं महत्त्व में वृद्धि कर दी थी तथा उनकी स्थिति में काफी सुधार किया था। परिणामस्वरूप अब मज़दूर वर्ग भी अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिये राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने का इच्छुक था। इस वर्ग के लोगों की धारणा थी कि राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने से उनकी सभी समाजिक एवं आर्थिक उलझनें समाप्त हो सकती हैं दुर्भाग्य से उस समय की उदारवादी सरकार ने भी मज़दूर वर्ग से कोई सहानुभूति न दिखाई। 1837 ई॰ में प्रधानमंत्री लार्ड रसैल ने और संसदीय सुधारों की सम्भावना का खण्डन करते हुये यह स्पष्ट कर दिया कि 1832 ई॰ का सुधार एक्ट सुधारों के सिलसिले में अन्तिम कदम है। सरकार के ऐसे मज़दूर-विरोधी व्यवहार ने मज़दूरों को अपने अधिकारों की माँग के लिये आंदोलन आरंभ करने के लिए विवश कर दिया।

(ख) चार्टिस्टों की मुख्य माँगें

निराश कारीगरों तथा मज़दूरों ने अब लॉवेट तथा औ-कोनर के नेतृत्व में एक संस्था कि स्थापना कर ली। 1837 ई॰ में इस संस्था ने मज़दूरों तथा कारीगरों की माँगों से सम्बन्धित एक बड़ा-सा ' जन अधिकार पत्र' (Peoples Charter) अथवा चार्टर तैयार किया। इसी अधिकार पत्र या चार्टर के कारण ही इस आंदोलन का नाम 'चार्टिस्ट आंदोलन' पड़ गया तथा इसके समर्थकों को 'चार्टिस्ट' कहा जाने लगा। इस आंदोलन के नेताओं की निम्नलिखित 6 माँगें थीं:-

1. संसद के सदस्यों का वार्षिक चुनाव होना चाहिए।
2. संसद के सदस्यों को निश्चित वेतन प्राप्त होना चाहिए।
3. गुप्त वोट व्यवस्था होनी चाहिए।
4. संसद का सदस्य बनने के लिए सम्पत्ति आदि की कोई शर्त नहीं होनी चाहिए।
5. सभी बालिगों को वोट-अधिकार प्राप्त होना चाहिए।
6. चुनाव के लिए समस्त देश को बराबर की जनसंख्या वाले क्षेत्रों में बांटना चाहिये।

(ग) आंदोलन का विकास

चार्टिस्ट आंदोलन के समर्थक आरम्भ में दो दलों में बंटे हुए थे। इसका एक दल 'नैतिक शक्ति' या 'अहिंसा' के मार्ग द्वारा अपनी माँगें मनवाना चाहता था। परंतु इस दल को अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी जिसके परिणामस्वरूप इस आंदोलन का नेतृत्व दूसरे दल के हाथों चला गया जो 'शारीरिक शक्ति' एवं 'हिंसा' में विश्वास रखता था।

इस आंदोलन के प्रमुख केन्द्र लण्डन, बर्मिंघम तथा लीड्ज के नगर में थे। प्रत्येक नगर में वहां के नेताओं ने इस आंदोलन को अलग-अलग रूप प्रदान किया। 1836 ई॰ में लण्डन के श्रमिकों की संख्या की स्थापना हुई जिसके नेता विलियम लॉवेट तथा जॉन ब्लैक थे। वे श्रमिकों को शिक्षा दे कर शान्तिपूर्ण ढंगों से राजनीतिक अधिकार दिलाने में विश्वास रखते थे। परंतु उन्हे विशेष सफलता प्राप्त न हुई तथा कुछ समय के पश्चात् ही उन्हें कैद कर लिया गया। बर्मिंघम में इस आंदोलन का नेतृत्व थामस ऐट्वुड ने किया जो मध्य श्रेणी से सम्बन्ध रखता था। परंतु धीरे-धीरे इस आंदोलन में उग्रवादियों का बोलबाला हो गया जिसने ऐट्वुड का इस पर प्रभाव कायम न रह सका। लीड्ज में इस आंदोलन का नेतृत्व प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय नेता फीयरगस-ओ-कोनर ने किया। वह एक उच्च कोटि का वक्ता था तथा उसने अपने विचारों का प्रचार अपने एक समाचार पत्र द्वारा किया। वह उग्रवादी विचारों का समर्थक था और शक्ति का प्रयोग करके राजनीति सुधार प्राप्त करने के पक्ष में था। उसने इस आंदोलन को नई प्रेरणा प्रदान की।

आरम्भ में सरकार ने चार्टिस्ट आंदोलन की कोई परवाह न की। धीरे-धीरे इस आंदोलन ने हिंसक रूप धारण कर लिया। बर्मिंघम में इस आंदोलन के समर्थकों ने हिंसा से काम लेते हुए कई इमारतों को आग लगा दी। 1839 ई॰ में चार्टिस्टों ने न्यूपोर्ट में विद्रोह कर दिया। जब विद्रोहियों ने नगर पर बलपूर्वक अधिकार करने का प्रयास किया तो पुलिस ने गोली चला दी जिससे 20 चार्टिस्टों की हत्या हो गई तथा बहुत से ज़ख्मी हो गये। कई नेताओं को कैद कर लिया गया तथा आजीवन कारावास का दण्ड दिया गया ।

1839 ई॰ में चार्टिस्टों ने अपनी 6 माँगों वाला चार्टर संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया। संसद ने इस माँग-पत्र पर विचार करने के पश्चात् इसे अस्वीकार कर दिया। 1842 ई॰ में चार्टिस्टों ने एक अन्य चार्टर संसद को पेश किया परंतु इसे भी अस्वीकार कर दिया गया इसके पश्चात् चार्टिस्टों ने देश भर में हड़तालों का ज़ोर आरंभ कर दिया परंतु सरकार कठोर पग उठाकर प्रदर्शनकारियों का दमन कर दिया।

1848 ई॰ में हुई फ्रांसीसी क्रांति से प्रेरणा प्राप्त करते हुए चार्टिस्टों ने अपना आंदोलन फिर तेज़ कर दिया। ओ-कोनर के नेतृत्व में चार्टिस्टों ने एक और प्रार्थना-पत्र तैयार किया जिसमें उन्होने अपनी पुरानी 6 माँगों की स्वीकृति की माँग की। इस प्रार्थना-पत्र पर कोई 55 लाख लोगों के हस्ताक्षर किये तथा इसे तीन बग्घियों पर रखकर संसद में ले जाया गया। इसके निरिक्षण से पता चला कि इस प्रार्थना-पत्र में बहुत से हस्ताक्षर जाली थे। इससे चार्टिस्टों की बड़ी बदनामी हुई और इस आंदोलन को भारी ठेस पहुँची। सरकार ने इस प्रार्थना-पत्र को अस्वीकार कर दिया और आंदोलनकारियों को वलिंग्टन के नेतृत्व में सैनिकों को कठोरता से कुचल डाला।

(घ) चार्टिस्ट आंदोलन की असफलता के कारण

यद्यपि चार्टिस्ट आन्दोलन के समर्थको की माँगें काफी सीमा तक उचित थीं, तथापि इसे अपमानित होना पड़ा और यह अन्ततः असफल रह। इसकी असफलता के निम्नलिखित कारण थे:-

(i) आंदोलन का हिंसक रूपः- चाहे इस आंदोलन के उद्देश्य उत्तम थे परंतु इनकी पुर्ति के लिए अपनाये क्रांतिकारी साधन

उचित नहीं थे। इस आंदोलन का हिंसक रूप धारण करना इसके लिए नाशक सिद्ध हुआ। चार्टिस्टों द्वारा किये गए झगड़ों, फ़सादों तथा हडतालों के कारण साधारण लोगों की सहानुभूति इस आंदोलन के साथ अधिक समय तक न रह सकी।

(ii) देश में आर्थिक समृद्धिः- 1840 ई॰ के पश्चात् इंग्लैण्ड के आर्थिक जीवन में आये महान् परिवर्तनों के फलस्वरूप देश में आर्थिक समृद्धि आ गई। नये-नये उद्योगों एवं रेलों के विकास, बैंको व सहकारी सभाओं की स्थापना, व्यापारिक उन्नति, अनाज के मूल्यों में कमी इत्यादि से मज़दूरों तथा कारीगरों की आर्थिक एवं सामाजिक समस्यायें काफ़ी कम हो गई थी। उनके जीवन में परिवर्तन आने लगा था। परिणामस्वरूप उनमें से बहुत से लोगों की रूचि इस आंदोलन में काफ़ी कम हो गई थी।

(iii) योग्य नेतृत्व का अभावः- योग्य नेतृत्व का अभाव भी इस आंदोलन की असफलता, का कारण माना जाता है। यदि इस आंदोलन के नेता लोगों में विशेष प्रेरणा उत्पन्न कर सकते तो यह आंदोलन शायद सफल हो जाता। वुडवर्ड का कहना है,"इस आंदोलन को-कोनर, ओ-ब्रायन आदि नेताओं से कही श्रेष्ठ नेताओं की आवश्यकता थी, जो इसे प्राप्त न हो सके। "इन नेताओं में दूरदर्शीता, बुद्धिमता तथा अनुभव की कमी थी। उन्होने प्रार्थना-पत्र पर लाखों जाली हस्ताक्षर करवा लिए जिससे यह आंदोलन एक मज़ाक-सा बन गया और लोगों का इसमें विश्वास जाता रहा।

(iv) नेताओं के मतभेदः- इस आंदोलन के नेताओं में एकता की भी कमी थी। ओ-कोनर, ओ-ब्रायन, स्टीफनज़ तथा होर्न जैसे नेताओ में गम्भीर मतभेद पाये जाते थे जिसके परिणामस्वरूप वह एक टीम के रूप में मिलकर काम न कर सके। इन सभी नेताओं के उद्देश्य भी एक जैसे नहीं थे।

(v) आंदोलन का समय से पूर्व होनाः- इस आंदोलन का समय से पूर्व होना भी इसकी असुलता का कारण बना। उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे तथा चौथे दशकों में इस आंदोलन का सवालन करने वाले मज़दूर आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए तथा राजनीतिक दृष्टि से अति दुर्बल थे उस समय उनकी शक्ति एवं साधन बहुत सीमित थे। ऐसी परिस्थितियों में इस आंदोलन का सफल होना असम्भव था।

(vi) मध्य श्रेणी की बढ़ रही शक्तिः- यह आंदोलन गरीब मज़दूरों का मध्य वर्ग के धनी लोगों के विरूद्ध संघर्ष था। औद्योगिक विकास के पश्चात् मध्य वर्ग ने समाज में अपनी स्थिति इतनी मज़बूत कर ली थी कि आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े मज़दूर वर्ग को इसके विरूद्ध सफलता प्राप्त होनी लगभग असम्भव थी। इसके अतिरिक्त मध्य वर्ग ने इस आंदोलन में मज़दूर वर्ग के साथ देने की अपेक्षा कुलीन वर्ग से गठ-जोड़ कर लिया। परिणाम स्वरूप उनकी शक्ति और भी दृढ़ हो गई तथा चार्टिस्टों की असफलता निश्चित हो गई।

(vii) अन्य मज़दूर संघों का सहयोग प्राप्त न होनाः- उस समय के मज़दूर संगठन औद्योगिक क्षेत्र में सुधार लाने के लिए संघर्ष कर रहे थे परंतु चार्टिस्टों ने इन सुधारों की ओर ध्यान देने की अपेक्षा अपने आंदोलन को राजनीतिक माँगों तक ही सीमित रखा। परिणामस्वरूप इन्हें अन्य मज़दूर संगठनों का प्रयोग प्राप्त न हो सका। इसी प्रकार उस समय के शक्तिशाली समाजवादी नेता भी चार्टिस्टों के पक्ष में नहीं थे। निस्संदेह उस समय के शक्तिशाली संगठनों का समर्थन प्राप्त न होने के कारण चार्टिस्टों का असफल होना स्वाभाविक ही था।

(ड़) चार्टिस्ट आंदोलन का महत्त्व अथवा प्रभाव

यद्यपि चार्टिस्ट आंदोलन का अन्त 1848 ई॰ में हो गया, तथापि इसके अनेक स्थायी परिणाम निकले। इस आंदोलन की असफलता भी सफलता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। चार्टिस्टों की माँगें एवं उद्देश्य 1848 ई॰ के किसी न किसी रूप में जीवित रहे तथा समय-समय पर इसकी पूर्ति होती रही। यह आंदोलन मज़दूरों तथा कारीगरों का आंदोलन था, जिसकी सफलता ने मज़दूरों में एकता तथा संगठन की भावना उत्पन्न कर दी। इस आंदोलन ने समाज के सभी वर्गों का ध्यान मज़दूरों की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं की ओर आकर्षित किया।

समकालीन साहित्य पर भी इस आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा तथा आगामी वर्षों में अनेकों विचारकों, कवियों तथा विद्वानों ने इस आंदोलनों के समर्थकों के दयनीय जीवन पर आकर्षक एवं रोचक लेख लिखे।

सरकार भी अपने आने वाले वर्षों में मज़दूरों तथा कारीगरों की समस्याओं के विमुख न हो सकी। 1858 ई॰ से 1911 ई॰ के मध्य चार्टिस्टों की लगभग सभी माँगें स्वीकार कर ली गईं। 1858 ई॰ एक एक्ट के अनुसार वोट के अधिकार के लिये

संम्पत्ति सम्बन्धी योग्यता को समाप्त कर दिया गया। 1885 ई॰ में चार्टिस्टों की दूसरी माँग भी स्वीकार कर ली गई और देश के चुनाव-क्षेत्र जन-संख्या के आधार पर एक समान कर दिए गए।1867,1884,1911 तथा 1918 ई॰ में पास हुये एक्टों के सामूहिक परिणामस्वरूप इंग्लैंड में बालिंग वोट-अधिकार प्रचलित हो गया। 1911 ई॰ के एक कानून के अनुसार इंग्लैंड की सरकार ने संसद के सदस्यों के लिए 400 पौण्ड वार्षिक वेतन की माँग को भी स्वीकार कर लिया। इस प्रकार शनैः-शनैः चार्टिस्टों की लगभग सभी माँगें पूरी हो गईं। उनकी केवल एक माँग-संसद के सदस्यों का वार्षिक चुनाव-ही पूरी न हो सकी जो शायद न तो व्यावहारिक थी तथा न ही आवश्यक।

यद्यपि चार्टिस्ट आंदोलन अपने तात्कालिन उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा, तथापि इसका असफल होना भी कदाचित देश के हित में अच्छा ही था। इसकी सफलता से इंग्लैंड के साधारण लोगों को ऐसे मूल्यवान् अधिकार प्राप्त हो जाते जिनके लिए शायद वे अभी योग्य नहीं थे। इस समय इंग्लैंड में पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना का शायद वही हाल होता जो फ्रांसीसी क्रांति के पश्चात् फ्रांस का हुआ था।

1867 ई० का द्वितीय सुधार एक्ट

(क) एक्ट के पास होने के लिये ज़िम्मेदार परिस्थितियां

(i) चार्टिस्ट आंदोलनः- 1832 ई॰ के प्रथम सुधार एक्ट से इसके समर्थकों तथा विरोधियों दोनों को बड़ी निराशा हुई थी। यद्यपि इस एक्ट के पास होने से वोटरों की संख्या पहले से लगभग तीन लाख बढ़ गई थी, तथापि संसद के स्वरूप में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था। इस एक्ट से मज़दूर वर्ग को भी भारी निराशा हुई थी। उन्होंने इस एक्ट के लिए मध्य वर्ग के साथ मिलकर संघर्ष किया था परंतु इस एक्ट की धाराओं में उनके हितों को पूर्ण रूप से नजर अंदाज़ कर दिया गया था। इसके पश्चात् उन्होंने विलियम लॉवेट तथा कुछ अन्य नेताओं के नेतृत्व में 'चार्टिस्ट आंदोलन' चलाया। इस आंदोलन का उद्देश्य वोट अधिकार का विस्तार, वार्षिक संसद, सदस्यों के लिए वेतन की की व्यवस्था, वोट अधिकार के लिए सम्पत्ति संबंधी योग्यता का अन्त, गुप्त वोट व्यवस्था तथा जनसंख्या के आधार समान सुधार क्षेत्रों की व्यवस्था इत्यादि अधिकारों की प्राप्ति करना था। यह आंदोलन 1848 ई॰ तक चलता रहा परंतु सरकार के विराधी व्यवहार के कारण इसे सफलता प्राप्त न हो सकी। यद्यपि चार्टिस्ट आंदोलन के अन्त के साथ ही मज़दूर वर्ग का राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का संघर्ष भी समाप्त हो गया, तथापि सुधारों की माँग किसी न किसी रूप में उठती रही।

(ii) संसदीय सुधारों के लिए आरम्भिक असफल प्रयत्नः- 1852 ई॰ से ही संसदीय सुधारों की माँग किसी न किसी रूप में उठती रही जिसने देश में यह भावना पैदा कर दी कि 1832 ई॰ का सुधार एक्ट संसदीय विकास के लिए काफी नहीं। लार्ड जॉन रसैल ने 1852 ई॰ में तथा फिर 1854 ई॰में संसदीय सुधारों सम्बन्धी दो बिल पेश किये परंतु यह दोनों अस्वीकार हो गये। 1856 ई॰ के पश्चात् जॉन ब्राईट ने राजनीतिक अधिकारों से वंचित मज़दूर वर्ग को संसदीय सुधारों की माँग के लिये उत्तेजित किया परंतु इसका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम न निकल सका।

1859 ई॰ में डिज़रायली ने वोट अधिकार को विस्तृत करने सम्बन्धी एक बिल पेश किया किन्तु इसे भी सफलता प्राप्त न हो सकी। 1864 ई॰ में संसदीय सुधारों का प्रश्न संसद में फिर चर्चा का विषय बन गया परंतु प्रतिक्रियावादी पामर्स्टन के विरोध के कारण इसे भी असफलता का मुंह देखना पड़ा।

(iii) पामर्स्टन की मृत्युः- जब तक कट्टर प्रतिक्रियावादी तथा सुधारों के विरोधी पामर्स्टन इंग्लैंड की राजनीति पर छाया रहा, तब तक किसी भी संसदीय सुधारों के प्रस्ताव पर गम्भीरता से विचार न हो सका। 1865 ई॰ में उसकी मुत्यु के साथ ही संसदीय सुधारों के लिए मार्ग खुल गया।

(iv) उदार बल का.बिलः- पामर्स्टन की मुत्यु के उपरांत 1865 ई॰ में उदार बल के नेता लार्ड रसैल ने नये मंत्री-मण्डल का निर्माण किया। 1866 ई॰ में रसैल तथा ग्लैडस्टोन ने संसदीय सुधारों सम्बन्धी एक नया बिल पेश किया। प्रतिक्रियावादियों ने विरोध के भय के कारण इस बिल से बहुत सीमित सुधारों की योजना रखी गई। लम्बे वाद-विवाद के पश्चात् यह बिल भी रद्द हो गया तथा रसैल ने मंत्री-मण्डल से त्याग-पत्र दे दिया।

(v) डिज़रायली के बिल का एक्ट बननाः- रसैल मंत्री-मण्डल के त्याग-पत्र के पश्चात् परम्परावादी दल के नेता डर्बी

(Derby) ने मन्त्री-मण्डल का निर्माण किया। इसमें डिज़रायली को भी मंत्री पद प्राप्त हुआ। डिज़रायली ने अब देश के मज़दूरों का समर्थन प्राप्त करने के लिए एक बिल संसद में प्रस्तुत किया जो कुछ संशोधनों के उपरान्त पास कर दिया गया। यही 1867 ई॰ का द्वितीय सुधार एक्ट कहलाया।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि 1832 ई॰ प्रथम सुधार एक्ट तथा 1867 ई॰ कि द्वितिय सुधार एक्ट के पास होने की परिस्थितियों में काफ़ी अंतर था। 1832 ई॰ का एक्ट 60 वर्षों के लम्बे संघर्ष का परिणाम था तथा इसका कुलीन वर्ग ने कड़ा विरोध किया था। परंतु 1867 ई॰ का एक्ट केवल 35 वर्षों के पश्चात् तथा बहुत कम संघर्ष के परिणामस्वरूप पास हो गया तथा मध्य वर्ग व कुलीन वर्ग (विशेष रूप से ऊपरी सदन) ने भी इसका अधिक विरोध न किया। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि एक्ट डर्बी-डिज़रायली के परम्परावादी दल ने पास करवाया।

(ख) एक्ट की शर्तें

(1) नगरों के सभी मकान मालिकों (चाहे वे छोटे से मकान या झौंपडी के स्वामी हों) तथा 10 पौण्ड वार्षिक किराया देने वाले किरायेदारों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ।

(2) गांवो में उन सभी मुज़ाहरों को वोट का अधिकार प्राप्त हो गया जो 12 पौण्ड वार्षिक लगान अथवा किराया देते थे।

(3) दस हज़ार से कम जनसंख्या वाले नगरों का संसद में एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार छीन लिया गया।

(4) पुराने नगरों से प्राप्त की गई 45 सीटों की पुनः बांट की गई। बार्मिंघम, लिवरपूल, मानचेस्टर तथा लीड्ज जैसे बड़े नगरों को संसद में दो से अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हो गया।

(ग) एक्ट का महत्त्व तथा आलोचना

महत्त्वः- द्वितीय सुधार एक्ट बरतानवी संवैधानिक इतिहास में एक सम्पूर्ण घटना मानी जाती है। पहले, इसके परिणामस्वरूप 938,000 नये लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हो गया। इससे गांवों में रहने वाले बहुत से तथा नगरों में रहने वाले लगभग सभी पुरूषों को वोट का अधिकार प्राप्त हो गया। के. बी. स्मेंली के कथनानुसार, "इस एक्ट के उपरांत राजनीतिक दृष्टि से दो इंग्लैंड देखने को आये-नगरों का लोकतंत्रीय इंग्लैंड तथा गांवों का कुलीन-प्रधान इंग्लैंड।"

दूसरे, इस एक्ट के पास होने से राजनीतिक शक्ति का मध्य वर्ग से मज़दूर वर्ग तक पहुँचने का मार्ग खुल गया क्योंकि मज़दूरों की नगरों में बहुसंख्या थी और उन्हें वोट का अधिकार प्राप्त हो गया।

तीसरे, इस एक्ट का टोरी दल द्वारा पास किया जाना महत्त्वपूर्ण था। इससे स्पष्ट होता है कि टोरी दल (जो अब 'कन्ज़रवेटिव दल' बन गया था) संसदीय सुधारों के पक्ष में हो गया था क्योंकि इसके नेताओं ने यह अनुभव कर लिया कि ऐसे सुधारों का समर्थन किये बिना उनका दल लोगों में अप्रिय हो जायेगा। इस दल के नेताओं को अब यह आशा हो गई कि लाखों मज़दूर, जिन्हें वोट का अधिकार प्राप्त हुआ है, चुनाव में इस दल का ही समर्थन करेंगे।

आलोचनाः- इस एक्ट के आलोचकों ने इसके दोषों को हुए इसकी निन्दा की है उनका कहना है कि इस एक्ट के अनुसार गांवों में रहने वाले कृषि के मज़दूरों तथा कारीगरों को वोट का अधिकार न दिया गया। इसी प्रकार नगरों तथा गांवों की स्त्रियों को वोट के अधिकार से वंचित रखा गया। गुप्त वोट व्यवस्था न प्रचलित करना भी इस एक्ट की एक कमी मानी जाती है। लार्ड डर्बी (Derby) ने इसकी आलोचना करते हुए इसे 'अंधकार में छलांग लगाने' के समान बताया। थामस कार्लायल (Thomas Carlyle) ने इसे प्रजातंत्र की ओर एक 'व्यर्थ एवं फ़जूल' पग बताया है। लार्ड क्रैनबॉर्न (Lord Cranborn) के मतानुसार, कन्ज़रवेटिव सरकार के लिए इस प्रकार का कानून पास करना 'इतिहास की एक अद्वितभ्य राजनीतिक धोखेबाज़ी' थी।

इन दोषों के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि द्वितीय सुधार एक्ट प्रजातन्त्र की ओर एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके फ़लस्वरूप राजनीतिक शक्ति निम्न मध्य वर्ग तथा मज़दूर वर्ग के हाथ जाने की सम्भावना हो गई।

1884 ई॰ का तृतीय सुधार एक्ट

(क) कारण

(i) ग्लैडस्टोन के 1884 से पूर्व के एक्टः- ग्लैडस्टोन संसदीय सुधारों का उत्साही समर्थक था। उसने 1872 ई॰ में अपने प्रधानमंत्री के प्रथम काल (1868-74) के दौरान गुप्त वोट सम्बन्धी एक्ट पास करवाया जिसके अनुसार वोट डालने की गुप्त व्यवस्था कि गई। अब वोट डालने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने उम्मीदवार मालिक या ज़मीदार के अनुचित प्रभाव अथवा भय के बिना अपने वोट अधिकार का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता था। इस प्रकार अब प्रत्येक वोटर को अपने वोट अधिकार का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। 1883 ई॰ में ग्लैडस्टोन की सरकार द्वारा पास किये गये एक अन्य एक्ट के अनुसार वोटरों को उम्मीदवारों की ओर से रिश्वत देकर अपनी ओर करने की प्रथा को गैर कानूनी करार दे दिया गया।

(ii) पिछले संसदीय सुधार एक्टों के दोषः- 1832 ई॰ के सुधार एक्ट के अनुसार मध्य वर्ग तथा 1867 ई॰ के एक्ट द्वारा नगरों में रहने वाले मज़दूरों तथा कारीगरों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ था। 1884 ई॰ में अपने प्रधानमंत्री के द्वितीय काल (1880-85) में ग्लैडस्टोन ने तृतीय सुधार एक्ट पास करवा के 1867 ई॰ के एक्ट की इस कमी को दूर करने का प्रयास किया।

(ख) मुख्य धारायें

1884 ई॰ के एक्ट की मुख्य धारायें निम्नलिखित थीः-

(1) नगरों की तरह गांवों में भी उन सब व्यक्तियों को वोट का अधिकर दे दिया गया जिनके पास अपने मकान थे।

(2) गांवों में उन व्यक्तियों को भी वोट का अधिकार प्राप्त हो गया जो 10 पौण्ड वार्षिक किराया देते थे अथवा इस राशि के समान वार्षिक भूमि-कर देते थे।

(3) उन सब व्यक्तियों, जो न तो मुज़ाहरे थे और न ही 10 पौण्ड के किरायेदार थे परंतु जो अन्य पक्ष से वोट-अधिकार के योग्य थे, को भी वोट अधिकार दे दिया गया। इसे सेवा वोट-अधिकार कहा जाता था।

(4) इस एक्ट की शर्तों को स्काटलैंड तथा आयरलैंड पर भी लागू कर दिया गया।

महत्त्व

1884 ई॰ के सुधार एक्ट द्वारा लगभग 20 लाख नये लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। इस एक्ट के फलस्वरूप गांवों तथा नगरों में रहने वाले वोटरों के निर्धारित की गई योग्यताओं में एकरूपता आ गई। इस एक्ट से इंग्लैंड तथा वेल्ज़ में वोट अधिकार प्राप्त करने वालों की संख्या पहले से तीन गुणा हो गई। प्रथम एक्ट ने 24 व्यक्तियों में से एक को, दूसरे ने 12 में से एक को तीसरे एक्ट ने 7 में से एक को वोट का अधिकार प्राप्त किया। बरतानिया में अब वोट डालने वालों की कुल संख्या 40 लाख तक पहुंच गई। इस एक्ट ने 1867 ई॰ में पास हुए एक्ट की त्रुटियों को काफी हद तक दूर कर दिया।

यह अनुमान लगाया गया है कि 1884 ई॰ के एक्ट के परिणामस्वरूप गांवों में वोट डालने वालों की संख्या 9 लाख से बढ़कर 25 लाख हो गई। 1888 ई॰ में गांवों में लोगों द्वारा चुनी गई कोन्सिलें का निर्माण हुआ जिन्हें गांवों के प्रशासन सम्बन्धी काफ़ी शक्तियां प्रदान की गईं।

1885 ई॰ का सीटों की पुनः बांट सम्बन्धी एक्टः- 1885 ई॰ में ग्लैडस्टोन की सरकार सीटों की पुनः बांट सम्बन्धी एक्ट पास किया। इस एक्ट के अनुसारः-

(1) 15000 से कम जनसंख्या वाले नगरों को संसद में प्रतिनिधि भेजने के अधिकार से वंचित कर दिया गया।

(2) सारे देश में एक समान चुनाव क्षेत्र कायम किये गये तथा प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र से संसद में एक-एक प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार 1885 ई॰ के एक्ट द्वारा संसदीय प्रणाली के कुछ ओर दोष दूर कर दिये गये।

1911 ई॰ से 1928 ई॰ तक इंग्लैंड में प्रजातंत्र का विकास

यद्यपि 1867 ई॰ से 1884 ई॰के एक्टों द्वारा वोट अधिकार काफ़ी विस्तृत कर दिया गया था, तथापि यह अभी भी सम्पत्ति की शर्तों पर आधारित था। एक व्यक्ति को वोट का अधिकार देश के नागरिक होने के कारण नहीं अपितु एक मकान मालिक, किरायेदार अथवा भूमि के मालिक या मुज़ाहरा होने के कारण प्राप्त होता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पत्ति की सीमा बहुत कम कर दी गई थी परंतु फिर भी देश में लगभग 20 लाख ऐसे लोग थे जो अभी भी इस अधिकार से वंचित थे। उदाहरणस्वरूप यदि कोई बालिग पुरूष अपने माता-पिता के साथ अथवा नौकर अपने मालिक के घर में रहता था तो उसे वोट डालने का अधिकार नहीं था। दूसरी ओर किसी व्यक्ति का गांव में मकान हो, नगर में दफ़्तर हो तथा उसने एक मकान किसी को किराये पर दिया हों तो उस व्यक्ति को तीनों स्थानों पर वोट डालने का अधिकार प्राप्त था। इन दोषों को सम्मुख रखते हुए उदारवादियों ने 20वीं शताब्दी के प्रथम दशक में ज़ोरदार आंदोलन चलाया। उन्होंने 'एक व्यक्ति एक वोट' का नारा लगाना आरंभ कर दिया।

चुनाव प्रणाली में दूसरा बड़ा दोष स्त्रियों को वोट अधिकार से वंचित रखना था। जे. एस. मिल्ल जैसे विचारकों ने स्त्रियों को वोट अधिकार से वंचित रखे जाने की कड़ी आलोचना की थी। इस माँग के समर्थकों का कहना था कि यदि वोट अधिकार प्रत्येक नागरिक का 'प्राकृतिक अधिकार' है तो यह स्त्रियों को क्यों नहीं दिया जाना चाहिए, जो पुरूषों की भांति अच्छी नागरिक हैं।

संसदीय प्रणाली में एक अन्य गम्भीर दोष ऊपरी सदन (House of Lords) के पास निचले सदन (House of Commons) द्वारा पास किये जाने वाले बिल को रद्द करने का अधिकार (Veto) होना था। ऊपरी सदन कुलीनों एवं अमीरों के मनोनीत किये गये रूढ़िवादी सदस्यों की सभा थी, जो लोगों द्वारा चुने गए सदस्यों के निचले सदन की ओर से पास किये प्रत्येक प्रस्ताव या बिल को रद्द करने की शक्ति रखती थी। उदारवादी इसे प्रजातंत्र के विकास में सबसे बड़ी रूकावट समझते थे।

चुनाव व्यवस्था में उपरोक्त दोषों का अन्त करने के लिये 20वीं शताब्दी में तीन कानून पास किये गये जिनका विवरण इस प्रकार है:-

(क) 1911 ई॰ का संसद एक्ट

दिसम्बर 1910 ई॰ में हुये चुनाव में उदारवादी दल विजयी हुआ ऐस्कुइथ के अधीन नये मंत्री-मण्डल का निर्माण हुआ। उदार विचारों वाले प्रधानमंत्री ऐस्कुइथ ने संसद में एक बिल पेश किया जो 10 अगस्त 1911 ई॰ को पास हो गया। तीन दिनों के पश्चात् इसे सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हो गई और वह 1911 ई॰ के संसद एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस एक्ट की मुख्य धारायें थीं:-

(i) प्रत्येक धन-बिल जो करों अथवा खर्च से सम्बन्ध रखता हो, संसद का समागम समाप्त होने से एक मास पूर्व ऊपरी सदन के पास भेजा जायेगा। यदि यह सदन इसे एक मास के भीतर इसे पास नहीं करता तो यह बिल सीधा सम्राट को भेज दिया जायेगा और उनकी स्वीकृति के पश्चात् यह कानून बन जायेगा। इस प्रकार अब ऊपरी सदन पिचले सदन द्वारा पास किये गये धन-बिलों को केवल एक मास के लिए ही रोक सकता था।

(ii) इस एक्ट द्वारा धन-बिल की व्याख्या कर दी गई परंतु साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया कि जब कभी भी किसी धन के धन-बिल होने अथवा न होने के बारे में विवाद खड़ा हो जाये तो इस सम्बन्ध में निचले सदन के स्पीकर का निर्णय अन्तिम माना जायेगा।

(iii) साधारण बिलों के बारे में यह निश्चित हुआ कि यदि कोई बिल निचले सदन द्वारा लगातार तीन समागमों में पास कर दिया जाये और ऊपरी सदन इसे हर बार अस्वीकार कर दे तो यह बिल दो वर्ष बीतने पर सीधा सम्राट की स्वीकृति में भेज दिया जायेगा।

(iv) निचले सदन की अवधि सात वर्ष से घटा कर पांच वर्ष कर दी गई।

(v) संसद के सदस्यों के लिए 400 पौण्ड वार्षिक वेतन निश्चित कर दिया गया।

महत्त्वः- 1911 ई॰ का संसद एक्ट इंग्लैंड के संवैधानिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण मील-पत्थर माना जाता है। सबसे पहले तो, जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासकार ट्रेविलिय ने लिखा है, "संसद एक्ट ने हमारे मौखिक (या रिवाजी) संविधान के लिखित तत्त्वों में वृद्धि कर दी।" इस कानून द्वारा बरतानवीं संसद के दोनों सदनों के आपसी सम्बन्धों का निश्चित रूप से निपटारा कर दिया गया। अब दोनों सदनों के अधिकार तथा शक्तियां निश्चित हो गईं।

दूसरा, इस एक्ट के परिणामस्वरूप निचले सदन का धन-सम्बन्धी मामलों पर पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। अब यह निश्चित हो गया कि धन-बिलों को ऊपरी सदन न तो रद्द कर सकता है और न ही इनमें कोई संशोधन ही कर सकता है। इस एक्ट के पश्चात् प्रत्येक धन सम्बन्धी बिल ऊपरी सदन की स्वीकृति के बिना भी पास हो सकता था; केवल इसे एक मास के लिए ही रोका जा सकता था।

तीसरा, इस एक्ट के फलस्वरूप ऊपरी सदन की शक्ति कम हो गई तथा अब यह केवल एक 'सलाहकारी सभा' ही बन कर रह गया। इस एक्ट द्वारा ऊपरी सदन की साधारण बिल को अस्वीकार करने की शक्ति सीमित कर दी गई; वह केवल दो वर्षों के लिए किसी बिल को रोक सकता था। वास्तव में यह सदन अब केवल दूसरे दर्जे का (Secondary) सदन बन कर रह गया। इससे इंग्लैंड में निचले सदन का प्रभुत्व स्थापित हो गया जो प्रजातंत्र की वास्तविकता का प्रतीक था।

(ख) 1918 ई॰ का लोक-प्रतिनिधित्व एक्ट

20वीं शताब्दी के आरम्भ से ही स्त्रियों को वोट अधिकार दिये जाने की माँग ज़ोर पकड़ रही थी। 1911 ई॰ के संसद एक्ट से स्त्रियों को भारी निराशा हुई थी। 1914 ई॰ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया। जिसके कारण स्त्रियों की राजनीति में शामिल होने की मांग को स्थागित कर दिया गया। महायुद्ध के दौरान जब इंग्लैंड की सरकार को 'मानव शक्ति' की आवश्यकता पड़ी तो देश की स्त्रियों ने कारखानों तथा अस्पतालों में पुरूषों का स्थान ले लिया। परिणामस्वरूप हज़ारों पुरूष सेना में भर्ती होकर देश की संकटकालीन स्थिति में सेवा कर सके। इस महायुद्ध के मध्य जिस लगन एवं देशभक्ति से स्त्रियों ने सरकार का सहयोग दिया उनकी चर्चा न केवल इंग्लैंड में अपितु सारे विश्व में होने लगी। स्त्रियों की देश के प्रति इस लगन ने इंग्लैंड की सरकार को अत्यंत प्रभावित किया। परिणामस्वरूप महायुद्ध के समाप्त होने के शीघ्र पश्चात् ही सरकार ने 1918 ई॰ में एक कानून पास किया जो 'लोक-प्रतिनिधित्व एक्ट' कहलाने लगा है। इस एक्ट की निम्नलिखित धारायें थीं:-

(1) प्रत्येक 21 वर्ष अथवा तथा इससे अधिक आयु के पुरूष की, जो किसी भी चुनाव क्षेत्र में 6 मास से अधिक समय तक निवास कर रहा हो, वोट का अधिकार प्रदान किया गया।

(2) 30 वर्ष अथवा इससे अधिक आयु की सभी स्त्रियों को वोट का अधिकार दे दिया।

(3) समस्त देश में एक ही दिन चुनाव करवाने की व्यवस्था की गई।

(4) किसी भी नागरिक को दो से अधिक चुनाव क्षेत्रों में वोट देने का अधिकार नहीं होगा।

(5) निचले सदन की सीटों की पुनः बांट की गई। इंग्लैंड तथा वेल्ज़ के लिये 528 सीटों तथा स्काटलैंड और आयरलैंड के लिये क्रमशः 74 तथा 105 सीटों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार निचले सदन की सीटों की कुल संख्या 670 से बढ़कर 707 हो गई।

महत्त्वः- 1918 ई॰ का यह एक्ट प्रजातंत्र के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके परिणामस्वरूप प्रथम बार इंग्लैंड में स्त्रियों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ। इस देश में वोटरों की संख्या में भारी वृद्धि हुई तथा गांवों और नगरों के चुनाव क्षेत्रों में भेदभाव समाप्त कर दिये गये। सीटों की पुनः बांट के पश्चात् अब 70 हज़ार व्यक्तियों के पीछे संसद में एक प्रतिनिधि की व्यवस्था की गई। संसद के सदस्यों की संख्या भी 670 से बढ़ाकर 707 कर दी गई। इस एक्ट के अनुसार बहु-वोट अधिकार का अन्त करके चुनाव व्यवस्था में उचितता लाई गई।

(ग) 1928 ई॰ का लोक-प्रतिनिधित्व एक्ट

1918 ई॰ के एक्ट ने चाहे स्त्रियों को वोट अधिकार प्रदान कर दिया था परंतु उन्हें अभी भी पुरूषों के समान नहीं समझा गया था उनको वोट अधिकार 30 वर्ष की आयु में देने की व्यवस्था की गई थी। जबकि पुरूषों को यह अधिकार 21 वर्ष की आयु में प्रदान कर दिया गया था। स्त्रियों के प्रति यह भेदभाव अन्यायपूर्ण समझा जाने लगा। परिणाम स्वरूप देश के भिन्न-भिन्न भागों में स्त्री-संगठनों ने भेदभाव का अन्त करने तथा स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकार देने की आवाज़ उठानी आरंभ कर दी।

मज़दूर दल तथा उदारवादी दल ने इस माँग का ज़ोरदार समर्थन किया। अन्ततः कन्ज़रवेटिव मन्त्री-मण्डल के नेता वाल्डविन ने 1928 ई॰में एक सुधार एक्ट पास करवाया जिसे ('Representative of Peoples Act of 1928' का नाम दिया गया।

इस एक्ट के अनुसार प्रत्येक पुरूष तथा स्त्री को, जो 21 वर्ष से अधिक हो, वोट-अधिकार प्रदान कर दिया। इस प्रकार स्त्रियों तथा मध्य पुरूषों के मध्य सभी प्रकार के भेदभाव का अन्त करके दोनों का समान राजनीतिक अधिकार दिये गये।

इस एक्ट के पास हो जाने से चार्टिस्टों द्वारा रखी गई। सर्वव्यापक वोट-अधिकार की माँग एक शताब्दी से भी कम समय में स्वीकार कर ली गई। इस एक्ट के परिणामस्वरूप कोई 50 लाख स्त्रियों को वोट अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार इंग्लैंड में राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण-प्रजातंत्र की स्थापना हो गई।

अध्याय : 11 अमेरिका का गृह-युद्ध
American Civil War

अमेरिकी महाद्वीप के खोज ने एक ऐसी रोशनी प्रज्ज्वलित की जिसने आने वाली शताब्दी में सम्पूर्ण विश्व का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। मनुष्य के साहस की इस प्रारम्भिक सफलता ने उसे और अधिक साहसिक, क्रियाशील तथा प्रगतिवादी बना दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के ये अन्तिम वर्ष अज्ञानता तथा ज्ञान के दो युगों के बीच एक विभाजक रेखा के सदृश थे जिसका पार करते ही मानवता ने एक नये युग में प्रवेश किया।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों से अमेरिका का इतिहास आरम्भ होता है। उसके बाद यहाँ की गतिविधियाँ संसार के दूसरे भागों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो गई। इस महाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों का नामकरण भी आगन्तुकों द्वारा किया गया। ब्रिटन ने सर्वप्रथम अमेरिका के अन्वेषण का कार्य क्रिस्टोफर कोलम्बस की सफलता के पश्चात् आरम्भ किया। सम्राट हेनरी सप्तम द्वारा नियुक्त जान वेबर ने 1497 तथा 1498 ई० के अभियानों में न्यूफाउन्डलैण्ड तथा मेंनलैण्ड का अन्वेषण किया, किन्तु उसके पश्चात् ब्रिटेन ने अन्वेषणों पर ध्यान देना बन्द कर दिया। ब्रिटेन के पश्चात् इटली के अमरीगो वेस्पूची ने 1499 में केप केसीपोर के दक्षिणी क्षेत्रों, दक्षिण अमरीकी तटों, अमेंजन नदी के उद्गम स्वास्थ्य एवं ब्राजील के निकट "केप्ड़ी लाबिला" की खोज की। 1507 ई० में भूगोलवेत्ता मार्टिन वाल्डसीमूलर ने इन प्रदेशों का नाम 'अमेरिका' रखा क्योंकि इन प्रदेशों की खोज का सर्वाधिक श्रेय अमीरीगो वेस्पूची को ही था।

अमेरिका में सर्वप्रथम 1607 ई० में जेम्सटाउन में एक अंग्रेज बस्ती की स्थापना हुई। धीरे-धीरे यहाँ डच, स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल, हालैण्ड आदि यूरोपीय देशों की बस्तियाँ भी स्थापित हो गई। अमेरिका में बसने वाली ये जातियाँ यूरोप के विभिन्न भागों से आई थीं। उनका सामाजिक जीवन, धार्मिक विश्वास, रहन-सहन का स्तर, रीति-रिवाज, परम्पराएँ एवं इतिहास परस्पर भिन्न था। इस समाज का जब तक अमेंरिकीकरण हुआ, तब तक इसके सदस्य आपसी विरोध, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा और अनावश्यक विवादों में उलझे रहे। इस विभिन्नता के कारण ही सी० वी० डोरेन ने लिखा हैं, "अमेरिका ऐतिहासिक रूप से एक उपनिवेश हैं जिसका मातृ देश संसार है।"

अमेरिका के लोगों ने 1763 से 1793 ई० के बीच के तीन दशकों में अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। फलस्वरूप 4 जुलाई, 1776 को अमेरिका के 13 उननिवेशों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। घोषणा-पत्र में कहा गया था कि "हम, संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधिगण आज देश की प्रतिनिधि सभा के रूप में सम्मिलित होकर भगवान के सामने अपने पवित्र इरादे की शपथ लेकर इन उपनिवेशों के श्रेष्ठ नागरिकों की और से उनके द्वारा दिये गये अधिकार पर गम्भीरतापूर्वक धोषणा करते हैं कि ये सभी अमेरिका की बस्तियाँ स्वतन्त्र और आजाद हैं - यह इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है - और संसार की कोई ताकत इनको गुलाम नहीं रख सकेगी।" अमेरिका के ये तेरह उपनिवेश अटलांटिका महासागर के तट पर बसे हुए थे। इन राज्यों की अपनी-अपनी पृथक सरकारें थीं, और आन्तरिक मामलों में ये सर्वथा स्वतन्त्र थे। पर अपने सर्वसामान्य हितों की रक्षा के लिये इन्होंने अपने को एक संघ में संगठित कर लिया था। राज्यों और उनके संघ के शासन-विधान लोकतन्त्रवाद के अनुसार बनाये गये थे।

उपराक्त घोषणा न केवल एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा थी, अपितु यह उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के इतिहास में राजनैतिक दर्शन तथा क्रान्तिकारी राष्ट्रीय विचारधाराओं की भूमिका थी। घोषणा-पत्र में कहा गया कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं। वे अपने सृष्टा द्वारा कुछ अविच्छिन्न अधिकारों से विभूषित किये गये हैं। ये अधिकार हैं - जीवन, स्वाधीनता और सुख की खोज। 3 इनकी प्राप्ति के लिए मानव समाज में सरकारों की स्थापना हुई जिन्होंने अपनी न्यायोचित शक्ति शासित की स्वीकृति से ग्रहण की है। जब कोई सरकार इन उद्देश्यों पर कुठाराघात करती है तो प्रजा को अधिकार

है तो प्रजा को अधिकार है कि वह उसे बदल दे अथवा उसका उन्मूलन कर दे और नई सरकार स्थापित करे जिसकी आधारशिला के सिद्धान्त तथा शक्ति का संगठन ऐसा हो कि यह अनुभव किया जा सके कि वह उसकी सुरक्षा और सुख को सर्वाधिक प्रभावित करेंगे। स्वतन्त्रता की घोषणा ने सभी उपनिवेशों को स्वतन्त्र राज्य घोषित किया। इसी घोषणा को आधार मानकर 1789 ई० की फ्रांसीसी क्रान्ति की नींव रखी गयी थी। साथ ही 1848 ई० में फिनलैण्ड, इटली, जर्मनी आदि देशों में हुए राष्ट्रवादी आन्दोलनों में इस घोषणा-पत्र स्पष्ट झलक मिलती है।

नव स्वतन्त्र अमेरिका की आन्तरिक स्थिति - तीन सितम्बर, 1783 की पेरिस की संधि के द्वारा अमेरिका के राज्यों के संघ की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी थी। 1789 ई० में नवीन संविधान के अनुसार अमेरिका की कांग्रेस का चयन हुआ। इस कांग्रेस ने जार्ज वाशिंगटन को सर्वसम्मति से अमेरिका का प्रथम राष्ट्रपति घोषित किया। जार्ज वाशिंगटन को नवीन राष्ट्र के निर्माण के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस समय अमेरिका के पास न तो धन था, न राष्ट्रपति के लिए निवास स्थान था, न कांग्रेस की बैठकों के लिए उपयुक्त भवन ही था। संघीय सरकार की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। देश का प्रत्येक वर्ग संघ का समर्थक भी नहीं था। जिन राज्यों ने संविधन को स्वीकार कर लिया थी, उनमें भी प्रबल अल्पमतए संघ का विरोध कर रहा था। उत्तरी कैरोलिना और रोड़द्वीप अभी तक संघ में सम्मिलित नहीं हुए थे।

इसके अतिरिक संघ के राज्यों में भी आपसी द्वेष भावना व्याप्त थी। भौगोलिक और आर्थिक दृष्टि से भी संघ के सदस्यों में असमानता थी। उत्तरी राज्य जहाँ साधन सम्पन्न थे वहीं दक्षिणी राज्य पिछड़े हुए तथा अर्ध-विकसित अवस्था में थे। 1760 ई० में उपनिवेशों में सामाजिक भेदभव व्याप्त था। वर्ग भेद में दासता की समस्या अत्यन्त गम्भीर थी।

इस प्रकार स्वतन्त्र अमेरिका के सम्मुख, सामाजिक व राजनीतिक असमानता की समस्याएँ थीं, जिसको हल करना नवीन राष्ट्र के लिए नितांत आवश्यक था। यद्यति अमेरिका के सम्मुख कई आनतरिक व बाह्य कठिनाइयाँ थीं फिर भी अमेरिका के इतिहास की मुख्य विशेषता यह रही कि जन्म से लेकर आज तक वह बे रोक-टोक प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। 1812 ई० में ब्रिटेन के साथ युद्ध और 1861 ई० के गृह-युद्ध को छोड़कर अमेरिका की भूमि पर एक भी विध्वंशकारी युद्ध नहीं हुआ। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अमेरिका के गुह-युद्ध ने चार वर्षों तक अमेरिका की प्रगति को रोके रखा। इसके कारण स्वयं अमेरिका की आर्थिक व सैनिक क्षति हुई।

राज्यों के आपसी स्वार्थ - उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संघ कमजोर था। इस कारण राज्यों में क्षेत्रीय स्वार्थ की भावनाएँ विकसित हुईं। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका का संघर्ष मुख्यतः आर्थिक स्वार्थो का संघर्ष था। उत्तरी प्रदेशों में व्यापारी तथा निर्माता थे। दक्षिण में बागानों के स्वामी और पश्चिम में किसान थे। ये सभी संघीय सरकार की नीति को अपने लाभ के लिए प्रभावित करना चाहते थे। इनमें कोई एक क्षेत्र प्रभावशाली नहीं था। अतः प्रत्येक अपने विरोधी के साथ सौदेबाजी करना चाहता था। मुख्य विवादपूर्ण प्रश्न प्रशुल्क, आन्तरिक सुधार, सरकारी भूमि नीति और बैंकिंग तथा मुद्रा सम्बन्धी था। उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी अमेरिका के राज्य अधिक रक्षणात्मक प्रशुल्क लगा कर इससे प्राप्त आय को आन्तरिक सुधारों पर खर्च करना चाहते थे। उत्तरी अमेरिका सरकारी भूमि की बिक्री पर रोक लगाना चाहता था ताकि मजदूरों को पश्चिम की और जाने से रोका जा सके। इस प्रकार राजनैतिक मंच अत्यधिक जटिल बन गया। वास्तव में अमेरिका का संघ अनिच्छुक राज्यों का संघ था, किन्तु आवश्यकताओं ने अन्हें संग रहने को मजबूर कर दिया था। कांग्रेस के सदस्य किसी विधेयक को तभी पारित कर सकते थे जबकि विरोधी हितों से समझौता कर लें। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं हो सका और अन्ततः अमेरिका को एक गृह-युद्ध में उलझना पड़ा। इस गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप ही वहाँ एक ऐसी सुदृढ़ राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हुई जों आज भी स्थिर हैं।

अमेरिका में दास प्रथा का स्वरूप - अमेरिका के संविधान में यह घोषणा की गयी थी कि "सब मनुष्य जन्म से बराबर हैं।" पर यह बात गोरे लोगों पर लागू होती थी, कालों पर नहीं। अमेरिका के राज्यों में दास-प्रथा उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा से दो सौ वर्षो पहले से आरम्भ हो चुकी थी। सर्वप्रथम ज्ञात व्यापारी वार का डचमेंन (Dutchman of Warre) था जिसने जेम्सटाउन में बीस हब्शी दास बेचे थे। सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक अमेरिका में अफ्रीकी नीग्रो दासों को इतनी बड़ी संख्या में लाया गया था कि प्रायः प्रत्येक यूरोपीय ईसाई के यहाँ लकड़ी काटने और पानी भरने के लिए एक नीग्रो दास था। अफ्रीकियों को अमेरिका ले जाकर गुलामों की तरह बेच देने का यह धन्धा लाभकारी था। इस प्रकार गुलामों का व्यापार बढ़ा और इसमें अंग्रेजों स्पेनियों और पुर्तगालियों ने व्यापार की तरह धन कमाया। गुलामों के व्यापार के लिए विशेष प्रकार के जहाज बनाये जाने लगे। गुलामों के व्यापार की नींव पर लिवरपूल बहुत बड़ा शहर

बन गया। 1730 में लिवरपूल के पन्द्रह जहाज इस धन्धे में लगे हुए थे। संख्या 1792 तक 132 हो गयी थी। औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने से लंकाशायर में रूई की कताई का उद्योग बहुत उन्नति कर रहा था और इसी कारण संयुक्तराज्य में गुलामों की माँग बढ़ गई क्योंकि लंकाशायर की मिलों में खपनेवाली रूई अमेरिका के दक्षिणी राज्यों के बड़े-बड़े कपास बागानों से आती थी। 1790 ई० में अमेरिका में दासों की संख्या 60 लाख थी। यद्यपि 1771 ई० में इंग्लैण्ड ने दास प्रथा की समाप्ति की घोषणा कर दी, किन्तु इस लाभदायक व्यवसाय को रोकने के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया। अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में निहित सिद्धान्त दास प्रथा की जड़ों पर आघात करते थे। उत्तर के लोगों ने दासता विरोधी अभियान चलाया और घोषणा पत्र को सार्थक बनाने के लिए समस्त अमेरिकी राज्यों से आग्रह किया। दक्षिण में दास प्रथा जनजीवन में घुल चुकी थी। अतः यहाँ के दास स्वामियों ने दास विरोधी भावनाओं का तिरस्कार किया। दासों का प्रश्न उत्तर और दक्षिण के बीच विवाद का विषय बन गया। दक्षिण के निवासियों ने दासों को अपनी निजी सम्पत्ति माना किन्तु उत्तर के निवासियों ने इसे मानवता के लिए कलंक कहा। 1830 ई० के बाद दासता का प्रश्न एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में उभरा। एक ओर दासों की माँग बढ़ रही थी तो दूसरी ओर दास विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। समाचार पत्रों के माध्यम से दास प्रथा के अत्याचार, दमनए क्रूरता, अमानवीयता आदि को प्रचारित किया जाने लगा। 1840 ई० तक अमेरिकी दास विरोधी समाज की दो हजार शाखाएँ तथा लगभग दो लाख सदस्य हो गये थे।

किन्तु दक्षिण अमेरिका ने मुक्ति आन्दोलन वालों को बाहर दिया। वहाँ समाचार पत्रों अथवा सार्वजनिक सभाओं में दासता का विरोध करना भी खतरनाक था। दास समर्थकों का कहना था कि प्रत्येक समाज में किसी न किसी वर्ग को शारीरिक श्रम करना होता है। सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास के लिए एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता होती है जो श्रम से विमुख न हो। ऐसी स्थिति में अमेरिका के समाज को उत्तरी श्रमिक आश्रित समाज अथवा दक्षिणी दास आधारित समाज में से किसी एक को प्राथमिकता देनी होगी। दोनों में से दासता, इनके तर्क के अनुसार अधिक सुरक्षित एवं स्थायी संस्था थी क्योंकि दास प्रथा में श्रमिक संगठनों, हड़तालों तथा जातिवादी वर्ग भेद का भय नहीं था। इसके साथ ही साथ उत्तरी उत्पादकों के विपरीत दक्षिणी कृषक अपने दासों को अधिक सुविधा प्रदान करते थे। इस मनोवृत्ति तथा तर्कों के आधार पर दक्षिणी अमेरिकियों ने दास प्रथा को आवश्यक बतलाया।

उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच दास प्रथा को लेकर जो मतभेद उत्पन्न हुए उन्हें सुलझाने के कई प्रयत्न किये गये थे। सीनेटर हेनरी क्ले ने कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखे। सितम्बर, 1850 में कांग्रेस ने इस सम्बन्ध में पांच कानून बनाये जिसमें कोलम्बिया जिले में दास व्यापार समाप्त करने तथा भगोड़े दास कानून (Fugitive Slave Law) महत्वपूर्ण हैं। ''भगोड़े दास कानून'' के उत्पीड़न से श्रीमती हैरियट बीचर स्टोबे (Mrs. Harriet Becher Stowe) को 'टामा काका की कुटिया' (Uncle Tome's Cabin) नामक उपन्यास लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इसमें दास प्रथा का इतना नग्न चित्रण किया गया था कि उत्तर और दक्षिण के लोगों में इस प्रथा की वीभत्सताओं के प्रति घृणा व्याप्त हो गयी। इस पुस्तक ने अमेरिका में दास प्रथा के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करने में जो कार्य किया, वह हजारों सभाओं, व्याख्यानों व पुस्तिकाओं द्वारा भी नहीं हुआ था। इस पुस्तक का कई भाषाओं में अनुवाद किया गया, जब नाटक के रूप में इसका रूपान्तरण किया गया तो दखने वाले रोमांचित हो उठे। अभी तक दासता को अमूर्त तर्कों द्वारा बुरा बताया जाता था, किन्तु इस उपन्यास के पात्रों ने उसे साकार रूप प्रदान किया। दास प्रथा के विरोध में जो लोग इस समय विशेष रूप से कार्य कर रहे थे, उनमें अब्राहम लिंकन का नाम उल्लेखनीय था।

गृह-युद्ध के कारण - अमेरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों में संघर्ष की परम्परा प्राचीन थी। 1787 ई० में संघीय तथा गणतन्त्रीय वर्गों में मतभेद उत्पन्न हुआ था। उन्नीसवी शताब्दी के आर्थिक मूल्यों ने भी इस मतभेद में बढ़ोतरी की। 1820 एवं 1830 तक संघीय राजनीति में मतभेद विशेष रूप से प्रभावशाली थे, परन्तु 1848 ई० के पश्चात् इनके आधार पर ही राजनीतिक दशा निर्धारित होने लगी थी। अतः यह संघर्ष अमेरिका में गृह-युद्ध के रूप में सामने आया। इस गृह-युद्ध के लिए बहुत से कारण जिम्मेवार थे :

1. आर्थिक असमानता - अमेरिका के उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के बीच आरम्भ से ही आर्थिक असमानता विद्यमान थी। उत्तरी राज्य प्रधानतः औद्योगिक थे और वहाँ बड़े-बड़े उद्योगों का विकास तीव्र गति से हो रहा था। इन राज्यों में सूती कपड़े, ऊनी वस्त्र, जूते, चमड़े का सामान, लकड़ी की वस्तुएँ बड़े पैमाने पर उत्पादित होती थीं। इन कारखनों में

मशीनों की सहायता से कार्य होता था, और इनमें आर्थिक उत्पत्ति के लिए गुलामों का विशेष उपयोग नहीं था। इसके विपरीत दक्षिणी राज्यों का आर्थिक जीवन कृषि पर आधारित था। कृषि के लिए उपयुक्त व यान्त्रिक शक्ति से संचालित होने वाले यन्त्रों का विकास उस समय तक नहीं हुआ था। अतः इन राज्यों के किसान अपनी खेती के लिये गुलामों के श्रम पर ही निर्भर थे। दक्षिण में कपास व गन्ने की खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती थी, जिनमें दास, मजदूर के रूप में कार्य करता था। दक्षिण का समाज पूर्ण रूप से दासों पर निर्भर था। अतः दक्षिण के राज्य दास प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। इस मतभेद के कारण उत्तर तथा दक्षिण के आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और उनके बीच 1830 ई० से ही तट करों व चुंगियों के मामलो में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। राज्य अपने - अपने स्वार्थों के कारण संघीय हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। देश दो राजनैतिक दलों में विभक्त था। एक दल हर राज्य की प्रभुता का पक्षधर था तो दूसरी मजबूत केन्द्रीय सरकार चाहता था। यूरोप के प्रवासी उत्तरी अमेरिका में अधिक लाभ की सम्भावनाएँ देखते थे। 1860 ई० केवल 13 प्रतिशत विदेशी अप्रवासी दक्षिणी राज्यों में निवास करते थे। 1860 ई० तक समस्त अमेरिकी उद्योगों का केवल दस प्रतिशत भाग दखिण में स्थित था। यद्यपि दक्षिण में अन्य प्राकृतिक सम्पदा भी उपलब्ध थी परतु वह तब तक पूँजी निर्मित करने में असमर्थ थी जब तक कि कपास का साम्राज्य स्थापित था। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप दक्षिणी राज्यों में अन्य व्यवसायों, मजदूर वर्गों व्यापार आदि को प्रोत्साहन प्राप्त न हो सका तथा दक्षिणी सामाजिक संरचना में प्रमुखतया ग्रामीण और कृषक ही हो। इस प्रकार आर्थिक विषमता के कारण उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के अर्थचक्र, जीवन दर्शन, राजनीतिक विचारधारा, सामाजिक स्तर, में बहुत बड़ा मतभेद था और इसी मतभेद को समाप्त करने के लिए अब्राहम लिंकन ने गृह-युद्ध में भाग लेकर संघीय व्यवस्था को मजबूत बनाने का कार्य किया।

2. दास प्रथा - गृह-युद्ध का मौलिक कारण दास प्रथा थी। दास मालिकों ने इस प्रिय संस्था की रक्षा के लिए राज्य सम्प्रभुता के प्रश्न पर संविधान की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की, संघ से अलग हुए और ऐसे कार्य किये जिनसे उत्तरवासियों के दिल में अविश्वास और रोष पैदा हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अमेरिका के आम लोग दास व्यापार को बुरी नजरों से देखने लगे थे। उत्तरी अमेरिका में तो दास-व्यापार समाप्त कर दिया था। दास प्रथा उत्तर में पेन्सिवानिया की दक्षिणी सीमा तक बन्द हो गई थी। इस सीमा रेखा को मैसन-डिक्सन सीमा कहा जाता है। एलीगनीज के पश्चिम के नए प्रदेश में और ओहिया नदी के उत्तर में दास प्रथा 1787 ई० के अध्यादेश द्वारा बन्द की चुकी थी। दक्षिणी अमेरिका में भी दास प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही थी, किन्तु दक्षिण में यह कार्य कानून द्वारा न होकर व्यक्तियों के हृदय -परिवर्तन द्वारा पूरा हो रहा था। किन्तु इसी बीच उद्योगों की उन्नति के साथ साथ दास व्यापार बहुत ही लाभप्रद व्यवसाय हो गया और इसलिए अब कोई भी इस लाभदायक व्यवसाय को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। धीरे-धीरे दास प्रथा अमेरिका की राजनीति में अत्यन्त जटिल प्रश्न बन कर रह गया।

स्वतन्त्रता की घोषणा के प्रारूप में एक धारा यह भी थी कि दास व्यापार जार्ज तृतीय का पाप था, किन्तु बाद में दक्षिणी कैरोलीना और जार्जिया की इच्छाओं के प्रति सम्मान रखने के लिए इस धारा को हटा दिया गया। 1787 के अध्यादेश ने ओहिया नदी के उत्तर के सारे प्रदेश में दास प्रथा को बन्द करा दिया था, फिर भी यह छूट दे रखी थी कि जो दास भाग जायें उसको पुनः पकड़ा जा सकेगा। सम्भवतः अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने समय की आवश्यकता के अनुरूप दास प्रथा के प्रश्न पर समझौता कर लिया था। संविधान में यह स्वीकार कर लिया गया कि राज्यों के विधान मण्डलों के निर्वाचनों में हब्सी दासों को भाग मिलेगा किन्तु बन्दिश यह रखी गई थी कि हब्सी दासों की संख्या के 3ê5 भाग को ही उक्त अधिकार प्रदान किया गया। इसके पश्चात् 1820 ई० में मिसूरी समझौते के द्वारा दास व्यापार तीस वर्ष और चला। 1850 ई० तक दासों की संख्या 32 लाख तक पहुँच चुकी थी। 1850 ई० में भागे हुए दासों से सम्बन्धित कानून (Fgitive Slave Law) बनाया, जिसका उत्तरी राज्यों ने विरोध किया। इसके चार वर्ष बाद केन्सास नेब्रास्का विधेयक द्वारा मिसूरी समझौते को रद्द कर के दक्षिण ने महान् सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका दासता के प्रश्न पर एक मत नहीं था। उत्तरी अमेरिका इसको समाज के लिए कलंक समझता था, वहीं दक्षिणी बमेंरिका के लिए यह आवश्यक बुराई थी, जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता था। दोनों पक्षो में से कोई भी समझौते के लिए तैयार नहीं था। कुछ विचारकों का मानना है कि "वास्तव में दास व्यापार के पीछे अमेरिका अपनी सीमा पश्चिम की और बढ़ाना चाहता था। इस कारण दास व्यापार के बारे में समझौते के सब प्रयत्न विफल हो गये। दासता के बढ़ते हुए प्रभाव पर व्यंग कसते हुए कवियों और पत्रकारों ने कहा कि

"अमेरिकी झण्डे से तारों का प्रकाश और प्रभात की लाल किरणें मिटा देनी चाहिये और इस पर कोड़े तथा बेड़ियाँ अकिंत कर देनी चाहिये।"

3. अब्राहम लिंकन का निर्वाचन - अमेरिका के इतिहास में अब्राहम लिंकन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लिंकन के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने से यह निश्चित था कि दास प्रथा अब अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकेगी। 1860 ई० के निर्वाचन में डेमोक्रेटिक पार्टी की फूट के फलस्वरूप रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार लिंकन को विजय प्राप्त हुई थी, किन्तु रिपब्लिकन पार्टी ने अपने चुनाव प्रचार में दासता की अपेक्षा दूसरे प्रश्नों को अधिक महत्त्व दिया था। लिंकन ने एक बार कहा था कि "दासता जिस स्थिति में है वह उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। यदि मुझे सारे नैतिक अधिकार और शक्तियाँ भी प्राप्त हो जाएं तो में यह नहीं जानना चाहूँगा कि मुझे दास प्रथा की इस स्थिति का क्या उपयोग करना है। वास्तव में लिंकन के भारी बहुमत से विजयी होने के कारण दक्षिणी राज्यों को यह चिन्ता हो गई थी कि नई सरकार उनकी संस्थाओं तथा विशिष्ट सभ्यता को नष्ट कर देगी। मिसीसिप्पी राज्य के विचारानुसार उत्तरी जनता ने दक्षिणी राज्यों के प्रति एक बगावत की सी स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इस भावना ने दक्षिण के अनेक राज्यों को संघ से अलग होने के लिए प्रेरित किया।

4. राजनैतिक प्रचार द्वारा भय का वातावरण - दास प्रथा विरोधियों ने दक्षिणी राज्यों में यह भय उत्पन्न कर रखा था कि उत्तर द्वारा दक्षिण की ऐतिहासिक श्रम प्रणाली को नष्ट कर दिया जायेगा। उत्तरी राज्यो के नेताओं द्वारा दक्षिणवासियों की जो आलोचना की गई उनमें से अधिकांश स्वार्थपूण, अव्यावहारिक और अपमानजनक थी। फलतः दक्षिणवासियों में आशंका, भय, घृणा और रोष का वातावरण पैदा हुआ। दूसरी ओर दक्षिणवासियों द्वारा दास प्रथा को फैलाने के लिए जो प्रयास किये जा रहे थे उनके कारण उत्तर में लिंकन जैसों को भी भय हुआ कि कहीं समस्त देश में दास प्रथा न फैल जाये। 1857 ई० के आरम्भ में सर्वोच्च न्यायाधीश राजरटेनी और सर्वोच्च न्यायालय के बहुमत ने ड्रेड स्टाक अभियोग में घोषणा की कि कांग्रेस को प्रदेशों से दास प्रथा को हटाने का कोई अधिकार नहीं है। संविधान का ऐसा अर्थ निकालना बुरा था। इस प्रश्न पर अमेरिका में काफी वाद-विवाद हुआ। अब्राहम लिंकन तथा स्टीफन डगलस में राजनैतिक रूप में दास प्रथा को लेकर वाक् युद्ध हुए। लिंकन ने दासता को नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक रूप से दोषपूर्ण संस्था की संज्ञा दी। डगलस ने नैतिकता के प्रश्न का विषयान्तर कर फ्रीफोर्ट सिद्धान्त को मान्यता दी जिसके अनुसार दासता का प्रश्न प्रान्तीय संविधान के अन्तर्गत था। इस सिद्धान्त ने दक्षिण में आलोचना का वातावरण उत्पन्न कर गृह-युद्ध को आवश्यक बना दिया।

5. दास-मालिकों की गलतियाँ - दास-मालिकों का सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने संघ को तोड़ने के प्रयास में युद्ध आरम्भ किया। यह एक दुःसाहस था जो उनकी दुर्भाग्यपूर्ण भूल सिद्ध हुआ। अब तक दास-मालिकों की रक्षा संविधान और उत्तर के राजनीतिज्ञों द्वारा की जा रही थी किन्तु अब उन्होंने संविधान की धज्जियाँ उड़ा दी और उत्तरी मित्रों से नाता तोड़ लिया। अब यह विवाद अन्तिम न्यायालय जनता के सम्मुख था। दास-मालिकों को संघ से हटने और युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व यह सोचना चाहिये था कि उत्तर की शक्ति दक्षिण से अधिक थी, संघीय भावनाएँ अत्यन्त प्रभावशाली थी तथा विदेशी मान्यता और सहायता प्राप्त करना सरल नहीं था। उन्होने यह सोचा होगा कि अस्थाई रूप से संघ से पृथक् होकर अच्छी शर्तों पर समझौता किया जा सकेगा। उनका यह सोचना सही नहीं था।

6. रूई राज्यों का संघ से पृथक् होना - अब्राहम लिंकन की जीत का समाचार दक्षिण के राज्यों पर वज्र की भाँति गिरा। अनेक दक्षिणी नेताओं ने चुनाव से पूर्व ही यह तय कर लिया था कि वे रिपब्लिकन राष्ट्रपति के अधीन संघ में नहीं रहेंगे। इस दिशा में पहला कदम कैरोलिना द्वारा उठाया गया। उसने 20 दिसम्बर, 1860 को संघ से अलग होने की घोषणा कर दी। उसने घोषणा पत्र में कहा था कि उत्तर के तेरह राज्यों ने जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कानून पास किये हैं वे संविधान के विरुद्ध हैं। साथ ही उत्तरी राज्यों के दास विरोधी आन्दोलन ने इस व्यक्तिगत सम्पत्ति (दास) को असुरक्षित बना दिया है तथा दक्षिण पर उच्च तटकर लगा कर उत्तरी राज्यों को लाभ पहुँचाने का प्रयास किया गया है। 4 मार्च, 1861 को जब लिंकन ने राष्ट्रपति पद ग्रहण किया, उस समय तक दक्षिण के सात राज्य संघ से अलग हो चुके थे। इन राज्यों ने मिलकर 4 फरवरी, 1861 को एक दक्षिण परिसंघ (Southern Confederacy) बनाया। इस परिसंघ ने जेफरसन डेविस को अपना राष्ट्रपति चुना। उन्होंने संयुक्त राज्य के संविधान के समान अपना संविधान बनाया, किन्तु उन्होंने उक्त परिसंघ के ऐक्य को ही पूर्ण प्रभुसत्ता को स्वीकार किया जिसमें ऐक्य राज्यों के परिसंघ से अलग होने के अधिकार को स्पष्टतः स्वीकार किया गया। इस प्रकार ज्वालामुखी का विस्फोट सन्निकट था। किन्तु लिंकन कृत-संकल्प था कि संघ को किसी भी कीमत बचाना होगा। राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो जाने के बाद अब्राहम लिंकन ने स्पष्ट घोषणा की थी, कि संयुक्त

राज्य अमेरिका के रूप में जो संघ स्थापित किया गया था, वह अखण्डनीय और शाश्वत है, उसकी अखण्डनीयता को किसी भी प्रकार नष्ट नहीं होने दिया जायेगा। लिंकन ने विद्रोही राज्यों को वश में लाने के लिये एक स्वयंसेवक सेना का गठन किया। विद्रोही राज्यों ने भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सेना एकत्र की और दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हो गया।

समझौता प्रयासों की असफलता - दक्षिण के सात राज्यों का संघ से पृथक् होना संयुक्त राज्य के अस्तित्व के लिए एक विकट समस्या थी। अमेरिका संविधान निर्माताओं ने किसी राज्य को संघ से पृथक् होने का अधिकार स्पष्टतः नहीं दिया था क्योंकि वे इसे बनाये रखना चाहते थे। समझौता करने हेतु न्यूयार्क, बोस्टन और फिलाडेलफिया में अनेक सभायें की गयी। इनमें समझौतावादी भावनाएँ अभिव्यक्त हुई। दास विरोधी वक्तव्यों पर रोक लगायी गई और आमसभाओं अखबारों तथा दूसरे मंचों से दास विरोधी विषवमन पर प्रतिबन्ध लगाया गया ताकि दक्षिणवासी समझौतावादी दृष्टिकोण अपना सकें। जनता ने युद्ध अथवा संघ भंग करने की अपेक्षा पुरानी शासन व्यवस्था को उपयुक्त माना, इसलिए लिंकन विरोधी हजारों प्रस्ताव पास किये गये। इस सभाओं के अतिरिक्त वाशिंगटन में वर्जीनिया द्वारा एक शान्ति कांग्रेस बुलाई गई। इसमें संघ में स्थित सभी दक्षिणी राज्यों और अधिकांश उत्तरी राज्यों के प्रतिभाशाली प्रतिनिधियों ने भाग लिया। तीन सप्ताह की कार्यवाही के बाद इसने कांग्रेस को अपनी सिफारिशें भेजीं किन्तु वे प्रभावहीन रहीं। 18 दिसम्बर को सीनेटर क्रिटेन्डन ने समझौते का एक प्रस्ताव सीनेट में प्रस्तुत किया। दो दिन बाद इस पर विचार करने के लिए 13 सदस्यों की एक समिति बनाई गई। इसमें सभी दलों का प्रतिनिधित्व था। समिति ने बताया कि कांग्रेस को 36° 36' रेखा के दक्षिण में स्थित किसी राज्य अथवा प्रदेश में दासता पर हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं है। यह प्रावधान एक संशोधन के रूप में संविधान में जोड़ देना चाहिये और भविष्य इस पर कोई संशोधन लागू नहीं होना चाहिये। डेमोक्रेट्स ने इसका समर्थन किया किन्तु कट्टर दक्षिणी और रिपब्लिकन पार्टी ने विरोध में मत देकर इसे गिरा दिया। इसी समय प्रतिनिधि सभा भी अपनी 33 सदस्यों की एक समिति द्वारा समझौते का प्रयास कर रही थी। समझौता प्रयास असफल रहे तथा दक्षिणी राज्यों का संघ विरोधी दृष्टिकोण होने से गृह-युद्ध नहीं टाल सका।

गृह-युद्ध का आरम्भ - 12 अप्रैल, 1861 को जब दक्षिणी कैरोलिना ने सुम्टर (Sumter) के किले पर बम फैंककर संघ के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया तो लिंकन के लिए यह आवश्यक था कि सशस्त्र हस्तक्षेप द्वारा विघटित संघ की रक्षा करे। 15 अप्रैल, 1861 को उसने 75 हजार नागरिकों की सेना को संघ के कानून को लागू करने के लिए तैनात किया और परिसंघ के तटों की नाकेबन्दी के आदेश दे दिये। राज्य संघ की राजधानी, मांटगुमरी से रिचमान्ड में स्थानान्तरित की गई। यह वाशिंगटन से 100 मील दूर ही थी। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका का यह युद्ध 12 अप्रैल, 1861 में आरम्भ होकर 26 मई, 1865 में समाप्त हुआ है। अमेरिका के इतिहास में इस गृह-युद्ध को दो नामों से लिखा जाता है। उत्तरी राज्यों में इसे 'महान् विद्रोह' कहा जाता था, और दक्षिणी राज्यों में 'राज्यों का युद्ध'। हम यहाँ इसको गृह-युद्ध के नाम से ही लिखेंगे क्योंकि यह संयुक्त राज्य अमेरिका की घरेलू लड़ाई थी।

दोनो पक्षों के साधन स्रोत - इस गृह-युद्ध के बारे में विस्तार से परिचित होने से पूर्व यह ज्ञात होना आवश्यक है कि उत्तर और दक्षिण की तुलनात्मक स्थिति क्या थी। गृह-युद्ध आरम्भ होने के समय दोनों पक्षों ने एक दूसरे की शक्ति का गलत अनुमान लगाया था। इसलिए दोनों शीघ्र अपनी-अपनी विजय की आशा लगा रहे थे। इतने पर भी यह युद्ध चार वर्ष तक चला और तभी बन्द हुआ जबकि दक्षिण के लोग थक गये।

इस युद्ध में आरम्भ से ही उत्तर की स्थिति सुदृढ़ थी। उत्तर के तेरह स्वतन्त्र राज्यों में लगभग एक करोड़ 90 लाख और चार दास-राज्यों में 30 लाख नागरिक थे। उत्तर में सेना को एकत्रित एवं संगठित करने के उद्देश्य से नागरिक सेना एवं अन्य रूप में भर्ती का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। जुलाई, 1861 में सेना में प्रवेश के लिए आकर्षण उत्पन्न करने के उद्देश्य से 100 डालर का अतिरिक्त वेतन देने का प्रायोजन किया गया। 1863 ई० में यह धन राशि नवीन सैनिकों के लिए 302 डालर कर दी गई और अनुभवी सैनिकों के लिए 402 डालर की गई। इस नीति के परिणामस्वरूप इस युद्ध के अन्तिम समय तक उत्तरी राज्यों के पास 20 लाख सैनिक हो गये थे। उत्तर में उद्योग एवं यातायात के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। उत्तर में औद्योगीकरण के कारण वहां की आर्थिक स्थिति भी सदृढ़ थी। संचारण एवं रेलवे ने

सैनिकों और खाद्य सामग्री के स्थानान्तरण में पर्याप्त रूप से योगदान दिया। उत्तरी राज्यों के विदेशियों से व्यापारिक तथा कूटनीतिक सम्बन्ध अच्छे थे। लिंकन के प्रशासन ने कूटनीतिक कुशलता के कारण दक्षिणी परिसंघ विदेशों से सम्बन्ध नहीं बना सका। फलतः इसे किसी विदेशी शक्ति ने मान्यता नहीं दी; अन्यथा दक्षिणी बन्दरगाहों की नाकेबन्दी एक घंटे में टूट सकती थी और तब दक्षिण अपनी रूई बेचकर बदले में मनचाहा भोजन, कपड़ा और युद्ध के हथियार प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार उत्तरी राज्यों में सेना, यातायात, संचार एवं खाद्य सामग्री की विपुलता ने उत्तरी लोगों को युद्ध में स्थायित्व प्रदान किया।

दक्षिण में भी सेना के संगठन हेतु नागरिक एवं अनिवार्य भर्ती को योजनाबद्ध किया गया। दक्षिण में 18 वर्ष से 45 वर्ष तक की आयु के लोगों को परिसंघ की सेना में भर्ती किया गया। फिर भी दक्षिण सेना के पास 8 लाख सैनिक ही एकत्रित हो पाये थे। वहाँ की जनसंख्या में 65 लाख गोरे व्यक्ति तथा 35 लाख दास थे। आर्थिक रूप से भी दक्षिण की स्थिति उत्तर की अपेक्षा आधिक अशक्त थी। दक्षिण के राज्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशियों पर निर्भर रहना पड़ता था। उत्तरी राज्यों ने दक्षिण के तटीय प्रदेशों को घेर कर दक्षिण में आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न कर दिया। दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के बारे में निष्कर्ष रूप से नेव्हिन्स और कोमेंगर के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "सभी दृष्टियों से देखा जाय तो उत्तर के लोग दक्षिणवासियों से कही अधिक शक्तिशाली थे। लेकिन दक्षिण वालों की जीत की आश बहुत कुछ इसी बात पर टिकी हुई थी इतने लम्बे-चौड़े प्रदेश और विशाल असंतुष्ट आबादी को जीतना कठिन होगा।"

गृह-युद्ध में यूरोपियन राज्यों का रुख - युद्ध के आरम्भ में इंग्लैण्ड और फ्रांस का प्रशासक वर्ग परिसंघ के साथ था किन्तु इन देशों का जनमत इस प्रश्न पर विभाजित था। अधिकांश लोगों ने इसे दासता और स्वतन्त्रता का संघर्ष माना और उत्तर के साथ सहानुभूति दिखाई। दक्षिण के राज्यों का अनुमान था कि इंग्लैण्ड और फ्रांस को रूई प्राप्ति के कारण परिसंघ का समर्थन करना होगा। दक्षिणी राज्यों की नाकेबन्दी के कारण यद्यपि ब्रिटेन की सूती मिलों पर संकट आया किन्तु जनभावनाओं ने उत्तर का ही समर्थन किया। ट्रेन्ट काण्ड तथा अलाबामा की घटनाओं ने भी इंग्लैण्ड तथा संघीय राज्यों में मतभेद उत्पन्न किया किन्तु यह मतभेद शीघ्र दूर हो गये।

गृह-युद्ध के समय दक्षिणी राज्य चाहते थे कि यदि उन्हें विदेशी सहायता तथा मान्यता प्राप्त हो जाय तो यह युद्ध में सहायक होगी। ये राज्य इंग्लैण्ड तथा फ्रांस को नाकेबन्दी तोड़ने और मध्यस्थता के लिए तैयार करना चाहते थे। उत्तरी राज्यों का यह विश्वास था कि यदि बाहरी हस्तक्षेप न हो तो यह दक्षिण को परास्त कर देगा। अतः उसने यह प्रयास किया कि दूसरे देशों को दक्षिण को मान्यता देने से रोके। गृह-युद्ध में इंग्लैण्ड तथा फ्रांस का विशेष प्रभाव रहा। यह दोनों देश क्रीमिया युद्ध में रूस के विरुद्ध लड़े थे और इन्होंने एक संधि द्वारा इस बात को भी स्वीकार किया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्धित प्रश्नों पर इंग्लैण्ड की बात स्वीकार की जायेगी। इस समय यूरोप की तीसरी शक्ति रूस ने उत्तरी अमेरिका का समर्थन किया। अतः दक्षिण की स्थिति दयनीय हो गयी।

इस प्रकार दोनों प्रतिद्वन्दियों में इतनी असमानताएँ होते हुए भी युद्ध चार वर्ष तक चलता रहा। युद्ध के प्रथम तीन वर्ष तक संघ के सैनिक संगठन का सर्वोच्च निर्देशक राष्ट्रपति लिंकन था। प्रारम्भ से ही उसने अपनी सेनाओं का मुख्य लक्ष्य दक्षिणी प्रदेश पर अधिकार करना नहीं वरन् परिसंघ की सेनाओं का विनाश करना बनाया। 1864 ई० में यू० एस० ग्राण्ट को मुख्य सेनापति बनाया गया। दक्षिणी राज्यों के परिसंघ का सैनिक नेतृत्व आरम्भ में उन योग्य सेनाध्यक्षों के हाथों में रहा जिन्हें संयुक्त राज्य के योग्यतम सेनाधिकारी कहा जा सकता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण नाम रोबर्ट ई० ली० का था। उसके अतिरिक्त जेक्सन, एलबर्ट जान्सटन, जार्जिफ जोन्सन, जार्ज ब्राउन आदि ने भी संचालन का कार्य किया था।

दास प्रथा का अन्त (1863 ई०) - अब्राहम लिंकन दासों की स्वतन्त्रता का समर्थक होते हुए भी युद्ध के आरम्भिक काल में ऐसी घोषणा नहीं करना चाहता था क्योंकि इससे लाभ होने की अपेक्षा हानि होने की सम्भावनाएं अधिक थीं। लिंकन का कहना था कि "यह सरकार स्थाई रूप से आधी दास और आधी स्वतन्त्र रहकर नहीं चल सकती है। वह दासता को आगे बढ़ने से रोकेगा।" प्रदेशों में इसका प्रसार नहीं होने देगा और इस प्रकार यह अन्त में स्वयंमेव ही समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार युद्ध के दौरान यह स्पष्ट हो गया कि उत्तर की विजय के बाद दास-प्रथा समाप्त ही जायेगी क्योंकि जिस क्षेत्र में उत्तर की विजयी सेनायें पहुँचती थीं वहाँ के दास अपने खेतों को छोड़ का संघ की सेना के साथ

हो लेते थे। यहाँ लिंकन की स्थिति को समझ लेना आवश्यक होगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह दास व्यापार का विरोधी था और उनको मुक्त देखना चाहता थ परन्तु वह संविधान के विरुद्ध किसी भी हालत में नहीं जाना चाहता था। साथ ही उसकी रुचि सर्वाधिक यूनियन को बचाने में थी। तात्कालिक स्थिति में उसने तीन कारणों से दास मुक्ति की घोषणा करना ठीक समझा - (i) इससे नीग्रों दासों की सेवाओं का पूरा उपयोग किया जा सकता था। (ii) यूरोप के उदारवादियों का समर्थन प्राप्त करने के लिये यह उपयोग किया जा सकता था। (iii) रिपब्लिकन दल के रेडीकल्स लगातार इसकी माँग कर रहे थे।

लिंकन ने एक आदेश के द्वारा 1 जनवरी, 1863 को संघ के साथ युद्ध करने वाले सभी राज्यों के दासों की घोषणा कर दी। इस घोषणा के दूरगामी परिणाम हुए। एक महत्वपूर्ण परिणाम तो यह हुआ कि दास-व्यापार सदैव के लिए समाप्त हो गया। यहाँ तक कि गृह-युद्ध समाप्त भी नहीं हुआ था कि दक्षिणी राज्यों के परिसंघ में दासों को सैनिक के रूप में भर्ती किया जाने लगा और उन्हें आश्वासन दिया जा रहा था कि सैनिक सेवा में भर्ती होने पर उन्हें दासतत्व से मुक्ति दे दी जायेगी। इसके अतिरिक्त उत्तरी राज्यों को विदेशी राज्यों का भी समर्थन प्राप्त होने लगा था।

दक्षिण की पराजय - दास-मुक्ति की घोषणा के पश्चात् दक्षिणी परिसंघ प्रायः संघीय सेनाओं से घिरा रहा। वास्तव में यहीं से युद्ध का पासा पलट गया। परिसंघ के प्रमुख जैक्सन की मृत्यु ने दक्षिण की कमर तोड़ दी थी। उसके कुछ ही समय बाद सेनापति जान ब्राउन की भी मृत्यु हो गयी। उत्तरी राज्यों की शक्ति बढ़ती जा रही थी। अन्ततः दक्षिणी राज्य पूर्णतः परास्त हुए। 26 मई, 1865 तक परिसंघ की सभी सेनाएँ आत्मसमर्पण कर चुकी थीं।

लिंकन की हत्या - 4 मार्च, 1865 को अब्राहम लिंकन ने राष्ट्रपति के रूप में अपना द्वितीय कार्यकाल प्रारम्भ किया। उसने उद्घाटन भाषण के समय अविस्मरणीय शब्दों का प्रयोग करते हम वह सब करने को कहा था जो न्यायपूर्ण तथा स्थाई शान्ति की स्थापना कर सके। लिंकन ने अमेरिका का यथार्थ रूप में संयुक्त राष्ट्रीय निर्माण किया, दास्ता उन्मूलन कर समाज को नव ज्योति दी तथा अमेंरिकी राजनैतिक तन्त्र को केन्द्रित किया। इस महान् नेता ने अमेंरिकी इतिहास में उस अध्याय का प्रारम्भ किया जिसके उनरान्त देश उन्नति के सोपाने पर अग्रसित हुआ। दुर्भाग्यवश अमेंरिकी ऐतिहासिक एकता के सृजन के स्रोत की आकस्मिक हत्या ने उसे अपने स्वप्न को साकार होते देखने से वंचित कर दिया और 14 अप्रैल, 1865 को जान विस्कस बुथ द्वारा उसकी हत्या कर दी गई।

गृह-युद्ध प्रभाव और परिणाम - गृह-युद्ध ने अमेरिका के इतिहास में एक नवीन युग एवं अध्याय का समावेश किया।

अमेरिका इतिहास में इस 'भाई-भाई के युद्ध' ने जहाँ एक और संघर्ष तथा विध्वंसता का परिचय दिया वहीं दूसरी ओर इस संघर्ष में अमेरिका के समाजिक, राजनैतिक और आर्थिक मूल्यों में की। इस गृह-युद्ध की व्यापकता का अनुमान अमेंरिकी क्रान्ति से इसकी तुलना करके लगाया जा सकता है।

1. जन-धन की हानि - अमेरिका में 1919 ई० तक जितने भी युद्ध हुए उनमें यह गृह-युद्ध, युद्ध में संलग्न मनुष्यों की संख्या की दृष्टि से और जितने विस्तीर्ण क्षेत्र में यह युद्ध लड़ा गया उस दृष्टि से, सबसे बड़ा युद्ध था। इस युद्ध में उत्तरी अमेरिका के 3 लाख 60 हजार तथा दक्षिणी अमेरिका के 2 लाख 58 हजार व्यक्तियों के मरने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त लाखों व्यक्ति ऐसे भी थे जो शारीरिक रूप से हमेंशा के लिए बेकार हो गये थे। युद्ध में दोनों पक्षों का पर्याप्त धन खर्च हुआ। संघीय सरकार का व्यय औसतन 30 लाख डालर प्रतिदिन था। अगस्त, 1865 में सरकारी ऋण भी 2 अरब 85 करोड़ डालर हो गया था। इसके अतिरिक्त दक्षिणी राज्यों का व्यय और सम्पत्ति का व्यापक विनाश भी उल्लेखनीय है। दक्षिण के सभी बैंक और बीमा कम्पनियाँ फेल हो गई। एच० डब्ल्यू० एलसन ने तो युद्ध का कुल खर्च दस अरब डालर बताया है।

2. सुदृढ़ राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना - गृह-युद्ध ने चिरकालिक प्रान्तीय एवं संघीय राज्यों के अधिकारों के विवाद को सुलझा दिया। इस संघर्ष ने अमेरिका के राजनैतिक एवं प्रशासनिक केन्द्रों को सुदृढ़ता प्रदान की। दक्षिण के जिन राज्यों ने काले कानून (Black Codesa) पास किये थे, उन्हें विवश होकर ये कानून वापस लेने पड़े। संविधान के 14 वें और 15 वें संशोधनों द्वारा दासों को पूर्ण मताधिकार प्रदान कर दिया कर दिया गया और उन्हें समान नागरिक आधिकार भी प्रदान किये गये। अब राजनैतिक रूप से अमेरिका को वास्तविक संयुक्त राष्ट्र का रूप प्रदान किया गया। निःसन्देह दास प्रथा का

उन्मूलन केन्द्रीय शक्तियों का संगठन एवं राष्ट्र की एकरूपता इस संघर्ष की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस गृह-युद्ध के सम्बन्ध में प्रो० एच० बी० पार्किंस ने लिखा है कि ''गृह-युद्ध में उत्तर की विजय ने राष्ट्रीय एकता की शक्तियों को मजबूत बनाया और राज्यों के अधिकारों के सिद्धान्त को अन्तिम पराजय दी।''

3. औद्योगिक प्रसार - अमेरिका के गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप पुरानी आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गयी तथा उसका स्थान औद्योगीकरण ने ले लिया। दक्षिण की कृषि अर्थ व्यवस्था नष्ट हो गयी तथा उत्तर के व्यापारिक विकास पर भी इसका प्रभाव पड़ा। युद्ध काल में कीमतें युद्ध पूर्व की अपेक्षा 117 प्रतिशत बढ़ गयी। जबकि मजदूरी में केवल 43 प्रतिशत वृद्धि हुई। फलतः लाभ की मात्रा बढ़ गयी। युद्ध सामग्री के साथ कपास औटन तथा अन्य उद्योगों ने भी आधुनिकता को स्वीकार किया। औद्योगिक क्रान्ति ने नगर निर्माण, यातायात तथा रेल उद्योग का विकास किया। 1812 ई० ब्रिटेन के साथ हुए युद्ध ने जहाँ फैक्ट्री प्रणाली आरम्भ की वहीं गृह-युद्ध ने औद्योगिक समृद्धि का सूत्रपात किया। इस समय से अमेरिका में नव-आर्थिक युग का सूत्रपात हुआ। इस युग में अमेरिका औद्योगिक समृद्धि से पूँजीवाद की ओर अग्रसर हुआ।

4. सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन - अमेरिका के गृह-युद्ध के आरम्भिक वर्ष में शान्तिपूर्ण लोगों ने 5 लाख सैनिकों की सेना तैयार कर ली थी। इससे ऐसा माना जाने लगा कि अमेरिका में सैनिक शासन आरम्भ हो जायेगा, किन्तु युद्ध के बाद उक्त 5 लाख सैनिक शान्तिपूर्वक सामान्य जनता में ऐसे मिल गये जैसे कोई विशेष घटना घटित ही नहीं हुई थी। युद्ध के बाद केवल 25 हजार सैनिकों को नियमित सेना में रखा गया। युद्ध के बाद उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों के लोगों के हृदय आपस में मिल गये। इससे नये सामाजिक मूल्यों का विकास हुआ। यद्यपि अमेरिकी समाज में पूँजीपति एवं समृद्ध वर्ग का उदय हुआ, परन्तु श्रमिकों की स्थिति को सुधारने तथा उन्हें शिक्षित करने का भी प्रयास किया गया। सैनिकों के हितों का भी विशेष ध्यान रखा गया। क्लेराबार्टन ने परिचारिका (नर्स) तथा अमेरिकी रेड क्रास संस्था को एक नया रूप प्रदान किया।

5. उत्तरी राज्यों का राजनैतिक एकाधिकार - गृह-युद्ध से उत्पन्न वातावरण ने संघीय सरकार पर रिपब्लिकन पार्टी का एकाधिकार स्थापित कर दिया। संघर्ष समाप्त होने के बीस वर्ष बाद डेमोक्रेटिक दल अमेरिकी कांग्रेस में प्रवेश पा सका तथा दक्षिणी राज्यों का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन पचास वर्ष पश्चात् चुना जा सका।

अध्याय : 12 इटली व जर्मनी का एकीकरण
Unification of Italy and Germany

इटली का एकीकरण

इटली के इतिहास पर फ्रांस की क्रांति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रांस की क्रांति से पूर्व राष्ट्रीयता की भावना इटली के लोगों के लिए एक अज्ञात वस्तु थी परंतु क्रांति ने इसे साकार एवं व्यावहारिक बनाया। नेपोलियन इटली की विजय के पश्चात इटली में गणतंत्र की स्थापना की, 173 की व पुलों का निर्माण करवाया और अनेक छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त करके उन्हे केवल तीन भागों में विभाजित कर दिया। नेपोलियन ने इटली में एक समान कानून लागू किया। इससे इटली वासी एक दूसरे के करीब आए तथा उन्हें अपना गौरवपूर्ण अतीत याद आ गया और इटली वासियों की राष्ट्रीय भावना जागृत हो गई। इसलिए नेपोलियन को इटली के एकीकरण का दादा कहा जाता है।

1815 ई० में—इटली नाम का कोई देश नहीं था किन्तु इटली भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई जरूर था। उत्तर में आल्पस पर्वत और तीन तरफ से सागरों से घिरे, यूरोप के मध्य दक्षिण में स्थित यह प्रायद्वीप पूर्णतः सुरक्षित था। नेपोलयन की हार के बाद वियेना व्यवस्था से इटली फिर से विभक्त हो गया इटली के उत्तर-पश्चिम में सार्डीनिया-पीडमान्ट का राज्य था,जहां सेवाय वंश का शासन था। उसके उत्तर पूर्व में लोम्बार्डी और वेनीशिया के प्रदेश थे, जिन पर आस्ट्रिया का अधिपत्य था। परमा, मोडेना और टस्कनी यद्यपि स्वतंत्र राज्य थे, तथापि उन पर आस्ट्रिया का प्रभाव पड़ा था। मध्य में पोप का अपना स्वतंत्र राज्य था। दक्षिण में नेपिल्स और सिसली थे, जहाँ बूर्बो वंश का शासन था।

वियेना कांग्रेस में लिया गया निर्णय- वियेना व्यवस्था (1815) के इटली राष्ट्रीय तथा समाजिक- आर्थिक हितो के विरूद्ध एक निर्णय था। राज तंत्र की रक्षा, पोप को पुर्नस्थापित करना तथा फ्रांस के विरूद्ध व्यूह रचना के सिद्धांत पर वियेना में निर्णय लिये गए थे। इस प्रकार 1815 ई. में इटली एक बार फिर विभाजित राजतंत्रों के अधीन, रूढ़िवादी चर्च के नेतृत्व में तथा कुलीन वर्ग के अधीन था। उसमें एकता का पूर्ण अभाव था। इसीलिए तो आस्ट्रिया के चांसलर मेंटरनिख ने कहा था 'इटली तो एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है।' इटली का कोई झंड़ा नहीं होने, यूरोपीय राष्ट्रों में उसकी गिनती नगण्य होने तथा विभिन्न राज्यों की अलग-अलग मुद्राएँ होने पर मेजिनी ने दुःख व्यक्त किया था। इसलिए इटली के एकीकरण के संघर्ष में इटली के नागरिक को यह सिद्ध करना था कि इटली एक संगठित जनसमूह है, जिसकी अपनी भौगोलिक सीमाएँ है तथा जिसकी ऐतिहासिक परम्पराएँ और शक्तिशाली सांस्कृतिक आधार है।

इटली के एकीकरण में बाधाएँ-(i) इटली में प्रतिक्रियावादी विदेशी प्रभुत्व का होना एक मुख्य बाधा थी। इटली पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व था। लोम्बार्डी एवं वेनेशिया उसके सीधे नियंत्रण में थे और मोडेना व टस्कनी पर आस्ट्रिया से सम्बन्धित राजकुमारों का अधिकार था और परमा की रानी लुईसा आस्ट्रिया की राजकुमारी थी।(ii) इसकी भौगोलिक स्थिति भी इसकी एकमुख्य बाधा थी। एक लम्बे कटे हुए देश के रूप में इटली मोटे तौर पर तीन राजनीतिक इकाइयों-उत्तरी, मध्य और दक्षिणी इटली में विभक्त था।(iii) पोप अपने राज्य रोम पर अपनी सत्ता को बनाए रखना चाहता था। इसके अतिरिक्त कैथोलिक यूरोप पोप के अस्तित्व को कभी नष्ट नहीं होने देना चाहता था।(iv) इटली का एकीकरण किस विचारधारा के अन्तर्गत किया जाए, इस बारे में राजनीतिज्ञ एकमत नहीं थे। मेजिनी इटली का एकीकरण एक गणराज्य के रूप में चाहता था। गैरीबाल्डी भी इसका समर्थक था। जियोबार्टी का संघीय राज्य का सिद्धांत था। वह पोप के अधीन इटली के सभी राज्यों के संघ का समर्थक था। (v) इटली के अभी तक राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं हुई थी। इटली प्राचीन ग्रीस की तरह विभाजित था, जिसमें सभी राज्यों की अपनी अलग-अलग परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज थे। एक राज्य दूसरे राज्य से मिलकर नहीं रहना चाहता था। मेंटरनिख के शब्दों में ,"इटली में एक राज्य दूसरे राज्य के विरूद्ध, एक शहर दूसरे शहर के विरूद्ध,

एक परिवार दूसरे परिवार के विरूद्ध और आदमी आदमी के विरूद्ध था।" (vi) इटली का सामन्तवादी एवं कुलीन वर्ग नेपोलियन के पतन के पश्चात् पुनः सामन्तवादी तथा जागीरदारी प्रथा स्थापित करना चाहता था। उसकी शक्ति जागीरें तथा राजनीतिक प्रभुता थी। 1815 ई॰ में औद्योगिक क्रांति के चिन्ह नाममात्र को भी विद्यमान नहीं थे। वहाँ के लोगों का परिचय अभी यातायात के नवीन साधनों और उत्पादन के आधुनिक माध्यमों से नहीं हुआ था। इसलिए इटली में भूमि अभी भी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति थी और उसके साथ जुड़ी थी- परम्परागत समाजिक तथा राजनीतिक मान्यताएँ। इस प्रकार भूमि से जुड़े कुलीन वर्ग का यह डर स्वाभाविक था कि एकीकरण के होने से उनका प्रभाव समाप्त हो जायेगा।

उक्त वर्णित बाधाओं के अतिरिक्त आर्थिक विषमताओं ने भी एकीकरण के मार्ग को अवरूद्ध किया। दक्षिणी इटली अविकसित तथा ग्रामीण था,जबकि उत्तरी इटली अर्द्ध-औद्योगिक।

एकीकरण को प्रेरित करने वाले तत्व-इटली के एकीकरण में विभिन्न विकट बाधाओं के बावजूद वहाँ स्वतंत्रता, समानता तथा देश प्रेम की भावनाएँ अधिक समय तक दबी नहीं रह सकीं। इटली के कुछ देशभक्तों और लोकतंत्र के समर्थकों ने मिलकर स्वतंत्रता और उदारवाद की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने का निर्णय किया। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इटली में कई गुप्त संस्थाओं की स्थापना हुई। इनमें कार्बोनरी प्रमुख थी।

(i) कार्बोनरी की स्थापना- इटली के कोयला झोंकनें वालों की इस गुप्त संस्था की स्थापना 1810 ई॰ में नेपिल्स में हुई थी। कार्बोनरी की शाखाएँ समस्त इटली में फैली हुई थीं और उसमें सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। इसमें कुलीन वर्ग, सैनिक अफ़सर, किसान, धर्मगुरू, यहाँ तक की बुर्जुआ वर्ग ने भी इस संस्था की सदस्यता अर्जित की। इस संस्था में कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं थे फिर भी इसके दो मुख्य उद्देश्य थे- विदेशियों को इटली से बाहर निकालना और वैधानिक स्वतंत्रता की स्थापना करना। इस संस्था के तिरंगे- काला, लाल और नीले रंग वाले- झण्डे ने शीघ्र ही लोकप्रियता प्राप्त कर ली और लोग उसकी पूजा करने लगे। उद्देश्यों में एकरूपता एवं सूत्रबद्धता तथा स्पष्ट एवं प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में कार्बोनरी असफल सिद्ध हुई।

(ii) आर्थिक विकास-अठाहरवीं शताब्दी के मध्य तक इटली आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश था। यहां की 80% जनसंख्या कृषि में लगी हुई थी। भूमि उपजाऊ नहीं थी। खेती-बाड़ी इटली के केवल आधे हिस्से में ही हो सकती थी। इसका औद्योगिक स्तर केवल दस्तकारी तक ही सीमित था। व्यापार का बहुत कम विकास हुआ था। बैंकिंग के साधन सीमित थे। औद्योगिक विकास और अविष्कार सम्बन्धी कार्य नाममात्र के ही थे। इटली के पिछड़े हुए औद्योगिक स्वरूप के पीछे एक बड़ा कारण वहाँ आवागमन के साधनों का अभाव होना था। सामूहिक इटली में जल मार्गों का अभाव था। इटली का सम्पर्क केवल तटीय जल मार्गों द्वारा था।

19वीं शताब्दी के आरम्भ में पूँजी के आधार पर कृषि के विकास ने इटलीवासियों में केवल नवीन आर्थिक चेतना उत्पन्न नहीं की, वरन् इटली के औद्योगिक विकास में उसकी भूमिका उल्लेखनीय रही। कृषि सम्बन्धी नई मंड़ियों ने आवागमन के नये साधनों की आवश्यकता का अनुभव किया।

उत्तरी व मध्य इटली में शीघ्र ही रेलवे लाइनों का बिछना शुरू हो गया और भाप के इंजन का प्रयोग आरम्भ हुआ। यह उल्लेखनीय है कि रेलवे का विकास फ्रांस व जर्मनी की अपेक्षा कम था। फिर भी धीरे-धीरे रेलवे लाइनें बिछाने का काम चलता रहा। 1861 ई॰ तक इटली में 1623 ई॰ किमी॰ लम्बी रेलवे लाइनें बिछ चुकी थीं और यह कार्य केवल तीस वर्षों में हुआ था। इटली ने आरम्भ में इंजन इंग्लैण्ड से खरीदे किन्तु बाद में स्वयं बनाने लगा। 1854 ई॰ में इटली ने पहला रेलवे इंजन जेनोआ में बनाया। इटली के एकीकरण में रेलवे के योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता है। इसका केवल इटली की आर्थिक व्यवस्था पर ही प्रभाव नहीं पड़ा, अपितु इसने राजनीतिक चेतना के विकास में भी योगदान दिया।

इटली में गिल्ड अर्थव्यवस्था 1815 ई॰ से पहले ही विखण्डित होना आरंभ हो गई थी और 1845 ई॰ तक पूर्णरूपेण समाप्त हो चुकी थी। इससे भी इटली के आर्थिक स्वरूप में परिवर्तन आया। इटलीवासी अब यह मानने लग गये थे कि औद्योगिक विकास के लिए पुरातन व्यवस्था को समाप्त करना आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने पर ही नये उद्यमी जन्म ले सकते हैं और आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन मिल सकता है।

(iii) प्रारम्भिक विद्रोह- गुप्त संस्थाओं द्वारा प्रदर्शित क्रांतिकारी आंदोलनों का एक क्रम 19 वीं शताब्दी के द्वितीय दशक से आरम्भ हुआ, जो तीस वर्षों तक चलता रहा। 1820 ई॰ के स्पेन के विद्रोह से प्रेरणा पाकर नेपिल्स एवं पीडमान्ट की जनता ने वहाँ के शासकों से संविधान की स्थापना की माँग की। सबसे पहला विद्रोह नेपिल्स में हुआ किंतु आस्ट्रिया द्वारा सैनिक हस्तक्षेप के कारण यह असफल रहा। अभी नेपिल्स के विद्रोह को दबाया भी न जा सका था कि पीडमान्ट और लोम्बार्डी में हलचल प्रारम्भ हो गयी। पुनः आस्ट्रिया की सेनाओं ने विद्रोह को दबा दिया। इस प्रकार इटली में एक बार फिर राजतंत्र को सुरक्षित किया गया परंतु जनता की संविधान की माँग को दबाने से इटली में राजतंत्र के निरंकुश तथा रूढ़िवादी स्वरूप के विरूद्ध इटली की भावनाएँ उग्र हो गईं। राजतंत्र जितना रूढ़िवादी तथा जितना प्रतिक्रियावादी होता गया, इटली उतना ही उदारवादी तथा देशभक्ति से प्रेरित राष्ट्रवादी होता गया।

फ्रांस में 1830 ई॰ की क्रांति होते ही इटली में एक बार फिर विद्रोह शुरू हो गया। पोप की रियासतों में उग्र प्रदर्शन हुए। परमा और मोडेना के राज्यों से उसके शासक निकाल दिये गये। इन विद्रोहों के विरूद्ध आस्ट्रिया ने तुरंत कठोर कार्यवाई की और अपदस्थ शासकों को पुनः अपने-अपने सिंहासनों पर आरूढ़ कराया। इस प्रकार आस्ट्रिया ने दो बार इटलीवासियों की राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता प्राप्ति की अभिलाषा को कुचल दिया। फिर भी इन असफल प्रयत्नों ने भविष्य की आशा जगायी।

1830 ई॰ की क्रांति को सफलता नहीं मिली तो उसका सबसे बड़ा कारण अभी भी लोगों की राजनीतिक उद्देश्य के बारे में अनिश्चितता थी। अब यह स्पष्ट हो गया कि बिना व्यापक संगठन और योजना के केवल स्थानीय स्तर पर विद्रोह करने से इटली के नये युग का सूत्रपात असम्भव था। 1820 ई॰ और 1830 ई॰ के विद्रोहों की असफलता से इटली के नेताओं को यह भी ज्ञात हो गया कि जब तक आस्ट्रिया के आधिपत्य का अन्त नहीं हो जाता, तब तक उसके स्वतंत्रता और एकता के प्रयत्न निरर्थक होंगे।

(iv) लेखकों के प्रयास - इटली के पुनर्जागरण के इतिहास में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक तत्त्वों के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में लेखकों, दार्शनिकों तथा आलोचकों का योगदान भी सराहनीय रहा। 1821 ई॰ में ही फास्कोल तथा रासेटी नामक महान् लेखकों को उनकी देश भक्ति की भावनाओं के कारण देश निकाला दे दिया गया था। 1832 ई॰ में सिल्वियो पोलिको ने आस्ट्रिया के जेलखानों का दस वर्षीय वृतान्त ल मि प्रिजियोनी' नामक पत्रिका में लिखा। इसका प्रभाव इटली पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इटलीवासियों को इस लेख से यह पक्का विश्वास हो गया कि अत्याचारी आस्ट्रिया से इटली को मुक्त कराना आवश्यक है। 1843 ई॰ में जियोबर्ती, एक दार्शनिक एवं देशभक्त ने अपनी पुस्तक 'इटली की नैतिक और नागरिक श्रेष्ठता' में इटली के राज्यों के संघ की वकालत की थी। वह चाहता था,आस्ट्रिया को इटली से निकालने के बाद पोप की अध्यक्षता में इटालियन राज्यों का एक संघ बने। कुछ ऐसे भी लेखक थे जिनका विचार था कि सारे राज्यों का सार्डीनिया में विलय हो जाए, तो एक शक्तिशाली और संगठित राजतंत्र के रूप में इटली का प्रादुर्भाव निश्चित है।

(v) मेज़िनी और युवा इटली - इटली की एकता जो भी प्रयत्न 1830 ई॰ तक हुए वह सब असफल रहे। आस्ट्रिया की शक्ति के सामने इटली के देशभक्तों को हारना पड़ा। इसी समय इटली में एक महान् विभूति का प्रादुर्भाव हुआ जिसने इटली के राष्ट्रीय जीवन में नई चेतना जागृत की। ऐसी विभूति ज्यूसप मेजिनी के अतिरिक्त और कौन हो सकती है। वह स्वप्न देखा करता था कि कभी न कभी इटली का भी उद्धार होगा। शून्य क्षितिज से मानों उसे आव्हान मिला था कि तुम्हारे ही हाथों से इटली का कल्याण होगा और तुम्हीं स्वतंत्र इटली का नेतृत्व करोगे। 1830 ई॰ की क्रांति के पूर्व वह कार्बोनरी का सदस्य था। उसने भी क्रांति में भाग लिया था। क्रांति का दमन हो जाने पर उसे बंदी बनाकर सैव्रोना के दुर्ग में भेज दिया गया और बाद में इटली से निष्कासित कर दिया गया। देश-विदेश में घूमने के बाद वह 1831 ई॰ में फ्रांस पहुंचा। वहाँ उसने 'युवा इटली' नामक एक संस्था की स्थापना की, जिसने इटली के राष्ट्रीय आंदोलन में शीघ्र ही कार्बोनरी का स्थान ले लिया। मेजिनी का विश्वास था कि इटली के नवयुवकों में, प्राचीन गौरव और देशप्रेम की भावना भरकर उन्हें स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए संगठित करना चाहिये। मेजिनी ने कहा था,"यदि समाज में क्रांति लानी है, तो नेतृत्व नवयुवकों के हाथ में दो, युवक समाज के हृदयों में असीम शक्ति

छिपी होती है।" मेजिनी के दिमाग में संयुक्त इटली का स्वरूप जितना स्पष्ट और निश्चित था उतना अन्य किसी व्यक्ति के दिमाग में नहीं था। उसका उद्देश्य था, इटली के लोगों को शिक्षित कर यह अनुभव करवाना कि इटली एक राष्ट्र है। 1835 ई॰ में मेजिनी ने लिखा था,"हमारी आबादी लगभग 12 करोड़ है। और प्राचीन काल से लोग हमें इटली की जनता पुकारते चले आ रहे हैं। हमारे देश की सीमाएँ प्राकृतिक है और बिल्कुल स्पष्ट हैं।.....हम एक ही भाषा बोलते है। हमारा धर्म एक है, शिष्टाचार एक है, आदतें एक हैं। हमको अपनी उन राजनैतिक, वैज्ञानिक और कला परम्पराओं पर अभिमान है, जो यूरोप के इतिहास को अलंकृत करती है।.....किंतु न हमारे पास राष्ट्रीय झण्डा है और न कोई राजनीतिक नाम है।.....हम आठ रियासतों के तितर-बितर हो रहे हैं।.....हमें किसी तरह की कोई आजादी नहीं, जो भावनाएँ हमारे अंदर उगल रही है, उनको प्रकट करने का कोई साधन हमारे पास नहीं हैं। इन सब का कारण है कि विदेशी लोग हमें गुलाम बना रहे हैं।"

मेजिनी ने युवा इटली के माध्यम से इटली की जनता को तीन नारे दिये, 'परमात्मा में विश्वास रखो', 'सब भाईयों को एक साथ मिलाओ' और ईटली को मुक्त करो'। उसके उद्देश्य स्पष्ट थे- इटली की एकता और स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा स्वतंत्रता समानता और जन-कल्याण पर आधारित राज्य की स्थापना। मेजिनी के प्रयासों से उसके पास ऐसे नवयुवक एकत्र हो गये, जिनमें देशभक्ति का आपार जोश था और जो इटली की एकता के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उसने युवको को सैनिक प्रशिक्षण दिया और स्थान-स्थान पर इनकी शाखाएँ खोलीं। दो वर्ष में ही इसके सदस्यों की संख्या लगभग साठ हज़ार हो गई थी। अब इटली के युवक एक नई आशा के साथ आगे बढ़ने लगे। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सम्पूर्ण इटली में एक शक्तिशाली जनमत तैयार हो गया। निस्संदेह इटली का स्वतंत्रता संग्राम एक नये युग में प्रवेश कर चुका था।

मेजिनी के प्रयत्न से 1849 ई॰ में रोम में गणतंत्र की स्थापना हुई, मगर कुछ समय पश्चात् ही फ्रांस की सेनाओं ने रोम में पोप को पुनः सत्तारूढ़ कर दिया। यद्यपि मेजिनी अपने उद्देश्य में असफल रहा किंतु वह इससे निराश नहीं हुआ।

इटली के इतिहास में मेजिनी का सबसे बड़ा योगदान रहा था कि उसने इस बात को समझा कि इटली का एकीकरण का कार्य पूरा हो सकता है अपना यह विश्वास उसने जनता तक कई लेखों तक पहुँचाया। इंग्लैण्ड और फ्रांस में भटकता मेजिनी लगातार लिखता रहा तथा लेनिन की तरह विदेशों में अपने देशवासियों को सम्बोधित एवं प्रेरित करता रहा। युवा इटली भी इस तरह से गुप्त संस्था ही थी क्योंकि उसे स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने की इजाजत नहीं थी, लेकिन वह कार्बोनरी की तरह अस्पष्ट विचारों वाली संस्था नहीं थी। युवा इटली के पास इटली के भविष्य की कल्पना थी और उसे प्राप्त करने के लिए सुनिश्चित कार्यक्रम था।

वास्तव में मेजिनी ने इटली के एकीकरण की आधारशिला रखी और इटली के लोगों में देश प्रेम, त्याग और बलिदान के विचार उत्पन्न किये। इसीलिए साउथ गेट ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है,"यह मेजिनी ही था,जिसने अपने देशवासियों में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न की। यद्यपि वह कावूर की भाँति सेनानायक नहीं था,परंतु वह एक कवि, आदर्शवादी विचारक और क्रांति का अग्रदूत था।"

(iv) उदार राजतंत्रवादी- कुछ देशभक्त उदारवादी राजतंत्र के माध्यम से इटली को स्वतंत्र कराना चाहते थे। वे सार्डिनिया-पीडमान्ट के शासक चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में इटली को विदेशी सत्ता से मुक्त कराना चाहते थे। यद्यपि सार्डिनिया का राज्य पहले प्रतिक्रियावादी ही था किंतु शनैः-शनैः चार्ल्स एल्बर्ट के समय उसकी नीति में परिवर्तन आ गया तथा उसने राज्य में अनेक आर्थिक और सैनिक सुधार किये और यह घोषणा कि," जब समय आयेगा तब मेंरा जीवन, मेंरा धन, मेंरा सर्वस्व इटली की वेदी पर बलिदान किया जायेगा।" इस घोषणा से कई राष्ट्रवादियों को यह विश्वास हो गया कि इटली की स्वाधीनता तथा एकीकरण का सच्चा नेतृत्व पीडमान्ड का शासक ही करेगा। चार्ल्स एल्बर्ट के अस्थिर चरित्र के बावजूद सार्डीनिय पीडामान्ट के निर्माण में चार्ल्स की देन सराहनीय है।

(vii) पोप की उदारवादी नीति-पोप ग्रेगरी 16 वें देहावसन(1846)के पश्चात् पायस नवम् पोप बना। पोप पायस नवम् दयालु और उदार प्रवृत्ति का था। बहुत दिनों बाद एक ऐसा व्यक्ति पोप हुआ था, जो अपने चरित्र और स्वभाव से लोगों को नेतृत्व प्रदान कर सकता था। उसे इटली में परिवर्तन चाहने वालों से सहानुभूति थी। उसने स्वयं ही पहल की। उसकी रियासतों में राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये गए। और प्रशासन में कई तरह के सुधार किये गये।

उसके उदारवादी प्रशासन का प्रभाव पोप के राज्यों तथा टस्कनी पर पड़ना प्रारम्भ हो गया। इससे मेंटरनिख भयभीत हो उठा। आस्ट्रिया की सेना पोप के नगर फेरारा में घुस गयी तथा पोप पर दबाव डालने का प्रयास करने लगी। पोप ने इसे स्वीकार नहीं किया। कैथोलिक जगत् का ध्यान पोप ने आकर्षित किया। चार्ल्स एलबर्ट ने पोप की सहायतार्थ सेना भेजी। यूरोपीय कैथोलिकों के विरोध में मेंटरनिख घबरा गया। उसने अपनी सेना हटा ली। यह मेंटरनिख की पहली राजनीतिक हार थी।

(viii) 1848 की क्रांति और इटली:- फ्रांस की क्रांति (1848) का प्रभाव इटली पर भी पड़ना स्वाभाविक था। फलतः वहाँ भी राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ हो गया। इटली में 1848 ई॰ में क्रांति का उद्देश्य उदारवादी आर्थिक सुधार एवं संवैधानिक प्रशासन लागू करना तथा येनकेन-प्रकारेण एकीकरण तथा स्वतंत्रता प्राप्त करना था।

सबसे पहले नेपिल्स और सिसली के राज्यों में सुधारवादी नेताओं ने विद्रोह किया और संविधान की माँग की। अन्त में नेपिल्स के शासक फर्डीनेंड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा। इसके पश्चात् पीडमान्ट, टस्कनी और पोप के राज्यों में भी संविधान की माँग बढ़ी और मार्च, 1848 तक इन तीनों राज्यों में वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हो गयी।मार्च 1848 की क्रांति द्वारा मेंटरनिख के भागने की सूचना से इटली के लोगों में नया जोश उत्पन्न हो गया। सभी इस बात से सहमत थे कि इटली के कन्धों से आस्ट्रिया जुआ उतार फेंका जायें।वियेना की सूचना पाकर मिलान में विद्रोह हो गया और वहाँ का वायसराय भाग गया। वहाँ के निवासियों ने आस्ट्रिया द्वारा तम्बाकू पर लगाये गए कर के विरोध में सिगरेट पीनी छोड़ दी। जो भी सीगरेट पीता दिखाई देता उस पर प्रहार किया जाता। एक प्रकार से 'तम्बाकू दंगे' शुरू हो गये। वेनिश में भी आस्ट्रिया के शासन का अंत हो गया और गणतंत्र की स्थापना हुई। परमा व मोडेना के शासक भी भाग गये। इस समय देश के सभी विचारों के लोग आस्ट्रिया के साथ युद्ध करके उसकी अधीनता से मुक्त होना चाहते थे। काउन्टर कावूर, जो इस समय 'रिसार्जीमेंटो' नामक पत्र का सम्पादक था, ने राष्ट्र के नाम एक अपील में कहा, "सार्डीनिया के राज्य के लिए महान् निर्णय का अवसर आ गया है। सरकार और सम्पूर्ण राष्ट्र का केवल एक ही कर्त्तव्य है कि तुरंत युद्ध छेड़ा जाय।" सार्डीनिया के सम्राट चार्ल्स एल्बर्ट ने भी इस अपील को पढ़ा। उसको लगा कि मानों उसका राजवंश के सामने एक महान् ऐतिहासिक दायित्व है। उसने 23 मार्च, 1848 को आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पोप और नेपिल्स के शासक फर्डीनेड को वहाँ की जनता ने मजबूर कर दिया कि वे इटली से मुक्ति संग्राम में भाग लें। यह उल्लेखनिय है कि अब तक का इटली का संघर्ष विद्रोहों और आन्दोलनों तक सीमित था किंतु अब वह राष्ट्रीय युद्ध का रूप धारण करता प्रतीत हो रहा था। स्थान-स्थान पर आस्ट्रिया को पराजित होना पड़ा। दुर्भाग्यवश, इटली की एकता की यह लहर अल्पकालीन सिद्ध हुई। पोप कैथोलिकों के विरोध से डर कर पीछे हट गया फर्डीनेंड ने आन्तरिक उपद्रव के बहाने अपनी सेनाएँ हटा ली। अब चार्ल्स युद्ध में अकेला पड़ गया और उसे आस्ट्रिया की शर्तों पर आत्मसमर्पण करना पड़ा। फलस्वरूप लोम्बार्डी और वेनीशिया पर आस्ट्रिया का पुनः अधिकार हो गया।

इन्हीं दिनों मेजिनी पुनः लौटकर इटली आ गया था। चार्ल्स एल्बर्ट की असफलता से मध्यमार्गी राजतंत्र दल की योजनाएँ विफल हो गयी। अब उग्र गणतंत्रवादी दल राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने लगा। मेजिनी इस दल का नेता था। उसने कहा, "चार्ल्स एल्बर्ट कमजोर निकला और पोप पायस नवम् अस्थिर सिद्ध हुआ। राजाओं द्वारा स्वतंत्रता युद्ध समाप्त किया जा चुका है। अब सर्व साधारण द्वारा स्वतंत्रता युद्ध आरंभ किया जाना चाहिए।" फरवरी, 1849 में मेजिनी के नेतृत्व में रोम में गणतंत्र की स्थापना की गयी। पोप का साम्राज्य समाप्त हो गया और स्वयं पोप को नेपिल्स में स्थित गेटा में जाकर शरण लेनी पड़ी। टस्कनी में भी गणतंत्र की स्थापना हो गयी और वहाँ के शासक लिओपोल्ड को भागना पड़ा। किन्तु सम्पूर्ण इटली का भाग्य तो पीडमान्ट पर आधारित था। पीडमान्ट के शासक चार्ल्स एल्बर्ट ने राजतंत्रवादियों के दबाव के कारण पुनः आस्ट्रिया के विरूद्ध संघर्ष आरंभ किया। किन्तु 23 मार्च, 1849 को उसकी सेनाएँ नोवारा स्थान पर हार गयी। इस हार के फलस्वरूप चार्ल्स ने सिंहासन त्याग दिया और उसका पुत्र विक्टर इमैन्युअल द्वितीय पीडमान्ट का शासक बना। उसे संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार लोम्बार्डी पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। किन्तु आस्ट्रिया के कहने पर उसने पीडमान्ट का संविधान रद्द नहीं किया।

नोवारा के युद्ध के बाद इटली में सर्वत्र प्रतिक्रिया आरंभ हुई। नेपिल्स व सिसली में फर्डीनेंड ने पुनः अपनी शक्ति स्थापित कर ली। टस्कनी पर भी लिओपोल्ड का अधिकार हो गया। यद्यपि रोम का पतन हो चुका था किन्तु लुई नेपोलियन की मदद से पोप को पुनः सत्तारूढ़ कर दिया गया। अगस्त,1849 ई॰ में वेनिश पर भी आस्ट्रिया का अधिकार हो गया। अन्ततः

इटली में आस्ट्रिया का साम्राज्य छा गया। मेजिनी और गैरीबाल्डी को देश छोड़कर भागना पड़ा। इस प्रकार एकता और स्वतंत्रता का यह प्रयास भी विफल हो गया।

कुल मिलाकर 1815 से 1850 ई॰ तक इटली का इतिहास घरेलू फूट, विदेशी आधिपत्य एवं विफल संघर्ष का इतिहास सिद्ध हुआ। चाहे राष्ट्रीय आन्दोलन और गणतंत्रीय प्रयत्न विफल हुए, फिर भी इस विफलता में भी सफलता के बीज मौजूद थे। इस संघर्ष के पश्चात् स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व पीडमान्ट के राजवंश को प्राप्त हुआ।

एकीकरण यथार्थता की ओर

इटली के एकीकरण का प्रारम्भिक चरण समाप्त हो गया था। इटली के एकीकरण में बाधक शक्तियाँ जग जाहिर हो चुकी थीं। इन शक्तियों के विस्थापन में कई राष्ट्रीय नेता अपने-अपने तरीके से लगे हुए थे। इटली का कोई एक शत्रु न था। उसे आस्ट्रिया, पोप तथा राजतंत्रो के विरूद्ध लड़ना था। गुप्त समितियों लेखकों, मेजिनी तथा पिछले विद्रोहों तथा क्रांतियों ने मिलकर इटली के स्वतंत्रता आन्दोलन को अनुप्राणित रखा। परंतु इटली का यथार्थ में एकीकरण कैसे हो? इसके लिए कोई निश्चित योजना किसी के पास नहीं थी। यह कार्य विक्टर इमेंन्युअल एवं कावूर ने मिलकर किया।

विक्टर इमेंन्युअल द्वितीय (1849-70 ई॰)- विक्टर इमेंन्युअल द्वितीय एक वीर सैनिक, सच्चा देशभक्त और ईमानदार शासक था। वह यूरोप के राजनीतिक वातावरण से पूर्णतः परिचित नहीं था, तथापि वह एक समझदार राजनीतिज्ञ था। पीडमान्ट की जनता उसे ईमानदार राजा' कहा करती थी। मार्च, 1849 में जब विक्टर पीडमान्ट-सार्डीनिया का शासक बना, उस समय सार्डीनिया की सेना आस्ट्रिया से परास्त हो चुकी थी। अतः उसे आस्ट्रिया से संधि करनी पड़ी । आस्ट्रिया के साथ संधि के कारण सार्डीनिया की संसद में उसका विरोध बढ़ गया था। इधर आस्ट्रिया ने उस पर 1848 ई॰के संविधान को रद्द करने के लिए दबाव डाला किन्तु विक्टर इमेंन्युअल ने संविधान को बनाये रखा। अगस्त 1849 में सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच संधि पर हस्ताक्षर हुए किन्तु सार्डीनिया की संसद ने उसे अस्वीकार कर दिया। विक्टर इमेंन्युअल ने पुनः चुनाव कराकर नयी संसद से संधि की स्वीकृति ले ली।

विक्टर इमेंन्युअल को यह विश्वास था कि मध्य मार्गी नीति अपनाकर वह सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण कर सकता है। उसने उस हेतु प्रयत्न भी आरंभ कर दिये थे। वह अपने गुणों के कारण जनता में लोकप्रिय हो गया। गैरीबाल्डी जैसे गणतंत्रवादी भी उसकी प्रशंसा करते थे। इटली के सभी निर्वासित देशभक्त पीडमान्ट की ओर आकर्षित होने लगे। विक्टर इमेंन्युअल के भाग्य से 1850 ई॰ में काउन्ट कावूर जैसा योगय मंत्री उसे मिला, जिसकी गणना उन्नीसवीं शताब्दी के महानतम् राजनीतिज्ञ में की जाती है।

कावूर (1810-61 ई॰)- काउन्ट केमिलो-डी-कावूर का जन्म 1810 ई॰ में ट्यूरिन के एक कुलीन परिवार में हुआ था। सैनिक शिक्षा प्राप्त कर वह सेना में इंजीनियर के रूप में भर्ती हुआ। किन्तु अपने उदार विचारों के कारण उसे सेना से 1841 ई॰ में त्यागपत्र देना पड़ा। 1841-1846 तक वह अपनी जमींदारी का कार्य करता रहा। इस समय वह कई बार फ्रांस और इंग्लैण्ड भी गया। इंग्लैण्ड में रह कर उसने संसदीय प्रणाली को नजदीक से देखा, उसका विश्वास इस शासन प्रणाली पर अधिक दृढ़ हो गया। वह अपने देश में भी इसी प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा।

1847 ई॰ में कावूर ने 'इल रिसार्जीमेन्टो' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्र के माध्यम से इटली के एकीकरण की बात कही जाने लगी। 1848 ई॰ में वह सार्डीनिया- पीडमान्ट की प्रथम संसद का सदस्य चुना गया।उसकी योग्यता के कारण उसे 1850 ई॰ में वित्त एवं उद्योग मंत्री बना दिया गया। उसका विश्वास था कि इटली के एकीकरण के लिए आर्थिक उन्नति और सैनिक शक्ति आवश्यक है। उसकी यह भी धारणा थी कि जब तक विदेशी सहायता प्राप्त नहीं होगी, तब तक इटली स्वतंत्र नहीं हो सकता। राजनीति और शक्ति, दोनों ही आस्ट्रिया को इटली से निकालने के लिए आवश्यक थे। 1852 ई॰ में डी॰ एज़ेग्लिओ के मंत्रिमण्ड़ल के त्याग पत्र देने पर वह प्रधानमंत्री बना।

कावूर के प्रधानमंत्री नियुक्त होते ही इटली के इतिहास में एक नवीन अध्याय आरंभ होता है। अपने इस काल में उसने एक कूटनीतिज्ञ तथा अद्वितीय राजनीतिज्ञ होने का परिचय दिया। कावूर भी मेजिनी और गैरीबाल्डी के समान सच्चा देशभक्त था और इटली को स्वतंत्र कर उसका एकीकरण करना चाहता था। वह जानता था कि (i) इटली का एकीकरण सार्डीनिया के नेतृत्व में ही सम्भव हो सकता है, (ii) एकीकरण के लिए यह आवश्यक है कि इटली के राज्यों को आस्ट्रिया से मुक्त कराया जाय और (iii) आस्ट्रिया से मुक्ति प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता आवश्यक है।

कावूर के विचार मेजिनी के विपरीत व्यावहारिक और निश्चयात्मक थे। कावूर उदार राजतंत्र का पोषक था। उसकी मेजिनी के गणतंत्रीय विचारों और क्रांतिकारी साधनों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। "यह कावूर के महान् मस्तिष्क का कार्य था, जिसने मेजिनी की प्रेरणा को एक प्रबल कूटनीतिक शक्ति के रूप में गतिमान बनाया तथा गैरीबाल्डी की जलवार का एक राष्ट्रीय अस्त्र के रूप में प्रयोग किया।" वास्तव में कावूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी की वीरता निरर्थक होती। कावूर ने इन दोनों के विचारों में सामन्जस्य स्थापित किया।

कावूर का यह विश्वास था कि यदि सार्डीनिया-पीडमान्ट को इटली के एकीकरण का नेतृत्व करना है तो उसे आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाना होगा।अतः उसने इस नीति को अपने राज्य में अपनाया।

कावूर की गृह नीति- कावूर ने राज्य की आर्थिक उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न किए। व्यापार-वाणिज्य के विकास हेतु उसने मुक्त व्यापार नीति अपनाकर विदेश व्यापार को प्रोत्साहन दिया, यातायात की सुविधाओं का सुविधाओं का विस्तार किया और बैंकों की स्थापना की। सहकारी समितियाँ खोली तथा कृषि की उन्नति के लिए विभिन्न संस्थाएँ स्थापित कीं। कावूर ने इंजीनियरी की शिक्षा प्राप्त की थी, व्यवसाय पत्रकारिता अपनाया और जीवन राजनीति में विलीन कर दिया। इसलिए वह हर समस्या पर तकनीकी विशेषज्ञ की भाँति विचार करता था।

कावूर ने आर्थिक सुधारों की दिशा में एक बड़ा कदम गिरजाघरों की भूमि पर कर लगाकर उठाया। उन्हें राजनीतिक नियंत्रण में लेने की चेष्टा की। कैथोलिक लोग इटली की एकता में बाधक थे, अतः चर्च के अनेक विशेषाधिकार छीन लिये।

आर्थिक सुधारों के अतिरिक्त उसने सेना की ओर भी ध्यान दिया । जनरल ला-मारमोरा को उसने सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया। 90 हजार सैनिकों की उसने एक सुसज्जित सेना तैयार की। राज्य की सेना पर दुर्ग बनवाये। जल सेना की ओर भी उसने ध्यान दिया। इस बढ़े हुए खर्चों के समाधान के लिए उसने करों की वृद्धि की।

कावूर अपनी गृह नीति में बड़ा सफल हुआ। वह सभी वर्गों का हस्तक्षेप पाने में सफल रहा। पीडमान्ट जैसे छोटे व गरीब राज्य उसने सुदृढ़, समृद्ध एवं एक आदर्श राज्य में परिणत कर दिया।

कावूर की विदेश नीति- इटली के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमान्ट के शासक की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, कावूर की विदेश नीति का उद्देश्य था। वह मेजिनी के इस विचार से सहमत नहीं था कि अकेला इटली बिना किसी बाहरी सहायता के आस्ट्रिया को बाहर धकेल देगा। अतः वह किसी यूरोपीय शक्ति की मदद की तलाश में था। वह बिस्मार्क की भाँति यथार्थवादी राजनीति में विश्वास रखता था। राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर वह किसी भी माध्यम और नीति को अपना सकता था, बशर्ते उससे राज्य का हित हो। उसे युद्ध और सैन्यवाद से परहेज नहीं था। उसे यह भी ज्ञान था कि इंग्लैण्ड और फ्रांस ही उसके सहायक हो सकते थे। इंग्लैण्ड में इटली के प्रति सहानुभूति अवश्य थी किन्तु उससे सक्रिय मदद की आशा नहीं थी। दूसरी ओर फ्रांस का शासक नेपोलियन तृतीय महत्त्वाकांक्षी, साहसिक और राष्ट्रीय का समर्थक था। फ्रांस की सेना भी यूरोप में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। फ्रांस की सेना भी यूरोप में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। अतः कावूर ने नेपालियन तृतीय की सहायता पाने का प्रयत्न किया।

क्रीमिया का युद्ध और कावूर-क्रीमिया के युद्ध ने कावूर को इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ सहयोग करने और उनकी मित्रता के लाभ उठाने का अवसर दे दिया। पूर्वी समस्या के उलझ जाने के कारण काला सागर के तट पर क्रीमिया का युद्ध 1854 ई॰ में छिड़ गया था। इस युद्ध में इंग्लैण्ड और फ्रांस ने रूस के विरूद्ध तुर्की की मदद की थी। दूरदर्शी कावूर ने यहां एक अवसर देखा। रूस के विरूद्ध लड़ती हुई, इंग्लैण्ड और फ्रांस की सेनाओं की मदद के लिए कावूर ने जनवरी 1854 ई॰ में सहायता देने का वचन दिया। अप्रैल, 1854 ई॰ तक 18,000 इटालियन बहादुर सैनिक क्रीमिया पहुंच गये, जिससे मित्र राष्ट्रों को काफी प्रोत्साहन मिला। यह स्मरण रहे कि उस समय उदारवादियों ने कावूर की नीति का विरोध किया था क्योंकि उसने अप्रत्यक्ष रूप से निरंकुश तुर्की की मदद की थी परंतु विक्टर इमैन्युअल ने उसकी नीति का अनुमोदन किया। कावूर की यद्यपि पूर्वी समस्या में कोई रूचि नहीं थी, फिर भी वह युद्ध में शामिल क्यों हुआ ? वह चाहता था कि सार्डीनिया की यूरोपीय राज्यों में गणना होने लगे और इटली के एकीकरण का प्रश्न यूरोपीय शक्तियों के बीच कूटनीतिक प्रश्न बन जाय। वह यह भी चाहता था कि कम से कम एक बड़ी यूरोपीय शक्ति उसके पक्ष में हो जाय। कावूर ने यह राजनीतिक जुआ इसलिए खेला था कि उसे फ्रांस के शासक नेपालियन तृतीय की सहानुभूति का विश्वास था। यह भी उल्लेखनीय है कि कावूर ने इंग्लैण्ड और फ्रांस की रूस के विरूद्ध सहायता करके जो जुआ खेला था, उसमें न तो कोई शर्त थी, न उसमें कोई गुप्त रहस्य था और न किसी ओर से कोई गारंटी थी।

युद्ध समाप्ति के पश्चात् पेरिस में सम्मेलन (मार्च,1856) हुआ। यद्यपि सार्डीनिया को आमन्त्रित करने का आस्ट्रिया ने विरोध किया किन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस ने उसके विरोध के बावजूद सार्डीनिया को सम्मेलन में आमन्त्रित किया। पेरिस में इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस तथा आस्ट्रिया के प्रतिनिधियों के साथ कावूर को भी बराबर की स्थिति में भाग लेने का अवसर मिला। इस अवसर पर फ्रांस के विदेश मंत्री वैलेवस्की ने कावूर से कहा था, "तुम इतने चतुर हो कि तुमने ऐसे मामले में भी प्रवेश पा लिया, जिससे तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है।" उसने सम्मेलन के समक्ष इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया और आस्ट्रिया को उसके लिए दोषी ठहराया। कावूर ने पेरिस के शान्ति सम्मेलन में यह बात स्पष्ट रूप से बताई कि जिन बातों का प्रभाव इटली पर पड़ता है, उन बातों का सार्डीनिया-पीडमान्ट पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता अर्थात् इटली के और सार्डीनिया दो नहीं, एक ही है। कावूर ने इटली के प्रश्न को यूरोपीय प्रश्न बना दिया। पेरिस सम्मेलन में उसने एक प्रकार से नैतिक विजय प्राप्त की और उसके कारण सार्डीनिया- पीडमान्ट में ही नहीं, सम्पूर्ण इटली में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। इस प्रकार क्रीमिया का युद्ध कावूर के लिए देव प्रदत्त सुअवसर साबित हुआ। इसीलिए यह कहा जाता है कि 'क्रीमिया के कीचड़ में इटली का जन्म हुआ।'

पेरिस सम्मेलन के पश्चात् आस्ट्रिया ने लोम्बार्डी और वेनीशिया में अपने शासन की कठोरता में कमी कर दी तथा निर्वासित क्रांतिकारियों की सम्पत्ति जब्त करने के आदेश वापस ले लिये। सम्राट फ्रांसिस जोसेफ ने जनवरी,1857 में इटली के प्रान्तों की यात्रा की और अपने भाई मेंक्सीमिलियन को, जो उदारता की नीति का समर्थक था, लोम्बार्डी-वेनीशिया का गवर्नर नियुक्त किया। किन्तु उससे इटली के देशभक्तों का विरोध कम नहीं हुआ। वेनिश के निर्वासित नेता मानिन ने इस नीति के विषय में कहा था,"हम नहीं चाहते कि आस्ट्रिया अपनी इटली सम्बन्धी नीति में सुधार करे बल्कि यह चाहते हैं कि वह इटली से निकल जाय।

नेपोलियन का सहयोग एवं लोम्बार्डी की प्राप्ति

कावूर ने भावी स्वातन्त्र्य संग्राम की रूपरेखा को साकार करने के लिए फ्रांसीसी सहायता को प्राप्त करना अपरिहार्य समझा। कावूर नेपोलियन से सन्धि करने का उपयुक्त अवसर देख रहा था परंतु इसी बीच आर्सिनी काण्ड हो गया।

आर्सिनी का काण्ड-1858 ई॰ में मेजिनी के गणतंत्रवादी शिष्य आर्सिनी ने नेपोलियन तृतीय की हत्या का प्रयास किया तो कावूर की सारी योजनाओं पर मानों तुषारापात हो गया। यह 1800 ई॰ की दुर्घटना की पुनरावृत्ति थी और नेपोलियन की भाँति ही नेपोलियन तृतीय भी बाल-बाल बच गया था, यद्यपि उसके कई अंगरक्षक मारे गये थे। कुछ दिनों तक पेरिस और ट्यूरिन के राजदरबारों के बीच सम्बन्धों में तनाव आ गया था। कावूर को अत्यंत जटिल स्थिति का सामना करना पड़ा क्योंकि वह फ्रांस को नाराज नहीं करना चाहता था उसने आर्सिनी के कार्य की आलोचना की और नेपोलियन की इच्छानुसार समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबंध लगाये। किंतु यह आश्चर्य की बात है कि आर्सिनी द्वारा जेल में लिखे गये एक पत्र का जिससे फ्रांस के सम्राट से इटली को स्वतंत्रता दिलाने की प्रार्थना की थी, नेपोलियन तृतीय पर बहुत प्रभाव पड़ा।

प्लोम्बियर्स का समझौता- सम्राट नेपोलियन तृतीय लगभग एक माह के लिए सार्डीनिया की सीमा के निकट छुट्टियाँ व्यतीत करने के लिए ठहरा हुआ था। कावूर बिना किसी औपचारिक निमंत्रण के प्लोम्बियर्स जा पहुँचा। कावूर और नेपोलियन की भेंट के परिणामस्वरूप फ्रांस तथा सार्डीनिया के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते में निम्नलिखित निर्णय लिये गये-

(1) नेपोलियन ने वचन दिया कि आस्ट्रिया को इटली से निकालने के लिए सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध होने पर फ्रांस दो लाख सैनिक पीडमान्ट की सहायता के लिए भेजेगा।

(2) आस्ट्रिया को बाहर निकालने के बाद लोम्बार्डी, वेनीशिया और कुछ अन्य भाग सार्डीनिया के राज्य में सम्मिलित कर दिये जायेंगें, जिससे उसकी सीमा आल्पस से एड्रियाटिक तक पहुँच सके।

(3) नेपोलियन की सहायता के बदले में कावूर ने सेवाय और नीस के भाग फ्रांस को देने का आश्वासन दिया।

(4) आम्ब्रिया और टस्कनी को मिलाकर इटली में एक नया राज्य बनाने और प्रिन्स जेरोम बोनापार्ट को उस राज्य का शासक बनाने का निश्चय हुआ।

(5) नेपिल्स और सिसली (दोनों) तथा पोप के राज्यों को पूर्ववत् बनाये रखने का भी निर्णय किया गया।

(6) फ्रांस और सार्डीनिया की मित्रता को मजबूत बनाये रखने के लिए विक्टर इमेन्युअल की पुत्री क्लोथिडे का विवाह नेपोलियन के चचेरे भाई प्रिन्स जेरोम बोनापार्ट के साथ होना निश्चित हुआ।

उक्त समझौते द्वारा इटली के चार राज्यों को विभाजित करने और उनका एक संघ बनाने की योजना बनाई गयी। कावूर नहीं चाहता था कि इटली के चार टुकड़े किये जायें। फिर प्रश्न यह उठता है कि कावूर ने इसे स्वीकार क्यों किया? वह पूर्व परिस्थियों से शिक्षा ले चुका था। 1848-49 ई॰की घटनाएँ उसके सम्मुख थीं। कस्टीजा और नोवेरा की घटनाओं ने प्रमाणित कर दिया था कि अकेला इटली आस्ट्रिया को बाहर नहीं खदेड़ सकता है। कावूर को 1856 ई॰ के पेरिस सम्मेलन में यह स्पष्ट हो गया था कि आस्ट्रिया बिना युद्ध के इटली पर अपना अधिकार नहीं छोड़ेगा। इसलिए इटली के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करना अनिवार्य था और इस सहायता के लिए कोई भी कीमत ज्यादा नहीं थी। वैसे तो कावूर इंग्लैण्ड की सहायता चाहता था परंतु इंग्लैण्ड आस्ट्रिया की शक्ति तथा साम्राज्य का समर्थक था। फ्रांस और रूस पर अंकुश रखने के लिए आस्ट्रिया को शक्तिशाली बनाये रखना इंग्लैण्ड की आवश्यकता थी। इंग्लैण्ड इटली के एकीकरण का परिणाम समझता था- विजयी नेपोलियन तृतीय, परास्त आस्ट्रिया तथा शक्तिशाली संयुक्त इटली ऐसी स्थिति में कावूर के लिए यह संतोष की बात हो सकती थी कि वह इंग्लैण्ड को तटस्थ रख सके और इसमें वह सफल हुआ।

नेपोलियन तृतीय द्वारा इटली के एकीकरण में रूचि व्यक्त करने के बारे में प्रश्न उठाया जा सकता है। हमें यह याद है कि पेरिस सम्मेलन के समय कावूर ने इटली की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति नेपोलियन की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। नेपोलियन कई कारणों से राष्ट्रीय आंदोलन में सहायक होना चाहता था। वह पहले कार्बोनेरी संस्था का सदस्य रह चुका था।उसने इटली के स्वतंत्रता के संघर्ष में भी भाग लिया था। इसके अतिरिक्त वह दलित राष्ट्रों की राष्ट्रीयता का मसीहा होने का भी दावा करता था। उसका यह समीकरण भी था कि सार्डीनिया की सहायता करके वह इटली में आस्ट्रिया के प्रभुत्व को नष्ट कर सकेगा और 1815 ई॰ में उसके वंश एवं फ्रांस का अपमान करने वाले शत्रु से प्रतिशोध भी ले सकेगा। उसे नीस और सेवाय के प्रदेश प्राप्त करने का भी वचन समझौते में मिल चुका था। संक्षेप में, नेपोलियन की इटली सम्बन्धी नीति का उद्देश्य फ्रांस का गौरव बढ़ाना था।

आस्ट्रिया-सार्डीनिया युद्ध- प्लोम्बियर्स समझौते में यह तय किया था कि आस्ट्रिया को भड़का कर यथाशीघ्र युद्ध आरंभ किया जाए ताकि आस्ट्रिया आक्रामक लगे तथा सार्डीनिया आत्मरक्षार्थ लड़ने वाला प्रतीत हो। कावूर ने प्लोम्बियर्स से लौटते ही युद्ध की तैयारी आरंभ कर दी। पीडमान्ट के समाचार पत्रों में आस्ट्रिया की कटु आलोचना की जाने लगी। कावूर अपने कार्यों से आस्ट्रिया को आक्रमण करने के लिए उकसाना चाहता था। कावूर ने इटली में स्थित आस्ट्रिया के मस्स और फर्रारा में विद्रोह करवा दिया, जिससे स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। ऐसा प्रतीत होने लगा की सार्डीनिया और आस्ट्रिया के बीच युद्ध अवश्यमभावी है। अतः ब्रिटेन ने फ्रांस के सहयोग से समस्या के समाधान का रास्ता खोजने की कोशिश की। अन्त में सार्डीनिया सैन्य-वियोजन के लिए राजी हो गया। किन्तु आस्ट्रिया इस समय मूर्खता के साथ आगे बढ़ा और उसने उत्तेजित होकर सार्डीनिया को 23 अप्रैल, 1859 को एक अल्टीमेंट भेजा कि तीन दिन के भीतर वह सैन्य-वियोजन कर दे अन्यथा उसके विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया जायेगा। कावूर की साई हुई आशाएँ जाग उठीं। कावूर प्रसन्नता से चिल्ला उठा, "पासा पलट गया और हम इतिहास बनाने जा रहे हैं।" 29 अप्रैल को आस्ट्रिया की सेनाओं ने सार्डीनिया की सीमा में प्रवेश किया और युद्ध आरंभ हो गया। इस युद्ध में विक्टर इमेंन्युअल ने स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भाली। आस्ट्रिया यूरोप की नजरों में आक्रामक बन गया और यूरोपीय राज्यों की सहानुभूति खो बैठा। आस्ट्रिया के अक्रामक होने की वजह से नेपोलियन का संकोच भी समाप्त हो गया और 3 मई को फ्रांस ने भी सार्डीनिया के पक्ष में आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा दी।

फ्रांस और सार्डीनिया की संयुक्त सेनाओं ने 20 मई 30 मई 4 जून को क्रमशः मांटेबेलो, पोलेस्ट्रो और मैंगेन्टा में आस्ट्रिया को हराया। कुछ ही दिन बाद मिलान पर अधिकार हो गया। 24 जून को इस संयुक्त दल ने सॉलफरीनो की शानदार विजय प्राप्त की। इस हार के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया को लोम्बार्डी का प्रदेश छोड़ना पड़ा और आस्ट्रिया के सैनिकों को वेनीशिया के चार प्रसिद्ध किलों- मैन्शुआ, पेस्चीरा, वेरोना और लेग्नोना- में शरण लेनी पड़ी। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वेनीशिया पर भी सार्डीनिया का अधिकार हो जायेगा किन्तु इसी समय नेपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया से पूछे बिना युद्ध बन्द करने की घोषणा कर दी।

प्रश्न उठता है कि फ्रांस के युद्ध से अलग होने के क्या कारण थे ?-

(i) फ्रांस को इस युद्ध में काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि युद्ध अधिक समय तक चलता तो और अधिक हानि की सम्भावना थी।

(ii) नेपोलियन ने महसूस किया कि फ्रांस की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना फ्रांस के लिए एक खतरा साबित हो सकती है।

(iii) फ्रांस के रोमन कैथोलिक लोग युद्ध जारी रखने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि सार्डीनिया के विजय अभियान से पोप की स्थिति खतरें में पड़ सकती थी।

(iv) नेपोलियन इस बात से भिज्ञ था कि पराजय के बावजूद आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति अब भी कमजोर नहीं हुई थी। साथ ही प्रशा भी आस्ट्रिया के पक्ष में युद्ध लड़ने की तैयारी कर रहा था। उसने सेनाओं को सीमाओं पर भेजना प्रारंभ कर दिया था। नेपोलियन दोनों की संयुक्त सेना का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था।

विलाफ्रेंका की विराम संधि(11 जुलाई,1859) -नेपोलियन तृतीय ने 11 जुलाई, 1859 को विलाफ्रेंका नामक स्थान पर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट करके युद्ध विराम की शर्तें तय कर लीं। ये शर्तें अग्रलिखित थीं-

(1) लोम्बार्डी सार्डीनिया को दे दिया जाय, परंतु वेनीशिया आस्ट्रिया के पास ही बना रहेगा।

(2) मध्य इटली के राज्य परमा, मोडेना और टस्कनी में वहाँ के शासकों को पुनः स्थापित करने का निर्णय लिया गया।

(3) पोप के अधिकार में इटली का एक संघ बनाया जाएगा और वेनीशिया उक्त इटालियन संघ का एक भाग होगा।

विलाफ्रेंका की संधि ने कावूर और इटली के लोगों की आशाओं पर तुषारापात कर दिया। इस स्थिति के बारे में लिप्सन ने ठीक ही लिखा है, "इस देश में विजयोल्लास का प्याला अपने होंठों तक लगाया ही था कि वह गिरकर चकनाचूर हो गय।" इस संधि से वेनीशिया में आस्ट्रिया का अधिकार बना रहा, जो इटली के लिए घातक था।आहत कावूर ने सम्राट विक्टर इमैन्युअल को यह सलाह दी कि वह इस संधि को न माने और अकेला ही युद्ध करे। किन्तु विक्टर इमैन्युअल ने आवेश में कोई निर्णय नहीं लिया। कावूर ने त्यागपत्र दे दिया। विक्टर इमैन्युअल को इस संधि से निराशा हुई थी। किन्तु वह यह भी महसूस कर रहा था कि वियेना की व्यवस्था द्वारा इटली पर जो आस्ट्रिया का संरक्षण स्थापित किया गया था, वह समाप्त हो चुका है। वह अपने प्रतिभाशाली मंत्री की अपेक्षा इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से देख सका। यद्यपि पीडमान्ट की आशाएँ पूरी नहीं हुईं तथापि उसे लाभ अवश्य मिला था। वह यह मानता था कि जब यूरोपीय शक्तियों ने लोम्बार्डी पर इटली का अधिकार मान लिया है, तो वेनीशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार एक प्रकार से स्वीकार कर लिया।

विक्टर इमैन्युअल ने आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ मिलकर 10 नवम्बर 1859 को ज्यूरिख की संधि पर हस्ताक्षर किये। ज्यूरिख की संधि द्वारा विलाफ्रेंका की विराम संधि की पुष्टि की गयी। इससे लोम्बार्डी पर पीडमान्ट का विधिवत अधिकार स्थापित हो गया और इसी के साथ इटली के एकीकरण का प्रथम चरण पूरा हुआ।

मध्य इटली का विलय

आस्ट्रिया- सार्डीनिया युद्ध के समय सारा इटली राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत था। इसी दौरान मध्य इटली की जनता ने भी अपने शासकों के विरूद्ध विद्रोह कर दिया और परमा, मोडेना और टस्कनी के शासकों को हटा दिया। इन विद्रोहों के लिए नेशनल सोसायटी पहले ही भूमिका तैयार कर चुकी थी। जनता ने बोलोग्ना और रोमाग्ना से पोप के प्रतिनिधियों को निकाल दिया और इन स्थानों पर अस्थाई सरकारों का गठन कर लिया। यहाँ के देशभक्तों ने एक विशाल सेना भी गठित कर ली थी। इन प्रदेशों ने प्रस्ताव पास कर यह निर्णय लिया कि उनके राज्य सार्डीनिया में मिला दिये जायें। सार्डीनिया की मध्य डचियों के इस आंदोलन के प्रति सहानुभूति थी। इंग्लैण्ड की उदारवादी सरकार की भी इटली की आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति थी। उसने अहस्तक्षेप की नीति अपनाई और घोषणा की कि इटलीवासियों को अपने मामले स्वयं तय करने का अधिकार है। आस्ट्रिया और प्रशा चाहते थे कि ज्यूरिख की संधि के अनुसार मध्य इटली में पुराने शासकों को गद्दी पर बिठाया जाय। अतः अब सारी स्थिति फ्रांस के दृष्टिकोण पर निर्भर थी। इसी बीच जनवरी 1860 में कावूर पुनः प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुआ और उसने नेपोलियन के साथ इस बात पर सौदा तय किया। उसने नेपोलियन को नीस और सेवाय का लालच दिया। अन्त में यह तय हुआ कि वह मध्य इटली के राज्यों को सार्डीनिया में मिलाये जाने पर कोई

आपत्ति नहीं करेगा, यदि उसे इसके बदले नीस और सेवाय के प्रांत मिलें। नेपोलियन ऐसा करके वह प्लोम्बियर्स समझौते के अंतर्गत दिये गये सहयोग का मूल्य प्राप्त करने का अभिलाषी था। इस लाभ को प्राप्त करके वह अपने देशवासियों के असंतोष को भी दूर करना चाहता था।

मार्च, 1860 में मध्य इटली के राज्यों में जनमत संग्रह कराया गया, जो एक प्रयोग था। परमा, मोडेना, टस्कनी, बोलोग्ना और पियाकेन्जा के प्रचंड बहुमत से सार्डीनिया के साथ मिलने का निर्णय किया। नीस और सेवाय में भी जनता ने फ्रांस के साथ मिलने का मत दिया और वहाँ पर फ्रांस का अधिकार हो गया।

नीस और सेवाय इटली के हाथ से निकल जाने की कटु आलोचना हुई। नीस गैरीबाल्डी की जन्मभूमि थी, अतः उसे इस घटना से भारी आघात लगा। उसने कावूर की आलोचना करते हुए कहा,"तुमने मुझे अपनी ही मातृभूमि में विदेशी बन दिया।" इंग्लैण्ड में सभी लोगों को फ्रांस द्वारा किया गया यह अपहरण अच्छा नहीं लगा क्योंकि इंग्लैण्ड यह नहीं चाहता था कि फ्रांस के प्रभाव में वृद्धि हो।

सार्डीनिया-पीडमान्ट का क्षेत्रफल अब पहले से दुगन हो गया। वेनीशिया को छोड़कर समस्त उत्तरी इटली तथा मध्यवर्त्ती इचियों के एक इटालियन राज्य का निर्माण हो चुका था।इसी के साथ इटली के एकीकरण का दूसरा चरण पूर्ण हुआ।

नेपिल्स और सिसली का विलय

अभी भी आधा प्रायद्वीप मिलना शेष था। नेपिल्स, सिसली, वेनीशिया और रोम अभी इटली के बाहर थे। विलाफ्रेंका के विश्वासघात के बाद कावूर ने कहा था, "यूरोपीय शक्तियों ने मुझे कूटनीति के द्वारा उत्तर की ओर से एकीकरण नहीं करने दिया। अब मुझे क्रान्ति का सहारा लेकर दक्षिण की ओर से इटली का एकीकरण करना होगा।"यह कावूर की नीति में परिस्थितिजन्य परिवर्तन का द्योतक था।

नेपिल्स और सिसली के पिछले 40 वर्षों का इतिहास अत्याचारपूर्ण निरकुंशता का इतिहास था। मई 1859 में नेपिल्स और सिसली के शासक फर्डीनेन्ड द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर फ्रांसिस द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य, अनुभवहीन और निर्बल शासक था। फ्रांसिस द्वितीय ने कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया किन्तु उससे जनता का असंतोष कम नहीं हुआ। 1859 ई॰ में सार्डीनिया और आस्ट्रिया के युद्ध और केन्द्रीय इटली में जो विद्रोह हुए, उन सबका प्रभाव नेपिल्स और सिसली पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त वहाँ शासक के विदेशी होने के कारण भी भारी असंतोष था। सिसली में नेशनल सोसायटी का प्रचार कार्य तेजी से चल रहा था।मेजिनी ने भी विद्रोह को प्रोत्साहन दिया और उसके एक समर्थक फ्रांसिस्को क्रिस्पी में विद्रोह की योजना तैयार की, किन्तु नैपिल्स और सिसली के विद्रोह को सफल बनाने का श्रेय गैरीबाल्डी को जाता है।

गैरीबाल्डी(1807-1882 ई॰)- ज्यूसप गैरीबाल्डी का जन्म 1807 में नीस नामक नगर में हुआ था। उसके पिता छोटे व्यापारिक जहाज के एक अधिकारी थे। उसके पिता चाहते थे कि गैरीबाल्डी को उच्च शिक्षा मिले। लेकिन गैरीबाल्डी का मन पढ़ने में नहीं लगा। वे केवल इतना पढ़ सका कि पुस्तकें पढ़ सके और अपनी स्वतंत्र एवं साहसिक प्रवृत्ति को संतुष्ट कर सके। 10 वर्षों तक गैरीबाल्डी व्यापारिक जहाजों पर पर्यटन करता रहा। इस कारण उसे भूमध्य सागर का पर्याप्त अनुभव हो गया था। इन्हीं यात्राओं में उसका इटली के देशभक्तों और निवासियों से परिचय हुआ और उनके सम्पर्क से उसके मन में इटली की स्वतंत्रता की भावना जागृत हुई। वह मेजिनी के सम्पर्क में भी आया और उसके उच्चादर्शों से प्रभावित होकर युवा इटली का सदस्य बन गया। 1833 ई॰ में उसने मेजिनी द्वारा संगठित नौ-सैनिक षड्यंत्र में भाग लिया। वह पकड़ा गया और उसे मृत्युदण्ड की सजा दी गयी लेकिन वह किसी तरह भाग कर दक्षिण अमेरिका चला गया। चौदह वर्षों तक वह दक्षिण अमेरिका के क्रांतिकारियों से सहयोग करता रहा। इस समय में उसने छापामार युद्ध का अच्छा प्रशिक्षण प्राप्त किया, जो आगे चलकर इटली के एकीकरण के युद्धों में सहायक हुआ।1848 ई॰ की क्रांति की सूचना पाकर वह पुनः इटली लौट आया। और उसने चार्ल्स एल्बर्ट के नेतृत्व में आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में भाग लिया। इसके पश्चात् वह रोम में मेजिनी के गणतंत्र की सहायता करने पहुँचा। उसने फ्रांसीसी सेनाओं के विरूद्ध रोम की रक्षा का अन्त तक प्रयत्न किया किन्तु वह सफल न हो सका और किसी प्रकार बचकर टस्कनी पहुँचा। टस्कनी में वह पीडमान्ट आया और वहाँ से पुनः देश छोड़कर अमेरिका चला गया। अमेरिका में वह छह वर्ष रहा और वहाँ से काफी धन कमाकर 1854 ई॰ में पुनः इटली लौट आया। इटली आने

पर उसने सार्डीनिया के निकट केप्रीरा नामक टापू खरीदा और वहाँ एक स्वतंत्र कृषक के रूप में रहने लगा।1856 ई॰ में उसका कावूर से प्रथम सम्पर्क हुआ। वह कावूर के विचारों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने 1857 ई॰ में सार्डीनिया के शासक को अपनी सेवाएँ अर्पित कर दीं। गैरीबाल्डी के जीवन की यह एक महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि गणतंत्रवादी अब वैधानिक राजतंत्रवाद का समर्थक बन गया थ। उसी के कारण सार्डीनिया के गणतंत्रवादियों और राजतंत्रवादियों में समझौता हो सका। केटलबी ने लिखा है,"यदि यह समझौता नहीं होता और दोनों के मतभेद बने रहते तो वे एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न करते और इटली की एकता का प्रयत्न विफल हो जाता।"

सिसली में विद्रोह- सिसली की जनता बूर्बों राजाओं के निरंकुश शासन के विरूद्ध थी। यहाँ के देशभक्तों ने गैरीबाल्डी से प्रार्थना की कि वह उनका नेतृत्व करे। गैरीबाल्डी उनकी सहायता के लिए तैयार हो गया। किन्तु उसने यह शर्त रखी थी कि वे इटली और विक्टर इमेंन्युअल के नाम पर विद्रोह करें। 4 अप्रैल, 1860 को मसीना के निकट विद्रोह हो गया। यद्यपि आरंभ में विद्रोहियों को कुछ सफलता मिली लेकिन फ्रांसीसी सेनाओं ने इस उपद्रव को क्रूरता से दबा दिया था। इस घटना के बाद गैरीबाल्डी सिसली की मदद को तैयार हो गया। कावूर भी सिसलीवालों की मदद करना चाहता था लेकिन वह खुलेआम ऐसा नहीं कर सकता था क्योंकि ऐसा करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ था। इससे नेपिल्स और सार्डीनिया के मध्य युद्ध छिड़ सकता था। सम्भव था कि यूरोपीय राज्य इसमें हस्तक्षेप करने लगते। कावूर यह भी जानता था कि उत्तरी इटली का जनमत सिसली के विद्रोह का समर्थक है। अतः वह जनता की भावना के विरूद्ध नहीं जा सकता था। कावूर को यह सुनहरा अवसर प्रतीत हो रहा था। बाहरी तौर पर वह अपनी तटस्था का प्रदर्शन करता रहा किन्तु गुप्त रूप से उसने गैरीबाल्डी और सिसली की मदद की। 5 मई,1860 को गैरीबाल्डी ने अपने प्रसिद्ध 'एक हजार लाल कुर्ती वाले स्वयेंसवकों' के साथ जेनेवा से सिसली की ओर प्रस्थान किया। 11 मई को गैरीबाल्डी सिसली द्वीप के पश्चिम किनारें पर मार्सला पहुँच गया। वहाँ पर इंग्लैण्ड की सहायता से गैरीबाल्डी के सैनिक सिसली पर उतर गये। 15 मई को केल्टाफीमी नामक स्थान पर उसने नेपिल्स की सेनाओं को परास्त किया। इसके बाद उसने पैलरमो पर अधिकार कर लिया। जून के अन्त तक सिसली पर गैरीबाल्डी का अधिकार हो गया और स्वयं को सिसली का अधिनायक घोषित किया। अपने अदम्य उत्साह, कौशल और राजा से असंतुष्ट जनता के अपूर्व सहयोग के कारण गैरीबाल्डी को अभूतपूर्व सफलता मिली।

गैरीबाल्डी की शानदार सफलताओं से जो परिस्थिति बनी उसके कारण कावूर के समक्ष कई कठिनाइयॉ पैदा हो गयीं। यह प्रातः निश्चित प्रतीत हो रहा था कि विजय के उत्साह से वह नेपिल्स पर आक्रमण करेगा। यह भी सम्भव था कि वह ओर आगे बढ़ने का प्रयास करता तथा पोप की रियासतों पर आक्रमण करके रोम को लेने का प्रयत्न करता। रोम पर आक्रमण की स्थिति में फ्रांस के हस्तक्षेप की पूर्ण सम्भावना थी। कावूर को यह आशंका थी कि गैरीबाल्डी, मेजिनी के प्रभाव के कारण, विजित प्रदेशों में गणतंत्र स्थापित न कर दे। कावूर यह चाहता था कि गैरीबाल्डी को जो सफलता मिली है, वह इटली के हित में हो। वह यह नहीं चाहता था कि असमय रोम पर आक्रमण करने पर यूरोपीय शक्तियाँ विशेषकर फ्रांस और आस्ट्रिया इटली के मामलों में हस्तक्षेप करें। अतः कावूर बड़ी सावधानी से कदम उठा रहा था।

कावूर ने गैरीबाल्डी को संदेश भेजा कि वह सिसली को उत्तरी इटली में मिला दे किन्तु गैरीबाल्डी तैयार नहीं हुआ। अब कावूर ने गैरीबाल्डी की महत्त्वाकांक्षाओं को नियंत्रित रखने एवं गणतंत्र के विरूद्ध जनमत तैयार करने के उद्देश्य से कुछ चुने हुए कार्यकत्ताओं को सिसली और नेपिल्स भेजा। उन्होंने जनमत को नैपिल्स के उत्तरी इटली के साथ मिलाये जाने के पक्ष में तैयार कर लिया। कावूर ने एडमिरल पर्सानों को भेजकर नेपिल्स के जहाजी बेड़ों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया।" कावूर का यह व्यवहार नैतिक नहीं था, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि परिस्थितिवश ऐसा मार्ग अपनाना पड़ा था और उसने जो कुछ भी किया उसमें उसका स्वार्थ नहीं था।"

नेपिल्स का अधिकार- थोड़ी तैयारी के बाद गैरीबाल्डी ने अपनी सेना के साथ 19 अगस्त 1860 को नेपिल्स पर हमला कर दिया। पहले से उसकी स्थिति बेहतर थी क्योंकि उसे अपार जन-समूह का समर्थन प्राप्त था और सफलता से उसकी सेना का मनोबल ऊँचा था। लेकिन विरोध में एक लाख की सेना खड़ी थी, जिसमें कुछ असंतुष्ट सैनिक भी थे। असंतुष्ट सेना हमेंशा नुकसान पहुँचाती रही है। ये सैनिक गैरीबाल्डी के साथ मिलने लगे। नेपोलियन तृतीय गैरीबाल्डी की प्रगति को रोकना चाहता था, क्योंकि वह इटली को शक्तिशाली राज्य नहीं होने देना चाहता था। उसने इंग्लैण्ड को यह प्रस्ताव रखा कि आंग्ल-फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा मिलकर मेंसीना के तंग जल-मार्ग पर गैरीबाल्डी को रोके और उसे सिसली से उत्तर की ओर न जाने दे। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन ने इसे अस्वीकृत कर दिया क्योंकि वह किसी अन्य देश के मामलों में हस्तक्षेप

करने को तैयार न था। इस प्रकार ब्रिटेन की सहानुभूतिपूर्ण नीति के कारण गैरीबाल्डी को नेपिल्स में आगे बढ़ने का अवसर मिल गया। फ्रांस अकेला कुछ न कर सका।

फ्रांसिस द्वितीय द्वारा गैरीबाल्डी को रोकने के प्रयत्न विफल हुए और उसके सेनापति विद्रोही हो गये। ऐसी स्थिति में शासक नेपिल्स छोड़ कर गेटा भाग गया। गैरीबाल्डी बिना किसी प्रतिरोध के आगे बढ़ता चला गया। लोगों ने उसका शानदार स्वागत किया और उसे दूसरा मसीहा माना। गैरीबाल्डी ने स्वयं को नेपिल्स का अधिनायक घोषित किया और मेजिनी के समर्थक बर्तानी को राज्य का मंत्री नियुक्त किया।

गैरीबाल्डी की सफलता से उत्पन्न कठिनाईयाँ- गैरीबाल्डी ने अतिरोक उत्साह से प्ररित हो घोषणा की कि अब वह वेनिश और फिर रोम पर अधिकार करेगा। उसने इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया कि वेनिश और रोम पर आक्रमण करने से आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ युद्ध हो सकता है। वह किसी प्रकार के समझौते के लिए तैयार न था। गैरीबाल्डी को न तो कायर बनना पसंद था और न ही वह विक्टर एवं कावूर की दुरंगी चाल पसंद करता था।" वह जानता था कि ऐसे स्वतंत्र लोगों की इच्छाओं को सदा के लिए कुचला नहीं जा सकता है, जो अपनी स्वतंत्रता के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए उतावले रहते हैं।" गैरीबाल्डी के इरादों के कारण कावूर की स्थिति काफी जटिल हो गयी, किन्तु कावूर ने भी गैरीबाल्डी के प्रयत्न को विफल बनाने का दृढ़ निश्चिय कर लिया। इसी समय कावूर ने कहा था,"मुझे इटली की विदेशियों, अनिष्टकारी सिद्धांतों (गणतंत्रवादी सिद्धांत), पागलों (गैरीबाल्डी) से रक्षा करनी है।" कावूर ने यह निश्चय किया कि पीडमान्ट की सेना द्वारा पोप की रियासतों पर आक्रमण करा दिया जाय और इस प्रकार गैरीबाल्डी से रोम की रक्षा की जाय।

नेपोलियन ने पोप की रियासतों पर आक्रमण करने की कावूर को स्वीकृति इस शर्त पर दी कि रोम पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होना चाहिये। अब कावूर के लिए रास्ता साफ था। पोप की एक साधारण- सी विरोधी चाल पर अप्रसन्न होकर उसी को युद्ध का बहाना बनाकर कावूर ने पोप की रियासतों पर 11 सितम्बर, 1860 को आक्रमण की आज्ञा दे दी।। 29 सितम्बर को आम्ब्रिया और मार्चेस पर सार्डीनिया का अधिकार हो गया। इधर गैरीबाल्डी भी रोम की ओर आगे बढ़ रहा था किन्तु रास्ते में नेपिल्स की सेनाओं ने उसका रास्ता रोक दिया, जिससे कई दिनों तक वह आगे नहीं बढ़ सका। कावूर ने इस समय का पूरा फायदा उठाया। इटली की संसद के निर्णयानुसार, सिसली व पोप के जीते प्रदेशों में जनमत संग्रह करवाया। अक्टूबर के अन्त तक सभी क्षेत्रों की जनता ने उत्तरी इटली के राज्य में सम्मिलित होने का निर्णय किया। इससे कावूर की स्थिति मजबूत हो गयी।

दूसरी ओर गैरीबाल्डी फ्रांसिस द्वितीय के अधीन गेटा और केपुआ के किलों पर अधिकार नहीं कर पाया और उसे यह विश्वास हो गया कि इटली की सेना की सहायता के बिना वह सफल नहीं हो सकेगा। इसी समय विक्टर इमेंन्युअल स्वयं सेना लेकर नेपिल्स की ओर बढ़ा। टिआनो, नामक स्थान पर गैरीबाल्डी और विक्टर इमेन्युअल की भेंट हुई। गैरीबाल्डी ने उसको इटली के शासक के रूप में स्वीकार किया। इसके पश्चात् गैरीबाल्डी ने अपनी सेना और समस्त अधिकार इटली के शासक को समर्पित कर कर दिये। विक्टर इमेंन्युअल ने 7 नवम्बर, 1860 को गैरीबाल्डी के साथ नेपिल्स में प्रवेश किया। इसके पश्चात् नेपिल्स के राजमहल में विक्टर इमेंन्युअल को संयुक्त इटली का शासक घोषित किया गया। दक्षिण के राज्यों के इटली में विलय के साथ ही इटली के एकीकरण का तृतीय चरण सम्पन्न हुआ।

18 फरवरी, 1861को ट्यूरिन में इटली की प्रथम संसद की बैठक हुई, जिसमें वेनीशिया और रोम को छोड़कर समस्त इटली के प्रतिनिधि थे। विक्टर इमेंन्युअल द्वितीय को विधिवत इटली का शासक स्वीकार किया गया। इस प्रकार सार्डीनिया का राज्य इटली का राज्य हो गया। संसद ने कावूर का यह प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया कि रोम इटली की राजधानी होनी चाहिये।

गैरीबाल्डी की महानता- इटली को मुक्त कराने में गैरीबाल्डी का योगदान अविस्मरणीय है। विक्टर इमेंन्युअल के इटली के राजा घोषित होने के पश्चात् गैरीबाल्डी को सम्मानित करने और उपलब्धियाँ देने का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन उसने आदरपूर्वक उपाधियों और पुरस्कारों को लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, ''देश सेवा स्वयं एक पुरस्कार है, मुझे कोई दूसरी चीज नहीं चाहिये। स्वतंत्र इटली अमर हो।'' इटली के इस महान् देशभक्त और योद्धा के वीरतापूर्ण कार्यों का यही यशस्वी अन्त था। वह अपने खेतों में बीजों का एक थैला लेकर अपने द्वीप केप्रीरा चला गया। " इसमें तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं कि वह इटली को मुक्त कराने वाला परमवीर था जिसने इतिहास को वीर काव्य बना डाला, जिसने राजनीति को साहसिक खेल मात्र समझा।"

कावूर का मूल्यांकन- यह महान् देशभक्त सम्पूर्ण इटली का एकीकरण देखने को अधिक जीवित नहीं रहा। इसका

देहावसान 6 जून 1861 को हो गया। एलीसन फिलिप्स का यह कहना ठीक ही है," एक राष्ट्र के रूप में इटली कावूर की देन है।" कावूर ने राष्ट्रीय मुक्ति के कार्य को दलीय भावना से मुक्त रखा, विचारहीन षड्यंत्रों से रक्षा की और क्रांति तथा प्रतिक्रिया की चट्टानों के बीच से उसकी नौका खेकर उसे संगठित शक्ति, ध्वज, शासन और विदेशी मित्र प्रदान किये। वस्तुतः " कावूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी की वीरता निष्फल लड़ाई और निराशा के इतिहास में एक अध्याय और बढ़ा देते।"

कावूर के इतिहास के मंच पर आने से पूर्व इटली को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने के कई प्रयत्न हुए थे, परंतु वे सब निष्फल रहे। कावूर प्रथम व्यक्ति था, जिसने इटली की समस्या के सभी पहलुओं को देखा। समस्त देशवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना तो मेजिनी, गैरीबाल्डी आदि भर चुके थे और उनमें राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की उत्कट अभिलाषा भी उत्पन्न कर दी थी, परंतु राष्ट्रीय स्वतंत्रता का महायज्ञ कैसे सम्पन्न हो सकता था, यह वे नहीं जानते थे। गुप्त षड्यंत्र और विद्रोह ही उनके उपाय थे। कावूर ने इन उपायों की व्यर्थता को देखा और समस्या के समाधान के लिए यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। उसने एक कुशल राजनेता की भाँति यह जान लिया कि इटली की समस्याओं का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, यूरोपीय कूटनीति तथा युद्ध द्वारा ही हो सकेगा।

सार्डीनिया जैसे छोटे राज्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सहयोग पाना एक दुष्कर कार्य था किन्तु कावूर की राजनीति ने इसे सम्भव बनाया।क्रीमिया के युद्ध में सार्डीनिया का भाग लेना कावूर की एक कूटनीतिक पहल थी। पेरिस के शांति सम्मेलन में इटली के प्रश्न को प्रस्तुत कर उसे यूरोपीय प्रश्न बना दिया। मध्य डचियों के मामले में जिस गुप्त प्रचार को कावूर ने बढ़ावा दिया, उसने उसे एक श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। कावूर ने बड़ी बुद्धिमानी से सम्राट को सेना के साथ भेजकर गैरीबाल्डी के जोश पर अंकुश लगाया। निःसंदेह कावूर आधुनिक इटली का स्वप्नदृष्टा ही नहीं वरन् जन्मदाता भी था।

इटली के एकीकरण का अंतिम चरण

रोम और वेनीशिया को छोड़कर इटली का एकीकरण लगभग पूर्ण हो चुका था। रोम और वेनीशिया का भाग्य अब भी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के साथ जुड़ा था। इटली का शेष एकीकरण प्रशा के कारण हुआ। कावूर के बाद विक्टर इमेंन्युअल ने इन राज्यों को इटली के अधीन होने में जल्दबाजी नहीं की। उसने उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा की। इटली की राजनीति अस्थिरता और शोचनीय आर्थिक स्थिति के कारण विक्टर इमेंन्युअल इटली के लिए कुछ समय तक कोई कदम नहीं उठा सका।

वेनीशिया की प्राप्ति- इटली को वेनीशिया प्राप्ति के अवसर 1866 ई॰ में मिला । प्रशा का चांसलर बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरूद्ध भावी युद्ध की तैयारी कर रहा था क्योंकि आस्ट्रिया इटली के एकीकरण के समान जर्मनी के एकीकरण में भी बाधक था। बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरूद्ध इटली का सहयोग प्राप्त करना चाहता था। अप्रैल, 1866 में दोनों देशों के बीच एक संधि हुई जिसके अनुसार प्रशा ने युद्ध में इटली की सैनिक सहायता के बदले वेनीशिया दिलाने का वचन दिया। 14 जून, 1866 को प्रशा ने आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की। विक्टर इमेंन्युअल ने दूरदर्शिता दिखाई और जब आस्ट्रिया पर उत्तर से प्रशा ने हमला किया तो दक्षिण से उसकी सेना ने 20 जून को वेनीशया पर हमला कर दिया।फलतः आस्ट्रिया की सेनाएँ बंट गयीं। इटली ने युद्ध में बड़े उत्साह से भाग लिया था किन्तु उसे आस्ट्रिया के कई स्थानों पर हारना पड़ा। इसके विपरीत 3 जुलाई, 1866 को प्रशा ने सेडोवा के युद्ध में आस्ट्रिया को निर्णायक पराजय देने में सफलता प्राप्त की। बिस्मार्क ने प्राग की संधि द्वारा वेनीशिया इटली को दिलवा दिया। जनमत संग्रह के द्वारा वेनीशिया का इटली में विलय सम्पन्न हुआ।

रोम की प्राप्ति- रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली का एकीकरण 1866 ई॰ में पूर्ण हो चुका था। रोम के बिना इटली की स्थिति उसी प्रकार थी जैसे हृदय के बिना शरीर। रोम पोप के अधीन था और रोम में फ्रांसीसी सेनाएँ पोप की रक्षा के लिए मौजूद थी। गैरीबाल्डी ने 1867 में रोम को लेने का असफल प्रयास किया था। इटली के राजनीतिज्ञ जानते थे कि फ्रांस के सहयोग के बिना उस पर अधिकार करना कठिन था।

रोम की प्राप्ति का कार्य तब पूर्ण हुआ, जब प्रशा और फ्रांस के बीच 1870 ई॰ में युद्ध हुआ। इस युद्ध में नेपोलियन तृतीय को प्रशा के विरूद्ध अपनी पूरी ताकत लगानी पड़ी। अतः उसने रोम से भी अपनी सेना हटा ली। फ्रांस को प्रशा से उलझा

हुआ देखकर विक्टर इमेंन्युअल ने रोम पर आक्रमण कर दिया। 20 सितम्बर, 1870 को रोम पर इटली का अधिकार हो गया जिसमें 40,000 से अधिक मत विक्टर इमेंन्युअल के पक्ष में पड़े, जबकि पोप के पक्ष में केवल 46 मत पड़े। परिणामस्वरूप रोम इटली में शामिल कर लिया गया और उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 2 जून 1871 को सम्राट ने इटली की इस राजधानी में प्रवेश किया। रोम की प्राप्ति के साथ ही अब इटली एक ' भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र नहीं रहा अपितु एक स्वतंत्र सम्प्रभु राष्ट्र बन गया।

समीक्षा- इटली के एकीकरण की सफलता एवं इसके मुख्य नायक कावूर की यश-गाथा को कहते अधिकांश इतिहासकारों की कलम रूकती नहीं है। किन्तु अब कुछ इतिहासकार इटली के एकीकरण के इतिहास एवं परवर्ती घटनाओं का पुनः निरीक्षण कर रहे है। इटली के एकीकरण के पश्चात् उसका उन्नयन होना चाहिए था किन्तु ऐसी नहीं हुआ। ' एकीकरण के पश्चात् से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के अन्त का इटली का इतिहास उसके पतन का इतिहास है।' इटली की भूमि से उच्च उद्देश्य पलायान कर गये थे। देखने भर को बाहरी एकता स्थापित हो गयी थी, किन्तु यह एक छोटे से वर्ग ने प्राप्त की थी। सत्य यह है कि सर्वसाधारण में एकता का पूर्ण अभाव था। " वास्तव में इटली का एकीकरण यकायक एक झोंक में स्थापित हो गया था जबकि इटली के लोग शताब्दियों से विभक्त और अलग-अलग रहने और सोचने के आदि थे। पीडमान्ट के छोटे से देश ने स्वतंत्रता की मशाल जलाई थी। किन्तु इटली की यह स्वतंत्रता और एकता लोगों के परिश्रम और साहस के फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुई थी वरन् यह तो ईश्वरीय वरदान स्वरूप इटली को प्राप्त हुई। यद्यपि कुछ उच्चतर समाजिक क्षेत्रों में राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय और स्वशासन के भाव जाग्रत हो चुके थे किन्तु सर्वसाधारण में उक्त उच्च भावों का सर्वथा अभाव था।" यह भी माना जाता है कि इटली के एकीकरण और स्वतंत्रता का इतिहास उस कुटनीति की कहानी है, जिससे दूसरों के झगड़ो का लाभ उठाया गया। इस महती घटना का मुख्य नायक कावूर था,जिसने कुछ अंशो में इटली की प्रतिष्ठा को, अनैतिक एवं असंवैधानिक कार्यों का सहारा लेकर धक्का पहुँचाया। इस सबका दुष्परिणाम यह निकला कि 50 वर्षों पश्चात् इटली में फासिस्टो के उदय में सहायता मिली।

अस्तु, इटली का एकीकरण एक ऐतिहासिक सत्य है तथा इस उपलब्धि के पीछे आधे शताब्दी के प्रयासों व असफलताओं तथा त्याग एवं कष्टों की कहानी है, जिसे मूर्त रूप दिया था- असंख्य देशभक्तों के बलिदान ने मेजिनी के नैतिक बल गैरीबाल्डी की तलवार, कावूर की कूटनीति एवं विक्टर इमेंन्युअल की समझदारी ने।

जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना के विकाश का श्रेय भी नेपोलियन को ही जाता है। नेपोलियन की विजय से पहले जर्मनी एक सर्वाधिक विभक्त देश था इसमें 300 राज्य थे और इन्हें पवित्र रोमन साम्राज्य के नाम से जाना जाता था। नेपोलियन ने जर्मनी के 39 राज्यों का एक संघ बनाकर जिले राईन संघ के नाम से जाना जाता था एकता का मार्ज प्रशस्त किया। परन्तु नेपोलियन के पतन के साथ ही यह संघ खत्म हो गया! विपना की कांग्रेस में एकीकरण का विरोध किया तथा एक शक्तिहीन संघ का निर्माण किया गया और आस्ट्रिया को इनका अध्यक्ष बनाया गया। संघ की एक संसद (Diet) बनाई गई जिसके सदस्य राज्यों के राजाओं द्वारा मनोनीत किए जाते थे। संसद के अधिकार नाम मात्र के थे। सभी राज्य परस्पर में स्वतन्त्र थे। पर उन सब पर आस्ट्रिया का प्रभाव व्याप्त था। इसलिए कहा जा सकता है कि जर्मन-परिसंघ वास्तविक अर्थ में राष्ट्र नहीं था, बल्कि स्वतन्त्र राज्यों का एक ढ़ीला-ढ़ाला मण्डल था। इस संघ निर्माण के पीछे आस्ट्रिया का मुख्य उद्देश्य यह था कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावना का विकास न हो। यह संघ जातियों का संघ न होकर राजाओं का संघ था। अतः आस्ट्रिया के राजा व उसके प्रधान-मंत्री मेंटरनिख को यह आशा थी कि वे स्वतन्त्र राजा सदैव परस्पर लड़ते रहेंगे और उनमें राष्ट्रीय भवना का प्रादुर्भाव नहीं हो पावेगा। परन्तु इस बात को वे भूल गये थे कि नेपोलियन के आक्रमणों ने जर्मनी के लोगों में भी संगठन व राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर दी थी। जर्मन के सभी प्रगतिशील व्यक्ति यह अनुभव करने लगे थे कि जर्मनी की प्रथम आवश्यकता एकता और एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार का निर्माण है। परन्तु जर्मनी का एकीकरण का स्वप्न तब साकार नहीं हो पाया जब तक कि बिस्मार्क प्रशा का चान्सलर नहीं बन गया। अतः 1815 से 1862 तक जर्मनी के एकीकरण में बाधाएं ही प्रस्तुत होती रहीं और उन्होंने जर्मनी के एकीकरण को मन्थर गति से ही आगे बढ़ने दिया।

जर्मनी में राष्ट्रीय भावना के प्रसार में कठिनाइयां- यह सत्य है कि जर्मनी में राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव नेपोलियन के आक्रमण के साथ हो गया था। उसने स्वयं ने 200 राज्यों को घटाकर उन्हें 39 राज्यों में गठित कर दिया था

तथा पवित्र रोम साम्राज्य को समाप्त कर दिया था। इसके अलावा जर्मन लोग भी अपनी सुरक्षा के लिए नेपोलियन के विरूद्ध मोर्चा लेने के लिए संगठित हुए थे। पर यह सब होते हुए भी वियना-कांग्रेस की स्थापना के परिणामस्वरूप जर्मनी में राष्ट्रीय भावना शिथिल पड़ गई थी और उसका विकास 1862 तक प्रबल रूप से नहीं हो पाया। इसके कुछ कारण थे और उनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

(i) विभिन्न राज्यों का संघ होना- यह पहले ही कहा जा चुका है कि ''जर्मन परिसंघ'' कई जातियों का संघ नहीं वरन् 3६ राजाओं का संघ था। वे राज्य परस्पर में स्वतन्त्र तो थे ही पर साथ में ही उनका इतिहास भी भिन्न था। वहां के लोगों की परम्पराएं भिन्न थीं। राज्यों के राजा विभिन्न वंश के थे। इसके अलावा उनका राजनीतिक इतिहास भी समान नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में 39 राज्यों के परिसंघ में एकता व राष्ट्रीयता की भावनाओं का पनपना कठिन था।

(ii) जर्मन राज्यों की राजनीति में असमानता- जर्मन संघ के 39 राज्यों में राजनीतिक विकास भी एक स्तर का नहीं था। कुछ राज्यों में संसद की स्थापना हो चुकी थी और लोगों को स्वशासन के अधिकार भी प्राप्त हो चुके थे। जबकि जर्मनी में कुछ राज्य ऐसे भी विद्यमान थे जहां कि संसदीय प्रणाली का प्रादुर्भाव ही नहीं हो पाया था। जर्मन-संघ के प्रथम दो राज्य आस्ट्रीया व प्रशा ही इस क्षेत्र में पिछड़े हुए थे। वहां न संसद थी और न जनता को कोई विशेष राजनीतिक अधिकार ही प्रदत्त किए गए थे। अतः उन राज्यों में आस्ट्रिया की भावना प्रबल नहीं बन सकी थी।

(iii) आस्ट्रिया व प्रशा का प्रतिद्वन्द्वी होना- यह सही है कि जर्मन-संघ के 39 राज्यों में ही एकता नहीं थी। उनका राजनीतिक चिन्तन भी समान नहीं था। वे एक दुसरे से देष रखते थे। पर यह अवगुण आस्ट्रिया व प्रशा में प्रमुख रूप से वर्तमान था। वे दोनों राज्य ही जर्मन-परिसंघ के प्रमुख राज्य थे। आथ्स्ट्रया उस संघ का अध्यक्ष तथा प्रशा उपाध्यक्ष था। परन्तु ये दोनों ही एक दूसरे पर सन्देह करते थे। आथ्स्ट्रया को सदैव यह चिनता रहती थी कि प्रशा कहीं जर्मन-परिसंघ में मुझ से बाजी न मार ले जावे। इसीलिए जर्मन-परिसंघ बनाकर आस्ट्रिया जर्मनी के अन्य राज्यों की सहानुभूति प्राप्त कर प्रशा से अधिक शक्तिशाली बन गया। इसके उपरान्त मेंटरनिख ने प्रतिक्रियावादी नीति अपनाकर प्रशा में कोई सुधार नहीं होने दिया। इस प्रकार दोनों की प्रतिद्वन्द्वता ने भी जर्मन के राष्ट्रीय विकास को अवरूद्ध किया।

(iv) राज्यों का प्रतिक्रियावादी शासन- वियना-कांग्रेस के समाप्त होते ही आस्ट्रिया के चान्सलर मेंटरनिख ने तो अपने को घोर प्रतिक्रियावादी सिद्ध कर ही दिया था। उसने कार्ल्सबाद के आदेशों के द्वारा जर्मनी में पूर्णरूप में प्रतिक्रियावादी व्यवस्था स्थापित कर दी। उसके अनुगामी जर्मन राज्यों ने भी यही मार्ग अपनाया। यहां तक कि प्रशा का शासन फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ भी मेंटरनिख से डरता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मन-राज्यों में राजाओं का निरंकुश शासन चलता रहा और उस शासन ने जनता में राष्ट्रीय भावना को विकसित नहीं होने दिया।

(v) फ्रैंकफर्ट की संसद-जर्मन परिसंघ की राजधानी फ्रैंकफर्ट थी और वहीं परिसंघ की संसद कार्य करती थी। लोगों को आशा थी कि यह संसद एक संविधान तैयार करेगी और वह संविधान लोकतान्त्रिक होगा। जर्मन जाति को इससे एक आशा थी कि यह एक महान एवं शक्तिशाली राष्ट्र को जन्म देगी। परन्तु जर्मन जाति की इस संसद से भी कोई आशा पूर्ण नहीं हुई। 1848 में यह संसद दो धारणाओं में विभक्त हो गई। संसद-सदस्यों का एक दल वह कहता था कि ''महान जर्मनी'' का गठन किया जावे, जबकि दूसरा दल यह कहता था कि ''लघु जर्मनी'' का निर्माण करने के स्थान पर उसे निर्बल बनाने का साधन बन गई। इससे भी जर्मन जाति की राष्ट्रीय भावना को बड़ी ठेस पहुँची।

(vi) त्रिवर्गीय निर्वाचन समस्वा- फ्रैंकफर्ट संसद के नेतृत्व में जो संविधान बना और उसके अन्तर्गत् जो निर्वाचन व्यवस्था स्थापित की गई वह विश्व में अनोखी थी। त्रिवर्गीय निर्वाचन प्रणाली ने जर्मन-समाज को पूंजी के आधार पर तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिया था और इस प्रणाली से क्षेत्रों के निर्वाचन-मंडल में दो तिहाई सदस्य धनी वर्ग के आते थे। इससे परिणम यह हुआ कि बहुसंख्यक निर्धन मनुष्य निर्वाचन मण्डलों में कम संख्या में आने लगे। 1850 में पारित संविधान से यह प्रणाली प्रशा में बहुत दिनों तक रही और इसके द्वारा समस्त सत्ता धनी मनुष्य के पास चली जाने के कारण निर्धनों को धनी पुरूषों से द्वेष रहने लगा। अतः उनमें एकता व राष्ट्रीयता की भावना उचित रूप में नहीं पनप सकी। स्वयं बिस्मार्क ने इस प्रणाली के विषय में कहा कि इससे बुरी निर्वाचन-व्यवस्था और नहीं हो सकती है।

अतः स्पष्ट है कि जर्मनी में 1862 तक राष्ट्रीय भावना विशेष रूप से प्रबल नहीं हुई। परन्तु फिर भी राष्ट्रीय-भावना अंकुरित अवश्य हो रही थी और 1862 के उपरान्त उसके विकास को कोई अवरूद्ध नहीं कर सका। उपरोक्त

कठिनाइयों के उपरान्त भी जर्मनी में राष्ट्रीयता का विकास हुआ और जर्मन अपने एकीकरण के उद्देश्य कि प्राप्ति में सफल हो गया।

राष्ट्रीय भावना के प्रसार के तत्व

(i) बौद्धिक विकास- जर्मन में राष्ट्रीय विचारों के प्रसार में वहां के दार्शनिकों, राजनीतिक विचारकों व विद्वानों की कृतियों ने महान् सहयोग दिया है। गेटे, शिलर, हीगल आदि दार्शनिकों ने जर्मनी की राष्ट्रीयता को नवीन गति प्रदान की। हीगल (Hegel) ने शक्ति पर आधारित राज्य पर जोर दिया। डालमेंन, रांके तथा बोमर ने जर्मन इतिहास को नवीन रूप में प्रस्तुत किया। इसके साथ ही हेनरिक हाइन तथा आर्नहट जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं से जन-साधारण में राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया। समस्त जर्मनी में बौद्धिक आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। यद्यपि राजाओं के प्रतिक्रियावादि विचारों के कारण चाहे वे अपने विचारों का खुला प्रसार नहीं कर सके तथपि उनकी रचनाओं से जर्मनी की राष्ट्रीयता पर्याप्त! प्रबल हुई।

(ii) नेपोलियन की विजय- नेपोलियन की साम्राज्यवादी क्षुधा से जर्मन-राज्य भी नहीं बचे थे। उसने उसको विजित किया तो 200 राज्यों को "राइन परिसंघ" में गठित कर वहां एकसा शासन संचालित किया। उसने पवित्र-रोम साम्राज्य की समाप्ति कर दी थी तथा प्रेसबर्ग (26 दिसम्बर 1805) की सन्धि के अन्तर्गत् आस्ट्रिया को जर्मन राज्यों पर से अपना प्रभुत्व समाप्त करने को बाध्य किया। यह नेपोलियन की विजय व उसके द्वारा निर्मित राइन परिसंघ का परिणाम था कि जर्मन जाति में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठी। उन्होंने नेपोलियन का भी कड़ा मुकाबला किया। उन्होने मुक्ति का युद्ध आरम्भ कर दिया।

(iii) शोलवरिन संघ की स्थापना- जर्मनी की एकता में वहां के राज्यों की आर्थिक एकता ने महान सहयोग किया है और देश में आर्थिक एकता स्थापित की शोलवरिन संस्था ने की। फ्रेड्रिक लिस्ट नामक अर्थशास्त्री ने इस संस्था को जर्मन राष्ट्रीयता का एक प्रमुख तत्व माना है। इस संस्था का प्रारम्भ तो 1816 से ही हो गया था जबकि मासीन (Massen) ने एडम स्मिथ के सिद्धान्तों पर आर्थिक सुधार किये थे। 1834 में इस संघ में जर्मनी के 18 राज्य सम्मिलित हो गये, इसकी स्थापना प्रशा के नेतृत्व में हुई थी। 1840 में जबकि फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ गद्दी पर बैठा तो यह संस्था और शक्तिशाली बन गई। 1850 में जर्मनी के करीब करीब सभी राज्य इसके सदस्य हो गये। प्रारम्भ में तो आस्ट्रिया ने इसके महत्व को समझा नहीं और जब उसने देखा कि यह तो जर्मन राज्यों की एकता की कड़ी बनती जा रही है तो वह चिन्तित हुआ। उसने भी इसमें प्रवेश लेना चाहा लेकिन प्रशा के विरोध के कारण उसे इसमें मुंह की खानी नड़ी क्योंकि 1840 में प्रशा के लोग समझ गये थे कि एकता आस्ट्रिया के बहिष्कार से ही संभव है।

शोलवरिन एक प्रकार का चुंगी-संघ था। इसके अन्तर्गत् इसके सदस्यों ने यह निर्णय लिया कि वे स्वतन्त्र व्यापार करेंगे। जब एक राज्य का माल दूसरे राज्य में जावेगा तो वे परस्पर में चुंगी नहीं लेंगे। इससे देश का व्यापार तो बढ़ा है पर साथ में ही इसके सदस्य राज्यों में राजनीतिक एकता भी स्थापित हुई। उन राज्यों के लोग निर्विघ्न एक दूसरे राज्य में व्यापार के उद्देश्य से जाने-आने लगे और उनहोंने आपस में सम्पर्क स्थापित किया। प्राचीन चुंगी नियमों व परम्पराओं की दीवारें धराशायी हो गई। इसलिए इसकी स्थापना जर्मन राष्ट्रीयता के प्रसार में एक महत्वपूर्ण कदम समझा जाता है। इसके विषय में केटल्बी ने इस प्रकार लिखा है, शालवरिन के निर्माण ने भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण का मार्ग तैयार कर दिया, "जर्मनी जर्मनवासियों के लिए है" यह भावना तो वास्तव में इसी संघ से उत्पन्न हुई।

(iii) 1830 वे 1848 की क्रान्तियाँ- जैसा कि कई बार लिखा जा चुका है कि फ्रान्स की क्रान्तियों का प्रभाव समस्त यूरोप पर पड़ा है। 1830 की क्रान्ति का भी जर्मन राज्यों पर प्रभाव पड़ा था परन्तु मेंटरनिख की प्रतिक्रियावादी नीति के कारण इन क्रान्तियों का प्रभाव आस्ट्रिया पर कम लक्षित हुआ था। परन्तु 1848 में तो उस स्वयं का पतन हो गया और उसे आस्ट्रिया छोड़ कर इंग्लैण्ड भागना पड़ा था। इस कारण 1848 की क्रान्ति का प्रभाव आस्ट्रिया पर भी पड़ा और जर्मन राज्यों पर व्यापक रूप से पड़ा। इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप जर्मन में जगह जगह वैध-राजसत्ता स्थापित हो गई । राजाओं ने प्रतिक्रियावादी नीति का परित्याग कर जनता की मांगों के अनुसार सुधार करना आरम्भ कर दिया। प्रशा के शासक फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ को भी जनता की मांगों के आगे झुकना पड़ा। अतः यह तथ्य है कि फ्रान्स की 1848 की क्रान्ति ने जर्मन-राष्ट्रीयता को अंति उग्र बना दिया।

(iv) औद्योगिक क्रान्ति- जर्मनी में औद्योगिक-क्रान्ति विलम्ब से प्रारम्भ हुई। 1850 के उपरान्त क्रान्ति का प्रभाव यहां स्पष्ट दृष्टिगत होने लगा। यहां भी 1850 व 1860 के मध्य में सेंकड़ों उद्योग-धन्धे स्थापित हो गये। इसके परिणामस्रूप जर्मनी में भी पूँजीवाद का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे उस वर्ग ने राजनीतिक में भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। वे अपने व्यापार की सुरक्षा एवं विकास के लिए एक संयुक्त एवं सुदृढ़ जर्मन-राज्य का निर्माण चाहने लगे। इस प्रकार पूंजीपति भी जर्मनी के एकीकरण के महान समर्थक बन गये।

(v) शिक्षण संस्थाओं का राष्ट्रीय प्रसार में योग- वियना-कांग्रेस के निर्णयों से जर्मनी के शिक्षित समाज को घोर निराशा हुई थी। शिक्षित लोगों ने विश्वविद्यालयों को राष्ट्रीय-भावना के प्रसार का केन्द्र बना लिया। शिक्षक व छात्र दोनों उसमें सम्मिलित थे। बौद्धिक विकास ने उनमें राष्ट्रीय भावना को पहले ही प्रबल बना दिया था। परन्तु वे लोग विश्वविद्यालयों में एकत्रित होते तथा वहा राष्ट्रीय गाने गाये जाते थे विश्वविद्यालय इसका प्रमुख केन्द्र था। 1817 में वहां वार्ट बुर्ग त्योहार मनाया गया। यह एक प्रकार से राष्ट्रीय पर्व था जिसका आयोजन येना विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा किया गया था। इस अवसर पर लिपजिग- युद्ध दिवस मनाया गया था। इस राष्ट्रीय त्योहार ने जर्मनी के नवयुवकों में नवीन चेतना का संचार कर दिया। यह इसी का परिणाम था कि 1816 में एक जर्मन विद्यार्थी ने प्रतिक्रियावादी लेखक को मौत के घाट अतार दिया और मेंटरनिख को कार्ल्सवाद के आदेश लागू करने के लिए संसद की बैठक बुलानी पड़ी।

(vii) जर्मन राष्ट्रीयता के प्रसार में दश-भक्तों का योग -जिस प्रकार इटली एकीकरण में जर्मन के देश-भक्तों का महान सहयोग दिया था उसी प्रकार जर्मनी के एकीकरण में जर्मनी के देश भक्तों का महान सहयोग रहा। उन्हों ने अपने-अपने राज्यों को संगठित बनाने का प्रयास किया। यह उन्हीं के प्रयासों का प्रतिफल था कि जर्मनी कू कई राज्यों में वैध-राजसत्ता स्थापित हो गई। बेडेन, सेक्सनी, हेम बवेरिया, बुरटेम्बर्ग आदि जर्मन राज्यों में देश-भक्तों के प्रयासों से उदार-शासन की स्थापना हो गई थी।

(viii) जर्मन नेशनल एसोसियेशन की स्थापना- 1859 में जब आस्ट्रिया सार्डिनिया से परास्त हो गया तो जर्मनवासियाकं में राष्ट्रीयता की भावना और प्रबल हो गई। उन्होंने उसी वर्ष (1859) प्रशा में इस संस्था कीस्थापना की शीघ्रही इसकी शाखाएं प्रशा के अन्य राज्यों में खुल गई। जर्मनी के महान् राजनीतिक विचारक तथा इतिहासकार इस संस्था के सदस्य बन गये। इसका परिणाम यह निकला कि विलियम प्रथम के शासन-काल के प्रारम्भ से ही जर्मनी में राष्ट्रवाद की भावना-प्रबल हो गई और जर्मन प्रशा के नेतृत्व में अपने देश के एकीकरण का प्रयास करने लगे।

फ्रेड्रीक विलियम चतुर्थ और जर्मनी का एकीकरण- फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ (1840) में 45 वर्ष की आयु में प्रशा का शासक बना। वह धार्मिक प्रवृत्ति का शासक था। हृदय से वह दयालु व जनता को प्रेम करने वाला था। राजनीति के क्षेत्र में वह न्यायता के सिद्धान्त को मानने वाला था। राष्ट्रीय आन्दोलनों के वह विरूद्ध था। उसके सिंहासन पर बैठने के एक महिने बाद ही उदारवादियों ने प्रशा में राष्ट्रीय संसद की स्थापना की मांग की। सम्राट ने इसका विरोध किया क्योंकि उसका कहना था कि इस प्रकार के परिवर्तन तो उस स्वयं की तरफ से होने चाहिएं। उसके साथी भी कैथोलिक धर्म के अनुयायी तथा अनुदारवादी थे। अतः वह जर्मनी में पुरानी व्यवस्था ही बनाये रखना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि जर्मनी इसी प्रकार राजाओं द्वारा शासित होता रहे। वह इस बात में विश्वास नहीं करता था कि संविधान के पीछे राजनीतिक न्याय व आचरण रहता है।

उसकी इस नीति का ही यह परिणाम था कि प्रशा में ही राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। जनता ने संवैधानिक सुधारों की मांग की। 1848 की फ्रांस की क्रांति का प्रभाव प्रशा में प्रबल रूप से पड़ा! उन्होंने अपने राजा फ्रेडिक विलियम चतुर्थ को जर्मन राज्यों के ध्वजों के रंगों के साथ गलियों में परेड करने को बाध्य कर दिया। उसने प्रेस आदि की स्वतन्त्रता भी लौटा दी इसी वर्ष फ्रेंकफर्ट की संसद बुलाई गई। 28 मार्च, 1849 को वह जर्मन राज्यों का प्रमुख चुन लिया गया। उसे फ्रेंकफर्ट संसद में संयुक्त जर्मनी का ताज भेंट किया गया। परन्तु उसने यह कह कर धारण करने से इंकार कर दिया कि यह तो राजाओं की तरफ से आना चाहिये था। आन्दोलनकारी संस्था की ओर से नहीं। ताज स्वीकार न करने का एक कारण उसका आस्ट्रिया के राजा से डरना भी था। इस प्रस्ताव के अस्वीकार होने से फ्रेंकफर्ट संसद अपने उद्देश्य में असफल हो गई और इसकी विफलता के साथ ही जर्मनी में एकीकरण की दिशा में घोर निराशा छा गई। उग्र विचारों के लोगों ने अब तलवार का सहारा लेना श्रेयस्कर समझा। दक्षिण पूर्वी जर्मनी में विद्रोह हुआ। बेडन की सेना भी आन्दोलनकारियों से मिल गई। यह विद्रोह राइन नदी तक फैल गया। परन्तु प्रशा की प्रशिक्षित सेना के सामने आन्दोलनकारी नहीं टिक सके। मई

1849 को आन्दोलनकारी प्रशा के सैनिकों द्वारा भून दिए गये। इसका परिणाम प्रशा व आन्दोलनकारियों दोनों के लिए ही अहितकर रहा। जर्मनी के राष्ट्रवादियों को जर्मनी छोड़कर अमेरिका जाना पड़ा। प्रशा व आस्ट्रिया के राजाओं के मतभेद और बढ़ गये। 1851 में जर्मन राज्यों में आस्ट्रिया की स्थिति और भी सुदृढ़ हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि फेड्रिक विलियम के अपनी अस्थिर बुद्धि के कारण जर्मन एकता की कब्र खो दी। 1858 में वह पागल हो गया। उसका भाई विलियम उसका संरक्षक बना। 1861 में फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ की मृत्यु हो गई।

विलियम प्रथम व जर्मनी का एकीकरण-

फ्रेड्रिक विलियम चतुर्थ की मृत्यु हो जाने पर 1861 में प्रशा का शासक उसका भ्राता विलियम बना। उसका जन्म 1797 में हुआ था। वह प्रसिद्ध रानी लुईसी से उत्पन्न हुआ था। गद्दी पर बैठने के समय विलियम की आयु 64 वर्ष की थी। राजा बनने से पूर्व उसने अपना जीवन सेना में व्यतीत किया था। इस कारण उसकी बिचार-शक्ति मन्द थी पर वह ठोस एवं सही थी। 1814 में वह नेपोलियन के विरूद्ध युद्ध भी कर चुका था। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था। 1819 में ही उसने कह था, "जो जर्मनी का शासक बनना चाहता है वह उसे जीत कर ही बन सकता है और यह काम केवल बातों से पूरा नहीं हो सकता है। वान सिबेल ने अपनी पुस्तक "The Founding of the German Empirc" में लिखा है कि विलियम में ऐसी अनोखी प्रतिभा थी जिससे वह समझ लेता था कि क्या प्राप्य है और क्या अप्राप्य। उसमें योग्य व्यक्तियों के परखने की भी शक्ति थी।

विलियम के सैनिक सुधार- विलियम प्रथम का विश्वास था कि प्रशा का भाग्य सेना पर आधारित है और जर्मनी का एकीकरण प्रशा द्वारा ही संभव है। अतः वह अपनी सेना को युरोप में शक्तिशाली बनाना चाहता था। इसलिए उसने संसद के समक्ष अपनी सेना की संख्या दुगनी करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। अधिक खर्च बढ़ने के भय से संसद ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस पर विलियम प्रथम व संसद के बीच वाद-विवाद उत्पन्न हो गया। हालांकि राज्याभिषेक के अवसर पर व्यक्त किये उसके विचारों से स्पष्ट होता था कि वह दैवी-सिद्धांत में विश्वास रखता है। वह प्रजा व संसद को कुछ नहीं समझता था। परन्तु राजा बनने पर वह उदारवादियों के प्रभाव में आ गया था और प्रशा के हित के लिए वह उदारवादियों के साथ सहयोग करने को उद्यत था। उसके साथियों ने उसे संसद भंग करने की सलाह दी। पर वह ऐसा करने को तैयार नहीं हुआ। इसके विपरीत वह स्वयं गद्दी छाड़ने को उद्यत हो गया। इस कठिन समय में उसके युद्ध मंत्री वार रून (Van Roon) ने उसे बिस्मार्क को अपना चांसलर नियुक्त करने की सलाह दी।

बिस्मार्क को चांसलर पद पर नियुक्त करना- 1862 जब विलियम ने संसद का पुनर्निवाचन करवाया तो उसमें भी उदार दल को ही बहुमत प्राप्त हुआ। इससे उसे बड़ी निराशा हुई। परन्तु रून की मंत्रणा पर उसने बिस्मार्क को अपना प्रधान-मंत्री (चांसलर) नियुक्त किया बिस्मार्क उस समय फ्रांस में प्रशा का राजदूत था। उसे तार दककर प्रधान-मंत्री का पद संभालने के लिए बुलाया गया। यही वह व्यक्ति था जिसने कि संसद के विरोध की चिन्ता न करते हुए अपने स्वामी विलियम की सैनिक सुधार योजना को क्रियान्वित किया गया तथा प्रशा के नुतृत्व में जर्मनी का एकीकरण किया।

बिस्मार्क व जर्मनी का एकीकरण

बिस्मार्क का प्रारम्भिक जीवन- उन्नीसवीं सदी के इस महान् राजनीतिज्ञ का जन्म 1815 में ब्रेन्डेन्बर्ग में उस वर्ष हुआ था जब कि वियना कांग्रेस आस्ट्रिया की राजधानी वियना में यूरोप के देशों का भाग्य निर्णय कर रही थी। उसका जन्म कुलीन जागीरदार के परिवार में हुआ था। जंकर केवल वह पिता की ओर से ही था क्योंकि उसकी माता एक मध्यम श्रेणी की स्त्री थी। उसने अपने जंकर सम्बन्धों को अपने वैवाहिक सम्बंधों से और दृढ़ कर लिया क्योंकि उसकी पत्नी मेंरियां वान पुत्तकामर भी पोमरिया के किसी जागीरदार की पुत्री थी। जागीरदार वंश में जन्म लेने में बिस्मार्क गौरव समझता था। इसका प्रभाव यह पड़ा कि वह अन्तिम समय तक अनुदार व संवैधानिक शासन-सुधारों के विरूद्ध बना रहा।

उसकी शिक्षा पाटिज्जन तथा बर्लिन के विश्व-विद्यालयों में हुई थी। परन्तु उसने अध्ययन में अभिरूचि नहीं दिखाई। वह बन्दूक चलाने, शिकार खेलने , तैरने व मदिरा-पान आदि में अधिक दिलचस्पी लेता था। विद्यार्थी अवस्था में वह एक उद्दण्ड युवक रहा। उसे अनुशासन में रहना तनिक भी अच्छा नहीं लगता था। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त उसने राजकीय सेवा

कर ली। परन्तु उसे कलम चलाना अच्छा नहीं लगा। उसका कहना था कि कलम हाथ में लिए मनुष्य का जीवन पशु तुल्य है। इसलिए उसने राजकीय सेवा से शीघ्र ही मुक्ति ले ली। इसके उपरांत उसने अपनी पैतृक जागीर की देख-भाल करना आरम्भ किया। 1847 में वह प्रशा की संसद के उच्च सदन का सदस्य चुन लिया गया।

1847 से 1851 के काल में वह अपने राजनीतिक विचारों में प्रतिक्रियावादी बना रहा। वह उदारवादी विचारधारा का कट्टर विरोधी था। उसने इसी समय कहा था, ''में इस युग की उस भावुकता से डरता हूँ, जिसमें प्रत्येक दीवाने विद्रोही को सच्चा देश-भक्त समझा जाता है।'' वह प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के विरूद्ध था। वह संविधान को घृणा की दृष्टि से देखता था तथा उसे केवल रद्दी कागज का टुकड़ा समझता था। राजा की शक्ति को कम करना वह राज्य की शक्ति को क्षीण करना समझता था। 1848-49 में जो उदारवादियों का आंदोलन हुआ उसमें उसने उदारवादियों का कड़ा विराध किया और फ्रेडिक विलियम की सहायता के लिए उसने किसानों की एक सेना संगठित की। जब प्रशा के शासन ने जनता को संविधान प्रदान करने का बचन दिया और इसके लिए जब संसद सदस्य उसे धन्यवाद दे रहे थे तो बिस्मार्क ने धन्यवाद देने से इन्कार कर दिया। 1850 में जब नवीन संविधान स्वीकार किया जा रहा था तो उसने उस पर व्यंग्य किया और अनुदारवाद व राजशक्ति की सुरक्षा के लिए उसने उदारवादियों के विरूद्ध एक सबल दल का निर्माण किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि वह फ्रेंकफर्ट की नई संघीय महासभा में प्रशा का प्रतिनिधि मनोनीत कर भेजा गया। यह उसके जीवन में एक नवीन मोड़ लाने वाली घटना समझी जाती है।

इस महासभा में वह आठ वर्ष तक प्रशा का प्रतिनिधि रहा। इस काल में उसने राजनीति की अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली। इस महासभा का सदस्य रहते हुए उसने जर्मनी की राष्ट्रीय एकता की समस्या का भी अच्छा अध्ययन कर लिया। उसने यह भी देख लिया कि आस्ट्रिया की नीति की प्रमुख बात प्रशा के साथ ईर्ष्या रखना तथा उसे यूरोप की राजनीति में पिछड़ा रखना है।इसीलिए 1853 में उसने स्पष्ट कर दिया था कि जर्मनी में आस्ट्रिया तथा प्रशा दोनों के लिए स्थान नहीं है,उनमें से कोई एक ही रह सकता है। तभी से उसने आस्ट्रिया के प्रभाव को जर्मनी में समाप्त करने की ठान ली थी। 1859 में उसे रूस में प्रशा का राजदूत बना कर भजा गया तथा वहां वह तीन वर्ष तक इस पद पर कार्य करता रहा। इस अर्से से उसने रूस के जार अजेक्जेण्डर द्वितीय तक (Alexander11) से व्यक्तिगत अच्छे सम्बंध स्थापित कर लिए। उसे रूस के जार का निरंकुश शासन पसन्द आया। इस कारण रूस का जार भी उससे मेंत्री भाव रखने लगा। 1862 में वह कुछ काल के लिए पेरिस में प्रशा का राजदूत बनाकर भेजा गया। वहां उसने नेपोलियन से सम्पर्क बढ़ाकर उसकी चारित्रिक निर्बलताओं का पता लगा लिया था। ये दोनों ही अनुभव उसे आगे चल कर उसके राजनीतिक जीवन में बड़े सहायक सिद्ध हुए। सितम्बर, 1862 में ही वह प्रशा का चान्सलर नियुक्त हो गया । पद सम्भालते ही उसने स्वामी को आश्वासन देते हुए कहा था-''श्रीमान के साथ नष्ट हो जाऊंगा पर संसद के साथ संघर्ष में आपका साथ नहीं छोडूगा।''

बिस्मार्क के राजनीतिक विचार-बिस्मार्क अनुदारवादी था। उसकी राजा में पूर्ण श्रद्धा थी जैसा कि उसके उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है। उसकी मान्यता थी कि प्रशा को महान् बनाने वाला राजा है न कि प्रजा। वह प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं करता था। उसका कहना है कि इंगलैंड के संविधान को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करना हमारी महान् मूर्खता है। प्रशा के शासक को जर्मनी के राज्यों में सर्वोच्च बनाना उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। और इसके लिए वह साधन सेना को बनाना चाहता था। वह उदारवादियों का कटटर विरोधी था। 1863 में जब उदारवादियों ने उदार एवं लोकतन्त्र राज्य की स्थापना पर जोर दिया तो उसके प्रत्युत्तर में उसने कहा-'' जर्मनी की आंखें प्रशा की उदारवादिता पर नहीं उसकी शक्ति पर लगी हुई है। वह संसद को प्रशासन में विलम्ब करने वाली संस्था समझता था।'' अतः उसके चान्सलर बनते ही उसका संसद से संघर्ष छिड़ गया और जब संसद ने सेना की वृद्धि के लिए बजट स्वीकार नहीं किया तो उसने कहा- ''यदि बजट स्वीकार न हो तो विधि क्या है? इस सम्बंध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। उनके औचित्य के विषय में में कुछ नहीं जानता। मेंरे लिए तो राज्य की आवश्यकता ही पर्याप्त है, आवश्यकता ही विधि है।'' अतः स्पष्ट है कि राज्य की आवशकता के सामने उसने संविधान की परवाह नहीं की और उसने संसद पद भी अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित कर लिया। उसका सबसे महान एवं महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि जर्मनी का एकीकरण रक्त और लोह (**Blood and Iron**) पर किया जावे। बड़ी-बड़ी समस्याएं भाषणों तथा बहुमत पारित प्रस्तावों से नहीं सुलझती हैं बल्कि रक्तपात तथा शस्त्रों के प्रयोग से सुलझती है।

जर्मनी के एकीकरण की बिस्मार्क द्वारा तैयारी- यह बिस्मार्क पहले ही जानता था कि जर्मनी से आस्ट्रिया के निष्कासन के लिए प्रशा की सेना का विशाल तथा शक्तिशाली होना आवश्यक है। अतः चान्सलर का पद सम्भालते ही उसने

अपने स्वामी विलियम प्रथम (William II) की नीति को ही चालू रखा। उसने अपनी सेना की संख्या दुगनी कर ली। सैनिक तैयारी पूर्ण करने के उपरान्त उसने आस्ट्रिया को यूरोप की राजनीति में निर्बल बनाने के लिए निम्न प्रयास किए:

(i) पोलैंड के विरूद्ध रूस को सहायता-क्रीमिया के युद्ध में रूस व आस्ट्रिया में कुछ मन-मुटाव हो गया था और इस युद्ध के परिणामस्वरूप रूस निर्बल भी हो गया था। आस्ट्रिया के विरूद्ध रूस से मित्रता करने की दृष्टि से बिस्मार्क ने 1863 में रूस को पोलैंड के विरूद्ध सैनिक सहायता दी। क्रान्ति के समय उसने अपनी सेना पोलैंड की सीमा पर तैनात कर दी। इससे क्रान्तिकारी पोलैंड के बाहर नहीं भाग सके। क्रान्तिकारियों को निर्दयता से दबा दिया और इस प्रकार उसने रूस के अच्छी मित्रता स्थापित कर ली। आस्ट्रिया ने पोल लोगों के साथ सहानुभूति बताई थी। अतः रूस आस्ट्रिया से और भी नाराज हो गया।

(ii) फ्रांस के साथ सन्धि करना- फ्रांस का तत्कालीन नेपोलियन तृतीय भी आस्ट्रिया के विरूद्ध था। वह 1859 ई. में आस्ट्रिया के विरूद्ध सार्डिनिया के शासन की सहायता कर चुका था। बिस्मार्क ने अक्टूबर के आरम्भ में फ्रांस की यात्रा की और बियारिज (Biarritz) में वह नेपोलियन से मिला फ्रासं के साथ उसने व्यापारिक सन्धि कर ली और उसने फ्रांस को आस्ट्रिया की सहायता न करने को राजी कर लिया। इटली व आस्ट्रिया में शुत्रुता पहले से ही चली आ रही थी। अतः उसने सार्डिनिया के शासक विक्टर इमेंनुअल से भी मित्रता कर लीं। इस प्रकार यूरोप की राजनीति में प्रशा की स्थिति सुदृढ़ एवं आस्ट्रिया की निर्बल बनाकर वह अपने उद्देश्य-प्राप्ति की ओर अग्रसर हुआ।

बिस्मार्क द्वारा जर्मनी का एकीकरण

(i) लास्वेग व होल्स्टाइन की समस्या-1460 में इन दोनों डचियां पर डेनमार्क के राजा का आधिकार हो गया था। ये दोनों डचियों डेनमार्क के राजा के अधीन अवश्य थीं, परन्तु उनका शासन अलग था। 1848 की क्रान्ति की चपेट में ये भी आ गई थीं। यहां भी राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ था, पर महान शक्तियों के बीच-बचाव करने से आन्दोलन शान्त हो गया था। निर्णय अधिकांश डेनमार्क के राजा के ही पक्ष में रहा। परन्तु 1863 ई. में डेनमार्क का राजा फ्रेड्रिक सप्तम इस लोक से चल बसा और उसके स्थान पर क्रिश्चियन नवम् गद्द पर बैठा। वह अपने नवीन संविधान द्वारा इन दोनों डचियों को भी पूर्णतः डेनमार्क में मिलाना चाहता था। होल्स्टाइन की जनता पूर्णतः जर्मनी थी और श्सेस्विग में आधी जनता जर्मन थी। क्रिश्चियन नवम् का ऐसा करना। 1852 की लन्दन की सन्धि के भी विरूद्ध था। अतः क्रिश्चियन नवम् की नीति के विरूद्ध ये दोनों डचियों आगस्टनबर्ग के डयूक के नेतृत्व में विद्रोह करने को तत्पर हो गई। जर्मनी की ओर से भी उनको समर्थन मिला।

बिस्मार्क की आखें इन दोनों डचियों पर लगी हुई थीं। प्रशा के नाविक विकास-योजना का इन दोनों प्रदेशों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। अतः बिस्मार्क किसी प्रकार इनको प्रशा में मिलाना चाहता था और वह भी एकाकी नहीं वरन आस्ट्रिया की सहायता से, क्योंकि वह जानता था कि यदि वह अकेला डेनमार्क के विरूद्ध चढ़ाई करेगा तो आस्ट्रिया उसके मार्ग में अवश्य आवेगा। अतः उसने आस्ट्रिया के विदेश मंत्री काउन्ट रकबर्ग से एक गुप्त समझौता किया और फरवरी 1864 ई. में दोनों देशों के साठ हजार सैनिक डेनमार्क पर चढ़ बैठे। हेज का कहना है कि डेन लोग बहादुरी से लड़े, परन्तु इस विशाल सेना के सामने वे नहीं टिक सके। अक्टूबर, 1864 ई. को डेनमार्क का राजा परास्त हो गया और उसे वियना की सन्धि करनी पड़ी। इतिहासकार हेजन (Hazen) का कहना है कि प्रशा व आस्ट्रिय उस समय दानों ही ऐसी स्थिति में कि डेनमार्क के राजा से जो चाहते वे ले सकते थे। परन्तु इन दोनों में विजय के माल के बंटवारे पर झगड़ा हो गया और उन्होंने डेनमार्क से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अन्तर्गत् डेनमार्क के राजा ने शलेस्विग और होल्स्टाइन की दोनों डचियों प्रशा व आस्ट्रिया को सौंप दीं। इनके अलावा उसने लावेनबर्ग का प्रदेश उनको और दिया। हालांकि युद्ध से पूर्व इंगलैंड के प्रधानमंत्री पामरस्टन ने डेनमार्क को सहायता देने का आश्वासन दिया था और युद्ध के समय लन्दन में एक सम्मेलन का भी आयोजन किया था। तो भी ये दोनों डचियों डेनमार्क के राजा के अधीन नहीं रह सकी।

गेस्टाइन का समझौता-जैसा कि इतिहासकार हेजन ने बताया कि आस्ट्रिया व प्रशा के बीच विजित प्रदेशों को लेकर मन-मुटाव हो गया था। आस्टिया का कहना था कि दोनों डचियां ड्यूक ऑफ आगस्टनबर्ग को दे दी जावें। प्रशा ने इसका विरोध किया। अन्त में इस विवाद को समाप्त करने के लिए दोनों देशों में 14 अगस्त, 1865 को गेस्टाइन का समझौता हो गया जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित निर्णय लिए गये-

(i) लावेनबर्ग ने खरीद लिया।

(ii) श्लेस्विग प्रशा को मिल गया।

(iii) होल्स्टाइन पर आस्ट्रिया का अधिकार हो गया।

(iv) कील (kiel) के बन्दरगाह पर प्रशा व आस्ट्रिया का संयुक्त अधिकार रहा।

समझौते का महत्व- यह समझौता बिस्मार्क की कूटनीति का प्रतिफल था। उसने दो तो प्रदेश (श्लेस्विग व लावेनबर्ग) अधिकृत कर लिए। इसके पणिमस्वरूप प्रशा का कील बन्दरगाह पर अधिकार हो गया और उससे वह अपनी जल-शक्ति बढ़ाने में समर्थ हुआ। इसके अलावा उसे आस्ट्रिया से युद्ध करने का बहाना सुगमता से मिल गया क्योंकि इस समझौते के उपरान्त दोनों देशों में शीत-युद्ध छिड़ गया।

आस्ट्रो-प्रशियत युद्ध (1866) तथा जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण-बिस्मार्क ने इस तथ्य को पहले ही भली-भांति जान लिया थाकि बिना आस्ट्रिया के प्रभाव को समाप्त किये जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं है। अतः चान्सलर बनते ही जो उसने सैनिक तैयरियां की थीं वे सब आस्ट्रिया की शक्ति को विनिष्ट करने के लिए ही थीं। इसके अलावा जो डेनमार्क के राजा के साथ युद्ध किया गया था वह अप्रत्यक्ष रूप से आस्ट्रिया से सम्बंध खराब करने के लिए ही किया गया था। गेस्टाइन का समझौता सम्पन्न हो जाने पर बिस्मार्क स्वयं ने कहा था-''मुझे विश्वास नहीं था कि ऐसा कोई आस्ट्रियन राजनयिक होगा जो इस प्रकार के समझौते पर हस्ताक्षर कर सके।'' गेस्टाइन के समझौते से दोनों में शीत युद्ध आरम्भ हो गया था। अतः दोनों देश युद्ध की तैयारियां करने लग गये थे और वे युद्ध के बहाने की तलाश में थे। 16 जून, 1866 ई. को आस्ट्रिया ने प्रशा के विरूद्ध युद्ध की घेष्णा की। युद्ध के कारण निम्नलिखित थे-

(i) गेस्टाइन का समझौता- का समझौता आस्ट्रिया के लिए हानिकारक रहा। प्रशा ने आस्ट्रिया को होल्स्टाइन दिया था पर इसकी आबादी पूर्णतः जर्मन थी। बिस्मार्क ने समझौते के कुछ ही दिनों बाद ही वहां के जर्मन लोगों को आस्ट्रिया के विरूद्ध भड़काना आरम्भ कर दिया। वहां के लोगों ने प्रशा में मिलने की इच्छा वयक्त की। इस पर आस्ट्रिया ने पुनः यह बात उठाई कि दोनों डचियां डयूक आफ आगस्टन बर्ग को दे दी जावें। बिस्मार्क ने इस मांग को ठुकरा दिया। इस पर आस्ट्रिया ने इस विषय का प्रस्ताव जर्मन-संघ में पारित करवा लिया। ऐसा होने पर प्रशा ने जर्मन-संघ को परित्याग कर दिया। इसके अलावा बिस्मार्क ने होल्सटाइन पर आक्रमण कर उस पर अधिकार भी कर लिया। इस पर आस्ट्रिया ने प्रशा के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

(ii) जर्मन राज्यों में आस्ट्रिया की प्रधानता- जर्मन-परिसंघ में कुल 39 राज्य थेः पर उनमें प्रधानता केवल आस्ट्रिया को ही प्राप्त थी। आस्ट्रिया संघ का अध्यक्ष था तो प्रशा उनका उपाध्यक्ष। दोनों में नेतृत्व के लिए प्रतिद्वन्द्विता मची हुई थी। जर्मन राज्यों के नेतृत्व के लिए उनमें से एक ही रह सकता था। वियना कांग्रेस में मेंटरनिख की कूटनीति से प्रशा से अधिक महत्वपूर्ण आस्ट्रिया बन गया था। बिस्मार्क अब आस्ट्रिया को जर्मन राज्यों से निकाल कर प्रशा को जर्मन राज्यों में प्रधान बनाना चाहता था। अतः दानों ओर युद्ध की तैयारियां होना स्वाभाविक था।

युद्ध से पूर्व राजनयिक तैयारी- बिस्मार्क अब भी आस्ट्रिया को एक निर्बल देश नहीं मानता था। अतः अपनी सैनिक तैयारी करने के उपरान्त उसने राजनीतिक तैयारी की। इस राजनीतिक तैयारी के पीछे बिस्मार्क का एक ही उद्देश्य था और वह यह था कि आस्ट्रिया को युद्ध के समय यूरोप में अकेला रखा जाय ताकि उसकी सहायता के लिए कोई देश न आ सके।

(i) प्रशा की सेना को पूर्णतः युद्ध के मंत्री वान रून तथा सेनापति माल्टके के नेतृत्व में छोड़ दिया गया और यह उन्हीं के परिश्रम का परिणाम था कि आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध में प्रशा की सेना ने अपूर्व वीरता तथा अनुशासन का प्रदर्शन किया।

(ii) बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से युद्ध आरम्भ करने से पूर्व रूस से तटस्थता का आश्वासन प्राप्त कर लिया। बिस्मार्क ने रूस के जार को विश्वास दिलाया कि वह रूस की सत्ता का विरोध करने वाले पौलैंडवासियों को अपने यहां शरण नहीं देगा।

(iii) इटली को अभी तक आस्ट्रिया से विनेशिया नहीं मिला था। अतः बिस्मार्क ने विक्टर इमेंनुअल से 6 अप्रेल, 1866 को एक समझौता किया। उस समझौते में उन्होंने तय किया किया कि आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध में इटली प्रशा का साथ देगा और प्रशा आस्ट्रिया से तब तक सन्धि नहीं करेगा जब तक कि आस्ट्रिया इटली को विनेशिया नहीं दे देगा।

(iv) इसके बाद बिस्मार्क ने फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय की ओर ध्यान दिया। वह उसकी निर्बलताओं से तथा फ्रांस की तत्कालीन राजनीतिक अवस्था से भली-भांति परिचित था। अतः उसने राइन प्रदेश का प्रलोभन देकर नेपोलियन तृतीय से भी आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध में तटस्थ रहने का वचन ले लिया। साथ में ही उसने यह भी आश्वासन ले लिया कि वह प्रशा द्वारा श्लेसविग तथा होल्स्टाइन डचियों को मिलाये जाने का विरोध नहीं करेगा।

(v) बिस्मार्क को यह शंका थी कि संम्भवतः इंगलैंड आस्ट्रिया का पक्ष ले ले क्योंकि दोनों डचियों के मामले में उसने डेनमार्क का समर्थन किया था। परन्तु साथ में उसे यह भी आशा थी कि वह इस युद्ध को इतना जल्दी समाप्त कर लेगा कि इंगलैंड को बीच में बोलने का अवसर ही नहीं देगा। इसके अलावा वह यह भी जानता था कि इंगलैंड अभी अपने आन्तरिक मामलों में फंसा हुआ है। अतः वह आस्ट्रिया की सहायता करने की स्थिति में ही नहीं है।

सात सप्ताह (सेडावा) का युद्ध- इस प्रकार सामरिक तथा राजनयिक तैयारी करके बिस्मार्क ने 16 जून, 1866 ई. को आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 20 जून को इटली द्वारा युद्ध की घोषणा कर दी गई। यूरोप वालों को यह आशा थी कि यह युद्ध लम्बा चलेगा। परन्तु प्रशा की सेना ने सेडावा (Sadowa) के स्थान पर आस्ट्रिया की सेना को 3 जुलाई को ही परास्त कर अपने भाग्य का निर्णय कर लिया। इतिहासकार हेजन की मान्यता है कि यह इतिहास का सबसे संक्षिप्त वरन निर्णायक युद्ध था। इस युद्ध का संचालन मोल्टके ने किया था। युद्ध प्रातः काल आरम्भ हुआ। दो बजे तक प्रशा की सेना आस्ट्रिया के तोपखाने के सामने आगे नहीं बढ़ सकी। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि विजय लक्ष्मी आस्ट्रिया को मिलने वाली है। पर इसी समय प्रशा का राजकुमार नई कुमुक लेकर वहां आ पहुँचा और उसके आगमन से युद्ध का पासा ही पलट गया। सायं साढ़े तीन बजे आस्ट्रिया की सेना में भगदड़ मच गई और उसके 40 हजार सैनिक इस युद्ध में काम आये। इस युद्ध की समाप्ति प्राग (Prague) 23, अगस्त 1866 की सन्धि से हुई। उस सन्धि की शर्तें निम्न लिखित थीं-

(i) 1815 ई. में वियना- कांग्रेस के नेतृत्व में निर्मित जर्मन-परिसंघ भंग कर दिया गया तथा आस्ट्रिया जर्मनी से विलग हो गया।

(ii) श्लेसविग तथा होल्स्टाइन पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया।

(iii) विनेशिया इटली को मिल गया।

(iv) दक्षिणी जर्मनी की चार रियासतों (बवेरिया, बेडन, हेसे तथा वर्टनबर्ग) को अपना संघ बनाने का अधिकार दे दिया गया।

(v) आस्ट्रिया ने प्रशा को चार करोड़ रूपया युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में दिया।

(vi) आस्ट्रिया ने यह भी स्वीकार कर लिया कि मेंन नदी के उत्तर का एक संघ प्रशा अपने नेतृत्व में बना सकता है।

इस सन्धि के अन्तर्गत् प्रशा आस्ट्रिया से चाहे जो मांग सकता था पर वह उसे अपना घातक शुत्र नहीं बनाना चाहता था।

युद्ध के परिणाम- आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध यूरोप की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस युद्ध के प्रभाव यूरोप के सभी शक्तिशाली देशों पर पड़े। परन्तु इससे प्रशा सर्वाधिक लाभान्वित हुआ। उसका राज्य-विस्तार हुआ। इस सन्धि के उपरान्त उसका राज्य राइन नदी से बाल्टिक सागर तक पहुँच गया। नवीन प्रदेशों के सम्मिलित होने से प्रशा का क्षेत्रफल 25,000 वर्ग मील तथा जनसंख्या 50 लाख बढ़ गई। कील का महत्वपुर्ण बन्दरगाह मिल जाने से प्रशा की जल-सेना तथा उसके व्यापार का भी विकास हुआ। दूसरे आस्ट्रिया के जर्मन राज्यों से निकल जाने पर प्रशा वहां सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य रह गया। वह अपना अलग जर्मन-राज्य बनाने में समर्थ हो सका। तीसरे इस युद्ध से जर्मनी के एकीकरण की प्राथमिक नीवं पड़ी। इस युद्ध की विजय के उपरान्त वह उत्तरी जर्मनी के राज्यों का संघ बना सका तथा स्वयं उनका अध्यक्ष बन बया। इस युद्ध से बिस्मार्क अपने बाहरी शत्रुओं को ही परास्त करने में सफल नहीं हुआ वरन् भीतरी शत्रु भी उससे परास्त हो गए। उदारवादियों का प्रभाव देश में अपने आप कम हो गया। जो लोग स्वशासन की मांग कर रहे थे उन्होंने अब अपनी मांग को तिलांजलि देकर जर्मनी के एकीकरण का समर्थन करना आरम्भ कर दिया। उन लोगों ने एक नवीन दल की स्थापना की। वह दल राष्ट्रीय उदारवादी दल कहलाया। उसकी नीति अगले बारह वर्ष तक राष्ट्रीय रही तथा वह बिस्मार्क का समर्थन करता रहा। पांचवें प्रशा अब मध्म-यूरोप का एक शक्तिशाली देश बन गया।

इस युद्ध का इटली पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा। सार्डिनिया का राजा जो अब तक आस्ट्रिया से विनेशिया प्राप्त नहीं कर सका था- अब विनेशिया लेने में सफल हो गया। इसकी प्राप्ति से विकटर इमैंनुअल इटली के एकीकरण के दूसरे चरण को सुगमता से सम्पूर्ण कर सका।

इस युद्ध का सर्वाधिक अहितकर प्रभाव आस्ट्रिया पर पड़ा। प्रथम उसका जर्मन परिसंघ से बहिष्कार हो गया इसके परिणामस्वरूप जर्मन-राज्यों में उसका प्रभुत्व समाप्त हो गया। दूसरे आस्ट्रिया को प्रतिक्रियावादी नीति छोड़कर उदार वादीनीति अपनानी पड़ी। अब आस्ट्रिया के सम्राट फ्रान्सिस जांसफ को आस्ट्रिया में बसने वाली विभिन्न जातियों के शासन-सुधार की मांगों की ओर ध्यान देना पड़ा। तीसरे आस्ट्रिया का साम्राज्य कम हो गया। 1867 में उसे हंगरी से भी एक सन्धि करनी पड़ी, उस सन्धि के अर्न्तगत् उसे हंगरी को भी स्वतन्त्रता देनी पड़ी। चौथी आस्ट्रिया अब यूरोप में एक शक्तिशाली देश नहीं रहा। पांचवां प्रभाव यह पड़ा कि आस्ट्रिया का प्रभाव जर्मन राज्यों के साथ-साथ इटली में भी समाप्त हो गया।

इस युद्ध से फ्रांस को भी प्रभावित होना पड़ा। फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय को अपनी भूल का ज्ञान बाद में हुआ। इस विजय से फ्रांस की सीमा से सटा हुआ जर्मनी एक शक्तिशाली देश हो गया जो फ्रांस को सदैव के लिए एक सिर दर्द बन गया। इस विजय ने नेपोलियन की आशाओं पर पानी फेर दिया। उसने जर्मनी से समझौता बहुत कुछ सोचकर किया था। उसे आशा थी कि युद्ध लम्बा चलेगा। तथा उसे मध्यस्थता करने का अवसर मिलेगा। इसके अलावा बिस्मार्क न उसे राइन प्रदेश का भी वचन दिया था। परन्तु नेपोलियन को न तो मध्यस्थता करने का ही अवसर मिला और ने उसे राइन प्रदेश ही मिला। इसके विरीत उसकी विदेश नीति की असफलता उसके देशवासियों को स्पष्ट हो गई। इसके फलस्वरूप देश में उसका विरोध बढ़ने लगा। इस बढ़ते हुए विरोध को शान्त करने के लिए उसे 1870 में जर्मनी से युद्ध करना पड़ा और उस युद्ध से उसने अपना ही विनाश आमन्त्रित किया।

विख्यात जर्मन इतिहासकार ग्रीगोरोवियस ने अपने रोमक जनरल में इस युद्ध के महत्व पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि सेडावा का युद्ध इतिहास में सर्वाधिक भयंकर था तथा वह एक बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

उत्तरी जर्मन राज्य-संघ का निर्माण- सन्धि के उपरान्त बिस्मार्क ने हेनोवर हेसकेसिल, नासो (Naussn) तथा मेंन नदी पर स्थित फ्रेंकफर्ट स्वतन्त्र नगरों को प्रशा में सम्मिलित कर लिया गया। सेक्सेनी तथा मेंन नदी के उत्तर की ओर अन्य राज्य भी जर्मन-संघ में मिल गये। इस प्रकार इस नवीन संघ में 22 राज्य सम्मिलित हुए । उस संघ का अध्यक्ष प्रशा का शासक विलियम प्रथम बना। इस संघ में दो सभाएं बनाई गई। प्रथम सदन एसेम्बली था जिसमें विभिन्न राज्यों से सदस्य निर्वाचित होकर आते थे। दूसरा सदन काउन्सिल था। इसके सदस्य राज्यों द्वारा मनोनीत होकर आते थे। सेना पूर्णतः प्रशा के सम्राट के नियन्त्रण में रखी गई तथा वैदेशिक मामलों में भी वही सर्वेसर्वा स्वीकार किया गया। दक्षिण के चार राज्य इस में सम्मिलित नहीं हुए। वे ये थे बेवरिया, बेडन, बर्टन वर्ग-तथा हेसे। 1867 में इस नवीन संघ में सार्वलौकिक मताधिकार के आधार पर निर्चाचन हुए। इस प्रकार जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण समाप्त हुआ। .

फ्रेंके-प्रशियन युद्ध व जर्मनी का पूर्ण एकीकरण- जैसा कि बताया जा चुका है कि दक्षिणी जर्मनी के चार राज्य जर्मन-संघ में शामिल नहीं हुए थे और उनके बिना जर्मनी का एकीकरण पूरा नहीं हो सकता था। उन चारों राज्यों पर फ्रान्स का प्रभाव था। अतः अब प्रशा को फ्रान्स से युद्ध करना आवश्यक हो गया। बिस्मार्क इस तत्थ से पहले ही अवगत था कि उसे क्या करना है और किस प्रकार करना है। इसकी योजना उसने पहले ही बनाली थी। बिस्मार्क यह भी जानता था कि नेपोलियन जर्मनी की राष्ट्रीयता में विश्वास रखता है-एकता में नहीं। अतः आस्ट्रिया के बाद फ्रान्स से युद्ध करना अनिवार्य है। परन्तु यह युद्ध आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध की भांति केवल सैनिक तैयारी से ही नहीं जीता जावेगा वरन् उसमें भी राजनीतिक दांव-पेच चलाने पड़ेंगे। फ्रान्स भी सेडावा के युद्ध के बाद इस परिणाम पर आ पहुँचा था कि प्रशा से उसका युद्ध करना अनिवार्य है और उसे यह युद्ध निम्नलिखित कारणों से करना पड़ा-

(i) फ्रांस जर्मनी का एकीकरण नहीं चाहता था। बिस्मार्क भी इस तथ्य से भली-भांति परिचित था। अतः दोंनों में युद्ध होना स्वाभाविक था।

(ii) प्रशा का शक्तिशाली होना- फ्रन्स को आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध में प्रशा की विजय की आशा नहीं थी। परन्तु जब वह विजयी हो गया तो फ्रान्स उससे भयभीत हो गया। उसने देखा कि मेंरा सीमावर्ती देश शक्तिशाली हो गया है। अतः सुरक्षा की दृष्टि से भी नेपोलियन तृतीय का प्रशा की शक्ति पर भी शंका करना स्वाभाविक था।

(iii) बिस्मार्क द्वारा वचन पूरा न करना- आस्ट्रिया से युद्ध करने से पूर्व बिस्मार्क ने फ्रान्स से सन्धि इस प्रलोभन के साथ की थी कि वह उसे राइन प्रदेश देगा। परन्तु सेडावा की विजय के उपरान्त बिस्मार्क ने न केवल राइन प्रदेश से इन्कार किया वरन नेपोलियन को डेनमार्क से लक्जम्बर्ग भी नहीं खरीदने दिया। इससे दोनों के सम्बंध बिगड़ गए।

(iv) मैक्सिको की असफलता से नेपोलियन तृतीय की प्रतिष्ठा फ्रान्स में गिर गई थी और जब उसने आस्ट्रिया के विरूद्ध प्रशा से सन्धि की तो उसमें भी उसे अपयश ही मिला क्योंकि थियर्स ने स्पष्ट उदघोषित किया था कि सेडावा के युद्ध में आस्ट्रिया की पराजय नहीं हुई वरन फ्रान्स की पराजय हुई है। अपने इस अपयश को दूर करने का उसने एक मात्र साधन प्रशा से युद्ध करना ही समझा।

(v) दक्षिणी जर्मनी के चार राज्यों पर फ्रांस का प्रभव होना- बिस्मार्क समस्त जर्मन राज्यों को एक संघ के अन्तर्गत गठित करना चाहता था। अतः वह उन चार राज्यों को कैसे छोड़ सकता था? उन्हें अपने संघ में मिलाने के लिए फ्रांस को परास्त करना प्रशा के लिए आवश्यक था।

(vi) स्पेन की गद्दी का प्रश्न- 1868 में स्पेन के राजा के मर जाने से स्पेन की गद्दी रिक्त हो गई। स्पेन की जनता ने प्रशा के शासक के सम्बन्धी लियोपोल्ड को अपना शासक चुन लिया। फ्रांस को यह बात सहन नहीं हुई क्योंकि ऐसा होने से फ्रांस दोनों तरफ से प्रशा के चुंगुल में फंसता था। फ्रांस के विरोध करने पर विलियम प्रथम मौन हो गया तथा लियोपोल्ड ने अपना नाम वापिस ले लिया। परन्तु फ्रांस इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसने प्रशा के शासक से यह आश्वासन प्रप्त करना चाहा कि वह भविष्य में भी लियोपोल्ड या उसके वंश के किसी व्यक्ति को स्पेन के उत्तराधिकारी के रूप में प्रस्तुत नहीं करेगा। विलियम प्रथम ने यह आश्वासन तो दे दिया कि लियोपोल्ड स्पेन के लिए उम्मीदवार नहीं बनेगा। इसकी खबर उसने एम्स से तार द्वारा बिस्मार्क को भेज दी। इस खबर को पाकर बिस्मार्क बड़ा नाराज हुआ। उसने उस समाचार को संक्षिप्त बनाकर समाचार-पत्रों में इस प्रकार प्रकाशित करवाया कि वह फ्रांस व जर्मनी के दोनों देशों के निवासियों को भड़काने का साधन बन गया। बिस्मार्क ने विलियम प्रथम द्वारा लियोपोल्ड का नाम वापिस लेना अपनी राजनीतिक पराजय समझी। उधर फ्रांस युद्ध करना चाहता ही था। अतः बिस्मार्क भी फ्रान्स से युद्ध करने को शीघ्र ही उद्यत हो गया। लोथर बूचर का कहना है कि स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न में बिस्मार्क ने नेपोलियन तृतीय के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी इस प्रकार की उत्पन्न कर दी कि फ्रान्स के पास सिवाय युद्ध-घेषणा करने के अन्य चारा नहीं बचा था।

युद्ध की तैयारियां- (i) हालांकि रूस से यह कम संभावना थी कि वह फ्रान्स की सहायता करे क्योंकि क्रीमिया युद्ध में फ्रान्स ने भी टर्की की सहायता की थी। फिर भी बिस्मार्क ने युद्ध से पूर्व रूस से दोस्ती पक्की की। इसके लिए बिस्मार्क ने रूस की टर्की विरोधी नीति का समर्थन किया तथा उसे अफगानिस्तान की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित किया।

(ii) इसके बाद उसने पड़ोसी देश आस्ट्रिया की ओर ध्यान दिया। आस्ट्रिया में इस बात की शंका अधिक थी कि वह कहीं फ्रान्स की सहायता न करदे। अतः उसने उसके साथ भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया। दोस्ती सुगमता से इसलिए हो गई कि प्राग की सन्धि में प्रशा ने कोई ऐसी बात नहीं की थी जिससे कि आस्ट्रिया का अपमान होता। इसके अलावा बिस्मार्क से स्लाव जाति के विद्रोह को दबाने में आस्ट्रिया की सहायता का आश्वासन दिया। इस पर आस्ट्रिया ने भी युद्ध में तटस्थ रहने का आश्वासन दे दिया।

(iii) इटली के साथ बिस्मार्क के सम्बंध पहले अच्छे नहीं थे। परन्तु इसी बार उसने विक्टर इमैनुअल को रोम दिलाने का विश्वास दिलाया। बिस्मार्क ने सुझाया कि वह जैसे ही फ्रान्स पर आक्रमण करे तो इटली रोम पर आक्रमण कर दे; क्योंकि उस समय नेपोलियन अपनी सेना फ्रान्स की रक्ष हेतु रोम से बुला लेगा।

(iv) इंगलैंड की ओर से वह निश्चिन्त था। वह जानता था कि जब तक बेल्जियम तटस्थ रहेगा तब तक इंगलैंड जर्मनी पर आक्रमण नहीं करेगा।

युद्ध की घटनाएं- उपर्युक्त राजनीतिक दाव-पेच से बिस्मार्क ने फ्रान्स को यूरोप में एकाकी बना दिया। युद्ध का बहाना उसे स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न से मिल ही गया। युद्ध की घोषणा होते ही 14 जुलाई को इंगलैंड ने युद्ध टालने की दृष्टि से मध्यस्थता करने का प्रयास रखा। परन्तु इंगलैंड की मध्यस्थता के प्रस्ताव को दोनों देशों ने ही ठुकरा दिया। 20 जुलाई को रूस ने तटस्थता की घोषणा की तथा 25 जुलाई को इटली ने तटस्थता की घोषणा की। इसी प्रकार फ्रांस की सहायता के लिए कोई देश आगे नहीं आया और अगस्त के प्रारंभ में 5 लाख जर्मन सैनिक फ्रांस के एल्सेस (Alsace)

प्रदेश में प्रवेश कर गये। वहां उन्होंने फ्रेंच सेना को वीसेन्बर्ग के स्थान पर परास्त कर दिया। इस विजय के उपरांत जर्मन सैनिक लारेन प्रदेश पहुंचे। वहां उन्होंने एक दूसरी जर्मन सेना की सहायता से फ्रेंच सेना को वर्थ तथा ग्रेमीलोट पर करारी हार दी। 1 सितम्बर में स्वयं नेपोलियन जर्मन सेना से सेडान (Sedan) के युद्ध में परास्त हो गया। उसे अपने 80 हजार सैनिकों के साथ आत्म-समर्पण करने को बाध्य होना पड़ा। नेपोलियन की पराजय की खबर सुनते ही पेरिस की जनता नेपोलियन के विरूद्ध हो गई। जनता ने अपने यहां गणतन्त्र की घोषणा कर दी। युद्ध-संचालन के लिए उन्होंने अस्थाई सरकार का गठन किया। परन्तु 19 सितम्बर को जर्मन सेना पेरिस आ पहुंची और उसने पेरिस के घेरा डाल दिया। अस्थाई सरकार के अध्यक्ष गेम्बेटा (Gambetta) ने जर्मन सैनिकों का डट कर सामना किया परन्तु सब व्यर्थ रहा। इस पर विवश हो 28 जनवरी, 1871 को उसने भी जर्मन सेना के सामने हथियार डाल दिये। इस प्रकार यह युद्ध सात महिने चला और इसकी समाप्ति फ्रेंकफर्ट की संधि से हुई ।

फ्रेंकफर्ट की संधि- गेम्बेटा के शस्त्र डालने के उपरांत सन्धि की बातचीत आरम्भ हुई। 26 फरवरी 1871 की सन्धि की शर्तों पर हस्ताक्षर हुए तथा 10 मई 1871 को फ्रेंकफर्ट स्थान पर यह सन्धि सम्पन्न हुई । इस सन्धि की शर्त निम्नलिखित थीं-

(i) फ्रांस ने जर्मनी को 20 करोड़ पौण्ड युद्ध की क्षति के रूप में देने का वायदा किया और यह वचन दिया कि वह यह रकम तीन वर्ष में पूरी चुका देगा।

(ii) जब तक युद्ध के हर्जाने की रकम चुकती नहीं की जावेगी तब तक जर्मन सैनिक फ्रान्स में रहेंगे और उनका खर्च भी फ्रांस ही वहन करेगा।

(iii) एल्सेस का पूरा प्रदेश तथा लारेन का पूर्वी भाग जर्मनी को दे दिया गया।

(iv) पेरिस के चारों ओर के दुर्ग जर्मनी को प्राप्त हो गये। केवल बेलफर्ट का दुर्ग फ्रांस के पास रहा।

परन्तु कुछ इतिहासकारों का कहना है कि यदि फ्रान्स सरकार उस समय तनिक भी सावधानी से कार्य करती तो वह सन्धि की अपमानजनक शर्तों से बच सकती थी। उस समय लन्दन में यूरोपीय सम्मेलन चल रहा था। यदि फ्रान्स की सरकार इसे लन्दन-सम्मेलन में प्रस्तुत कर देती तो संभवतः इंगलैंड की मध्यस्थता से उस पर ये कठोर शर्तों नहीं थोपी जातीं। इंगलैंड का विदेश-मंत्री लार्ड ग्रेन्विल इसके लिए तैयार था।

युद्ध के परिणाम- फ्रांस को परास्त करने के उपरान्त प्रशा यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली देश हो गया। इस युद्ध के उपरान्त जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण हो गया। इस विजय से बिस्मार्क की यह धारणा कि जर्मनी का एकीकरण प्रशा के शासक के नेतृत्व में ही ''लोह और रक्त'' की नीति से सम्भव है-सत्य प्रमाणित हुई। प्रशा की इस विजय से इटली का एकीकरण भी पूर्ण हो गया और वहां के राजा विक्टर इमेंनुअल ने रोम को अपने राज्य की राजधानी बना लिया। फ्रान्स पराजय के उपरान्त यूरोप में एक निर्बल देश बन गया। वहां राजतन्त्र के स्थान पर पुनः गणतंत्र की स्थापना हो गई। फ्रेकफर्ट की सन्धि कोई स्थायी सन्धि नहीं हुई वरन् यही आगे चल कर प्रथम महायुद्ध का कारण बनी क्योंकि इस सन्धि द्वारा प्रदत्त एल्सेस व लारेन के प्रदेश फ्रान्सवासियों के दिल में गहरे घाव बनकर बैठ गये थे। उनकी वापसी के लिए फ्रान्स सदैव सजग रहा। इस फ्रैंकोप्रशियन युद्ध के परिणामों पर जर्मन इतिहासकार इरिच ऐक (Erich Eyck) ने अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखता है- उन्नीसवीं सदी में होने वाले युद्धों में जितने दुरगामी एवं चिरकाल तक रहने वाले परिणाम इस युद्ध के निकले हैं वैसे अन्य युद्धों से नहीं। 70 वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी इसका प्रभाव फ्रान्स में ज्यों का त्यों बना रहा। इसने घृणा व द्वोष के बीज बो दिए। इस युद्ध ने उस समय उत्पन्न हुए मनुष्यों के भाग्यों को अन्धकारमय बना दिया।'' वृद्धावस्था में स्वयं बिस्मार्क भी इस युद्ध की विभीषिका पर अपने विचार व्यक्त करता था। अपनी युद्ध-नीति से उसने अपने कितने जर्मन भाइयों को काल का ग्रास बनाया तथा मां-बहिनों को विधवा बनाया-यह सोच कर वह कांप उठता था। परन्तु इन सब को वह जर्मनी के एकीकरण के आगे तुच्छ समझता था। इरिच-एक जर्मन इतिहासकार ही आगे लिखता है कि विश्व के दो महायुद्ध भी बिस्मार्क की नीति के कारण ही हुए। वह शंका करता है कि यूरोप ने जो शान्ति 13 जुलाई 1870 को खोई थी उसे वह पुनः प्राप्त भी कर सकेगा या नहीं? इस प्रकार स्पष्ट है कि इस फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दूरगामी सिद्ध हुए।

जर्मनी का एकीकरण सम्पूर्ण होना-सेडान के युद्ध ने जहां फ्रेंच साम्राज्य को समाप्त किया तो दूसरी तरफ उसने जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया। फ्रेंकफर्ट की सन्धि पर अन्तिम स्वीकृति मिलने से पूर्व ही बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण को पूर्ण कर चुका था। 18 जनवरी 1871 को जब फ्रान्स व प्रशा के बीच युद्ध चल ही रहा था कि वर्साई के राज-प्रासाद में जर्मन-राज्यों के राजाओं की एक सभा आयोजित की गई। सभा में बवेरिया के राजा ने जर्मनी में एक साम्राज्य की स्थापना का प्रस्ताव रखा। दक्षिणी जर्मनी के चारों राज्य बवेरिया, बाडेन, वुर्टमबर्ग व हेस जो 1866 में उत्तरी जर्मन-राज्य संघ में सम्मिलित नहीं हुए थे, अब सम्मिलित हो गये। उनके सम्मिलित हो जाने से राज्य-संघ का नाम बदल कर साम्राज्य कर दिया गया और प्रशा का राजा इस साम्राज्य का अध्यक्ष बना। अध्यक्ष बनने के उपरांत वह ''जर्मन सम्राट'' की पदवी से अलंकृत किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रांस के पराभव पर जर्मन-एकता का प्रासाद खड़ा हुआ जिसके निर्माण के लिए जर्मनी के निवासी चिरकाल से लालायित थे।

इटली व जर्मनी के एकीकरण का तुलनात्मक परीक्षण- इटली व जर्मनी का एकीकरण एक साथ ही (1870) संभव हुआ। दोनों देशों ने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति आस्ट्रिया के पराभव पर की। बुद्धिजीवियों का राष्ट्रीयता-प्रसार में दोनों देशों को अपूर्व सहयोग मिला। परन्तु इटली को अपने एकीकरण में जर्मनी से अधिक कठिनाइयां उठानी पड़ीं। जर्मन-परिसंघ में प्रशा का स्थान महत्वपूर्ण बन चुका था जबकि सार्डिनिया-पीडामाण्ट एक छोटा सा राज्य था। इटली का एकीकरण विदेशी सहायता (फ्रान्स व प्रशा) से ही सम्भव हुआ जबकि प्रशा का एकीकरण विदेशी बिस्मार्क की कूटनीति से ही सम्पन्न हो गया। प्रशा को विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जर्मनी के समस्त राज्यों को प्रशा के नेतृत्व में गठित करने का श्रेय बिसमार्क को ही जाता है इसलिए वह ''जर्मनी का निर्माता''के नाम से विख्यात हुआ। जर्मनी के सम्राट विलियम प्रथम ने पहले उसे ''प्रिन्स'' की उपाधि से विभूषित किया। उसके उपरान्त वह नवजात साम्राज्य का प्रथम चान्सलर नियुक्त हुआ। इस नवीन संघ का भी सर्वेसर्वा वही रहा। इस सफलता के उपरान्त वह यूरोप के महान राजनीतिज्ञों में गिना जाने लगा।

जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क की नीति क्या उचित थी? जर्मनी के एकीकरण का सारा श्रेय बिस्मार्क को दिया जाता है और उसे आज भी जर्मनी का निर्माता माना जाता है। वास्तव में यह बिस्मार्क ही था। जिसने की शक्तिशाली आस्ट्रिया को अपने मार्ग से हटाकर जर्मनी का एकीकरण किया और एकीकरण करके जर्मनी की एकता व राष्ट्रीयता को स्थायी एवं सुदृढ़ भी बनाया। जब तक वह चान्सलर 1890 के पद पर कार्य करता रहा,जर्मनी में शान्ति व व्यवस्था बनी रही तथा जर्मनी का प्रभाव समस्त यूरोपीय देशों पर कायम रहा। अतः जर्मनी का एकीकरण करके तो उसने अच्छा ही कार्य किया और इसी से वह आज भी विश्व में अमर बना हुआ है। पर प्रश्न यह है कि क्या उसकी इस नीति (''लौह व रक्त की'' Blood and Iron) के बिना जर्मनी का एकीकरण सम्भव नहीं था जैसा कि बिस्मार्क ने स्वीकार किया कि मैंने तीन युद्ध किये और तीन युद्धों में 80 हजार सैनिकों को मरवा दिया। उनकी स्त्रियों के माथे के सिंदूर को मिटा दिया। इन युद्धों की विभीषिका से वह द्रविभूत अवश्य हुआ, परन्तु जर्मनी के एकीकरण के निमित प्रयुक्त अपनी नीति को उसने उचित ही बताया है।

बिस्मार्क की यह नीति आज तो विवाद का प्रश्न बनी हुई है, पर उस काल में भी उसकी इस नीति को उसने समकालीन जर्मन लोगों ने अच्छा नहीं बताया। उन्होंने उसकी इस-नीति की तुलना बोनापार्टवाद से की है। उनका कहना है कि उसने 80 हजार जर्मन सैनिकों को युद्ध में काल का ग्रास बनाकर भी जिस संघ का निर्माण किया वह दृढ़ नींव पर नहीं किया। उसका निर्माण उसने इतनी शीर्घता से व इस प्रकार किया कि उसकी समाप्ति होना अवश्यम्भावी बन गया था। यही कारण था कि उसकी सैनिक नीति से जर्मन-राज्य तो प्रशा के नेतृत्व में संगठित हो गया। उन राज्यों ने प्रशा के शासक को अपना अध्यक्ष मान लिया; पर इससे उन में एक राष्ट्रीयता उत्पन्न नहीं हुई।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस नीति को उसने अपनाया क्यों? क्या इसके अलावा इसके पास अन्य साधन नहीं था? हमारी धारणा है कि उसने जर्मनी के एकीकरण के लिए लोह व रक्त की जो नीति अपनाई, वह उचित नहीं थीं। उसने प्रथम युद्ध डेनमार्क के राजा से किया। डेनमार्क के राजा ने उसका क्या बिगाड़ा था? केवल श्लेसविग व होल्स्टाइन डचियों की प्राप्ति के लिए ही उसने डेनमार्क के राजा से युद्ध नहीं किया इसके पीछे उसकी आस्ट्रिया से युद्ध करने की नियत छिपी हुई थी। जब होल्सटाइन की पुरी आबादी जर्मन ही थी तो वहां शान्ति से जनमत कराकर भी वह उसे अपने संघ में मिला सकता था। उसके लिए आस्ट्रिया से भी युद्ध करना व्यर्थ था।

उसने दूसरा युद्ध आस्ट्रिया से किया और इसका प्रमुख कारण बताया है कि जर्मन-संघ के उत्तर के राज्य आस्ट्रिया के प्रभाव में थे और उसके प्रभाव के कारण ही वे प्रशा के नेतृत्व में एक होना नहीं चाहते थे। सच पूछा जाय तो जर्मन -संघ के उत्तरी राज्य आस्ट्रिया के कारण नहीं वरन् प्रशा के सैनिकवाद के कारण संघ में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। अतः उन राज्यों को बिस्मार्क यदि धीरे-धीरे उत्तरी समझौता तथा उनमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता तो संभवतः वे प्रशा के कहने पर ही जर्मन-संघ में मिल जाते। अतः आस्ट्रिया के साथ भी उसका युद्ध करना न्यायोचित नहीं बताया जा सकता।

तीसरा युद्ध बिस्मार्क ने फ्रान्स के साथ किया और इस युद्ध का उसने कारण बताया था कि दक्षिणी जर्मनी के चार राज्य फ्रान्स के प्रभाव में थे। फ्रांस नहीं चाहता था कि वे जर्मन-संघ में सम्मिलित हों। अतः जर्मनी के समस्त राज्यों का एकीकरण करने के लिए उसे फ्रान्स से युद्ध करना अनिवार्य था। पर वास्तव में यह कारण इतना तथ्यपूर्ण नहीं था दक्षिण राज्यों के निवासी ही बिस्मार्क द्वारा निर्मित उत्तरी राज्यों (North German Confederation) के संघ में सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। वे फ्रान्स के प्रभाव में नहीं थे। इसके कारण निम्न थे:-

(i) वे उत्तरी संघ को प्रशा के सैनिक राज्य का ही एक विस्तार-रूप समझते थे।

(ii) उनकी धारणा थी कि जर्मन-संघ में शामिल होने का अर्थ होगा अपने यहां भी सैनिकवाद को अपनाना।

वास्तव में देखा जाय तो दक्षिण-राज्यों के उदारवादी भी उत्तरी संघ में मिलने के विरोधी नहीं थे वरन वे प्रशा के शासन की प्रजा बनने को उद्यत नहीं थे। वे यह भी जानते थे कि प्रशा में संविधान को कोई स्थान नहीं है। वहां बिस्मार्क की इच्छा ही कानून है। अतः वे लोग बिस्मार्क की तानाशाही में आना नहीं चाहते थे। बिस्मार्क अपनी शक्ति को सुदृढ़ रखने के साथा-साथ प्रशा के सम्राट को भी पूर्णत; तानाशाही रखना चाहता था। इन परिस्थितियों के कारण दक्षिण-राज्यों की जनता उत्तरी जर्मनी संघ में सम्मिलित होना स्वयं नहीं चाहती थीं।

इन से स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी के एकीकरण में फ्रान्स नहीं वरन् जर्मनी के राज्य तथा उनके निवासी ही उसमें बाधक बने हुए थे। इसके अलावा नेपोलियन उस समय प्रशा से युद्ध करने को इच्छुक भी नहीं था। प्रथम वह वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने से निर्बल हो गया था। दूसरे वह किसी मित्र-देश के सहयोग के बिना प्रशा से युद्ध करना नहीं चाहता था और भाग्यवश उस समय उसका यूरोप में कोई मित्र नहीं था। इसके अलावा जब उसने आस्ट्रिया के साथ 1869 में गुप्त सन्धि की तो उसे स्पष्ट हो गया था कि आक्रामक जर्मनी के विरूद्ध उसका कोई मित्र नहीं बनेगा।

अतः जर्मनी के एकीकरण में नेपोलियन को एक बाधक के रूप में प्रस्तुत करना उचित नहीं। यदि बिस्मार्क दक्षिण राज्यों के लोगों को अपना बना लेता जिस प्रकार कि कैवूर ने इटली के लोगों को अपने पक्ष में बनाया था, तो फ्रान्स जर्मनी के एकीकरण में विघ्न उत्पन्न करने में असमर्थ रहता।

अतः उपरोक्त तथ्यों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि जर्मनी के एकीकरण के लिए बिस्मार्क की यह ''लौह और रक्त'' (Blood and Iron) की नीति की इतनी आवश्यकता नहीं थी। उसने तीन युद्ध किये। वे तीनों युद्ध जर्मनी के एकीकरण के लिए आवश्यक नहीं थे। डेनमार्क के साथ युद्ध तो इस दृष्टि से सर्वथा ही अनुचित था और फ्रान्स के साथ भी युद्ध करना इतना अवश्यक नहीं था। अधिक से अधिक हम यह मान सकते हैं कि उसका आस्ट्रिया के साथ युद्ध करना कुछ क्षेत्र तक न्याय-संगत था क्योंकि जर्मन-राज्यों पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व था और यहां तक कि प्रशा के शासक भी आस्ट्रिया के प्रभाव में थे। अतः दो युद्धों में उसने जान-माल की हानि व्यर्थ ही कि और इन युद्धों में सफलता पाने के लिए उसने राजनीतिक समझौते भी व्यर्थ ही किए। इन समझौतों में उसने कोई सिद्धान्त भी नहीं रखा। वह तो अपना मतलब बनाने के लिए हर किसी से समझौता कर सकता था; पर उसके इन समझौतों ने भी उसे अपनी ''रक्त पात'' की नीति का जारी रखने में सहायता दी।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या बिस्मार्क इस नीति के बिना अपनाये भी अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता था? कैवूर का उदाहरण उसके सामने विद्यमान था। शक्ति के प्रयोग के साथ-साथ कैवूर ने जनमत पर भी ध्यान दिया था। कैवूर ने बिस्मार्क की भांति शीघ्रता नहीं की। निः संदेह इटली के एकीकरण में 40 वर्ष लगे-पर उसमें इतना रक्त-पात नहीं हुआ। अतः बिस्मार्क थोड़ा धैर्य के साथ कार्य करता तो वह युद्धों को टाल सकता था परन्तु संवैधानिक सुधारों का विरोधी व सैनिकवाद का प्रबल समर्थक इस प्रकार के सबक सीखने वाला व्यक्ति नहीं था। परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित सैनिकवाद

केवल उसके समय तक ही नहीं रहा वरन् वह सैनिकवाद प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्धों का भी प्रमुख कारण बना। इसीलिए कई इतिहासकारों ने तो उसे जर्मन एकता विनाशक ही नहीं वरन् उसकी कब्र खोदने वाला भी बताया है।

खैर परिणाम कुछ भी रहे हो। फ्रान्स की क्रान्ति से उद्वेलित राष्ट्रीय भावना के परिणामस्रूप उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इटली और जर्मनी यूरोप में ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र निर्मित हो गये जिन्होंने समपूर्ण यूरोप की राजनीति को ही बदल दिया। बिसमार्क जर्मनी का एकीकरण करके जर्मनवासियों में वह जर्मनवाद की भावना भर गया जिसे कि बर्लिन की दीवार नष्ट नहीं कर सकी और 1990 के अन्तिम मास में वह पुनः एकीकृत जर्मनी बन गया।

अध्याय : 13 चीन में अफीम युद्ध, 1911 की क्रान्ति और साम्यवाद का उदय

Opium Wars in China, Battle of Concesasions in China, Chinesae Revolution of 1911 and Rise of Communism

अफीम युद्धों का अर्थ एवं उनकी पृष्ठभूमि

अफीम युद्धों से तात्पर्य उन दो युद्धों से है जो क्रमशः 1839 से 1842 तक तथा 1856 से 1860 तक चीन में, चीन तथा ब्रिटेन के अंग्रेज व्यापारियों द्वारा चीन में अफीम के व्यापार द्वारा अधिक लाभ अर्जित करने तथा वहां अधिकाधिक सुविधाएं प्राप्त करने हेतु हुए थे। अफीम के व्यापार हेतु लड़े गए इन युद्धों के कारण ही इन्हें इतिहास में 'अफीम युद्ध' कहा जाता है। ये युद्ध जिस पृष्ठभूमि के कारण हुए उसे समझ लेना आवश्यक है।

चीन के इतिहास में पश्चिमी देशों का उस पर प्रभाव विशेष महत्त्व रखता है। वस्तुतः पश्चिमी देशों के प्रभाव ने चीन की राजनीतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जिसके दूरगामी राजनीतिक एवं आर्थिक निहितार्थ प्रकट हुए। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी यह प्रभाव महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। 15वीं व 16वीं सदी से चीन और पश्चिमी देशों का सम्पर्क निरन्तर विकसित होता गया और शनैः शनैः पाश्चात्य सम्पर्क के फलस्वरूप ही चीन के शासन का रूप पूरी तरह से बदल गया। पुर्तगाली 1514 ई. के लगभग चीन पहुंच गये किंतु पुर्तगाली का व्यवहार एशियावासियों के प्रति गुलामों जैसा होने के कारण तथा उनकी गतिविधियां लूटमार जैसी होने के कारण तत्कालीन चीन के मिंग सम्राटों ने उन्हें चीन में प्रविष्ट नहीं होने दिया। अतः वे चीन के बाहर कैण्टन के निकट एक द्वीप में रहने लगे। इसके बाद उन्होंने 1757 में मकाओ में अपनी बस्ती बसा ली।

पुर्तगालियों के बाद अन्य यूरोपीय देशों के लोग व्यापार की खोज में चीन पहुंचने लगे। स्पेन वाले 1575 में, डच 1604 में, अंग्रेज 1637 में और अमेंरिकी लोग 1774 में चीन पहुँचें। रूस और चीन की सीमाएं परस्पर मिली होने के कारण दोनों देशों के लोगों के सीमा के आर-पार आवागमन तथा व्यापार नियन्त्रण के लिए समझौता आवश्यक हो गया। अतः 1689 में रूस और चीन की एक संधि हो गयी जो 'नानचिस्क की संधि' कहलाती है। इस संधि द्वारा दोनों देशों की सीमा का निर्धारण तो हुआ ही, साथ ही रूस को अपना एक मिशन पीकिंग भेजने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार अन्य देशों की तुलना में रूस का स्तर भिन्न हो गया। प्रमुख देशों में सबसे अन्त में अमेंरिका ने 1789 में व्यापारिक दौड़ में प्रवेश किया।

18वीं शताब्दी के मध्य से 1842 तक चीन साम्राज्य का द्वार विदेशों के लिये प्रायः बन्द-सा था। विदेशी केवल कैण्टन और मकाओं की खिड़कियों से चीन झांक सकते थे। कैण्टन और मकाओं द्वारा होने वाले सीमित प्रवेश को छोड़कर विदेशी व्यापारियों पर साम्राज्य भर में आने पर प्रतिबन्ध लगा था जो 1842 तक लागू रहा। हैरोल्ड विनाके के अनुसार- "कैण्टन और मकाओं से भी केवल व्यावसायिक सम्बन्धों की ही अनुमति दी गई थी और विदेशी व्यापारी केवल चीनी सौदागरों से ही सम्पर्क स्थापित कर पाते थे। पुर्तगाल, हालैण्ड और इंग्लैण्ड ने पीकिंग से राजनीतिक संबंध स्थापित करने के लिये वहां राजदूत भेजने का प्रयत्न किये, पर हर प्रयत्न असफल रहा।" 1644 में मंचू वंश के शासन की स्थापना के बाद यद्यपि 1685 में सम्राट कांग-हसी ने एक उद्घोषणा द्वारा (यूरोपीयन) लोगों को चीन के तटवर्ती बन्दरगाहों में व्यापार चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे तो 1757 में सम्राट चुएन लुंग ने यह आज्ञा जारी कर दी कि विदेशी लोग कैण्टन में ही व्यापार

कर सकेगें, अन्यत्र नहीं। चीन ने जो यह व्यवस्था की थी, उसका कारण यह नहीं था कि चीनी लोग विदेशी व्यापार के विरोधी थे अथवा उन्हें विदेशियों से कोई घृणा थी। ईसाई धर्म प्रचारकों (Missionariesa) को ईसाई धर्म के प्रचार की अनुमति चीनी सरकार ने दे दी थी। किन्तु यूरोपीयन लोग जिस हस्तक्षेप की नीति (Policy of Intervention) का अनुसरण कर रहे थे, वह चीनी सरकार को पंसद नहीं थी और इसीलिये उनका व्यापार-केन्द्र केवल कैण्टन तक ही सीमित कर दिया गया था।

कैण्टन में भी यूरोपीयन व्यापारियों को पूरे वर्ष रहने की अनुमति नहीं थी। गर्मियों में या व्यापार के एक मौसम के समाप्त होने और दूसरे के प्रारम्भ होने के बीच के समय में विदेशी व्यापारी मकाओं चले जाते थे जहां पुर्तगाल को बस्ती बनाने की अनुमति दी गई थी, यद्यपि चीनी अधिकार वहां भी बना हुआ था। जब ये व्यापारी कैण्टन लौटते थे तो अपने परिवार को मकाओं में ही छोड़ आने को बाध्य किये जाते थे। चीनी सरकार यह नहीं चाहती थी कि यूरोपीयन लोग कैण्टन में अपनी स्थाई बस्तियां बना ले।

व्यापारिक नियम चीन द्वारा ही बनाये जाते थे। विदेशी व्यापारियों को यह अनुमति नहीं थी कि वे जिस किसी चीनी व्यापारी से माल का क्रय-विक्रय करें। 1702 में 'सम्राट का व्यापारी' नामक एक पदाधिकारी नियुक्त कर दिया गया जो विदेशियों से व्यापार करने का एकमात्र आढ़तिया या एजेन्ट बना दिया गया। यह प्रथा सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुई और 50 साल बाद 1752 में इस एक व्यापारी के स्थान पर चीनी व्यपारियों का 'को-हांग' (Ko Hang) नामक एक संघ (Guild) स्थापित कर दिया गया और ये 'सुरक्षा व्यापारी' सारा विदेशी व्यापार संभालने लगे। इस समय चीन के सभी बन्दरगाह विदेशियों के लिए खोल दिये गये थे और इन बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारी को 'को-हांग' से माल का क्रय-विक्रय किया करते थे। 1757 में कैण्टन के अतिरिक्त अन्य सभी बन्दरगाह यूरोपीयन लोगों के लिए पुनः बन्द कर दिये गये। 'को-हॉग' के व्यापारी कैण्टन में आ गये और वहां पर चीन के साथ यूरोपीयन लोगों का सारा व्यपार केन्द्रित हो गया। 'को-हांग' में सम्मिलित व्यापारियों की संख्या 13 थी और विदेशी व्यापारियों को यह छूट नहीं थी कि वे अन्य किसी चीनी से व्यापार कर सकें। अन्य चीनी व्यापारी भी लोगों के साथ माल का क्रय-विक्रय 'को-हांग' के माध्यम से ही कर सकते थे।

कैण्टन शहर के बाहर स्थित यूरोपीयन लोगों की व्यापारिक कोठियां थी। चीनी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वे चीनियों से वार्ता या पत्र-व्यवहार करने हेतु चीनी दुभाषिये नियुक्त करते थे। कैण्टन स्थित विदेशी व्यापारियों में अंग्रेज सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। 1715 में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा कैण्टन में एक कोठी की स्थापना की गई थी। स्वतंत्र अंग्रेज व्यापारी की कम्पनी के माध्यम से ही अपना व्यापार करने को बाध्य थे। 1789 में लोगों ने भी कैण्टन में अपनी कोठियां स्थापित की। इस प्रकार अंग्रेजों, पुर्तगालियों, स्पेनवासियों, डचों और फ्रांसीसियों के समान ही अमेंरिका भी चीन के साथ अपने व्यापार का विकास करने लगे। चीनी नियमों और घोषणाओं के अनुसार विदेशी यूरोपीयन लोग स्थानीय जनता की तुलना में निम्न स्तर के व्यक्ति माने जाते थे और तदनुकूल ही उनके साथ व्यवहार किया जाता था।

आरम्भ में विदेशी व्यापारी चीन से केवल माल का क्रय ही करते थे। चीनी, चाय, रेशम, मिट्टी के बर्तन आदि की यूरोपीय देशों में अधिक मांग थी। यूरोप और अमेंरिका के व्यापारी चीन से खरीदे हुए माल को अन्य देशों में मंहगे दामों पर बेच कर मुनाफा कमाते थे। चीनी माल की कीमत सोने-चांदी में दी जाती थी। विदेशी व्यापारियों के पास ऐसा कोई माल नहीं था, जिसे वे चीन में बेच सकें। किन्तु शनैः शनैः स्थिति में परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारी बाहर से माल लाकर उसे चीन में बेचने लगे। इंग्लैण्ड के निर्मित वस्त्रों और अमेंरिका की फरों (Furs) की चीन में अधिक मांग होने लगी किंतु अभी विदेशी व्यापारी चीन को निर्यात की अपेक्षा उससे माल का आयात ही अधिक करते थे जो घाटे का सौदा था।

अतः आयात की तुलना में चीन को निर्यात अधिक करने के लिये अंग्रेज किसी वस्तु की तलाश में थे। 18वीं शताब्दी तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रभुत्व का काफी विस्तार हो चुका था और कम्पनी भारत में बड़े पैमाने पर अफीम की खेती करा रही थी। अंग्रेज व्यापारी यह चाहते थे कि चीन में इस अफीम के लिये एक अच्छा बाजार तैयार किया जाये। चीनी लोग यद्यपि अफीम-सेवन के आदी नहीं थे किन्तु अंग्रेजों ने उन्हे इसका आदि बनाया। पहले उन्हें तम्बाकू में मिला कर अफीम खिलाई गई और जब चीनी लोग अफीम के आदि हो गए तो उन्होंने विशुद्ध अफीम का सेवन और उसका हुक्का पीना शुरू कर दिया। 1800 ई० तक चीन में अफीम का इतना अधिक प्रचार हो गया और अंग्रेज व्यापारी चीन में इतनी अफीम बेचने लगे कि उसकी कीमत उस माल की कीमत से अधिक बढ़ गई जो वे चीन से खरीदते थे। अतः अफीम का चीन को निर्यात लाभप्रद सिद्ध हुआ।

चीन की सरकार अफीम-सेवन के दुष्परिणामों से अवगत हो चुकी थी। वे समझ गये कि स्वास्थ्य एवं नैतिकता दृष्टियों से अफीम का सेवन चीनियों के लिये हानिप्रद है। अतः 1800 में चीन के सम्राट ने यह आज्ञा प्रसारित की कि कोई भी विदेशी व्यापारी चीन में अफीम नहीं ला सकेगा। यद्यपि अफीम का क्रय-विक्रय चीन में अवैध घोषित कर दिया गया था किंतु अफीम चोरी छिपे चीन में आती रही और चीनी लोग, जो अफीम के आदि हो चुके थे, उसे छिपकर खरीदते रहे। सरकारी अधिकारियों को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन मिलता रहा क्योंकि इससे उन्हें रिश्वत के रूप में काफी आमदनी होती थी। विदेशी व्यापारियों से वे रिश्वत लेकर उन्हें अफीम बेचने से रोकते नहीं थे। चीन की सरकार अफीम के इस व्यापार को रोक देना चाहती थी, अतः 1838 में अफीम के विरुद्ध कठोर कार्यवाही शुरू की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज व्यापारियों को नुक्सान होने लगा। अपने इस महत्वपूर्ण आर्थिक लाभ के स्रोत को नष्ट होता देखकर अंग्रेज बड़े क्षुब्ध हुए जिसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों का चीन से युद्ध का सूत्रपात हो गया। अपने ऐसे व्यापार, जिसमें उन्हें असीम लाभ हो रहा था, किसी भी प्रकार का नियन्त्रण उन्हें सहा नहीं था। उधर चीन की सरकार दो मुख्य कारणों से अफीम के व्यापार को रोकने के लिय कटिबद्ध थी- (i) नैतिक कारण, (ii) आर्थिक कारण। अफीम की मांग अत्यधिक बढ़ जाने से चीन में एक प्रकार का आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। निर्यात माल की तुलना में आयात माल की मात्रा अधिक बढ़ गयी थी। इससे चीन का धन विदेशों में पहुंच रहा था जो एक चिंताजनक स्थिति थी। विदेशियों से सोना-चांदी मिलने के स्थान पर चीनियों का अपना लाभ अफीम की खरीद में निकल रहा था।

प्रथम अफीम युद्ध तथा ननकिगं की संधि (1839-1842)

अंग्रेज जो भारत में दृढ़ता से अपने पांव जमा चुके थे, भारत से पेटियां भर कर अफीम चीन लाने लगे। 1800 तक चीन में अफीम का आयात लगभग चार हजार पेटी था, जो बढ़कर 1839 तक 30,000 पेटी तक पहुंच गया। इस 'जहर-अफीम' का आना चीनी जनता के लिये घातक और चीन देश के लिये 'आर्थिक-संकट' का कारण था। मंचू शासन ने अफीम के आयात को रोकने के लिये जो भी वैधानिक कदम उठाये थे, वे प्रभावी सिद्ध नहीं हुए। अंग्रेजो के लिये यह स्थिती अनुकूल नहीं थी क्योंकि अफीम के व्यापार पर वैधानिक प्रतिबन्ध लग जाने के कारण उन्हें बहुत अधिक हानि हो रही थी। अतः वे इस बात के लिये उत्सुक थे कि चीन के साथ युद्ध छेड़कर व्यापार सम्बन्धी नई सुविधाएं (Privilegesa) प्राप्त करें। किन्तु इंग्लैण्ड और चीन के युद्ध का एकमात्र कारण अफीम की समस्या ही नहीं थी अपितु अन्य कारण भी थे जिनका अध्ययन अपेक्षित है।

प्रथम अफीम युद्ध के कारण

इंग्लैण्ड और चीन के मध्य 1839 में हुए प्रथम अफीम-युद्ध के निम्नांकित कारण थे:

(1) ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति- ब्रिटेन की नीति साम्राज्यवादी थी। अंग्रेज चीन में अपने प्रभुत्व के विस्तार हेतु लालायित थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक भारत के अनेक प्रदेश ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ चुके थे। पूर्वी एशिया के और भी अनेक प्रदेशों तथा द्वीपों पर अंग्रेज अपना शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। उनका विश्वास था कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर वहां भी अपना प्रभुत्त्व और प्रभाव स्थापित किया जा सकता है।

(2) विदेशियों की चीनियों के प्रति हीन दृष्टि-औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक उन्नति के कारण यूरोपवासी एशियावासियों के मुकाबले में उन्नति की दौड़ में बहुत आगे निकल गये थे। अतः वे एशिया व अफ्रीका के लोगों की तुलना में अपने को अधिक उत्कृष्ट मानते थे। चीन सरकार के प्रतिबन्ध उन्हें सहन नहीं थे। विदेशियों को चीन में हेय दृष्टि से देखा जाता था और उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाता था। उन्हें जनता से सीधे सम्पर्क स्थापित करने की अनुमति न थी। यह बात अंग्रेजों को चुभती थी और वे इसे अपनी श्रेष्ठता पर आघात मानते थे।

(3) कैण्टन के बाहर सीमित क्षेत्र में रहने की अनुमति- कैण्टन चीन का दक्षिणी बन्दरगाह था और कैण्टन नगर की चारदीवारी के बाहर एक सीमित क्षेत्र में ही विदेशी व्यापारी रह सकते थे। अपने परिवार भी वे अपने साथ नहीं रखें सकते थे। पूरा वर्ष भी वे कैण्टन में नहीं बिता सकते थे। यह स्थिति अंग्रेजो और अन्य विदेशियों के लिये कष्टकर थी।

(4) चीनियों के साथ सीधे व्यापार की अनुमति नहीं- विदेशी व्यापारी चीनियों के साथ सीधा व्यापार नहीं कर सकते थे। चीन सरकार की ओर से 'को-हाँग' नामक व्यापारिक संघ बना दिया था जिससे अंग्रेज लोग व्यापार कर सकते थे। यह संघ विदेशियों से न्यूनतम मूल्य पर माल खरीदता था और अधिकतम मूल्य पर बेचता था। यह प्रतिबन्ध विदेशियों के लिये असहनीय था, क्योकि इससे उनके लाभ का अनुपात कम हो जाता था।

(5) ब्रिटेन के कैण्टन स्थित सुपरिन्टेण्डेन्ट से चीन का असम्मानजनक व्यवहार- चीन की सरकार ने यह व्यवस्था की थी कि विदेशी व्यापारी केवल 'को-हाँग' द्वारा ही व्यापार करें, जनता व सरकार के साथ उनका सीधा सम्पर्क न हो। किन्तु अंग्रेजों का कहना था कि कैण्टन स्थित सुपरिटेन्डेन्ट ब्रिटेन का प्रतिनिधि है, अतः चीन सरकार को उसके साथ साधारण व्यापारियों जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। 1834 में ईस्ट इण्डिया कंपनी के एकाधिकार की समाप्ति के बाद सुपरिन्टेण्डेन्ट के इस पद पर लार्ड नेपियर (Lord Napire) की नियुक्ति की गई थी। कैण्टन में लार्ड नेपियर का कार्य राजनीतिक नहीं था, उसकी नियुक्ति केवल व्यापार के लिये हुई थी, अतः चीन की सरकार को अधिकार था कि वह उसके साथ कोई सम्बन्ध न रखे। चीनीन सरकार का कहना था कि व्यापारिक मामलों से सरकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। इन मामलों का सम्बन्ध व्यापारियों से होता है, राज्य से नहीं। पर अंग्रेज समझते थे कि चीनी सरकार उन्हें हेय दृष्टि से देखती है और उसके लिये उनके प्रतिनिधि से कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहती। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार-"पर वास्तव में बात इससे उल्टी थी। कैण्टन में विद्यमान ब्रिटिश व्यापारी अपने को केवल व्यापारी ही नहीं समझते थे, वे चीन में ब्रिटिश प्रभाव को स्थापित करने के लिये भी उत्सुक थे। इसीलिये वे यह कहते थे कि चूंकि उनका सुपरिटेंडेन्ट ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त है, अतः वह यह अधिकार रखता है कि व्यापार-विषयक मामलों पर सम्राट और उसके उच्च अधिकारियों से ब्रिटिश राजदूत के रूप में विचार-विनिमय कर सके। चीन की सरकार ब्रिटिश राजदूत के रूप में विचार-विनिमय कर सके। चीन की सरकार ब्रिटिश सुपरिटेन्डेण्ट की इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थी। ब्रिटेन और चीन में जो विरोध बढ़ रहा था, उसमें यह भी एक प्रधान कारण था।"

(6) कैण्टन में स्थित अंग्रेजों पर चीनी कानून लागू थे- मतभेद का कारण यह भी था कि कैण्टन में रहने वाले अंग्रेज व्यापारी किस के अधीन समझे जायें। 1784 में एक अंग्रेज की बन्दूक से एक चीनी नागरिक की हत्या हो गई थी। चीनी सरकार का कहना था कि उस अंग्रेज को चीनी पुलिस के सुपुर्द किया जाये और चीनी अदालत में उसके अपराध का निर्णय हो। किन्तु अंग्रेजो का कहना था कि वह ब्रिटेन का नागरिक है और ब्रिटिश अदालत में ही इसके अपराध का निर्णय होगा। चीनी नहीं माने और उन्होंने उस अंग्रेज को कैद कर उसे प्राणदण्ड दे दिया। इस घटना से अंग्रेज बहुत असन्तुष्ट और क्रुद्ध हो गये 1793 में मेंकार्टने (Mecartne) के नेतृत्व में ब्रिटिश मिशन ने यह प्रभूत किया कि कैण्टन की अंग्रेज बस्ती में अंग्रेजों को स्वशासन का अधिकार मिल जाये तथा अंग्रेज अभियुक्तों का निर्णय अंग्रेजी अदालत द्वारा ही हो। पर इस प्रयत्न में मेंकार्टने मिशन को सफलता नहीं मिली। 1793 के बाद भी अनेक मामलों में ब्रिटिश अभियुक्तों पर चीनी अदालतों में ही मुकद्दमें चले और उन्हें दण्ड दिया गया। अंग्रेजों को यह स्थिति अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत हुई कि चीनी न्यायाधीश किसी अंग्रेज के मामले का निर्णय करे।

(7) तात्कालिक कारण-अफीम का व्यापार- उपरोक्त सभी कारण संघर्ष का सूत्रपात करने में सहायक बने किन्तु तात्कालिक कारण बन गया अफीम का व्यापार। 1839 में चीन सरकार ने कैण्टन में एक विशेष राज्याधिकारी नियुक्त किया जिसने यह आज्ञा दी कि विदेशी व्यापारी अपनी सारी अफीम सरकार के सुपुर्द कर दें अन्यथा अफीम की पेटिया जब्त कर ली जायेंगी और व्यापारियों को बन्दी बनाकर उन्हें कठोर दण्ड दिया जायेगा। चीनी राज्याधिकारियों ने यह भी कहा कि यूरोपीयन व्यापारियों को आश्वासन भी देना होगा कि भविष्य में वे फिर कभी कैण्टन में अफीम नहीं लायेगें। ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपीयन व्यापारियों नें अपने पास विद्यमान अफीम की पेटियाँ चीनी राज्याधिकारियों को सौंप दी । चीनियों द्वारा इन पेटियों को नमक-चूना मिलाकर नहीं में बहा दिया गया पर विदेशी व्यापारी भविष्य में किसी प्रकार का आश्वासन देने के लिये तैयार नहीं हुए। उनका विचार था कि शक्ति प्रयोग द्वारा वे चीनी सरकार के आदेश की उपेक्षा कर सकते है। चीनी राज्याधिकारी ने, जिसका नाम 'लिन-त्जे-शू' (Lin Tze Shu) था, ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया को भी एक पत्र लिखा जिसमें अफीम के व्यापार को बन्द करने की मांग की। यह सारी स्थिति अंग्रेजों के लिये असह्य हो गई और युद्ध आरम्भ हो गया।

चीन और ब्रिटेन के मध्य प्रथम अफीम युद्ध

1839 से 1842 तक लगभग तीन वर्ष चीन और ब्रिटेन में युद्ध चलता रहा। जब तक युद्ध कैण्टन तक सीमित रहा, चीनी इतनी गंभीरता न समझ सके पर जैसे-जैसे अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती गई चीनी सरकार चिन्तित हुई। ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति का मुकाबला करना चीन के लिये कठिन था अतः प्रशान्त महासागर के तटवर्ती अनेक नगर और द्वीप ब्रिटेन के कब्जे में आ गये। कैण्टन तो ब्रिटिश नौसेना के घेरे में आ ही चुका था। ब्रिटिश सेना ने चिन्कियांग को जीत कर नानकिंग पर भी हमला करने की तैयारी शुरू कर दी। अब मंचू सम्राट ने यही उचित समझा कि ब्रिटेन के साथ समझौता-वार्ता प्रारम्भ की जाये। चीन सैनिक दृष्टि से ब्रिटेन का मुकाबला करने में सक्षम नहीं था। 29 अगस्त, 1842 को चीन और ब्रिटेन में समझौता हो गया जो 'नानकिंग की संधि' (Treaty of Nanking) के नाम से प्रसिद्ध है।

नानकिंग की सन्धि (1842)

इस सन्धि के मुख्य प्रावधान निम्नांकित थे:

1. अंग्रेजों को न केवल कैण्टन में अपितु अमॉय (Amoy), फूचों (Fucho), निगपो (Nigpo) और शंघाई (Shanghai) में भी बसने तथा व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो गया था।
2. हाँगकाँग का द्वीप अंग्रेजों को मिल गया।
3. चीन और ब्रिटेन के राज-कर्मचारियों का परस्पर समानता के आधार पर रहना स्वीकार किया गया।
4. चीन के निर्यात और आयात माल पर किस हिसाब से कर लगाया जाये, इसकी दरें निश्चित कर देने तथा इन दरों को प्रकाशित कर देने का निश्चय किया गया ताकि उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की गुंजाइश न रहे।
5. विदेशी व्यापार का नियंत्रण करने वाले संघ 'को-हांग' को भंग कर दिया गया और अंग्रेज व्यापारियों को चीनी व्यापारियों से सीधे क्रय-विक्रय का अधिकार दे दिया गया।
6. चीन ने क्षतिपूर्ति के लिये दो करोड़ दस लाख डॉलर (लगभग दस करोड़ रूपये) उस अफीम की कीमत थी जो चीन के विशष राज्याधिकारियों ने अंग्रेजों से छीन कर नष्ट कर दी थी। एक करोड़ बीस लाख डालर (लगभग छः करोड रूपये) युद्ध क्षतिपूर्ति के थे। शेष रकम वह थी जो 'को-हांग' के व्यापारियों द्वारा ब्रिटिश व्यापारियों को दी जानी थी।
7. यह व्यवस्था स्वीकार कर ली गई कि मुख्य ब्रिटिश प्रतिनिधि तथा चीनी अधिकारियों के बीच पत्र-व्यवहारों को 'प्रार्थना-पत्र' न कहकर सन्देश पत्र कहा जायेगा।
8. यह मान लिया गया कि अंग्रेजों पर मुकदमें उन्हीं के कानून के अनुसार उन्हीं की अदालत में चलेंगें।
9. यह भी तय हुआ कि जो सुविधायें अन्य विदेशियों को दी जायेगी वे सुविधाएं अंग्रेजों को स्वतः प्राप्त होगी।

नानकिंग सन्धि के परिणाम तथा चीन के यूरोपीय प्रभाव की स्थापना

नानकिंग की सन्धि के परिणाम- नानकिंग सन्धि के महत्वपूर्ण परिणाम निम्नांकित है :

1. अन्य विदेशी शक्तियों (अमेंरिका व फ्रांस) ने भी ब्रिटेन की भांति चीन से संधियां की जिनसे उन्हें चीन में विशेषाधिकार प्राप्त हुए। अमेंरिका और चीन के बीच फरवरी 1844 में 'हवाँघिया' की संधि' (Treaty of Whanghia) हुई तथा अक्टूबर 1844 में फ्रॉस चीन की संधि भी हो गई। इन संधियों से अमेंरिका व फ्रॉस को चीन से ब्रिटेन की भांति सभी सुविधाएं प्राप्त हो गई। इसके बाद नार्वे, स्वीडन, बेल्जियम आदि देशों के साथ भी सधियां हुई। 1845 में चीन ने मकाऊ (Macau) को खुला बन्दरगाह घोषित कर उसे पुर्तगालियों के आधीन स्वायत्तता दे दी। इस प्रकार चीन के द्वार सभी विदेशियों के लिये खुल गये।

2. चीन का विदेशियों द्वारा आर्थिक शोषण होने में नानकिंग की सन्धि ने योग दिया। चीन की एकान्तिकता (Solitude) समाप्त हो गई जिससे विदेशियों की साम्राज्यवादी नीति को प्रोत्साहन मिला।

3. विदेशियों की चीन पर 'दबाव-नीति' (Presasure Policy) अग्रसर हो गई। व्यावसायिक व वैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य लोग चीनियों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए थे। सैनिक दृष्टि से भी वे चीन से अधिक शक्तिशाली थे। अतः विदेशियों ने इस बात का प्रयत्न किया कि वे चीन पर अधिकाधिक दबाव डाले और सभी सुविधाएं चीन में प्राप्त कर लें।

4. नानकिंग की सन्धि द्वारा ही यह संभव हो सका कि 1883 में ब्रिटेन के साथ चीन को 'वोग की संधि' (Treaty of Wog) करनी पड़ी जिसके अनुसार ब्रिटेन ने चीन से अपने लिये सर्वाधिक प्रियदेश का सिद्धांत स्वीकार कर लिया। इससे चीन में ब्रिटेन की स्थिति अधिक सुदृढ हो गई। सन्धि में राज्यक्षेत्रातीत अधिकार (Extra-Territoriality) की भी व्यवस्था की गई थी। ब्रिटेन के बाद अन्य राज्यों ने भी 'एक्स्टरा टैरीटोरियलिटी' के इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त किये। चीन के विशाल प्रदेश पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवादी विस्तार के लिये खुल गए। धर्म प्रचारक दुभाषिये बने और उनका महत्व और बढ़ता गया। इन लोगों ने शब्दकोषों की रचना प्रारम्भ की ताकि आने वाले लोग चीनी भाषा को समझ सकें। चीनी पुस्तकों के अंग्रेजी में अनुवाद और अंग्रेजी पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद शुरू हुए।

5. चीन की सम्प्रभुता नष्ट हो गई। डोवन और लेटीमोर के शब्दों में -चीनी सम्राट का स्वर्गिक साम्राज्य बर्बर जातियों का अड्डा बन गया। यहां पर स्मरण रखना चाहिए कि चीन एक देश के द्वारा विजित अथवा कोई औपनिवेशिक राज्य नहीं था। वस्तुतः यह सभी राज्यों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय राज्य के रूप में था। इन राज्यों के व्यापारिक जहाज बन्दूक वाले नाविकों के साथ चीन आने लगे।

6. हांगकांग (Hong Kong) का भाग ब्रिटेन को समर्पित हो गया और कालान्तर में मकाऊ (Macau) भी पुर्तगालियों को सौंप दिया गया।

7. नानकिंग की सन्धि में उस बात का उल्लेख नहीं किया गया था जो चीनियों की दृष्टि में युद्ध का मुख्य कारण अर्थात् 'अफीम के व्यापार पर प्रतिबन्ध लगे अथवा न लगे'। अंग्रेज मौखिक रूप से चीनियों को यह आश्वासन देते रहे कि वे अफीम का व्यापार नहीं करेंगे किन्तु इस वचन का उन्होंने निर्वाह नहीं किया। चीन भी इन संधियों के होते हुए भी विदेशियों के प्रति अपना व्यवहार पूर्ववत् रखा। यही कारण था कि इतनी स्वतन्त्रता मिलने पर भी विदेशियों को पूरे अधिकार प्राप्त करने में पर्याप्त समय लगा। विदेशियों को चीन के सम्राट से मिलने की आज्ञा न हो सकी। आगे चलकर 1873 में पहली बार काफी प्रयत्नों के बाद, अंग्रेज लोग सम्राट के सम्मुख आ सके पर इससे उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचा जैसी की उनकी इच्छा थी। विदेशी चीन को उसके एकान्त से बाहर निकालने को कटिबद्ध थे। अतः आवश्यक था कि चीन के साथ दौत्य (Diplomatic) सम्बन्ध स्थापित हों। चीन राज्य में तो विदेशी राजदूत आते थे और अभी तक चीन का कोई प्रतिनिधि किसी पाश्चात्य देश में नहीं गया था। 1877 में पहली बार चीनी प्रतिनिधि इंग्लैण्ड गया। इस प्रकार शनैः शनैः काफी प्रयासों के बाद विदेशी प्रभाव चीन पर पूर्णतया स्थापित हो सका।

ताइपिंग विद्रोह- प्रथम अफीम युद्ध में चीन की पराजय के बाद चीन द्वारा ब्रिटेन को करोड़ों रूपये युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देने पड़े जिसके कारण उसे किसानों पर अनेक नये कर लगाने पड़े। इससे चीन में जन विद्रोह 1851 से 1864 तक हुआ जिसे ताइपिंग विद्रोह कहा जाता है क्योकि विद्रोहियों के नेता हुंग हसिए चुआन (Hung Hsie Chuan) ने ताइपिंग में विद्रोही सरकार स्थापित कर उत्तर की ओर से मंचू सम्राट पर हमला किया किंतु विदेशी सेनाओं की सहायता से मंचू सरकार ने 1862 में विद्रोहियों का दमन कर दिया। इससे विदेशियों का चीन में और भी प्रभाव बढ़ गया।

द्वितीय अफीम युद्ध (1856-69)

नानकिंग की सन्धि में कालान्तर में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे जिन्हें विदेशी दूर कराना चाहते थे। अंग्रेज चाहते थे कि इस संधि का पुनरीक्षण (Review) किया जाये और उसे दुहराया जाये किंतु अंग्रेजों के प्रयास सफल नहीं हो रहे थे। अतः अंग्रेजों ने शक्ति के बल पर चीन से समझौता करना चाहा। द्वितीय अफीम युद्ध (1856-69) की पृष्ठभूमि यही थी किंतु अन्य कारण भी इस युद्ध के लिये उत्तरदायी थे जो इस प्रकार है :

द्वितीय अफीम युद्ध के कारण

1. विदेशियों के साम्राज्यवाद का प्रसार- पाश्चात्य शक्तियों का मूल उद्देश्य साम्राज्यवादी प्रसार का था चीन के निकम्में और दुर्बल मंचू शासन ने उन्हें यह साहस प्रदान किया कि वे शक्ति के बल पर अपना अधिकार जमा लें। अंग्रेज

चीन पर यह दबाव डालने लगे कि नानकिंग की संधि के बाद अमेंरिका और फ्रांस के सन्धियां हुई हैं उनमें कुछ सुविधाएं और शर्ते अधिक है। ये अधिक लाभ वाली शर्ते अंग्रेजों के साथ भी तय हो जानी चाहिये। ब्रिटिश उच्चायुक्त लार्ड बोरिंग ने अपनी नई मांगों की लम्बी सूची 1854 में चीन के सामने रख दी फ्रांस और अमेंरिका ने ब्रिटेन को अपना समर्थन दिया। चीन की ओर से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर ब्रिटेन को युद्ध का बहाना मिल गया। यूरोप में होने वाले क्रीमिया युद्ध (Cremian War) समाप्त हुआ। ब्रिटेन ने चीन पर आक्रमण की योजना बना ली।

2. अफीम-व्यापार-युद्ध का एक प्रमुख कारण वस्तुतः अफीम थी जिसके व्यापार को विदेशी छोड़ना नहीं चाहते थे। वे चीनी सरकार द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का उल्लंघन कर भारी मात्रा में चीन में अफीम पहुंचाते थे। 1840 से 1854 के दौरान चीन में अफीम का आयात लगभग 300 प्रतिशत बढ़ गया। 1857 में लंदन के दी टाइम्स (The Timesa) ने लिखा था कि- आजकल चीन के सभी नगरों में अफीम का व्यापार इतना उन्मुक्त और आबाद है जितना गुड फ्राइडे को लंदन की सड़कों पर गर्म-गर्म डबल रोटी का व्यापार हो।" चीनी सरकार अफीम के व्यापार को बन्द करने के लिये प्रयत्नशील थी। क्योंकी इससे चीन का नैतिक तथा अर्थिक हास हो रहा था जबकि विदेशी व्यापार में इसे बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा था। इन दो विरोधी प्रयत्नों ने अंततोगत्वा युद्ध की स्थिति पैदा कर दी। पश्चिमि देश शक्ति के बल पर अपने हितों की रक्षा और विस्तारवाद (Expansionism) के लिये कटिबद्ध थे।

3. चीन व पश्चिमी देशों के मध्य विवाद का क्षेत्राधिकार- डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार का मत है- "कैण्टन आदि बन्दरगाहों में अनेक ऐसे विवादास्पद मामले पेश होते रहते थे, जिन पर चीन और पाश्चात्य लोगों में मतभेद व विवाद सुगम था। कैण्टन के समीप एक जहाज लंगर डाले हुए पड़ा था, जिसका मालिक एक चीनी व्यापारी था पर यह जहाज हांगकांग में रजिस्टर्ड था, और हांगकांग पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकृत किया जाता था। चीन के एक राज्य पदाधिकारी की आज्ञा से इस जहाज के मल्लाहों को गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश लोगों ने दावा किया कि इन मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकने का अधिकार चीन की पुलिस को नहीं है। चीनी पदाधिकारी समझते थे कि क्योंकि जहाज का मालिक चीन का एक नागरिक है, अतः उनको पूरा अधिकार है कि वे उसके मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकें। इस मामलें ने बहुत गंभीर रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की अन्य समस्याएं भी उत्पन्न होती रहती थी; जिनका मूल कारण यह होता था कि कैण्टन आदि बंदरगाहों में पाश्चात्य लोग अपना विशेष अधिकार समझते थे।

4. फ्रांसीसी पादरी आगस्टे चेपर्डलेन की हत्या- 1856 में एक रोमन कैथोलिक पादरी आगस्ट चेपर्डलेन को चीनी पुलिस द्वारा गिरफ्तार कंर लिया गया क्योंकि वह धर्म प्रचार हेतु चीनी क्षेत्र में बहुत दूर तक चला गया था और ऐसे कार्य में लगा हुआ था जिसे चीनी सरकार आपत्तिजनक मानती थी। इस पादरी पर चीनी अदालत में मुकद्दमा चलता गया और उसे प्राणदण्ड दिया गया। यह सूचना जब फ्रांसीसियों को मिली तो वे क्रोधित हो उठे और उन्होनें अंग्रेजों को चीन के विरुद्ध युद्ध में पूरा सहयोग देने का निर्णय कर लिया। इस प्रकार की घटना ने साम्राज्यवादी ब्रिटेन को चीन के विरुद्ध युद्ध का एक बहाना प्रदान किया।

5. लोरचा ऐरो' काण्ड- दूसरी घटना 'लोरचा ऐरो- काण्ड की थी जिसने ब्रिटेन को चीन के विरुद्ध युद्ध का बहाना प्रदान किया। इस काण्ड में कैण्टन में अधिकार-क्षेत्र (Jurisdiction) पर विवाद था। 'लोरचा ऐरो' एक जहाज था जिसका मालिक चीनी था, पर जो हांगकांग में निबन्धित हुआ था, जिस पर अंग्रेजी झण्डा लगा था और उसका कप्तान अंग्रेज था। जब जहाज नदी में लंगर डाले हुए था तो चीनी पुलिस ने जहाज के चालक-मण्डल के बाहर चीनी सदस्यों को पकड लिया। अंग्रेजों ने मांग की कि ये नाविक वापस किये जायें। चीनियों ने पहले तो ये मांग अस्वीकार कर दी, फिर बड़े असन्तोषजनक ढंग से माना। चीनी अधिकारियों ने बन्दियों को तो रिहा कर दिया किंतु इस गैरकानूनी कृत्य के लिये क्षमा याचना नहीं की। विवाद चलता रहा और अन्ततः 29 अक्टूबर 1865 को नगर की दीवार तोड़ कर अंग्रेजों ने युद्ध आरम्भ कर दिया। पादरी की हत्या के कारण फ्रांस तो सहयोग देने के लिये पहले से ही तैयार था।

द्वितीय अफीम युद्ध की घटनाएं

उपरोक्त कारणों से ब्रिटेन के साथ सभी विदेशी शक्तियों ने मिल कर 1856 में युद्ध किया जो 'द्वितीय अफीम युद्ध' कहलाता है। 1856 में ब्रिटिश सेना ने कैण्टन (Canton) पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। फिर ब्रिटिश सेना उत्तर की ओर बढ़ी जिसे

फ्रांसीसी सेना का सहयोग था। ब्रिटिश व फ्रांसीसी सेनाएं तीनत्सिन तक पहुंच गई। इस समय तक अमेंरिका और रूस चीन के विरुद्ध युद्ध से उदासीन थे। अब चीनी सरकार के सामने केवल एक ही मार्ग बचा कि पाश्चात्य देशों की मांग स्वीकार कर ले और इन देशों के साथ जो सन्धियां पहले हुई थी; उन पर पुनर्विचार करे। 1854 से 1858 तक अमेंरिका की नीति मुख्यतः यही रही कि ब्रिटेन के साथ हर शांतिपूर्ण तरीके से सहयोग किया जाये। रूस भी शांतिपूर्ण तरीकों तक सीमित रहा। वास्तव में रूस उत्तर में प्रशान्त महासागर की ओर लगातार बढ़ कर दबाव डाल रहा था और इस दबाव के फलस्वरूप ही 1858 की 'एगुन की संधि' (Treaty of Egun) द्वारा उत्तर की क्षेत्रिय स्थिति में परिवर्तन हुआ। रूस और चीन के मध्य सीमा की नई हदबन्दी का समझौता हुआ जिसके अनुसार आर्गुन और आमूर (Argun & Amur) के मुहाने के उत्तरी क्षेत्र पर रूसी अधिकार स्वीकार कर लिया गया।

तीनत्सिन की संधि

इस प्रकार जब फ्रांस और ब्रिटेन सैन्य बल के साथ उत्तर में तीनत्सिन की ओर बढ़े तो उनके पीछे रूसी और अमेंरिकी समझौता वार्ताकार थे। पश्चिमी राज्य दो भागों में विभक्त थे-ब्रिटेन और फ्रांस सैनिक शक्ति का सहारा ले रहे थे जबकि रूसी और अमेंरिकी प्रतिनिधि पहले से ही शान्ति और मेंत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे।

तीनत्सिन में संधि-वार्ता शुरू हुई पर नई संधियों की अन्तिम स्वीकृति पीकिंग की केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी जा सकती थी। यद्यपि तीनत्सिन में 1850 में संधि की शर्तों के सम्बन्ध में समझौता हो गया था किंतु पीकिंग की सरकार ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। इस स्थिति में ब्रिटेन और फ्रांस ने पुनः चीन के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया।इस बार आक्रमण करते हुए ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाएं पीकिंग (Piking) तक पहुंच गई। चीनी सेनाएं उनका मुकाबला करने में असमर्थ थी। पीकिंग पर ब्रिटिश व फ्रेंच सेनाओं का अधिकार हो गया तथा मंचू सम्राट पीकिंग छोड़कर उत्तर में जेहोल (Jahol) भाग गया। अब चीनी सरकार के समक्ष इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न बचा कि वह विदेशी राज्यों के साथ उनकी इच्छानुसार संधियां कर ले। अतः 1860 में तीनत्सिन की संधि की पुष्टि हो गई जिनकी शर्ते निम्नांकित थीः

1. चीन के 11 नये बन्दरगाह पाश्चात्य देशों के व्यापार और निवास के लिये खोल दिये गये। ये बन्दरगाह उत्तर में न्यूच्वांग (Nyu Chwang in Manchuria) से आरंभ होकर दक्षिण में स्वातों (Swato) तक फैले हुए थे। कैण्टन आदि पाँच बन्दरगाहों में पाश्चात्य देशों को पहले ही व्यापार और निवास के अधिकार प्राप्त थे। अब इस प्रकार के बन्दरगाहों की संख्या 16 हो गई। प्रशान्त महासागर के तट पर स्थित प्रायः सभी महत्वपूर्ण बंदरगाहों में अपनी बस्तियाँ बसाने और स्वतंत्र रूप से व्यापार करने का अधिकार इस संधि द्वारा पाश्चात्य देशों ने प्राप्त कर लिया।
2. पाश्चात्य देशों के जहाजों को यह अनुमति दी गई कि वे याँत्से (Yangtse) नदी में आ-जा सकें।
3. पाश्चात्य देश अपने राजदूत पीकिंग में निवास के लिये भेज सकें। यह भी स्वीकृत किया गया।
4. जिन विदेशियों के पास वैध पासपोर्ट हों, वे चीन में जहाँ चाहे स्वतन्त्रता के साथ आ-जा सकें।
5. ईसाई धर्म प्रचारकों को यह अधिकार हो कि वे चीन में अपने धर्म का प्रचार कर सकें ओर जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर लें, उन्हें अपने नये धर्म के पालन में किसी प्रकार की रुकावट न हो।
6. फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को अधिकार हो कि वे उपरोक्त 16 बन्दरगाहों के अतिरिक्त अन्यत्र भी जहां चाहें जमीन खरीद सकें या किराये पर ले सकें और गिरजाघर व अन्य इमारतें बना सकें।
7. राज्यक्षेत्रातीत (Extra-Territoriality) अधिकार की नीति को और अधिक विशद किया गया और उन नियमों को बहुत स्पष्ट रूप से और विस्तार के साथ बनाया गया जिनके अनुसार पाश्चात्य लोगों को चीन में रहना है।
8. चीन की सरकार युद्ध के लिये ब्रिटेन और फ्रांस की क्षतिपूर्ति की राशि दे, यह व्यवस्था भी की गई।
9. अफीम के व्यापार के लिये पाश्चात्य देशों की अनुमति देना चीनी सरकार ने स्वीकृत किया।

अफीम-युद्धों के पश्चात हुई संधियों से चीन में यूरोपीय प्रभाव की स्थापना

उपरोक्त अफीम युद्धों के बाद संपन्न हुई 1842 में नानकिंग की सन्धि तथा 1860 में तीनत्सिन की संधि द्वारा चीन में यूरोपीय प्रभाव की स्थापना में निम्नांकित योगदान किया गया:

1. 1842 की संधि द्वारा हांगकांग का प्रदेश ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। इसकी स्थिति एक 'क्राउन कालोनी' के समान थी जिसका कोई सम्बन्ध अब चीन से नहीं रहा था। इसके अतंर्गत बसे चीनी लोग राजनीतिक दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन हो गये।

2. कैण्टन आदि 16 नगर, जिन्हें इतिहास में 'संधि के अधीन बन्दरगाह' (Treaty Ports) कहा जाता है, विदेशी राज्यों के प्रभुत्व में थे। राज्य-क्षेत्रातीत अधिकार' (Extra-Territoriality) की पद्धति के कारण इनका शासन विदेशी शक्तियों द्वारा किया जाने लगा।

3. चीन के निर्यात और आयात के माल पर जो टैक्स (कर) पहले चीनी सरकार लेती थी वह अब विदेशी अधिकार में चला गया। इसके लिये एक संगठन 'Imperial Mary Time Customs Service' बनाया गया जिसका पहला 'Inspector General' रार्बट हार्ट (Robert Hart) को नियुक्त किया गया तथा इस संगठन में कार्यरत चीनी कर्मचारी विदेशियों के अधीनस्थ कर्मचारी हो गये। इस प्रकार तटकर का अधिकार प्राप्त कर चीन में विदेशी यूरोपीयन प्रभाव काफी बढ़ गया।

4. चीन का सम्पूर्ण विदेशी व्यापार प्रायः विदेशी लोगों के हाथों में था।

5. चीन के बन्दरगाहों में निवास करने वाले विदेशी लोग चीनियों से स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे तथा उन्हें अपने साम्राज्य के अधीन समझते थें।

इस प्रकार चीन में यूरोपीय प्रभाव एक नये साम्राज्यवाद के रूप में विकसित हुआ जो सैनिक बल पर स्थापित किया गया था।

चीन में 1911 की राज्य क्रान्ति
(The Revolutioin of 1911)

सन् 1911 की राज्य क्रान्ति आधुनिक चीन के इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना थी। चीन की जनता के हृदय में मंचू वंश के प्रति असंतोष और विरोध की भावनायें बहुत अधिक बढ़ गई थीं। चीनी जनता ने अनुभव कर लिया कि देश की बढ़ती हुई समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करना मंचू सरकार के लिये असम्भव था। ताईपिंग विद्रोह, बोक्सर विद्रोह तथा अन्य छोटे- छोटे विद्रोहों से चीनी जनता ने व्यापक असंतोष का प्रदर्शन किया था परन्तु मंचू शासकों ने देश में सुधार करने के स्थान पर जनता की मांगों की उपेक्षा करनी प्रारम्भ कर दीं थीं। इसके साथ ही साथ चीन की दशा भी बहुत शोचनीय हो गई थी। चीनी जनता का जीवन स्तर बहुत गिर गया था और चीन का प्राचीन गौरव तथा सम्मान सब कुछ मिट्टी में मिल गया था। सारा संसार चीन की राजनीतिक और सैनिक दुर्बलता से परिचित हो गया था। सामाजिक कुरीतियों ने चीनी समाज की दशा बड़ी शोचनीय बना दी थी। वास्तव में 'क्लाईड' के मतानुसार- "मंचू राजवंश से चीनी लोकतन्त्र का परिवर्तन काल विभिन्न विद्रोहों और स्वतन्त्रता आन्दोलन का अवसर था।" इन सब परिस्थितियों के कारण ही चीनी जनता ने मंचू शासन के विरुद्ध क्रान्ति का निश्चय कर लिया।

1. क्रान्ति के कारण- सन् 1911 ई. राज्यक्रान्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

(i) जनसंख्या में वृद्धि- चीन में व्याप्त भुखमरी, गरीबी तथा दरिद्रता क्रान्ति के प्रमुख कारण थी, परन्तु इसके साथ ही तत्कालीन चीन की सबसे जटिल समस्या वहां की जनसंख्या थी।

'विनायके' के अनुसार- "चीन में होने वाले प्रत्येक प्रकार के आन्दोलनों में आबादी की समस्या निहित थी और चीनी लोग इस समस्या से बहुत अधिक प्रभावित होते रहते थे।"

(ii) देश में जो खाद्य सामग्री उत्पन्न होती थी, वह जनता के लिए काफी नहीं थी। 1885 में चीन की कुल जनसंख्या 37,70,00,000 थी। सन् 1911 में वह बढ़कर 43,00,00,000 हो गई थी। इस प्रकार 25 वर्ष अन्दर ही चीन की जनसंख्या 6 करोड़ बढ़ गई थी। इस विशाल जनसंख्या के लिए खाद्य सामग्री जुटा पाना तभी सम्भव था जब पैदावार में भी इसी अनुपात में वृद्धि हो परन्तु चीन सरकार ने पहले की अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया था। फलस्वरूप चीन की जनता के लिए जीवन निर्वाह करना बहुत कठिन हो गया था।

इसके साथ ही वर्षा और बाढ़ों के कारण चीन में खेती को बहुत नुक्सान पहुंचता रहता था। सन् 1910-1911 में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ें आई। इनसे न केवल खेती ही नष्ट हुई, अपितु हजारों गांव भी बह गए तथा लाखों स्त्री-पुरुष बेघर-बार होकर इधर-उधर भटकने लगे। अनुमान लगाया जाता है कि लगभग 30 लाख व्यक्तियों ने भूख के कारण तड़प-तड़प कर जान दे दी। अतः जिस देश में जनता की इतनी दुर्दशा हो, तो यह स्वाभाविक है कि उसमें विद्रोह की भावना उत्पन्न होने लगे। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि और सरकार की दुर्बलता के कारण चीनी जनता को क्रान्ति करने के लिए विवश कर दिया।

(iii) प्रवासी चीनी- अपने देश में आबादी की वृद्धि और बाढ़ तथा अकाल के कारण बहुत से चीनी अपनी मातृभूमि को छोडकर अपनी आजीविका के लिये विदेशों में जाकर बस गये थे। सन् 1911 ई. में संयुक्त राज्य अमेंरिका में लगभग 3 लाख चीनी निवास कर रहे थे। सन् 1890 ई. में अमेंरिकन जनता ने चीनियों के प्रति विद्रोह कर दिया था। अतः अब चीनियों का अमेंरिका जाना बन्द हो गया था क्योकिं वहां की सरकार ने चीनियों के खिलाफ अनेक कानून बना दिये थे। इस कारण अब चीनी हवाई द्वीप, फ़िलीपाइन द्वीप समूह, मलय द्वीप समूह, मलय राज्य संघ, कनाडा, तथा सिंगापुर में जाकर निवास करना आरंभ कर रहे थे। इन चीनी प्रवासियों ने विदेशों में रहकर खूब धन कमाया और उन्होंने अपने घर भी काफी धन भेजा जिससे उनके पारिवारिक सदस्य बहुत धनी हो गये। इसके अतिरिक्त इन चीनी प्रवासियों ने अपने देश की दशा में सुधार लाने के उद्देश्य से क्रान्तिकारी संस्थाओं को पर्याप्त धन देना आरम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप चीन में क्रान्तिकारी भावना में भारी विकास हुआ।

(iv) सरकार की आर्थिक नीति- मंचू सरकार की आर्थिक नीति बहुत अधिक दोषपूर्ण थी। युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में भारी धन राशि, ऋणों का ब्याज तथा सुधार आन्दोलन (Reform Movement) ने चीन की अर्थ व्यवस्था को बहुत अधिक अव्यवस्थित कर दिया था। इसके साथ ही चीन के शासक वर्ग ने साम्राज्यवादी शक्तियों को देश में लूट की खुली छूट दे रखी थी। विदेशियों ने न केवल चीन का आर्थिक शोषण ही किया था वरन् उन्होनें देश की सार्वभौमिक सत्ता, अखण्डता तथा स्वतन्त्रता को भी आघात पहुंचाया था। विदेशी शक्तियों ने चीन के प्राकृतिक साधनों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। चीन के जलमार्गो ओर बन्दरगाहों पर विदेशियों के जहाज स्वतन्त्रता पूर्वक अपना झण्डा लगाये घूमा करते थे। इसके अतिरिक्त चीन के अनेक प्रदेशों पर भी विदेशियों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था। यूरोपीय देशों ने अपनी सेनाओं की शक्ति के बल पर चीन के शासकों को अनेक अपमानजनक सन्धियां स्वीकार करने के लिए विवश किया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि चीन की जनता यह अच्छी तरह से समझ गई कि मंचू वंश का अन्त करके ही उनके कष्टों का अन्त हो सकता है। जनता यह भी अनुभव करने लगी कि इन परिस्थितियों में देश की मुक्ति के लिए सुधारों के स्थान पर क्रान्ति की आवश्यकता है। इस प्रकार जनता के इस घोर असंतोष ने क्रान्तिकारियों को विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया।

(v) जनता पर नए करों का भार-सन् 1900 ई. के बाद मंचू सरकार ने चीन की जनता पर सुधार कार्यक्रमों को लागू करने के उद्देश्य से नये कर (New Taxesa) लगाये। भुखमरी, अशान्ति तथा प्राकृतिक प्रकोपों के साथ इन बढ़ते हुए करों ने जनता में मंचू वंश के विरुद्ध असंतोष तथा अशान्ति में वृद्धि कर दी और चीनी जनता क्रान्ति के लिए तैयार हो उठी।

(vi) पश्चिमी विचारधारा- पश्चिमी विचारधारा ने चीनी जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया।

ईसाई मिशन के स्कूलों का योगदान- ईसाई मिशनरियों ने चीन में अनेक स्कूलों की स्थापना की थी। ईसाई मिशन स्कूल प्रतिवर्ष अपने छात्रों को अध्ययन करने के लिए विदेशों में भेजते थे। विदेश जाकर इन छात्रों का परिचय पश्चिमी विचार धारा से हुआ जिससे उनमें नवीन विचारों का उदय हुआ। इन नवीन विचार धारा ने उन्हें अपने देश में क्रान्ति करने के लिए प्रेरित किया।

जापान की अपूर्ण शिक्षा- जापान की कुछ संस्थाओं ने धन कमाने के उद्देश्य से अनेक प्राइवेट स्कूलों की स्थापना की थी। ये स्कूल चीनियों से शुल्क लेकर उनको प्रमाणपत्र तथा डिग्रियां प्रदान करते थे। इस प्रकार अपूर्ण शिक्षा प्राप्त करने वाले चीनी छात्र जापान में स्थित चीन के क्रान्तिकारी दलों में भर्ती होने लगे और उन्होंने देश में वापस आकर क्रान्तिकारी सिद्धातों तथा विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार चीन में क्रान्ति की भूमिका तैयार होने लगी।

(vii) यातायात के साधनों का विकास- पश्चिमी देशों में सम्पर्क में आने के कारण चीन में यातायात के साधनों का काफी विकास हुआ। इसके फलस्वरूप क्रान्तिकारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर अपने विचारों का प्रचार करने की सुविधा प्राप्त हो गई।

(viii) समाचार पत्रों का सहयोग-चीन के समाचार पत्रों ने भी क्रान्ति की आग को भड़काने में काफी सहयोग दिया। अनेक समाचार पत्रों के सम्पादकों (Editor) ने अपने समाचार पत्रों में क्रान्तिकारी विचारों का प्रकाशन करके जनता को क्रान्ति करने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार देश में लोकतन्त्र (Democracy) के पक्ष में जनमत भी तैयार हुआ और जनता क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने के लिए पूरी तरह तैयार हो गयी।

(ix) प्रान्तों का दृष्टि कोण- प्रान्तों का असहयोगी दृष्टिकोण भी सन् 1911 की क्रान्ति का उत्तरदायी कारण बना। चीन सरकार के सुधार कार्यक्रमों के कारण राष्ट्रीय प्रगति तो सम्भव थी, लेकिन यह नीति प्रान्तों के स्वशासन के लिये हानिकारक थी। प्रान्तीय शासक स्वार्थी थे और अपने विशेष अधिकार छोड़ना नहीं चाहते थे। अतः चीन का बहुमत केन्द्रिय सरकार के विपक्ष में हो गया। इन्हीं उद्देश्यों को लेकर सन् 1905 ई. में 'अधिकारों की रक्षा' (Safety of Rights) नामक आन्दोलन शुरु हो गया। देश भर में रिश्वत खोरी और सट्टेबाजी का बोलबाला था। अतः प्रान्तीय जनता ने भी छोटे-छोटे विद्रोहों को करना आरम्भ कर दिया था।

(x) सरकार की रेल नीति-सन् 1911 ई. की चीन की राज्य क्रान्ति का एक अन्य कारण मंचू सरकार की रेल नीति थी। 'ली चेननुंग' (Li Chien Nung) के अनुसार "सन् 1911 की राज्य क्रान्ति का तात्कालिक कारण रेलवे मार्ग के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नीति के परिणामस्वरूप चीन में साम्राज्यवादियों के मध्य प्रतिस्पर्धा और संघर्ष प्रारम्भ हो गया।"

सन् 1910-11 ई. तक की रेल नीति के अन्तरगत रेल मार्गो का निर्माण तथा संचालन प्रान्तीय आधार पर होता था और इन पर व्यय भी प्रान्तीय आय से किया जाता था। इसके बाद चीन की केन्द्रिय सरकार विदेशों से ऋण लेकर पूंजी की व्यवस्था की तथा रेलमार्गों के निर्माण कार्य को अपने अधीन रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के आन्तरिक भागों में भी विदेशी शक्तियों का प्रभाव बढ़ गया। अतः इस प्रश्न को लेकर भारी मतभेद उत्पन्न हो गया। ऋण लेने का घोर विरोध किया गया और केन्द्रीय सरकार की नीति की कड़ी आलोचना की गई। विभिन्न स्थानों पर विद्रोह तथा प्रदर्शन होने लगे। धीरे-धीरे सारे देश में विद्रोह की आग फैल गई और इन विद्रोहियों ने क्रान्ति को सहयोग प्रदान किया।

(xi) सन-यात-सेन के कार्य- चीन में क्रान्ति का वातावरण तैयार हो चुका था। चीनी जनता क्रान्तिकारियों की मंचू विरोधी ललकार को अपने लिए मुक्ति का संदेश समझती थी। इसी समय आधुनिक चीन के जन्मदाता (Father of Modern China) तथा क्रान्ति के अग्रदूत (Fore runner of the Revolution) डा० सन-यात-सेन (Dr. Sun-Yat-Sen) के महत्व को भी जनता समझने लगी थी। इस महान क्रान्तिकारी ने सन् 1905 ई. में चीन में क्रान्ति का बिगुल बजाया था परन्तु राजतन्त्र और प्राचीन परम्पराओं के समर्थकों के कोलाहल में उसकी आवाज देश की साधारण जनता तक न पहुंच सकी थी और वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहा था। इसके साथ ही वह अपने देश को छोड़ कर जापान चला गया था। जापान में उसने तुंग नामक एक क्रान्तिकारी दल की स्थापना की। इसके बाद उसने क्रान्तिकारी सेना का संगठन करने के उद्देश्य से विदेशों की यात्रा की तथा अपने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का देश-विदेश में प्रचार किया।

सन् 1905 ई. के बाद चीन में क्रान्तिकारी आन्दोलन को सफल बनाने के उद्देश्य से अनेक प्रयत्न किये गये। बहुत सी गुप्त (Secret) समितियों की स्थापना की गई और हानको (Hankow) तथा नानकिंग (Nanking) और अन्य स्थानों पर साधारण रूप से क्रान्तिकारियों की भर्ती की गई।

(xii) क्रान्तिकारियों के उद्देश्य- धीरे-धीरे चीन में क्रान्तिकारी सक्रिय होने लगे। सन 1905 में डा. सन-यात-सेन ने ब्रूसेल्ज में घोषणा की कि चीन में क्रान्ति का उद्देश्य राष्ट्रवाद, लोकतन्त्र तथा सामाजिक न्याय प्राप्त करना है। उसने यह

भी घोषणा की कि नये शासन के अन्तर्गत चीन की सम्पूर्ण जनता को सरकार बनाने का अधिकार दिया जायेगा। उसने स्पष्ट रूप से चीन को एक गणतन्त्र बनाने की घोषणा की। इस प्रकार की घोषणाओं ने चीन की जनता को बहुत प्रभावित किया और वह क्रान्ति करने के लिए तैयार हो गई।

(xiii) क्रान्ति का तात्कालिक कारण- इस प्रकार चीन में क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। इसी समय एक घटना ऐसी हुई जिसने देश में क्रान्ति का विस्फोट कर दिया। मंचू सरकार ने केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से यातायात के साधनों का विकास करना प्रारम्भ कर दिया। सारे देश में रेलों तथा सड़कों का निर्माण किया जा रहा था। सन् 1909 ई. में यातायात मंत्री चांग-चो-तुंग की मृत्यु हो जाने से इस कार्य को काफी नुक्सान पहुँचा। वास्तव में यह मंत्री बड़ा प्रभावशाली था। इससे सभी प्रान्त प्रभावित हुए थे। सन् 1911 में शैंग हुसुआ हुसाई (Song-Hsuau-Huai) को यातायात परिषद् (Board of Communication) का चेयरमैन नियुक्त किया गया। उसके केन्द्रीयकरण योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से हेन्को केन्टी (Hanko-Canto) तथा हैनकाऊ-जैचवान (Hankow-Szechuen) रेल मार्ग बनाने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए उसने चार शक्ति बैंकिंग ग्रुप (Four Power Banking Group) से ऋण लेने की योजना बनाई। इससे पहले सुधार योजना तथा मंचूरिया के औद्योगिक विकास के लिए एक करोड़ पौण्ड ऋण लिया जा चुका था। अतः सरकार की इस नीति ने जनता में काफी असंतोष उत्पन्न कर दिया। शेयर बाण्डों (Share Bonds) के सम्बन्ध में भी सरकार की नीति की कड़ी आलोचना की गई। अपने असंतोष को प्रकट करने के लिए जनता ने पूर्ण हड़ताल कर दी। व्यापारियों ने दुकानें बन्द कर दी और छात्रों ने स्कूल में जाना बन्द कर दिया ओर कर्मचारियों ने काम पर जाना छोड़ दिया। जनता ने करों को देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस पर सरकार ने आन्दोलनकारियों को बन्दी बना लिया। सरकार के इस कार्य से जनता बहुत उत्तेजित हो गई ओर सन् 1919 की क्रान्ति का विस्फोट हो गया।

2. क्रान्ति का आरम्भ- जिस समय मंचू सरकार की नीति के विरुद्ध अनेक स्थानों में विद्रोह हो रहे थे, उसी समय 10 अक्टूबर सन् 1911 को हैन्काऊ (Hankow) में एक बम (Bomb) फूट गया। खोज-बीन के बाद पता चला कि जिस मकान में बम फूटा था, वहां चीन के क्रान्तिकारी दल का बहुत बड़ा अड्डा था और वहां बम तथा अन्य हथियार भारी मात्रा में तैयार किये जाते थे। इस विस्फोट से क्रान्ति की आग चारों तरफ फैल गयी क्योकि सरकार ने इस अड्डे से अनेक क्रान्तिकारियों को बन्दी बना लिया कर उन्हें मौत की सजा दे दी थी।

हैन्काऊ (Hankow) की इस घटना से उत्तेजित होकर वू चांग की सेना ने विद्रोह कर दिया। ये विद्रोही सैनिक अपने अधिकारी कर्नल ली युआन हुंग (Li-Yuan-Hung) को बिस्तर पर से उठा ले गये ओर उसके सामने दो प्रस्ताव रखे। युद्ध अथवा क्रान्ति का नेतृत्व। कर्नल ली उस समय क्रान्तिकारी न थे। लेकिन उन्हें बाध्य होकर क्रान्ति का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ा। आगे चलकर ली यूआन हुंग (Li-Yuan-Hung) क्रान्तिकारी चीन के एक प्रमुख नेता बन गये।

3. क्रान्ति का प्रसार-सन् 1911 के अन्तिम सप्ताहों में वू चांग (Wu-Chang) की सेना ने जो विद्रोह प्रारम्भ किया था, वह शीघ्र ही यांगत्सी (Yangtsi) और उसके दक्षिणी प्रदेशों में फैल गया। इन विद्रोहियों के साथ वे सरकारी सेनायें भी मिल गई, जिन्होंने मंचू सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया था। सन् 1911 ई. में विद्रोहियों की हर स्थान पर विजय होती चली गयी। शीघ्र ही यांगत्सी के तीन प्रमुख नगरों हैकाऊ (Haikau), हान्यांग (Han-Yang), और वू चांग (Wu-Chang) पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया और चारों ओर क्रान्ति की आग फैल गई। इस प्रकार धीरे-धीरे मध्य चीन के 15 सबसे धनी प्रान्त क्रान्तिकारियों के हाथ में आ गये। उत्तर में शैन्सी, शान्तुग तथा चिहली में इस क्रान्ति की लहर पहुँच गयी तथा वहां विद्रोह आरम्भ हो गये। शान्तुंग ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इसी समय विद्रोही प्रदेशों में एक क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना का भी प्रयत्न किया गया। शंघाई में एक सैनिक सरकार की स्थापना की गई। इसमें वू तिंग फैंग को विदेश मंत्री नियुक्त किया गया। उसने विदेशों में क्रान्तिकारियों के साथ सहानुभूति प्रकट करने की अपील की।

4. राष्ट्रीय महासभा (National Assembly)- जब चीन के विभिन्न प्रान्तों में विद्रोह की आग भड़क रही थी, उस सयम पेकिंग (Peking) में राष्ट्रीय महा सभा शासन सुधार के लिए नयी-नयी मांगे प्रस्तुत कर रही थी। राष्ट्रीय महासभा देश में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रही थीं ऐसी परिस्थिति में मंचू सेना जैनवान में रेलमार्ग की नीति के विरोधियों के प्रति कठोरता का व्यवहार करने में हिचक रही थी। हैन्काउ में मंचू वंश के प्रति विद्रोह का सामना करने में तो वह पूर्णतया असमर्थ थी। दूसरी ओर यातायात विभाग के मन्त्री को राष्ट्रीय महासभा के विरोध के कारण पद त्याग करने को विवश होना पड़ा। राष्ट्रीय महासभा की मांगें निम्नलिखित थीं-

(i) ऐसे मन्त्री मण्डल का निर्माण किया जाय, जिसमें मंचू राज वंश का कोई व्यक्ति न हो।

(ii) मन्त्रिमण्डल में योग्य तथा ईमानदार व्यक्ति रखें जाये।

(iii) सन् 1898 के सुधारों के समय जिन व्यक्तियों को दण्ड दिया गया था अथवा जो सुधारक देश छोड़ कर चले गये थे, उन्हें क्षमा प्रदान की जाय।

(iv) विधान सभा के परामर्श से देश के लिए नया शासन चित्र तैयार किया जाय।

इस राजनैतिक संकट काल में और योग्य नेतृत्व के अभाव में मंचू सरकार ने विवश होकर 30 अक्टूबर 1911 को एक आदेश जारी करके इन मांगों को स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही कुछ नये सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया जिनके आधार पर सम्राट के अधिकार बहुत सीमित कर दिये गये। इसीलिए 3 नवम्बर 1911 को मंचू सरकार ने संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना का आदेश जारी कर दिया।

राष्ट्रीय महासभा की मांगे स्वीकार करने के बाद पेंकिग की मंचू सरकार ने विभिन्न प्रान्तों में हुये विद्रोह का दमन करने के लिए प्रयास किये। इस समय मंचूवंश की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए एक योग्य और शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता थी जो विद्रोह और अव्यवस्था का दमन करके चीन में शान्ति स्थापित कर सके। इसलिए मंचू सम्राट चू-ने-यूआन शिकाई को पेकिंग बुलाया और उसे शासन की बागडोर देने के लिए आमंत्रित किया। राष्ट्रीय महासभा ने 8 नवम्बर 1911 को यूआन-शिकाई को प्रधानमंत्री नियुक्त किया तथा उसी को स्थल और जल सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी भी बना दिया।

5. युआन शिकाई की नीति-युआन शिकाई अवसर वादी और यथार्थवादी था। वह चीन की प्राचीन परम्पराओं से जकड़ा हुआ नहीं था। वह सैनिक मामलों में कुशल प्रशासक था तथा पश्चिमी विचारधारा में पूर्ण विश्वास रखता था। इसी कारण वह ब्रिटेन की भांति चीन में भी संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना करना चाहता था। यूआन ने अपनी नीति का पालन करते हुए हेन्काऊ में पूरी शक्ति से युद्ध के लिए प्रयत्नशील हो गया। लेकिन क्रान्तिकारियों की मौलिक मांग थी कि राजतन्त्र का अन्त करके चीन में गणतंत्र की स्थापना की जाय।

इस समय यूआन की शाही सेनाए राष्ट्रवादी ली की सेना से श्रेष्ठ थी और राष्ट्रीय सेनायें शंघाई में तैयार थी। लेकिन युआन ने युद्ध करने का आदेश नहीं दिया। अन्त में यूआन और क्रान्तिकारी नेताओं में समझौता हो गया। कर्नल ली यूआन हुंग ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया क्रान्तिकारी लोगों से समझौता करने के लिये शंघाई की सरकार से बातचीन करना अधिक उचित है। यूआन ने तांग शाओं यी को समझौते की शर्ते तय करने के लिए भेजा और शंघाई की सरकार की ओर से डा० वू तिंग फांग को अपना प्रतिनिधि बनाया गया। जिस समय समझौते की शर्ते तय हो रहीं थी क्रान्तिकारी नेताओं ने यह निश्चय किया कि वे परस्पर मिलकर गणतंत्र सरकार का पूरी तरह से संगठन कर लें। कर्नल ली के अनुरोध पर बहुत से नेता नानकिंग में इकट्ठे हो गये। इन नेताओं का चुनाव क्रान्तिकारी सेनाओं और प्रान्तीय विधान सभाओं ने किया।

जब 9 अक्टूबर 1911 में हेन्काऊ घटना हुई, उस समय डा० सन-यात-सेन अमेरिका में थे। वे शीघ्र ही चीन के लिए रवाना हो गये और दो माह बाद 24 दिसम्बर 1911 को चीन पहुंच गये।उनके आगमन से क्रान्तिकारियों में एक नया उत्साह आ गया। 2 जनवरी 1912 के दिन उन्हें नानकिंग नगर में चीनी गणतन्त्र का अस्थाई प्रधान बना दिया गया, किन्तु उनकी सरकार की दशा बड़ी शोचनीय थी। न तो उनके खजानें में धन था और न ही सेना नियंत्रित थी। लेकिन नानकिंग की इस सामयिक गणतन्त्र सरकार के संगठित हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों की शक्ति काफी बढ़ गई थी। डा० सन-यात-सेन ने यह अनुभव किया कि उनके लिए प्रधान के रूप में कार्य करना नितान्त असंभव है। इसके दूसरी ओर समझौते में तांग शाओ यी ने भी इस बात को स्वीकार किया कि मंचू शासन इतना अधिक बिगड़ गया है कि उसमें नव जीवन का संचार करना असम्भव है। मंचू सरकार का कोष [illegible] खाली हो चुका है। विदेशी राज्यों ने भी हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाया था। इसलिए दोनो पक्षों के लिए अब ये सम्भव नहीं रहा था कि युद्ध जारी रखा जाय। इसलिए क्रान्तिकारियों और मंचू सरकार के मध्य समझौता हो गया।

6. गणतन्त्र की स्थापना-डा० सन-यात-सेन ने यूआन शिकाई से बातचीत आरम्भ कर दी। इस समय पेकिंग में यूआन शिकाई ही सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति था। 12 फरवरी सन 1912 के दिन दोनो पक्षों के मध्य एक समझौता हो गया। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं-

(i) मंचू राजवंश का अन्त कर दिया जाय।

(ii) सम्राट (अल्पवयस्क) जीवन भर पदवी धारण कर सकता है और राजप्रसाद में निवास कर सकता है।

(iii) सम्राट को 4 लाख तायल प्रतिवर्ष जीवन पर्यन्त तक दिये जायें।

(iv) गणतन्त्र सरकार की स्थापना की जाय, जिसका प्रधान यूआन शिकाई बनाया जाय।

(v) मंचू वंश की समाधियों की रक्षा का उत्तरदयित्व सरकार पर रहे।

इस प्रकार मंचू वंश के लोगों ने गद्दी त्याग कर अपने गौरव और प्रतिष्ठा को बनाये रखा तथा सरकार की ओर से यह घोषणा की गई कि-

"यूआन शिकाई को हम यह अधिकार देते हैं कि वह सामयिक गणतंत्र सरकार का निर्माण करे और देश में एकता की स्थापना के लिए राष्ट्रीय सेना का सहयोग ले।"

इसके दूसरी ओर डा० सन-यात-सेन ने भी अपनी पूरी सहायता देने का वचन दिया। डा० सन-यात-सेन ने प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया और नानकिंग में इकट्ठे हुए क्रान्तिकारी नेताओं ने यूआन शिकाई को चीनी गणतंत्र का राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया। इस प्रकार पेकिंग-नानकिंग समझौता पूरा हुआ। यद्यपि क्रान्तिकारी यूआन को पसन्द नहीं करते थे, लेकिन उसकी विशाल शक्ति के कारण विवश थे। उत्तरी चीन में उसकी एक विशाल संगठित सेना थी।

डा० सन-यात-सेन को पूरी आशा थी कि युआन शिकाई अपने लम्बे अनुभव और अपनी शक्तिशाली सेना की सहायता से चीनी गणतंत्र का सफलतापूर्वक संचालन कर सकेगा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में सबसे पहले एशिया महाद्वीप में. चीन में ही गणतन्त्र की स्थापना हुई। मंचू वंश का अन्त हो गया और विदेशी शक्तियों ने भी चीन की गणतन्त्र सरकार को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सन 1911 की राज्यक्रान्ति सफल हुई।

6. निष्कर्ष- इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रान्तिकारियों को अन्त में अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। लेकिन इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि इस क्रान्ति के समय विदेशी शक्तियां बिल्कुल तटस्थ रहीं। उसका प्रमुख कारण यह था कि उनके हित यूआन शिकाई के हाथों में सुरक्षित थे।

सन् 1911 की राज्य क्रान्ति की समीक्षा
(Evaluation of Revolution of 1911)

मंचू वंश का अन्त करने के उद्देश्य से चीन में सन 1911 ई. में क्रान्ति हुई। चीन के क्रान्तिकारियों ने मंचू सम्राट को गद्दी त्यागने के लिए विवश कर दिया। इस क्रान्ति की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि क्रान्तिकारियों ने सम्राट के प्रतिनिधि यूआन शिकाई को चीनी गणतन्त्र के राष्ट्रपति के रूप में स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही साथ विदेशी शक्तियां भी इस क्रान्ति काल में पूर्णतया तटस्थ रहीं।

1. क्रान्ति की प्रकृति- पहला प्रश्न यह उठता है कि चीन की सन् 1911 की राज्य क्रान्ति की प्रकृति क्या थी? कुछ इतिहासकारों का विश्वास है कि सन 1911 की राज्य क्रान्ति वास्तविक अर्थ में एक राज्य क्रान्ति थी और इसका आधार मौलिक था क्योंकि क्रान्तिकारियों ने अपनी वास्तविक इच्छा की पूर्ति अब तक नहीं की थी। उन्होंने आर्थिक दुर्बलता के कारण विवश होकर यूआन शिकाई को अपने गणतन्त्र के राष्ट्रपति के रूप में स्वीकार किया था। उनके पास उसके अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता न था जिसके द्वारा वे सम्राट के पास जा सकें और उसके साथ सन्धि की वार्ता कर सकें। इतना ही नहीं बहुत से अन्य अधिकारी और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी क्रान्तिकारियों के साथ मिल गए थे और उनका लक्ष्य भी राजतन्त्र

को समाप्त करना था। लेकिन चीन की जनता अवसरवादी थी और इसलिए धीरे-धीरे यूआन ने एक शक्तिशाली और प्रभावशाली स्थिति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। इस प्रकार अन्त में यूआन चीनी गणतन्त्र का राष्ट्रपति बनने में सफल हो गया। चीन के अधिकारी वर्ग और समाज का प्रतिष्ठित वर्ग ने युआन का समर्थन किया। इस प्रकार सन् 1911 की राज्यक्रान्ति की विजय का फल यह हुआ कि राजसत्ता यूआन के हाथों में चली गई। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि चीन का प्रतिष्ठित वर्ग जिस प्रकार से मंचू शासन के अन्तर्गत शक्तियों का उपभोग करता था, उसी प्रकार से क्रान्तिकारी शासन में भी करता रहा और सन् 1911 की राज्य क्रान्ति असफल रही।

लेकिन क्या राज्यक्रान्ति की वास्तविक प्रकृति यही थी? एक राज्यक्रान्ति का वास्तविक उद्देश्य परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन करना होता है। इस विचार की दृष्टि से सन् 1911 की राज्य क्रान्ति ने अनेक मौलिक परिवर्तन किये थे। चीन का निरंकुश राजतन्त्र गणतन्त्र में परिवर्तित हो गया था। चीन की जनता को एक संविधान प्राप्त हुआ था और देश में जनता की सम्प्रभुता की घोषणा की गई थी। इन सब बातों ने देश के राजनीतिक ढ़ांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया था।

सन् 1911 की राज्यक्रान्ति ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में अपितु सामाजिक क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन किये थे। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि यह राज्यक्रान्ति व्यापारियों की विरोधी थी। इस क्रान्ति ने चीन की कन्फ्यूशियसवादी भावनाओं को गहरा आघात पहुंचाया था। इसने चीनी जनता की पृथकता की भावना और प्राचीन परम्पराओं के प्रति प्रेम की भावना को दूर कर दिया था। इस क्रान्ति का उद्देश्य चीन को सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से एक प्रगतिशील देश बनाना था।

इस प्रकार सन 1911 की राज्यक्रान्ति मूल अर्थों में एक वास्तविक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति ने देश में राष्ट्रीयता की भावना का संचार किया। इस रूप में इसे विदेशी विरोधी क्रान्ति भी कहा जा सकता है। चीन विगत 250 वर्षों से अपमानित और शोषित होता रहा था। चीन के लोगों का संसार के किसी कोने में सम्मान नहीं किया जाता था। विदेशी राष्ट्रों में चीनियों के साथ कुलियों के समान व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार उनका देश और विदेश दोनो ही स्थानो पर अनादर होता था। आर्थिक क्षेत्र में तो चीनियों का शोषण बुरी तरह किया जाता था। इस प्रकार चीन में राष्ट्रीयता नाम की कोई चीज न थी। इन सब कारणों से ही चीन में राज्य क्रान्ति हुई जिसने चीनी जनता में राष्ट्रीयता का जागरण किया। प्रत्येक देश में जो शोषित होता है, सुधारक और क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर सफलता प्राप्त करते है। इस दृष्टि से चीन राज्यक्रान्ति को आधारभूत और मौलिक कहा जा सकता है।

क्रान्तिकारियों के कार्यो की समीक्षा करते हुए यह कहना गलत होगा कि सन 1911 की राज्य क्रान्ति ने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किये। यह भी कहना गलत होगा कि यह एक क्रान्ति इसलिये नहीं थी क्यांकि यह चीन के प्रतिष्ठित वर्ग ने परिस्थितियों का लाभ अवश्य उठाया। लेकिन यह क्रान्ति जनसाधारण से पूरी तरह प्रभावित थी। दूसरे शब्दों में यह क्रान्ति जनसाधारण की ही क्रान्ति थी।

2. क्रान्ति की दुर्बलतायें- इतना होने पर सन् 1911 की राज्यक्रान्ति पूर्ण रूप से सफल नहीं हुई थी। इसकी अपनी कुछ दुर्बलताए थीं। इस राज्यक्रान्ति की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि क्रान्तिकारियों ने साम्राज्यवादियों अथवा राजतन्त्रवादियों की इच्छानुसार ही कार्य किया। कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गई जिनके कारण अधिक समय तक क्रान्तिकारी संघर्ष को जारी रखने में असमर्थ हो गये। क्रान्तिकारी आर्थिक दृष्टि से बहुत दुर्बल थे। इसी कारण उन्हें यूआन को अपनी इच्छा के विरुद्ध राष्ट्रपति के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार जो व्यक्ति इस क्रान्ति के लिए उत्तरदायी था, उसी को नये गणतन्त्र का प्रधान बनाया गया। यह क्रान्ति की एक बड़ी दुर्बलता थी कि गंणतन्त्रवादी आर्थिक दृष्टि से बहुत निर्धन थे। इसीलिए गणतन्त्र की स्थापना के बाद उन्हें भीषण आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। इसके साथ ही साथ देश की आर्थिक दशा बहुत खराब थी और क्रान्तिकारी देश की आर्थिक दशा में सुधार करने का कोई सफल उपाय न कर सके। क्रान्ति की एक बड़ी दुर्बलता यह भी थी कि इसके नेताओं को प्रशासन का कोई अनुभव न था। फलतः जब उन्हें राजसत्ता ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ तो वे शासन का सफलता पूर्वक संचालन करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार चीन के नये गणतन्त्र के अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा।

3. क्रान्ति का मूल्यांकन- इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सन 1911 की राज्यक्रान्ति राजनीतिक और वास्तविक थी। इसने देश को राजनीतिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक दृष्टि से बहुत मजबूत कर दिया। इसने देश को बलपूर्वक प्राचीन

परम्परायें त्यागने और आधुनिक विचारों को अपनाने के लिए विवश किया। इसने चीनी जनता को इस बात के लिये तैयार कर दिया कि उसके लिए विश्व लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करना अनिवार्य है।

इस क्रान्ति की एक विशेषता यह थी कि यह शान्तिपूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति थी। क्रान्तिकारियों और राजसत्तावादियों के मध्य कोई संर्घष नहीं था। क्रान्तिकारियों ने बड़ी सरलता के साथ मंचू सम्राट को गद्दी त्यागने के लिए विवश कर दिया था।

4. निष्कर्ष- सारांश में यह कहा जा सकता है कि सन 1911 की चीन की राज्य क्रान्ति आधारभूत और मौलिक थी। यह एक वास्तविक अर्थ में राज्य क्रान्ति थी। लेकिन इस क्रान्ति ने कोई महत्वपूर्ण फल प्राप्त नहीं किये थे क्योंकि आगे चलकर चीनी गणतन्त्र को अनेक गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

चीन में साम्यवाद का उदय

डा० सन-यात-सेन के प्रयासों से चीन में 1911 ई. में राज्य क्रान्ति सम्पन्न हुई थी। किन्तु उनके पद त्याग के पश्चात युआन-शिकाई ने स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने का प्रयास किया। डा० सन-यात-सेन ने अपने तीन सिद्धान्तों-राष्ट्रीयता, जनतंत्र और 'समाजवाद' के आधार पर चीन का निर्माण करने का प्रयास किया था। किन्तु 12 मार्च, 1925 को उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के दो महत्वपूर्ण किन्तु परस्पर विरोधी परिणाम हुए। प्रथम डा० सन-यात-सेन रातों-रात राष्ट्रीय चीन व कुओमिंगतागं दल के जननायक बन गये, उनका वसीयतनामा दल के लिए पवित्र सिद्धान्त बन गया और 'जनता के तीन सिद्धान्त' राष्ट्रवादियों का धर्म ग्रन्थ हो गया।

किन्तु इन सब के बावजूद दूसरा परिणाम भी प्रकट हुआ, वह यह था कि उनकी मृत्यु से दल के नेतृत्व के लिये सैद्धान्तिक मतभेद आरम्भ हो गये। इन सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण डा० सन-यात-सेन द्वारा अपनी बातों को सामान्य या आम ढंग से कहना था, जिससे उन्हें लागू करने में व्याख्या भेद की गुंजाइश रह जाती थी। इस मतभेद में दल का वामपक्ष आधेक सुविधाजनक स्थिति में था और इसे साम्यवादी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था और दल के केन्द्रिय संगठन पर इसका नियन्त्रण था। क्वांगतुक के कुलीनों व केण्टन के व्यापारियों के विरुद्ध सघंर्ष में विजयी होने के कारण केण्टन पर इनका कब्जा था। दल के भीतर के संघर्ष की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि रूस के साथ किस तरह के सम्बन्ध रखे जायें? डा० सन-यात-सेन ने 1924 ई. में कोदो में दिये अपने अन्तिम सार्वजनिक भाषण में कहा था कि-"विश्व के सभी अविकसित देशों के दलित लोगों को रूस की मिशाल पर चलने की जरूरत है।" किन्तु चीन में जब साम्यवादी प्रचार आरम्भ हुआ तो वहां फूट, संघर्ष और प्रतिक्रिया के दर्शन होने लगे। रूस की सहायता से यद्यपि कुओमिंगतांग दल ने चीन में भारी सफलताएं प्राप्त की थी किन्तु साथ ही वहां आतंकवाद और प्रतिआतंकवाद का दौर आया जिसके कारण चीन की सहानुभूती साम्यवाद से हटने लगी।

दल विभाजन- जब रूस ने स्पष्ट रूप से चीन में साम्यवादी और बोल्शेविक कार्यक्रम चलाने का प्रयास किया तो कुओमिंगतांग दल के नेता रूस के विरुद्ध हो गए। अब चीन के लोग ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमि शक्तियों का सहारा लेने लगे। इसके कुओमिंगतांग दल में विभाजन होने लगा। नवम्बर 1925 में कुओमिंगतांग दल के व्यापारी तथा जमींदार वर्ग के लोगों ने पीकिंग की पश्चिमी पहाड़ियों में एक बैठक की और रूसी सलाहकारों और साम्यवादी सदस्यों को दल से अलग कर दिया। फिर भी 1927 ई. तक किसी तरह कुओमिंगतांग और साम्यवादियों में सहयोग रहा किन्तु जब साम्यवादियों ने हैंकाउ सरकार तथा उसके द्वारा कुओमिंगतांग पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया तो च्यांगकाईशेक ने साम्यवादियों को कुओमिंगतांग दल से निष्काषित कर दिया। जब कम्युनिस्ट लोग कुओमिंगतांग दल से अलग हो गये, तो उन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। 1931 ई. में उनकी शक्ति का प्रधान केन्द्र कियांग्सी था। यह प्रान्त क्वाग्तुंग प्रान्त के उत्तर में स्थित है। इसमें कम्युनिस्ट लोगों ने अपनी सरकार स्थापित कर ली। धीरे-धीरे फ्रूकिएन, हुनान व आन्हुई प्रान्तों के अनेक भागों में भी इनकी शक्ति स्थापित थी। कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार नानकिंग की कुओमिंगतांग सरकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करती थी। इस समय वहां च्यागंकाई शेक शक्ति में था। 1932 ई. में चीन की इस कम्युनिस्ट सरकार के अधीनस्थ प्रदेशों का क्षेत्रफल, 3,30,000 वर्ग मील के लगभग था और उनमें निवास करने वाले लोगों की संख्या 9 करोड़ थी इससे चीन में कम्युनिस्ट शक्ति को जाना जा सकता है।

रूस का विरोध- 'च्यांगकाईशेक' के अधीन नानकिंग सरकार कम्युनिस्ट विरोधी थी। चीन की राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक समझता था कि कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध द्वारा परास्त कर उसे अधीनता में लाया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1933 ई. में महासेनापति च्यांगकाईशेक ने चार बार कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार पर आक्रमण किये किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली। इस समय कम्युनिस्ट लोग निरन्तर अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास कर रहे थे। च्यांगकाईशेक की सरकार ने 1934 ई. में अपनी सम्पूर्ण शक्ति कम्युनिस्ट लोगों के दमन में लगा दी। अब कम्युनिस्ट लोगों के लिये यह सम्भव नहीं रह गया कि वे नानकिंग सरकार की शक्ति का मुकाबला कर सकें। 1934 ई. में लाखों की संख्या में कम्युनिस्ट लोगों को मौत के घाट उतारा गया। सैन्य शक्ति के अतिरिक्त च्वांग काई शेक ने फासिस्ट ढंग पर नीलीकुर्ती (ब्लू शर्ट) नाम से एक आतंकवादी दल का गठन किया। जिसका उद्देश्य कुओमिंगतांग दल के विरोधियों का विनाश करना था, साथ ही कुओमिंगतांग सरकार ने सेना में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि च्यांगकाईशेक की सरकार कम्युनिस्टों (साम्यवादियो) को देश का शत्रु समझने लगी। इसके अतिरिक्त जिन प्रदेशों को नानकिंग सरकार साम्यवादियों से विजय करती जाती थी, उनके पुराने जमींदारों व पूंजीपतियों को संगठित किया जाता था, ताकि वे कुओमिंगतांग दल की सहायता कर सके। चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया गया जिसे नवजीवन आन्दोनल कहा जाता था। इस आन्दोलन का उद्देश्य था कि चीन के प्राचीन आदर्शों के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न करना जिससे लोग मार्क्स की अपेक्षा कन्फ्यूशियस की ओर अधिक आकृष्ट हो।

साम्यवादियों द्वारा स्थान परिवर्तन : लाल सेना का महान अभियान- च्यांगकाईशेक जिस ढंग से साम्यवादियों पर अत्याचार कर रहा था उससे अब यह संभव नहीं था कि वे कियांग्सी प्रान्त व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपने प्रभाव को स्थापित रख सकें। इसी बीच 1931 ई. में चीन पर जापान का आक्रमण हो गया, जो एक लम्बे युद्ध का प्रारम्भ था। च्वांगकाईशेक ने इस समय जापानी खतरे से बड़ा साम्यवादी खतरा समझा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति साम्यवादियों के दमन में लगा दी। अतः साम्यवादियो ने यही उचित समझा कि वे च्यांगकाईशेक की सेनाओं का मुकाबला करने की अपेक्षा उत्तर की ओर शेन्सी प्रान्त की ओर प्रस्थान कर दें और वहां जाकर अपनी शक्ति का पुनर्गठन करे। कियांग्सी से शेन्सी तक का महान् अभियान इतिहास प्रसिद्ध अभियान कहलाता है, जो 1934 ई. में आरम्भ हुआ और 1935 ई० में पूरे एक वर्ष बाद समाप्त हुआ। विश्व इतिहास के आधुनिक चरण में यह अभियान रोमाचंकारी था। इस पूरे यात्रा काल में केवल 100 दिन इस सेना ने विश्राम किया। शेष समय संघर्ष करते हुए व चलते हुए व्यतीत किये गये। अभियान आरम्भ होने के समय 90 हजार व्यक्ति थे, जो येनान पहुंचने तक 20 हजार ही रह गये। लगभग 6 हजार मील की यात्रा करके 1936 ई. में साम्यवादी लोग शेन्सी पहुंचे और वहां येयान नगर को राजधानी बनाकर उन्होंने अपनी सरकार का पुनर्गठन किया। शेन्सी का उत्तरी भाग और कान्सू प्रान्त का उत्तर-पूर्वी भाग उनके अधिकार में था। अपने इस राज्य में साम्यवादियों ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की और च्यांगकाईशेक की कुओमिंगतांग सरकार से संघर्ष की तैयारी आरंभ कर दी।

साम्यवादियों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिकृत उत्तरी चीन के निकट था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि साम्यवादियों का ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आकृष्ट हो। वे यह महसूस करते थे कि चीनी लोगों को आपसी मतभेदों को भुलाकर परस्पर मिलकर जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला करना चाहिये। 1936 ई० में साम्यवादी सरकार ने अपने उद्देश्यों को इस प्रकार प्रकट किया- (1) विदेशी आक्रमणकारी का मिलकर मुकाबला करना, (2) जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना और (3) देश की आर्थिक उन्नति करना। साम्यवादियों के इन उद्देश्यों के कारण चीन की जनता का बहुमत उनके साथ हो गया। इससे साम्यवादियों को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिला।

चीन में गृह-युद्ध की स्थिति- किंतु च्यांगकाईशेक साम्यवादियों के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहता था। वह शेन्सी प्रान्त में भी उन्हें परास्त कर सम्पूर्ण चीन पर कुओमिंगतांग दल का शासन स्थापित करना चाहता था। उसने क्वांगतुंग तथा क्वांर्गसू को साम्यवादियों के स्थानान्तरण के बाद अपने प्रभुत्व में ले लिया था । च्यांगकाईशेक का विचार था कि जापान से मुकाबला करने के लिये यह आवश्यक था कि पहले साम्यवादियों को परास्त किया जाय ताकि चीन की राष्ट्रीय एकता पूर्ण हो सके। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने अपनी सेनाएं साम्यवादियों से संघर्ष हेतु भेजी। इन सेनाओं का प्रधान चांगहसूएहलिआंग था। साम्यवादी अपने चीनी भाईयों से नहीं लड़ना चाहते थे। उन्होंनें च्यांगकाईशेक द्वारा भेजी सेनाओं को युद्ध न करने के लिये तैयार कर लिया। जब यह बात च्यांगकाईशेक तक पहुंची तो वह स्वयं शेन्सी

प्रान्त की ओर बढ़ा। उसके इस रुख को देखकर चांगहसुएहलिआंग ने साहस दिखाकर च्यांगकाईशेक को गिरफ्तार कर लिया और च्यांगकाईशेक को अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए कुछ मांगें रखी जिनमें - चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना; साम्यवादियों को इस बात के लिये तैयार किया जाये कि आपसी लड़ाई को समाप्त कर जापान के विरुद्ध शीघ्र युद्ध आरम्भ किया जाय आदि थी। पर च्यांगकाईशेक किसी भी प्रकार से इन शर्तो को मानने के लिए तैयार नहीं था। उसकी गिरफ्तारी के तेरह दिन बाद उसे रिहा किया गया तो साम्यवादियों और नानकिंग सरकार के बीच युद्ध बन्द हो गया। इस समय चीन का लोकमत गृहयुद्ध को बन्द कर जापान के विरुद्ध संघर्ष को शुरू करने के पक्ष में था। च्यांगकाईशेक के लिए यह संभव नहीं था कि वह लोकमत की उपेक्षा करे। अतः उसने साम्यवादियों के साथ बात-चीत आरम्भ की।

कुओमिंगतांग और साम्यवादी दल में समझौता : सह-आस्तित्व का प्रयास- च्यांगकाईशेक साम्यवादियों की इस बात से सहमत था कि चीन के विविध दलों को आपसी मतभेदों को भुलाकर जापान के प्रभुत्व को नष्ट करने के लिए सम्मिलित प्रयास करने चाहिये। उसने अब महसूस किया कि साम्यवादियों के साथ समझौता करने में ही चीन को लाभ है। अतः दोनों पक्षों के बीच 1937 ई० में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार- (1) उत्तर-पश्चिमी चीन के जिन प्रदेशों (शेन्सी और कांगसू) पर साम्यवादियों का अधिकार हैं, वहां उनका शासन स्थापित रहेगा, (2) इन प्रदेशों में साम्यवादियों का अपना स्वतन्त्र व पृथक् राज्य रहेगा, जो चीन के अन्तर्गत रहता हुआ भी शासन की दृष्टि से साम्यवादियों के अधीन होगा, (3) साम्यवादी सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग मान लिया गया और साम्यवादी सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए महासेनापति च्यांगकाईशेक के आदेशों का पालन करेंगे।

चीन के आधुनिक इतिहास में कुओमिंगतांग और साम्यवादियों का यह समझौता अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है इस प्रकार 1937 ई. में चीन-जापान युद्ध आरम्भ होने के समय चीन में दो पृथक-पृथक सरकारे विद्यमान थी। दोनों की अपनी-अपनी पृथक सेनाये थी और दोनो अपने-अपने क्षेत्रों में अपने विचारों के अनुसार शासन और सामाजिक व्यवस्था के विकास में तत्पर थी।

1937 ई. में चीन-जापान युद्ध हुआ, उसमें चीन जापान द्वारा पराजित हुआ। उत्तरी चीन के कुछ प्रदेश जापान के अधीन चले गये। यहां जापान के प्रभुत्व में एक चीनी सरकार का गठन किया गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध और चीन- जब द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो चीन में तीन तरह की सरकारें थीं-मंचूरिया में एक स्वतन्त्र पृथक राज्य था, जिसे मंचूकाओं कहा जाता था। यह राज्य जापान के प्रभाव में था और नानकिंग को राजधानी बना कर वहां एक स्वतंत्र चीनी सरकार की स्थापना हो चुकी थी। दूसरी चीनी सरकार महासेनापति च्यांगकाईशेक के नेतृत्व में 'राष्ट्रीय सरकार' कहलाती थी, उसकी राजधानी चुंगकिंग थी। तीसरी सरकार साम्यवादियों की थी जो उत्तर -पश्चिम चीन में स्थित थी, इसकी राजधानी येयान थी। इसका नेतृत्व माओंत्से तुंग कर रहे थे। साम्यवादी सरकार चुंगकिंग की सरकार की अधीनता में रहते हुए जापान के विरुद्ध युद्ध में सहयोग देने को तैयार थी पर च्यांगकाईशेक जापान के विरुद्ध संघर्ष की अपेक्षा चीन की आन्तरिक राजनीति को अधिक महत्व देता था। चीन के सम्पूर्ण समुद्रतट पर जापान का अधिकार हो जाने के कारण च्यांगकाईशेक की सरकार का अन्य देशों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया था। अतः अमेंरिका और ब्रिटेन उसे वायुयान द्वारा सहायता पहुंचाने का प्रयास किया। ये देश यह नहीं चाहते थे कि जापान या रूस का प्रभाव चीन में बढ़े। हिमालय की उच्च पर्वतमाला को पार कर अमेंरिका व ब्रिटेन के हवाई जहाज भारत से चुंगकिंग जाने लगे। जनवरी 1944 में 13,399 टन युद्ध सामग्री भारत से चीन पहुंचाई गयी। हवाई जहाजों द्वारा इतनी अधिक युद्ध सामग्री प्रतिमाह पहुंचाना इस बात का प्रमाण है कि अमेंरिका और ब्रिटेन च्यांगकाईशेक की सरकार को कितना अधिक महत्व देते थे।

इस विकट स्थिति में भी येयान की साम्यवादी सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील थी कि जापान के विरुद्ध लड़ाई में चुंगकिंग सरकार के साथ सहयोग करे। किन्तु च्यांगकाईशेक और कुओमिंगतांग दल के सदस्य साम्यवादियों के साथ सहयोग की अपेक्षा उनके विरुद्ध संघर्ष को अधिक महत्व देते थे। यही कारण था कि चुंगकिंग तथा येयान की सरकारो में सहयोग निरन्तर कम होता जा रहा था और च्यांगकाईशेक की सेनाएं जापान के विरुद्ध लड़ाई में न लगकर साम्यवादियों के विरुद्ध युद्ध करने में अपनी शक्ति का उपयोग करने में लगी हुई थी। जिस सयम ब्रिटेन और अमेंरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विरुद्ध युद्ध करने में संलग्न थे।

समझौते के प्रयास-अमेंरिका और ब्रिटेन ने चुगंकिंग सरकार को अपने पक्ष में करने के लिए 11 जनवरी, 1943 को च्यांगकाईशेक के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार एकस्ट्रा-टेरिटोरिएलिटी की पद्धति का चीन में अन्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त इन दोनों देशों को चीन में जो अन्य अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे उन्हें भी समाप्त कर दिया गया।

साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि चीन राजनैतिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों के समकक्ष है और संसार का एक प्रमुख शक्तिशाली राज्य है। इसीलिए जब बाद में संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन किया गया, तो उसकी सुरक्षा परिषद में चीन को भी स्थाई रूप से सदस्यता प्रदान की गई थी। मित्र राज्य इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे कि च्यांगकाईशेक सरकार जापान के विरुद्ध युद्ध जारी रखे और किसी भी प्रकार उसके साथ समझौता नहीं करे। अमेंरिका की ओर से जो सेनाऐं चीन में विद्यमान थी वे चाहती थीं कि चीन की राष्ट्रीय सेनाएं येयान की साम्यवादी सरकार भी जापान के विरुद्ध च्यांगकाईशेक की सरकार की मदद करे। अमेंरिका के प्रधान अधिकारी जनरल स्टिलवल ओर उसके बाद अमेंरिकी राजदूत श्री हर्ले ने बहुत प्रयास किया कि चीन की च्यांगकाईशेक की सेनाओं तथा साम्यवादी सेनाओं में समझौता हो जाये किन्तु अमेंरिका के ये समझौता प्रयास असफल रहे।

इसी बीच अगस्त, 1945 में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और महायुद्ध का अन्त हो गया। किन्तु महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही चीन की समस्याओं का अन्त नहीं हुआ। जापान की पराजय के कारण नानकिंग की उस सरकार का स्वयवेम अन्त हो गया, जो वागचिगं वेई के नेतृत्व में स्थापित की गई थी। महायुद्ध की समाप्ति के बाद यह समस्या उत्पन्न हुई कि नानकिंग सरकार द्वारा अधिकृत प्रदेशों पर अब किसका आधिपत्य स्थापित हो - चुंगकिंग की कुओमिंगतांग सरकार का या येयान की साम्यवादी सरकार का।

लोकतन्त्र की स्थापना के प्रयास- दिसम्बर, 1945 में अमेंरिका के राष्ट्रपति ट्रूमेंन ने जरनल मार्शल को विशेष रूप से चीन इसी उद्देश्य से भेजा था कि वह चीन के दोनों प्रमुख दलों में समझौता कराये। उन्हें यह भी कार्य सौंपा गया कि वे चीन के दोनों दलों को लोकतन्त्र की स्थापना के लिए तैयार करें। जनरल मार्शल 10 जनवरी, 1946 को एक संधि कराने में सफल हुए, जिसमें यह तय किया गया कि दोनो पक्षों की सेनाएं आपसी संघर्ष समाप्त कर दे और चीन का जो प्रदेश जिस सेना के अधिकार में है, वह उसी सेना के अधिकार में रहेगा। साम्यवादियों ने संचार साधनों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया और मंचूरिया पर सरकार द्वारा पुनः कब्जा करने का अधिकार स्वीकार किया। इस प्रकार अमेंरिका के प्रयत्न से चीन का गृहयुद्ध कुछ समय के लिए स्थगित हो गया।

किन्तु 10 जनवरी, 1946 के समझौते से चीन की वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ था। चीन में स्थायी शान्ति के लिए यह आवश्यक था कि वहां ऐसी सरकार स्थापित हो, जो लोकतंत्रवाद के सिद्धान्तों पर आधारित हो, राजनीतिक दलों की सेनाओं के स्थान पर एक राष्ट्रीय सेना का पुनर्गठन किया जाय जिसका किसी भी दल से कोई सम्बन्ध न हो किन्तु इन बातों को क्रियान्वित करना असम्भव था। 7 जनवरी, 1947 को जनरल मार्शल ने अमेंरिका लौटने पर एक वक्तव्य में कहा था- " शान्ति स्थापना में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही कि कुआमिंगतांग और चीनी साम्यवादी दल एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक सन्देह करते हैं।"

साम्यवादियों द्वारा सैनिक सत्तारोहण-अमेंरिका के अथक प्रयासों के बावजूद भी कुओमिंगतांग और साम्यवादियों के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। किन्तु जापान के आत्मसमपर्ण करते ही जब उत्तरी और पूर्वी चीन पर पुनः अधिकार का प्रश्न उत्पन्न हुआ तो चुगंकिगं और येयान सरकारों के पारस्परिक विरोध ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। कुछ ही समय बाद दोनों दलों की सेनाओं में गृह-युद्ध आरम्भ हो गया और इस गृह-युद्ध में साम्यवादियों को सफलता प्राप्त हुई।

साम्यवादियों की सफलता के कारण- चीन में साम्यवादियों की इस सफलता के कई कारण थे-

1. साम्यवादियों द्वारा देश की रक्षा की भावना और उनके द्वारा जापान के विस्तार को रोकने का प्रयास करना उनकी सफलता का मुख्य कारण था। जबकि च्यांगकाईशेक ने सदैव अपनी शक्ति को आन्तरिक शत्रु के दमन में पहले खर्च किया और जापानी विस्तार को गौण समझा। चीन की जनता इस कारण च्यांगकाईशेक से असंतुष्ट होती जा रही थी।

2. साम्यवादी प्रभाव क्षेत्र में जो विकास की तीव्र गति थी उसने भी जनता को साम्यवाद की ओर प्रेरित किया, जबकि च्यांगकाईशेक की सरकार के अधिकार क्षेत्र में आर्थिक समस्यायें विकराल रूप से खड़ी थी।

3. साम्यवादियों के सिद्धान्त जनता की आवाज सुनना व निम्न वर्ग से सहानुभूति रखना, जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करने को काफी थे, जबकि कुओमिंगतांग दल वैयक्तिक व पूंजीवादी उन्नति में मग्न थे।

4. साम्यवादियों की स्थिति ऐसी थी कि उन्हें निरन्तर रूस की सहायता मिलती रही थी और उनकी शक्ति का विस्तार हुआ था। जबकि चुंगकिंग की सरकार असहाय स्थिति में थी। पश्चिमी राष्ट्रों की सहानुभूति के बावजूद भी उनकी सहायता के सभी मार्ग बन्द थे, अतः उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा था।

द्वितीय विश्व युद्ध में रूस ने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया था और जर्मनी की शक्ति को परास्त करने में उसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसी कारण उसने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी। अप्रैल, 1941 में जापान और रूस के बीच एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार दोनों देशों ने तटस्थ रहना स्वीकार किया। यह सन्धि पांच वर्ष के लिए की गई थी। इस सन्धि से पूर्व फरवरी, 1941 में मित्र राष्ट्रों के प्रमुख नेताओं का एक सम्मेलन याल्टा नामक स्थान पर हुआ। इस सम्मेलन में रूस ने यह स्वीकार किया कि जब जर्मनी युद्ध में परास्त हो जायेगा तो उसके दो या तीन माह बाद रूस जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेगा ताकि जापान को परास्त करने में वे भी उसकी सहायता कर सकें। याल्टा सम्मेलन में ही ब्रिटेन और अमेरिका ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने यह स्वीकार किया था कि जापान की पराजय के बाद पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में नयी व्यवस्था करते हुए रूस की निम्नलिखित बातों को स्वीकार किया जायेगा-

1. मंगोलिया पीपुल्स रिपब्लिक को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जायेगा।

2. 1904-05 ई. में रूस-जापान युद्ध के कारण रूस से जो प्रदेश जापान को मिले थे, वे पुनः रूस को सौंप दिये जायेंगे।

3. सखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग और उसके समीपवर्ती द्वीप पुनः रूस को प्राप्त होगे।

4. पोर्ट आर्थर रूस को पट्टे पर दे दिया जाये ताकि वहां रूस अपनी जल-शक्ति का केन्द्र बना सके।

5. मंचूरिया पर चीनी सरकार का अधिकार हो, पर उसकी दो प्रमुख रेलवे लाइनों का संचालन एक ऐसी कम्पनी द्वारा किया जाय, जिस पर चीन और रूस दोनों का सम्मिलित आधिपत्य हो।

जापान की पराजय के पश्चात् चीन की स्थिति- याल्टा सम्मेलन में इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ उपर्युक्त समझौता करके रूस ने यह तय कर लिया था कि जर्मनी की पराजय के कुछ माह बाद वह भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा। 7 मई, 1945 को जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया और उसके ठीक तीन माह बाद 8 अगस्त, 1945 को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस की सेनाओं ने उत्तर की ओर से मंचूरिया में प्रवेश किय। कुछ ही समय बाद 15 अगस्त 1945 को जापान ने बिना शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। अब रूस को और अधिक युद्ध करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जापान के साथ संधि 2 सितम्बर 1945 को की गयी। इस बीच के तीन सप्ताह तक रूसी सेनाएं जापान द्वारा अधिकृत प्रदेशों में निरन्तर आगे बढ़ती गईं।

यद्यपि जापान युद्ध में परास्त हो गया था, पर मंचूरिया और पूर्वी चीन पर उसका ही आधिपत्य रहा। इस समय मंचूरिया और कोरिया में रूसी सेनाएं आगे बढ़ रही थी, पर मंचूकाओं और नानकिंग की सरकारें अभी पूर्ववत स्थापित थी। जापान के आत्मसमर्पण का यह परिणाम अवश्यम्भावी था कि मंचूरिया और पूर्वी चीन में उन सरकारों का अन्त हो जाता, जो जापान को अपना संरक्षक मानती थी। मंचूरिया और उत्तरी कोरिया में रूसी सेनाये प्रवेश कर चुकी थी। अब समस्या यह थी कि पूर्वी चीन पर अब किसका अधिकार हो और जापानी सेनाएं किसके सम्मुख आत्मसमर्पण करें। मित्र राष्ट्रों ने इस बात का तो फैसला कर लिया था कि पूर्वी चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की सेनाएं दो प्रकार की थी -कुओमिंगतांग और साम्यवादी। इन दोनों सेनाओं में किसी प्रकार का समझौता अब तक नहीं हो पाया था। चीन में साम्यवादी सेनाएं अधिक संगठित तथा व्यवस्थि थी। उत्तर-पश्चिमी चीन पर तो उनका अधिकार था ही, साथ ही जापान द्वारा अधिकृत चीन में भी अनेक स्थानों पर साम्यवादी सेनाएं छापामार प्रणाली से युद्ध में व्यस्त थी। इस स्थिति में उनके लिए यह आसान था कि वे पूर्वी चीन के एक बड़े हिस्से पर अपना अधिकार कर स्थापित कर लें। किन्तु च्यांगकाईशेक इस बात को कभी सहन नहीं कर सकता था। परिणामस्वरूप सितम्बर, 1945 में कुओमिंगतांग और साम्यवादी सरकारों में युद्ध आरम्भ हो गया। जापान की पराजय के बाद भी चीन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी।

अमेरिका नहीं चाहता था कि चीन में गृहयुद्ध जारी रहै। सितम्बर, 1945 में जनरल मार्शल इसी उद्देश्य से चीन गये, उनका उद्देश्य चीन के दोनों दलों में समझौता कराके, वहां लोकतन्त्र की स्थापना करना था। किन्तु मार्शल को अपने उद्देश्य

में कोई सफलता नहीं मिली। नवम्बर, 1946 में च्यांगकाईशेक ने देश के लिए नये शासन का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय महासभा का आयोजन किया किन्तु साम्यवादी दल ने इसका बहिष्कार किया। इसी बीच साम्यवादी सेनाएं उत्तरी व पूर्वी चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर चुकी थी। जिन स्थानों को रूसी सेनाओं ने मंचूरिया और कोरिया में खाली किया था, उन स्थानों पर अब साम्यवादी सेनाओं ने अधिकार कर लिया था। इस प्रकार चीन के एक विस्तृत भू-भाग पर साम्यवादी सेनाओं का अधिकार था। अब चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के लिए च्यांगकाईशेक के सम्मुख दो ही उपाय थे-प्रथम तो यह कि साम्यवादियों के साथ समझौता कर चीन में लोकतन्त्र स्थापित करने का प्रयास करे - दूसरा यह कि साम्यवादियों को युद्ध में परास्त कर उनके अधीनस्थ स्थानों पर अपना अधिकार कर ले।

1948-49 ई. में दोनो दलो के बीच समझौते के प्रयास चलते रहा। अन्ततः 14 जनवरी, 1949 को साम्यवादियों ने समझौते की निम्न शर्ते प्रस्तुत की-

(i) च्यांगकाईशेक और लीत्सुंग येन को अपने पदों से हटा दिया जाय।

(ii) कुओमिंगतांग और साम्यवादी सरकारें एक साथ अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध बन्द करने का आदेश दे।

(iii) देश के लिए एक नया संविधान बनाया जाय जिसे बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि करे।

(iv) जब तक नया संविधान तैयार न हो, शासन के संचालन के लिये एक ऐसी सरकार का गठन किया जाय जिसमें सभी प्रमुख दलों के प्रतिनिधि हों।

(v) सेना को नये ढ़ंग से संगठित किया जाय।

(vi) युद्ध के लिए दोषी चीनी नेताओं को दण्डित किया जाय।

यह बात स्पष्ट थी कि च्यांगकाईशेक इन शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता था किन्तु इस समय चीन में च्यांगकाईशेक की स्थिति बहुत कमजोर हो चुकी थी। साम्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष में वह अमेंरिका से पूर्ण सहायता प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ। अमेंरिका भी इस समय इस स्थिति में नहीं था कि चीन के गृह-युद्ध में खुले रूप से सहायता दे सके क्योंकि उसे रूस द्वारा साम्यवादियों का पक्ष लेने का भय था। इस दशा में अमेंरिका ने प्रायः तटस्थता की नीति का अनुसरण किया और इस कारण च्यांगकाईशेक की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ डावांडोल हो गयी। इन विकट परिस्थियों में च्यांगकाईशेक ने 12 जनवरी 1949 को अपनी सरकार का कार्यभार उपराष्ट्रपति लीत्सुंग येन को सौंप दिया। वह अब नाममात्र का राष्ट्रपति बना रहा। नानकिंग की सरकार का संचालन जनरल ली के पास आ गया था। इस समय नानकिंग सरकार का प्रधानमंत्री सन-फो साम्यवादियों से समझौते के पक्ष में था, पर उसे अपने उद्देश्यों में सफलता नहीं मिली। युद्ध यथावत् चलता रहा।

जनवरी, 1949 में समझौते की बातचीत शुरू होने से पहले साम्यवादी सेनाएं टिन्टसिन और पीकिंग पर अधिकार स्थापित कर चुकी थी। समझौते की असफलता पर अप्रैल 1949 में साम्यवादी सेनाओं ने यांग्त्से नदी को पार कर लिया और नानकिंग और शघांई पर साम्यवादियों का अधिकार स्थापित हो गया था। अक्टूबर, 1949 तक हेन्को तथा केन्टन पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। अब कुओमिंगतांग सरकार के पास केवल श्जेचुआन, क्वांग्सी, फार्मूसा द्वीप तथा हैनान द्वीप बचे थे।

कुओमिंगतांग दल की घटती हुई लोकप्रियता- 17 सितम्बर, 1949 को ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेंरिका के विदेश मन्त्रियों ने अलग-अलग किन्तु एक ही प्रकार की प्रेस विज्ञप्ति जारी की कि चीन में ऐसा कोई राष्ट्रवादी दल दिखाई नहीं दे रहा, जिसे मित्रराष्ट्र समर्थन दे सकें। यह प्रतिक्रिया केवल सैनिक स्थिति के सन्दर्भ में ही नहीं व्यक्त की गयी, वरन् कुओमिंगतांग दल के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के संदर्भ में भी कही गयी थी क्योंकि युद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद के वर्षो में कुओमिंगतांग दल ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पुनः निर्माण करने की समस्या की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसे कम से कम देश के भूतपूर्व संचार-साधनों को पुनः स्थापित कर लेना था, जो आधुनिकतम विकास युक्त थीं। उसे नागरिक समुदायों के आर्थिक जीवन को पुनः स्थापित करना था और नगर तथा गांवों के बीच सम्बन्ध स्थिर करने का प्रयास करना था। इनका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सरकार की सैनिक शक्ति कम होती गयी और राष्ट्रीय साधनों का पूरा लाभ नहीं हुआ। अब वे केवल अपनी उच्च सैनिक शक्ति के आधार पर ही शासन चला सकते थे और वह सैनिक शक्ति भी देश की प्रगतिशील

आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर आधारित न होकर, उसकी क्षीणतर हो रही अर्थव्यवस्था पर आधारित थी। सैनिक तन्त्र को बराबर बनाये रखने के लिए देश की आर्थिक पुनः स्थापना से अधिक जोर अमेरिकी सहायता पर दिया गया था।

किन्तु कुओमिंगतांग दल की मौलिक कमजोरी यह थी कि उसके विपक्ष में यह भावना फैल गयी थी कि उसका शीर्षस्थ सरकारी कार्य-कलाप बहुत अधिक भ्रष्ट और अक्षम है और यह भ्रष्टाचार और अक्षमता धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही है। मुद्रा स्फीति बढ़ने पर सम्भवत ईमानदार सरकारी कर्मचारी भी अपनी सरकारी आय से अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियां नहीं निभा सकते थे। इस कारण सहपूर्ति सामग्रियां, जो जनता के उपयोग के लिये थी, वे भी निजी व्यापार साधनों में प्रयुक्त होने लगी थी।

साम्यवादियों की बढ़ती हुई लोकप्रियता- साम्यवादियों की सफलता का कारण उनकी बढ़ती हुई शक्ति और साथ ही साथ कुओमिंगतांग की शक्ति का उसी के अनुपात में निरन्तर क्षीण होता जाना था। यह पार्टी, युद्ध के बाद नेताओं का समर्थ नेतृत्व प्राप्त करने का सम्मान अर्जित कर चुकी थी। वास्तव में इस दृष्टिकोण का भी काफी प्रचार हो गया था कि साम्यवादी नेताओं द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये न होकर सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह तथ्य उनके द्वारा कृषकों के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में परिलक्षित हुआ था। इसके अनुसार भू-स्वामित्व में विशेषतः उन भू-स्वामी जमींदारों के मामलों में संशोधन किया गया जो जमीन की खुद काश्त नहीं करते थे। कृषि कार्यों में पहले प्रयुक्त न होने वाली भूमि का कृषि कार्यों के लिये प्रयोग किया गया और खेतिहरों द्वारा भूमि का प्रयोग करने पर दी जाने वाली लगान की दर और पैदावार के हिस्सें में कमी की गयी। इसके अतिरिक्त कुओमिंगतांग सैनिकों या उनके प्रान्तीय कर-अधिकारियों की अपेक्षा साम्यवादियों ने अपने तत्कालीन आदेशों के अनुसार कृषकों के भू-स्वामित्व अधिकार को अधिक मान्यता प्रदान की। आवश्यक सामग्रियों को लूटने के बजाय, अन्य सहपूर्ति- साधनों से प्राप्त किया गया। अतः गांवों में साम्यवादियों की सेनाओं के साथ कृषकों का सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग के रूप में स्थापित हुआ था जबकि कुओमिंगतांग की सेनाओं का उनके साथ व्यवहार कुछ विशिष्ट मामलों में ही, सामान्यतया पूर्व युद्ध सामन्तों के व्यवहार से, अलग था। स्वाभाविक रूप से साम्यवादियों ने देश का भीतरी और बाहरी समर्थन प्राप्त करने के लिये एक 'नयें लोकतन्त्र' और भूमि सुधार की विनम्र विधि का प्रचार किया। इस प्रकार चीन की जनता का समर्थन साम्यवादी सरकार के साथ अधिक था। चीन में कुओमिंगतांग दल की लोकप्रियता धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। इस स्थिति में साम्यवादियों के लिए यह आसान था कि सम्पूर्ण चीन पर अधिकार स्थापित कर सकें।

1945 ई. के बाद के वर्षों में चीनी साम्यवादी दल और सोवियत संघ के बीच स्थापित मधुर सम्बन्ध स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हुए। 1949 ई० तक इसे केवल भूमि सुधार करने वाली पार्टी मानते हुए मात्र चीनी राष्ट्रीय आन्दोलन के एक उपकरण के रूप में स्थित साम्यवादी पार्टी के बजाय, इसे रूसी साम्यवादी पार्टी के साथ सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का हिस्सा मानना अधिक उपयुक्त समझा गया। इसके कारण और कुओमिंगतांग को अमेरिका द्वारा बराबर हर सम्भव सहायता दिये जाने के कारण चीन के गृह युद्ध को एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हुआ।

फिर भी 1949 ई. तक यांगत्जे का उत्तर स्थित चीन, कम्युनिस्ट सेनाओं द्वारा कुओमिंगतांग के नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया था और इसे चीनी साम्यवादी पार्टी के अन्तर्गत स्थित समझ लिया गया था। साम्यवादियों को कुछ सफलता भूतपूर्व कुओमिंगतांग कमाण्डरों को अपने भीतर आत्मसात कर लेने से भी प्राप्त हुई थी। अतः उत्तर चीन में भी प्रशासकीय अधिकार कुछ स्थानों पर उन लोगों द्वारा प्रयुक्त हो रहा था, जो विचार परिवर्तन के कारण नहीं बल्कि परिस्थितियों से बाध्य होकर साम्यवादियों से आ मिले थे।

साम्यवादियों द्वारा स्थापित मौलिक संगठन विधि प्रादेशिक प्रारूप पर स्थित थी। सितम्बर 1949 तक उन्होंनें छः पूर्णतया मुक्त क्षेत्रों -उत्तर-पूर्वी चीन (मंचूरिया), उत्तरी-पश्चिमी चीन, उत्तरी चीन, मध्य चीन, पूर्वी चीन और दक्षिणी चीन का निर्माण कर लिया था। इस नयी विधि के प्रयोग के साथ मुख्य चीन के इन प्रदेशों के विशिष्ट प्रशासकीय जिलों को पुरानी प्रान्तीय पद्धति के आधार पर स्थित किया गया। प्रादेशिक सरकार की सामान्य योजना उत्तरी चीन में कार्यान्वित की गयी थी, जो साम्यवादी पार्टी द्वारा कुओमिंगतांग दल के नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त किया गया प्रथम क्षेत्र था। इसमें एक वृहद् प्रतिनिधि सभा की स्थापना करने की व्यवस्था की गई थी, जिसका प्रधान कार्य उत्तरी चीन के अस्थायी सरकारी आयोग का निर्वाचन करना था, जो वास्तविक शासनाधिकार का पूर्व अंग था। अतः प्रादेशिक सरकार स्थापित करने की योजना

इस प्रकार बनायी गयी थी जिसमें सरकारी नियंत्रण की बागडोर शीर्षस्थ अधिकार में रखते हुए, उस अधिकार को क्रमशः निचले स्तरों तक फैलाया जा सके। फिर भी मुख्य चीन में निर्देशन का अधिकार औपचारिक सरकार के हाथों में न रहकर साम्यवादी पार्टी संगठन के हाथों में ही था।

इन राजनीतिक और प्रशासकीय व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चीन में किसी ऐसी साम्यवादी सरकार की स्थापना नहीं हो सकी थी, जो विदेशी शक्तियों से अपनी मान्यता की मांग करे या आशा करे। 19 जून को 'नव चीनी केन्द्रीय समाचार' ऐजेन्सी द्वारा चीन के लिए एक लोकतान्त्रिक सम्मिलित सरकार का गठन करने के लिए जनता के नये सलाहकार सम्मेलन की रूप रेखा के सम्बन्ध में घोषणा कर, इस दिशा में अभियान शुरू करने का संकेत मिला। इसके प्रतिनिधियों में कुओमिंगतांग दल के प्रतिक्रियावादियों को स्थान न देने का निर्णय किया गया था। जिसका तात्पर्य यह था कि कोई व्यक्ति या दल, जो अपने दृष्टिकोण के कारण साम्यवादी नेताओं को स्वीकार न हो, उसे इसमें सहयोजित नहीं किया जाय। इस प्रकार जनता के नये साम्यवादी सलाहकार सम्मेलन का उद्देश्य साम्यवादियों के साथ सहृदय व्यवहार रखने वालों को मिलकर एक ऐसी केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने का था, जो एक पार्टी की सरकार के बजाय एक सम्मिलित सरकार की तरह प्रतीत हो।

लोक गणराज्य की स्थापना-जनता के 'नये साम्यवादी सलाहकार सम्मेलन' द्वारा किये गये निर्णयों की घोषणा 1अक्टूबर, 1949 को की गयी। इस घोषणा के द्वारा साम्यवादियों ने पीकिंग में लोक गणराज्य की घोषणा कर दी। 2 अक्टूबर को सोवियत संघ ने इस नये तन्त्र को चीन की सरकार के रूप में मान्यता दी और उसके बाद सोवियत संघ के निर्देश पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कार्यवाही करने वाले अन्य राज्यों ने भी इसे ऐसी ही मान्यता प्रदान की और 1950 ई. के अन्त तक 25 देशों ने इसे मान्यता दे दी। इस प्रकार चीन साम्यवादी हो गया। लोगों ने साम्यावाद को इसलिये स्वीकार नहीं किया कि वे इसके सिद्धान्तों को विशेष रूप से पसन्द करते थे बल्कि इसलिये कि वे कुओमिंगतांग के शासन से तंग आ चुके थे और इससे बचने के लिये उनके पास उस समय साम्यवाद के शासन के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था।

मार्च, 1950 तक चीन के सभी भागों पर साम्यवादी सरकार की स्थापना हो चुकी थी। केवल फारमोसा द्वीप च्यांगकाईशेक के अधिकार में था। संयुक्त राज्य ने साम्यवादी सरकार को मान्यता देना अस्वीकार करते हुए चीन की सरकार के रूप में फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी सरकार से अपना सम्बन्ध बनाये रखा।

साम्यवादी क्रान्ति के परिणाम- साम्यवादी नेतृत्व में एकीकृत राष्ट्रीय शक्ति के रूप में चीन का उदय आधुनिक वर्षों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। इस घटना के परिणामस्वरूप विश्व राजनीति में अनेक मोड़ आये तथा अनेक नयी परिस्थितियों का जन्म हुआ। माओत्से तुंग ने सम्पूर्ण चीन में एक सत्ता की घोषणा की। साम्यवाद ने एशिया महाद्वीप के विशाल क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इससे पश्चिमी शक्तियों एवं साम्यवादियो के बीच एक नया शक्ति संतुलन स्थापित हुआ। चीन में साम्यवाद की स्थापना से ऐसा अनुमान लगाया गया था कि वह सोवियत रूस का नेतृत्व स्वीकार करेगा किन्तु कुछ ही वर्षो बाद चीन साम्यवादी देशों के नेतृत्व के लिये रूस का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। इस सम्बन्ध में पामर एवं परकिन्स ने लिखा है कि-"चीन में साम्यवादी क्रान्ति का सम्पूर्ण एशिया पर प्रभाव पड़ना निश्चित है।" चीन की इस क्रान्ति ने अफ्रीका में भी राष्ट्रवादी शक्तियों को प्रोत्साहित किया किन्तु उसकी दोहरी नीति के कारण उसे अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। पश्चिम की महान् शक्ति अमेंरिका ने भी चीन में साम्यवाद की स्थापना के बाद शंकित हो जापान के लोकतन्त्र को दृढ़ता प्रदान करने की नीति अपनाई ताकि जापान अपने पडौसी साम्यवादी देशों से बचा रह सके। वर्षों का सुषुप्त चीन दैत्य जाग उठा है और अब वह सम्पूर्ण विश्व को कम्पित करने का प्रयत्न कर रहा है।

अध्याय : 14 जापान का आधुनिकीकरण तथा विश्व शक्ति के रूप में इसका उत्थान
Modernization in Japan and Rise as a World Power

दुनिया के नक्शे पर जापान एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट से परे स्थित द्वीप श्रृंखला के रूप में स्थित है। इतिहास ग्रंन्थों के अनुसार यह एक प्राचीन देश है जिसकी परम्पराओं की जड़े पुराण-कथाओं के अतल में फैली बिखरी हुई हैं। फिर भी ऐसे देश कम होंगे जो आधुनिक जगत में जापान की भांति पूरी सक्रियता के साथ वर्तमान में रहें हुए हो। जापान के जीवन में आधुनिकीकरण और जागरण की क्रान्तिकारी लहर 1868 के मेंइजी पुर्नस्थापन के बाद आयी। इस वर्ष लगभग 8 शताब्दियों के बाद 16 वर्षीय जापानी सम्राट मुत्सुहितो (Mutsuhito) राजसिंहासन पर पुनः आरूढ़ हुआ। इस उदार और महत्वाकांक्षी सम्राट ने 1912 तक शासन किया और इस अवधि में जापान के आर्थिक जीवन, सामाजिक जीवन में एक नया अध्याय जोड़ कर रख दिया। इस काल में जापान के उत्कर्ष ने उसके भावी गौरवशाली जीवन की आधारशिला रख दी। दो महायुद्धों के बीच जापान ने अभूतपूर्व उन्नति की, किन्तु अन्त में द्वितीय महायुद्ध में वह अपना विशाल साम्राज्य खोकर पतन का शिकार हो गया। डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में 1914-18 के महायुद्ध के बाद यह स्थिति आ गई थी कि जापान की गिनती संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में की जाने लगी थी और उसकी जल सेना संसार में तीसरा स्थान रखती थी। केवल ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ही ऐसे देश थे जो जलसेना की दृष्टि से उससे आगे थे। राष्ट्र संघ की कौंसिल में जापान को स्थाई सदस्य के रूप में शामिल किया गया था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान की स्थिति सबसे अधिक शक्तिशाली थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि जापान भी पाश्चात्य राज्यों के अनुकरण में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील हो। संसार के इतिहास में राजशक्ति की अतिशयता का यही परिणाम दृष्टिगोचर होता है कि शक्तिशाली राज्य निर्बल देशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाने का प्रयत्न करने लगते है। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और इटली आदि सभी राज्य अपने-अपने साम्राज्यों का विस्तार करने में तत्पर थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति में पाश्चात्य देशों का समकक्ष बनकर जापान भी साम्राज्य-विस्तार के मार्ग पर अग्रसर हो। जापान के साम्राज्य के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र चीन और प्रशान्त महासागर में स्थित विविध द्वीप थे। इन्हें अपनी अधीनता में लाने के लिए जो प्रयत्न जापान ने किए, उन्हीं पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेगें। जापान के साम्राज्य प्रसार सम्बन्धी प्रयत्न 1931 के बाद विशेष रूप से सफल होने शुरू हुए, और 1942 तक पूर्वी तथा दक्षिणी-पू । एशिया में अपना एक विशाल साम्राज्य बनाने में सफल हो गया। पर 1939-45 के महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय के कारण जापान को अपने विस्तृत साम्राज्य से हाथ धोना पड़ा। जापानी साम्राज्य के उत्थान और पतन का यह वृतान्त एशिया के आधुनिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

सम्राट् मुत्सुहिता के शासन-काल (1868-1912) में जापान का उत्कर्ष

मेंइजी काल (1868-1912) विश्व इतिहास के सबसे उल्लेखनीय युगों में गिना जाता है। सम्राट् मुत्सुहितो (जो मेंइजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के शासन काल में जापान ने कुछ ही दशकों में यह सब कुछ पाने का प्रयत्न किया जिसके लिए पश्चिमी

राष्ट्रों को सदियां लगी थी। सम्राट के प्रयत्नों से प्राचीन और पिछड़ा जापान एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में आस्तित्व में आया।

नया विधान

जैसा कि डॉ. बुद्धप्रकाश ने लिखा है- पाश्चात्य विचारों की जो बाढ़ आई, उसने पुरानी मनोवृत्ति का सफाया कर दिया। सम्राट के सब प्रमुख कार्यकर्ता नौजवान थे। इन तरुण नेताओं में नया जोश और जीवन्तता थी। ये अपने देश को जल्दी से पश्चिमी देशों के स्तर पर लाना चाहते थे। इसलिए इन्होंने तेजी से पश्चिमी विद्या, संस्कृति और जीवन-पद्धति को अपनाने का संकल्प किया। इनकी रीति-नीति का सूत्र 'फूकोकू हयोहेई' (समृद्ध देश और सुदृढ़ सेना) था। उन्होंने अप्रैल 1868 में सम्राट की ओर से एक विधान-शपथ (Charter oath of Five Articlesa) तैयार की जिसकी पांच धारायें इस प्रकार है:

1. राज्य के मामलों पर विचार करने के लिये विस्तृत पैमाने पर सभायें स्थापित की जायेंगी और सब सरकारी कार्यों का निर्णय जनमत के आधार पर होगा।
2. ऊंचे और नीचे सब वर्ग राज्य की योजना को सशक्त रूप से कार्यान्वित करने के लिए आपस में एक हो जॉयेंगे।
3. जनता के सभी वर्गों को अपनी-अपनी न्यायोचित आकांक्षाओं को पूरा करने का अवसर मिलेगा जिससे कहीं कोई असन्तोष न रहे।
4. पहिले युगों की असभ्य प्रथाएं तोड़ी जायेगी और हर बात प्रकृति के न्यायसंगत और औचित्यपूर्ण सिद्धान्तों पर निर्भर होगी।
5. समस्त जगत् से ज्ञान प्राप्त किया जायेगा जिससे साम्राज्य के कल्याण की श्रीवृद्धि हो।

7 अप्रैल, 1868 को सम्राट और अन्य अधिकारियों के सम्मुख सॉजो सानेतीमी ने इस शपथ को जोर से पढ़ा, सब दरबारियों, सामन्तों और देमयों ने इसके समर्थन में शपथ ली और इस पर अपनी मोहरें लगाई। यह नये जापान की भाग्य-लिपि बन गई।

सामन्तशाही की समाप्ति

नये शासन ने 1869 ई. में सामन्तशाही प्रथा को समाप्त कर दिया। इस प्रथा ने पहले के तोकुगावा शासन-काल में जापान के आर्थिक विकास को एकदम अवरुद्ध कर दिया था। एलन के शब्दों में, "सामन्तशाही से सम्बद्ध प्राचीन वित्तीय तथा शासकीय प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।" सामन्तशाही -प्रथा की समाप्ति के फलस्वरूप भूमि की नई व्यवस्था हुई। खेत जोतने वाले किसान भूमि के स्वामी बन गए। किसानों को फसल बोने की स्वतन्त्रता दी गई जो उन्हें पहले प्राप्त नहीं थी।

नये सैनिक सुधार

सामन्त व्यवस्था को सबसे बड़ा झटका सैनिक सुधारों से पहुंचा। यामागाता आरीतोमो के नेतृत्व में 1871 में फ्रांसीसी सैन्य विधान के नमूने पर शाही सेना का गठन किया। सामन्ती रियासतों का अन्त होने पर उनकी सेनाओं पर भी केन्द्रीय नियन्त्रण स्थापित हो गया। जनवरी 1873 के सार्वजनिक भर्ती कानून द्वारा हर व्यक्ति के लिए तीन वर्ष की सक्रिय सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी। इसके बाद उसे चार वर्ष के लिये रिजर्व में रहना पड़ता था जिससे उसे आवश्यकता पड़ने पर बुलाया जा सके। इससे सैनिक व्यवस्था पर से सामन्ती वर्ग का सदियों से चला आ रहा एकाधिकार समाप्त हो गया और सामान्य लोगों को भी इस क्षेत्र में आने का अवसर मिल गया। सामन्ती वर्ग का विशेष चिन्ह दो तलवारे थी। सामान्य व्यक्ति के लिए इन्हें रखना जुर्म था किन्तु 1871 में सरकार ने इजाजत दे दी कि जो सामन्त या सामूराई इन तलवारों को छोडना चाहे वह ऐसा कर सकता है। 1867 में कानून द्वारा ये तलवारें रखना बन्द कर दिया गया। इससे सामन्ती प्रतिष्ठा और पृथकता का यह दिखावटी चिन्ह भी खत्म हो गया।

नये शासन विधान का निर्माण

विविध देशों की शासन पद्धति का अनुशीलन करके 1889 में जापान के लिए नए शासन विधान की घोषणा की। इसके महत्वपूर्ण पक्षों और लोकतान्त्रिक पहलू को इंगित करते हुए डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है-

"शासन का अधिपति व मुखिया सम्राट को बनाया गया और उसकी स्थिति पवित्र व अनुल्लंघनीय रखी गई। विविध राज्यपदाधिकारियों को नियुक्त करना, उन्हें अपने पदों से बर्खास्त करना और उनके वेतन को निर्धारित करना उसी के हाथों में रखा गया। युद्ध की घोषणा करने और सन्धि-विग्रह के सब अधिकार भी उसी को दिए गए। विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश (आर्डिनेन्स) जारी करने का अधिकार भी सम्राट को प्रदान किया गया। सम्राट को शासन कार्य में सहायता देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई जिसके सदस्यों को सम्राट ही नियुक्त करता था और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पार्लियामेंण्ट के प्रति उन्हें उत्तरदायी नहीं बनाया गया था और मन्त्री तब तक ही अपने पदों पर रह सकते थे, जब तक सम्राट का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे।

1889 के शासन-विधान द्वारा जापान में एक पार्लियामेंन्ट की भी स्थापना की गई। इसमें दो सदन होते थे, लॉर्डो की सभा और लोकसभा। यद्यपि लोकसभा के सभी सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, पर 1889 में वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। यह आवश्यक था कि साल में एक बार पार्लियामेंट का अधिवेशन बुलाया भी बुलाया जाये। इसके अतिरिक्त पार्लियामेंट के विशेष अधिवेशन भी बुलाए जा सकते थे। पार्लियामेंन्ट की स्वीकृति के बिना कोई नया कानून स्वीकृत नहीं हो सकता था, और न ही कोई नया टैक्स लगाया जा सकता था। यह भी आवश्यक था कि राजकीय बजट को स्वीकार करने से इन्कार कर दे, तो पिछले साल के बजट के अनुसार आय व व्यय निश्चित किया जाता था। सम्राट को यह अधिकार था, कि वह पार्लियामेंट में स्वीकृत हुए किसी भी कानून को वीटो कर सके। पार्लियामेंन्ट के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते थे, और उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकते थे। मन्त्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार केवल सम्राट को था। पार्लियामेंट के सदस्यों को भाषण देने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, और पार्लियामेंट में दिये गए भाषणों के लिए उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। इसमें सन्देह नहीं कि 1889 के शासन-विधान में पार्लियामेंन्ट को पर्याप्त अधिकार दिये गए थे, और समय के साथ-साथ वह अपनी शक्ति को बढ़ा भी सकती थी।

1889 के शासन-विधान में नागरिकों के अधिकारों का भी विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया था। कानून के सम्मुख सब नागरिक एक समान स्थिति रखते थे। राजकीय पद व नौकरी प्राप्त करने का सब को अधिकार दिया गया था। भाषण, लेखन व अन्य प्रकार से अपने विचार प्रकट करने, सभा करने, संगठन बनाने और विश्वास और विचार के अनुसार किसी भी धर्म का अनुसरण करने की सबको स्वतन्त्रता दी गई थी। राज्य कर्मचारियों को यह अधिकार नहीं था कि वे किसी व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक गिरफ्तार कर सकें। यह व्यवस्था की गई थी, कि अभियुक्तों पर न्यायालय में बाकायदा मुकदमा चलाया जाय और न्यायालय से दण्ड पाए बिना किसी व्यक्ति को जेल में न रखा जा सके। सम्पत्ति के अधिकार को अनुल्लघनीय घोषित किया गया था, और सब नागरिकों को यह अवसर दिया गया था, कि वे सरकार के पास अपनी शिकायतों व आवेदन पत्रों को भेज सकें। जापान के शासन-विधान के ये 'नागरिकों के अधिकार' ठीक उसी प्रकार के थे, जैसे कि इस समय विविध पाश्चात्य देशों के लोकतन्त्र शासन विधानों में प्रतिपादित थे।

1889 के शासन विधान द्वारा जापान व सरकार शासन की दृष्टि से इस युग के पाश्चात्य देशों के समकक्ष हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन लोकतन्त्रवाद के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ चुके थें पर इसी समय जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी, स्पेन आदि अनेक राज्यों के शासन लोकतन्त्रवाद की दृष्टि से जापान से अधिक उन्नत नहीं थे। रूस, टर्की आदि की सरकारें तो जापानी सरकार की तुलना में निश्चित रूप से अधिक निरंकुश व स्वेच्छाचारी थी। यूरोप के विविध देशों में सामन्त पद्धति ओर एकतन्त्र शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन की स्थापना में एक सदी से भी अधिक समय लगा था। पर जापान इस युग में इतनी शीघ्रता से उन्नति के मार्ग पर कदम बढ़ा रहा था कि उसने चौथाई सदी से भी कम समय में सामन्त पद्धति और निरंकुश शासन का अन्त कर एक ऐसे शासन विधान की स्थापना कर ली थी, जो उन्नीसवीं सदी की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल था।

आवागमन, व्यापार, उद्योग एवं कृषि की स्वतन्त्रता

इस शासन काल में अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताएं प्रदान की गई जिनसे आधुनिक ढंग के आर्थिक विकास का

वातावरण तैयार हुआ। आवागमन और व्यापार तथा उद्योग की स्वतन्त्रता पर लगाए गए अधिकांश प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। पहले व्यापार और उद्योग के द्वार केवल गिल्डों के सदस्यों के लिए ही खुले थे, किन्तु अब प्रत्येक वर्ग के सदस्य इसमें सम्मिलित हो सकते थे। 1869 में कानूनी रूप से विभिन्न सामाजिक वर्गों की समानता घोषित कर दी गई।

विदेशी व्यापार तथा औद्योगिक उपक्रमों को प्रोत्साहन

देश का तेजी से आधुनिकीकरण करने के लिए विदेशी व्यापार पर से सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा दिए गए। नए शासन ने भाँप लिया कि जब तक जापान का पश्चिमीकरण नहीं किया जाएगा तब तक वह आर्थिक विकास के मार्ग पर नहीं बढ़ पाएगा। पश्चिमीकरण के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए व्यापारी जहाजों, युद्धपोतों, मशीनों आदि उपकरणों का आयात किया गया और विदेशी भुगतान की समस्या के समाधान के लिए निर्यात को हर प्रकार से प्रोत्साहित किया गया। सरकार ने अनेक आधुनिक कारखानों की स्थापना के लिए सक्रिय कदम उठाए। 75 वर्ष के अल्पकाल में ही जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रमुखता प्राप्त कर ली।

पाश्चात्य पद्धतियों को प्रोत्साहन

सम्राट मुत्सुहितो की सरकार ने पश्चिमी व्यापार पद्धतियों और तकनीकी के विकास को प्रोत्साहन दिया। खनिज-कर्म, उत्पादन आदि के पाश्चात्य तरीकों का प्रशिक्षण के लिये विदेशी विशेषज्ञ नियुक्त किये गए और देशवासियों को भी विदेशों में प्रशिक्षण के लिए भेजा गया। बड़े पैमाने पर आधुनिक स्कूलों, कॉलेजों आदि की स्थापना की गई। तकनीकी शिक्षा को इतना प्रोत्साहन दिया गया कि 19 शताब्दी के अन्त तक इस दिशा में जापान लगभग आत्मनिर्भर हो गया। विदेशी व्यापार की देखरेख और प्रेरणा के लिए पाश्चात्य ढंग पर वाणिज्यिक ब्यूरों भी स्थापित किया गया जिसके द्वारा 1877 ई. में टोकियो में एक औद्योगिक प्रदर्शनी आयोजित की गई जिसमें नवीन तकनीकों, मशीनों आदि का प्रदर्शन किया गया।

पाश्चात्य ढंग के उद्योगों की स्थापना

सरकार ने कारखानों की व्यवस्था अपने हाथ में लेकर अनका आधुनिक तरीकों से पुनर्गठन किया। विभिन्न वस्तुओं के निर्माण के लिए आधुनिक ढंग के नए-नए कारखाने स्थापित किये गये, जैसे पाश्चात्य ढंग की कताई की सूती मिलें, फ्रांस और इटली जैसे रेशम के कारखाने, लोहा-ढलाई के कारखाने, पोत निर्माण यार्ड आदि। एलन (Allen) के अनुसार "सच तो यह है कि 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दशकों में पश्चिमी ढंग का ऐसा एक भी महत्वपूर्ण जापानी उद्योग नहीं था जिसकी स्थापना का श्रेय राज्य को न हो।" 1882 ई. के बाद राज्य ने व्यापारिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में स्वयं कार्य करने की अपेक्षा निजी उपक्रम को विशेष प्रोत्साहन देना शुरू किया।

बैंकिंग-प्रणाली का संगठन

व्यापार और उद्योग के विस्तार के फलस्वरूप 1870 ई. से अति आधुनिक ढंग पर एक व्यापारिक कम्पनी संचालित की गयी। इसके बाद ही बैंकिग कारपोरेशन का संगठन किया गया। बैंकिग क्षेत्र में उस प्राचीन व्यवस्था को, जो दायमियों के अन्तर्गत प्रचलित थी, त्याग दिया गया और उसके स्थान पर नयी व्यवस्था चालू की गयी अमेरिकन बैंकिंग प्रणाली के आधार पर देश में बैंकिंग व्यवस्था संगठित की गयी।। इसके अनुसार केन्द्रीय बैकिंग प्रणाली को न अपनाकर नेशनल बैंकों की स्थापना की गई जिन्हें विशेष क्षेत्रों में नोट जारी करने का एकाधिकार दिया गया। शीघ्र ही बैंक ऑफ जापान की स्थापना हुई, जिसे नोट जारी करने का एकाधिकार दिया गया। 1887 ई. में विदेशी व्यापार की वित्तीय आवश्यकताओं की दृष्टि से, योकोहामा स्पेंसी बैंक स्थापित किया गया। 1893 ई. में स्टॉक एक्सचेंज अधिनियम और बैंक अधिनियम द्वारा मुद्रा बाजार को नियमित करने के प्रयत्न किए गए।

शिक्षा का प्रसार

जापान किस प्रकार अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील था, उसके लिए यह आवश्यक था कि शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दे। मेंइजी-काल में शिक्षा के प्रसार के जापानी प्रयत्नों की रूपरेखा देते हुए डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

ने लिखा है-

1895 ई. से पूर्व जापान ने शिक्षा के प्रसार के लिए जो उद्योग किए थे, उन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जापान में बाधित प्रारम्भिक शिक्षा की पद्धति पहले ही जारी की जा चुकी थी। 1908 में यह कानून बनाया गया कि प्रत्येक बालक व बालिका के लिए छः साल तक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य हो। इस कानून के कारण 1922 तक यह दशा आ गयी कि जापान में एक भी बालक व बालिका ऐसी नहीं रह गयी, जिसकी स्कूल जाने की आयु हो और जिसे स्कूल में शिक्षा न मिल रही हो। इस दृष्टि से जापान यूरोप और अमेरिका के किसी भी प्रगतिशील देश के मुकाबले में पीछे नहीं रहा था। सरकार के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह देश के सब बच्चों के लिए शिक्षा का समुचित रूप से प्रबन्ध कर सके। इसके लिए बहुत से नये स्कूलों की स्थापना आवश्यक थी। साथ ही,इन स्कूलों के लिए सुयोग्य अध्यापकों का भी प्रबन्ध किया जाना था। स्कूलों का खर्च चलाने के लिए रूपया अभी भी कम नहीं चाहिये था। यद्यपि अत्यन्त गरीब बच्चों के अतिरिक्त अन्य सबसे पढ़ाई की फीस ली जाती थी, पर यह फीस इतनी नहीं होती थी कि इससे स्कूलों का खर्च चल सके। यही कारण है कि 1929 में जापानी सरकार को शिक्षा प्रसार के कार्य पर 1,50,00,000 येन खर्च करना पड़ रहा था। इस राशि को प्रतिवर्ष शिक्षा-प्रसार के लिए खर्च करना इस बात का प्रमाण है कि जापान की सरकार शिक्षा को कितना अधिक महत्व देती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षो में जापानी भाषा के अतिरिक्त गणित, भूगोल, इतिहास विज्ञान और ड्रांइग की भी शिक्षा दी जाती थी। साथ ही कृषि, व्यापार और अंग्रेजी भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान भी प्रत्येक विद्यार्थी को प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षो में ही करा दिया जाता था।

साक्षरता और विद्या के इस प्रसार के कारण जापान की उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली। यह सम्भव नहीं था कि प्रारम्भिक शिक्षा को समाप्त कर चुकने पर प्रत्येक विद्यार्थी हाईस्कूल और कॉलेज में प्रविष्ट होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। इसका कारण यह था कि इस समय जापान में उच्च शिक्षा की संस्थाओं की बहुत कमी थी। सरकार प्रधानतया प्रारम्भिक शिक्षा पर ध्यान दे रही थी, पर सरकारी सहायता से बहुत से हाईस्कूल और कॉलेज भी इस समय जापान में स्थापित किए गए। इनमें ऐसी संस्थाएं अधिक थी जो व्यापार, व्यवसाय, शिल्प और कृषि की शिक्षा देती थी। जापानी लोग भली-भांति अनुभव करते थे, कि देश का हित व कल्याण इसी बात में है कि विद्यार्थी लोग जीवन संघर्ष में पड़कर आर्थिक दृष्टि से सफल हों और देश की व्यवसायिक एवं आर्थिक उन्नति में सहायक हों।

जापान के शिक्षणालयों में पढ़ाई के साथ-साथ चरित्र निर्माण और देशभक्ति पर भी बहुत जोर दिया जाता था। प्रत्येक जापानी विद्यार्थी बड़ा होकर एक उत्तम नागरिक बने और देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का भली-भांति पालन करे, यह भावना विद्यार्थियों में कूट-कूट कर भर दी जाती थी। सम्राट के प्रति अपने कर्त्तव्यों का भली-भांति पालन करे, यह भावना विद्यार्थियों में कूट-कूट कर भर दी जाती थी। सम्राट के प्रति भक्ति, देश के प्रति प्रेम, अपने समाज की परम्पराओं व रीति-रिवाजों के प्रति निष्ठा और बड़ों की आज्ञाओं का पालन- ये बातें थी, जिनकी शिक्षा साधारण पढ़ाई के साथ-साथ प्रत्येक जापानी विद्यार्थी भली-भांति प्राप्त कर लेता था।

वास्तव में मेंइजी पुनरुद्धार (Meiji Renaissance) के बाद शिक्षा के क्षेत्र में आश्चर्यजनक क्रान्ति हुई। नयी शिक्षा पद्धति में पाश्चात्य विद्याओं का प्रमुख स्थान था। नए विश्वविद्यालय खोले गए और प्रयोगवाद तथा उपयोगितावाद की विचारधारा का प्रचार हुआ। धर्मान्धता की मनोवृत्ति दुर्बल हो गयी। शिक्षा और चिन्तन के पश्चिमिकरण के फलस्वरूप जीवन-शैली और संस्कृति में आमूल परिवर्तन आने लगा।

राजनीतिक-सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण

अपने शासन के पहले ही वर्ष में सम्राट मुत्सुहितो ने राजधानी बदल दी। नए परिवेश में नए ढंग से नई राजधानी एदों में बनी और उसका नया नामकरण हुआ 'टोकियो' जिसका अर्थ है पूर्व की राजधानी। नया संविधान लागू हुआ जिसके अन्तर्गत संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। सामन्त युग में समाज जिन पुराने वर्गो में विभक्त था, उनको समाप्त कर दिया गया। सारा देश पूरी शक्ति और उत्साह के साथ आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अध्ययन और उसके अनुसरण में जुट गया।

साम्राज्य विस्तार की ओर विश्व-शक्ति के रूप में उन्मुख

पाश्चात्य देशों के समान जापान भी साम्राज्य प्रसार के कार्य में तत्पर हुआ, क्योंकि-

1. जापान की आबादी में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी। पाश्चात्य संसार के लगभग सभी प्रगतिशील देश अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के हित और कल्याण के लिए उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त कर चुके थे और जापान भी अपनी जनसंख्या की वृद्धि से विवश होकर साम्राज्य विस्तार के लिए उत्सुक था।

2. जापान के लोग संयुक्त राज्य अमेरिका में जाकर बस सकते थे किन्तु बाद में अमेरिका के विभिन्न राज्यों और संघ की सरकारों ने ऐसे अनेक कानून बना दिए जिनके कारण जापानियों का अमेरिका में जाकर बस सकना असम्भव हो गया। इस दशा में जापान के लिए यही मार्ग शेष रह गया था कि वह भी पश्चिमी देशों का अनुसरण कर अपना ऐसा साम्राज्य बनाए जहां उसकी बढ़ती हुई आबादी जीवन-यापन कर सके।

3. जापान की व्यावसायिक क्रान्ति की मांग थी कि जापान का अपना साम्राज्य हो जहां वह अपने तैयार माल को निश्चितता के साथ बेच सकने के लिए सुरक्षित बाजारों को प्राप्त कर सके और जहां से कच्चा माल उसे सस्ती कीमत पर मिल सके।

4. राष्ट्रीय गौरव सशक्त देशों को इस बात के लिये प्रेरित करता है कि वे अन्य देशों को अपने आधीन कर अपनी उन्नति में तत्पर हों। ब्रिटिश, फ्रेंच, अमेरिकन सभी पाश्चात्य लोगों में यही विकृत राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। जापानी लोग भी इससे अछूते नहीं रहे। अपनी जातीय उत्कृष्टता की अनुभूति जापानी लोगों में पहले भी मौजूद थी। वे अपने राजा को ईश्वर का वंशज मानते थे और यह समझते थे कि जापान की संस्कृति संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अब पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उनमें यह भावना और भी अधिक प्रबल हो गई।

5. विविध पाश्चात्य देश चीन और प्रशान्त महासागर के द्वीपो में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि शक्ति और प्रगति के पथ पर बढ़ता हुआ जापान भी साम्राज्यवाद के क्षेत्र में उनका मुकाबला करने के लिए मैदान में उतर आए।

साम्राज्य-विस्तार के लिए जापान ने अनेक प्रयत्न किए। जिन प्रदेशों में वे अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए तत्पर थे, वे प्रमुखतया फारमोसा, कोरिया और मंचूरिया थे। 1931 तक जापान प्रधानतया इन्हीं प्रदेशों को अपने प्रभुत्व में ला सका।

वास्तव में मेंइजी पुनर्संस्थापना की प्रक्रिया कुछ ऐसी थी जैसे कोई बांध टूट पड़ा हो जिसके पीछे सदियों की ऊर्जा और शक्ति संचित होती रही हो। ये शक्तियां जब अचानक उन्मुक्त हुई तो जो बाढ़ आई, हलचल मची उसका अनुभव विदेशों में किया गया। उन्नीसवी शताब्दी समाप्त होने से पहले ही देश 1894-95 ई. के चीन-जापान युद्ध में उलझ गया और दस वर्ष बाद 1904-05 में उसका रूस से युद्ध हुआ। इन दोनों ही युद्धों में जापान विजयी हुआ। मुख्यतः इन दोनो युद्धों के फलस्वरूप ही दक्षिणी सखालीन पर उसका पुनः अधिकार हो गया। फारमोसा तथा कोरिया भी उसके हाथ लगे। मंचूरिया में भी उसके विशेष हितों को संरक्षण प्राप्त हुआ।

सम्राट मुत्सुहितों का निधन प्रथम महायुद्ध छिड़ने से पूर्व ही 1912 में हो गया लेकिन उसके शासनकाल में आधुनिक जापान की सुदृढ़ और सशक्त नींव पड़ गयी।

प्रथम महायुद्ध से द्वितीय महायुद्ध तक जापान का उत्कर्ष

1902 की आंग्ल-जापान मेंत्री सन्धि की व्यवस्था के अनुसार जापान ने प्रथम विश्वयुद्ध में भाग लिया और जब युद्ध समाप्त हुआ तब जापान को दुनिया की बड़ी शक्तियों में गिना जाने लगा था। सम्राट मेंइजी के बाद ताइशो सम्राट बना और उसके बाद 1926 में सम्राट हिरोहितो राजसिंहासन पर बैठा और तभी वर्तमान युग का आरम्भ हुआ जिसे 'शोवा' कहते है।

साम्राज्य विस्तार

प्रथम महायुद्ध (1914-18) ने जापान की उन्नति और साम्राज्य विस्तार के लिए एक स्वर्णिम अवसर उपस्थित किया। इस

महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों को पूर्वी एशिया के मामलों पर ध्यान देने की जरा भी फुरसत नहीं थी। वे यूरोप के विनाशकारी युद्ध में इतने अधिक व्यस्त थे कि चीन और जापान के मामले पर जरा भी ध्यान नहीं दे सकते थे। जापान ने महायुद्ध का सबसे प्रथम लाभ यह प्राप्त किया कि शान्तुंग प्रान्त में उसका प्रभाव और प्रभुत्व स्थापित हो गया। कोरिया और मंचूरिया पर पहले ही से उसका प्रभुत्व था। प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों पर जर्मनी का प्रभुत्व था। इनमें जो द्वीप भूमध्य रेखा के उत्तर में स्थित थे, उन्हें जापान ने अपने कब्जे में ले लिया। इनमें मार्शल, केरोलिन और मर्याना द्वीप समूहों का विशेष महत्व था। जापान ने इन द्वीपों को आधार बनाकर ही द्वितीय महायुद्ध में दक्षिण पूर्वी एशिया की विजय का उपक्रम किया।

महायुद्ध में यूरोपीय शक्तियों की व्यस्तता का लाभ उठाकर 18 जनवरी, 1915 को जापानी राजदूत ने पेकिंग में चीनी राष्ट्रपति युआन के सामने कुख्यात 21 मांगे (Notorious Twenty-One Demand) प्रस्तुत की। इन मांगों में यह था कि जब तक यूरोप के राष्ट्र युद्ध में लीन है तब तक चीन में वह अपनी स्थिति दृढ़ कर ले। ये सब मांगे 5 भागों में विभक्त थी। पहला भाग शांतुंग से सम्बन्धित था, दूसरा मंचूरिया तथा पूर्वी आन्तरिक मंगोलिया से, तीसरा कोयला तथा लोहा सम्बन्धी कुछ सुविधाओं से, चौथा खाड़ी के बन्दरगाह और किनारों के देशीकरण से और पांचवा जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति से, जापानी शस्त्रों के क्रय, धार्मिक प्रचार, पुलिस नियन्त्रण और आर्थिक चुनाव से सम्बन्धित था। इन सभी मांगो का उद्देश्य चीन को यूरोपवासियों के लिये बन्द करना तथा एशिया वालों के लिये खोलना था। यही कारण है कि इसे एशिया का मुनरो सिद्धान्त कहा जाता है। सचमुच यदि मांगे मान ली जातीं तो चीन जापान का एक संरक्षित देश बन जाता। यूरोपीय राष्ट्रों और अमेरिका ने चीन के सामने पेश की गई जापानी मांगों का तीव्र विरोध किया। 13 मार्च, 1915 को अमेरिकी विदेश मंत्री ब्रिया ने कहा, "अमेरिका सरकार किसी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का, चीन की राजनीति अथवा प्रादेशिक अखण्डता का या मुक्तद्वार प्राप्ति नीति का हनन होता हो"। फिर भी जापान ने युद्ध की धमकी देकर चीन से 25 मई, 1915 को दो सन्धियों पर हस्ताक्षर करा ही लिए जिनमें जापान को दक्षिण मंचूरिया और आन्तरिक मंगोलिया में अनेक सुविधाएं देने की व्यवस्था थी। 2 नवम्बर, 1917 को लैनसिंग-रूसी समझौते द्वारा अमेरिका ने भी यह स्वीकार कर लिया कि जापान के चीन में विशेष स्वार्थ हैं। स्पष्ट है कि चीन ने अपनी शक्ति के निरन्तर विस्तार के लिए जापान का रास्ता खुला रखा।

महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् पेरिस में जो शान्ति सम्मेलन हुआ उसमें अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए चीन ओर जापान भी सम्मिलित हुए। अगस्त 1917 में चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, अतः वह भी जापान की तरह मित्र राष्ट्रों की मैत्री का दावा करता था। जापान ने सुदूर पूर्व में चीन और रूस को बारी-बारी से पछाड़कर स्वयं को शक्तिशाली प्रमाणित कर दिया। अब वह उन प्रथम कोटी के औद्योगिक देशों में था जिनकी अतिरिक्त माल एवं पूंजी की धाक सर्वत्र जम गई थी। युद्ध काल में वह अपनी सैनिक शक्ति की धाक जमा चुका था। अतः शान्ति-सम्मेलन में उसका हर सम्भव प्रयास रहा कि उसे बड़े राष्ट्रों की पंक्ति में गिना जाए और साथ ही सुदूर पूर्व में उसके एक मात्र प्रभाव को मान्यता दी जाए। इस दृष्टि से हमारे शान्ति-सम्मेलन में जापान ने अपनी निम्नलिखित तीन मांगें प्रस्तुत कीः

1. उत्तरी प्रशान्त महासागर के सभी द्वीपसमूह उसे मिल जाएं।
2. शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को पहले जो अधिकार प्राप्त थे वे अधिकार अब उसे न दिए जाएं।
3. प्रस्तावित राष्ट्रसघं का आधारभूत सिद्धांत राज्य की बीच जाति सम्बन्धी समानता घोषित किया जाए।

जापान की इन सभी मांगों का मित्र राष्ट्रों तथा सहयोगियों ने तीव्र विरोध किया। जर्मन द्वीपों पर जापान के अधिकार की मांग विल्सन के सिद्धान्त का उल्लघंन करती थी, शांतुंग एवं कियाओचाओं पर अधिकार की मांग चीन की नवोदित राष्ट्रीयता विरोधी थी और जाति सम्बन्धी समानता की मांग ब्रिटिश डोमिनियन राष्ट्रों को स्वीकार्य नहीं थी। चीन जापान के विस्तार और प्रभुत्व को कभी सहन नहीं कर सकता था, अतः उसके प्रतिनिधियों ने मांग की कि-

1. शान्तुंग प्रदेश चीन को लौटा दिया जाए।

2. चीन से विदेशी विशेषाधिकार तथा अन्य असमान सुविधांओं एवं सन्धियों का अन्त कर दिया जाए।

3. 'प्रभाव क्षेत्र में चीन का जो विभाजन हुआ है उसका भी अन्त कर दिया जाए।

किन्तु चीन के भाग्य में निराशा ही लिखी हुई थी। शान्ति सम्मेलन में यद्यपि चीन और जापान दोनों ही मांगो का तीव्र विरोध किया गया ओर चीन को कुछ भी नहीं दिया गया, तथापि जापानी प्रतिनिधियों ने शांतुंग के मामले में अपनी मांग को मनवाने के लिए प्रभावकारी दबाव डाला। जापान का कहना था कि उसने सुदूरपूर्व से जर्मनी को भगाकर न केवल मित्रता के उत्तरदायित्व को निभाया, बल्कि प्रशान्त महासागर एवं यूरोप के कुछ द्वारों की सुरक्षा भी की है जिसके लिए उसे धन और जन दोनों की बलि देनी पड़ी। अतः शांतुंग में उसके दावे को मान लिया जाना चाहिये। जब जापान ने शान्ति सम्मेलन से निकल जाने की और राष्ट्र संघ के बहिष्कार की धमकी दी तो अन्त में शांतुंग पर जापान का दावा स्वीकार कर लिया गया और चीन अपनी बाजी हार गया। पेरिस के शान्ति समझौते के अनुसार 1898 के समझौते तथा बाद के अन्य समझौतों के आधार पर शांतुंग में जर्मनी वाले सभी अधिकार जापान को मिले। कियाओचाओं की खाडी में उसे लीज का अधिकार मिला और साथ ही इस प्रान्त में उसे आर्थिक अधिकार भी प्राप्त हुए। जापान शांतुंग को प्राप्त करके भी असन्तुष्ट बना रहा क्योंकि उसे वायदे के अनुसार लाभ प्राप्त नहीं हुए। जापान में अमेरिका विरोधी भावनाएं भड़क उठीं क्योकी जापान की मांगों की पूर्ति में सबसे बड़ा बाधक अमेरिका को बहिष्कृत करना था।

वर्साय की सन्धि पर पुनर्विचार के लिए और सुदूरपूर्व में जापान के विस्तार को रोकने के लिए अमेरिका ने नवम्बर 1921 में वाशिंगटन सम्मेलन बुलाया जो 6 फरवरी 1922 को समाप्त हुआ। सम्मेलन में अनेक निर्णयों का जापान के साथ सम्बन्ध था। वाशिंगटन सम्मेलन पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित रखनें में काफी सहायक हुआ किन्तु यह प्रश्न अनिर्णीत रहा कि सुदूर पूर्व में ऐंगलो-सैक्सन प्रभुत्व रहेगा अथवा जापान की ही तूती बोलेगी। जापानियों की दृष्टि में यह सम्मेलन जापान पर अमेरिकी कूटनीति की विजय थी, क्योंकि इसके फलस्वरूप जापानी विस्तारवाद पर अंकुश लगाने सम्बन्धी अनेक निर्णय लिये गये। अब जापान के समक्ष समस्या यह उत्पन्न हुई कि इन विभिन्न जटिल स्थितियों के समाधान के लिए किस नीति का अवलम्बन किया जाए। इस विषय में जापानी राजनीतिज्ञ एकमत नहीं थे। 1922 से 1923 तक जापान एक तरफ सहयोग और समझौते की नीति और दूसरी तरफ दृढ़ कूटनीतिक कार्यवाहियों एवं शक्ति की नीति में फंसा रहा। 1924 से 1927 और 1929 से1931 तक तथा उससे पूर्व 1921 से 1924 के बीच के तीन वर्षो में जापान मुख्यतः समझौतावादी नीति को अपनाये रहा, यद्यपि शक्ति प्रयोग की नीति भी चालू रही ओर 1931 के बाद की नीति साम्राज्यवादी नीति का आधार बनी। 1931 में स्थिति यह थी कि फारमोसा और कोरिया इस समय जापान के आधीन थे। फारमोसा के समीपवर्ती पेस्कादोरस द्वीप समूह और दक्षिणी सखालिन पर भी उसका आधिपत्य था। प्रशान्त महासागर में विद्यमान बहुत से छोटे-छोटे द्वीप समूह भी उसके कब्जे में थे। मंचूरिया मं उसका आर्थिक प्रभाव क्षेत्र विद्यमान था। लिआओतुंग प्रायद्वीप पर उसका प्रभुत्व था और मंचूरिया में उसकी सेनाए भी स्थापित थीं। पूर्वी एशिया और प्रशान्त और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसकी स्थिति इतनी सुदृढ़ थी कि वह निश्चिन्त होकर साम्राज्य विस्तार के लिए प्रवृत्त हो सकता था। जलसेना और सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से वह संसार में तीसरा स्थान रखता था। उसकी स्थल सेना भी अत्याधिक शक्तिशाली थी। व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्र में ब्रिटेन ओर अमेरिका के सदृश उन्नत व समृद्ध देशों के समकक्ष था। उसकी राजधानी टोक्यों जनसंख्या की दृष्टि से संसार में तीसरा स्थान रखती थी। तीन-चौथाई सदी के लगभग समय से पूर्वी एशिया का यह छोटा सा देश इतना शक्तिशाली और समृद्ध हो गया था कि वह उन्नत पाश्चात्य देश के साथ लोहा ले सकता था।

तनाका स्मरण पत्र और शक्ति प्रयोग पर आधारित जापानी नीति (1931-41)-अप्रैल 1927 में बेरन तनाका जापान का प्रधानमंत्री बना जो शक्ति पर आधारित दृढ़ नीति का पोषक था। जून-जुलाई 1927 में जापानी सेनाध्यक्षों एवं वित्त तथा युद्ध विभाग के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में प्रसिद्ध तनाका स्मरण पत्र तैयार हुआ जिसे 25 जुलाई, 1927 को जापानी सम्राट की सेवा में प्रस्तुत किया गया। इस स्मरण पत्र में स्पष्ट कहा गया कि जापान के राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए न केवल मंचूरिया, मंगोलिया और चीन की विजय की ही आवश्यकता है बल्कि सम्पूर्ण एशिया और दक्षिणी सागरीय प्रदेशों की विजय की भी आवश्यकता है। इसमें यह भी स्वीकार किया गया कि प्रादेशिक विस्तार की इस योजना के द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका को भी पराजित करना पड़ेगा।

तनाका स्मरण पत्र को जापान की विदेश नीति में वही स्थान प्राप्त हुआ जो नाजी जर्मनी की विदेश नीति में हिटलर के मीन कैम्फ को। इसे जापान का मुनरों सिद्धान्त कहा जाता है क्योंकि यह एशिया वालों के लिए के सिद्धान्त पर आधारित था। इसका घोषित उद्देश्य यूरोपीय साम्राज्यवाद से एशिया की रक्षा करना था किन्तु अन्त में यह स्वयं साम्राज्यवाद का एक अस्त्र सिद्ध हुआ। प्रमुख अन्तर यही था कि अमेरिकी साम्राज्यवाद जापानी साम्राज्यवाद की अपेक्षा अधिक अप्रत्यक्ष एवं उदार था और जहां मुनरों सिद्धान्त यूरोप को अमेरिकी महाद्वीपों से पृथक रख सका वहां तनाका सिद्धान्त एशिया को यूरोपीयों से पृथक रखने में सफल नहीं हुआ। यद्यपि जापान का मंत्रिमण्डल तनाका स्मरण पत्र के सिद्धान्त पर चलने को तैयार नहीं था तथापि जापान के सेनानायक घटनाओं के प्रवाह को प्रभावित करने की स्थिति में थे क्योंकि जापान में सेना और नौ सेना विभाग व्यवहारिक रूप में नागरिकों तथा नागरिक अधिकारियों से स्वतन्त्र था और मन्त्रियों की स्वीकृति के बिना ही सैनिक अधिकारियों को सम्राट से प्रत्यक्ष वार्ता करने का अधिकार था। सैनिक नेताओं के हृदय में संसदात्मक शासन के प्रति बहुत कम सहानुभूति थी ओर 1931 के प्रारम्भ से ही ये अपनी नीति को आरोपित करने में सफल हो गए।

1931 से जापान ने तनाका की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना शुरू कर दिया। 10 वर्षों की शान्ति नीति का पालन करने के बाद जापान राजनीति में अनेक कारणों से साम्राज्यवाद का पुनरुत्थान हुआ। इनमें से कुछ कारण ये थे प्रथम चीन में कुओमिंगतांग दल के नेतृत्व में राष्ट्रीय एकता का तेजी से विकास होता जा रहा था और जापानी हितों को तथा उसकी साम्राज्यवादी महत्वकांक्षा को चीन की संगठित एकता से बड़ा खतरा था। द्वितीय, चीन में साम्राज्यवादी रूस का प्रभाव बढ़ने लगा था और जापान के सैन्यवादियों एवं शान्तिप्रिय राजनीतिज्ञों तक को यह पसन्द न था। तृतीय 1930 की आर्थिक मंदी ने जापान को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अन्य देशों में अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए बाजार तथा अपनी अतिरिक्त जनसंख्या के लिए प्रदेश खोजें। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि-

"एशिया के आधुनिक इतिहास में 1931 का बहुत महत्व है, क्योंकि इस साल जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार की उस प्रक्रिया को शुरू किया, जिसने दस वर्षों के समय में प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी और दक्षिणी पूर्वी एशिया को व्याप्त कर लिया। बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ 1939 में हुआ था, पर जहां तक एशिया का सम्बन्ध है वहां वस्तुतः इस महायुद्ध का श्रीगणेश 1931 में ही हो गया था। 1931 में जापान ने मंचूरिया से चीन के शासन का अन्त किया और अपनी संरक्षकता में उस प्रदेश में मन्चुकुआ नामक नए राज्य की स्थापना की। यह राज्य नाम को स्वतन्त्र होते हुए भी वस्तुतः जापान का वंशवर्ती था। इसके बाद जापान और चीन के द्वितीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ और चीन के अनेक प्रदेशों को जापान ने अपनी शक्ति व प्रभुत्व का विस्तार किया। इस बीच में जब 1939 में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, तो जापान ने जर्मनी और इटली का पक्ष लेकर मित्रराज्यों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी और महायुद्ध के इस अवसर से लाभ उठाकर सम्पूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। संसार के आधुनिक इतिहास में जापान का यह उत्कर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

आर्थिक उन्नति

लगभग 45 साल के सुदीर्घ शासन के बाद 1912 में सम्राट मेंइजी की मृत्यु हुई और योशीहितों जापान का नया सम्राट बना। सम्राट बनने पर वह तैशो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 1926 में तैशों की मृत्यु के बाद हिरोहितो सम्राट शोवा के नाम से जापान के राजसिंहासन पर बैठा। सम्राट शोवा या हिरोहितो साम्राज्यवाद का कट्टर पक्षपाती था, अतः उसके शासनकाल में जापान अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हुआ। 1931 के बाद तो जापान शक्ति प्रयोग की नीति पर चल पड़ा।

1895 से 1921 तक जापान का राजीनतिक इतिहास विशेष महत्व का नहीं है। इस काल में जापान ने साम्राज्य विस्तार के जो प्रयत्न किए एशिया और संसार के इतिहास में इसी का महत्व है पर इस समय आर्थिक क्षेत्र में जापान ने जो असाधारण उन्नति की वह न केवल उसके अपने लिए वरन सम्पूर्ण एशिया के लिए गौरव की बात थी। 1885 से 1918 तक के केवल 35 वर्षों के काल में ही जापान के विदेशी व्यापार में साठ गुना से भी अधिक की वृद्धि हो गई। यह आश्चर्यजनक वृद्धि उस व्यावसायिक उन्नति का परिणाम थी जो इस काल में जापान ने की। विदेशी व्यापार को उन्नत करने और विदेशी

बाजारों में पैर जमाने के लिए सरकार ने अपने उद्योगों का पुनर्गठन किया, लेकिन तभी 1927 में वित्तीय संकट का और बाद में 1929 की विश्वव्यापी मंदी का सामना करना पड़ा। इन दो झटकों ने जापानी उद्योगों की उन्नति को अस्त-व्यस्त कर दिया और जापानी माल की विदेशी मांग घट गई। मन्दीकाल के कुप्रभाव और विदेशी व्यापार की प्रतिकूल स्थिति को दूर करने की दृष्टि से व अन्य आर्थिक कारणों से जापान ने अपनी मुद्रा येन का पुनः अवमूल्यन किया। इसके अतिरिक्त सरकार शस्त्रास्त्रों के उत्पादन पर अधिक व्यय करने लगी। फलस्वरूप जापान की अर्थ-व्यवस्था न केवल सम्भल गई, बल्कि बड़ी तेजी से समृद्धि की ओर चल पड़ी। युद्ध-सामग्री के निर्माण पर विपुल व्यय करने से औद्योगिक क्रियाशीलता में भारी वृद्धि हुई जिसका विदेशी व्यापार पर काफी अनुकूल प्रभाव पड़ा। जहां जापान मन्दी काल के झटके को आसानी से पार कर गया, वहां विश्व के अन्य प्रमुख देशों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। 1931 से 1939 के बीच जापान का विदेशी व्यापार पहले की सभी सीमाओं को लांघ गया। उसके निर्यात व्यापार का आकार लगभग 83 से 85 प्रतिशत अधिक बढ़ गया जबकि आयात के आकार में वृद्धि लगभग 30 प्रतिशत ही हुई। मुख्य बात यह थी कि जापान का विदेशी व्यापार उस स्थिति में बढ़ा जबकि कुल मिलाकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति सन्तोष जनक नहीं थी। जापान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रमुखता अपने तीव्र औद्योगिककरण के फलस्वरूप ही प्राप्त कर सका। निर्मित माल के निर्यात के अनुपात में कमी हो गई। दूसरी ओर अर्द्ध-निर्मित माल का आयात गिरा। इस अवधि में जापान यद्यपि विश्व के सभी बाजारों में छा गया, लेकिन सुदूरपूर्व और संयुक्त राज्य अमेरिका, जापानी विदेशी व्यापार के सबसे प्रमुख क्षेत्र थे। सुदूरपूर्व को जापानी सूती माल और मशीनरी का निर्यात करता था तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को कच्चे रेशम, चाय, मछली आदि का। आयात के क्षेत्र में सुदूरपूर्व से जापान कच्चा माल खरीदता था और अमेरिका से कपास, खनिज तेल, गेहूं और इंजीनियरिंग की सामग्री।

जापान ने औद्योगिक क्षेत्र में विस्मयकारी प्रगति की। सूती वस्त्र उद्योग, रेशम उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग, कोयला उद्योग, जहाज-निर्माण उद्योग, रासायनिक उद्योग, मोटर उद्योग, आदि विभिन्न वृहद् स्तरीय उद्योगों में जापान ने इतनी तेजी से विकास किया कि विश्व के अग्रणी राष्ट्र भी पिछड़ने लगें। 1939 के आते-आते सूती वस्त्र के निर्माण और उद्योग में जापान ने इंग्लैण्ड को पछाड़ दिया। अब विश्व बाजार में जापान ही सूती वस्त्र उद्योग का राजा कहा जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के समय से ही विभिन्न कारणों से जापानी रेशन उद्योग ने भारी उन्नति की। प्रथम महायुद्ध ने जापान के लोहा व इस्पात उद्योग में प्राण फूंक दिए। युद्धकाल में और इसके बाद निजी उद्योगपतियों ने लोहा व इस्पात के अनेक कारखानों का तथा पुराने कारखानों का विस्तार किया। 1914 से 1929 के बीच इस्पात का उत्पादन पूर्वापेक्षा लगभग 8 गुना बढ़ गया। जहां 1913 में तैयार इस्पात 255 हजार टन हुआ था वहां 1929 में यह बढ़कर 2034 हजार टन हो गया। महामन्दी के समय जापान को तीव्र आर्थिक झटके लगे, किन्तु बाद में औद्योगिक क्षेत्र में उसने तेजी से प्रगति की। 1930 से 1939 के बीच लोहा व इस्पात का उद्योग काफी पनपा। 1930 से 1936 के बीच ही तैयार इस्पात का उत्पादन पहले की तुलना में दुगने से भी अधिक हो गया। पिग आयरन का उत्पादन भी दुगना हो गया। तैयार इस्पात में विभिन्न नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। 1936 तक इस्पात के उत्पादन में जापान ने इतनी उन्नति कर ली कि आयात के स्थान पर वह इसका निर्यात करने लगा। इस समय महायुद्ध के लक्षण प्रकट होने लग गए थे। अतः सैनिक तैयारियों की दृष्टि से लोहा व इस्पात के उत्पादन के एकीकरण पर बल दिया गया। इस उद्देश्य से 1934 में एक जापानी स्टील कम्पनी स्थापित हुई जिसमें लगभग तीन-चौथाई पूंजी सरकार की थी। 1937 में चीन व जापान के बीच युद्ध छिड़ जाने से लोहा व इस्पात उद्योग में भारी प्रगति हुई। अब लोहा व इस्पात के उत्पादन पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने तक इस्पात के उत्पादन में काफी वृद्धि कर ली गयी।

कोयला उद्योग में वृद्धि के बावजूद जापान को कोयले का आयात करते रहना पड़ा। प्रथम महायुद्ध के दौरान जापान का जहाज निर्माण उद्योग बहुत फूला-फला। युद्धोत्तर काल में इस उद्योग की प्रगति धीमी पड़ गयी, किन्तु के 1931 के बाद यह उद्योग फिर तेजी से विकास करने लगा। जापान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की पुनः प्राप्ति और 'मिटाओ व बनाओं' योजना के कारण जहाजी उद्योग तेजी से पनपा। 'मिटाओं व बनाओं' योजना के अन्तर्गत पुराने जहाजों को नष्ट करने और नए व आधुनिक जहाजों का निर्माण करने की नीति अपनाई गयी। यह योजना पूरी तरह से सफल हुई। 1934 में एक नई योजना के अन्तर्गत जहाजों का निर्माण काफी तेज गति से किया गया। सरकार द्वारा

इस उद्योग को काफी सहायता दी गयी। इन सब प्रयासों का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि जापानी जहाज निर्माण उद्योग बहुत उन्नत हो गया। जी.सी. एलन के शब्दों में, दिसम्बर 1933 में मुख्यपोत निर्माण कारखाने में श्रमिकों की संख्या 34,000 थी वह 1936 में बढ़कर 51,000 हो गयी। 1932 में समुद्र में उतारे गये पोतो का टन भार कुल 54,000 था जो सबसे कम था। इसकी तुलना में 1937 में यही टन भार कुल 446,000 हो गया। 1919 से लेकर अब तक समुद्र में उतारे गए पोतों के टन भार से बहुत अधिक था। इस उद्योग को नौ-पोत निर्माण के पुनः आरम्भ से ही लाभ हुआ। 1937 तक जापान के पास व्यापारी पोतो का कुल टन भार 4,500,000 था। इस समय जापान का व्यापारी जहाज बेड़ा संसार में तीसरी श्रेणी पर था ओर इस बेड़े में अधिकांश नये पोत ही थे। 1920 से 1950 की अवधि में रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जहां 1914 में रासायनिक माल 176 मिलियन येन का हुआ वहां 1925 में 757 मिलियन येन और 1930 में 924 मिलियन येन का हुआ। 1850 से 1939 तक की अवधि में रासायनिक उद्योगों की सभी शाखाओं में उत्पादन तेजी से बढ़ा। औद्योगिक और शस्त्रास्त्र सम्बन्धी क्षेत्रों की अधिकाधिक प्रगति के कारण रासायनिक उत्पादनों की मांग में वृद्धि हुई। 1930 से 1939 के बीच रासायनिक उद्योग की कुछ शाखाओं ने उत्पादन में दुगनी-तिगुनी वृद्धि कर दिखाई। मूल्य की दृष्टि से जहां 1930 में रासायनिक उत्पादन लगभग 924 मिलियन येन के हुए। वहां 1933 में 1288 मिलियन येन के हुए। महायुद्ध से पूर्व रासायनिक उद्योग में तकनीकी और उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न सुधार किए गए।

संयुक्तराज्य अमेरिका यदि मोटर उद्योग का राजा है तो जापान उसका वजीर है। आज जापान का स्थान मोटर उत्पादन की दृष्टि से अमेरिका के बाद दूसरा है। मोटर उद्योग के क्षेत्र में जापान ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की है उसे देखते हुए यह असम्भव नहीं लगता कि निकट भविष्य में वह अमेरिका को टक्कर देने लगेगा। जापानी मोटर उद्योग का प्रारम्भ 1907 में छोटे पैमाने पर हुआ। 1927 में जापान कुल 136 मोटरें बना सका। मोटरों के ढांचों और इंजिनों का आयात अमेरिका से होता था जबकि अन्य भागों का निर्माण जापान में ही कर लिया जाता था जापानी मोटर उद्योग को तब भारी प्रेरणा मिली जब 1936 में सरकार ने इसे संरक्षण प्रदान करते हुए उत्पादन शक्ति 500 मोटर प्रतिवर्ष निर्धारित कर दी। मोटर उद्योग प्रगति करता गया। 1941 में लगभग 43 हजार मोटरें बनाई गई।

जापान के आश्चर्यजनक आर्थिक उत्कर्ष और विश्व के अग्रणी राष्ट्रों के लिए इस उत्कर्ष से उत्पन्न चिन्ता को सारभूत रूप में प्रकट करते हुए डॉ० बुद्धप्रकाश ने लिखा है-

1932 तक,अमेरिका से पहले ही, जापान अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्दी से बाहर निकल आया और अगले ही कुछ वर्षो में उसकी अर्थ-व्यवस्था और देशों से ज्यादा सुधर गई। दिसम्बर, 1931 में वित्तमन्त्री ताकाहाशी कोरेकीयों ने फिर स्वर्ण-विनिमयमान छोड़ दिया। इससे येन के दाम 50 सेण्ट से गिरकर 30 सेण्ट पर टिक गए। इस अवमूल्यन से निर्यात में खूब बढ़ोत्तरी हुई। रेशम का बाजार तो ठीक रहा, लेकिन सूती कपड़े की बाढ़ ने दुनिया को ढक लिया। एशिया और अफ्रीका के देश सस्ते जापानी कपड़े से भर गये। 1936 तक जापानी सूती कपड़े के व्यापार ने इंग्लैण्ड को पछाड़ दिया जो दुनिया का सबसे बड़ा सूती कपड़े का निर्यात करने वाला देश था। 1937 तक जापान दुनिया का सबसे बड़ा रेयोन बनाने वाला देश हो गया। ऊनी सामान जापान में बाहर से आता था किन्तु 1936 तक उसने अपनी कुल जरूरतें पूरी करने की क्षमता प्राप्त कर ली और काफी माल बाहर भी भेजने लगा। 1901 में स्थापित यावाता का लोहे और फौलाद का कारखाना 1913 तक उसकी आधी लोहे की जरूरतें और तिहाई फौलाद की मांग पूरी करता था। 1913 से 1929 के बीच फौलाद की तैयारी चौदह गुना हो गई और 1929 से 1936 तक इसकी भी दोगुनी हो गई। बिजली की तैयारी 1913 और 1920 के बीच दोगुनी हो गई थी, अगले दस वर्षों में इससे चार गुना ज्यादा बढ़ी और 1937 तक इसकी मांग दोगुनी हो गई। 1920-25 तक जापान में ज्यादातर मशीनरी बाहर से आती थी, लेकिन 1936 तक जापान न सिफ्र अपनी जरूरत की पूरी मशीनें बनाने लगा बल्कि काफी मात्रा में उन्हें बाहर भी भेजने लगा। 1931 की मंचूरिया की घटना के बाद जो सैनिक तैयारी शुरू हुई उसने भी उद्योग, व्यापार और अर्थ-व्यवस्था के विस्तार को बहुत बढ़ावा दिया।

जापान के इस अभूतपूर्व आर्थिक और औद्योगिक विकास से यूरोप के लोगों को ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने जापानी माल पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये, आयात-कर बढ़ाकर आसमान तक पहुंचा दिए और चुंगी और भाड़े की दरें कई गुना कर दी। यह सब उस समय हुआ जब यूरोप और अमेरिका में जापानी निर्यात से ज्यादा जापान में वहां के सामान का

आयात था और सारी दुनिया के निर्यात-व्यापार का केवल 4 प्रतिशत भाग जापानी था। इससे स्पष्ट हो गया कि यूरोप के देश और अमेरिका जापान को पनपने देना नहीं चाहते थे। इस भावना से उन लोगों को ताकत मिली जो जापान को साम्राज्यवादी और विस्तारवादी मार्ग पर ले जाना चाहते थे।

जापान की यह आर्थिक और औद्योगिक प्रगति दो दिशाओं में चली। एक ओर इससे विशाल आर्थिक संगठनों को बढ़ावा मिला और दूसरी ओर छोटे उद्योगों का विस्तार हुआ।

सामाजिक उन्नति

जापान ने सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी चंहुमुखी उन्नति की। शिक्षा का प्रसार हुआ और स्त्री शिक्षा की दिशा में विशेष प्रयत्न किए गए। उन्नीसवीं सदी तक जापान में यह माना जाता था कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र केवल घर है, किन्तु बीसवीं सदी में इस विचार में परिवर्तन आने लगा और चौथे दशक के समाप्त होते-होते स्त्री शिक्षा का बहुत अधिक प्रसार हो गया। शिक्षा के प्रसार का यह परिणाम अवश्यम्भावी था कि जापान में पत्र-पत्रिकाओं की असाधारण रूप से उन्नति हो। रिक्शा खींचने वाले कुली तक जापान में अपना अखबार खरीदते थे, और उसे पढ़कर देश-विदेश के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते थे। जापान में पहला दैनिक पत्र 1872 में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। 1930 तक दैनिक-पत्रों की लोकप्रियता इस हद तक बढ़ गई थी कि प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर ओसाका से प्रकाशित होने वाले दो दैनिक अखबारों की दस लाख से भी अधिक प्रतियां प्रतिदिन बिक जाती थीं। टोकियों से निकलने वाले दो प्रमुख दैनिक पत्रों की साढ़े छः लाख से भी अधिक प्रतियां प्रतिदिन छपा करती थीं। इन चार अत्यन्त लोकप्रिय पत्रों के अतिरिक्त एक हजार से भी अधिक अन्य दैनिक पत्र जापान के विविध नगरों में प्रकाशित होने लगे थे। साढ़े छः करोड़ के लगभग जनसंख्या के देश में एक हजार से भी अधिक दैनिक समाचार पत्रों का प्रकाशित होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जापान की जनता को देश विदेश में होने वाली घटनाओं में अत्याधिक रुचि थी। लोकमत के निर्माण में इन पत्रों का बड़ा हाथ था। जापान के समाचार पत्र स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों को प्रकट कर सकते थे। दैनिक समाचार-पत्रों के अतिरिक्त साप्ताहिक, त्रैमासिक और मासिक पत्र भी जापान में बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित होते थे। जापानी भाषा में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी अनेक पत्र-पत्रिकाएं जापान से प्रकाशित होती थी।

शहरों का तेजी से विकास हुआ और शहरों की नई संस्कृति पनपी- 1895 में जापान की चार करोड़ बीस लाख जनता का 12 प्रतिशत भाग 10,000 व्यक्तियों की जनसंख्या से अधिक वाले शहरों में रहता था। 1935 के करीब 6 करोड़ 90 लाख जनता में से 45 प्रतिशत से ज्यादा ऐसे बड़े शहरों में रहने लगे और कुल जनता का एक चौथाई से अधिक भाग उन शहरों में रहने लगा जिनकी आबादी एक लाख व्यक्तियों से ऊपर थी। 1940 तक टोकियो की आबादी 67,79,000 हो गई और वह लन्दन और न्यूयॉर्क का मुकाबला करने लगा। ओसाका, क्योतो, नांगोया, योकोहामा और कोबे में भी इसी तरह की तरक्की हुई। 1870 और 1880 के बाद शहरों में नई संस्कृति के निशान दिखाई देने लगे। सड़कों पर घोड़ा-बग्घियां दौडने लगी, गैस के लैम्पों की रोशनी छिटकने लगी, पश्चिमी शैली के मकान बनने लगे, मांस की दुकानों और नाईयों के सैलून खुलने लगे और पश्चिमी केश-विन्यास और वेष भूषा से सजे-धजे नागरिक घूमने लगे। शिक्षा में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। नागरिक प्रगति और शिक्षा की उन्नति के फलस्वरूप जीवन का स्तर बदला और बढ़ा। मजदूर बीयर और हल्के पेय पीने लगे, पाठशालाओं, भोजनालयों और विश्रान्तिगृहों में जाने लगे और सिनेमा देखने, अखबार पढ़ने, चश्मा लगाने और सिगरेट पीने के शौकीन हो गए। विद्यार्थियों को क्रीड़ा, चित्रपट और यौन विषयों में बड़ी रुचि हो गई।

जापानी समाज में श्रेणी-भेद समाप्त होकर नई समानतावादी परिस्थितियां पैदा हुईं। डा. सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में आधुनिक युग का प्रारम्भ होने पर श्रेणी भेद में भी अन्तर आना शुरू हो गया। सामन्त पद्धति का अन्त हो जाने से पुरानी कुलीन श्रेणी का महत्व कम होने लगा और व्यवसाय तथा व्यापार का अनुसरण कर सर्व साधारण जनता के भी बहुत से लोग धनी होकर समानास्पद स्थिति प्राप्त करने लगे। नये युग की भावनाओं से प्रेरित होकर सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाए, जिनसे एता लोगों को अन्य जनता के समान अधिकार दिए गए। उनके लिए भी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि एता लोगों की सामाजिक स्थिति में भी उन्नति हो। पर अनेक सदियों से एता लोगों में अपने को हीन एवं नीच समझनें की भावना इतनी बद्धमूल थी और आर्थिक दृष्टि से वे इतने गरीब थे कि उनके लिए यह सम्भव व क्रियात्मक ही नहीं था कि कानून की दृष्टि से अन्य लोगों के समकक्ष हो जाने पर भी वे वस्तुतः अन्य लोगों के समान स्थिति प्राप्त कर सकें। पर यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग की प्रवृत्तियां जापान में भी बड़ी तेजी के साथ कार्य कर रही थीं और श्रेणी व वर्ग का भेद वहां निरन्तर कम होता जा रहा था। पर नये युग की परिस्थितियां जापान में भी उसी प्रकार का नया श्रेणी-भेद विकसित करने में तत्पर थीं, जैसा कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के व्यवसाय प्रधान देशों में विकसित रहा था। पूंजीपतियों और मजदूरों के रूप में इस समय जपापन में दो ऐसे वर्ग विकसित हो रहे थे, जो एक-दूसरे से सर्वथा पृथक थे जिनके हितों में स्वाभाविक विरोध था और जिनमें समन्वय व सामंजस्य स्थापित कर सकना सुगम नहीं था। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी मजदूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जापान ने हर दृष्टि से अपने उत्कर्ष की सीमा स्पर्श कर ली। किन्तु द्वितीय महायुद्ध काल में, प्रारम्भिक सफलताओं के बाद, जापान को पराजय और पतन के लज्जाजनक दिन देखने पड़े।

और नाईयों के सैलून खुलने लगे और पश्चिमी केश-विन्यास और वेष भूषा से सजे-धजे नागरिक घूमने लगे। शिक्षा में युगान्तरकारी परिवर्तन हुआ। नागरिक प्रगति और शिक्षा की उन्नति के फलस्वरूप जीवन का स्तर बदला और बढ़ा। मजदूर बीयर और हल्के पेय पीने लगे, पाठशालाओं, भोजनालयों और विश्रान्तिगृहों में जाने लगे और सिनेमा देखने, अखबार पढ़ने, चश्मा लगाने और सिगरेट पीने के शौकीन हो गए। विद्यार्थियों को क्रीड़ा, चित्रपट और यौन विषयों में बड़ी रुचि हो गई।

जापानी समाज में श्रेणी-भेद समाप्त होकर नई समानतावादी परिस्थितियां पैदा हुईं। डा. सत्यकेतु विद्यालंकार के शब्दों में आधुनिक युग का प्रारम्भ होने पर श्रेणी भेद में भी अन्तर आना शुरू हो गया। सामन्त पद्धति का अन्त हो जाने से पुरानी कुलीन श्रेणी का महत्व कम होने लगा और व्यवसाय तथा व्यापार का अनुसरण कर सर्व साधारण जनता के भी बहुत से लोग धनी होकर समानास्पद स्थिति प्राप्त करने लगे। नये युग की भावनाओं से प्रेरित होकर सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाए, जिनसे एता लोगों को अन्य जनता के समान अधिकार दिए गए। उनके लिए भी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि एता लोगों की सामाजिक स्थिति में भी उन्नति हो। पर अनेक सदियों से एता लोगों में अपने को हीन एवं नीच समझनें की भावना इतनी बद्धमूल थी और आर्थिक दृष्टि से वे इतने गरीब थे कि उनके लिए यह सम्भव व क्रियात्मक ही नहीं था कि कानून की दृष्टि से अन्य लोगों के समकक्ष हो जाने पर भी वे वस्तुतः अन्य लोगों के समान स्थिति प्राप्त कर सकें। पर यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग की प्रवृत्तिया। जापान में भी बड़ी तेजी के साथ कार्य कर रही थीं और श्रेणी व वर्ग का भेद वहां निरन्तर कम होता जा रहा था। पर नये युग की परिस्थितियां जापान में भी उसी प्रकार का नया श्रेणी-भेद विकसित करने में तत्पर थीं, जैसा कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के व्यवसाय प्रधान देशों में विकसित रहा था। पूंजीपतियों और मजदूरों के रूप में इस समय जापान में दो ऐसे वर्ग विकसित हो रहे थे, जो एक-दूसरे से सर्वथा पृथक थे जिनके हितों में स्वाभाविक विरोध था और जिनमें समन्वय व सामंजस्य स्थापित कर सकना सुगम नहीं था। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी मजदूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जापान ने हर दृष्टि से अपने उत्कर्ष की सीमा स्पर्श कर ली। किन्तु द्वितीय महायुद्ध काल में, प्रारम्भिक सफलताओं के बाद, जापान को पराजय और पतन के लज्जाजनक दिन देखने पड़े।

अध्याय : 15 प्रथम विश्व युद्ध व शान्ति समझौते
First World War and Peace Settlements

प्रथम विश्व युद्ध

20वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप बारूद का बड़ा ढेर था जिसको आग लगाने के लिये केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी। पिछले 40-50 वर्षों से घटनाएं इस तरह से घट रही थीं कि अधिक देर तक शान्ति कायम नहीं रखी जा सकती थी। राष्ट्रों में आपसी तनाव बहुत बढ़ गया था। अस्त्रों-शस्त्रों की होड़ लगी हुई थी। क्रमशः फ्रांस-प्रशा युद्ध, बर्लिन सम्मेलन, बल्गेरिया का प्रश्न, त्रि-राष्ट्र संधि का जन्म, रूस और जर्मनी में मनमुटाव, रूस और आस्ट्रिया में मतभेद, इंग्लैण्ड और जर्मनी में राजनैतिक, सैनिक तथा आर्थिक प्रतिस्पर्धा, त्रि-मैत्री का उदय पूर्व की उलझती हुई समस्या, राष्ट्रों में साम्राज्यवाद के प्रश्न पर झगडे, मोराक्को के तीन संकट, बोस्निया का संकट तथा सेरोजिनी का हत्याकाण्ड आदि कुछ ऐसी अप्रिय घटनाएं थी जो सम्पूर्ण विश्व को एक भंयकर आग की लपेट में ले गई।

यूरोप की राजनीति गुटबन्दी (Triple Alliance and Triple Entente) का शिकार हो चुकी थीं। दोनों गुटों में प्रतिस्पर्धा और घृणा इतनी बढ़ गई थी कि उसे किसी भी तरह कम नहीं किया जा सकता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों गुटों की ओर से सामरिक तैयारियां होने लगी। थल सेना में वृद्धि की गई तो नौ सेना की शक्तिशाली बनाया गया। सेना को युद्ध के लिए हर प्रकार से सुसज्जित करने की दृष्टि से नाना प्रकार के शस्त्र व अस्त्र बनाये गये। इन सामरिक तैयारियों के परिणामस्वरूप यूरोप ने बीसवीं सदी के आरम्भ में ही एक विशाल शस्त्रागार का रूप धारण कर लिया था। उसमें गोला-बारूद जैसे अनेक विस्फोटक पदार्थ भरे थे। उनके विस्फोट के लिए केवल एक चिंगारी की आवश्यकता थी और वह चिंगारी सुलगी, जून, 1914 में आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या से । चिंगारी का लगना था कि यूरोप में महान् विस्फोट हुआ और यूरोप रूपी ज्वालामुखी से चार वर्ष तक सतत् अग्नि की भंयकर ज्वाला निकलती रही जिसमें यूरोप के देशों को ही नहीं वरन् समस्त विश्व के देशों को जलना पड़ा।

युद्ध का आरम्भ-ग्रीष्म ऋतु में जब जर्मनी के लोग अपनी कील-नहर को विस्तृत हो जाने के उपलक्ष में खुशियां मना रहे थे तब 28 जून को उन्हें खबर मिली कि आस्ट्रिया के भावी सम्राट फ्रान्ज फर्डीनेण्ड की सराजेवों में सर्बिया की आतंकवादी पार्टी के किसी सदस्य द्वारा उनकी पत्नी सहित हत्या कर दी गई है। इस समाचार के पाते ही जर्मनी व यूरोप के कई अन्य देश आश्चर्यचकित हो गये। यूरोप के राजनीतिज्ञों ने विभिन्न अटकलें लगाना आरम्भ किया। आस्ट्रिया ने अपने राजकुमार की हत्या का सारा दोषारोपण सर्बिया पर मंड दिया। जर्मनी के सहयोग से आस्ट्रिया ने सर्बिया से इस हत्या का बदला लेना चाहा। दोनों देशों के सम्बन्ध पहले से ही बाल्कन युद्धों में तनावपूर्ण हो चुके थे। 23 जुलाई को आस्ट्रिया ने बहुत ही कड़ी भाषा में सर्बिया को एक मांग-पत्र भेजा और उसका उत्तर 48 घण्टों के भीतर मांगा। हालांकि मांगे कठोर व सर्बिया के लिए अति अपमानजनक थी तब भी सर्बिया ने सिवाय एक मांग के उन मांगों को स्वीकार कर लिया। अस्वीकार की हुई मांग यह थी-आस्ट्रिया ने मांग की थी कि जब इस हत्या के अभियोग को सर्बिया की अदालत में रखा जावेगा तो आस्ट्रिया के अधिकारी भी उस न्यायालय में न्यायधीश के रूप में बैठेंगें। इस मांग को अस्वीकार करते हुए सर्बिया ने सुझाव रखा था कि वह इस मामले को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में रखने को उद्यत है। युद्ध पर उतारू आस्ट्रिया को जब यह उत्तर 25 जुलाई को मिला तो उसने इस उत्तर को असन्तोषजनक बताया और 26 जुलाई को आस्ट्रिया ने अपनी कुछ सेना को तैयार रहने का आदेश भी दे दिया।

आस्ट्रिया व सर्बिया के बीच उत्पन्न इस संकट से समस्त यूरोप परेशान था। जब मांगे स्वीकार करने की अवधि ही 48 घण्टे दी गई तो यूरोप के देशों ने इस मांग पत्र को आस्ट्रिया का अल्टीमेंटम ही समझ लिया था। इंग्लैण्ड व फ्रांस

पूर्वी समस्या पर आस्ट्रिया व जर्मनी से युद्ध करना नहीं चाहते थे। अतः इंग्लैण्ड ने इटली व जर्मनी के सहयोग से इस मामले को सुलझाना चाहा। पर आस्ट्रिया ने इंग्लैण्ड के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया क्योंकी जर्मनी उसकी पीठ पर था। उधर 27 जुलाई को रूस ने भी तार द्वारा संदेश भेज कर सर्बिया को आश्वस्त किया कि उसकी दुर्भाग्य की घड़ी में रूस दूर से तमाशा नहीं देखता रहेगा। इसके साथ ही रूस ने आस्ट्रिया को भी चेतावनी दी कि यदि वह सर्बिया के विरुद्ध सैन्य सज्जा करेगा तो रूस भी अपनी सैन्य-सज्जा करेगा। इस चेतावनी के परिणाम विनाशक ही सिद्ध हुए। आस्ट्रिया ने 28 जुलाई को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

आस्ट्रिया की सेना को द्रुत गति से बढ़ता देख रूस ने 29 जुलाई को ही सर्बिया के समर्थन में आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। जब जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय ने देखा कि रूस भी मैदान में आ रहा है तो 28, 29 व 30 जुलाई को रूस के जार को तीन बार तार द्वारा सूचित किया कि वह यूरोप के युद्ध में भाग न ले। उसके भाग लेने पर यह यूरोपीय युद्ध हो जावेगा। रूस ने विलियम द्वितीय की चेतावनी की चिन्ता नहीं की और अपनी सेनाएं युद्ध में झोंक दी। इस पर जर्मनी ने 1 अगस्त को रूस के विरुद्ध, 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध तथा 4 अगस्त को बेल्जियम के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इंग्लैण्ड का युद्ध में भाग लेना अनिश्चित था क्योकिं उसे सर्बिया के प्रश्न से कुछ लेना देना नहीं था; परन्तु जब 4 अगस्त को जर्मनी ने बेल्जियम के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी तो उसी दिन इंग्लैण्ड ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करदी क्योकि इंग्लैण्ड बेल्जियम को उसकी तटस्थता तथा अखण्डता बनाये रखने का वचन दे चुका था। इसके अलावा इंग्लैण्ड अपनी सुरक्षा के लिए बेल्जियम की स्वतन्त्रता अति आवश्यक समझता था।

युद्ध के कारण

यह प्रथम विश्व-युद्ध किसी एक आकस्मिक घटना के कारण नहीं हुआ। यह सही है कि इसका आरम्भ आस्ट्रिया के युवराज आर्च ड्यूक फर्डीनेण्ड की हत्या के एक माह उपरान्त हुआ। पर वही इसका एकमात्र कारण नहीं था। इस युद्ध के कारण वर्षो से यूरोप, अफ्रीका व एशिया में घटने वाली घटनाओं से उत्पन्न होते जा रहे थे। इसके अलावा इस युद्ध में भाग कई देशों ने लिया। यह स्वाभाविक है कि उन राष्ट्रों ने इस युद्ध में भाग अपने-अपने स्वार्थो को प्राथमिकता देते हुए ही लिया होगा। अतः इस युद्ध के कारण भी अनेक होने चाहिये।

1. उग्र राष्ट्रीयता- निःसन्देह राष्ट्रीयता मानव की एक स्वाभाविक एवं उचित मनोवृत्ति है; परन्तु जब यह राष्ट्रीयता उग्र रूप धारण कर लेती है तो यह मानव-समाज की हितकर होने के स्थान पर अहितकर बन जाती है। उग्र राष्ट्रीयता के आवरण में मानव केवल अपनें राष्ट्र व अपनी जाति का ही भला करना चाहता है ओर अपने राष्ट्र के विकास के लिए वह दूसरे राष्ट्रों का अहित करने में नहीं हिचकता। ठीक यही दशा यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में थी और 1870 से 1914 के काल में तो यह भावना इतनी प्रबल हो गई कि संभवतः इतिहास में कभी न रही होगी। उग्र-राष्ट्रीयता का भूत इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, हालैण्ड आदि यूरोपीय देशों के सिर पर सवार था। ये सब देश विश्व के अधिक से अधिक देश जीतना व वहां अपने उपनिवेश स्थापित करना चाहते थे। इस कारण उनमें वैमनस्य तथा द्वेष की भावना घर कर गई थी। बड़े देशों अतिरिक्त छोटे देश भी इस भावना से प्रेरित थे। उन्होंने अपने पडौसी देशों की अखण्डता को विनष्ट करने का प्रयास किया। इटली व जर्मनी अपने एकीकरण का प्रमुख साधन राष्ट्रीय भावना को ही समझते थे।

अतः दोनों देशों ने राष्ट्रीय संगठन को एक ध्येय माना और दोनों उसका प्रचार करने लगे। यूरोप में शक्तिशाली बन जाने पर जर्मन अपनी जाति को विश्व में सर्वश्रेष्ठ समझने लगा और इंग्लैण्ड अपने लोगों को विश्व में सर्वोच्च समझता था। जर्मनी के चान्सलर बेथमेंन हालवेग का कहना था कि ईश्वर ने जर्मन जाति को संसार में विशेष स्थान दिया है। इसके विरोध में इंग्लैण्ड का सेसिल कहता था कि मेंरा दावा है कि अब तक इतिहास में जितनी जातियां उत्पन्न हुई है, ब्रिटिश उनमें सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीयता की उग्र भावना ने मानव जाति की शक्ति को हानि पहुंचाने की परिस्थितियां उत्पन्न कर दी।

2. यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी भावना- उग्र-राष्ट्रीयवाद से ही साम्राज्यवादी भावना का प्रादुर्भाव होता है। जब यूरोपीय देश उग्र राष्ट्रीयवाद के शिकार हो गए तो यह स्वाभाविक हीं था कि उनके सिर पर साम्राज्यवाद का भूत सवार हो। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इंग्लैण्ड साम्राज्यवाद के क्षेत्र में सर्व अग्रणी था। बीसवीं सदी के आरम्भ से ही विकसित

औद्योगिक विकास ने तथा राष्ट्रों के उग्र राष्ट्रवाद ने यूरोप के देशों को साम्राज्यवाद के क्षेत्र में अग्रसर होने की प्रेरणा दी। अफ्रीका का बंटावारा होना अभी आरम्भ ही हुआ था। अतः जर्मनी, इटली, फ्रांस आदि देश भी अफ्रीका के प्रदेश हथियाने में इंग्लैण्ड से पीछे नहीं रहना चाहते थे। रूस भी इस भावना से कम प्रभावित नहीं था। आरंभ में उसने अपनी साम्राज्यवादी क्षुधा को टर्की के विनाश से शान्त करना चाहा। परन्तु इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी व आस्ट्रिया के प्रतिरोध के कारण उसे अपना ध्यान मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व की ओर लगाना पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया में कदम बढ़ाने से उसके सम्बन्ध इंग्लैण्ड से और तनावपूर्ण हो गये और सुदूर-पूर्व में जाने के परिणामस्वरूप उसे 1905 में जापान से करारी मात खानी पड़ी। बाल्कन युद्धों के कारणों में एक कारण यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी भावना भी थी। इटली अपने साम्राज्य विस्तार के लिये इधर-उधर जोड-तोड कर रहा था। ट्रिपोली के प्रलोभन ने ही उसको केन्द्रीय शक्तियों से विलग कर दिया था और वह मित्र राष्ट्रों से जा मिला था। साम्राज्यवादी क्षुधा एक ऐसी क्षुधा है जो कभी शान्त नहीं होती।

3. औद्योगिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा- इंग्लैण्ड ने तो उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही व्यवसाय के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर ली थी; परन्तु इटली और जर्मनी सन् 1870 के उपरान्त इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए थे। बीसवीं सदी के आरम्भ तक इन दोनों देशों ने भी इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। इन देशों के अलावा फ्रांस व रूस भी इस क्षेत्र में आगे बढ़ रहे थे। फ्रांस तो रूस से कहीं आगे बढ़ चुका था। इसलिये अफ्रीका के विभाजन में उसके स्वार्थ ब्रिटेन से टकरा रहे थे। इसी प्रकार सुदूर पूर्व में जापान औद्योगिक क्षेत्र में तीव्रता से आगे बढ़ रहा था। उसके औद्योगिक विकास के कारण उसके सम्बन्ध रूस से तथा चीन से बिगड़ गये थे। अमेरिका भी औद्योगिक विकास में अब पीछे नहीं था। वह भी सुदूर पूर्व में अपने बाजार की तलाश में था। वह चीन में अपना प्रभाव जमा रहा था ओर अपने मार्ग में जापान को बाधक समझता था। उससें भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कई राजनीतिक परिवर्तन आये जिनसे प्रथम विश्व युद्ध की संभावना में वृद्धि हो गई।

4. यूरोप में बढ़ता हुआ सैनिकवाद-उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की एक विशेषता सैनिकवाद भी रही है। इस वाद के अन्तर्गत यूरोप के देशों ने अपनी सैन्य वृद्धि की। 1862 में बिस्मार्क ने प्रशा में सैनिक शिक्षा को अनिवार्य किया तो 1866 में यह शिक्षा आस्ट्रिया में अनिवार्य कर दी गई। जर्मनी से परास्त होने पर फ्रांस को भी अपने यहां सैनिकवाद को प्रबल बनाना पड़ा। वैसे नेपोलियन बोनापार्ट के समय भी फ्रांस में सैनिकवाद ही प्रधान था। परन्तु उसके पतन के उपरान्त फ्रांस की सैनिक शक्ति यूरोप में शक्तिशाली नहीं रही थी। रूस में राजतन्त्र होने के कारण जार का आस्तित्व ही सेना के आधार पर टिका हुआ था। यदि एक राष्ट्र अपनी सुरक्षा की दृष्टि से सेना को सुदृढ़ बनाता तो उसका पड़ौसी देश उस पर शंका करता तथा वह भी अपनी सुरक्षा के बहाने सेना में वृद्धि करने लग जाता। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के प्रमुख देशों की सेना में आशातीत वृद्धि हुई। सेना में वृद्धि के साथ-साथ शस्त्रों की संख्या में वृद्धि हुई। जब यूरोप के देशों में इस प्रकार सेना व शस्त्रों के बढ़ाने की होड़ लग गई तो यूरोप सैनिकवाद की चपेट में आ गया। सेना के उच्चाधिकारी गुप्त रूप से अपनी सुरक्षा योजनाएं बनाते रहते थे। उन देशों की सरकार को भी उनकी योजनाओ का पता नहीं चलता था। 1906 से 1911 के मध्य इंग्लैण्ड व फ्रांस के सैनिक अधिकारी क्या तैयारी करते रहे इसका पता उन देशों के विदेश मन्त्रियों को भी नहीं था। इसके विपरीत सैनिक अधिकारियों का प्रभाव नागरिक अधिकरियो पर बढ़ता जा रहा था और वे सैनिक अधिकारी अपनी ख्याती के लिये युद्ध चाहते थे। इसी प्रकार की मनोवृत्ति जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय की थी। प्रथम विश्व युद्ध को समीप लाने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ विलियम द्वितीय पर ही थोपा जाता है और इसका कारण जर्मनी में बढ़ता हुआ सैन्यवाद ही माना जाता है। पाश्चात्य कतिपय इतिहासकारों का कहना है कि विलियम द्वितीय ने अपनी सेना में वृद्धि समाजवाद के बढ़ते प्रभाव को समाप्त करने के बहाने की थी। परन्तु सिडनी ब्रेडशा फे की धारणा इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि इसमें कोई सच्चाई नहीं है कि जर्मनी ने अपनी सेना समाजवाद को कुचलने की नीयत से बढ़ाई थी। इसी प्रकार रूस के जार के भी कथन में कि अपनी सेना अपने हो रही श्रमिको की हडताल तथा विद्रोह की कार्यवाहियों को समाप्त करने हेतु वृद्धि कर रहा है, कोई सच्चाई नहीं थीं रूस ने तो जापान से परास्त होते ही सेना बढ़ाना आरम्भ कर दिया था और जर्मनी तो अपने प्रतिद्वन्द्वि इंग्लैण्ड के समकक्ष अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने को आतुर था। अतःयूरोप में तो बीसवीं सदी आरंभ से ही सैन्य वृद्धि की बाढ़ आ गई थी।

5. अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता- आज की भातिं बीसवीं सदी के प्रारंभ में कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय संघ की अनुपस्थिति में विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता व्याप्त हो गई थी। राष्ट्र अपनी इच्छानुसार कार्य करते थे। शक्तिशाली राष्ट्र रूपी मगर छोटे व निर्बल राष्ट्र रूपी मछलियों को निगल रहे थे। उन्हें कोई रोकने वाला नहीं था। नेपोलियन

की आक्रामक नीति पर नियन्त्रण करने हेतु इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशा व रूस ने एक संघ बनाया। रूस की साम्राज्यवादी क्षुधा को प्रतिबन्धित करने हेतु 1856 में पेरिस सम्मेलन, 1878 में बर्लिन सम्मेलन आयोजित किये गये। हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना अवश्य हो गई थी। परन्तु इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जिसके माध्यम से वह आक्रामक देशों को नियन्त्रण में रख सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि बीसवीं सदी में विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का राज्य था। इसीलिए बीसवीं सदी के आरंभ से ही कभी एशिया में तो कभी अफ्रीका में और कभी यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को भंग करने वाली घटनाएं घटती रही जिनका अन्तिम परिणाम 1914 में विश्व-युद्ध के रूप में परिणित हुआ।

6. सीमा सम्बन्धी झगड़े- सीमा सम्बन्धी झगड़ें विभिन्न राष्ट्रों में 19 वीं सदी से ही चलते आ रहे थे। इन झगड़ों को 1815 में वियना कांग्रेस ने तय करने का प्रयास किया था। कई नवीन राज्य बनाये गये। पर इस कांग्रेस ने 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त को ताक में रख दिया था। इटली आस्ट्रिया-हंगरी के कुछ ऐसे प्रदेशों को लेना चाहता था जिनके अधिकांश निवासी इटेलियन भाषा-भाषी थें। फ्रांस को 1870 में परास्त कर जर्मनी एल्सेस व लोरेन को अपने प्रभुत्व में ले चुका था। फ्रांस इन दोनों प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने को कटिबद्ध था। पूर्वी यूरोप में चेक्स व पोल्स अपनी स्वतन्त्रता के लिये छट-पटा रहे थे। बाल्कन युद्धों ने इन सीमा सम्बन्धी झगड़ों को और विषम बना दिया था। इस विषमता से यूरोपीय देशों में कटुता उत्पन्न हो गई थी ओर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को समाप्त करने को उद्यत बैठा था।

7. बाल्कन युद्ध- जिस प्रकार बर्लिन कांग्रेस ने बाल्कन-प्रायद्वीप की समस्या को हल न करके इसे और जटिल ही बनाया था, उसी प्रकार बाल्कन युद्धों से भी यह पूर्वी समस्या हल नहीं हुई वरन् और जटिल ही हो गई। यहां पर एक नहीं यूरोप के दर्जनों राष्ट्रों के हित टकराने लगे। बल्गारिया अपने पडौसी राज्यों का कट्टर शत्रु हो गया। बाल्कन युद्धों में प्रादेशिक नुक्सान जितना बल्गारिया का हुआ उतना अन्य राज्य का नहीं। अपमान भी उसी का हुआ। लन्दन-सम्मेलन टर्की के साम्राज्य को नहीं बचा सका। अतः टर्की भी अब इंग्लैण्ड व फ्रांस के विरुद्ध हो गया। इटली को ट्रिपोली नहीं मिला तो वह बुखारेस्ट से असन्तुष्ट ही रहा। इस सन्धि से सर्वाधिक लाभ सर्बिया को हुआ था। इसके परिणामस्वरूप वह घमण्डी हो गया। इसीलिए बुखारेस्ट की सन्धि पर उसने सगर्व कहा था कि एक बाजी तो हम लोग जीत गये, अब दूसरी बाजी की तैयारी करनी है और वह भी आस्ट्रिया के साथ। स्पष्ट है कि सर्बिया के प्रतिनिधि के ये शब्द एक प्रकार से आस्ट्रिया को चेतावनी के शब्द थे। इसलिये हेजन तो बाल्कन युद्धों को प्रथम विश्व युद्ध की प्रस्तावना बताया है। इतिहासकार ग्राण्ट और टेम्परले भी बाल्कन युद्धों को प्रथम विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी बताते है। वे लिखते है कि " 1914 के महायुद्ध के लिए कोई भी घटना इतनी उत्तरदायी नहीं है जितनी कि बाल्कन युद्ध। इस युद्ध ने तुर्कों का पतन करके शक्ति-संतुलन को प्रभावित किया। सर्बिया ने बोस्निया के अपमान का बदला लिया। सर्बिया के राष्ट्रीय आन्दोलन के परिणामस्वरूप कालान्तर में यूगोस्लाविया का जन्म हुआ। यूनान बृहत्तर यूनान का, रूमानिया बृहत्तर रूमानिया का और सर्बिया बृहत्तर सर्बिया का स्वप्न देखने लगे। आस-पास के देशों में रहने वाले यूनानी, रूमानियन और सर्ब अपने उद्धार के लिये इन देशों की ओर देखने लगे। बाल्कन युद्धों के उपरान्त आस्ट्रिया और तुर्की के अधीन अन्य जातियां भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन करने लगी। इस प्रकार लन्दन-सम्मेलन के उपरान्त भी बाल्कन प्रदेश यूरोपीय राजनीति का गर्म अखाड़ा ही बना रहा।

8. गुटों की प्रतिद्वन्द्विता- इतिहासकार फे की मान्यता है कि प्रथम विश्वयुद्ध के श्री गणेश का श्रेय बहुत कुछ उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षो में तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में गठित विभिन्न सैनिक समझौतों को दिया जाना चाहिये। 1879 में द्वि-गुट संगठन के माध्यम से जर्मनी व आस्ट्रिया एक दूसरे के समीप आ गये और 1882 में जब यह द्वि-गुट त्रिगुट-संगठन में परिणित हो गया तो आस्ट्रिया व जर्मनी को इटली एक सहयोगी के रूप में और मिल गया। इसकी प्रतिक्रिया यूरोप में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हुई। 1904 में इंग्लैण्ड व फ्रांस परस्पर मित्र बन गये और एक दूसरे को सहायता देने को तत्पर हो गये। 1907 में उन दोनों को तीसरा मित्र रूस और मिल गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि 1907 में यूरोप स्पष्ट रूप से दो सैनिक कैम्पों में विभक्त हो गया। इन गुटों ने यूरोप की शांति भंग कर दिया। इन सैनिक समझौतों का ही यह परिणाम था कि इन गुटों के देश उन समस्याओं में भी अपनी रुचि प्रदर्शित करने लगे जिनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। इसका एकमात्र कारण अपने मित्रों का समर्थन करना था। सर्बिया के प्रश्न में जर्मनी को तनिक भी रुचि नहीं थी। उसने युद्ध की घोषणा इसीलिए की क्योंकि आस्ट्रिया उसके गुट का सदस्य था। फ्रांस ने सर्बिया का समर्थन इसलिये किया क्योंकि उसका शत्रु जर्मन आस्ट्रिया का साथ दे रहा था और उसे यह पूर्ण आशा थी कि उसके गुट का सदस्य इंग्लैण्ड उसका साथ अवश्य देगा। वास्तव में देखा जाय तो सर्बिया ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था जिससे कि युद्ध की नौबत आती। यदि उसके यहां

आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हो भी गई तो उसने आस्ट्रिया की सारी शर्ते स्वीकार कर ली थी। परन्तु जर्मनी चाहता था कि सर्बिया के साथ आस्ट्रिया युद्ध करे। अतः वह उसे प्रोत्साहन देता रहा। रूस ने तुरन्त ही युद्ध की घोषणा इसलिये कर दी क्योकि वह आस्ट्रिया को नीचा दिखाना चाहता था। अतः स्पष्ट है कि यह टक्कर आस्ट्रिया व सर्बिया के बीच नहीं थी वरन् त्रिगुट और त्रिमैत्री गुटों के बीच थी। इसीलिए हेर जिमरमां ने ब्रिटिश राजदूत से कहा था-"यह युद्ध गुटबन्दी के कारण हुआ है जो आधुनिक युग का अभिशाप है"

9. जर्मनी की सामुद्रिक नीति- विश्व में सामुद्रिक शक्ति इंग्लैण्ड की प्रथम थी और आज भी उसकी ही प्रथम है। महत्वाकांक्षी विलियम ने बीसवीं सदी के आरम्भ से ही अपनी नौ-सेना को बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उसने एक समय कहा था- "में तब तक विश्राम नहीं लूगां जब तक कि अपनी जल सेना को इतना शक्तिशाली नहीं बना लूंगा जितनी की मेरी थल सेना।" जर्मनी की नौ-सेना की वृद्धि से इंग्लैण्ड चिन्तित हुआ। उसने जर्मनी से सन्धि करने का बहुत प्रयास किया परन्तु वह असफल रहा। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का भी सन् 1917 ई० में इस महायुद्ध में भाग लेने का एक प्रमुख कारण जर्मनी की नौ-सेना का शक्तिशाली होना ही था। वह अपनी सुरक्षा में इंग्लैण्ड को एक ढाल समझता था। वह सोचता था कि यदि जर्मन नौ-सेना शक्तिशाली हो जावेगी तो जर्मनी अमेरिका पर आक्रमण करने में समर्थ हो जावेगा।

10. मोरेक्को प्रश्न- इस प्रश्न को लेकर जर्मनी और फ्रांस के सम्बन्ध बीसवीं सदी के आरम्भ से ही कटु हो गये थे। परन्तु इस प्रश्न से केवल फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध नहीं बिगडे वरन् रूस, इंग्लैण्ड और इटली भी इस प्रश्न पर जर्मनी के विरुद्ध हो गये थे। वास्तव में देखा जाय तो इस मोरेक्को प्रश्न ने ही प्रथम विश्व-युद्ध के दो दल उत्पन्न किये थे। मोरेक्को की स्थिति ने इस प्रश्न को आरम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया और संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी इस प्रश्न में बीच-बचाव करने का प्रयत्न किया था। परन्तु यह समस्या हल नहीं हुई। इसके विपरीत इस समस्या ने दोनों गुटों के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया। इस अविश्वास के परिणाम स्वरूप ही यह विश्वयुद्ध हुआ।

11. इंग्लैण्ड और जर्मनी के शासकों का एकवंशीय होना- इंग्लैण्ड का हेनोवर वंश जर्मनी के हेनोवर राज्य से ही सम्बन्धित था। इस वंश का प्रथम शासक जार्ज प्रथम यही से गोद गया था। इस कारण जर्मनी के शासक विलियम द्वितीय को इंग्लैण्ड के विशाल साम्राज्य व उसके गौरव से खीझ होती थी। वह भी इंग्लैण्ड की भांति विश्व में अपना विशाल सम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। यही कारण था कि उसने इंग्लैण्ड के सम्राट् एडवर्ड सप्तम की मित्रता के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। विलियम द्वितीय के सर पर तो केवल इसी बात का भूत सवार था कि किसी प्रकार उसका साम्राज्य इंग्लैण्ड से महान् हो। अतः दोनों देशों में कटुता बढ़ना स्वाभाविक था।

12. बगदाद रेलवे-विलियम द्वितीय ने टर्की के सुल्तान से मित्रता स्थापितत की और उसने अपने को तुर्कों का सरंक्षक घोषित किया। इस मित्रता के बदले विलियम द्वितीय ने बगदाद रेलवे बनाने की अनुमति सुल्तान से प्राप्त कर ली। उनके इस समझौते से इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस भयभीत हो गये। वे नहीं चाहते थे कि जिस यूरोप के मरीज टर्की को समय-समय पर सैनिक सहायता रूपी औषधियां देकर अब तक जीवित रखा है, वह अब उसके शत्रु (जर्मनी) के प्रभाव में चला जाय। इसी कारण यूरोप का वातावरण अशान्त बन गया। इंग्लैण्ड के इस बगदाद रेलवे से भयभीत होने का एक कारण और भी था। उसे शंका हुई कि जर्मनी इस रेलवे के निर्माण से भारत की ओर जाना चाहता है। अतः रेलवे लाइन के निर्माण को समाप्त करने के लिए इंग्लैण्ड ने यह युद्ध मोल लिया।

जर्मनी व सर्बिया के सम्बन्ध खराब होने का एक कारण भी यह बगदाद रेलवे लाइन ही थी। दूसरे बाल्कन युद्ध में सर्बिया एक विजेता के रूप में उभरा था तथा उसे एड्रियाटिक सागर का किनारा भी मिल गया था। इस कारण वह भी बगदाद रेलवे में एक बाधक बन गया था। इसी कारण जर्मनी भी सर्बिया के अस्तित्व को शीघ्र समाप्त करना चाहता था। बगदाद रेलवे के पीछे जर्मनी का उद्देश्य टर्की को प्रभाव में रखना तो था ही, पर इसके साथ वह पूर्वी यूरोप के देशों को अपना माल खपाने के लिये बाजार भी बनाना चाहता था। पार्कर टी मून ने अपनी पुस्तक 'Imperialism and world Politics' में लिखा है कि यूरोप के देशों ने अपने उपनिवेशों को अपने प्रभुत्व में बनाये रखने के लिए ही बड़ी-बड़ी रेलवे लाइनें विछाना आरम्भ किया। रूस ने ट्रान्स साइबेरियन रेलवे बना कर चीन पर प्रभाव जमाया और जापान को नाराज किया। इसी प्रकार इंग्लैण्ड ने कैप-कैरो रेल मार्ग बनाकर जर्मनी को नाराज कर दिया था।

13. अन्तर्राष्ट्रीय संघ का अभाव- प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने के समय आज की भांति कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था। आज विश्व में जहां कहीं भी विश्वशान्ति को संकट उत्पन्न करने वाली कोई घटना घटती है तो संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी मध्यस्था से उसे समाप्त करने का प्रयास करता है। परन्तु उस समय इस प्रकार का कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ नहीं था जो यूरोप में बीसवीं सदी के आरंभ से ही उत्पन्न हो रही अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता पर नियन्त्रण कर सकता।

14. समाचार पत्र- जनमत को प्रभावित करने-कराने में समाचार-पत्रों का बड़ा हाथ रहता है। वे अपने राष्ट्र की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते है तथा विदेशी राष्ट्रों की नीतियों का विश्लेषण करते है। इस समय तक यूरोप के देशों में समाचार पत्र पर्याप्त संख्या में प्रकाशित होने लग गये थे। जर्मनी के समाचार पत्रों ने जर्मनी के लोगों को मित्र-राष्ट्रों के प्रति उकसाया था। उन समाचार पत्रों ने जर्मनी युवकों में यह धारणा बिठा दी कि हम पर युद्ध थोपा जा रहा है और हम हमारे पवित्र उद्देश्य की रक्षार्थ युद्ध कर रहे हैं। जैसा कि हमें जर्मनी के चान्सलर बेथ मेंन हालवेग के युद्ध से पूर्व दिये गये भाषण से स्पष्ट होता है। उसने जर्मन संसद में कहा था, *रीश्टाय के सभ्य सदस्य गण! में पुनः सम्राट कैसर के ही शब्दों* को दोहराना चाहता हूं। जर्मन इस युद्ध में शुद्ध हृदय से पवित्र उद्देश्य की रक्षार्थ भाग ले रहा है। हम अपने शान्तिपूर्ण परिश्रम के फलों के लिए लड़ रहे है। *हमारे महान् भूतकाल और उज्जवल भविष्य ने हमारे ऊपर भारी राष्ट्रीय दायित्व डाले है जिन्हे* हमें अवश्य पूरा करना है। हमारे राष्ट्र की अग्नि परीक्षा होने जा रही है। चान्सलर के इस कथन से स्पष्ट होता है कि इसमें जर्मनी एक आक्रामक के रूप में भाग नहीं ले रहा है। वरन् उस पर यह युद्ध थोपा गया है। जब हम इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लार्ड एस्क्विथ के वचन को देखते है तो वह सर्वथा इसके विपरीत मिलता है। उसने 6 अगस्त, 1914 को अपनी कॉमन सभा में भाषण देते हुए कहा था-"यदि हमसे कोई पूछेगा कि हम ब्रिटिश लोग इस युद्ध में क्यों भाग लेने जा रहे है तो में केवल दो ही वाक्यों में उत्तर दूंगा। प्रथमतः हम एक पवित्र अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने के उद्देश्य से इस युद्ध में भाग ले रहे है। दूसरे हम इस सिद्धान्त की रक्षार्थ लड़ने जा रहे है कि अन्तर्राष्ट्रीय अन्याय द्वारा छोटी जाति को कुचला नहीं जा सकता और शक्तिशाली राष्ट्र अपनी मनमानी द्वारा छोटे राष्ट्रों के साथ अन्याय नहीं कर सकते।

एस्क्विथ के इस कथन से इंग्लैण्ड वाले यही धारणा बनाते है कि वे सत्य के मार्ग पर हैं; परन्तु इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाता है समाचार-पत्रों से। आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या के बाद आस्ट्रिया के समाचार पत्रों ने आस्ट्रिया के नवयुवकों को सर्बिया के विरुद्ध भड़काया। उधर सर्बिया के समाचार पत्रों ने उस हत्या को राष्ट्रीय महत्व देकर आक्रामक आस्ट्रिया का सामना करने के लिये अपने नव-युवकों को प्रोत्साहित किया। इतिहासकार फे भी सहमत है कि समाचार-पत्रों से युद्ध का वातावरण पैदा किया जाता है और यह कार्य और भी सुगमता से उस समय किया जा सकता हे जबकि उन समाचार पत्रों पर सरकार का किसी प्रकार का नियन्त्रण न हो।

15. आस्ट्रिया की दमनकारी नीति और आस्ट्रियन युवराज की हत्या-आस्ट्रिया और रूस के सम्बन्ध बिगड चुके थे। सर्बिया राज्य रूस के संरक्षण में था। अतः आस्ट्रिया सर्बिया को सबक सिखाना चाहता था। जर्मनी उसकी पीठ पर बैठा हुआ था। इस कारण रूस से वह भयभीत नहीं था। यही कारण था कि जब आस्ट्रिया का राजकुमार आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डिनेण्ड बोस्निया के नगर सराजेवों में 28 जून सन् 1914 को मार डाला गया तो आस्ट्रिया के महामन्त्री बकटाड ने 23 जुलाई को सर्बिया को चुनौती दी। अल्टीमेंटम की शर्ते इतनी कठोर थी कि कोई आत्मसम्मानी राष्ट्र उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त सर्बिया को अल्टिमेंटम का उत्तर देने के लिये केवल 48 घंटे दिये गये। इस पर भी सर्बिया ने अल्टिमेंटम की सिवाय एक शर्त के सारी शर्ते स्वीकार कर ली थी। परन्तु आस्ट्रिया इस समय जर्मनी सेना की सहायता से गर्व के नशें में चूर था। उसने 28 जुलाई सन् 1914 को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषण कर ही दी।

युद्ध रोकने के प्रयास-इंग्लैण्ड के विदेश मंत्री सर एडवर्ड ग्रे ने युद्ध रोकने के सर्वाधिक प्रयास किये। उसने प्रस्ताव रखा कि फ्रांस, जर्मनी, इटली व इंग्लैण्ड के राजदूत इंग्लैण्ड में मिले ओर आस्ट्रिया व सर्बिया के बीच युद्ध को रोकने का प्रयास करें। परन्तु जर्मनी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। फे के मतानुसार यह जर्मनी की महान भूल थी। इससे अन्य राष्ट्रों को यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी शांति नहीं चाहता है। 27 जुलाई को ग्रे ने जर्मनी से फिर अनुरोध किया था कि वह अपने प्रभाव को काम में लेकर युद्ध को रोके। इसी समय आस्ट्रिया के विदेश मंत्री बर्चडोल ने सूचना दी कि आस्ट्रिया व सर्बिया एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर चुके हैं।

युद्ध की घटनाएं

पश्चिमी स्थल युद्ध-28 जुलाई 1914 को युद्ध प्रारम्भ हुआ। युद्ध से पूर्व जर्मनी ने बेल्जियम से मार्ग मांगा था और बेल्जियम ने जर्मनी की इस मांग को अस्वीकार कर दिया। अतः जर्मनी से सर्वप्रथम बेल्जियम पर ही आक्रमण किया। लीज तथा नामुर नामक स्थानों पर दो भंयकर युद्ध लड़े गये। बेल्जियम ने कड़ा प्रतिरोध किया पर अन्त में उसे परास्त होना पड़ा। इसके उपरान्त जर्मनी सेनाओं ने पेरिस की ओर कूंच किया और वह फ्रांस की राजधानी से केवल 25 मील दूर रह गयी। फ्रांस में घबराहट फैल गई राजधानी को बोर्डो भेज दिया गया। इसके बाद मार्न नदी के समीप युद्ध हुआ। यहां जर्मन सेनाएं परास्त हुई। इस कारण राजधानी का पतन नहीं हो सका इसी बीच जर्मनी की सेनाओं ने एल्सेस व लारेन पर धावा बोल दिया। पर वह असफल रहा। इसके उपरान्त जर्मनी ने आइन नदी के समीप युद्ध किया। युद्ध भंयकर हुआ और परिणाम जर्मनी के विरुद्ध रहा। इस विजय से फ्रांस को बड़ी राहत मिली। इसके उपरान्त जर्मनी ने इंग्लिश चैनल के बन्दरगाहों पर अधिकार करने की हरचन्द कोशिश की पर येप्रिस के युद्ध में परास्त हो जाने के कारण वह अपने उद्देश्य में असफल रहा। इन असफलताओं के बावजूद जर्मन सेनाएं वहां जमी रही।

सर्बिया व आस्ट्रिया के युद्ध में 1914 में तो सर्बिया का पक्ष मजबूत ही रहा। परन्तु अक्टूबर 1915 उसे महान दुर्भाग्यपूर्ण रहा। उत्तर में जर्मनी व आस्ट्रिया की संयुक्त सेनाओं नें उस पर आक्रमण किया और दक्षिण से बल्गारिया ने उस पर धावा बोल दिया। इससे सर्बिया परास्त हो गया ओर उसके सारे प्रदेश पर केन्द्रीय शक्तियों का अधिकार हो गया।

पूर्वी मोर्चा (स्थल युद्ध) -पूर्वी मोर्चा रूस की सफलता के साथ प्रारम्भ हुआ परन्तु उसे शीघ्र ही टनेनबर्ग के स्थान पर करारी हार खानी पडी। यहां उसके एक लाख सैनिकों को जर्मन सैनिकों ने रौंद डाला। यह विजय जर्मनी के पक्ष में निर्णायक रही। आस्ट्रिया में रूसी सेना प्रथम सफल रही। उसने गलैशिया को रौंद डाला तथा कारपेथिया के दर्रो पर अधिकार कर लिया। परन्तु जर्मन सेनापति मेंकनसेन ने रूसी सेनाओं को गलैशिया से निकाल दिया और वारसा पर भी अपना अधिकार कर लिया। इसके उपरान्त यहां भी पश्चिमी मोर्चो की भांति खाइयों का युद्ध आरम्भ हो गया।

1915

1915 में मित्र राष्ट्रों की पश्चिमी मोर्चे पर स्थिति कमजोर रही। येप्रिस में जर्मन सेनाए बनी हुई थी। जर्मन सेना ने फ्रांसीसी लोरेन प्रदेश की लोहे की खानों पर अधिकार कर लिया था। इसके फलस्वरूप जर्मनी अब अधिक दिनों तक युद्ध चलाने में सक्षम बन गया।

पूर्वी मोर्चा- इस वर्ष पूर्वी मोर्चे पर अधिक चहल-पहल रही। रूस ने टर्की को आगे नहीं बढ़ने दिया तथा आस्ट्रिया की सेना को पीछे ढ़केल दिया। परन्तु जर्मन सेनाओं के आ जाने से रूस की प्रगति सर्वथा रूक गई। जर्मन सेना रूस की सेना को पीछे ढ़केलती आगे बढ़ती चली गई। इस पर इंग्लैण्ड व फ्रांस की सेनाएं पूर्वी मोर्चे पर रूस की मदद के लिए पहुंची पर उन्हें भी सफलता नहीं मिली। मैसोपोटामिया उनके प्रभुत्व से निकल गया। मित्र राष्ट्रों को परास्त होता देख बल्गारिया भी केन्द्रीय शक्तियों से मिल गया। इटली ने भी इसी वर्ष मित्र राष्ट्रों से 26 अप्रैल, 1915 को एक गुप्त संधि कर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसने ट्रेनटीनों पर आक्रमण कर दिया।

समुद्र पर युद्ध- अब समुद्र में दोनों ओर से सरगर्मी होने लगी। ब्रिटेन के युद्धपोतो ने जर्मनी के बन्दरगाहों को घेरने का प्रयास किया, परन्तु जर्मन पनडुब्बियों ने उनका इरादा पूरा नहीं होने दिया। इसके विपरीत उन्होंने छः मास के भीतर ब्रिटेन के 200 जहाजों को जलमग्न कर दिया।

1916

पश्चिमी मोर्चा- इस वर्ष मित्र राष्ट्रों ने इस मोर्चे पर निर्णायक युद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंनें संयुक्त रूप से जर्मनी पर आक्रमण करने का इरादा किया। पर उनके आक्रमण से पूर्व ही जर्मनी ने फ्रांस पर भयंकर आक्रमण कर दिया। इस वर्ष जर्मनी ने पुनः बदफ्रन व सोम पर आक्रमण किये। बदफ्रन फ्रांस का सिंह द्वार था और इसके पतन से जर्मनी को पेरिस पहुचंना सुगम हो जाता। यहां फ्रांसीसी बुरी तरह से पिटे। परन्तु अन्तिम निर्णायक आक्रमण में जर्मन युवराज ने विलंब कर दिया। इस कारण जर्मन बदफ्रन नहीं ले सके और इसी बीच में फ्रांसीसी सैनिक पुन संगठित हो गये। सोम के युद्ध में

मित्र राष्ट्रों ने नवीन राइफलों का प्रयोग किया। बम वर्षक भी काम में लिये गये व टैंक भी प्रथम बार युद्ध में प्रयुक्त किये गये। पर जर्मनी के वीर सैनिकों ने उनकी एक नहीं चलने दी। इस युद्ध ने ही बदफ्रन के आक्रमण में जर्मन सैनिकों को विलम्ब किया था जिसके परिणामस्वरूप पेरिस पतन से बच गया। 1915 में इटली ने युद्ध में प्रवेश कर ही लिया था। पर इस वर्ष उसकी सेनाओं को आस्ट्रिया की सेना से जगह जगह मात खानी पड़ी।

पूर्वी मोर्चा- इस मोर्चे पर रूस ने फिर कुछ उत्साह दिखाया। उसने आस्ट्रिया की सेना को पूर्व में नहीं बढ़ने दिया। इटली ने गोरिजिया पर अधिकार कर लिया। इसी समय रूमानिया ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर ट्रांसिलबानिया पर आक्रमण कर दिया। परन्तु आस्ट्रिया व जर्मनी की संयुक्त सेना ने उनका प्रयास विफल बना दिया और बुखारेस्ट पर अधिकार कर लिया। रूमानिया के पतन के उपरान्त केवल यूनान ही मित्र राष्ट्रों के साथ रहा।

जल-युद्ध-इस वर्ष जटलैण्ड (Jutland) का भंयकर युद्ध हुआ। दोनों पक्षों को युद्ध में भारी हानि उठानी पड़ी। इस युद्ध के पश्चात जर्मनी जहाजी बेड़ा उत्तरी सागर में प्रवेश करने का साहस नहीं कर सका पर जर्मनी पनडुब्बियां इस वर्ष भी अपने करिश्में दिखाती रही। परन्तु इंगलैण्ड की नौसेना ने इंग्लैण्ड के समुद्री किनारे को सुरक्षित रखा तथा साथ में ही वह अपने व्यापारी जहाजों की रक्षा करने में भी इस वर्ष समर्थ रहा।

1917

इस वर्ष में युद्ध दो विशेषताओं के साथ आगे बढ़ता है। प्रथम रूस ने पराजय स्वीकार कर ली। दूसरे संयुक्त राज्य अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों के समर्थन में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इससे युद्ध की गतिविधियों में महान परिवर्तन आ गया और युद्ध का पासा मित्र राष्ट्रों के पक्ष में पलटने लगा।

पश्चिमी मोर्चा- वर्ष के प्रारम्भ से ही ऐसा प्रतीत होता था कि जर्मन अब तक की प्राप्त सफलताओं को कायम नहीं रख सकेगा। उसने पश्चिमी मोर्चे पर पीछे हटना आरम्भ कर दिया था तथा हिण्डनबर्ग पर आकर डट गया था। अब मित्र राष्ट्रों की सेनाओं ने फ्रांसीसी सेनानायक मार्शल फौच के नेतृत्व में जर्मन सेनाओं पर सफल आक्रमण करना आरम्भ किया।

पूर्वी मोर्चा- रूस के हथियार रख देने से पूर्वी मोर्चा की स्थिति ही बदल गई। मित्र राष्ट्रों को महान निराशा हुई तथा वे अपनी पराजय की संभावना करने लगे। परन्तु अमेरिका ने युद्ध में प्रवेश कर लड़खड़ाते मित्र राष्ट्रों को नवीन जीवन देने का कार्य किया।

समुद्र पर युद्ध-इस वर्ष जर्मन पनडुब्बियों ने अधिक हाथ दिखाये। अब जर्मनी की युद्ध सामग्री समाप्त होती जा रही थी। अतः वह युद्ध को जल्दी से जल्दी समाप्त करना चाहता थ। इसलिए वह पनडुब्बियों का अधिकाधिक प्रयोग करता जा रहा था। यहां तक कि तटस्थ देशों के जहाजों को भी जलमग्न करना आरम्भ कर दिया। अमेरिका के युद्ध में आने का एक कारण यह भी था।

1918

जर्मनी रूस से ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि कर चुका था। इसके अलावा रूमानिया ने भी जर्मनी के साथ सन्धि कर ली थी। अतः जर्मन अब पूर्वी मोर्चे से निश्चिन्त हो पश्चिमि मोर्चे पर आक्रमण की जोरदार तैयारियां करने लगा। परन्तु फ्रांसीसी मार्शल फोच ने जगह-जगह जर्मन सेनाओं पर आक्रमण करना आरम्भ किया। जर्मन सैनिकों ने उन आक्रमणों की तनिक भी चिन्ता न करते हुए फ्रांस व इंग्लैण्ड की सेनाओं पर दो जगह से आक्रमण किये। इन आक्रमणों का मूल उद्देश्य दोनों सेनाओं को समुद्र में ढ़केल देना था। दोनों मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को जर्मन सेना ने पीछे अवश्य ढ़केल दिया; परन्तु वह इंग्लैण्ड की सेना को समुद्र में नहीं ढ़केल सका। इसी बीच में अमेरिका की सेना आ पहुर्ची। इससे युद्ध का पासा ही पलट गया।

जर्मन सेनापति ल्यूडोफ मित्र-राष्ट्रों की सेना से कड़ा लोहा ले रहा था। वह निरन्तर इंग्लैण्ड, फ्रांस, व अमेरिका की सेनाओं को ढ़केलने का प्रयास कर रहा था। उसने चौथे तथा अन्तिम आक्रमण रीम्स पर किया। इस आक्रमण में उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी। परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। अब तक मित्र-राष्ट्र पीछे हट रहे थे। अब उन्होंने जर्मन सेना को पीछे हटाना आरम्भ किया और अब वे युद्ध में विजय पाने की अभिलाषा करने लगे।

जर्मनी का परास्त होना- रीम्स के युद्ध के उपरान्त मित्र-राष्ट्र की सेनाओं ने आगे बढ़ना आरम्भ किया। उन्होंने जर्मन सेना को मार्न पर परास्त कर उसकी रक्षा-पंक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस समय तक आस्ट्रिया परास्त हो चुका था तथा उसके साम्राज्य का विघटन भी आरम्भ हो चुका था। टर्की भी पराजय का बाना पहिन चुका था। अब केवल जर्मनी बचा था। उसकी नौ-सेना ने बगावत कर दी। इससे जर्मनी की कमर टूट गई और जर्मनी ने सन्धि प्रस्ताव मित्र राष्ट्रों के पास भेजा जो 5 नवम्बर, 1918 को स्वीकार कर लिया गया और 11 नवम्बर को युद्ध विराम हो गया।

विलियम द्वितीय का पतन- ज्योंहि जर्मन नौ सेना ने वहां के समाजवादियों के आव्हान पर क्रान्ति की, जर्मनी का सम्राट विलियम द्वितीय (केसर) अपने पडौसी देश हालैण्ड भाग गया। उस महत्वाकांक्षी सम्राट को इस प्रकार मुंह की खानी पड़ी। उसके पलायन के उपरान्त जर्मनी को मित्र-राष्ट्रों से अपमानजनक सन्धि करने को बाध्य होना पड़ा।

जर्मनी की पराजय के कारण-यह सही है कि जर्मनी ने यह प्रथम विश्व युद्ध अपनी पूरी तैयारी के साथ लड़ा था। विलियम द्वितीय प्रारम्भ से ही अपनी जल-थल सेना की तैयारी करने लगा था। युद्ध का सामान भी उसने पर्याप्त मात्रा में जुटा लिया था और यह जर्मन ही था जो अपने चन्द वे भी निर्बल सहयोगियों के साथ विश्व के 32 राष्ट्रों से चार वर्ष तक युद्ध करता रहा और 1917 तक उसी के जीतने की आशा भी बनी रही। परन्तु 1918 के अन्त में उसने अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी। उसके कुछ कारण थे। उनमें प्रमुख इस प्रकार हैं-

1. जर्मनी की सीमित खाद्य सामग्री- जर्मनी युद्ध शीघ्र समाप्त करना चाहता था। उसके पास खाद्य सामग्री व जन शक्ति सीमित थी। इसके विपरीत मित्र राष्ट्रों के पास इन दोनों का अभाव नहीं था। वे अपने उपनिवेशों से प्राप्त कर सकते थे। अतः जर्मनी युद्ध को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करना चाहता था जबकि मित्र राष्ट्र इसे लम्बा खींचना चाहते थे। मित्र राष्ट्र अपने उद्देश्य में सफल रहे। अतः जर्मनी की जन शक्ति शीघ्र ही समाप्त होने लगी और मित्र राष्ट्र की निर्बल पड़ने वाली जन-शक्ति को सयुक्त राज्य अमेरिका से मदद मिलने लगी और वह समाप्त नहीं हुई।

2. जर्मन सैनिको में अति आत्मविश्वास- जर्मनवासियों ने केवल विजय के लिए सोचा था। जर्मन सम्राट व जर्मनों की यही धारणा थी कि वे इस युद्ध में विजयी होगें। उन्हें परास्त होना पड़ेगा या मित्र-राष्ट्रों से सन्धि भी करनी पड़ेगी इसकी उन्हें कल्पना भी न थी। अतः 1917 के अन्त तक जर्मन सैनिक उत्साह से युद्ध करते रहे। परन्तु 1918 में ज्योंहि उन्हें पराजय के लक्षण दृष्टिगत होने लगे कि उनकी हिम्मत टूट गई।

3. सामरिक सामग्री का अभाव- जर्मनी के पास कच्चे सामान का भी अभाव था। रबर, चमड़ा व अन्य रसायन पदार्थों की भारी कमी थी और इनकी युद्ध में भारी आवश्यकता थी। वह इन्हें अन्य देशों से नहीं पा सका। अतः वह अपनी घटती हुई सामरिक चीजों की पूर्ति शीघ्रता से नहीं कर सका। इसके अलावा जर्मनी के पास उस समय टैंक भी नहीं थे। जबकि मित्र राष्ट्रों ने टैंको का प्रयोग खुलकर किया था। अतः जर्मनी का इन अभावों में परास्त होना स्वाभाविक था।

4. जर्मनी के सीमित युद्ध साधन- जर्मनी के साधन सीमित थे। युद्ध के लिए अपार धन व अन्य उपकरणों की आवश्यकता होती है। जर्मनी के पास ये साधन सीमित रूप में थे और मित्र राष्ट्रों के पास ये अपरिमित रूप में थे। अतः वे युद्ध को लम्बा खींच ले गये और जर्मनी इस नीति से परास्त हो गया।

5. जर्मनी की अदूरदर्शिता- जर्मनी ने यह कभी सोचा भी न था कि यह युद्ध विश्व युद्ध का रूप धारण कर लेगा। उसने आस्ट्रिया को सर्बिया पर आक्रमण करने के लिए इसलिए प्रोत्साहित किया था कि इस मामलें में इंग्लैण्ड और फ्रांस नहीं बोलेंगे। अतः उसने अपनी सामरिक तैयारियां सीमित रखी। उसे युद्ध में अमेरिका के आ जाने की कभी संभावना नहीं थी। जिसके आने से युद्ध का पासा पल्टा ओर जर्मनी को पूर्वी और पश्चिमी मोर्चो पर एक साथ युद्ध करने पड़े।

6. इगलैण्ड की नौ सेना- इंग्लैण्ड का जहाजी बेड़ा भी मित्र-राष्ट्रों की विजय व जर्मनी की पराजय का प्रमुख कारण बना। प्रथम उसने जर्मनी की चारों ओर से इस प्रकार नाकेबन्दी की कि जर्मन जल-पोत कहीं जा नहीं सकते थे और सुगमता से वे रसद भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के जहाज अपने देश में बाहर से सामान लाने व इंग्लैण्ड के बन्दरगाहों की रक्षा करने में समर्थ थे।

7. जर्मन सैनिकों का भूखे मरना-जर्मनी के पास खाद्य सामग्री का अत्यन्त अभाव था। अतः जर्मनी ने अपने सैनिकों के राशन में इतनी कमी कर दी कि वे भूखे मरने लगे। इससे उनमें अनुशासन का अभाव आ गया और वे भोजन के लिए केसर, आत्म-गौरव तथा सेना तक को छोड़ने को तैयार थे। इससे जर्मन सेना निर्बल हो गयी।

8. जर्मनी की नौ-सेना में विद्रोह-जर्मनी की नौ-सेना के विद्रोह ने जर्मनी की सेना की कमर ही तोड़ दी। इसके विद्रोह से जर्मन सैनिकों का साहस कम हो गया। यह विद्रोह जर्मनी के समाजवादियों ने कर दिया। इस विद्रोह से घबराकर विलियम जर्मनी से भाग गया और जर्मन चान्सलर ने मित्र राष्ट्रों से सन्धि कर ली।

9. रूस की 1917 की क्रान्ति- रूस की क्रान्ति ने भी जर्मनी की पराजय में सहयोग दिया। जब रूस ने आत्म-समर्पण कर दिया तो जर्मनी के सैनिक रूस के द्वारा मुक्त कर दिये गये। उन्होंने जर्मन आकर सेना में साम्यवादी विचारधारा का प्रसार किया। इससे भी जर्मन सैनिकों का उत्साह फीका पड़ गया और वे युद्ध में शिथिलता दिखाने लगे।

अन्य कारण- अन्य कारणों में हम कह सकते है, कि जर्मनी के साथी संख्या में कम तथा शक्ति में निर्बल थे। उसे दो मोर्चो पर युद्ध करना पड़ा। अतः उसकी सेना को जगह-जगह तथा अधिक विस्तृत मोर्चे पर युद्ध करने पड़े। अपने पिटते हुए साथियों की रक्षा के लिये भी उसे अपने ही सैनिक भेजने पड़ते थे। अमेरिका युद्ध में ऐसे सयम कूदा जिससे मित्र-राष्ट्रों को नव-जीवन मिला और जर्मनी की शक्ति पर भारी कुठाराघात हुआ। युद्ध में धैर्य की परम-आवश्यकता होती है। वह धैर्य जर्मन सैनिकों के पास नहीं था। इसके विपरीत मित्र-राष्ट्रों ने धैर्य व संतुलन से काम लिया। इसीलिए वे विजयी हुए और जर्मनी पराजय की धूल से धूसरित हो गया।

युद्ध का प्रभाव

इस महासमर में विश्व के 36 राज्यों ने भाग लिया था। उनमें से 32 राज्य मित्र संघ में और केवल 4 राज्य केन्द्रीय शक्तियों की ओर थे। युद्ध में भाग लेने वालों में यूरोप के अतिरिक्त अमेरिका और एशिया के देश भी सम्मिलित थे। इस महासमर की अग्नि में 80 लाख मनुष्यों के प्राणान्त से शान्त हुई। इस विश्व-युद्ध की दारुण गाथाएं सुनाने के लिये युद्ध में घायल एक करोड और 90 लाख व्यक्ति मानव-समाज के बीच वर्तमान रहे। अतः इस महान् जन-विनाश से समस्त भू-लोक विक्षुब्ध हो उठा। इस युद्ध के दारुण दुखों से दुःखी मानव युद्ध के नर-संहार को भुलाने का दुस्साहस कर ही रहा था कि महामारी और इनफ्लूएन्जा के प्रकोप ने मानव विनाश का भंयकर चित्र मानव-समाज के सम्मुख पुनः प्रस्तुत हो गया। जन-हानि के साथ धनहानि भी काफी हुई। अर्थशास्त्रियों की धारणा है कि प्रथम विश्व युद्ध में 186 अरब डालर खर्च हुआ था। इससे स्पष्ट है कि इससे जन-समाज पर आर्थिक प्रभाव भी बुरा पड़ा। इस धन और जन के विनाश का परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगी और मजदूर मिलना कठिन हो गया। मुद्रा की कीमत बुरी तरह से नीचे गिरने लगी और व्यापार का क्रम अस्त-व्यस्त हो गया। आर्थिक प्रभाव के अतिरिक्त इस युद्ध से राजनैतिक तथा सामाजिक प्रभाव भी पड़े।

(अ) राजनैतिक प्रभाव

1. एकतन्त्र शासन का स्थान प्रजातन्त्र ने लिया- इस विश्व युद्ध ने विश्व में कई महान परिवर्तन दिखाए। फ्रांस की राज्य क्रान्ति लोकतन्त्रीय सरकार की स्थापना के उद्देश्य से हुई थी, परन्तु उसके प्रभाव से यूरोप में एकतन्त्र शासन समाप्त नहीं हुआ था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तो एकतन्त्र शासन पर्याप्त विकसित हुआ था। परन्तु इस विश्व युद्ध के प्रभाव से जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस और टर्की में एकतन्त्र शासन समाप्त हो गया और उसके स्थान पर वहां जनतन्त्र सरकारे स्थापित हो गयी। इनके अतिरिक्त चेकोस्लोविया, लिथूनिया, लैटविया और फिनलैण्ड देशों में भी जनतन्त्र सरकार स्थापित की गई। इस तरह से हम देखते है कि प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप एकतन्त्र शासन के समाप्त होने के साथ ही प्रजातन्त्र सरकारों की बाढ़ सी आ गई।

2. जनतन्त्र की विजय और राष्ट्रीयता का विकास-युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय का अर्थ विश्व में जनतन्त्र की विजय से लिया गया। मित्र-देशों ने केन्द्रीय शक्ति के विरुद्ध युद्ध प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों पर लड़ा और यह प्रजातन्त्र की विजय का परिणाम था कि यूरोप के दस देशों में प्रजातन्त्र सरकार की स्थापना हुई।

यह सत्य है कि प्रथम विश्व युद्ध की अग्नि को प्रज्वलित करने वाली एक शक्ति उग्र राष्ट्रीयता भी थी। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर भी उग्र राष्ट्रवाद की भावना शिथिल नहीं पड़ी वरन् प्रबल हुई। युद्ध की समाप्ति पर नवीन राज्यों की स्थापना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर की गई। इस कारण यूरोप में राष्ट्रीयता और विकसित हुई। जर्मनी और इटली क्रमशः जब हिटलर और मुसोलिनी के प्रभुत्व में आये तो वहां राष्ट्रीयता ने और भी उग्र रूप धारण किया।

3. प्रजातान्त्र के सिद्धान्तों की अवहेलना- जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि मित्र संघ के राष्ट्रों ने प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर युद्ध लड़ा था। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उनका यह सिद्धान्त केवल दूसरे देशों को अपनी ओर आकर्षित करने का एक साधन मात्र था। पेरिस-सम्मेलन में इंग्लैण्ड और फ्रांस की वास्तविक मनोवृत्तियों का पता चल गया था। युद्ध के आरंभ में इंग्लैण्ड की सरकार ने युद्ध समाप्ति पर भारत को औपनिवेशिक राज्य देने का वचन दिया था। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही भारत की राष्ट्रीयता को समाप्त करने के लिए इंग्लैण्ड की सरकार ने रोलेट एक्ट पास किया। इस एक्ट के अन्तर्गत 12 अप्रैल, 1920 सन् को जनरल डायर ने निहत्थे भारतवासियों पर जलियांवाला बाग में गोली चलवा दी। इस प्रकार से प्रजातन्त्र के पक्के समर्थक इंग्लैण्ड ने भारत में राष्ट्रीयता की भावना को कुचल डालना चाहा।

4. नवीनवादों का सूत्रपात-प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति पर समाजवाद विकसित हुआ। सन् 1917 की क्रान्ति से रूस में साम्यवाद ने अपने पांव जमा ही लिये थे। इटली और जर्मनी में युद्ध के उपरान्त भी व्यवस्था इस ढंग की रही कि वहां शान्ति स्थापित नहीं हुई। इसके परिणाम स्वरूप जर्मनी में नाजीवाद और इटली में फासिस्टवाद ने जन्म लिया। नाजीवाद और फासिस्ट के प्रभाव में आ जाने से यूरोप में सैनिकवाद पुनः आरम्भ हो गया। जब रूस में जो साम्यवाद सुदृढ़ता से जम गया तो वहां कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया गया। उनमें सरकार का हस्तक्षेप बढ़ गया। इस प्रकार से युद्ध के पश्चात् अनेक वादों का अविर्भाव हुआ जिनके कारण विश्व की राजनीति में अनेक परिवर्तन हुए।

5. सैन्यवाद तथा उपनिवेशवाद में वृद्धि- प्रथम विश्व युद्ध जर्मनी व आस्ट्रिया के बढ़ते हुए सैन्यवाद के विरुद्ध लडा गया था और पेरिस की सन्धि से भी यह स्पष्ट होता था कि अब सैन्यवाद पर अकुंश लगाया जावेगा। इस सन्धि ने जर्मनी की सैन्य शक्ति को तो अवश्य नष्ट कर दिया परन्तु मित्र-राष्ट्रों ने अपनी सैन्य शक्ति में कमी नहीं की। निःशस्त्रीकरण पर विभिन्न स्थानों पर सम्मेलन आवश्य होते रहे परन्तु सेना में कमी किसी भी मित्र राष्ट्र ने नहीं की। इसके विपरीत उसमें वृद्धि ही होती रही। इसी प्रकार युद्ध की समाप्ति पर उपनिवेशवाद की दौड़ पुनः आरम्भ हो गई। फ्रांस ने एल्सेस व लारेन प्रदेश ही नहीं लिये वरन् उसने राईन नदी के पश्चिमि जर्मन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार ब्रिटेन व बेल्जियम ने भी युद्ध समाप्ति पर अनेक उपनिवेश अधीनस्थ कर लिए। अतः स्पष्ट है कि युद्ध की समाप्ति पर सैन्यवाद व उपनिवेशवाद पुनः प्रबल हो गये।

6. अन्तर्राषियता का विकासट्रीयता का विकास- अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) का जन्म भी प्रथम विश्व-युद्ध से हुआ। इतिहासकारो की यह मान्यता है और वह सत्य भी है कि उन्नीसवीं शताब्दी राष्ट्रीयता की थी और बीसवीं शताब्दी अन्तर्राष्ट्रीयता की रही। वर्तमान समय में तो अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास बहुत हो चुका है। इसको विकसित करने में प्रथम विश्य युद्ध ने बहुत सहयोग दिया। यह प्रथम अवसर था जबकि 32 राष्ट्रों ने एक साथ मिलकर शत्रु का सामना किया और एशियाए यूरोप और नई दुनियां के देश भी इस युद्ध में सम्मिलित हुए। युद्ध की समाप्ति 42 राष्ट्र-संघ ;स्मंहनम वि छंजपवदेद्ध की स्थापना हुई, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व में और भी व्यापक होती चली गई।

7. संयुक्त राज्य-अमेरिका (U.S.A.) का प्रभाव बढ़ना- यह प्रथम अवसर था जब कि अमेरिका (U.S.A.) यूरोप के मामलों में हस्तक्षेप करने को विश्व के रंग-मंच पर उपस्थित हुआ था। इस युद्ध में संयुक्त-राज्य अमेरिका ने सक्रिय भाग लेकर तथा केन्द्रीय शक्तियों को परास्त का विश्व में अपनी धाक जमाई। सैनिक सहायता के अतिरिक्त संयुक्त-राज्य-अमेरिका ने मित्र-संघ के सदस्यों को आर्थिक सहायता भी दी। इस कारण अमेरिका विश्व में एक प्रतिष्ठित साहूकार माना जाने लगा और विश्व के बहुत से राष्ट्र उसके कर्जदार हो गये।

राष्ट्र-संघ की स्थापना में भी संयुक्त-राज्य-अमेरिका ने काफी सहयोग दिया; परन्तु इसका परिणाम उसकी आन्तरिक अवस्था पर खराब पड़ा। बिलसन के विरोध में वहां की सीनेट ने अविश्वास का प्रस्ताव पास किया। इस प्रकार अमेरिका की विदेशी-नीति पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह सत्य है कि संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) राष्ट्र-संघ का सदस्य भी नहीं रहा तथापि वह अन्य राजनैतिक संगठनों व कमीशनों में सदस्य रूप में भाग लेता रहा तथा विश्व-राजनीति को प्रभावित करता रहा।

8. **शक्ति संतुलन-सिद्धान्त की समाप्ति-** यद्यति यह युद्ध शक्ति-संतुलन (Balance of Power) के सिद्धान्त पर लड़ा गया था, तथापि युद्ध के उपरांत यह सिद्धान्त स्थिर नहीं रह सका। स्वंय मित्र राष्ट्रों ने ही इस सिद्धान्त की अवहैलाना की। युद्ध के पश्चात् इंग्लैण्ड साम्राज्यवाद में सबसे आगे निकल गया और वह विश्व की प्रथम शक्ति बना गया। इसके विपरीत धुरी-राष्ट्र परास्त हो कर अत्यन्त निर्बल हो गये और वे मित्र-राष्ट्रों का मुकाबला करने के सक्षम नहीं रहे।

9. *राष्ट्र-संघ (League of Nations) की स्थापना-जैसा कि युद्ध के कारणों में स्पष्ट किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय* अराजकता भी युद्ध का कारण था और इसके निवारण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संघ की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। इस युद्ध में 36 राष्ट्रों ने भाग लिया। इससे स्पष्ट था कि यह युद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय समास्या के समाधान के रूप में लड़ा गया। अतः युद्ध के दौरान के विश्व के राजनीतिज्ञों ने एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना के महत्व को समझ लिया था । इस ओर सर्वप्रथम अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विलसन का ध्यान गया। उसके प्रयत्नों से 10 जनवरी 1920 को इसकी स्थापना हुई। 54 राष्ट्र इसके सदस्य बन पाये थे। 1920 से दूसरे विश्व-युद्ध के आरंभ (1939) तक इसी संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का हल करने का प्रयास किया था।

(ब) सामाजिक प्रभाव

1. मजदूर आन्दोलन- युद्ध की अग्नि ने लाखों नवयुवकों को भस्मीभूत बना दिया। मजदूरों का अभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। इस कारण मिल मालिकों को मजदूर मिलना कठिन हो गया। इसके साथ ही मजदूर-वर्ग दिन पर दिन संगठित होता जा रहा था। इस कारण अब मजदूर कारखानों के मालिकों के अत्याचार सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। उन्होने पूँजीपतियों के शोषणा के विरुद्ध संघर्ष आरंभ किया। इस प्रकार से प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् मजदूर-वर्ग अपते अधिकारों के प्रति जागरूक हो गया और अपने अधिकार प्राप्ति के लिए वह आन्दोलन करने लगा।

2. अल्प-संख्यक जातियों की समस्या- पेरिस (1919) की सन्धि के उपरान्त परास्त धुरी राष्ट्रों के प्रदेशों को लेकर नवीन राज्यों का गठन किया गया। उनका यह गठन केवल राष्ट्रीयता के आधार व जर्मनी-आस्ट्रिया को अति निर्बल बनाने के उद्देश्य से किया गया था। इसका परिणाम यह निकला कि जर्मन नवीन जर्मनी में न रह कर नवीन राज्यों के संरक्षण में चले गये। यहीं बात मजदूरों के साथ हुई। नवीन राज्यों में इस जातियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया गया।

3. स्त्रियों की स्थिति में सुधार- प्रथम विश्व-युद्ध के समय नवयुवक समर भुमि को प्रस्थान करने लगे तो सरकारी कार्यालय कर्मयारियों के अथाव से सूने रहने लगे। शासन सम्बन्धी कार्यों में शिथिलता आ गई। इस अभाव से स्त्री समाज को कार्य-क्षेत्र में आने का अवसर मिला। सरकारी कर्यालयों में स्त्रियां काम करने लगीं। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्व-युद्ध ने स्त्रियों को घर की चारी दीवारी से बाहर निकाल कर उन्हें पुरूषों की भांति कार्यालयों में कार्य करने का अवसर प्रदान किया।

4. जन-शक्ति का विनाश- इस युद्ध में कुल मिलाकर 80 लाख आदमी मारे गये थे। घायलें की संख्या । करोड़ 90 लाख थी जिमें 60 लाख ऐसे घायल व्यक्ति जो अपाहिज हो गये थे। धुरी राष्ट्रों के 33 लाख मारे गये तथा मित्र राष्ट्रों के 50 लाख मारे गये थे। दोनों पक्षों के 70 लाख ला पता हो गये थे। विश्व का यह प्रथम युद्ध था जिसमें इतनी महान जन की हानि हुई थी। हालांकि वायु-युद्ध प्रथम विश्व-युद्ध में अधिक विकसित नहीं था तथापि वायु-आक्रमणों से काफी नागरिक मारे गये तथा आहत हुऐ थे।

5. श्रमिक आन्दोलन- महायुद्ध के अवसर पर करोड़ों नवयुवक युद्ध में चले गये तो श्रमिकों की कमी आ गई। युद्ध के समय देशों को शस्त्र-निर्माण में श्रमिकों की आवश्यकता हुई। श्रमिकों की कमी तथा मांग अधिक हो जाने से उन्होंने अधिक वेतन तथा कार्य करने के घंटों में कमी कराने के लिए आन्दोलन किया। उनकी मांगें स्वीकार की गई। अपनी मांगे मनवाने के लिए श्रमिकों ने अपने संगठन बना लिए थे। परन्तु युद्ध की समाप्ति पर विश्व में बेरोजगारी भी फैल गई क्योंकि युद्ध समाप्त होते ही लाखों सैनिक सेना से निकाल दिए गये और उधर निर्माण कार्यों में कमी आ गई।

(स) आर्थिक प्रभाव

युद्ध का संचालन धन से होता है। अतः इस युद्ध में खरबों रूपयों का व्यय हुआ। इंग्लैण्ड व फ्रांस की आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई। इस कारण वे अमेरिका के कर्जदार हो गये। जर्मनी पर युद्ध का सारा खर्च लाद दिया गया। इससे

उसकी आर्थिक क्षेत्र में कमर टूट गई और कालान्तर में उसके शासन में कई परिवर्तन हुए। यूरोपीय देशों के औद्योगिक विकास को धक्का लगा तथा अमेरिका ने इस क्षेत्र में प्रगति की और उसने काफी धन कमाया। खाद्य-सामग्री व अन्य वस्तुएं महंगी हो गई। युद्ध की समाप्ति पर बेरोजगारी ने जोर जमाया। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ (I.L.O.) की स्थापना भी मजदूरों को आर्थिक शोषण से बचाने हेतु ही की गई थी।

इस प्रकार से प्रथम महासमर ने विश्व के लगभग सभी देशों को युद्ध के लपेटे में लेकर उनको धन और जन की महान क्षति पहुँचाई। अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाया है कि इस युद्ध में लगभग साढ़े अट्ठावन हजार करोड़ रूपये खर्च हुए और लगभग तेरह हजार दो सौ करोड़ रूपये की सम्पत्ति का विनाश हुआ। इस असाधारण व्यय का परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक ऋणों की मात्रा में असाधारण वृद्धि हुई। इससे यूरोप के देशों का आर्थिक ढांचा ही बदल गया। मुद्रा-प्रसार तीव्र गति से हुआ और इससे मध्यम श्रेणी के लोगों की आर्थिक अवस्था अत्यन्त दयनीय हो गई। व्यवसाय व व्यापार में अजीब हालत पैदा हो गई और आर्थिक क्षेत्र में यह उथल-पुथल 1931 तक चलती रही। इसके अतिरिक्त जो राष्ट्र युद्ध में तटस्थ रहे थे वे राष्ट्र भी युद्ध के आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों से अप्रभावित नहीं रहे। 11 नवम्बर, 1981 को युद्ध अवश्य समाप्त हो गया था परन्तु युद्ध के द्वारा हुए पिशाची कार्यों की छाया विश्व के वातावरण को कई वर्षों तक विक्षुब्ध बनाये रह। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह महायुद्ध केवल यूरोप में ही नहीं वरन समस्त विश्व में एक युगान्तकारी युद्ध सिद्ध हुआ। समस्त विश्व का मानव-समाज इससे प्रभावित हुआ। इसके अलावा अब विश्व की राजनीति को केन्द्र यूरोप हो गया।

युद्ध का उत्तरदायित्व- जैसा कि युद्ध के कारणों में बताया गया है कि युद्ध में भाग लेने वाले प्रत्यक शक्तिशाली देश ने समाचार-पत्रों व अपने मन्त्रियों के भाषणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वह युद्ध में आक्रान्ता के रूप में भाग नहीं ले रहा है वरन् यह युद्ध उस पर थोपा जा रहा है। इसके अलावा उन्होंने अपने तथ्कालीन राजकीय रिकार्ड से भी यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। इंग्लैण्ड ने ब्ल्यूबुक (Blue Book), जर्मनी ने ह्वाइट बुक (White Book), रूस ने ओरेन्ज बुक (Orange Book) तथा फ्रांस ने येलो बुक (Yellow Book), प्रकाशित कराई। इनके अवलोकन से तो इनमें से कोई राष्ट्र युद्ध का अपराधी सिद्ध नहीं होता। हम भी यकायक किसी एक देश विशेष को इका अपराधी नहीं ठहरा सकते जब तक कि युद्ध को प्रोत्साहन देने वाली तथ्कालीन समस्त परिस्थितियों का अध्ययन न कर लें।

सर्बिया- युद्ध का तात्कालिक कारण था आस्ट्रिया के राजकुमार का वध। वह वध सराजेवो में सर्बिया के किसी आतंकवादी नवयुवक ने किया था। कहा जाता है कि आस्ट्रिया को इस बात की पूर्व खबर मिल चुकी थी। उसने सर्बिया की सरकार को सूचित किया था कि वह इस प्रकार की कार्यवाही के प्रति सावधानी करते। परन्तु सर्बिया की सरकार ने इस विषय में कुछ कदम नहीं उठाया। उसी देश में राजकुमार की हत्या के दो प्रयस किये गये और वह दूसरे प्रयास में मारा गया। इसके अलावा सर्बिया पर यह भी दोष लगाया जाता है कि उसने अपराधी को भगाने में सहयोग दिया। कुछ इतिहासकार यह भी लिखते हैं कि सर्बिया की सरकार ने आस्ट्रिया सरकार के अल्टीमेंटम का उत्तर देने से पूर्व ही सीमा पर अपनी सेनाए भेजदी थीं। इससे स्पष्ट है कि सर्बिया युद्ध करेन को उतारू था ओर उसे रूस युद्ध की प्रेरणा दे रहा था, क्योंकि वह आस्ट्रिया का कट्टर शत्रु था। सर्बिया के विरूद्ध यह भी चार्ज लगाया जाता है कि वह 'महान सर्बिया के नाम पर अपने नवयुवकों में उग्र राष्ट्रवाद की भावना उभार रहा था और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में वह आस्ट्रिया को ही प्रधान बाधक बता रहा था। यह सब बातें सत्य मानते हुए भी हम युद्ध का सारा अपराध सर्बिया पर नहीं थोप सकते।'

आस्ट्रिया- यदि सर्बिया युद्ध के लिए उतारू ही था तो वह उन अपमानजनक शर्तों को कभी स्वीकार नहीं करता। अल्टीमेंटम की शर्तें व उसे स्वीकार करने के समय की अवधि देखते हम कह सकते हैं कि आस्ट्रिया युद्ध पर आमादा था। बाल्कान राज्य पर अपना प्रभुत्व जमाने का लक्ष्य तो आस्ट्रिया का बहुत पहले से था। इसीलिए वह वहां रूस का प्रभाव नहीं देख सकता था और जर्मनी का मित्र भी वह केवल इसीलिए बना था। परन्तु दूसरे बाल्कान-युद्ध की समाप्ति पर आस्ट्रिया को अपना प्रमुख शत्रु सर्बिया दृष्टिगत होने लगा क्योंकि उस युद्ध में सर्बिया एक विजेता के रूप में उभरा था। राज्य भी उसका पर्याप्त विस्तार्ण हो गया था। सर्बिया में स्लाव जाति के लोग अधिक संख्या में थे और आस्ट्रिया की अधिक जनसंख्या भी स्लाव लोगों की थी। अतः आस्ट्रिया को आशंका हो गई थी कि सर्बिया महान-स्लाव-संघ बनाकर आस्ट्रिया के अस्तित्व को संकट उत्पन्न करेगा। अतः दूसरे बाल्कान-युद्ध के उपरांत तो सर्बिया को ही अपना प्रमुख शत्रु समझने लगा था और वह उसे शीघ्र समाप्त करना चाहता था। अतः राजकुमार की हत्या तो उसका एक बहाना मात्र था। इसके अलवा आस्ट्रिया ने अपने अल्टीमेंटम में जो शर्तें भेजी थीं वे इस प्रकार की थीं कि उन्हें कोई भी स्वाभिमानी व स्वतन्त्र देश कभी

स्वीकार नहीं कर सकता था और उसके द्वारा निर्धारित अवधि (48 घंटे) तो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आस्ट्रिया तो सर्बिया से येन-केन-प्रकारेण युद्ध चाहता था। इसके अलावा हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड द्वारा प्रस्तुत मध्यस्थता के प्रस्ताव को ठुकराने वाला आस्ट्रिया ही था। युद्ध की तत्परता से की गई घोषणा से भी यह प्रमाणित होता है कि वह युद्ध के लिए कटिबद्ध था। युद्ध करने का साहस वह इसलिए कर रहा था कि जर्मनी उसकी पीठ पर था। अतः चाहे आस्ट्रिया कहे कि उसकी तैयारियां

जर्मनी- अब तीसरा देश आता हे जर्मनी, जिसने कि इस युद्ध में सर्वाधिक भाग लिया। उसे ही इस युद्ध के सर्वाधिक कटु फल चखने पड़े। निःसन्देह विलियम केसर ने जर्मनी की गद्दी संभालते ही सामरिक तैयारियाँ बड़े पैमाने पर करना आरम्भ कर दिया था। उसने अपनी सैन्य-शक्ति में भारी वृद्धि की तथा नौ-सैना को बढ़या और उसे विश्व में शक्तिशाली बनाया। उसकी सामरिक तैयारियों से ऐसा लगता था कि वह गद्दी पर बैठा ही युद्ध करने के उद्देश्य से था। उसने अपने देश को एक महान् शक्ति बनाने के उद्देश्य से ही ब्रिटेन की मित्रता का प्रस्ताव भी ठुकरा दिया था और इसी उद्देश्य से वह आस्ट्रिया को युद्ध करने के लिए प्रोत्साहन दे रहा था।

उपर्युक्त कथन सब सत्य हो सकते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि जर्मनी यह कभी नहीं सोचता था कि यह युद्ध विश्व-युद्ध बन जायेगा। वह स्थानीय युद्ध के लिए पूर्ण रूप से तैयार था पर विश्व-युद्ध के लिए तैयार नहीं था मोरक्को-प्रश्न पर दो बार युद्ध की परिस्थितियाँ बनीं। जहाँ उसने यूरोप की अन्य महान् शक्तियों को इसमें उलझते देखा कि वह झुक गया। इससे स्पष्ट है कि वह फ्रांस से युद्ध करने को उद्यत था पर फ्रांस के अन्य सहयोगियों से एक साथ युद्ध करने को तैयार नहीं था। यहां भी उसकी यही धारणा थी कि यह युद्ध स्थानीय रहेगा। आस्ट्रिया सर्बिया को युद्ध में समाप्त कर देगा। रूस, इंग्लैण्ड व फ्रांस की युद्ध में आने की उसे सम्भावना नहीं थी क्योंकि उस समय तीनों देशों में आन्तरिक मामले भयंकर रूप धारण करते जा रहे थे। सेंट पीटर्सबर्ग में हिंसात्मक हड़ताल चल रही थी तो फ्रांस में नवीन सैन्य-सेवा अधिनियम का विरोध हो रहा था। इंग्लैण्ड में उस समय आयरलैण्ड के स्व-शासन (Home-Rule) का मामला भयंकरतम बना हुआ था। जर्मनी ने इसी आशा से आस्ट्रिया को सर्बिया पर आक्रमण करने को प्रोत्साहित किया। इसका एक कारण और भी था। विलियम द्वितीय भी टर्की से मित्रता कर बाल्कन राज्यों में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था और दूसरे बाल्कन युद्ध की समाप्ति पर सर्बिया भी उसके मार्ग का कंटक बन गया था। अतः वह भी उसे शीघ्रतिशीघ्र खत्म करना चाहता था और यह अवसर उसे मिल रहा था आस्ट्रिया के माध्यम से। अतः हो सकता है कि तत्कालीन राजनीति समझने में विलियम द्वितीय ने भूल की हो पर यह स्पष्ट है कि उसे इस युद्ध की विश्व-युद्ध में परिणित होजाने की कल्पना भी नहीं की थी और यह उसकी सामरकि तैयारियों से भी स्पष्ट हो जाता है। अतः हमारी जो आम धारणा बनी है कि प्रथम विश्व-युद्ध का प्रणेता जर्मनी था-यह न्यायोचित तथा तर्कों पर आधारित नहीं है।

इंग्लैण्ड- चौथा देश आता है इंग्लैण्ड। इंग्लैण्ड इस युद्ध में तनिक भी अभिरूचि नहीं रखता था। वह पूर्वी-समस्या पर कभी युद्ध करना नहीं चाहता था। युद्ध से उत्पन्न वातावरण से जब यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय दशा बिगड़ती देखी तो तो उसने जर्मनी व इटली के सामने मध्यस्थता का प्रस्ताव रखा। परन्तु आस्ट्रिया ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसके उपरान्त उसने राजदूतों के सम्मेलन का प्रस्ताव भी रखा, वह भी नहीं माना गया। उसने युद्ध की घोषणा भी तत्काल नहीं की। इससे सिद्ध होता है कि इंग्लैण्ड की मंशा युद्ध करने की नहीं थी। परन्तु जर्मनी ने जब बेल्जियम पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया तब इंग्लैण्ड ने युद्ध की घोषणा की। उसकी युद्ध-घोषणा का कारण यह था कि इंगलैंड बेल्जियम को उसकी अखण्डता तथा स्वतन्त्रता को गारण्टी दे चुका था। इनके अलावा उसके युद्ध के और भी कारण थे। फ्रांस द्वारा युद्ध घोषणा करना तथा रूस द्वारा आस्ट्रिया के विरूद्ध सेना भेजनां ये दोनों देश ही इंगलैंड के मित्र राष्ट्र थे।

फ्रांस- इसके अलावा फ्रांस ने भी इंगलैंड के साथ बेल्जियम की उसकी अखण्डता की गारण्टी दी थी। इसके अलावा फ्रांस युद्ध में इसलिए भी अभिरूचि रखता था कि वह इस युद्ध के माध्यम से जर्मनी से 1870 की पराजय का बदला ले सकेगा। इंगलैंड उसके कन्धे पर था ही। अतः जिस प्रकार रूस ने आस्ट्रिया को समाप्त करने के उद्देय से सर्बिया को युद्ध के लिए प्रोत्साहित किया उसी प्रकार फ्रांस ने जर्मनी से अपनी हार का बदला लेने की नियत से इंगलैंड को युद्ध के लिए प्रेरित किया। इसके अलावा जर्मनी की बढ़ती हुई सैन्य शक्ति से और विशेषतः उसकी नौ सेना से फ्रांस भी चिन्तित था। वह जानता था कि जर्मनी का प्रथम शिकार वही बनेगा। निः सन्देह वह प्रथम विश्व-युद्ध में आक्रामक नहीं था। परन्तु वह भी इस युद्ध में जर्मनी से बदला लेने की नियम से अभिरूचि रखता था। युद्ध का वातावरण उसने भी तैयार किया था क्योंकि

21 जुलाई को फ्रांस का राष्ट्रपति पाइनकेर अपनी यात्रा के समय रूस को यह आश्वासन दे आया था कि सर्बिया को बचाने हेतु वह आस्ट्रिया के विरूद्ध जो कार्यवाही करेगा उसमें फ्रांस भी सहायता देने को तैयार रहेगा। फ्रांस के इसी आश्वासन पर रूस ने सर्बिया को आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध करने को भड़काया था।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि प्रथम विश्व-युद्ध के लिए कोइ भी राष्ट्र उद्यत नहीं था और युद्ध का सारा दोष किसी ऐक देश पर नहीं थोपा जा सकता है। इतिहासकार बेन्स का कहना है कि ''राष्ट्रीयता, सत्तावदिता, सैनिकता तथा संधियों की गुत्थियों ने तनाव को बढ़ाने में योग दिया ओर राजकुमार की आकस्मिक घटना ने इस युद्ध को अवश्यंभावी बना दिया, और उस समय जब विश्व के राष्ट्र एक अन्र्राष्ट्रीय अव्यवस्था की स्थिति में थे।'' वास्तव में यह युद्ध किसी ने किसी पर थेपा नहीं था। तैयारी प्रत्येक देश ने कर रखी थी, पर वह तैयारी सुरक्षात्मक थी। अतः इतिहासकार स्लोसन (Slosson) का इस सम्बंध के कथन उपयुक्त लगाता है और हम उससे सहमत है। उसका कहना है कि यह युद्ध संकल्प (Intention) का नहीं विक्षोभ Tension) का था। वास्तव में कोई भी देश युद्ध नहीं चाहता था। पारस्परिक अविश्वास के कारण उनमें तनाव इतना बढ़ गया था कि प्रत्येक को शांति से अधिक अपनी राष्टऊीय प्रतिष्ठा की चिन्ता थी और उस प्रतिष्ठा के अस्तित्व के लिए उन्होंने य महान युद्ध लड़ा। जैसा कि मित्र-राष्टों ने प्रथम विश्व-युद्ध का सारा उत्तरदायित्व जर्मनी पर ही थोपने का प्रयास किया है- यह न्यायसंगत नहीं है। इसीलिए इतिहासकार फे (Fay) लिखता है- ''केवल जर्मनी व उसके मित्रों को युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराना एतिहासिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है। उनका विचार है कि सभी राज्य कुछ अंशों में उसके लिए उत्तरदायी हैं।'' युद्ध के अन्तः में लैन्सिंग (Lensing) के नूतृत्व में युद्ध का उत्तरदायित्व मालुम करने हेतु एक आयोग भी गठित किया गया था। उसमें जर्मनी का कोई प्रतिनिधि नहीं लिया गया। अन्त में इस आयोग ने भी ब्र्साय की सन्धि की धारा 231 के अन्तुर्गत् जर्मनी को ही युद्ध का उत्तरदायी घोषित किया।

शान्ति समझौता Peace Settlements

(ब) पेरिस सन्धि - 1919

परिस का शान्ति सम्मेंलन-1919- 4 वर्ष 3 माह तथा 11 दिन के भयंकर संघर्ष के बाद 11 नवम्बर, 1918 को युद्ध विराम सन्धि पर जर्मनी के प्रतिनिधियों तथा मित्र राष्ट्रों की सेना के सेनापति मार्शल फोच (Marshall Foach) के हस्ताक्षर हुएं दिन के ग्यारह बजे युद्ध बन्द करने की घोषणा की गई। युद्ध विराम सन्धि के पश्चात् विजयी राज्यों ने पराजित राज्यो के साथ स्थायी समझौते करने, राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर राज्यों की सीमा निर्धारण करने, विजयी राज्यों को क्षतिपूर्ति दिलाने तथा स्थायी शान्ति स्थापित करने के उपायों पर निग्रय करने के लिए पेरिस में शान्ति सम्मेंलन आमन्त्रित किया गया। महायुद्ध में फ्रांस ने जिस वीरता एवं साहस का परिचय दिया उसको ध्यान में रखकर पेरिस को ही इस महत्त्वपूर्ण सम्मेंलन का केन्द्र चुना गया। पेरिस को शान्ति- सम्मेंलन के लिये चूनने के कई अन्यकारण भी थे-विराम सन्धि के लिए वार्ताएँ पेरिस में ही की गयी थी, सर्वोच्च युद्ध परिषद के कई कार्यालय पेरिस में ही स्थित थे तथा पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि देशों की निर्वासित सरकारें भी पेरिस में ही थी। इन सब बातों के होते हुए भी पेरिस का चुनाव एक भयंकर भूल थी। इस सम्मेंलन पर फ्रांस के लोगों की बदले की भावना की छाया प्रतिनिधियों के निर्णय पर पड़ी। डॉ. लेंगसम का तो यहाँ तक कहना है कि ''पेरिस की जनता बदले की भावना से पागल थी और जनता के इस पागलपन से कूटनीतिज्ञों को लकवा मार गया।''

प्रमुख राज्य और उनके प्रतिनिधि- शान्ति सम्मेंलन में भाग लेने के लिए लगभग 32 राज्यों को आमंत्रित किया गया था। इसमें रूस तथा पराजित राष्ट्रों अर्थात् जर्मनी, आस्ट्रिया, तुर्की, बल्गोरिया को आमंत्रित नहीं किया गया। विभिन्न राष्टों के लागभग 70 प्रतिनिधि इसमं सम्मिलित हुए। इनके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में अन्य लाग भी पेरिस पहुँचे थे जिनमें मंत्री, कूटनीतिज्ञ, राजनेता, कानून और आर्थिक विशैषज्ञ, सैनिक, पूँजीपति, पत्र-प्रतिनिधि, मजदूरों के नेता, संसदीय सदस्य और प्रमुख नागरिक सम्मिलित थे। यद्यपि इस सम्मेंलन में वियना कांग्रेस के समान बड़े सम्राटों के जैसी चमक-दमक तो नहीं थी, फिर भी वियना की जो दशा थी, वही अब पेरिस की थी। इसमें अमेरिका के राष्ट्रपति के अतिरिक्त 11 देशों के प्रधानमंत्री, 12 विदेश मंत्री तथा कई अन्य राज्यों के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे किन्तु यथार्थ में 'चार बड़े' राज्यों अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली को ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। जापान को भी प्रतिष्ठित स्थान दिया गया था

पूर्वी तट होना था। जापान को शान्तुंग में जर्मनी के अनुज्ञात भूखण्ड (कन्सैशन) और प्रशान्त महासागर में स्थित जर्मनी के द्वीपों में से कुछ मिल जाने थे। जिन देशों ने ये सौदे किये थे, उनके प्रतिनिधि यह देखने के लिए इस सम्मेलन में उपस्थित थे कि ये वादे पूरे हो जाये। इस प्रकार विल्सन के स्वप्नों की साम्राज्यवाद की वास्तविकताओ से सीधी टक्कर हो रही थी।

विल्सन सम्मेलन में गुप्त निर्णयों तथा गुप्त समझौतों का विरोधी था। किन्तु तीन बड़ों के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय गुप्त रूप से किये गये। सम्मेलन की एक बड़ी समस्या विल्सन के चौदह सूत्र थे। वे केवल आदर्शवाद पर आधारित थे उन पर न्यायपूर्ण सन्धि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त लायड जार्ज, क्लीमेंशू और आरलैण्डों के बीच मतैक्य नहीं था। क्लीमेंशू जर्मनी पर अधिक से अधिक कठोर सन्धि की शर्तों को थोपना चाहता था जिससे कि वह भविष्य में कभी भी फ्रांस को चूनौती नहीं दे सके। लायड जार्ज जर्मनी के प्रति बहुत अधिक कठोरता के पक्ष में नहीं था। ओरलैंडों की रूचि इटली के लिये फ्यूम प्राप्त कराने में अधिक थी। सन्धि का निर्माण करते समय 'तीन बड़ों' को रूस की घटनाओं का भी हमेंशा ध्यान रखना पड़ता था क्योंकि 1919 में रूस के साम्यवाद के प्रसार का भय बढ़ता जा रहा था। इसी भय के कारण वे फिनलैण्ड से लेकर पोलैण्ड और रूमानिया तक के पूर्वी राज्यों को बड़ा और शक्तिशाली बनाने का विचार करने लगे।

विल्सन के चौदह सूत्र- अमेरिका का राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवादी राजनीतिज्ञ था। वह एक न्याययुक्त तथा चिरस्थायी शान्ति सन्धि चाहता था। अमेरिकन कांग्रस के समक्ष भाषण देते हुए असने 8 जनवरी, 1918 को चौदह सूत्री कार्यम रखा। कई बार उसने इस बात पर बल दिया कि इसी कार्यक्रय को लक्ष्य बना कर महान युद्ध लड़ा गया था। इन सूत्रों की हजारों प्रतिलिपियाँ युद्ध के समय तर्जन इलाकों में फैंकी गई, परन्जु सरकारी तौर पर इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा इटली ने इन चौदह सूत्रों को अपनी मंजूरी नहीं दी थी। इसलिए सन्धिवार्ता के समय विल्सन तथा मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों में कई मतभेद पैदा हुए। यहाँ तक कि एक-दो बार विल्सन ने सम्मेलन से चले जाने की धमकी भी दी थी। विल्सन ने इटली को फ्युम का प्रदेश देने से साफ इन्कार कर दिया था और इस पर इटली के प्रतिनिधि ओरलैण्डो तथा सोन्त्रिनो नाराज होकर सम्मेलन से चेले गये थे। विल्सन तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों का कहना था कि सन्धियों का मुख्य आधार युद्ध काल में विल्सन द्वारा प्रतिपादित चौदह सिद्धान्त हों। विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए विल्सन बराबर अपने चौदह सिद्धान्तों पर जोर दे रहा था। उसके ये चोदह सिद्धान्त निम्न प्रकार थे-

1. गुप्त कूटनीति का परित्याग कर दिया जाय और सन्धियाँ खूले रूप में कि जाय।
2. समुद्रतटीय भागों को छोड़कर युद्ध अथवा शान्तिकाल दोनो अवस्थाओं में ही समुद्रों में जहाज चलाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में सभी आर्थिक प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये जायें और सभी राज्यों को व्यापार करने के लिए समान अवसर प्राप्त हों।
4. सभी राज्य केवल उतने ही अस्त्र-शस्त्र रखने का आश्वासन दे, जितने उनकी आन्तरिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक हो।
5. उपनिवेशों के दावों का स्वतंत्र तथा निष्पक्ष रूप से निपटारा किया जाय। केवल उपनिवेशीय शक्तियों के दावों का ध्यान ही नहीं, अपितु शासित प्रजा की भावनाओ और हितो का भी ध्यान रखा जाय।
6. रूस की भूमि से सेनाएँ हटा ली जाय तथा उसे अपने भविष्य का कार्यक्रम निश्चित करने की पूर्ण स्वतंत्रा दी जाय।
7. बेल्जियम से जर्मन सेनाएँ हटा ली जाय और उसको पूनः सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बनने का अवसर दिया जाय।
8. फ्रांस के सब प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया जाय। अल्सेस एवं लारेन फ्रांस को लौटा कर फ्रांसीसी क्षेत्र से जर्मन सेनाएँ हटा ली जाय।
9. राष्ट्रीयता के आधार पर इटली की सीमाएँ निश्चित की जाय।
10. आस्ट्रिया - हंगरी की जनता को पूर्ण स्वायत्त-शासन स्थापित करने का अवसर दिया जाय।
11. रूमानिया, सर्बिया तथा मान्टीनीग्रो को खाली कर दिया जाय तथा सर्बिया को समुद्र तट तक पहुँचने की स्वतंत्रता प्रदान की जाय।

12. तुर्की के साम्राज्य में रहने वाली अन्य जातियों को अपनी सूरक्षा को पूर्ण आश्वासन मिले तथा डार्डेनलीज के जलडमरूमध्य का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय ताकि सभी देशो के जहाजो को यातायात एवं व्यापर की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके।

13. पोलैण्ड को एक वसतंत्र राज्य के रूप में स्थापित किया जाय, जिसमें वे सभी क्षेत्र सम्मिलित किये जाय जिनमें पोल जाति के लो निवास करते हैं। पोलैंड को समुद्र तक पहुँचने के लिए एक स्वतंत्र मार्ग दिया जाय तथा उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता की गारंटी दी जाय।

14. विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय जिसमें विश्व के छोटे तथा बड़े राष्ट्रों को स्थान दिया जाय और उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया जाय।

इन चौदह सिद्धान्तों के अतिरिक्त राष्ट्रपति विल्सन ने 11 फरवरी, 1918 को 'चार सिद्धान्त' (Four Principlesa), की 4 जुलाई 1918 को 'चार लक्ष्यों की ओर 27 सितम्बर, 1918 को न्यूयार्क में शान्ति सम्बन्धी ''पांच विशिष्ट बातों (Five Particulars) की घोषणा की थी। इस प्रकार विल्सन के शान्ति अभियान में कुल मिलाकर 27 सिद्धान्तों का समावेश किया गया। जिसमें से कुछ परस्पर विरोशी भी थे।

पेरिस का शान्ति समझौता - पेरिस के शान्ति सम्मेंलन में अनेक सन्धियों और समझौतों के प्रारूप तैयार किये गये किन्तु उन सभी सधियों में से जर्मनी के साथ की गयी वर्साय की सन्धि सबसे महत्वपूर्ण थी। पेरिस सम्मेंलन में पाँच पराजित देश थे, उनके साथ पाँच अलग-अलग सन्धियाँ की गई थी। ये सभी पेरिस की शान्ति सन्धियाँ कही जाती है। ये सन्धियाँ इस प्रकार है-

(1) जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि- (28 जून, 1919), (2) आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मन की सन्धि (10 सितम्बर, 1919), (3) बल्गारिया के साथ न्यूइली की सन्धि (27 नवम्बर, 1919), (4) हंगरी के साथ ट्रियनो की सनिध (4 जून, 1920) और (5) तुर्की के साथ सेव्रे की सन्धि (10 अगस्त, 1920)। इस सन्धियों में वर्साय की सन्धि महत्त्व पूर्ण थी। इस प्रकार पेरिस के शान्ति सम्मेंलन ने विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया। लेकिन मानव जाति यूरोप की राजनीति के इस वातावरण में राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि में सूलगती रही, परिणापस्वरूप संसार को दूसरे महायुद्ध का मुख भी देखना पड़ा।

वर्साय की सन्धि

जर्मनी के साथ संधि करते हुए, मित्र राष्ट्रों को जिन बाधाओं और समस्याओ का हल ढूँढना था, उनमें मुख्य थीं- (1) ऐसी व्यवस्था करना जिससे भविष्य में युद्धों की संभावना दूर हो सके। विभिन्न राज्यों की समस्याओ के समाधान के लिए युद्ध से बेहतर कोई सम्यक् विकल्प होना चाहिये। संसार के राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे थे कि विश्व में शाति बनाये रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की जरूरत है। वे एक ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहते थे, जिसके द्वारा राज्यों के आपसी विवाद पारस्परिक सहमति के आधार पर शान्तिपूर्ण तरीके निपटाये जा सकें तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति विकासित हो। (2) फ्रांस की सुरक्षा का प्रश्न शान्ति परिषद् के सामने एक प्रमुख मुद्दा था। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी ने फ्रांस को दोबार पदाक्रान्त किया था। 1870 ई. के युद्ध में जर्मन सेनाएँ, जिस प्रकार पेरिस पर अधिकार करने में सफल हुई थी, उसके कारण फ्रांस के नेता इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि शान्ति परिषद् के द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये, जिससे जर्मनी भविष्य में फिर कभी इतना शक्तिशाली न हो सके कि वह फ्रांस के लिए खतरे का कारण बने। अपनी रक्षा के लिए फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह समझते थे कि राइन नदी के पश्चिम के प्रदेश को जर्मनी से पृथक् करके, ऐसा राज्य के रूप में बल दिया जाय, जो राजनीतिक रूप से फ्रांस के प्रभाव में रहे। (3) जर्मनी के विशाल भू-भागों से नव-निर्मित राष्ट्र, अपनी क्षुधा की पूर्ति राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को आधार बनाकर चाहते थे। पेरिस के शान्ति-सम्मेंलन के कर्णधारों को यह देखना था कि उन्हें कैसे संतुष्ट किया जाय। अल्सेस-लॉरेन के खोये हुए प्रदेशों को फ्रांस जर्मनी से पुनः प्राप्त करना चाहता था। पोलैंड अनेक ऐसे जर्मन प्रदेशों को राज्य के अन्तर्गत लाना चाहता था, जिनमें पोल जाति के लोग जर्मन के साथ बड़ी संख्या में निवास करते थे। 1914 ई. तक पोलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में बँटा हुआ था। उसके विविध प्रदेश जर्मनी एवं आस्ट्रिया के अधीन थे। अतः बड़ी संख्या में जर्मन लोग इन प्रदेशों में आबाद हो गये थे। पोलैंड इन

पोल बाहुल्य प्रदेशों को पाने को उत्सुक था। इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया भी ऐसे प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था, जिनके निवासी राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक नहीं थे और जिनमें स्लाव लोगों के अतिरिक्त जर्मन बड़ी संख्या में आबाद थे। (4) अफ्रीका और एशिया में फैले विभिन्न जर्मन उपनिवेशों, जिन पर युद्ध के दोरान मित्र राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया था, के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय। इस प्रश्न का समाधान आसान नहीं था। (5) मित्र राष्ट्र ऐसे व्यवस्था करना चाहते थे कि जर्मनी फिर कभी इतना शक्तिशाली न हो कि वह यूरोप की शान्ति भंग कर सके। उसके लिए उन्होंने जर्मनी की सामरिक शक्ति को कम करना अपरिहार्य माना। अतः उसकी सैनिक शक्ति को सिमित करने के तरीके शान्ति परिषद् को ढूँढने थे। (6) मित्र राष्ट्रों ने महायुद्ध का सम्पूर्ण दायित्व जर्मनी और उसके साथियों का माना। अतः वे यह भी आवश्यक समझते थे कि इन देशों से युद्ध की क्षतिपूर्ति करायी जाय। परन्तु उस क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण और वसूल करने के ढंग का निर्णय करना काफी कठिन था।

संधि का प्रारूप एवं उस पर हस्ताक्षर - विभिन्न पक्षों पर कभी गोपनीय और कभी खूली बैठकों में लगभग चार महीने तक लम्बा वाद-विवाद चलता रहा और अन्त में 6 मई, 1919 को संधि का अन्तिम मसविदा तैयार हुआ। 230 पृष्ठों का छपा हुआ यह संधिपत्र 15 भागों में विभाजित था, जिसमें 439 धाराएँ थीं इसके प्रथम भाग में राष्ट्रसंघ की स्थापना, संगठन एवं कार्या का उल्लेख किया गया था।

संधि की शर्तों का प्रारूप 7 मई, 1919 को जर्मन प्रतिनिधियों को सौंप दिया गया। जर्मन प्रतिनिधि मंडल को संधि के तैयार प्रारूप को देखकर बड़ी निराशा हुई क्योंकि वे इस विश्वास के साथ विशेषज्ञों को लेकर आये थे कि संधि कि शर्तें मित्र राष्ट्रों के साथ आमने-सामने की बातचीत के द्वारा तय होगी। जर्मन प्रतिनिधियों से कहा गया कि वे तीन सप्ताहों के भीतर संधि-प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें, इस विषय में कोई मौखिक वार्तालाप नहीं होगा। वास्तव में संधि की शर्तो के प्रकाशित होने के बाद जर्मनी स्तब्ध रह गया । जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों की विश्वासघात और धोखा देने के लिए निन्दा की। जर्मनी के तत्कालीन प्रधान मंत्री शीडमेंन ने जर्मन राष्ट्रीय सभा में बोलते हुए कहा था, ''मेंरे विचार में कोई भी ईमानदार व्यक्ति इस प्रकार की शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता।'' शिकायत यह थी कि उसने जिन शर्तों पर आत्म-समर्पण किया था, प्रस्तावित संधि उन शर्तों के अनुरूप न थी। निः शस्त्रीकरण की शर्तें न केवल जर्मनी पर बल्कि समस्त राष्ट्रों पर लागु की जानी चाहिये थी। जर्मनी के ज्ञापन में संधि-पत्र की उस धारा को निकालने की बात कही गयी थी, जिसके अनुसार युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व जर्मनी पर डाला गया था।

मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी के विरोध पत्र पर विचार करने के बाद संधि की शर्तों में सामान्य परिवर्तन किये और संशोधित संधि पत्र जर्मनी को भेज दिया गया और पाँच दिन का समय देते हुए कहा कि यदि उसने इस अवधि में उसे स्वीकार नहीं किया तो उस पर आक्रमण कर दिया जायेगा। इस कार्य ने आग में घी का काम किया और जर्मनी में चारों और क्षोभ की लहर फैल गयी। संधि की शर्तें इतनी कठोर थी कि इसे स्वीकार करने क उपेक्षा जर्मनी के बहुत से नागरिक मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध लड़ते हुए नष्ट हो जाना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। किन्तु महासेनापति हिन्डनबर्ग ने स्पष्ट कर दिया कि मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध लड़कर जीतना असम्भव है। प्रधानमंत्री शीडमेंन ने संधि को अस्वीकार करते हुए त्याग पत्र दे दिया। अन्त में नवगठित सरकार ने, जिसमें गुस्टावबौर प्रधानमंत्री तथा मूलर विदेशमंत्री थे, संधि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। जर्मन प्रतिनिधि जब अन्तिम बार, 28 जून, 1919 को हस्ताक्षर करने वर्साय महल आये तो उन्हें पहले की भाँति ही अपमानित होना पड़ा। उन्हें बन्दियों की भाँति रखा गया। मित्र राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि जर्मनी के साथ संधि पर हस्ताक्षर वर्साय के उसी राजप्रासाद के शीशमहल में हो, जहाँ फ्रांस को हराने के बाद 1871 ई. में प्रशा के राजा को फ्रांस का सम्राट घोषित किया था। इस अपमान का घुँट भी प्रतिनिधियों को पीना पड़ा। जर्मनी की ओर से हर्मन मूलर तथा जोहानसबेल ने संधि पर हस्ताक्षर किये।

वर्साय की संधि की शर्तें - वर्साय की संधि 15 भागों में विभक्त भी और उसमें 440 अनुच्छेद थे। जैसा पहले बताया जा चूका है कि उसके प्रथम भाग में राष्ट्रसंघ की स्थापना, संगठन एवं कार्यों का उल्लेख किया गया था।

(क) प्रादेशिक व्यवस्थाएँ-

(i) जर्मनी को अल्सेस लॉरेन के प्रान्त फ्रांस को देने पड़े।

(ii) जर्मनी की सीमा पर स्थित मेंलमिडे और यूपेन बेल्जियम को दे दिये गये।

(iii) खनिज पदार्थों से अति-सम्पन्न सार घाटी दोहन हेतु 15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दी गई। किन्तु सार-प्रदेश पर नियंत्रण राष्ट्रसंघ का स्थापित किया गया और वहाँ का शासन चलाने क लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। 15 वर्ष बाद जनमत- संग्रह द्वारा यह निर्णय होना था कि सारवासी फ्रांस के साथ मिलना चाहते हैं या जर्मनी के साथ या राष्ट्रसंघ के शासन में रहना चाहते हैं।

(iv) जर्मन अधिकृत श्लेसविग में जनमत संग्रह किया गया। उसके आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेनमार्क को दिया गया और दक्षिणी श्लेसविग जर्मनी के पास रहा।

(v) जर्मनी को पूर्वी सीमा पर सबसे अधिक नुकसान उठाना पड़ा। मित्र राष्ट्रों ने युद्ध समाप्ति के बाद एक स्वतंत्र पोलैंड के निर्माण का निश्चय किया था। विल्सन के चौदह सूत्रो में भी स्वतंत्र पोलैंड के निर्माण का उल्लेख किया गया था। अतः पेरिस सम्मेलन में जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के पोल क्षेत्रों को लेकर स्वतंत्र पोलैंड का निर्माण किया गया। पोसेन के प्रान्त का 5/6 भाग तथा पश्चिमी प्रशा का अधिकांश भाग पोलैंड को प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त उत्तरी साइलेशिया का एक बड़ा भाग जनमत-संग्रह के आधार पर पोलैंड को दे दिया गया। पोलैंड के नवनिर्मित राज्य का समुद्र तट से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जर्मनी को डेन्जिग का बन्दरगाह राष्ट्रसंघ के संरक्षरण में छोड़ना पड़ा। डेन्जिग के चारों ओर का 700 वर्ग मील का क्षेत्र मिलाकर उसे स्वतंत्र नगर घोषित किया गया और उसका शासन चलाने के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा एक आयुक्त की व्यवस्था की गयी।

(vi) जर्मनी को बाल्टिक सागर तट पर स्थित मेंमल का बन्दरगाह इसलिए राष्ट्रसंघ को सौंपना पड़ा ताकि लिथुआनिया को स्थानान्तरित किया जा सके।

(vii) नवनिर्मित राज्य-बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को जर्मनी ने मान्यता दी।

(viii) जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया को ऊपरी साइलेशिया का एक छोटा-सा क्षेत्र भी हस्तान्तरित किया।

(ix) जर्मनी को समुद्रपार के अपने विस्तृत उपनिवेशों पर सारे अधिकार मित्र राष्ट्रों को देने के लिए विवश किया गया और वे उपनिवेश ब्रिटेन, फ्रांस जापान आस्ट्रिया न्यूजीलैण्ड अफ्रीका और बेल्यिजयम को आपस में बाँट दिये गए। जापान को क्याओ-चाओ और शाण्टुंग प्रान्त में जर्मनी की बस्तियाँ पट्टे पर दी गई। न्यूजीलैण्ड को सैमोआ द्वीप का जर्मन-भाग दिया गया। इंग्लैण्ड को पश्चिम अफ्रीका का जर्मन भाग मला। कैमरून और टोगालैण्ड को फ्रांस और इंग्लेण्ड ने आपस में बाँट लिया। जर्मन अधिकृत दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका का प्रदेश दक्षिण अफ्रीका को सौंपा गया।

(x) जर्मनी ने चीन, थाईलैण्ड, मिश्र, और लिवेरिया में अपने अधिकार और विशेष सूविधाएँ भी छोड़ना स्वीकार किया। मित्र राष्ट्रों ने समुद्र पार रहने वाले जर्मन नागरिकों तथा कम्पनियों की सारी सम्पत्ति, अधिकार और हितो को रखने तथा बेचने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। बल्गारिया और तुर्की में जर्ममनी की सम्पत्ति और सूविधाएँ जब्त कर ली गई।

(xi) ब्रेस्ट लिटोवस्क सन्धि के द्वारा जर्मनी ने एक बड़ा भाग रूस से छीनकर अपने राज्य में मिला या था। किन्तु वर्साय की सथ्नध द्वारा इस विस्तृत प्रदेश पर लैटविया, एस्ओनिया और लिथुआनिया की स्थापना की गई।

(ख) सैनिक व्यवस्थाएँ -

(i) जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गई।

(ii) जर्मनी की स्थल सेना की सख्या अधिकारियों सहित एक लाख निर्धारित की गयी। यह भी व्यवस्था की गयी कि अधिकारियों को कम से कम 25 वर्ष और साधारण सैनिको को कम से कम 12 वर्ष सेना में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था इसलिए की गयी ताकि अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न ले सके।

(iii) जर्मनी में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद आदि के उत्पादन को अत्यन्त सीमित कर दिया गया तथा उसे इन वस्तुओं को आयात करने की मनाही कर दी गई।

(iv) राइन नदी के पूर्वी तट पर जर्मनी को किलेबन्दी करने की आज्ञ नहीं दी गई और उसके पश्चिमी तट पर 50 किलोमीटर क्षेत्र का विसैन्यीकरण कर दिया गया। उस क्षेत्र में उसके सभी किलों को तोड़ दिया गया।

(v) जर्मनी को किसी भी प्रकार की वायुसेना रखने का भी निषेध कर दिया गया।

(vi) जर्मनी की नौ-सैनिक शक्ति को भी सीमित किया गया। जर्मनी कुल 6 युद्धपोत, 6 लडाकु विमा, 12 तोपची जहाज और टारपीडो नावें ही रख सकता था। उसे एक भी पनडुब्बी रखने की इजाजत नहीं थी। उसे समुद्री सेना में अधिकारियों समेत 15000 सैनिक रखने की ही इजाजत दी गयी। जर्मनी के व्यापारिक जहाज को समुद्री शिक्षा देना वर्जित था। यह व्यवस्था की गई कि सारे फालतू जहाजों को या तो व्यापारिक जहाज बना दिया जायेगा या नष्ट कर दिया जायेगा। या मित्र राष्ट्रों को सौंप देना पड़ेगा।

(vii) जर्मनी के हेलिगोलैंड के बन्दरगाह की किलेबन्दील नष्ट करना भी तय हुआ।

(viii) मित्र राष्ट्रों को निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं को कायन्वित करने के लिए अन्तर्मित्र राष्ट्रीय आयोगों की नियुक्ति का भी अधिकार दिया गया। इन आयोगों को जर्मनी के किसी भी भाग में जाने और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने के व्यापक अधिकार दिये गये।

(ग) अन्य व्यवस्थाएं-

(i) जर्मनी की प्रमुख नदियाँ एल्व, ओडर, नीमन और डेन्यूब को अन्तर्राष्ट्रीय घोषित कर दिया गया और उन पर नियंत्रण रखने के लिए विशेष आयोग गठित किये गये। राइन नदी को भी एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के अधिकार में रखा गया।

(ii) जर्मनी को अपने प्रमुख बन्दरगाह हेम्बर्ग और स्टैटिन में चेकोस्लोवाकिया की व्यापारिक सुविधा के लिए स्वतंत्र क्षेत्र देने को बाण्य किया गया। कील नहर और इसके मार्ग को सब राष्ट्रों के लिए खोल दिया गया।

(iii) जर्मनी के सम्राट विलियम द्वितीय पर अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार तथा सन्धियों के विरूद्ध घोर अपराध करने का अभियोग लगाया गया। किन्तु नीदरलैड की सरकार ने सम्राट विलियम द्विनीय को समर्पित करना अस्वीकार कर दिया। इसलिए उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सका।

(iv) जर्मनी को प्रथम विश्व युद्ध का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ा। सन्धि की 231 वीं धारा इस प्रकार थीं- ''मित्र और सम्मिलित राष्ट्र अभियोग लगाते हैं और जर्मनी अपनी ओर अपने साथियों की ओर से स्वीकार करता है कि जर्मनी और उसके साथियों द्वारा जबरदस्ती लादे हुए युद्ध के कारण मित्र तथा सम्मिलित राष्ट्रों के नागरिको को जो भी हानि और नुकसान हुआ है, उसका उत्तरदायित्व जर्मनी तथा उसके साथियों का ही है।''

(v) क्षति का स्वरूप और उसके लिए वसूल की जाने वाली धनराशि के निर्धारण के लिए एक 'क्षतिपूर्ति आयोग' बैठाने की व्यवस्था की गयी।

(vi) युद्ध में नष्ट हुए प्रदेशों के पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी के आर्थिक साधनों का प्रयोग किया जाना तय हुआ। जर्मनी ने फ्रांस, इटली, बेल्जियम और लक्जैम्बर्ग को कोयला की निर्धारित मात्रा देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उसे फ्रांस को कुछ रासायनिक पदार्थ, जैसे- अमोनियम सल्फेट, कोलतार आदि भी देने का वचन देना पड़ा।

(vii) यह भी सुनिश्चित हुआ कि क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय होने तक जर्मनी की सरकार 1921 ई॰ तक 5 अरब डालर धनराशि देगी।

(viii) विभिन्न जर्मन उपनिवेशों में और मित्र राष्ट्रों में जो भी सरकारी और गैर सरकारी पूंजी थी, वह जब्त कर ली गयी।

(ix) मित्र राष्ट्रों के क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी द्वारा पर्याप्त मात्रा में मशीनें, औजार और पत्थर, ईट, लकड़ी स्टील सीमेन्ट चूना आदि सामग्री दी जाने की व्यवसथा की गयी । इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित किया गया कि सन्धि लागू होने की 3 माह की अवधि के भीतर जर्मनी फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन देगा।

(x) सन्धि की शर्तों को पूरा करेन के लिए कुछ गारन्टियों की भी व्यवस्था की गयी। राइन के पश्चमी क्षेत्र पर सन्धि लागू होने के बाद आगामी 15 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार रहेगा। यदि जर्मनी ने सन्धि की शर्तों का

निष्ठापुर्वक पालन किय जो 5 वर्ष बाद कोलोन का क्षेत्र, 10 वर्ष बाद कोबलेंज का क्षेत्र तथा 15 वर्ष की समाप्ति के बाद मेंज तथा अन्य अधिकृत जर्मन क्षेत्रो से सेनाएँ हटा ली जायें गी।

अन्य सन्धियाँ

(i) आस्ट्रिया के साथ सेन्ट मर्जे की सन्धि-10 दिसम्बर, 1919 को यह सन्धि मित्र राष्ट्रों और आस्ट्रिया हंगरी के बीच हुई। इसके द्वारा आस्ट्रिया-हंगरी का साम्राज्य भंग कर दिया गया। आस्ट्रिया ने हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैड और यूगोस्लाविया की स्वतंत्रता को मान्यता दी। उसने आस्ट्रिया-हंगरी के राज्य में पहले से सम्मिलित प्रदेशों को छोड़ दिया । इटली को आस्ट्रिया, दक्षिणी टिरोल, टैन्टिनो, ट्रीस्ट, इस्ट्रिया एवं डापलमेंशिया के तटवर्ती कुछ द्वीप प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को बोहीमिया, मोराविया, आस्टियन साइलेशिया का अधिकांश भाग और आस्ट्रिया के दक्षिण क्षेत्र का कुछ भाग प्राप्त हुआ। यूगोस्लाविया को बोस्निया, हर्जीगोविना, डालमेंशिया का जट एवं कुद द्वीप मिले। पोलैंड को आस्ट्रियन मेंलीशिया का क्षेत्र प्राप्त हुआ। इसके साथ ही टेशेन का औद्योगिक क्षेत्र पोलेंड और चेको स्लोवाकिया के बीच विभाजित किया गया।

इस प्रकार आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य का विघटन हो गया। आस्ट्रिया के सामांज्य की जनसंख्या, जो पहले 3 करोड़ 10 लाख थी, अब केवल 60 लाख जर्मन नागरिको की रह गई थी; जो वियना के चारों ओर फेली हुई थी। आस्ट्रिया को भी जर्मनी के साथ युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया था, अतः उससे क्षतिपूर्ति का वचन लिया गया। आस्टिया को केवल 30 हजार सैनिक रखने की अनुमति दी गयी और उसकी नौ-सेना को समाप्त कर दयिा गया। उसे एड्रियाटिक सागर तक पहुँचने की सुविधा दी गई, किन्तु उसके बदले में उसे चेकोस्लोवाकिया की रेलगाड़ियों को अपनी रेल की लाईनों पर से निकलने की अनुमति देनी पड़ी।

हंगरी के साथ ट्रियानों (Trianon) की सन्धि- यह सन्धि हंगरी और मित्र राज्यो के बीच हुई थी। इसके अनुसार हंगरी ने गैर-मेंग्यार की जनसंख्या को छोड़ दिया। स्लोवाक प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को, ट्रांसिलवानिया रूमानिया को और क्रोशिया युगोस्लाविया को दे दिया गया। नये हंगरी राज्य की जरसंख्या लगभग 80 लाख और क्षेत्र फल 35,000 वर्ग मील था। हंगरी की सेना घटाकर 35 हजार कर दी गयी। उसकी नौ-सेना भंग कर दी गयी।

बल्गारिया के साथ निउली (Neuilly) की सन्धि- बल्गारिया ने प्रथम विश्व युद्ध में तथा 1912-13 ई॰ के बाल्कन युद्धों में जीते हुए सारे प्रदेश लौटा दिये। उसे पश्चिमी थ्रेस का भाग युनान को देना पड़ा। इसेस उसकी बड़ी हानि हुई, क्योंकि थ्रेस के निकल जाने से एजियन सागर से उसका सम्बन्ध टूट गया। उसने यूगोस्लाविया को मेंसिडोनिया का कुछा भाग भी दिया ओर रूमानिया को सारा डोब्रुजा (Dobruja) वापस कर दियां बल्गारिया की सेना की संख्या घटा कर 33 हजार कर दी गयी। उसकी नौ-सेना को भंग कर दिया गया। उसे एक बड़ी रकम युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़ी, जिसे 37 वर्षों में चुकाने की बात तय की गयी

तुर्की के साथ सेर्वे (Sevresa) की सन्धि-10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ मित्र राष्ट्रों ने सन्धि की। इस सन्धि द्वारा थ्रेस का प्रदेश और एजियन सागर में विद्यमान् सब द्वीप यूनान को प्राप्त हुए। स्मर्ना के प्रदेश पर भी यूनान का शासन स्थापित किया गया। पर इस शर्त के साथ कि पाँच साल बाद जहां जनमत संग्रह किया जायेगा और यदि जनमज द्वारा यह तय हो कि वहाँ के निवासी यूनान के साथ ही रहना चाहते हैं, तो स्मर्ना का प्रदेश स्थायी रूप से यूनान को दे दिया जायेगा। डोडेकनीज द्वीप समुह, रोड्स के प्रदेश इटली को दिये गये। मेंसोपोटामिया ओर पैलेस्टाइन ब्रिटेन को दिये गये और सीरिया पर फ्रांस का अधिकार स्थापित किया गया। आर्मीनिया और हैज्जाज को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

डार्डेललीस के जलमरूमध्य को अन्तग्रष्ट्रीय क्षेत्र घोषित किया गया, परन्तु कान्सटेन्टीनोपल और उसके आस-पास का भाग तुर्की के सूल्तान के अधीन बना रहा।

इस प्रकार तुर्की साम्राज्य के सम्बन्ध में जो नइ व्यवस्था हुई, उसके अनुसार चार लाख चालीस हजार वर्ग मील जमीन तुर्की के हाथ से चली गयी। अब उसकी आबादी 80 लाख रह गई और एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। तुर्की की सैनिक संख्या 50 हजार निश्चित कर दी गई। उसे एक छोटे से शक्तिहीन राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। किन्तु इस मसय तुर्की में राज्य क्रान्ति हो रही थी। मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्क लोग राजसत्ता

का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। ये क्रान्तिकारी लोग सेर्व की सन्धि को मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः 1923 ई. में मित्र राज्यों ने तुर्की की राष्ट्रवादी सरकार के साथ लूसान की पृथक् सन्धि की । तुर्की की सम्प्रभुता स्वीकार की गयी। तुर्की ने ट्रांस-जोर्डन, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया, सीरिया और हैज्जाज छोड़ना स्वीकार कर लिया। किन्तु अनाटोलिया, एड्रियानोपल, पूर्वी थ्रेस, स्मर्ना, गेलीशिया, अदालिया आदि प्रदेश तुर्की के पास ही रखे गये। डार्डेनल्स तथा बासफोरस द्वीपों का अन्तर्राष्ट्रीय करण कर दिया गया।

पेरिस की शान्ति व्यवस्था की समीक्षा- पेरिस के शान्ति सम्मेलन का आरम्भ अत्यधिक आशापूर्ण वातावरण में हुआ था, परन्तु अन्त व्यापक नैराश्य में हुआ। यह परिणाम स्वाभाविक एवं अनिवार्य था, क्योंकि घोर राष्ट्रीय संकट में उत्पन्न आदर्शवाद उस संकट की समाप्ति पर अधिक नहीं टिकता, विजेता शक्तियों में ईर्ष्या, द्वेष पुनःजागृत हो जो हैं और शान्ति के लिए जो त्याग और समझौते किये जाते हैं, वे बाद में सबको निराशाजनक दिखायी देते हैं। पेरिस की सन्धि में फ्रांसीसी हितों का सर्वाधिक ध्यान रखा गया था, परन्तु जब क्लीमेंशू ने उसे फ्रेंच विधान सभा में प्रस्तुत किया तो उसके दोनों भवनों में उस पर इंग्लैण्ड और अमेरिका के गुट के सामने कायरतापूर्वक अपने राष्ट्रीय हितों के बलिदान का दोष लगाया गया। इसी प्रकार इटली को जो कुछ प्राप्त हुआ वह उसे अपर्याप्त दिखायी दिया और इटलियन राष्ट्र बड़ा असन्तुष्ट रहा। लायर्ड जार्ज भी आलोचना से न बच सका। एक ओर फ्रांस को प्रसन्न करने के लिए जर्मनी पर विनाशकारी सन्धि लादने का दोष लगाया गया। अमेरिकन सीनेट ने राष्ट्रसंघ का, जो विल्सन को समस्त व्यवस्था में सर्वाधिक प्रिय वस्तु मालूम होती थी, विरोध किया गया और अमेरिका को उसका सदस्य नहीं बनने दिया। कई छोटे-छोटे राज्य भी असन्तुष्ट थे किन्तु सबसे अधिक असन्तोष जर्मनी को था।

पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने, मध्य-यूरोप का बाल्कनीकरण (Blakanization) कर दिया। बाल्कन प्रयद्वीप में छोटे-छोटे अनेक राज्यों की स्थापना हुई। जर्मनी की पूर्वी सीमा पर पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, एस्टोनिया, लेटेविया, लिथुआनिया आदि राज्य स्थापित किये गये। सम्मेलन का यह कार्य बुद्धिमतापूर्ण नहीं था क्योंकि ये राल्य जीवनक्षम नहीं थे। उनमें जीवन के आर्थिक एवं सैनिक आधार का अभाव था। वास्तव में नयी व्यवस्था में अनेक त्रुटियाँ थी और उस पर हस्ताक्षर करने वाले राजनीतिज्ञों में से बहुतों को स्वयं उससे संताष नहीं हुआ। दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमंत्री जनरल स्मट्स ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् कहा था कि, "मैंने सन्धि पर हस्ताक्षर इसलिए नहीं किये कि में उसका अनुमोदन करता हुँ वरन् युद्ध की स्थिति का अन्त करने के लिए किए हैं। हमें वह वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकी जिसकी जनता को आशा थी।" जवाहरलाल नेहरू ने भी सन्धि की आलोचना करते हुए कहा, "मित्र राष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे। वे मांस का पिण्ड ही नहीं चाहते थे बल्कि जर्मनी के अर्धमृत शरीर से रक्त की आखरी बूंद तक ले लेना चाहते थे।" इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को असहाय बनाने का प्रयत्न किया गया।

1. अपमानजनक सन्धि (Humiliating Treaty)- वर्साय की सन्धि की शर्तें अपरिमित रूप से कठोर और अपमानजनक थी। उसकी कठोरता के कारण उसकी पालना असम्भव थी। सन्धि का मूल उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए पंगु बनाकर रखना था। इस सन्धि के द्वारा जर्मनी को हर प्रकार से अपमानित किया गया। उसके उपनिवेश छीन लिए गये। उसकी व्यापारिक सुविधाओं पर नियन्त्रण लगा दिया गया। उसका राज्य क्षेत्र अन्य राज्यों को बाँट दिया गया। उस पर असहनीय क्षति-पुर्ति का बोझ लाद दिया गया। उसकी सैनिक शक्ति नष्ट कर दी गई और उसे युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया। यह सन्धि जर्मनी के लिए प्रतिशोधात्मक और अपमानजनक थी। लायड जार्ज ने कहा था, "इस सन्धि की शर्तें बड़ी कड़ी हैं परन्तु जर्मनी के कार्य इससे कम भयंकर नहीं थे। यदि जर्मनी जीत जाता तो उसके परिणाम कम भयंकर नहीं होते।" डी.सी. सौमरवेल (D.C. Sommerwell) ने सन्धि की कठोरता के बारे में लिखा, "वर्साई की सन्धि द्वारा जर्मनी को करारी चोट ही नहीं लगी, अपितु उससे अधिक उसे अपमानित किया गया। पराजय का अपमान मिट गया और जैसे ही उसके घाव भर गए, उसने पूरी शक्ति से प्रतिशाध लेने की चेष्टा की।"

2. आरोपित सन्धि-वर्साय की सन्धि को एक आरोपित सन्धि (Dictated Peace) की संज्ञा भी दी जाती हैं। इसमें कई जगह अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार और परम्पराओं को तोड़ा गया था। यह एक प्रकार से मित्र राष्ट्रों की आज्ञा थी, जिसको जर्मनी को स्वीकार करना पड़ा। सन्धि के मसविदे को तैयार करते समय जर्मनी के प्रतिनिधियों को नहीं बुलाया गया था। जर्मनी को सन्धि के निर्माण में भाग नहीं लेने दिया इसलिए यह थोपी गई सन्धि अपमान और घृणा का कारण बनी। सन्धि के मसविदे पर जर्मनी ने संशोधन प्रस्तुत किए उन्हें भी अस्वीकृत कर दिया। सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय भी जर्मन

प्रतिनिधियों के साथ सामान्य शिष्टाचार के नियमों का पालन नहीं किया गया और उन्हें अपराधी के समान भवन के अन्दर और बाहर ले जाया गया। इस प्रकार के व्यवहार से जर्मनी को बड़ा मानसिक आघात पहुँचा। इस सन्दर्भ में प्रो. कार ने लिखा है, ''वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली प्रत्येक सन्धि एक प्रकार से आरोपित सन्धि होती है किन्तु वर्साई की सन्धि में अधिकदिष्ट किये जाने का भाव आधुनिक काल की किसी सन्धि की अपेक्षा अधिक है।''

प्रो. लेंगस ने भी पेरिस की सन्धियों के विषय में लिखा है कि वे ''एक पक्षीय थीं। उनमें भविष्य के संघर्ष के बीज विद्यमान थे।''

3. सन्धि का आधार विश्वासघात- पेरिस की शान्ति सन्धि का आधारभूत सिद्धान्त था- ''विजेता का ही लूट पर अधिकार है और इस बार मित्र राष्ट्र ही विजेता हैं।'' फ्रांस के द्वारा राइन प्रदेश पर अधिकार की चेष्टा, इटली के द्वारा डालमेंशिया पर अधिकार करना, पोलैण्ड के द्वारा समस्त उत्तरी साइलेशिया का अपहरण आदि विश्वासघात के उदहरण हैं। जर्मन समझते थे कि सनिध का आधार विल्सन के चौदह सूत्र होंगे परन्तु ऐसा न हो सका। इसी आधार पर जर्मनी ने युद्धविराम किया था, अतः यह सन्धि जर्मनी के लिए एक बड़ा विश्वासघात था। यही कारण था कि वर्साई की अन्यायपूर्ण सन्धि ने द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया। इसका परिणाम 20 वर्षो बाद संसार को भुगतना पड़ा। इसीलिए फ्रांस के मार्शल फोच (Foch) ने भी कहा था, ''यह सन्धि नहीं है। यह केवल बीस वर्षों के लिए युद्ध विराम है।'' उनकी यह बात भविष्य में सही प्रतीत हुई।

4. कठोर सन्धि- यह सन्धि बहुत ही कठोर थी। स्वयं लायड जार्ज ने स्वीकार किया था कि ''सन्धि की शर्तें बड़ी भयानक किन्तु न्यायपूर्ण थीं।'' अमेरिका के तत्कालीन विदेश मंत्री लॉसिंग ने भी सन्धि की शर्तों को अत्यन्त कठोर और अपमानजनक बताया था।

जर्मन चांसलर बेथमान हालवेग ने कहा था कि- ''पराजित को गुलाम बनाने का इससे बढ़कर विश्व ने कभी भी भयानक उपाय नहीं देखा।'' चर्चिल ने भी लिखा है कि ''सन्धि की आर्थिक शर्तें इतनी मूर्खतापूर्ण और अनिष्टकारी थीं कि उनका यथार्थ में कोई महत्त्व नहीं रह गया था।''

वास्तव में जिस प्रकार से जमनी के राज्य का अंग-भंग किया गया था और उसके विभिन्न भागों को पड़ोसी राज्यों को हस्तान्तरित किया गया, उसके कारण जर्मनी की राजनीतिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा। उसकी सैनिक शक्ति को इतना कम कर दिया गया कि उसकी सेना की संख्या बेल्जियम जैसे छोटे से राज्य की सेना से भी कम हो गयी। उसके आर्थिक स्रोतों पर अधिकार कर लेने के पश्चात् भी मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी पर क्षतिपूर्ति की इतनी अधिक राशि लाद दी जिसको चूकाना उसके लिए असम्भव था। इस कठोरता के कारण ही ब्रिटेन के प्रतितिधि मण्डल के सदस्य कीन्स (Keynesa) ने त्याग-पत्र दे दिया और वर्साई की सन्धि की आलोचान की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्साई की सन्धि कठोर, अपमानजनक एवं विश्वासघाती सन्धि थी, जिसे जर्मनी जैसा स्वाभिमानी राष्ट्र कभी बर्दाश्त नही कर सकता था। उसके लिए यह स्वभाविक ही था कि वह भविष्य में युद्ध द्वारा अपने इस अपमान को धोने का प्रयत्न करें। जर्मनी के अतिरिक्त अन्य पराजित राष्ट्रों को भी इसी प्रकार की कठोर और अपमानजनक सन्धियों पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया गया।

प्रो. डेविड थामसन ने पेरिस की सन्धि की समीक्षा करते हुए लिखा है कि ''सम्पुर्ण सम्मेलन में आदर्शवाद और यथार्थवाद के बीच जो संघर्ष चलता रहा उसके परिणामस्वरूप ऐसी व्यवस्था का निर्माण हुआ, जिसमें विजित राष्ट्रों के प्रति ऐसे मामलों में कठोरता बढ़ती गयी, जहाँ मृदुलता की नीति अपनाना श्रेयस्कर होता तथा ऐसे मामलों में उदारता प्रदर्शित की गयी जहाँ कठोर होना आवश्यक था- वह ऐसी व्यवस्था थी, जिसे पराजित राष्ट्र कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं कर सके और जिसे तोड़ने के लिए उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता एवं साधन उपलब्ध करा दिये गये। उसके कार्यों की इस परिणति की दृष्टि से इतिहास में पेरिस के सम्मेलन को निश्चित रूप से असफल माना जायेगा।''

इन सब दोषों के कारण वर्साई की सन्धि की कटु आलोचना की गयी। जर्मनी ने इस सन्धि को अपना राष्ट्रीय अपमान माना। अतः जर्मन जनता ने आगे चलकर एक एक करके सन्धि की सभी शर्तों को ठुकरा दिया। इन दोषों के बावजूद सन्धि का महत्त्व कम नहीं है। इस सन्धि द्वारा भविष्य में युद्ध टालने की दिशा में एक कदम उठाने की कोशिश की गई। विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए राष्ट्रसंघ जैसी संस्था की नींव डाली गयी।

अध्याय : 16 रूस की क्रान्ति - 1917
Russian Revolution - 1917

प्रस्तावना (Introduction)

रूस की राज्य क्रान्ति बीसवीं शताब्दी के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना के पूर्व में भी अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका और फ्रांस में क्रान्तियाँ हुई थीं किन्तु रूस की क्रान्ति का अपना अलग ही महत्त्व है। प्रत्येक क्रान्ति अपनी प्रकृति, विस्तार एवं उद्देश्यों में अन्य क्रान्तियों से भिन्न होती है। जहाँ अमेरिका की क्रान्ति उपनिवेशवाद को चुनौती थी, वहीं फ्रांस की राज्य क्रान्ति के कारण लोकतंत्र, राष्ट्रीयता ओर सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों की विजय हुई थी। 1789 ई० में जिन सिद्धान्तों को क्रान्तिकारी और उग्र माना जाता था, आज वे सर्वसम्मत तथ्य हो गये हैं। फ्रांस से जो विचारों की लहर चली थी, वह आज विश्व व्यापी हो गयी है। इसी प्रकार 1917 ई० में रूस में जो राज्य क्रान्ति हुई, उसने सम्राट के एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर लोकतंत्रवाद की स्थापना का ही प्रयत्न नहीं किया अपितु सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी कुलीनों, पूँजीपतियों और जमीदारों की शक्ति का अन्त कर, सर्वसाधारण मजदूर और किसान जनता की सत्ता भी स्थापित की। उससे संसार में एक नई विचारधारा प्रारम्भ हुई, जिसे समाजवाद कहते हैं।

समाजवाद एक ऐसी विचारधारा है, जो एक नये समाज, नई संस्कृति और नई सभ्यता को जन्म देती है। साम्यवादियों के मतानुसार समाज की सम्पूर्ण सत्ता कम सफलता मिली तो जार ने उसके प्रथम अधिवेशन में ही ड्यूमा का विघटन कर दिया। मार्च, 1907 में ड्यूमा का दूसरा अधिवेशन हुआ तो उसका भी विघटन कर दिया। इससे जनता में जार के प्रति अविश्वास बढने लगा। 1905 ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप प्राप्त किये गये अपने अधिकारों को इस प्रकार पुनः छिनता हुआ देखकर जनता भीतर ही भीतर तिलमिला उठी।

3. कृषकों की दयनीय दशा- रूस एक कृषि प्रधान देश था। वहाँ कृषकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय द्वारा 1861 ई० में कृषि दासों की मुक्ति की घोषणा के उपरान्त भी कृषकों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बीस हजार बड़े जमींदारों के पास लगभग 1800 लाख एकड़ भूमि थी जबकि एक करोड़ से अधिक कृषकों के पास केवल 1900 लाख एकड़ भूमि थी। रूस की समस्त कृषक जनसंख्या का एक तिहाई भाग भूमि-हीन था। खेती पुरानी पद्धति से की जाती थी। भूमिहीन कृषकों को जमींदारों की भूमि पर काम करना पड़ता था। इन्हें कई तरह के करों का भुगतान भी करना पड़ता था, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति अधिक चिन्तनीय हो गयी थी। कृषि दासों की मुक्ति का नियम रूस के सभी प्रान्तों में लागू नहीं किया गया था। कृषकों को दोनों समय का भोजन भी उपलब्ध नहीं होता था शासन द्वारा समय-समय पर स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु कृषकों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। 1902 ई० में हारकोव (Harkov) और पोल्टावा (Poltava) के किसानों ने आन्दोलन किया। पहले वे भूमिकर में कमी एवं सुविधा-अधिकारों की समाप्ति की माँग करते रहे किन्तु जब उनकी माँगों की अवहेलना की गयी तो वे अधिक उग्र हो गये। क्रान्तिकारी समाजवादी दल ने इन कृषकों की स्थिति का लाभ उठाया और उन्हें शासन के विरूद्ध उत्तेजित किया। 1905 ई० में यूक्रेन के दक्षिण-पश्चिमी भाग, काकेशस, पोलैण्ड, वोल्गा नदी के क्षेत्र में कृषकों के विद्रोह हुए। 1905 ई० में समस्त कृषक प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मलेन हुआ, जिसमें "रूसी कृषक संघ" बनाने का निर्णय लिया। फलस्वरूप 1906 ई० के कानून में प्रत्येक कृषक की 'कम्यून' से अपनी भूमि अलग करने का अधिकार दिया गया। 1910 ई० के भूमि अधिनियम द्वारा कृषकों को अपनी भूमि का समेंकीकरण (Consolidation) करने का अधिकार दिया गया। शासन द्वारा समय-समय पर स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया गया था। इन कानूनों से कुछ कृषकों को ही लाभ हुआ

किन्तु भूमिहीन किसानों की समस्या सुलझ नहीं सकी और कृषकों की दरिद्रता में भी कमी नहीं हुई। ऐसी स्थिति में कृषकों का विद्रोही होना अवश्यम्भावी हो गया।

4. श्रमिकों का असंतोष- रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय के समय में पश्चिमी यूरोप के प्रमुख राज्यों में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। यद्यपि इस समय रूस एक कृषि प्रधान देश था फिर भी औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव वहाँ दिखाई देने लगा। अलेक्जेण्डर तृतीय के समय में औद्योगिकरण की गति में तीव्रता आयी। हजारों की संख्या में भूमिहीन कृषक इन औद्योगिक केन्द्रों पर रोजगार के लिए पहुँचे। उद्योगपतियों ने उनकी असहाय एवं दयनीय स्थिति का पूरा लाभ उठाया और उनसे न्यूनतम मजदूरी पर अधिक से अधिक कार्य लिया। इनकी मजदूरी इतनी कम थी कि उनका जीवन-निर्वाह कठिन होने लगा। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए वे अपने मालिकों से कुछ भी नहीं माँग सकते थे और न 'मजदूर संघ' ही बना सकते थे। 1885 ई० के बाद यद्यपि कुछ श्रमिक कानून बनाये गये लेकिन मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया क्योंकि शासन की नीति मूलतः उद्योगपतियों के हितों की रक्षा करने की थी। क्रान्तिकारी समाजवादी दल ने मजदूरों के इस असंतोष का लाभ उठा कर उनमें समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया। मजदूर इस दल के सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित हुए। वे अब संघर्ष के लिए तैयार थे। उद्योगों के एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से मजदूरों में एकता की भावना भी शीघ्र उत्पन्न हुई। 1902-03 ई० से ही मजदूरों की हड़तालें आरम्भ हो गयी थी। 1905 ई० की क्रान्ति का आरम्भ भी मजदूरों के जुलूस से ही हुआ था। इस समय मजदूरों की शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि उन्होंने सेन्ट पीटर्सबर्ग में अपनी अलग सरकार बना ली। 1905 ई० के बाद सरकार ने मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया। श्रमिक दुर्धटना क्षतिपूर्ति की व्यवस्था तो 1903 ई० में ही आरम्भ कर दी गई थी। 1912 ई० में स्वास्थ्य-बीमा तथा दुर्घटना बीमा अधिनियम लागू किये गये किन्तु इन सुधारों से मजदूरों का असंतोष दूर नहीं हुआ। ये मजदूर पूँजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही की निरंकुशता को समाप्त कर "सर्वहारा वर्ग" का शासन स्थापित करना चाहते थे।

5. आर्थिक एवं सामाजिक विषमता- इस समय रूस की सामाजिक स्थिति वैसी ही थी, जैसी 1789 ई० से पूर्व फ्रांस की थी। समस्त रूसी समाज दो भागों में विभक्त किया जा सकता था-प्रथम, अधिकार युक्त वर्ग-जिसमें जार के कृपापात्र कुलीन लोग थे। ये लोग जार की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता को आवश्यक समझते थे। यह वर्ग बहुत धनी था। राज्य के अधिकाँश महत्त्वपूर्ण पदों पर तथा अधिकाँश भूमि पर इन्होंने अधिकार कर रखा था। दूसरा वर्ग अधिकारहीन वर्ग था। इसमें किसान तथा मजदूर थे। इनकी आर्थिक अवस्था अत्यधिक दयनीय थी। इनको कुलीन वर्ग के अत्याचारों को सहना पड़ता था। दास-प्रथा की समाप्ति पर भी इस वर्ग की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इस प्रकार रूसी समाज में भारी आर्थिक एवं सामाजिक विषमता थी। फलतः यह वर्ग-संघर्ष रूसी क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना।

6. जार की रूसीकरण की नीति- रूस की प्रजा विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बनी थी। वहाँ कई धर्म प्रचलित थे, कई भाषाएँ थीं। रूस की जनसंख्या में यहूदी, पोल, फिन, उजबेग, तातार, कजाक, आर्मीनियन आदि का समावेश था। इन सब की अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता थी। रूसी इन सब में प्रभावशाली होने के कारण शासक बन गये थे। इनको अन्य अल्पसंख्यक जातियों के साथ कोई हमदर्दी नहीं थी। इन अल्पसंख्यक जातियों के विरूद्ध जार अलेक्लेण्डर के समय से ही रूसीकरण (Russification) की नीति अपनाई गई और "एक जार, एक धर्म" का नारा अपनाया गया। गैर रूसी जनता का दमन किया गया, इनकी भाषाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये, इनकी सम्पत्ति छीन ली गई इस कारण गैर रूसी जनता में असंतोष फैला और वह जारशाही के विरूद्ध हो गई। 1905 ई० में जार्जिया, पोलैण्ड, ओर बाल्टिक सागर में भयानक विद्रोह हुए। जार निकोलस ने जिस प्रकार इन विद्रोहों को कुचलने के लिए इन पर अमानुषिक अत्याचार किये, उससे उनका विद्रोही होना स्वाभाविक ही था। इन्होंने भी जार के विरूद्ध आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया।

7. बौद्धिक क्रान्ति- रूस में कई वर्षो से पश्चिमी यूरोप के उदारवादी विचार प्रवेश कर रहे थे और जार तथा उसके प्रतिक्रियावादी पदाधिकारी उनका दमन करने में कोई कसर नहीं नहीं छोड़ रहे थे। फिर भी उदारवादी विचारों का यहाँ प्रसार हुआ। स्वयं रूस के टॉल्सटाय (Tolstoy), तुर्गनेव (Turgenev), दोस्तोवसकी (Dostoievsky) आदि उपन्यासकारों ने भी रूसी जीवन की विफलतओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इनके विचारों से लोगों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई। शिक्षित वर्ग राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगा। इनके साथ ही कार्ल-मार्क्स, मेंक्सिम-गोर्की और बाकुनिन के समाजवादी विचारों का भी देश के वमिकों एवं बुद्धिजीवियों पर प्रभाव पड़ा। देश में कई समाजवादी दल बन गये थे जिनका

प्रभाव कृषकों ओर मजदूरों पर बढ़ रहा था। इसी समय समाज में शून्य वाद (Nihinilism) का उदय हुआ जिसने प्राचीन व्यवस्थाओं को मिटाने का प्रयत्न किया।

8. रूस में समाजवाद का प्रसार- पश्चिमी यूरोप के देशों में हुई औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव रूस पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। रूस में औद्योगिक क्रांति का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ था। वहाँ औद्योगिक देशों की तरह 'श्रमिक आन्दोलन' की भावना का प्रसार हुआ। यहाँ किसानों ने अपनी दयनीय स्थिति में सुधार के लिए भी विद्रोह किये। इन किसानों की दयनीय स्थिति से प्रभावित होकर कुछ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने 1860 ई० के पश्चात् समाजवादी विचारधारा के आधार पर एक आन्दोलन आरम्भ किया। हर्जेन (Hezen) ओर चर्नीशेवेस्की (Chemy-Shevsky) इस आन्दोलन के मुख्य प्रणेता थे। उनके समर्थकों को 'नरोदनिक' या पापुलिस्ट कहा जाता था। वे चाहते थे कि रूस के कृषकों को भूमि का स्वामी माना जाये और ग्राम सभाओं के माध्यम से भूमि का वितरण किया जाय।

1883 ई० में रूस में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ने लगा। कुछ समय बाद समाजवादी दल दो भागों में विभाजित हो गया-पहला क्रांतिकारी समाजवादी दल (Social Revolutionary Party) और दूसरा सोशल डेमोक्रेटिक दल (Social Democratic Party)। क्रान्तिकारी समाजवादी दल कृषकों को संगठित कर देश में क्रान्ति लाना चाहता था। इस दल ने आतंकवादी कार्यक्रम बनाये और कई हत्याएँ भी की। किन्तु सोशल डेमोक्रेटिक दल, जिसकी स्थापना 1898 ई० में हुई थी, सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति का मुख्य आधार मानता था, कृषकों को नहीं। सोशल डेमोक्रेटिक दल भी 1903 ई० में दो दलों में विभक्त हो गया, बोल्शेविक (Bolsheviks) और मेंनशेविक (Mensheviks)। जारशाही ने समाजवादी विचारों पर रोक लगाने का प्रयत्न किया किन्तु उसे पर्याप्त सफलता नहीं मिली।

9. तात्कालिक कारण- 1905 ई० में रूस जापान द्वारा पराजित हुआ, इससे जारशाही की स्थिति कमजोर हो गई। रूस में आन्तरिक असंतोष बढ़ गया और सुधारों की माँग होने लगी। सम्राट सुधारों के पक्ष में नहीं था। रूस के असंतुष्टों ने 1905 ई० में क्रान्ति का प्रयास किया था। उन्हें कुछ सफलता भी मिली परन्तु उनके पारस्परिक मतभेदों के कारण जार निकोलस ने पुनः प्रतिक्रियावादी शासन आरम्भ कर दिया और महायुद्ध के आरम्भ तक रूस में निर्जीव 'ड्यूमा' के अतिरिक्त क्रान्ति का कोई चिन्ह बाकी नहीं रहा। अगस्त, 1914 में रूस ने प्रथम विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की और से भाग लिया था। उस समय बोल्शेविक दल के पाँच सदस्यों को छोड़कर संसद के सभी सदस्यों ने शासन के इस निर्णय का स्वागत किया था। यदि निकोलस योग्य होता और प्रशासन ईमानदार होता तो ऐसी परिस्थिति में जनमत को राजभक्त बनाया जा सकता था, परन्तु इस समय भी रूस-जापान युद्ध के समय के इतिहास की पुनरावृत्ति हुई, अतः जनता में असंतोष बढ़ता गया।

युद्ध के प्रारम्भिक काल में रूस की सेनाओं को कुछ सफलता अवश्य मिली; परन्तु कुछ ही समय बाद जर्मनी के विरुद्ध रूस की सेनाएँ पराजित होने लगी। सेनाओं को पर्याप्त मात्रा में अस्त्र-शस्त्र एवं खाद्य सामग्री नहीं मिल पा रही थी। यातायात व्यवस्था का पूर्ण विकास न होने के कारण समय पर रसद पहुँचाने में कठिनाई होती थी। सेना के अधिकारियों की अयोग्यता, प्रशासन के विभिन्न विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा साम्राज्ञी एवं प्रमुख सामन्तों का युद्ध कार्य में हस्तक्षेप आदि के कारण रूस की सेनाओं की लगातार पराजय हुई। युद्ध के प्रथम तीन वर्षों में एक करोड़ 50 लाख सैनिक युद्ध क्षेत्र में भेजे गये, जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गई और कृषि उत्पादन में गिरावट आयी। खाद्य सामग्री और अन्य वस्तुओं की भी कमी होने लगी। ऐसी स्थिति में जनसाधारण का असंतोष बढ़ना स्वाभाविक ही था। 1916-17 ई० के शीतकाल में रूस में घोर असंतोष व्याप्त था। उधर तो सेनाओं की निरन्तर हार अपमान से जनता क्षुब्ध थी, इधर अनाज, ईंधन, कपड़े आदि की कमी होने लगी और देश में दुर्भिक्ष की आशंका उत्पन्न होने लगी। इस अवस्था के लिए जनता जार की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध को ही उत्तरदायी समझती थी।

मार्च की क्रान्ति और जारशाही का अन्त- रूस में अव्यवस्था और कुप्रबन्ध की इस दशा को सुधारने के लिए विशेषज्ञों की एक कमेंटी सरकार द्वारा नियुक्त की गई। इस कमेंटी के विचार थे कि देश में अनाज और कपड़ा प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, पर सरकारी अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण वह चोर-बाजार में चला गया है। फरवरी, 1917 में मास्को में कुलीन वर्गों का एक सम्मेलन हुआ, इस वर्ग ने भी यह माँग की कि स्थिति को सम्भालने के लिए शासन में सुधार होना आवश्यक है तथा पार्लियामेन्ट का अधिवेशन शीघ्र होना चाहिये। किन्तु सम्राट और उसके सहायकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया रासपुटीन ने उन सब पर एक प्रकार का जादू सा किया हुआ था।

अन्त में, 7 मार्च, 1917 को स्थिति अनियन्त्रित हो गई। भूख और ठण्ड से ठिठुरते हुए गरीब मजदूरों ने पेट्रोग्राड की सड़कों पर दूकानों को लूटना आरम्भ कर दिया। सम्राट ने इन पर गोलियां चला कर हटाने का आदेश दिया किन्तु सिपाहियों ने गोलियां चलाने से इंकार कर दिया। यही क्रान्ति का आरम्भ था। 8 मार्च 1917 को पेट्रोग्राड के कपड़े के कारखाने में काम करने वाली स्त्रियों ने हड़ताल कर दी क्योंकि उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिल रहा था। अगले दिन पुरुष मजदूर भी उनके साथ सम्मिलित हो गये। हड़ताली लोगों ने एक जुलूस निकाला, जो शहर के मध्य भाग में प्रविष्ठ हो गया। वे लोग 'रोटी दो' के साथ-साथ 'अत्याचारी शासन का नशा हो' के भी नारे लगा रहे थे। 10 मार्च को पेट्रोग्राड के सभी कारखानों में काम बन्द रहा और शहर के बाहरी भाग में मजदूरों ने पुलिस के हथियार छीन लिये। जार ने उपद्रवकारियों का दमन करने के लिए सेना भेजी, किन्तु सैनिकों ने भी आन्दोलनकारियों का साथ दिया। इसके दूसरे दिन सम्राट ने 'ड्यूमा' को भंग कर दिया तीन दिन तक यह संघर्ष चलता रहा। 12 मार्च के दिन सैनिक टुकड़ियाँ अधिकारियों के आदेश का उल्लंधन कर विद्रोहियों से मिल गयी। 1905-1907 ई० की क्रान्तियों के अपने अनुभव को ध्यान में रखकर क्रान्तिकारी सत्ता के नये निकाय-मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर 'सैनिकों एवं मजदूरों के प्रतिनिधियों की क्रान्तिकारी' सोवियत (परिषद्) बना ली। शासन के वास्तविक अधिकार इस परिषद ने अपने हाथ में ले लिये। 14 मार्च को क्रान्तिकारी परिषद और ड्यूमा के सदस्यों की एक समिति ने मिलकर एक 'अस्थायी सरकार' गठित की जिसका नेता प्रिंस. ग. ल्वोव (Prince. G. Lvov) को बनाया गया। अगले दिन, 15 मार्च सम्राट निकोलस द्वितीय ने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। तीन सौ साल से जो रोमनोव (Romanov) राजवंश कर रहा था, उसका अब अन्त हो गया। रूस में राज्य क्रान्ति सफल हो गई। रूस की इस क्रान्ति में पेट्रेग्राड का वहीं स्थान था जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति में पेरिस का था।

अस्थायी उदारवादी सरकार- रूस की अस्थायी सरकार में क्रान्तिकारी समाजवादी दल के नेता अलेक्जाण्डर केरेन्स्की (Alexander Kerensky) को न्याय मंत्री, अक्टुबरिष्ट दल के नेता गुशकाव (Guchkov) को युद्धमंत्री, कान्सटीट्यूशनल डेमोक्रेटिक दल के नेता प्रोफेसर मिल्यूकाव (Prof. Milukov) को विदेश मंत्री, टेरेवेन्को को अर्थमंत्री बनाया गया। यद्यपि क्रान्ति का मुख्य श्रेय भूखे और नंगे मरदूरों को था, पर सम्राट को राज्यच्युत करके जो नई सरकार स्थापित हुई, उसका नेतृत्व कुलीन और मध्य श्रेणी के हाथों में पहुँच गया था।

अस्थायी सरकार ने भाषण , प्रेस सभा-सोसायटी आदि की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। राजनीतिक बन्दियों को मुक्त कर दिया और राजनीतिक निर्वासितों को पुनः देश में आने की अनुमति दी गयी। मृत्यु दण्ड समाप्त कर दिया गया, यहूदियों के विरुद्ध जो भी कानून लागू किये थे, वे निरस्त कर दिये गये। ग्रीक चर्च के विशेषधिकार छीन लिये गये। पोलैण्ड को स्वायत्त शासन का वचन दिया गया और फिनलैण्ड के वैध अधिकार लौटा दिये गये। उसने नये संविधान के निर्माण के लिए शीघ्र ही वयस्क पुरुष मताधिकार पर एक संविधान सभा के निर्माण की घोषणा की। इसके साथ ही नये उत्साह से युद्ध की और ध्यान दिया गया।

अस्थायी सरकार के आपसी मतभेद- इस सरकार की स्थिति प्रारम्भ से ही जटिल थी। उस पर आरम्भ से ही एक असफल युद्ध के संचालन का भार आ गया था, साथ ही नयी आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करनी थी। किन्तु अस्थायी सरकार और पेट्रोग्राड के मजदूरों एवं सैनिकों की सोवियत के बीच आन्तरिक नीति के विषय में सैद्धान्तिक मतभेद था। स्वयं ल्वोव के शब्दों में, ''अस्थायी सरकार तो शक्ति से वंचित सत्ता थी और मजदूर प्रतिनिधियों की सोवियत, सत्ता से वंचित शक्ति थी।'' इस प्रकार इन दिनों रूस में एक प्रकार से दोहरा शासन स्थापित हो गया था। शासन तथा सोवियतों में आरम्भ से ही मतभेद थे। प्रथम मतभेद उस समय सामने आया जब 15 मार्च पेट्रोग्राड की सोवियत ने अपने पहले आज्ञापत्र में कहा कि थल-सेना तथा नौ-सेना के सैनिकों को केवल उन आदेशों का पालन करना चाहिये जो सोवियत के आदेशों के विपरीत न हों। अस्थायी सरकार ने इस आज्ञा का विरोध किया।

इसके पश्चात् जब विदेश मंत्री मिल्यूकाव ने मित्रराष्ट्रों को सूचित किया कि रूस की सरकार युद्ध को पूर्ववत् जारी रखेगी तथा मित्रराष्ट्रों को दिये गये वचनों को निभायेगी तो पेट्रोग्राड सोवियत ने उसका विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप विदेश मंत्री को त्याग पत्र देना पड़ा और साथ ही युद्ध मंत्री गुशकाव भी सरकार से अलग हो गये। अब करेन्स्की को नया युद्ध मंत्री बनाया गया।

मतभेदों का एक कारण यह भी था कि अस्थायी सरकार ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहती थी जो स्थिर होने के साथ अदा होती, जिसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ ही वैयक्तिक सम्पत्ति की भी गारन्टी होती। किन्तु कृषक, मजदूर तथा सैनिक चाहते थे। कि बड़ी-बड़ी जायदादें जमींदारों को मुआवजा दिये बिना ही कृषकों में बाँट दी जाय, सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो और युद्ध बन्द कर दिया जाय। लेकिन भुमि पर जमींदारों का स्वामित्व ज्यों का त्यों बना रहा। अस्थायी सरकार ने इन अधिकारों की रक्षा के लिए अतिरिक्त कदम भी उठाये। वास्तव में पूँजीपतियों और बैंक मालिकों की जमींदारी प्रथा के यथावत् बने रहने में गहन रुचि थी क्योंकि लगभग 60 प्रतिशत भू-सम्पत्तियाँ उनके यहाँ रेहन रखी हुई थी और इसके साथ ही स्वयं कई पूँजीपति भी काफी बड़े जमींदार थे।

जून, 1917 में पेट्रोग्राड सोवियत ने 'अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस' का अधिवेशन आमन्त्रित किया। जिसमें क्रान्तिकारी समाजवादी, मेंनशेविक और बोल्शेविक दल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में 300 सदस्यों की ''अखिल रूस सोवियत कार्यकारिणी समिति'' गठित की गयी। किन्तु वास्तविक कार्यकारिणी शक्ति 20 सदस्यों के 'प्रेसीडियम' (presaidium) को दी गयी। जिसमें क्रान्तिकारी समाजवादी एवं मेंन्शेविक दल के सदस्य सम्मिलित थे। बोल्शेविक दल ने इसका विरोध किया था। 1 जुलाई, को पेट्रोग्राड सोवियत ने मजदूरों का प्रदर्शन अपने समर्थन के लिए किया था। किन्तु मजदूरों ने उनकी आशा के विपरीत ''युद्ध बन्द करों'' , ''पूँजीवादी दस मंत्रियों को हटाओं'' ०''सारी सत्ता सोवियतों को दो'' आदि नारे लगाये। इस प्रदर्शन में 5 लाख मजदूरों ने भाग लिया था। इस प्रदर्शन से स्पष्ट था कि मजदूर वर्ग मंत्रिमंडल की नीति से पूर्णतः असन्तुष्ट था। 3 जुलाई, 1917 को शासन के विरुद्ध एक विद्रोह हुआ, जो चार दिन चला। अन्त में सरकार ने सेना की मदद से विद्रोह को दबा दिया। लेनिन और जिनोवीव को रूस छोड़कर भागना पड़ा।

कुछ दिनों बाद जनरल कोनिलफ ने करेन्स्की को चेतावनी दी कि यदि उसने पेट्रोग्रार्ड में सैनिक कानून लागू नहीं किया एवं अस्थायी सरकार का विघटन नहीं किया तो विद्रोह भड़क उठेगा। केरेन्स्की ने चेतावनी की परवाह नहीं की। उसने कोर्मिलाव को बन्दी बना लिया। बोल्शेविकों ने इस स्थिति का लाभ उठाया एवं प्रचार किया कि केरेन्स्की जार की सत्ता पुनः स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। उन्होंने 'शांति, भूमि और रोटी' (Peace, Land and Bread) के नारे लगाये।

आन्तरिक अराजकता एवं निरन्तर पराजय के कारण रूस की जनता अस्थायी सरकार में विश्वास खो बैठी। कृषकों ने बोल्शेविकों का समर्थन किया क्योंकि वे एन्हें भूमि दिलाने की घोषणा कर चुके थे। इसी प्रकार मजदूरों को कारखाने का स्वामी बनाने के वायदे पर उन्हें अपने पक्ष में कर लिया और युद्ध बन्द करने के आधार पर सैनिकों का विश्वास भी प्राप्त कर लिया था। इस समय रूस की जनता शान्ति चाहती थी।

नवम्बर की क्रान्ति- रूस में बोल्शेविक दल सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता पर अधिकार करने की योजना बना रहा था। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक पोलिट ब्यूरो (Polit Bureau) नियुक्त किया गया। ट्राटस्की ने पेट्रोग्राड सोवियत की सैनिक क्रान्तिकारी समिति नियुक्त की। केरेन्स्की की सरकार की स्थिति अच्छी नहीं थी, क्योंकि क्रान्तिकारी समाजवादी तथा मेंन्शेविक दल उसके मंत्रिमंडल से अलग हो चुके थे। बोल्शेविक नेताओं ने यह निर्णय लिया कि क्रान्ति की योजना को 7 नवम्बर को होने वाले 'अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन' से पूर्व कार्यान्वित किया जावे। अतः 5 नवम्बर, 1917 को केरेन्स्की ने बोल्शेविक नेताओं को बन्दी बनाने की आज्ञा जारी की। किन्तु इस समय तक बोल्शेविक नेता क्रान्ति की तैयारियाँ पूरी कर चुके थे। केरेन्स्की के आदेश से उन्हें जनमत को शासन के विरुद्ध भड़काने का एक अतिरिक्त बहाना मिल गया। 6-7 नवम्बर की रात्रि को बोल्शेविकों ने टेलीफोन केन्द्र, पोस्ट आफिस, रेलवे स्टेशन, बैंक आदि पर अधिकार कर लिया। 7 वनम्बर, 1917 की प्रातःकाल बोल्शेविकों के नेतृत्व में मजदूरों, सैनिकों और नौ-सैनिकों ने पेट्रोग्राड (वर्तमान लेनिनग्राड) में रूस के जार के भूतपूर्व महल-शीतप्रासाद पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया और अस्थायी सरकार को, जिसने उसमें शरण ले रखी थी, गिरफ्तार कर लिया। केरेन्स्की राजधानी छोड़कर भाग गया।

तीन घन्टे बाद मजदूर और सैनिक प्रतिनिधियों की सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने रूस को-'सोवियत समाजवादी जनतंत्र' उद्घोषित किया। राजसत्ता अब जनता के हाथ में गयी और सर्वहारा, जो और सभी वर्गों से अधिक शोषित और साथ ही सबसे अधिक क्रान्तिकारी तथा सुसंगठित वर्ग था, शासन का कर्णधार बन गया था'

इस प्रकार रूस में समाजवादी क्रान्ति सफल हो गयी थी। इस क्रान्ति को एक महान ऐतिहासिक मिशन पूरा करना था और यह मिशन था-''एक नये समाज का निर्माण कराना, जिसमें न कोई शोषक होगा, न कोई शोषित, न कोई उत्पीड़क होगा, न उत्पीड़ित। इस समाज का नाम था कम्युनिज्म।''

7 नवम्बर, 1917 का दिन रूस की जनता और समस्त मानव जाति के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। इस दिन पेट्रोग्राड में न्यूनतम रक्तपात के साथ जनता का विद्रोह सफल हुआ। सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस शुरू हुई जिसमें उपस्थित प्रतिनिधि 2 करोड़ से अधिक मतदाताओं द्वारा जनवादी तरीके से चुने गये थे। यही व्लादीमिर इल्यीच लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत मंत्रिमंडल का निर्वाचन हुआ। अखिल रूसी सम्मेलन में दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। पहले प्रस्ताव में युद्धरत सभी राष्ट्रों से युद्ध बन्द करके शान्तिवार्ता आरम्भ करने की अपील की गयी और दूसरे प्रस्ताव के अनुसार भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजे के छीन लेने का निश्चय किया। लेनिन के अधीन 'काउन्सिल ऑफ पीपुल्स कमिसार्स' में स्टलिन, ट्राटस्की, राइकाव तथा मिल्यूतीन को सम्मिलित किया गया।

ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि- नवम्बर, 1917 की क्रान्ति के द्वारा बोल्शेविक नेता लेनिन तथा ट्राटस्की के हाथ में सत्ता आयी। ये दोनों आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करने तथा अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए शान्ति चाहते थे, अतः इन्होंने अर्मनी के साथ सन्धि करने के लिए वार्ता आरम्भ की। अन्त में 3 मार्च, 1918 को विदेश मंत्री ट्राटस्की ने जर्मनी के साथ बेस्ट-लिटोवस्क की सन्धि कर ली। रूस को जर्मनी द्वारा प्रस्तावित शर्तें माननी पड़ी। सन्धि वार्ता में दोनों देशों के अतिरिक्त आस्ट्रिया, बल्गेरिया और तुर्की के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया था। इस सन्धि में निम्नलिखित निर्णय लिये गये-

(i) रूस ने जर्मनी को तीन करोड़ पौण्ड युद्ध का हर्जाना देने का वचन दिया।

(ii) रूस ने कार्स, अर्दहान और बाटुंम से अपनी सेनाएँ हटाने तथा तुर्की के साथ मिलकर उनकी सीमाएँ निश्चित करने का आश्वासन दिया।

(iii) एस्टोनिया, लिवोनिया, फिनलैण्ड और आलैण्ड रूस को देना स्वीकार किया।

(iv) लिथुआनिया, कोरलैण्ड और पोलैण्ड पर रूस ने अपने अधिकार त्याग दिये तथा 'केन्द्रीय शक्तियों' को वहाँ की जनता की इच्छानुसार नवीन व्यवस्था सथापित करने का अधिकार दे दिया।

(v) यूक्रेन का प्रदेश खाली करने का वचन दिया तथा उसे स्वतंत्र मान लिया गया।

(vi) रूस ने वचन दिया कि वह मध्य यूरोप में साम्यवाद का प्रचार नहीं करेगा।

यह सन्धि रूस के लिए बहुत अपमानजनक थी। इसके अनुसार रूस को वे सब प्रदेश छोड़ देने पड़े जो कि पीटर महान के शासनकाल से रूस के अधीन थे। इस सन्धि के फलस्वरूप रूस को 73 प्रतिशत लोहे, 89 प्रतिशत कोयले, 27 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि तथा 44 प्रतिशत जनसंख्या से हाथ धोना पड़ा। इस सन्धि के सम्पन्न हाने पर रूस जर्मनी का मित्र हो गया तथा युद्ध से अलग हो गया। इससे लेनिन को आन्तरिक सुधार करने तथा क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिये समय मिल गया।

गृह-कलह (Civil War)- बोल्शेविक शासन की स्थापना तो आसानी से हो चुकी थी, परन्तु उसके विरोधियों की रूस में कोई कमी नहीं थी। नवम्बर 1917 से 1919 ई० के आरम्भ तक लगभग तीन साल तक बोल्शेविकों को अपने विरोधियों का डटकर मुकाबला करना पड़ा। ये विरोधी तीन प्रकार के थे-

(i) रोमनोव राजवंश के समर्थक, जो जारशाही के शासन को फिर से स्थापित करना चाहते थे।

(ii) लोकतंत्रवादी (Wesatern Type of Democracy) जो चाहते थे कि रूस में फ्रांस और अमेरिका की तरह लोकतंत्र स्थापित हो, संविधान परिषद् निर्वाचित कि जाय और लोकमत को दृष्टि में रखते हुए नये शासन-विधान का निर्माण किया जाय।

(iii) बोल्शेविक पार्टी के वे लोग जो साम्यवादी तो थे, किन्तु क्रान्तिकारी उपायों से समाज के आर्थिक संगठन को एकदम बदल देना उचित नहीं समझते थे।

इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका बोल्शेविकों के इन विरोधियों का समर्थन कर रहे थे। लेनिन ने जर्मनी के साथ सन्धि करके युद्ध की समाप्ति कर दी थी, इससे जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चित होकर अपनी सारी सैन्य शक्ति को पश्चिमी और दक्षिणी मोर्चे में लगा रहा था। इससे मित्र-राष्ट्रों को अधिक दबाव का सामना करना पड़ रहा था। अतः वे चाहते थे कि रूस से

बोल्शेविक शासन का अन्त हो और वहां फिर ऐसी सरकार स्थापित हो, जो जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रख सके। इन विरोधियों ने रूस के विभिन्न क्षेत्रों में बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ किया-साइबेरिया में एडमिरल कोचक (Kotchak), दक्षिण में जनरल डेनिकिन, (Denikin) उत्तर में यूडेनिख (Yudenikh) तथा दक्षिण-पश्चिम में रेनगल (Wrangel) ने विद्रोह किया। इन विद्रोहियों को मित्र राष्टों की सेनाओं से मदद मिल रही थी। इस संघर्ष में एक समय ऐसा आया कि बोल्शेविक की सत्ता व्यावहारिक तौर पर केवल पेट्रोग्राड़ और मास्को तथा निकटवर्ती प्रान्तों तक ही सीमित रह गई थी। किन्तु अन्त में लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने विजय प्रप्त की।

यह युद्ध दो अलग-अलग देशों का नहीं था। इसमें एक ही देश की दो विचारधाराओं के लोग परस्पर संघर्षरत थे। लाल आतंक और श्वेत आतंक दोनों एक दूसरे से टकराकर एक भयंकर स्थिति पैदा कर रहे थे। बोल्शेविकों के भयंकर कारनामों को 'लाल आतंक' और उनके विरोधियों के कुकृत्यों को 'श्वेत आतंक' कहा जाता था। जुलाई 1918 सम्राट निकोलस द्वितीय और उसके परिवार के सदस्यों की हत्या कर दी गई। चारों ओर हत्या, लूट, आगजनी, हिंसा आदि की घटनाएँ हो रही थीं। बोल्शेविकों ने विद्रोही सेनापतियों को पराजित किया। ट्राटस्की ने युडनिख को पराजित करके पेट्रोग्राड की सुरक्षा की। मित्र-राष्ट्रों ने रुस का आर्थिक बहिष्कार करके उसकी आर्थिक समस्याएँ और भी बढ़ा दी थीं। इस समय रुस को एक भयंकर अकाल का सामना भी करना पड़ा। परन्तु लेनिन रूसियों का मार्ग सफलतापूर्वक प्रशस्त करता रहा।

इसके साथ ही बोल्शेविकों ने आन्तरिक विद्रोह का दमन भी किया। जिस प्रकार फ्रांस की राज्य क्रन्ति के समय जेकोबिन ने फ्रांस में आतंक के राज्य की सृष्टि करके अपनी शक्ति को मजबूत किया था, उसी प्रकार बोल्शेविक ने भी अपने विरोधियों का अन्त करके और विरोधियों में आतंक फैलाने के हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया। रुस में 'चेका' (Cheka) नाम एक विशेष न्यायालय की स्थापना की गई और इसके द्वारा लगभग दस हजार व्यक्तियों को दण्डित किया गया। इसके अध्यक्ष फेलिक्स डेरजिंस्की का यह विश्वास था कि सर्वहारा वर्ग की शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए आतंकवादी नीति अपनाना आवश्यक था। 'चेका' ने क्रान्तिकारियों के विरोध को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार तीन वर्षो के भयंकर संघर्ष के पश्चात् प्रतिक्रान्तिकारियों तथा विदेशी राज्यों से उत्पन्न संकट समाप्त हो गया। अतः जो बोल्शेविक क्रान्ति आरम्भ में रक्तहीन थी, वह अन्त में इतिहास की 'अति खूनी' एवं भयंकर क्रान्ति सिद्ध हुई।

नवीन बोल्शेविक सरकार- नवम्बर, 1917 में स्थापित हुई साम्यवादी सरकार ने 1918 में नवीन संविधान अपनाया। इसके प्रमुख अंग निम्न प्रकार थे-

(i) अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस- प्रत्येक नगर, ग्राम तथा जिले के मजदूरों तथा किसानों की स्थानीय कौन्सिल (Soviet) होती थीं। 18 वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक नागरिक को, जो मेंहनत से अपनी आजीविका प्राप्त करता था, को वोट देने का अधिकार प्राप्त था। ये सोवियत प्रान्तीय सोवियत के लिए प्रतिनिधि चुनी थी, जो बाद में केन्द्रीय सोवियत कांग्रेस का चुनाव करते थे। अखिल रुसी सोवियत कांग्रेस में स्थानीय तथा प्रान्तीय सोवियटर्स के प्रतिनिधियों की संख्या लगभग तेरह सौ थीं। उनके पास राज्य की सर्वोच्च शक्ति थी।

(ii) अखिल रूसी केन्द्रीय व्यवस्थापिका- अखिल रुसी सोवियत कांग्रेस केन्द्रीय व्यवस्थापिका का निर्वाचन करती थी जिसके सदस्यों की संख्या लगभग दो सौ थी। कानून पास करने का काम इसी का था। बाद में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस इन कानूनों को अन्तिम स्वीकृति देती थी।

(iii) मन्त्रिमण्डल (People's Commissors)- केन्द्रीय व्यवस्थापिका मन्त्रिमण्डल का चुनाव करती थी। प्रत्येक विभाग के मंत्री को कार्यीसार (Commissor) कहा जाता था।

इस प्रकार बोल्शेविक शासन नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता था। वह एक विशाल पिरामिड के समान था, जिसका आधार हजारों सोविश्तें थीं और जिसकी केन्द्रीय सरकार अपनी सब शक्ति इन स्थानीय सोवियतों से प्राप्त करती थी। शासन के क्षेत्र में यह एक नया परीक्षण था। 1936 ई० में इस संविधान के स्थान पार्टी और करेन्स्की के नहीं पटी। करेन्स्की युद्ध-जारी रखना चाहता था और बोल्शेविक दल जर्मनी से सन्धि करने के पक्ष में था। अतः 6 नवम्बर को (24 अक्टूबर) करेन्स्की ने त्याग-पत्र दिया कि 25 अक्टूबर को ही बोल्शेविक दल ने सशस्त्र क्रान्ति कर दी। बोलशेविकों ने अपने 25,000

सशस्त्र स्वयं-सेवकों के पेट्रोग्राड को घेर लिया। पेट्रोग्राड में उस समय सेना विद्यमान थी जिसकों कि मोर्चे पर जाने का आदेश मिलने वाला था। दो बजे तक तो स्वयं-सेवकों व सैनिकों के बीच छुट-पुट वारदातें हुई। इसके उपरान्त बोलशेविक दल सैनिकों को अपनी ओर मिलाने में सफल हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रान्तिकारियों ने सरकारी भवनों पर अधिकार कर लिया। अंतरिम सरकार के कार्यालय पर भी अधिकार कर लिया गया। केरेन्सकी प्राण बचा कर भागा तथा उसकी सरकार के अन्य सदस्य बन्दी हो गये। इस प्रकार रूस की यह दूसरी (बोलशेविक) क्रान्ति सफल हुई। बिना रक्त पात किये बोलशेविक सत्ता प्राप्त करने में सफल हो गये। रूस की इस क्रान्ति की तुलना हम इंग्लैण्ड की 1688 की रक्तहीन क्रान्ति (Bloodlesas Revolution) से कर सकते हैं। इस बोलशेविक सरकार का नेतृत्व लेनिन (Lenin) ने किया। उसने क्रान्ति के दो सप्ताह बाद ही युद्ध समाप्त बाद ही युद्ध समाप्त करने एवं जर्मनी से सन्धि करने की इक्ष्छा व्यक्त की। युद्ध की समाप्ति ब्रेस्ट लिटोवस्क (Bresat Litovsk) की सन्धि से हुई।

क्रान्ति के प्रभाव

क्रान्ति सदैव महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की द्योतक होती है। यह क्रान्ति भी फ्रांस की राज्य क्रान्ति से कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। प्रत्येक क्रान्ति से कुछ न कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य होते हैं। रूस की इस क्रान्ति से राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र में महान् परिवर्तन हुए। राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र में इससे जो प्रभाव पड़े उनमें उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं-

राजनीतिक-प्रभाव

1. रोमेंनोव राजवंश का समाप्त होना- यूरोप के अन्य राष्ट्रों की भांति रूस में भी सदियों से राजतन्त्र चला आ रहा था। वह राजतन्त्र इंग्लैण्ड में चल रहे सत्रहवीं शताब्दी के राजतन्त्र से कम नहीं था। अतः इस क्रान्ति ने यहाँ की जारशाही को समाप्त कर दिया और निकोलस द्वितीय की वही दशा हुई जो कि इंग्लैण्ड के शासक चार्ल्स प्रथम व फ्रांस के राजा लुई सोलहवें की हुई थी। राजतन्त्र के स्थान पर रूस में समाजवादी शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई।

2. युद्ध की समाप्ति हो गई- प्रथम विश्व युद्ध जो सन् 1914 से चला आ रहा था, वह युद्ध रूसवासियों के लिए समाप्त हो गया। लेनिन ने जर्मनी से ब्रेस्ट लिटोवस्क (Treaty of Bresat Litovsk) की सन्धि कर युद्ध की समाप्ति कर दी। इसका फल यह हुआ कि रूस के सैनिक व्यर्थ-ज्वाला से और जन साधारण भूख की ज्वाला से बच गया। रूस में कुछ वर्षो के गृह-युद्ध के पश्चात् शान्ति की स्थापना हुई। इस सन्धि के उपरान्त ही रूस की नवीन सरकार रूस की आन्तरिक समस्याओं का समाधान कर वहाँ शान्ति स्थापित कर सकी।

3. पूँजीवादी राष्ट्रों का क्रुद्ध होना- रूस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा केवल मित्र राष्ट्रों की तुष्टि के लिए की थी। जब लेनिन ने मित्र राष्ट्रों से बिना पूछे जर्मनी से सन्धि कर ली तो उनका रूस से नाराज होना स्वभाविक था। वे नहीं चाहते थे कि रूस अभी जर्मनी से सन्धि करले। इसी कारण इंग्लैण्ड, फ्रांस व अमेरिका रूस के विरोधी हो गये। इसके अतिरिक्त जब साम्यवाद रूस में दिनोंदिन प्रबल होने लगा तो विश्व के समस्त पूँजीवादी देश इसके कट्टर शत्रु 1990 ई० तक बने रहे। 1991 के आसंभ से ही रूस का वातावरण पुनः बदल रहा है और वह पश्चिमी देशं की झोली में जा रहा है।

4. रूस विश्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया- उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक रूस एक शक्तिशाली देश माना जाता था, परन्तु 1905 ई० में जापान ने उसके इस गौरव को समाप्त कर दिया। इसके उपरान्त रूस की गणना शक्तिहीन राष्ट्रों में होने लगी थी। परन्तु इस क्रान्ति के उपरान्त वह इतना शीघ्र शक्तिशाली बना कि 1990 तक वह विश्व की प्रथम ताकत बना रहा है। आज रूस पर आक्रमण करने की कोई सोच भी नहीं सकता है। पूर्वी गुट का नेता भी है। इतिहासकार पियर्स का कहना है कि सोवियत रूस आधुनिक विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली व सबसे महान् राष्ट्र बनेगा। परन्तु वर्तमान की घटनाओं (1990-91) से प्रतीत होता है कि वह अब विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं रहेगा।

रूस में राष्ट्रीयता का विकास- जार के शासन-काल में रूसवासियों में राष्ट्रीय भावना विशेष रूप से नहीं पायी जाती थी। जापान से सन् 1905 में परास्त हो जाने पर तो रूसवासी अपने शासक की सत्ता के प्रति उदासीन होने लगे थे। यही कारण था कि रूस के सैनिक विश्व युद्ध में दिल से नहीं लड़ रहे थे। वे हृदय से यही चाहते थे कि यह युद्ध समाप्त

हो जाय। परन्तु इस क्रान्ति के उपरान्त रूसवासियों में राष्ट्रीय भावना उग्र रूप में प्रसारित हुई। प्रत्येक रूसी अपने राष्ट्र के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने में अपना गौरव समझने लगा और यह इसी राष्ट्रीय भावना का प्रताप था कि रूस दूसरे विश्व युद्ध में अपने भंयकर शत्रु से परास्त नहीं हुआ वरन् उसकी शक्ति को पूर्णतः नष्ट करने में सफल रहा।

6. समानता की भावना का उदय- रूस में तत्कालीन व्याप्त जनसाधारण की असमानता ने ही तो इस क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया था। अतः इस क्रान्ति की समाप्ति पर समानता की भावना का उदय हुआ। पूँजीपति एवं भूमिपति समाप्त कर दिये गये। सरकार में श्रमिक वर्ग व कृष्क वर्ग का प्रमुत्व स्थापित हो गया। जारकालीन असमानता समाप्त हो गई।

7. साम्यवाद का प्रादुर्भाव- 1990 ई० तक विश्व में साम्यवाद का विस्तार दिनोंदिन होता रहा है। इस साम्यवाद का प्रादुर्भाव इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही हुआ है। इस क्रान्ति के द्वारा ही कार्ल मार्क्स के विचार प्रसारित हो रहे हैं। यद्यपि अभी तक इसका विस्तार अधिक देशों में नहीं हुआ है तथापि इसके प्रभाव से समस्त विश्व आतंकित हो गया था। परन्तु उसका यह आतंक 1990 से काफूर होने लग गया है।

आर्थिक-प्रभाव

1. रूस में सामन्त व पूँजीपति समाप्त कर दिये- यद्यपि रूस औद्योगिक क्षेत्र में अधिक विकसित नहीं हुआ था तथापि वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में शनैः शनैः उद्योग धन्धे विकसित होने लग गये थे। इसके परिणामस्वरूप वहां कुछ पूँजीपति भी पनपने लगे थे। वे व्यक्तिगत व्यापार के पक्ष में थे तथा मजदूरों का शोषण करते थे। पर इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप पूँजीपतियों से कारखाने छीन लिए गये तथा उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। पूँजीतियों के स्थान पर अब मजदूरों की प्रतिष्ठा होने लगी। इसी प्रकार राजतन्त्र के कारण जो सामन्तवाद पनप रहा था वह भी निकोलस द्वितीय के गद्दी से हटने के साथ ही समाप्त होने लग गया। अब रूस में मजदूर व कृषक वर्ग की सरकार काम करने लगी थी। अब अनके शोषण की समस्या नहीं रेही थी।

2. खाद्य पदर्थो का सस्ता होना- प्रथम विश्व-युद्ध के समय खाद्य सामग्री बहुत महंगी हो गई थी। दीन मनुष्यों व मजदूरों को भोजन बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होता था। परन्तु क्रान्ति के सफल होते ही सामन्तों से भूमि छीन ली गई तथा वह भूमि किसानों में वितरित कर दी गई। धनी मनुष्यों के पास जो खाद्य सामग्री जमा थी वह उनसे छीन कर गरीब मजदूरों में वितरित कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि रूस के लोग अब भोजन की समस्या से व्यथित नहीं रहे। इससे स्पष्ट है कि जिस उद्देश्य से क्रान्ति की गई थी वह अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल रही।

3. रूस में औद्योगिक विकास हुआ- उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस में कल-कारखाने खुलने लग गये थे। परन्तु वह औद्योगिक विकास नाममात्र का था। सन् 1917 की क्रान्ति के उपरान्त रूस ने इस क्षेत्र में इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है कि जिससे विश्व के समस्त राष्ट्र दांतों तले अंगुली दबा रहे हैं। आज रूस में सभी वस्तुओं के बड़े-बड़े कारखाने विद्यमान हैं और उनके उत्पादन से न केवल वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करता है वरन् वह उनका अन्य देशों को निर्यात भी करता है। अमेरिका व इंग्लैण्ड भी उसके इस विकास के आगे हिम्मत हार रहे हैं। यही कारण है कि रूस आज दिनों-दिन आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर राष्ट्र बनता जा रहा है। परन्तु आज वहां औद्योगिक विकास होते हुए भी आर्थिक अवस्था चरमरा रई है।

4. विभिन्न योजनाओं का संचालन- रूस की नवीन सरकार के समक्ष प्रमुख कठिनाई देशवासियों की भुखमरी को दूर करने की थी। इस समस्या के समाधान हेतु ही सरकार ने भूमि कृषकों में वितरित की तथा कारखानों का राष्ट्रीयकरण किया। इन सुधारों से कृषकों को राहत अवश्य मिली, परन्तु रूस का उत्पादन घट गया और वहां अकाल भी पड़ा। इस कारण लेनिन को सन् 1921 में अपनी नीति बदलनी पड़ी और आर्थिक क्षेत्र में नवीन आर्थिक नीति (N.E.P.) अपनानी पड़ी। परन्तु जब स्टालिन रूस का कर्णधार बना तो उसने रूस का नक्शा ही बदल दिया। उसने अपने समय में दो पंचवर्षीय योजनाएं चालू कीं। उनमें उसे आशातीत सफलता मिली। इन योजनाओं की सफलता का परिणाम यह निकला कि रूस एक पिछड़ा राष्ट्र नहीं रहा। उसका उत्पादन उत्तरोत्तर वृद्धि पाने लगा और यह उन्हीं योजनाओं का फल है कि रूस विश्व में एक अति विकसित राष्ट्र बन गया।

5. वर्ग-संघर्ष की समाप्ति- प्रायः देखा जाता है कि औद्योगिक विकास के साथ वर्ग-संघर्ष का भी आविर्भाव होता है। कल-कारखानों के खुलने से पूंजीपति पैदा होते हैं और वे अपने यहाँ कार्य करने वाले मजदूरों का शोषण करना अपना परम-धर्म समझौत हैं। यही बात रूस में थी। परन्तु इस क्रान्ति के उपरान्त पूँजीपति सर्वथा समाप्त कर दिए गये और उनके कल-कारखानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इससे रूस में वर्ग-संघर्ष का प्रश्न ही नहीं रहा।

6. श्रमिकों का जीवन-स्तर उच्च होना- क्रान्ति से पूर्व रूस में श्रमिकों की कोई इज्जत नहीं थी। उनको मजदूरी बहुत कम मिलती थी तथा उनके आवास की कोई व्यवस्था नहीं होती थी। परन्तु आज रूस का मजदूर सर्वाधिक सुखी है। उसके विकास के लिए वहां हर प्रकार के साधन प्रस्तुत हैं। यही कारण है कि उनका जीवन-स्तर दिनोंदिन उन्नत होता जा रहा है।

7. पूँजीवाद का विनाश- रूस पूँजीवाद का कट्टर विरोधी है। साम्यवादियों की धारणा है कि पूँजीवाद जन साधारण के विकास में प्रमुख बाधा बना हुआ है। अतः रूस पूँजीवाद को विश्व में से ही येन-केन प्रकारेण समाप्त करना चाहता है और इसी कारण संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) और उसमें भारी मन-मुटाव बना हुआ है। अमेरिका एक पूँजीवादी राष्ट्र है। अतः वह अपने सहयोगी पश्चिमी राष्ट्रों की सहायता से पूँजीवाद की रक्षा करना चाहता है जब कि रूस उसे समाप्त करना चाहता है। रूस की यह अटल धारणा है कि पूँजीवाद के उपरान्त विश्व में साम्यवाद अवश्य आवेगा और दीन परन्तु परिश्रमी किसान व मजदूरों की सरकार विश्व में अवश्य बनेगी। रूस की क्रान्ति ने इतिहास के द्वंद्वात्मक सिद्धान्त (Dialectic Theory) को सही सिद्ध कर दिखाया।

इन प्रभावों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि रूस की भी एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति थी और वह अपने ढ़ंग की निराली थी। यही क्रान्ति थी जिसने कि विश्व में सर्वप्रथम मजदूरों व कृषकों की सरकार स्थापित की थी। यह सत्य है कि रूस में एक दल की प्रभुता है। परन्तु यह होते हुए भी जनसाधारण में समानता की भावना पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथा वे कानून के समक्ष समान समझे जाते हैं। फ्रांस की राज्य क्रान्ति की भांति यह लम्बी नहीं चली तथा इसमें अधिक कठिनाइयां भी नहीं आई। परन्तु इसका श्रेय वहीं के योग्य नेता लेनिन व स्टालिन को ही जाता है।

बोलशेविक दल- जैसा कि बताया जा चुका है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में रूस में भी कई राजनीतिक दल उत्पन्न हो गए थे और वे देश के अशान्त वातावरण का फायदा उठाना चाहते थे। मार्च, 1917 में रूस में जो क्रान्ति हुई उससे रूस की ऑक्टोब्रिस्ट तथा कान्स्टीट्यूशनल पार्टियां सन्तुष्ट थीं, परन्तु समाजवादी उसे अपनी क्रान्ति का प्रथम चरण समझकर क्रान्ति के क्षेत्र में और आगे बढ़ाना चाहते थे। इन समाजवादियों के दो दल प्रधान थे और दोनों ही दल उग्रवादी थे। प्रथम दल सामाजिक क्रान्तिवादियों (Social Revolutionary) का था। इस दल का प्रभाव किसानों पर अधिक था। दूसरा दल सामाजिक प्रजातन्त्रवादियों (Social-Democratic) का था। इस दल का प्रभाव नगरों में काम करने वाले श्रमिक लोगों पर था। 1903 में इस दल में भी मतभेद हो गया था और उस मतभेद के कारण यह भी दो दलों में विभक्त हो गया था। इनमें एक दल मेंनशेविक (Menshevik) का था। मेंनशेविक का अर्थ था अल्पमत। इस दल का नेता प्लेखा था। वह कार्ल मार्क्स के साम्यवादी विचारों में विश्वास अवश्य रखता था, परन्तु उसके विचारों को क्रियान्वित करने के लिए वह क्रान्तिकारी साधन अपनाने को उद्यत नहीं था। वह मजदूरों को शिक्षित कर उनमें साम्यवाद की भावना धीरे-धीरे भरना चाहता था। इसके विपरीत विचारों का दूसरा दल बोलशेविक (Boshevik) था। इस दल का नेता निकोलोई लेनिन (Lenin) था। वह देश में साम्यवादी विचारधारा को क्रान्तिकारी एवं हिंसात्मक साधनों से शीघ्रातिशीघ्र फैलाना चाहता था। बोलशेविक दल का अर्थ बहुमत से था। परन्तु इस दल के लोग नवम्बर की क्रान्ति में भी बहुमत में नहीं थे। इतिहासकार जेकसन (Jackson) का विचार है कि बोलशेविक अपने दल में कम ही व्यक्ति रखना चाहते थे जब कि मेंनशेविक अपने दल में अधिक सदस्य रखना चाहते थे। नवम्बर की क्रान्ति में बोलशेविक दल ने ही लेनिन के नेतृत्व में सत्ता हथियाई थी।

क्रान्ति का महत्त्व- 1917 की रूसी क्रान्ति यूरोप की ही नहीं वरन् समस्त विश्व की एक युगान्तकारी घटना है। इस क्रान्ति के आगे विश्व की अन्य क्रान्तियों का महत्त्व घट जाता है। इतिहासकार एच.जी. वेल्स ने इसे इस्लाम के उदय के उपरान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना बनाया है। अमेरिका कैथोलिक विद्वान वाल्श ने रोमन-साम्राज्य के पतन के पश्चात नवम्बर क्रान्ति को सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना माना है। प्रो. लास्की (Laski) ने इसे ईसा के जन्म के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना है। यदि हम क्रान्ति के सिद्धान्त, कार्यक्षेत्र, विस्तार का ध्यान से पर्यवेक्षण करें तो यह वास्तव में विश्व की महानतम

घटना उतरती है। इस क्रान्ति ने वर्गहीन की रचना की श्रमिकों में एकता उत्पन्न कर उन्हें पूँजीपति मालिकों के शोषण से बचाया। इसी प्रकार दरिद्र किसानों को दमनकारी जमीदारों के चुंगल से मुक्त करा कर उन्हें कृषि के लिए भूमि उपलब्ध बनाई। इस क्रान्ति ने तात्कालीन साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद पर खुला प्रहार किया। नवीन विचारधारा साम्यवाद का सृजन कर मानव-समाज को नवीन रूप प्रदान किया। यह विचारधारा अपने में इतनी प्रबल सिद्ध हुई कि यह रूस की चार दिवारियों को उलांघ कर शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की बन गई। परन्तु 1991 का वर्ष इस फलती-फूलती विचारधारा के लिए वज्र बन कर आया जिसने इसे बहुत सीमा तक विखण्डित कर दिया है।

भाग तीन

अध्याय : 17 मानचित्र
Map Work

कृषि क्रान्ति के देश (16-19 शताब्दी)

पश्चिमी यूरोप में कृषि-क्रान्ति

इंगलैंड और पश्चिमी युरोप के अन्य देशों में 17वीं शताब्दी तक पुराने ढ़ंगों से कृषि होती रही। तभी 18वीं और 19वीं शताब्दी में कृषि के ढंगों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और सूधार आए। खेतों की चकबंदी और बाढ़बंदी की गई, बदल-2 कर फसलें उगाई जाने लगीं। इन्हीं सुधारी और परिवर्तनों की कृषि-क्रान्ति का नाम दिया गया। सर्वप्रथम कृषि क्रान्ति शब्द प्रयोग कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास-कैपिटल' में किया।

कृषि क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण कारण:

1. दोषपूर्ण पुरानी कृषि प्रणाली: कृषि करने का पुराना ढंग दोषपूर्ण था। सामन्त, मुज़ारी और न ही काशतकार जमीन की और ध्यान देते थे। बंजर भूमि व्यर्थ ही पड़ी रहती थी। गावं के सभी किसानों एक सी ही फसल बोते थे। खेत बहुत छोटे थे और औजार पुराने थे।

2. कृषि उत्पादन के नए ढ़ंगों का प्रचार: इंगलैड और तथा अन्य यूरोपियों देशों में कृषि के नए ढंगों का प्रचार किया गया। यहाँ तक कि कृषि के संबंध में 1700 ई० तक लगभग 100 पुस्तकें छप चुकी थीं। इन पुस्तकों के बारे में नई सुधारात्मक बातें कही गई थी।

3. जनसंख्या में वृद्धि: 18वीं शताब्दी में यूरोप की जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन का बढ़ाने की जरूरत अनुभव किया।

4. मूल्य वृद्धि: अनाज और खाने की दूसरी चीज़ों के मूल्य में वृद्धि हो गई। जिस कारण अधिक अनाज उगाने की और अधिक भौतिकवादी परिवृति बढ़ गई।

5. धनी व्यापारियों का योगदान: धनी व्यापारियों ने अधिक लाभ कमाने की लालसा में गावों की धरती खरीदने और उसमें सूधार लाने की ओर ध्यान दिया।

इंग्लैड में कृषि क्रान्ति

इंग्लैंड में-

कृषि क्रान्ति का आरम्भ 17 वीं शताब्दी में हुआ। और कृषि क्रान्ति की विकास की प्रतिक्रिया 18वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। कृषि क्रान्ति का आरम्भ और सबसे पहला प्रभाव इंगलेड में पड़ा।

इंगलैंड में कृषि क्रान्ति के मुख्य पड़ाव निम्नलिखित है।

1. जड़वाली फसलों की खेती आरम्भ करना।
2. 1701 में जेथ्रो टुल द्वारा 'ड्रिल' नामक मशीन द्वारा तथा उसके द्वारा कृषि अनुभवों पर आधारित पुस्तक का छापना।
3. बदल-2 कर फसलें उगाने की विधि का प्रचलित होना।

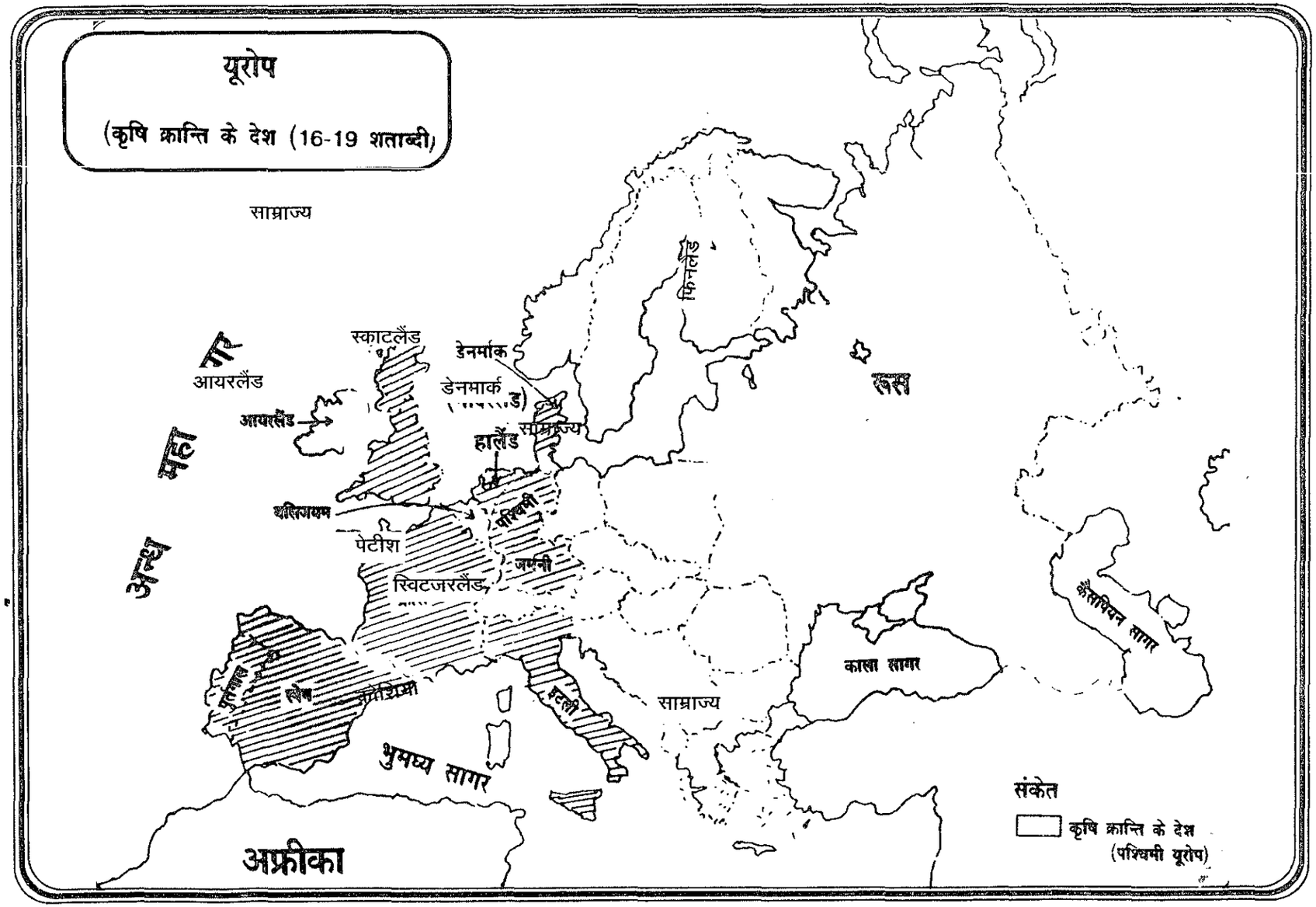
यूरोप
(कृषि क्रान्ति के देश (16-19 शताब्दी)
साम्राज्य
फिनलैंड
स्काटलैंड
डेनमार्क
आयरलैंड
डेनमार्क
आयरलैंड
साम्राज्य
हालैंड
रूस
अन्ध महा
बेल्जियम
पेटीश
जर्मनी
स्विटजरलैंड
कैस्पियन सागर
काला सागर
साम्राज्य
स्पेन
पुर्तगाल
इटली
भुमध्य सागर
अफ्रीका
संकेत
कृषि क्रान्ति के देश
(पश्चिमी यूरोप)

4. पशुओं की नस्लों को सूधारना तथा नए ढंग से उनका पालन-पोषण करना।

5. वैज्ञानिक ढंग से छोटे और बिखरे खेतों में कृषि करना।

6. आर्थिक यन्त्र द्वारा बाढ़बंदी आंदोलन चलाना।

7. बंजर और बेकार भूमि को कृषि योग्य बनाना।

8. आदर्श फार्म (Model Farm) कि स्थापना होना।

हालैंड (नीदरलैंड), आयरलैंड इंगलैंड बैल्जियम फ्रांस पश्चिमी जर्मनी सब० सन० इटली स्पेन पूँर्तगाल

हालैंड (नीदरलैंड) आयरलैंड इंगलैंड बैल्जियम फ्रांस पश्चिमी जर्मनी इटली स्पेन पुर्तगाल

की चकबंदी और बाढ़बंदी की गई, बदल-2 कर फसलें उगाई जाने लगीं। इन्हीं सुधारों और परिवर्तनों की कृषि-क्रान्ति का नाम दिया गया। सर्वप्रथम कृषि शब्द का प्रयोग कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दास-कैपिटल' में किया।

1. दोषपूर्ण पूरानी कृषि प्रणालीः कृषि करने का पुराना ढ़ंग दोषपूर्ण था। सामन्त, मुजारे और न ही काशतकार जमीन की ओर ध्यान देते थे। बंजर भूमि व्यर्थ ही पड़ी रहती थी। गांव के सभी किसान अत्पादन को बढ़ाने की जरूरत अनुभव की गई।

धरती खरीदने और उसमें सुधार लाने की ओर ध्यान दिया।

शताब्दी के अन्त तक चलती रही। कृषि क्रान्ति का आरम्भ और सबसे पहला प्रभाव इंग्लैंड में पड़ा। कृषि-क्रान्ति का स्वरुप इंगलैंड से भिन्न था। सबसे पहले सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त किया।

जर्मनीः पूर्व जर्मनी में कृषि व्यवस्था इंगलैंड जसी थ। जमींदार विशाल भूमि के मालिक होते थे और किसान खेती करते थे। पश्चिमी जर्मनी में भूमि के टुकड़े छोटे होते थे। कुल मिलाकर सारी जर्मनी में कृषि सम्बंधी सुधार हुये। जिससे चकबंदी, बाढ़बंदी अच्छे बीज और खादों का प्रयोग होने लगा सकसनी, प्रशिया और कई अन्य राज्यों में नई किस्म की भेड़ें पाली जाने लगी जिससे स्पेन से भी अच्छी प्रकार की ऊन का उत्पादन होने लगा।

अपनी भूमि का विकास करने का अधिकार नहीं था। इससे डेनमार्क में 19वीं शताब्दी के उत्तर अर्ध में घास का उत्पादन अधिक होने के कारण लोग अधिक पशु पालने लगे। खाद का उत्पादन बढ़ाया गया जिससे कृषि उत्पादन बढ़ गया धीरे-2 देश में खेती के लिए मशीनों और औजारों का प्रयोग होने लगा।

इटलीः इटली के उत्तरी भागों में कृषि का विकास अच्छा हुआ। इटली में 18वीं शताब्दी में दास प्रथा और सामन्त प्रथा समाप्त हुई। परन्तु किसानों से अधिक जमीनदारों ने कृषि विकास में योगदान दिया। काबूर ने कृषि को वैज्ञानिक बनाने में योगदान दिया। इससे गेहूँ, पटसन, रेशम और फलों का उत्पादन बढ़ गया। शीघ्र इटली रेशम और अंगूरों के लिए प्रसिद्ध हो गया।

रास्ता खोल दिया।

यूरोप के अन्य देशों में कृषि-क्रांति

सबसे पहले कृषि-क्रान्ति यूरोप में आई। यूरोप में कृषि-क्रान्ति का कार्य धीरे-2 चला। यूरोप में कृषि-क्रान्ति का स्वरुप इंगलैंड से भिन्न था। सबसे पहले सामन्तवादी व्यवस्था की समाप्त किया गया। फिर किसानों को भूस्वामी बनाया गया। जिसका विवरण नीचे लिखा है।

फ्रांसः 1789 ई० में फ्रांस क्रान्ति आई। जिसके फलस्वरूप सामन्त प्रथा और दास प्रथा समाप्त हो गई। किसान भूमि के स्वामी बन गए। परन्तु किसानों के पास खेत छोटे थे। इस कारणवश कृषि विकास के विभिन्न ढंग अपनाए गए। फलस्वरूप खेतों का कृषि उत्पादन बढ़ गया।

जर्मनीः पूर्व जर्मनी में कृषि व्यवस्था इंगलैंड जैसी थे। जमींदार विशाल भूमि के जमींदार होते थे और किसान खेती करते थे। पश्चिमी जर्मनी में भूमि के टुकड़े छोटे होते थे। कुल मिलाकर सारी जर्मनी में तीन-चौथाई भूमि कृषि योग्य भूमि के स्वामी किसान थे। 1771 के बाद जर्मनी के विभिन्न राज्यों में कृषि सम्बन्धी सुधार हुआ। जिससे चकबंदी बाढ़बंदी अच्छे बीज और खादों का प्रयोग होने लगा सैक्सानी, एशिया और कई अन्य राज्यों में नई किस्म की भेड़े पाली जाने लगी जिससे स्पेन से भी अच्छी प्रकार की ऊन का उत्पादन होने लगा।

डेनमार्कः डेनमार्क में सामन्तवाद के समाप्त होने के बाद किसानों ने काफी भूमि खरीद ली परन्तु उन्हें अपनी भूमि का विकास करने का अधिकार नहीं था। इससे डेनमार्क के 19वीं शताब्दी के उत्तर अर्ध में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए नए ढंगों का अच्छे बीजों और खादों का प्रयोग किया जाने लगा। जिससे कृषि उत्पादक बढ़ गया सूअर, गाय तथा मुर्गी की नस्लों को नए ढंगों से पाले जाने लगा जिससे दूध, मांस और अंडों का उत्पादन बढ़ गया।

हालैंडः इस देश की अधिकतर भूमि किसानों के पास थी। परन्तु भूमि के टुकड़े छोटे थे। दलदली और रेतली धरती को चूने मिट्टी से कृषि योग्य बनाया गया। बदल-2 कर फसलें उगाई जांने लगी इससे कृषि उत्पादन बढ़ गया। देश में मांस, अंडे और दूध का उत्पादन इतना बढ़ा कि निर्यात किया जाने लगा।

बेल्जियमः बैल्जियम 1815 से सामन्तवाद से मुक्त हुआ। परन्तु भूमि के छोटे टुकड़े होने के कारण कृषि विकास देर से हुआ। वहां के लोग रेतली और दलदली भूमि को कृषि योग्य बनाने में सफल रहे। घास का उत्पादन अधिक होने के कारण लोग अधिक पशु पालने लगे। खाद्य का उत्पादन बढ़ाया गया जैसे कृषि उत्पादन बढ़ गया धीरे-2 देश में खेती के लिए मशीनों और औजारों का प्रयोग होने लगा।

इटलीः इटली के उत्तरी भागों, कृषि का विकास अच्छा हुआ। इटली में 18वीं शताब्दी में दास प्रथा और सामन्त प्रथा समाप्त हुई। परन्तु किसानों से अधिक जमीनदारों ने कृषि विकास में अधिक योगदान दिया। काबूर ने कृषि की वैज्ञानिक बनाने में योगदान दिया। इससे गेहूँ, पटसन, रेशम और फलों का उत्पादन बढ़ गया। शीघ्र इटली रेशम और अंगूरों के प्रसिद्ध हो गया।

स्पेनः स्पेन का अधिक भाग पहाड़ी है जिस कारण वहाँ चरागाहों में भेंड़े पाली जाती थी। 20वीं शताब्दी से पहले स्पेन में कृषि-क्रान्ति ना के बराबर थी। अब वहां ऊन के अतिरिक्त गेहूँ, चावल, रेशम और अंगूर काफी मात्रा में पैदा होता है।

निष्कर्षः कृषि-क्रान्ति से सूरोप में अनाज, फल, दूध और मांस का उत्पादन बढ़ गया। इससे भूमि की मांग बढ़ी। इंग्लैंड में छोटे किसानों का अंत हो गया। किसानों की अर्थ व्यवस्था सुधर गई। बेकार और बंजर भूमि कृषि योग्य हो गई। किसानों का जीवन स्तर ऊँचा हो गया। परन्तु इसका बुरा असर भी हुआ-बेरोजगारी बड़ी जिससे लोग और निर्धन हो गए परन्तु कृषि-क्रान्ति के लिए रास्ता बनाया।

Europe on the Eve of French Revolution

1789 में यूरोप के विभिन्न देशों में प्रायः निरंकुश राज्य स्थापित थे। वहीं के शासक *'राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त'* में विश्वास करते थे। शासक प्रबन्ध सामंतवाद पर आधारित था। अन्तर्राष्ट्रीयता का ह्रास हो रहा था। आपसी सन्धियों और प्रतिज्ञाओं का कोई सम्मान नहीं था। बड़े और शक्तिशाली देश छोटे और निर्बल राज्यों को दबाकर अपने क्षेत्र का विस्तार करने में लगे थे। 1789 के यूरोपीय मानचित्र में बड़े-छोटे लगभग सभी देश दिखाये गये है। जिनकी राजनीतिक स्थिति का वर्णन निम्नलिखित है-

पवित्र रोमन साम्राज्यः- इस साम्राज्य में बहुत से भिन्न आकार और भिन्न महत्व के राज्य शामिल थे। इन राज्यों की संख्या लगभग 360 थी और स्थूल रूप से इन्हें 'जर्मनी' कहा जाता था। भाषा, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से इनमें एकरूपता थी किन्तु राजनीतिक एकता का अभाव था। पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रबन्ध के लिये एक राज्य परिषद थी किन्तु यह किसी भी कार्य को करने में असमर्थ थी। आस्ट्रिया का शासन 'पवित्र रोमन सम्राट' की उपाधि से इस साम्राज्य का सम्राट था। साम्राज्य के दो मुख्य राज्य आस्ट्रिया और प्रशा एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी दार्शनिक वाल्टेयर ने कहा था- 'पवित्र रोमन साम्राज्य न पवित्र है, न रोमन और न यह साम्राज्य है।'

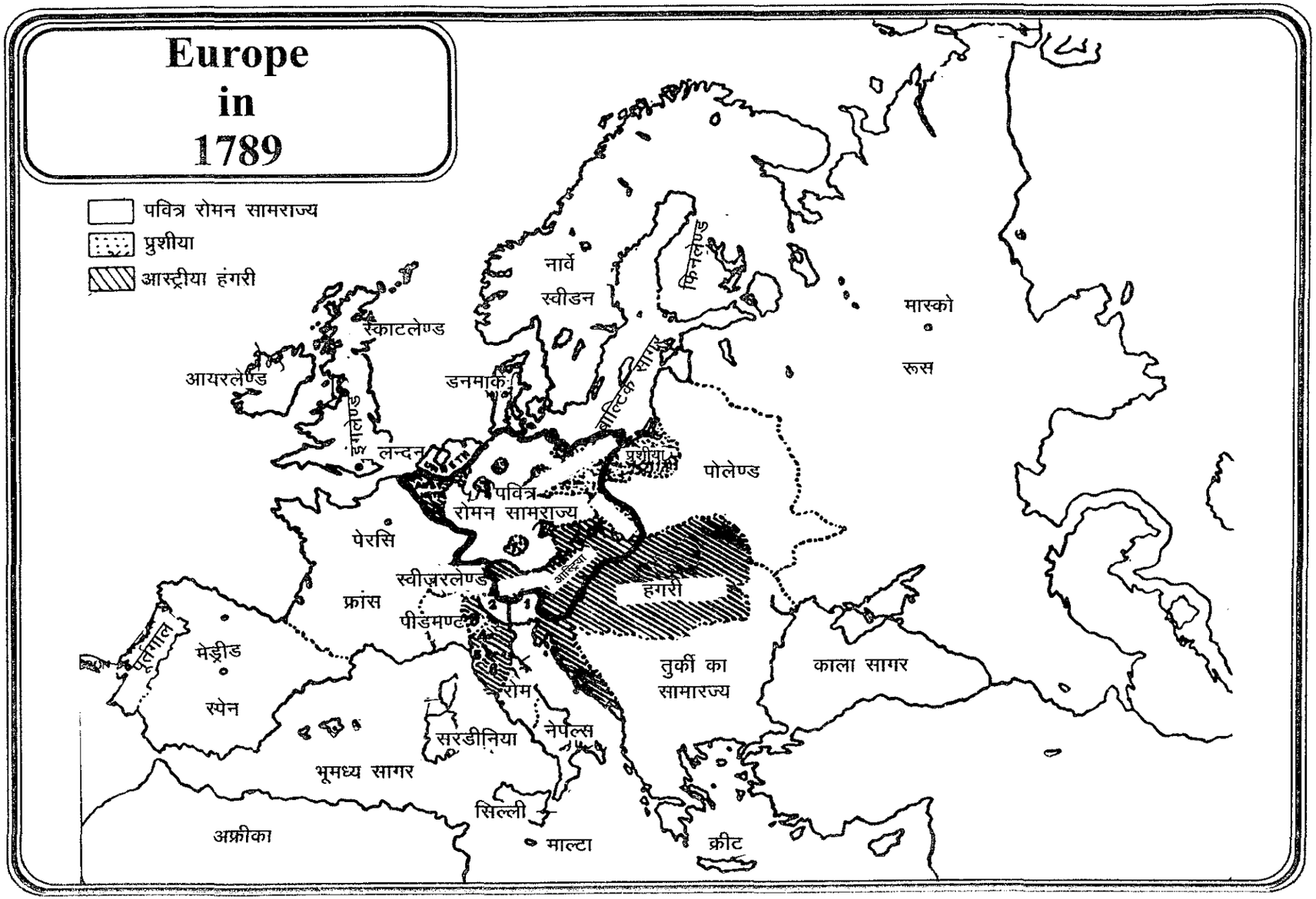
Europe
in
1789
पवित्र रोमन सामराज्य
प्रुशीया
आस्ट्रीया हंगरी
नार्वे
स्वीडन
फिनलेण्ड
मास्को
रूस
स्काटलेण्ड
आयरलेण्ड
डनमार्क
बाल्टिक सागर
इंगलेण्ड
लन्दन
प्रुशीया
पोलेण्ड
पवित्र
रोमन सामराज्य
पेरसि
स्वीज़रलेण्ड
आस्ट्रिया
हगरी
फ्रांस
पीडमण्ट
पुर्तगाल
मेड्रीड
स्पेन
रोम
तुर्की का
सामारज्य
काला सागर
सरडीनिया
नेपल्स
भूमध्य सागर
सिल्ली
अफ्रीका
माल्टा
क्रीट

प्रशाः- प्रशा का राजा फैड्रिक महान एक योग्य, महत्त्वाकांक्षी और साहसी राजा था। उसने 1740 से 1786 तक शासन किया। उसके शासन काल में प्रशा की प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत बढ़ी। प्रशा ने सैनिक एवं असैनिक सभी क्षेत्रों में उन्नति की। फ्रैड्रिक ने सिलेसिया विजय किया और 1772 में पोलैण्ड का एक-तिहाई भाग प्राप्त करके अपने राज्य का विस्तार किया फैड्रिक महान के बाद 1786 में फैड्रिक विलियम द्वितीय प्रशा का शासक बना। यह नया शासक न्यून बुद्धि और विचित्र प्रकृति का व्यक्ति था। उसने यूरोप की राजनीति में रूस और आस्ट्रिया दोनों का विरोध किया। 1789 में फ्रान्सीसी क्रान्ति के समय उनके फ्रांस के मामलों की अपेक्षा पौलेण्ड के मामलों में अधिक रूचि ली।

आस्ट्रिया हंगरीः- यह यूरोप का एक महत्त्वपूर्ण देश था। यहां अनेक प्रदेशों और भिन्न-भिन्न जातियों के लोग निवास करते थे। ये प्रदेश और जातियाँ राष्ट्रीय दृष्टि से आस्ट्रिया के स्वामी भक्त अंग नहीं थे। अतः आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य विस्तृत तथा विशाल होते हुये भी आन्तरिक विभिन्नताओं के कारण शक्तिशाली नहीं था। 1740 से 1780 तक महान सम्राज्ञी मेंरिया थिरेसा ने आस्ट्रिया हंगरी पर शासन किया। वह बड़ी महत्त्वकांक्षी थी। यद्यपि उसे सिलेसिया का प्रदेश प्रशा को देना पड़ा, फ्रान्सीसी क्रान्ति काल में यहां का शासक जोजफ द्वितीय था। साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने में उससे घोर परिश्रम किया।

रूसः- क्षेत्र तथा जनसंख्या की दृष्टि से रूस यूरोप का सबसे बड़ा देश था। परन्तु पिछड़ा हुआ था। पीटर महान के प्रयत्नों से रूस ने भारी प्रगति की। 1762 से 1795 तक रूस की साम्राज्ञी कैथराइन महान थी। उसका सबसे बड़ा उद्देश्य रूस की सीमाओं का विस्तार करके रूस की व्यापारिक उन्नति के लिए हिम-रहित बन्दरगाहें प्राप्त करना था। उसने उत्तर में बाल्टिक और दक्षिण में काला सागर के तटीय प्रदेश विजय किये। पोलैण्ड के तीनों बटवारों में उसने रूस के लिये पूरा भाग प्राप्त किया। कैथराइन कूटनीतिज्ञ भी थी। पोलैण्ड को हथियाने के लिये उसने अपने प्रतिद्वन्दी आस्ट्रिया और प्रशा को फ्रान्सीसी क्रान्ति काल में सम्राट लूई की सहायता करने के लिये उकसाया।

इटलीः- मेंट्रनिक के शब्दानुसार इटली एक राष्ट्र नहीं, बल्कि एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' था। जर्मनी की तरह यह भी कई राज्यों का समूह मात्र था। उत्तर में सार्डिनिया-पीडमाण्ट में सिवाय वंश का सामन्त शाही राज्य था। लम्बार्डी और वेनेशिया के प्रान्त आस्ट्रिया के अधीन थे। जिनेवा और वेंनिस गणतन्त्र थे किन्तु इनकी पुरानी शान समाप्त हो चुकी थी। पार्मा, मोडीना, लक्का और टस्कनी चार बड़ी जागीरें थी। मध्य इटली पर पोप का शासन था जो सारे यूरोप में सबसे बुरी तरह शासित था। दक्षिण में नेपल्ज और सिसली पर बूर्बो वंशीय राजा शासन करता था। कोर्सिका द्वीप पर 1769 में फ्रांस ने अधिकार कर लिया था। ये सभी राज्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये थे और किसी न किसी रूप में विदेशी प्रभाव में थे।

फ्रांसः- वह यूरोप का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा महत्त्वपूर्ण देश था। अठारहवीं सदी में यहां बूर्बो वंश का शासन था। इस वंश के सबसे योग्य शासक लूई चौइहवें के काल में फ्रांस ने बहुत उन्नति कि। उसके बाद पाँच वर्षीय प्रपोत्र लूई पन्द्रहवां सम्राट बना। उसके काल में स्वार्थी राजदरबारियों का बोल बाला रहा। उसने यूरोप के अनेक युद्धों में भाग लिया जिससे फ्रांस की आर्थिक स्थिति बुरी तरह बिगड़ गई। 1774 में लुई सोलवां शासक बना। उसके अमरिका के स्वतन्त्रता सँग्राम में हिस्सा लिया जिससे फ्रांस की आर्थिक दशा और अधिक खराब हो गई। सम्राट लूई चौदहवां और उसकी रानी मेंरी आन्वानेत घोर विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे और राज्य में हर प्रकार के सुधारों के विरूद्ध थे। फ्रांस की जनता राजा रानी और राजदरबार से घृणा करती थी। ऐसे दूषित वातावरण में फ्राँस की राज्यक्रान्ति हुई।

इंग्लैण्ड (England):- फ्राँसीसी क्रान्ति के समय यहां जार्ज तृतीय शासन करता था। उसका प्रधानमंत्री छोटा पिट एक योग्य तथा साहसी व्यक्ति था। जार्ज तृतीय के शासन काल में इंगलैंण्ड के सम्मान तथा प्रतिष्ठा को उस समय बड़ा धक्का लगा जब 1782 में उसे अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम में करारी हार हुई।

अगले वर्ष 1783 में छोटा पिट इंगलैंण्ड का प्रधानमंत्री बना। उसने देश की बिगड़ी हुई स्थिति को सम्भाल लिया। उसने कृषि तथा उद्योग क्रान्तियों को प्रोत्साहन दिया जिसके कारण इंगलैंण्ड इतना धनी तथा शक्तिशाली देश बन गया कि उसने फ्रांसीसी क्रान्ति और नेपोलियन के विरूद्ध युद्धों में यूरोप का सफल नेतृत्व किया।

पोलैंण्ड (Poland):- 1789 में पोलैंण्ड सोलहवीं सदी का शक्तिशाली देश नहीं था। यहां का राजा चुना जाता था। परिणामतः प्रत्येक राजा की मृत्यु पर पड़ोसी देशों को पोलैंण्ड के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल जाता था। इसके अतिरिक्त पोलैण्ड देश की कोई निर्धारित भौगोलिक सीमायें भी नहीं थीं। इन दोनों परिस्थितियों में पोलैण्ड का विदेशी शक्तियों का ग्रास बनना सम्भावित ही था। 1772, 1793 और 1795 में पोलैण्ड का बटवारा हुआ। इन तीनों बटवारा द्वारा पोलैण्ड के सभी प्रदेश रूस, प्रशा और आस्ट्रिया ने हड़प कर लिये।

अन्य देश (Other Countriesa):- स्पेन और पुर्तगाल अब शक्तिशाली देश नहीं थे। तुर्की साम्राज्य का भी पतन हो रहा था। नीदरलैंड, स्विट्जरलैण्ड स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क छोटे-छोटे देश थे और यूरोप की तत्कालिक राजनीति में कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं था।

इटली का एकीकरण (1815-1870)

एकीकरण से पूर्वः- इटली एकमात्र 'भौगोलिक अभिव्यक्ति था। यह भू-भाग कई एक राज्यों में बँटा हुआ था। उत्तर में सर्डिनिया पीडमाण्ट राज्य पर सेवाय वंश शासन करता था। लम्बार्डी और वेनेशिया के प्रदेश आस्ट्रिया के अधीन थे। पार्मा, लक्का, मोडीना और टस्कनी चार बड़ी जागीरों थी जिनपर हैप्सवर्ग वंश के सदस्य शासन करते थे। मध्य इटली पर रोम के पोप का राज्य था। दक्षिण में नेपल्ज और सिसली पर बुर्बो वंशीय राजा शासन करता था। इटली के मानचित्र में सभी विभिन्न रंगों में दिखाये गये हैं। इटली के एकीकरण का संक्षिप्त इतिहास निम्नलिखित है-

इटली की समस्यायेंः- इटली के महान देशभक्त मेजिनी ने अपने दार्शनिक लेखों एवं राजनीतिक व्याख्यानों से इटली वासियों में राष्ट्रीय भावनायें जागृत कर दी थी। परन्तु इटली के देशभक्तों के सामने देश के एकीकरण के मार्ग में अनेक बाधायें थी। कुछ लोग गणतन्त्रवादी थे, कुछ पोंप के अधीन एकता के पक्ष में थे और कुछ का विचार सर्डिनिया पीडमाण्ड के राजा का संयुक्त इटली का सम्राट बनाने का था। इस के अतिरिक्त इटली से आस्ट्रिया को बाहर निकाले बिना देश का एकीकरण सम्भव नहीं था। धार्मिक पोप की राजनैतिक प्रतिष्ठा भी समाप्त नहीं की जा सकती थी। इन समस्याओं के होते हुए भी इटली के लोगों ने 1820 से 1848 तक निरंकुश राजतन्त्र के विरूद्ध कई बार विद्रोह किए किन्तु उन्हें कहीं भी सफलता न मिली।

कैबूर की योजनाः- इटली के एकीकरण का वास्तविक कार्य काबूर के आरम्भ हुआ। वह बडा दूरदर्शी और उच्चकोटि का कूटनीतिज्ञ था। 1852 में वह सार्डिनिया पीडमाण्ड राज्य का [illegible] नियुक्त हुआ। शासन अपने हाथ में अनेक सैनिक एवं आर्थिक सुधार किये और शीघ्र ही इटलीवासियों के [illegible] अपने उदार राजा विक्टर इमैनुअल और विकासशील सर्डिनिया-पीडमाण्ट राज्य का आदर्श स्थापित कर दिया। [illegible] क्रीमिया की लडाई में भाग [illegible] कि वह इटली की आस्ट्रिया में मुक्ति के लिये फ्रांस का सहयोग प्राप्त कर [illegible] इस योजना में कैबुर को पूरी सफलता मिली। 1858 में उसने फ्रान्सीसी सम्राट नेपोलियन तृतीय से प्लोमिबयर्स का समझोता किया जिसके अनुसार नेपोलियन ने वचन दिया कि यदि सार्डिनिया-पीडमाण्ड पर आस्ट्रिया ने आक्रमण किया तो अस युद्ध में वह सर्डिनिया पीडमाण्ड की सहायता करेगा।

लम्बार्डी विजयः- कुछ ही दिनों बाद आस्ट्रिया ने कैबूर की चाल में आकर इस राज्य पर आक्रमण कर दिया। युद्ध छिड़ गया। नेपोलियन ने एक विशाल सेना द्वारा सर्डिनिया पीडमाण्ड की सहायता की जिसके फलस्वरूप सर्डिनिया पीडमाण्ट के राजा विक्टर इमैनुएल ने लम्बार्डी प्रदेश पर अधिकार कर लिया। परन्तु अभी वेनेशिया का प्रदेश आस्ट्रिया से छीनना शेष था कि नेपोलिश्न युद्ध से हट गया और उसने आस्ट्रिया के साथ विलाफ्रैंका की पृथक संधि कर ली। इस [illegible] अनुसार लम्बार्डी का विजय सर्डिनिया-पीडमाण्ट राज्य में मान लिया गया किन्तु वेनेशिया आस्ट्रिया के पास [illegible]

मध्य इटली का विलयः- 1859 में आस्ट्रिया की पराजय से इटली की जनता [illegible], मोडीना, लुक्का और टस्कनी के राज्यों तथा पोप शासित प्रदेश रोमाग्ना की जनता ने कैबर के साथियों फारिनी और रिसाली के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। वहाँ के राजा अपने अपने सिंहासन छोड़कर भाग गए। देशभक्तों ने अस्थाई सरकारे बना ली और सेनायें संगठित कर लीं। अगले वर्ष 1860 लोकमत के परिणामस्वरूप ये राज्य सर्डिनिया-पीडमाण्ट राज्य में मिला लिए गये।

गैरीबाल्डी के साहसिक कार्यः- इटली के दक्षिण राज्य नेपल्ज और सिसली में एक गुप्त संस्था कैमोरा ने जन साधारण में जागृति पैदा कर दी थी। उनकी इटली की सफलताओं ने उन्हें उत्साहित किया और उन्होंने बूर्बो वंशीय राजा के विरूद्ध विद्रोह कर दिया। इस अवसर पर गैरीबाल्डी आगे बढ़ा। 5 मई 1860 को उसने जिनेवा की बन्दरगाह से दो जहाजों तमें अपने 'लालकुर्ती वाले एक हजार स्वंय सेवक' साथ लिए और छः दिन की सामुद्रिक यात्रा के बाद वह सिसली द्वीप में उतरा कुछ ही महीनों में उसने सम्पुर्ण सिसली और नेपल्ज राज्य को जीत लिया। राजा अपना सिंहासन छोड कर भाग लिया। इस विजय से कैबूर के सामने एक नई समस्या आ गई कि कहीं गैरीबाल्डी [illegible] राज्य में गणतन्त्र की स्थापना न कर दे और इटली के लिए दो खण्डों-उत्तरी राजतन्त्र और दक्षिणी गणतन्त्र [illegible] जाय। इधर गैरीबाल्डी के रोम विजय के लिये बढ़ रहा था।

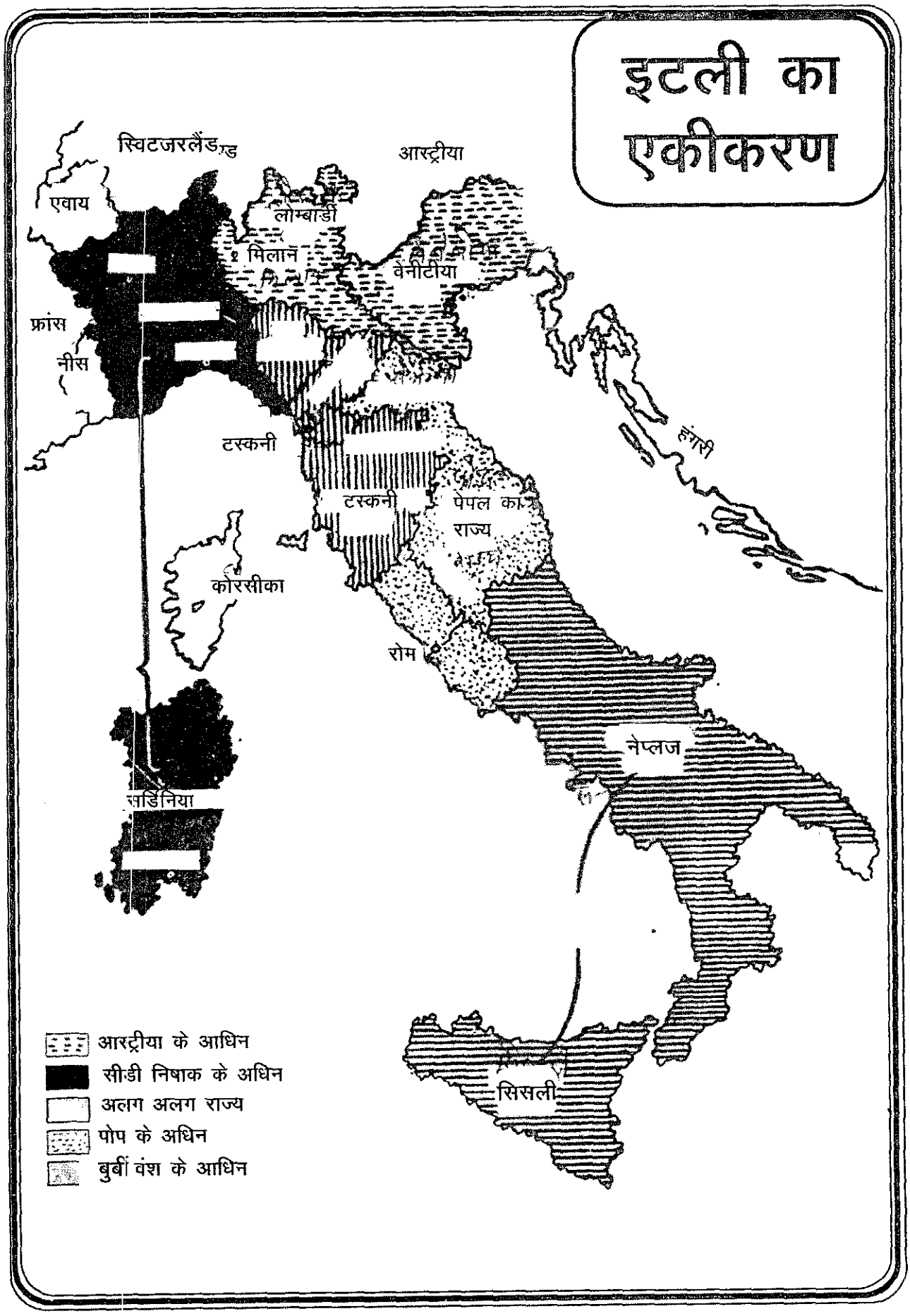
इटली का एकीकरण
स्विटजरलैंड
आस्ट्रीया
एवाय
लोम्बार्डी
मिलान
वेनीटीया
फ्रांस
नीस
टस्कनी
हंगरी
टस्कनी
पेपल का राज्य
कोरसीका
रोम
नेप्लज
सार्डिनिया
सिसली
आस्ट्रीया के आधिन
सीडी निषाक के अधिन
अलग अलग राज्य
पोप के अधिन
बुर्बी वंश के आधिन

विक्टर इमेंनुएल का हस्तक्षेपः- गैरीबाल्डी के रोम पर आक्रमण करने से पूर्व ही राजा विक्टर इमेंनुएल ने पोप राज्य पर आक्रमण कर दिया और कैसलफिदार्दो के स्थान पर पोप की सेनाओं को हरा दिया। रोम को छोड़ कर शेष पोप-राज्य पर अधिकार कर लिया गया। विक्टर इमेंनुएल अब नेपल्ज की ओर बढ़ा। सभी की आशंका थी कि न मालूम गैरीबाल्डी राजा के साथ किस प्रकार का व्यवहार करे और कहीं राजतंत्रवादियों तथा गणतंत्रवादियों में गृहयुद्ध न छिड़ जाये। परन्तु गैरीबाल्डी ने अपने को इटली का सच्चा देशभक्त सिद्ध कर दिया। उसने राजा विक्टर इमेंनुएल का विरोध नहीं किया। उसने इटली के एकीकरण को पूरा करने के लिए 27 अक्तुबर 1860 को अपना विजि राज्य अपने पद और अपनी सेना राजा विक्टर इमेंनुएल को सौंप दी। कैबूर ने उसकी प्रशंसा की। राजा ने उसे उच्चपद, सर्वोच्च उपाधियां और बहुमूल्य पुरस्कार देने चाहे। परन्तु गैरीबाल्डी ने सब कुछ अस्वीकार कर दिया और कहा 'राष्ट्र-सेवा स्वयं एक पुस्कार है।

वेनेशिया और रोम का विलयः- 1860 में वेनेशिया और रोम को छोड़ कर सारे इटली का एकीकरण पूरा हो चुका था। वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार था और रोम का राज्य पोप के आधीन था। इटलीवासी इन दोनों के लिए बिना चैन से नहीं बैठा सकते थे। परन्तु इन दोनों राज्यों का इटली में विलय, आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ प्रशा के युद्धों से हुआ। 1866 में प्रशा के लौह पुरूष बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के विरूद्ध इटली से समझौता किया और आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के बाद उसे वेनेशिया दिलवाने का वचन दिया। आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध में आस्ट्रिया की हार हुई और प्राग की सन्धि से वेनेशिया प्रदेश इटली को दे दिया गया। रोम का विलय 1870 में फ्रांस-प्रशा युद्ध के अवसर पर हुआ। युद्ध छिड़ने पर प्रशा की सेनायें द्रुत गति से फ्रांसीसी भूमि पर बढ़ने लगी। तब विवश होकर फ्रांस को रोम अपनी सेना हटानी पड़ी और इटली ने अवसर का लाभ उठाकर सरलता से रोम पर अधिकार कर लिया। रोम सम्पूर्ण इटली की राजधानी बनाई गई।

Unification of Germany (1789-1871)

शताब्दियों से जर्मनी भिन्न महत्व के लगभग 360 राज्यों का ढीला संघ था। इस संघ पर 'पवित्र रोमन सम्राट' की उपाधि से आस्ट्रिया के सम्राट का अधिपत्य था। प्रत्येक जर्मन राज्य के अपने कानून, अपनी पृथक सेना और सरकारी थी। इन राज्यों में प्रशा सबसे बड़ा था। शेष महत्वपूर्ण राज्य बवेरिया, बेडन, वर्टम्बर्ग, सक्सनी और होनोवर थे। लगभग पचास स्वतंत्र नगर राज्य भी थें।

1806 में नेपोलियन ने 'पवित्र रोमन साम्राज्य भंग कर दिया था और इसके तीन पृथक राजनीतिक खण्ड-आस्ट्रिया, प्रशा और राईन संघ कर दिए थे। राईन संघ में छोटे-छोटे राज्यों को बड़े राज्यों में मिलाकर केवल सोलह राज्य रखे गये। वियना कांग्रेस ने 39 राज्यों के एक जर्मन संघ (The German Confederation) का निर्माण किया जिसका अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष क्रमशः आस्ट्रिया तथा प्रशा को बनाया गया। वास्तव में यूरोप के राजनीतिज्ञों ने 1815 जर्मन देशभक्तों की भावनाओं की उपेक्षा करके जर्मनी को खंडित ही रहने दिया।

चुंगी संघ (Zollverein):- 1818 में प्रशा ने अपने बारह पड़ौसी जर्मन राज्यों को साथ लेकर चुंगी संध की स्थापना की। संघ के सदस्य देशों में चुंगी मुक्त व्यापार होने लगा। यह जर्मनी के एकीकरण का आरम्भ था जो भविष्य में राजनीतिक एकीकरण की भूमिका सिद्ध हुआ। 1842 तक होनोवर के अतिरिक्त लगभग सभी जर्मन राज्य 'जोलवरेन' के सदस्य बन गये। आस्ट्रिया को इसमें शामिल नहीं किया गया।

1848-1850 के प्रयत्नः- फ्रांस की फरवरी क्रान्ति से प्रेरित होकर जर्मन राष्ट्रवादियों ने संयुक्त जर्मनी का संविधान बनाने के लिए फ्रेंकफर्ट में एक संसद बुलाई गई। 24 मार्च 1849 को संसद ने जर्मनी के सम्राट का पद प्रशा के राजा को सौंपना चाहा किन्तु राजा ने इसे 'लज्जा जनक मुकुट' कहकर ठुकरा दिया। इस से राष्ट्रवादियों को बड़ा आघात पहुँचा। मार्च 1850 में प्रशा के राजा ने अपनी नई योजना इरफर्ट में एक दूसरी संसद बुलाई। परन्तु उस समय तक क्रान्ति की लहर समाप्त हो चुकी थी। आस्ट्रिया ने भी प्रशा की योजना का विरोध किया। परिणामतः इरफर्ट संसद भंग कर दी गई।

बिस्मार्क द्वारा जर्मनी का एकीकरण

जर्मनी एकीकरण के इतिहास में नये अध्याय का आरम्भ उस समय हुआ जब 1862 में प्रशा के राजा विलियम प्रथम ने बिस्मार्क को अपना चान्सलर नियुक्त किया। बिस्मार्क ने सर्वप्रथम प्रशा की सैनिक शक्ति को सुदृढ किया। वह यह अच्छी

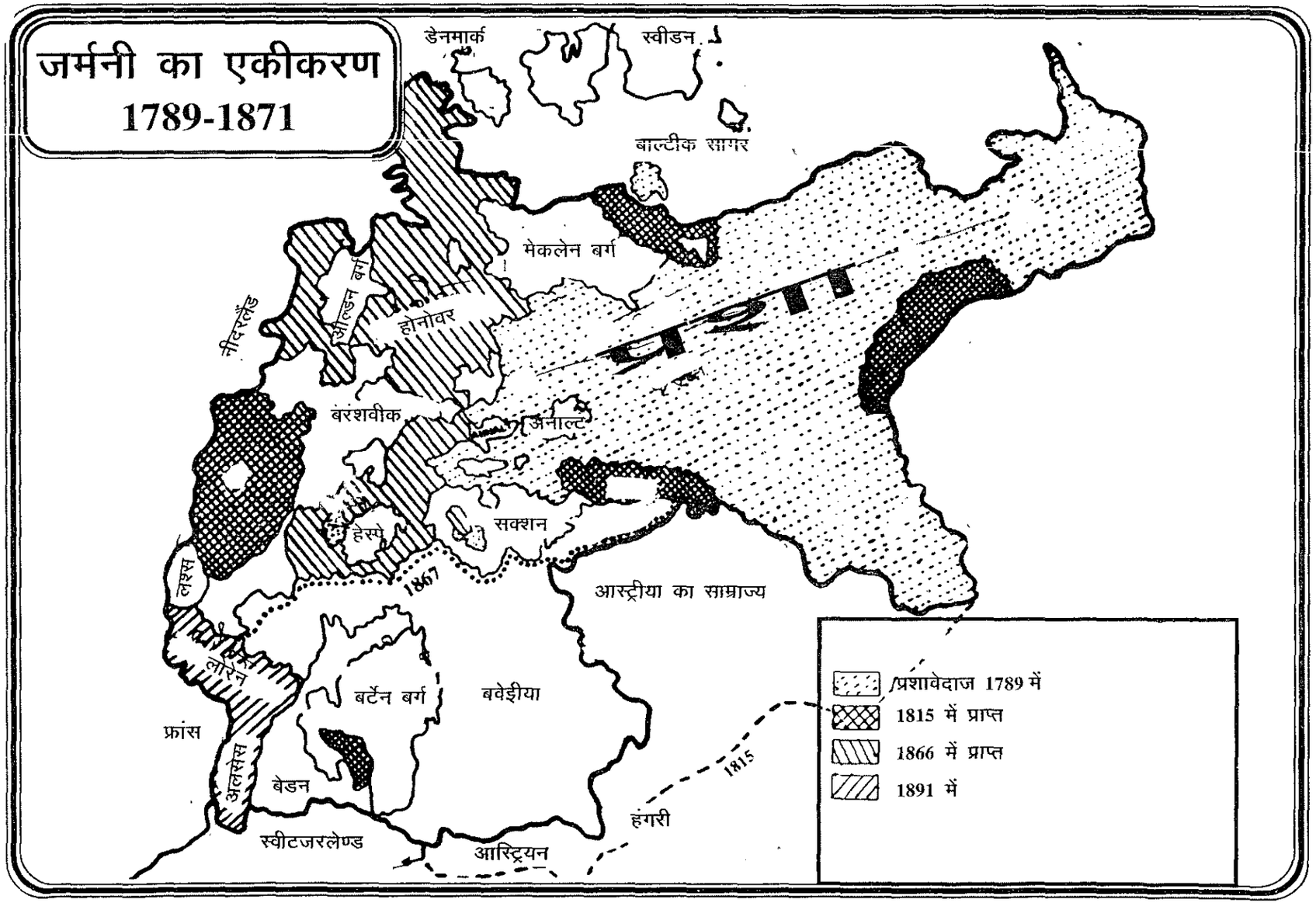
जर्मनी का एकीकरण
1789-1871
डेनमार्क
स्वीडन
बाल्टीक सागर
मेकलेन बर्ग
ओल्डन बर्ग
नीदरलैंड
होनोवर
बरंशवीक
अनाल्ट
सक्शन
हेस्से
1867
आस्ट्रीया का साम्राज्य
बर्टेन बर्ग
बवेइीया
फ्रांस
बेडन
स्वीटजरलेण्ड
आस्ट्रियन
हंगरी
1815
/प्रशावेदाज 1789 में
1815 में प्राप्त
1866 में प्राप्त
1891 में

तरह समझता था कि जर्मनी को आस्ट्रिया से निकाले बिना जर्मनी का एकीकरण कतई सम्भव नहीं है और आस्ट्रिया को युद्ध में पराजित करके ही निकाला जा सकता है। अतः उसने 'लोहे और रक्त' की नीति अपनाई और छः वर्ष के अल्प काल में उसने तीन युद्ध लड़े। इन युद्धों के फलस्वरूप उसने न केवल जर्मनी का संगठन किया बल्कि जर्मनी को यूरोप की सबसे बड़ी शक्तियों की पंक्ति में ला दिया।

बिस्मार्क को जर्मनी के एकीकरण के लिए कार्य करने का प्रथम अवसर डेनमार्क के साथ युद्ध से प्राप्त हुआ। बिस्मार्क उच्चकोटि का अवसरवादी था। 1863 में उसे श्लैसबिग हालस्टीन डचियों समस्या उभरने पर एक ऐसा सुअवसर मिल गया जिसके द्वारा उसने आस्ट्रिया के साथ मिलकर डेनमार्क से युद्ध किया और उत्तरी जर्मनी प्रदेश ले लिया। तदनन्तर इसी समस्या में उसने आस्ट्रिया से युद्ध का बहाना खोज लिया।

उत्तरी जर्मनी का संगठनः- जर्मनी के एकीकरण की दिशा में डेनमार्क से युद्ध केवल एक पहला पग था। बिस्मार्क का वास्तविक उद्देश्य तो राज्यों से आस्ट्रिया को बाहर निकालना था। और यह उद्देश्य तो आस्ट्रिया से युद्ध में विजयी हुए बिना पूरा नहीं हो सकता था। श्लैसविग और हालस्टीन के बंटवारे को लेकर उसने आस्ट्रिया के साथ गैस्टीन का समझौता किया। इसी समझौते में आस्ट्रिया प्रशा युद्ध के कारण विद्यमान थे। अतः 16 जून 1866 को युद्ध छिड़ गया। प्रशा ने दुर्गति से आगे बढ़ना शुरू किया। पहले तीन दिनों में ही उसने जर्मनी के उत्तरी राज्यों होनोवर, सक्सनी और कासल पर अधिकार कर लिया। सबसे बड़ी लड़ाई सैडोवा के रणक्षेत्र में लड़ी गई जिसमें प्रशा विजयी रहा। दोनों में प्राग की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार जर्मन परिसंघ भंग कर दिया गया। आस्ट्रिया जर्मन राज्यों से अलग हो गया। श्लैसबिग होलस्टीन की डचियों पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया। यह भी निश्चित हुआ कि मेंन नदी के उत्तर के सभी 22 राज्यों का संघ प्रशा के नेतृत्व में बनाया जाए। 1866 में उत्तरी जर्मनी का एकीकरण पूरा हुआ।

समस्त जर्मनी का संगठनः- पिछले दो युद्धों के फलस्वरूप उत्तरी जर्मनी का संगठन पूरा हो चुका था। किन्तु दक्षिणी राज्य अभी जर्मन राज्य संघ से बाहर थे। इन्हें मिलाने के लिए भी बिस्मार्क अपनी 'लोहे और रक्त' की नीति में विश्वास करता था। उसका विचार था कि फ्रांस के साथ युद्ध में विजयी होकर ही जर्मनी का एकीकरण पूरा हो सकता है। बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति से चार वर्षों में यूरोप की अन्य शक्तियों को फ्रांस से अलग कर दिया। स्पेन के उत्तराधिकारी के प्रश्न में उसने युद्ध का बहाना खोज लिया। इस समय नैपोलियन तृतीय और फ्रांस की जनता भी युद्ध के इच्छुक थे। परिणामतः 15 जुलाई 1870 को युद्ध छिड़ गया। प्रशा सम्राट विलियम प्रथम उच्चतम सेनापति के रूप में युद्ध में उतरा। प्रारम्भ में ही प्रशा की सेना अल्सेस में घुस गई। अनेक मोर्चों पर फ्रांस को करारी हार मिली। आखिर मुख्य फ्रान्सीसी सेना सीडान के रणक्षेत्र में घिर गई और सम्राट नैपोलियन तृतीय ने हथियार डाल दिये। परन्तु युद्ध बन्द नहीं हुआ। सम्राट की पराजय के बाद फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना कर दी गई और सरकार ने युद्ध जारी रखा। प्रशा की सेनाओं ने पैरिस का घेरा डाल दिया। पैरिस वासियों की रसद समाप्त हो गई थी। अतः भूखमरी से विवश होकर पैरिस ने हार स्वीकार कर ली। युद्ध बन्द कर दिया गया। पैरिस पतन से पहले ही जर्मनी के दक्षिणी राज्यों बवेरिया, बेडन और वर्टम्बर्ग ने प्रशा से सन्धि कर ली थी। फ्रांस ने फ्रैंकफ्रट की सन्धि से फ्रांस ने अल्सेस और लारेन के प्रदेश जर्मनी को दिये। 18 जनवरी 1871 को बवेरिया के राजा ने सभी जर्मन राज्यों की ओर से जर्मनी का राज मुकुट सम्राट विलियम प्रथम को पेश किया। बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य निर्माण की घोषणा की।

लघु प्रश्न उत्तर

सामन्तवाद के पतन पुनः जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन

1. समान्तवाद की मुख्य विशेषताए कौन सी थी?

उत्तरः (1) अधीन कृषक वर्ग (2) विशिष्ट योद्धा वर्ग की प्रभुसत्ता (3) सत्ता का विखण्डन

2. सामन्तवाद में कानूनी रूप से समाप्त भूमि किस की थी?

उत्तरः राजा की

3. समान्त वाद में व्यापार किस प्रणाली से दोता था?

उत्तरः वस्तु विनिमय प्रणाली से।

4. समान्त वादी प्रणाली का मुख्य आधार क्या था?

उत्तरः कृषि दात प्रणाली

5. पदन चक्रीर्ण का आविष्कार कब हुआ?

उत्तरः ग्यारहवीं शताब्दी में

6. यूरोप में 1348-51 ई० में आने वाली बीमारी का क्या नाम था?

उत्तरः काली महामारी

7. 1381 ई० में इंग्लैंड में किसान विद्रोह का नेतृत्व किसने किया?

उत्तरः वाट टाईलर ने

8. इटली की पुनर्जागरणकालीन सभ्यता नामक पुस्तक का लेखक कौन था?

उत्तरः जैकवं बुर्ख हार्ट

9. रेनेसां किस भाषा का शब्द है?

उत्तरः फ्रैंच भाषा का

10. डिवाईन कामेंड़ी नामक पुस्तक किसने लिखी?

उत्तरः दांते ने

11. कस्तु तुनिया पर तुर्की ने अधिकार कब किया?

उत्तरः 1453 ई० में

12. छापे खाने का अधिकार किसने किया?

उत्तरः गुटन बर्ग ने 1450 ई० में

13. मानववाद का प्रचार सर्व प्रथम किसने किया?

उत्तरः पेट्रार्क ने

14. वेटीकन पुस्तकालय की स्थापना किसने की?

उत्तरः पोप निकोलस पंचम ने.

15. 'मुर्खता की प्रशंसा' नामक पुस्तक का लेखक कौन था?

उत्तरः डेसी डेरियस इरास्मस

16. उटोपिया नामक पुस्तक किसने लिखी?

उत्तरः टामस भुर ने

17. सेंट पीटर नामक गिरजाघर किस शैली में बना हुआ है?

उत्तरः गौथिक शैली में

18. इटली का प्रशीत चित्रकार कौन था?

उत्तरः ल्युनार्डी-डी-विन्सी

19. कापरनिक्स किस देश का निवासी था

उत्तरः पोलैण्ड का

20. नक्षत्रों का सन्देश नामक पुस्तक किसने लिखी?

उत्तरः गैलिलियों ने

21. आकर्षण सिद्धान्त का जन्म दाता कौन था?

उत्तरः सर आईजक न्युटन

22. प्रिंस नामक ग्रथं की रचना किसने की?

उत्तरः मेंकियावली ने

23. मार्टिन लूथर किस देश का निवासी था?

उत्तरः जर्मनी का

24. काल्विन वाद का जन्मदाता कौन था?

उत्तरः जान काल्विन

25. तीस वषीय युद्ध का समय क्या था?

उत्तरः 1618-1648 ई०

वाणिज्यवाद का युग तथा पूंजीवाद विकास

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. वाणिज्यवाद से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : ''वाणिज्यवाद का अभिप्राय मूल्य रूप से एक राज्य की सरकार द्वारा पड़ोसी राज्यों से अपने राज्य को अधिक शक्तिशाली एवं समृद्धशाली बनाने के लिए वाणिज्य सम्बन्धी नियम निर्धारित करना है।''

2. वाणिज्यवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने, कहां तथा कब किया ?

उत्तर : वाणिज्यवाद शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्रसिद्ध अंग्रेज़ अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने अपनी विख्यात पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशनस' में किया जो 1776 ई० में प्रकाशित हुई।

3. ''वैलथ ऑफ नेशनस'' नामक पुस्तक का लेखक कौन था ? यह पुस्तक कब प्रकाशित हुई ?

उत्तर : ''वैल्थ ऑफ नेशनस'' का लेखक प्रसिद्ध अंग्रेज़ अर्थशस्त्री एडम स्मिथ था। यह पुस्तक 1776 ई० में प्रकाशित हुई।

4. वाणिज्यवाद के कोई दो उद्देश्य बताओं।

उत्तर : वाणिज्यवाद के दो मुख्य उद्देश्य थेः देश के व्यापार एवं उद्योग को अधिकाधिक विकसित करना तथा देश में सोना, चांदी आदि बहुमूल्य धातूओं को अत्यधिक मात्रा में एकत्र करना ताकि अपना देश अथवा राज्य अन्य देशों की तुलना में अधिक धनी हो।

5. वाणिज्यवाद का युग कब से कब तक माना जात है ?

उत्तर : वाणिज्यवाद के युग के विषय में विभित्र विचार है। परन्तु आमतौर पर माना जाता है कि इसका व्यावहारिक रूप में पूर्णतया विकास 17 वीं तथा 18 वीं शताब्दी में हुआ।

6. वाणिज्यवाद के अत्थान के कोई चार कारण बताओं।

उत्तर : राष्ट्रीय राज्यों एवं निरंकुश राजतन्त्रों का उत्थान, पुर्नजागरण आनदोलन का उदय भूगोलिक खोजें तथा बैंक प्रणाली का प्रचलन-वाणिज्यवाद के उत्थान के चार कारण थे।

7. प्रसिद्ध खोजकार बारथोलोमियों डायज़ तथा वास्कोडिगामा किस देश से सम्बन्थित थे ?

उत्तर : बारथोलोमियो डायज़ तथा वास्कोडिगामा नामक प्रसिद्ध खोजकार पुर्तगाल से सम्बन्धित थे।

8. वाणिज्यवाद की विचारधारर का अपनी पुस्तकों तथा लेखों द्वारा प्रचार करने वाले प्रसिद्ध विचारकों के नाम बताओं।

उत्तर : वाणिज्यवाद की विचारधारा का अपनी पुस्तकों तथा लेखों द्वारा प्रचार करने वाले चार प्रसिद्ध विचारकों के नाम है : थामस मुन, जे.पी. कोल्बर्ट एन्टोनियों सेरा तथा फिलिप वॉन हॉनिर्क .

9. थामस मुन किस देश से सम्बन्ध रखता था ? असकी प्रसिद्ध रचना कौन सी तथा किस विषय में सम्बधित है ?

उत्तर : थामस मुन (1571-1641) इंगलैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक डायरैक्टर था। उसकी प्रसिद्ध रचना 'Enland's Treasuresa by foreign Trade' है जो जिस वाणिज्यवाद से सम्बन्धित एक प्रमाणिक पाठय पुस्तक माना जाता है।

10. कोल्बर्ट के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर : कोल्बर्ट फ्रांस के सम्राट लुई चोदहवें का मन्त्री था। उसने फ्रांस की अर्थ व्यवस्था को सुधारने तथा फ्रांसीसी वाणिज्यवाद का प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

11. वाणिज्यवाद विचारधारा की कोई दो मुख्य विशेषतायें बताओं।

उत्तर : राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के हित में आर्थिक नियमों का निर्माण तथा सोने-चांदी जैसी बहुमूल्य धातुओं का संग्रह-वाणिज्यवादी विचारधारा की दो विशेषतायें थीं।

12. फ्रांसीसी वाणिज्यवाद को 'कोल्बर्टवाद' के नाम से क्यों जाना जाता है ?

उत्तर : फ्रांस के सम्राटलुई XIV के मन्त्री कोल्बर्ट ने 1661-1683 ई० के दौरान न केवल फ्रांसीसी वाणिज्यवाद के सिद्धान्तों की व्याख्या की अपितु इन्हें कार्यरूप देने के भी निरन्तर यत्न किये। इसलिये फ्रांसीसी वाणिज्यवाद को कोल्बर्टवाद के नाम से जाना जाता है।

13. कोल्बर्ट द्वारा फ्रांस के विदेशी व्यापार को विकसित करने के लिये स्थापित की गई किन्हीं दो कम्पनियों के नाम बताओं।

उत्तर : 'The Wesat India Company' तथा 'The Company of the North' दो प्रसिद्ध कम्पनियाँ थीं जो कोल्बर्ट द्वारा विदेशी व्यापार विकसित करने के लिये स्थापित की गई थी।

14. डच ईस्ट इण्डिया किस देश से सम्बन्धित थी तथा इसकी स्थापना कब हुई ?

उत्तर : डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी हालैंड से सम्बन्धित थी जिसकी स्थापना 1602 ई० में की गई थी।

15. फ्रांस के वाणिज्यवाद की कवचारधरा की आलोचना करने वाले दो प्रसिद्ध प्राकृतिवादियों (physiocrats) के नाम बताओं।

उत्तर : फ्रांस में क्वेसने तथा गोर्ने जैसे प्राकृतिवादियों ने वाणिज्यवादी विचार की आचोलना की तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की विचारधारा का प्रचार किया।

16. वाणिज्यवाद के पतन के कोई चार कारण बताओं।

उत्तर : वाणिज्यवाद के पतन के चार कारण थे-वाणिज्यवाद का सकीर्ण एवं स्वार्थी राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आधारित होना सोने-चांदी की आवश्यकता को अत्यधिक महत्त्व देना व इसका उपनिवेशों के शोषण पर बल देना तथा यूरोप में नये विचारों का उदय होना।

17. वाणिज्यवाद के कोई दो प्रभाव बताओं।

उत्तर : वाणिज्यवाद ने मध्यकालीन समन्त व्यवस्था को दुर्बल कर दिया तथा इसने यूरोप में राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. वाणिज्यवाद शब्द का प्रयोग सबसे पहले किसने किया था ?

(i) एडम स्मिथ; (ii) विलियम कनिंधम;

(iii) गुस्ताव श्मोलर; (iv) आर्थर यंग। (i)

2. वैरूथ ऑफ नेशनस नामक पुस्तक का लेखक कौन था ?

(i) जे.पी. कोल्बर्ट; (ii) थामस मुन;

(iii) एडम स्मिथ; (iv) कार्ल मार्कस। (iii)

3. फ्रांस के वाणिज्यवाद के विकास के लिये किस शासक ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई ?

(i) स्पेन; (ii) पुर्तगाल;

(iii) इंग्लैंड; (iv) फ्रांस। (ii)

5. अमेरिका की खोज करने वाला प्रसिद्ध खोजकार था:

(i) कोलम्बस; (ii) डायज;

(iii) वास्कोडिगामा; (iv) मैंगेलन। (i)

6. 17-18 वीं शताब्दी में वाणिज्यवाद की विचारधारा का प्रचार करने वाले विचारकों में फ्रांस का प्रसिद्ध विचारक कौन था ?

(i) एन्टोनियों सेरा; (ii) कोल्बर्ट;

(iii) थामस मुन; (iv) फिलिप हैर्निक। (ii)

7. फ्रांसीसी वाणिज्यवाद सम्राट लुई चौदहवें के किस मंत्री के नाम से जुड़ा हुआ है ?

(i) वाल्पोल; (ii) जॉन हाकिनस;

(iii) वाल्टर रैले; (iv) कोल्बर्ट। (iv)

8. मेंक्सीको में किस यूरोपीय ऐदु ने उपनिवेश स्थापित किया ?

(i) फ्रांस; (ii) इंग्लैंड;

(iii) स्पेन; (iv) रूस। (iii)

9. पुर्तगाल का दक्षिण अमेरिका में कौन सी बस्ती पर अधिकार था ?

(i) मेंक्सीको; (ii) ब्राज़ील;

(iii) पीरू; (iv) अर्जनटायना। (ii)

10. हालैंड के किस उद्योग को 'डचों का स्वर्ण खान' (Dutch Gold Mine) कहा जाता था ?

(i) मछलियों का उद्योग; (ii) कपड़ा उद्योग;

(iii) रेशम का उद्योग; (iv) कच्चे तमाखू का उद्योग (i)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

(क)	(ख)
एडम स्मिथ;	'England's Treasure by Foreign Trade'
विलियम कनिंघम;	'Mercantilism'
ई. एक. हक्शर;	'Wealth of Nations'
थामस मुन।	'The Growth of English Industry and Commerce.'

उत्तर:

(क)	(ख)
एडम स्मिथ;	'Wealth of Nations'
विलियम कनिंघम;	'The Growth of English Industry and Com merce.'

	ई. एक. हक्शर;	'Mercantilism'
	थामस मुन।	'England's Treasure by foreign Trade'
2.	(क)	(ख)
	हेनरी अष्टम,	फ्रांस,
	लुई चौदहवीं,	प्रश्या,
	फ्रेडरिक महान	रूस,
	पीटर महान,	आस्ट्रिया,
	जोस द्वितीय।	इंग्लैड।
	उत्तरः (क)	(ख)
	हेनरी अष्टम,	इंगलैड,
	लुई चौदहवीं,	फ्रांस,
	फ्रेडरिक महान	प्रश्या,
	पीटर महान,	रूस,
	जोस द्वितीय।	आस्ट्रिया।
3.	(क)	(ख)
	बारथोलोमियो डायज़	कालीकट,
	वास्कोडिगामा,	अमेरिका,
	क्रिस्टोफर कोलम्बस,	फिलिपीन,
	फडीनिन्ड मेंगेलन।	दक्षिण अफ्रीका।
उत्तरः	(क)	(ख)
	बारथोलोमियो डायज़	दक्षिण अफ्रीका,
	वास्कोडिगामा,	कालीकट,
	क्रिस्टोफर कोलम्बस,	अमेरिका,
	फडीनिन्ड मेंगेलन।	फिलिपीन।
4.	(क)	(ख)
	मेक्सिको,	हालैंड,
	मकाओं,	स्पेन,
	बाटेविया,	इंगलैंड,
	वेस्ट इन्डीज़	पुर्तगाल।

उत्तरः	(क)	(ख)
	मेक्सिको,	स्पेन,
	मकाओं,	पुर्तगाल,
	बाटेविया,	हालैंड,
	वेस्ट इन्डीज़	इंगलैंड।
5.	(क)	(ख)
	एन्टोनियो सेरा,	आस्ट्रिया,
	थामस मुन,	फ्रांस
	कोल्बर्ट,	इंग्लैंड,
	फिलिप वॉन होर्निक।	इटली।
उत्तरः	(क)	(ख)
	एन्टोनियो सेरा,	इटली
	थामस मुन,	इंग्लैंड,
	कोल्बर्ट,	फ्रांस
	फिलिप वॉन होर्निक।	आस्ट्रिया।

निरकुश राजतन्त्र राज्यों का उदय-फ्रांस, स्पेन व इंग्लैण्ड

1. निरकुश राजतन्त्र में सर्वोच्य कौन होता था?

उत्तरः शासक

2. फ्रांस की प्रतिनिधि सभा को क्या कहा जाता था?

उत्तरः स्टेटस जनरल

3. फ्रांस का पनर्जागरण शाशक किसे कहा जाता है?

उत्तरः उत्तर फ्रांसिस प्रथम (1515-47 ई.)

4. फ्रांस में प्रोटेस्टेंटों को क्या कहा जाता था?

उत्तरः ह्यूगोनाट

5. रिशील्यू कौन था?

उत्तरः लुई तेहरवं के काल में फ्रांस का एक मन्त्री था।

6. बोहेमिया का विद्रोह कब हुआ?

उत्तरः 1618 ई. में

8. फ्रांस में सर्वोच्य न्यायलय को क्या कहा जाता था?

उत्तरः पार्लेमों

9. टयूडर वश का प्रथम शाशक कौन था?

उत्तर: हेनरी सप्तम

10. कार्ट आफ स्टार चेम्बर क्या था?

उत्तर: सामन्तों को दण्ड देने वाला न्यायालय?

11. इंग्लैण्ड में उच्य सदन को क्या कहा जाता था?

उत्तर: हाऊस आफ लाडर्स

12. जस्टीस आफ पीस कौन थें?

उत्तर: इंग्लैण्ड में काडटी का न्यायधीश 9 प्रशासक

13. फ्रडीनेण्ड ने यूरो को कब परास्त किया

उत्तर: 1492 ई० में

14. कोलम्बस किस देश का निवासी था

उत्तर: स्पेन का

15. स्पेन के शाशक चार्ल्स प्रथम को पवित्र रोमन साम्राज्य का शासक कब चुना गया?

उत्तर: 1519 ई० में

पश्चिमी यूरोप में कृषि क्रान्ति तथा इसका प्रभाव

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. कृषि क्रान्ति से आप का क्या अभिप्राय है?

उत्तर: खेतों की बाडबंदी एवं चकबंदी, बदल कर फसलें उगाने की क्रिया, मशीनों एवं नये बीजों का प्रयोग, भेड़ों तथा अन्य पशुओं की नस्ल में सुधर आदि कृषि क्षेत्र में आए सुधारों को सामुहिक रूप से क्रान्ति कहा जाता है।

2. कृषि क्रान्ति से पूर्व कृषि अवस्था के मुख्य दोष क्या थे?

उत्तर: खेतों का छोटा तथा बिखरे होना, खेती करने के तरीको एवं औज़ारों का प्रचीन ढ़ंग का होना; भूमि का काफी भाग बंजर होना तथा पशुओं एवं भेड़ों की नस्ल को सुधारने के ओर ध्यान दिया जाना आदि पुरानी कृषि अवस्था में मुख्य दोष थे।

3. आर्थर यंग कौन था?

उत्तर: आर्थर यंग (1740-1820 ई०) इंग्लैण्ड का एक विख्यात प्रचारक था जिसने कृषि व्यवस्था को नवीन एवं सर्वात्तम ढंगों का प्रचार किया। उसे नवीन कृषि का पैगम्बर माना जाता है।

4. कृषि क्रान्ति के लिये जिम्मेंदार कई दो कारण बताओं।

उत्तर: यूरोपीय देशों की जनसंख्या में वृद्धि, अनाज तथा अन्य खाद्य-वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि-कृषि क्रान्ति के लिये जिम्मेंदार दो कारण थे।

5. कृषि क्रान्ति का प्रारम्भ सबसे पहले कहां तथा कब हुआ?

उत्तर: कृषि क्रान्ति का प्रारम्भ सर्वप्रथम इंग्लैंड में 1700 ई० के लगभग हुआ तथा इसके विकास की प्रक्रिया 18 वीं शताब्दी तक चलती रही।

6. भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ाने के लिये जड़ वाली फसलों की काश्त करने का विचार किसने, कब तथा किस पुस्तक में किया।

उत्तरः भूमि की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने के लिये जड़ वाली फसलों की काश्त का विचार राबर्ट वेस्टर्न (Robert Wesatern) ने 1645 ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Discourse on Husbandry' में प्रस्तुत किया।

7. ड्रिल नामक मशीन का अविष्कार कब तथा किसने किया? उसका सम्बनध किस दकश से था?

उत्तरः ड्रिल नामक मशीन का अविष्कार 1701 ई० में इंग्लैण्ड के बर्कशायर निवासी 'जेथ्रो टुल' ने किया।.

8. जेथ्रो टुल की कृषि क्रान्ति को क्या देन है?

उत्तरः जेथ्रो टुल ने ड्रिल नामक मशीन का आविष्कार किया जो नालियां बनाती थी, बीज बोती थी, और बीजों को उचित ढ़ंग से मिट्टी से ढांपती थी। इससे समय तथा परिश्रम की काफी बचत हुई।

9. बदल-बदल कर फसलें उगाने की विधि का विचार किसने दिया? उसका सम्बन्ध किस देश से था?

उत्तरः बदल-बदल कर फसलें उगाने की विधि का विचार चार्ल्स विस्काऊंट टाऊनशैंड नामक अंग्रेज़ जमींदार ने प्रस्तुत किया।

10. टाऊनशैंड को 'टर्निप टाऊनशैंड (Turnip Tonwnshend) क्यों कहा जाता है?

उत्तरः टाऊनशैंड ने शलगम (Turnip) की फसल की उपयोगिता पर उत्साह पूर्वक बल दिया जिसके कारण उसे लोग टर्निप टाऊनशैंड' कहने लगे।

11. पशुओं की नस्ल सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम बताओ।

उत्तरः पशुओं की नस्ल सुधारने में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाले दो प्रसिद्ध थेः राबर्ट बेकवैल तथा चार्ल्स कोलिंग।

12. किस देश के कौन से सम्राट् ने कृषि ने नवीन ढंगों में विशेष रुचि दिखाई तथा वह कैसा राजा कहलाने में गर्व अनुभव करता था?

उत्तरः इंग्लैण्ड का सम्राट् जार्ज तृतीय 1760-1820 ने कृषि के नवीन ढंगो में विशेष रुचि दिखाई। वह 'कृषक राजा' कहलाने में गर्व अनुभव करता था।

13. इंग्लैण्ड के किन्हीं दो ज़मीदारों के नाम बताओं जिन्होंने बड़े-बड़े आदर्श फार्म (Model Farms) स्थापित करके उन पर नवीन ढंगों से कृषि करके कृषि क्रान्ति के लिये कृषको का पथ प्रदर्शन किया?

उत्तरः इंग्लैण्ड कोक ऑफ होल्कहम तथा डयूक ऑफ बेडफोर्ड दो प्रसि; जमींदार थे जिन्होंने आदर्श फार्म स्थापित करके कृषकों का पथ-प्रदर्शन किया।

14. कृषि क्रान्ति के कोई चार प्रभाव बताओ।

उत्तरः उत्पादन में वृद्धि, भूमि की मांग एवं मूल्य में वृद्धि किसानों की अवस्था में सुधार तथा कृषि में पूंजीवादी व्यवस्था का प्रचलन कृषि क्रान्ति के चार मुख्य प्रभाव थे।

15. कृषि क्रान्ति के दो बुरे प्रभाव बताओं।

उत्तरः बेरोजगारी एवं निर्धनता तथा इंग्लैण्ड में चोटी किसानों श्रेणी का अन्त-कृषि क्रान्ति के दो मुख्य बुरे प्रभाव थे।

(ख) बहुविकल्पय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. कृषि क्रान्ति शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया?

(i) आर्थर यंग; (ii) कार्ल मार्क्स;

(iii) राबर्ट बेस्टर्न; (iv) जार्ज तृतीय। (ii)

2. दास कैपीटल नामक प्रसिद्ध पुस्तक का लेखक कौन था?

(i) आर्थर यंग; (ii) एडम स्मिथ;

(iii) राबर्ट बेस्टर्न; (iv) कार्ल मार्क्स। (iv)

3. कृषि क्रान्ति सर्वप्रथम किस देश में आई?

(i) फ्रांस; (ii) स्पेन;

(iii) इंग्लैण्ड; (iv) चीन। (iii)

4. बदल-बदल फसलें उगाने की विधि का विचार किसने प्रस्तुत किया?

(i) आर्थर यंग; (ii) टाऊशैंड;

(iii) चार्ल्स; (iv) राबर्ट बैक्बैल। (ii)

5. इंग्लैंड का कौन सा सम्राट् कृषि के नवीन ढंगों मो विशेष रुचि के कारण 'कृषक राजा' (Farmer King) कहलाने में गर्व अनुभव करता था?

(i) जार्ज तृतीय; (ii) हेन्री अष्टम;

(iii) चार्ल्स प्रथम; (iv) जेम्ज़ दितीय। (i)

6. पशुओं की नस्ल सुधारने में महत्त्वपूण योगदान दिया?

(i) आर्थर यंग ने; (ii) राबर्ट बेकबैल;

(iii) जेर्थो टुल ने; (iv) डयूक ऑ बैड फोर्ड। (ii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

(क)	(ख)
राबर्ट बेस्टर्न;	'The Horse Hoeing Husbandry';
कार्ल मार्क्स;	'Discourse on Husbandry';
आर्थर यंग;	'Das Capital';
जेर्थो टुल।	'Annals of Agriculture.'

उत्तर:

(क)	(ख)
राबर्ट बेस्टर्न;	'Discourse on Husbandry';

	कार्ल मार्क्स;	'Das Capital';
	आर्थर यंग;	'Annals of Agriculture.'
	जेथ्रो टुल।	'The Horse Hoeing Husbandry';
2.	(क)	(ख)
	नई जड़ वाली फसलों की काश्त कि विधि;	आर्थर यंग;
	ड्रिल नामक मशीन का आविष्कार;	विस्काऊंट टाऊंनशैड;
	बदल-बदल कर फसले उगाने का प्रयोग;	जेथो टुल;
	खेतों की बाड़ बन्दी;	हाल्कहम;
	आदर्श फार्मों की स्थापना।	राबर्ट वेस्टर्न
उत्तरः	(क)	(ख)
	नई जड़ वाली फसलों की काश्त कि विधि;	राबर्ट वेस्टर्न
	ड्रिल नामक मशीन का आविष्कार;	जेथो टुल;
	बदल-बदल रकर फसले उगाने का प्रयोग;	टाऊनशैंड;
	खेतों की बाड़ बन्दी;	आर्थर यंग;
	आदर्श फार्मा की स्थापना।	होल्कहम;
3.	(क)	(ख)
	ड्रिल नामक मशीन का आविष्कार हुआ;	1645 ई०;
	यूरोपीय महाद्वीप की जनसंखया 140 मिलियन थी;	1850 ई०;
	कावूर पीड़मण्ड का कृषि मन्त्री बना;	1750 ई०;
	फ्रांस में सम्रान्तों के विशेष अधिकारों की समाप्ति;	1701 ई०;
	राबर्ट वेस्टर्न की पुस्तक (Discourse on Husbandry) प्रकाशित हुई।	1789 ई०;
उत्तरः	(क)	(ख)
	ड्रिल नामक मशीन का आविष्कार हुआ;	1701 ई०;
	यूरोपीय महाद्वीप की जनसंखया 140 मिलियन थी;	1750 ई०;
	कावूर पीड़मण्ड का कृषि मन्त्री बना;	1850 ई०;
	फ्रांस में सम्रान्तों के विशेष अधिकारों की समाप्ति;	1789 ई०;
	राबर्ट वेस्टर्न की पुस्तक (Discourse on Husbandry) प्रकाशित हुई।	1645 ई०;

औद्योगिक क्रान्ति

1. इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में हुए औद्योगिक परिवर्तनों के लिये 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस प्रसिद्ध इतिहासकार ने कब तथा कहां किया?

उत्तर: इंग्लैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में हुए औद्योगिक परिवर्तनों के लिये 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम प्रसिद्ध इतिहासकार आर्नोल्ड टायनवी ने 1884 ई० में प्रकाशित हुई अपनी पुस्तक 'The Industrial Revolution' में किया।

2. 'औद्योगिक क्रान्ति' का जन्म सबसे पहले किस देश में हुआ?

उत्तर: औद्योगिक क्रान्ति का जन्म सबसे पहले इंग्लैण्ड में हुआ।

3. औद्योगिक क्रान्ति के सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में आने के मुख्य कारण क्या थे?

उत्तर: इंग्लैण्ड में राजनैतिक स्थिरता, विज्ञान की प्रगति, कोयले तथा लोहे की अधिक मात्रा, कृषि के ढंगों में विकास आदि उस देश में क्रान्ति लाने वाले मुख्य कारण थे।

4. औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ किस उद्योग में आए परिवर्तनों से हुआ?

उत्तर: औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ कपड़े के उद्योग में नई मशीनों के आविष्कार से हुए परिवर्तनों से हुआ।

5. बुनाई की मशीन (Spining Jenny) का आविष्कार किसने तथा कब किया?

उत्तर: बुनाई की मशीन (Spining Jenny) का आविष्कार जेम्ज हारग्रीवज नामक व्यक्ति ने 1767 ई० में इंग्लैण्ड में किया।

6. फ्लाइंग शट्ल तथा पावर लूम नामक मशीनों का आविष्कार किस-किस ने किया?

उत्तर: फ्लाइंग शट्ल का आविष्कार जॉन केय तथा पावर लूम का आविष्कार कार्टराईट ने किया था।

7. भाप से चलने वाले इंजन बनाने वाले दो वैज्ञानिक कौन थे?

उत्तर: भाप से चलने वाले प्रथम इंजन न्यू० कामन ने बनाया जिसे जेम्स वाट ने सुधार कर अधिक व्यापारिक तथा उपयोगी बना दिया।

8. इंग्लैण्ड में छोटे-छोटे पत्थरों का प्रयोग करके नये ढंग से सड़कें बनाने का श्रेय किन इन्जीनियरों को जाता है?

उत्तर: इंग्लैण्ड में छोटे-छोटे पत्थरों का प्रयोग करके नये ढंग की सड़कें बनाने का श्रेय मकैडम, टैलफोर्ड तथा मैंटकाफ इत्यादि इन्जीनियरों को कहा जाता है।

9. सेफ्टी लैम्प का आविष्कार किसने तथा कब किया था?

उत्तर: सेफ्टी लैम्प का आविष्कार हैम्फरी डेवी ने 1815 ई० में किया।

10. दूरभाष तथा बेतार के आविष्कार किस ने किये?

उत्तर: दूरभाश तथा बेतार का आविष्कार क्रमशः बैल तथा मारकोनी ने किया।

11. जार्ज स्टीफनसन का नाम किस आविष्कार के लिए प्रसिद्ध है?

उत्तर: जार्ज स्टीफनसन का नाम रेल इंजन के आविष्कार के लिए प्रसिद्ध है।

12. औद्योगिक क्रान्ति यूरोप के किस यूरोपीय देश में सबसे अन्त में आई?

उत्तर: औद्योगिक क्रान्ति रूस में अन्य यूरोपीय देशों से बाद में आई।

13. औद्योगिक क्रान्ति से आर्थिक जीवन में आने वाली दो समस्याओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर: औद्योगिक क्रान्ति से आर्थिक जीवन में आने वाली दो समसयाएं थीं--छोटे उद्योगों का अन्त तथा बेकारी।

14. औद्योगिक क्रान्ति ने समाज को किन दो वर्गों में बांट दिया?

उत्तरः औद्योगिक क्रान्ति ने समाज को पूंजीपति तथा मजदूर वर्ग में बांट दिया।

15. औद्योगि क्रान्ति के सामाजिक जीवन पर पड़े दो प्रभाव बताओ।

उत्तरः मजदूर वर्ग की दुर्दशा तथा स्त्रियों एवं बच्चों का शोषण, औद्योगिक क्रान्ति के सामाजिक जीवन पर दो बुरे प्रभाव थे।

16. औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक जीवन पर दो अच्छे प्रभाव क्या थे?

उत्तरः जीवन का स्तर ऊंचा होना तथा व्यापार एवं कृषि में विकास—औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक जीवन पर दो अच्छे प्रभाव थे।

17. 1800 ई० से 1900 ई० के दौरान यूरोपीय महाद्वीप की जनसंख्या में कितनी वृद्धि हुई?

उत्तरः 1800 ई० में यूरोपीय महाद्वीप की जनसंख्या में 187 मिलियन थी जो 1900 ई० में बढ़ कर 600 मिलियन हो गई।

18. औद्यागिक क्रान्ति के परिणामों से प्रभावित हुए चार प्रसिद्ध साहित्यकारों के नाम बताओ।

उत्तरः *औद्योगिक क्रान्ति के परिणामों से प्रभावित चार प्रसिद्ध साहित्यकारों के नाम हैं—लार्ड बायरन, ओलीवर गोल्डस्मिथ,* चार्ल्स डिक्त्रज, तथा थैकरे।

19. औद्योगिक क्रान्ति के लोगों के दृष्टिकोण पर पड़े दो प्रभाव बताओ।

उत्तरः अन्ध-विश्वासों तथा भ्रमों का अन्त तथा लोगों का भौतिकवादी होना—औद्योगिक क्रान्ति के लोगों के दृष्टिकोण पर पड़े दो प्रभाव थे।

20. मजदूर वर्ग को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए समाजवाद के चार प्रसिद्ध प्रचारकों के नाम बताओ।

उत्तरः मजदूर वर्ग को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए समाजवाद के चार प्रसिद्ध प्रचारक थे—राबर्ट ओवन, लुई ब्लांक, सेंट साइमन तथा कार्ल मार्क्स।

21. औद्योगिक क्रान्ति ने समाजवाद के स्वरूप में क्या तबदीली की?

उत्तरः औद्योगिक क्रान्ति ने समाजवाद को आर्थिक साम्राज्यवाद का रूप प्रदान किया तथा इसका क्षेत्र अधिक विशाल क़र दिया।

22. औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उभरी 20वीं शताब्दी में संसार की प्रसिद्ध साम्राज्यवादी शक्तियों के नाम बताओ।

उत्तरः औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप उभरी 20वीं शताब्दी में संसार की प्रसिद्ध साम्राज्यवादी शक्तियां थीं—बर्तानिया, फ्रांस, जर्मनी, यू०एस०ए० तथा जापान।

(ख) बहुविकल्पय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. 'औद्योगिक क्रान्ति' शब्द का प्रयोग सबसे पहले किस ने किया।

(i) जार्ज स्टीफनसन; (ii) जेम्ज वॉट;

(iii) अब्राहम डर्बी; (iv) आर्नोल्ड टायनबी। (iv)

2. औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम किस देश में आई?

(i) फ्रांस; (ii) अमेरिका;

(iii) इंग्लैण्ड; (iv) बेल्जियम। (iii)

3. यूरोप के किस देश को उसकी उच्च कोटि की जल सेना (Navy) होने के कारण 'समुद्रों की मलिका' (The Mistresas of the Seas) कहा जाता था?

(i) जर्मनी; (ii) इंग्लैण्ड;

(iii) फ्रांस; (iv) रूस। (ii)

4. औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम किस उद्योग से आरम्भ हुई?

(i) कपड़े का उद्योग; (ii) लोहे तथा कोयले का उद्योग;

(iii) चमड़े का उद्योग; (iv) चीनी का उद्योग। (i)

5. पावर लूम नामक कपड़ा बनाने की मशीन ईजाद की?

(i) जेम्ज हारग्रीवज; (ii) जार्ज स्टीफनसन;

(iii) कार्टराईट; (iv) जेम्ज वॉट। (iii)

6. हैम्फरी हैवी (Humphry Heavy) द्वारा सेफरी लैम्प का आविष्कार कब किया गया?

(i) 1709 ई०; (ii) 1760 ई०

(iii) 1854 ई०; (iv) 1815 ई०। (ii)

7. भाप इंजन सबसे पहले किसने तैयार किया?

(i) जेम्ज वाट; (ii) हेनी कोर्ट;

(iii) न्यू कॉमन; (iv) अब्राहम डर्बी। (ii)

8. इंग्लैण्ड के पश्चात् औद्योगिक क्रान्ति का प्रसार किस देश में हुआ?

(i) फ्रांस; (ii) बेल्जियम;

(iii) हालैंड; (iv) पुर्तगाल। (ii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

(क)	(ख)
वाटर फ्रेम;	हम्फरी डेवी;
म्यूल;	आर्कराईट;
कॉटन जिन;	कार्टराईट;
पावर लूम;	क्राम्पटन;
सेफी लैम्प।	ब्रिटने।

उत्तर :

(क)	(ख)
वाटर फ्रेम;	आर्कराईट;
म्यूल;	क्राम्पटन;
कॉटन जिन;	ब्रिटने;
पावर लूम;	कार्टराईट;

	सेफी लैम्प।	हम्फरी डेवी।
2.	(क)	(ख)
	रेल इंजन;	1837 ई०;
	दूरभाष;	1814 ई०;
	तार;	1876 ई०;
	सेफ्टी लैम्प;	1793 ई०;
	कॉटन जिन।	1815 ई०;
उत्तरः	(क)	(ख)
	रेल इंजन;	1814 ई०;
	दूरभाष;	1876 ई०;
	तार;	1837 ई०;
	सेफ्टी लैम्प;	1815 ई०;
	कॉटन जिन।	1793 ई०;
3.	(क)	(ख)
	आर्नोल्ड टायनबी;	'The Age of Bronze',
	ओलिवर गोल्डस्मिथ;	'Yeast',
	बायरन;	'The Desaerted Village',
	चार्ल्स किन्गजले;	'The Industrial Revolution'.
उत्तरः	(क)	(ख)
	आर्नोल्ड टायनबी;	'The Industrial Revolution',
	ओलिवर गोल्डस्मिथ;	'The Desaerted Village',
	बायरन;	'The Age of Bronze',
	चार्ल्स किन्गजले;	'Yeast'.

गौरव पूर्ण क्रान्ति

(1) गौरव पूर्ण क्रान्ति कब हुई ?

उत्तर : 1688 ई. में

(2) चार्लस प्रथम को मृत्यु दण्ड कब दिया ?

उत्तर : 1649 ई. में

(3) इंग्लैण्ड में खुली अदालतों की स्थापना किसने की ?

उत्तर : जेम्स द्वितीय ने

(4) गौरव पूर्ण क्रान्ति में संघर्ष किस के बीच था ?

उत्तर : स्टुअर्ट राजाओं और पार्लियामेन्ट के बीच

(5) गौरमयी क्रान्ति में किस को गद्दी छोउ़नी पड़ी ?

उत्तर : जेम्स द्वितीय को

(6) जेम्स द्वितीय भाग कर कहाँ गया ?

उत्तर : फ्रांस

(7) गौरव पूर्ण क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड के सिंहासन पर कौन बैठा ?

उत्तर : विलियम और मेरी

(8) गौरव पूर्ण क्रान्ति के बाद कौन सा बिल पास हुआ ?

उत्तर : बिल आफ राईट

अमेरिका की क्रान्ति 1776

(1) अमेरिका की स्थापना के समय उसमें कितने राज्य थे ?

उत्तर : 13 राज्द

(2) सप्त वर्षीय युद्ध का समय क्या था ?

उत्तर : 1756 से 1763 ई.

(3) अंग्रेज़ों की सबसे पहली अमेरिकी बस्ती का क्या नाम था ?

उत्तर : न्यू इंग्लैण्ड

(4) चाप अधिनियम कब पास हुए ?

उत्तर : 1767 और 1773 ई. में

(5) बीस्टन टी पार्टी का नेतृत्व किसने किया ?

उत्तर : सैमूअल एडम्स ने

(6) फिलडेलफिया सम्मेंलन कब हुआ ?

उत्तर : 1774 ई. में

(7) फिलडेलफिया सम्मेंलन में कितने राज्यों ने भाग लिया ?

उत्तर : 12 राज्यों ने

(8) ''साधारण तर्क बुद्धी'' का लेखक कौन था ?

उत्तर : पेन

(9) अमेरिका स्वतन्त्रता संग्राम किस के नेतृत्व में लड़ा गया ?

उत्तर : जार्ज वाशिंगटन

(10) फिलउेलफिया के दूसरे सम्मेंलन की अध्यक्षता किसने की ?

उत्तर : हैन काक ने

(11) स्वतन्त्रता का घोषणा पत्र किसने तैयार किया ?

उत्तर : थोम्स जैफरसन और बनजामिन फ्रेकलिन ने

(12) अमेरिकी स्वतन्त्रता संग्राम के समय इंग्लैण्ड का प्रधान मन्त्री कौन था ?

उत्तर : लार्ड नार्थ

(13) पेरिस की सन्धि कब हुई ?

उत्तर : 1783 ई. में

फ्रांसीसी क्रान्ति की उत्पत्ति

1. 1789 ई० की क्रान्ति के समय फ्रांस के किस वंश का कौन सा सम्राट राज्य करता था?

उत्तरः 1789 ई० की क्रान्ति के समय फ्रांस पर बूर्बों वंश का लुई सोलहवां राज्य करता था।

2. लुई सोलहवां फ्रांस का सम्राट कब बना? उसकी मृत्यु कब हुई?

उत्तरः लुई सोलहवां 1774 ई० में फ्रांस का सम्राट बना। उसकी मृत्यु 1793 ई० में हुई।

3. लुई सोलहवें की पत्नी का क्या नाम था? उसकी मृत्यु कब हुई?

उत्तरः लुई सोलहवें की पत्नी का नाम मेंरी एन्तोयनेत था। उसकी मृत्यु 1793 ई० में हुई।

4. मेंरी एन्तोयनेत किस देश की राजकुमारी थी? उसकी फिजूल-खर्ची के कारण फ्रांस के लोगों ने उसकी चिढ़ क्या रखी थी?

उत्तरः मेंरी एन्तोयनेत आस्ट्रिया की महारानी मेंरिया थेरिसा की पुत्री थी। उसकी फिजूल-खर्ची के कारण फ्रांस के लोगों ने उसकी चिढ़ श्रीमति घाटा (Madam Deficit) रख दी थी।

5. फ्रांसीसी क्रान्ति से सम्बन्धित किन्हीं तीन दार्शनिकों एवं विद्वानों के नाम बताओ।

उत्तरः रूसो, वॉल्तेयर तथा मांतेस्क्यू फ्रांसीसी क्रान्ति से सम्बन्धित तीन प्रसिद्ध दार्शनिक थे।

6. बूर्बों वंश के तीन प्रसिद्ध सम्राटों के नाम बताओ।

उत्तरः लुई चौदहवां (1643-1915 ई०), लुई पन्द्रहवां (1815-1774 ई०), तथा लुई सोलहवां (1774-1793 ई०), बूर्बों वंश के तीन प्रसिद्ध सम्राट थे।

7. 'स्पिरिट ऑफ-दि लाज' नामक पुस्तक का लेखक कौन था?

उत्तरः स्पिरिट ऑफ-दि लाज नामक पुस्तक का लेखक फ्रांसीसी विद्वान् मांतेस्क्यू था।

8. फ्रांसीसी विद्वान रूसो की दो प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम बताओ।

उत्तरः 'सोशल कान्ट्रैक्ट' तथा कान्फैशनज अथवा आत्मकथा, फ्रांसीसी विद्वान् रूसो की दो प्रसिद्ध पुस्तकें थीं।

9. "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" ये प्रसिद्ध शब्द किस विद्वान् की किस पुस्तक से हैं?

उत्तरः ये प्रसिद्ध शब्द प्रसिद्ध विद्वान् रूसो की पुस्तक 'सोशल कान्ट्रैक्ट' में से है।

10. बास्तील के पतन की घटना कब हुई?

उत्तरः बास्तील के पतन की घटना 14 जुलाई, 1789 ई० को हुई।

11. लुई सोलहवें के समय के चार प्रसिद्ध वित्त-मन्त्रियों के नाम बताओ।

उत्तरः तुर्गो, नेकर, कैलोन तथा ब्राइन लुई सोलहवें के समय के चार वित्त-मन्त्री थे।

12. फ्रांस में लुई सोलहवें के समय स्टेट्स-जनरल का अधिवेशन कब हुआ?

उत्तरः फ्रांस में लुई सोलहवें के समय स्टेट्स जनरल का अधिवेशन 5 मई, 1789 ई० को बुलाया गया।

13. फ्रांस की राष्ट्रीय सभा का निर्माण कब हुआ? इस सभा की सरकार ने फ्रांस में कब तक शासन किया?

उत्तरः फ्रांस की राष्ट्रीय सभा का निर्माण 17 जून, 1789 ई० में हुआ। इस सभा की सरकार ने फ्रांस में 30 सितम्बर, 1791 ई० तक शासन किया।

14. फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस की शासन व्यवस्था के कोई दो दोष बताओ।

उत्तरः संविधान तथा प्रतिनिधि संस्था के अभाव तथा शाही दरबार की फिजूल खर्ची-फ्रांसीसी क्रान्ति के समय शासन व्यवस्था के दो मुख्य दोष थे।

15. क्रान्ति से पूर्व की फ्रांसीसी न्याय व्यवस्था के कोई दो दोष बताओ।

उत्तरः देश में एक प्रकार के कानून प्रचलित न होना तथा कठोर दण्ड-फ्रांसीसी न्याय व्यवस्था के दो मुख्य दोष थे।

16. फ्रांसीसी क्रान्ति के कोई चार आर्थिक कारण बताओ।

उत्तरः असंतोषजनक कृषि व्यवस्था, दोषपूर्ण गिल्ड प्रणाली, व्यापार पर अनुचित प्रतिबन्ध तथा निर्धनता एवं महंगाई—फ्रांसीसी के चार आर्थिक कारण थे।

17. फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस के धार्मिक जीवन के चार दोष क्या थे?

उत्तरः चर्च के लोगों के जीवन में अनुचित प्रभाव, पादरियों की चरित्रहीनता, धार्मिक असहनशीलता तथा धार्मिक प्रश्नों पर लड़ाई-झगड़े-फ्रांस के धार्मिक जीवन के चार मुख्य दोष थे।

18. फ्रांसीसी क्रान्ति लाने में कौन-सी मुख्य विदेशी घटनाओं ने सहायता की?

उत्तरः अमरिकी स्वतन्त्रता की लड़ाई तथा आयरलैंड का राष्ट्रीय आन्दोलन-दो मुख्य विदेशी घटनायें थीं जिन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति लाने में सहायता की।

19. 1789 ई० की फ्रांसीसी क्रान्ति फ्रांस में क्यों हुई? इसके कोई दो कारण बताओ।

उत्तरः फ्रांस के सम्राट की अयोग्यता तथा दुर्बलता तथा फ्रांसीसी लेखकों द्वारा विद्वानों का योगदान-दो कारण थे जिनके कारण यह क्रान्ति केवल फ्रांस में हुई।

20. फ्रांसीसी क्रान्ति के समय बूर्बों सम्राटों की राजधानी कहां स्थित थी?

उत्तरः फ्रांसीसी क्रान्ति के समय बूर्बों सम्राटों की राजधानी पेरिस से लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर वर्साय नामक स्थान पर स्थित थी।

21. 1789 ई० के समय बूर्बों सम्राट के शाही दरबार का वार्षिक व्यय लगभग कितना था?

उत्तरः 1789 ई० के समय बूर्बों सम्राट के शाही दरबार का वार्षिक व्यय लगभग 2 करोड़ डालर (16-17 करोड़ रुपये) था।

22. लुई चौहदवां किस मत का अनुयायी था? उस ने किस मत के लोगों पर अत्यधिक अत्याचार किये?

उत्तरः लुई चौदहवां कैथोलिक मत का कट्टर अनुयायी था। उसने प्रोटेस्टेंट मत के अनुयायियों पर अत्यधिक अत्याचार किए।

23. लुई पन्द्रहवां कब से कब तक फ्रांस का शासक रहा? वह अपना अधिकांश समय कैसे बिताता था?

उत्तर: लुई पन्द्रहवां 1715 ई० से 1774 ई० तक फ्रांस का सम्राट रहा। वह अपना अधिकांश समय शिकार एवं जुआ खेलने में नष्ट कर देता था।

24. फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस में प्रचलित न्याय व्यवस्था में मुख्य दोष क्या थे?

उत्तर: फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस में प्रचलित न्याय व्यवस्था में मुख्य दोष थेः देश में कानून एक समान नहीं थे, दण्ड बहुत कठोर थे, न्याय प्रबन्ध खर्चीला, जटिल तथा भ्रष्टाचारी था।

25. फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रांस के सैनिक प्रबन्ध से फ्रांस के सैनिक क्यों असंतुष्ट थे?

उत्तर: फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रांस के सैनिक प्रबन्ध से फ्रांसीसी सैनिकों की असंतुष्टता के मुख्य कारण थे सैनिकों के कम वेतन, उन्हें दिये जाने वाला घटिया भोजन तथा कठोर अनुशासन का पालन।

26. फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रांस के कुलीन कौन सी उपाधियां धारण करते थे?

उत्तर: फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रांस के कुलीन 'ड्यूक', 'मार्क्विस', 'काऊंट' तथा विस्काऊंट आदि की उपाधियां धारण करते थे।

27. फ्रांसीसी समाज में तीसरे वर्ग में सबसे महत्वपूर्ण श्रेणी कौन-सी थी? इसमें कौन-कौन से लोग शामिल थे?

उत्तर: फ्रांसीसी समाज में मध्य श्रेणी तीसरे वर्ग में सबसे महत्वपूर्ण श्रेणी थी। इस श्रेणी में व्यापारी, उद्योगपति, वकील, डॉक्टर, विद्वान, विचारक, पत्रकार तथा सरकारी कर्मचारी आदि शामिल थे।

28. फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व फ्रांस की धार्मिक व्यवस्था में मुख्य दोष क्या थे?

उत्तर: फ्रांसीसी चर्च की शक्ति एवं प्रबलता, पादरियों की चरित्रहीनता, चर्च का सम्राट से गठजोड़ तथा धार्मिक असहनशीलता आदि फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व फ्रांस की धार्मिक व्यवस्था के मुख्य दोष थे।

29. 'फ्रीमैंसनों' से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: मध्य काल में फ्रांस में मेंसनों अथवा मिस्त्रियों के संघ की उत्पत्ति हुई जो 'फ्रीमेंसन' कहलाने लगीं। यह लोग सभी धर्मों से सम्बन्ध रखते थे तथा विश्व भ्रातृत्व एवं समानता उनके प्रमुख सिद्धान्त थे।

30. फ्रांसीसी सेना को किन दो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने प्रभावित किया?

उत्तर: फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रभावित करने वाली दो अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें थीं—अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम तथा आयरलैंड का राष्ट्रीय आन्दोलन।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखें)

1. फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस का सम्राट कौन था?

(i) हैनरी IV; (ii) लुई XIV;

(iii) लुई XVI; (iv) नेपोलियन बोनापार्ट। (iii)

2. 1789 ई० की फ्रांसीसी क्रान्ति के समय फ्रांस की राजधानी कहां थी?

(i) पेरिस; (ii) वर्साय;

(iii) तूलों; (iv) सेंट क्लाऊड (ii)

3. फ्रांस के सम्राट लुई सोलहवें की पत्नी का क्या नाम था?

(i) मेंरी एन्तोयनेत; (ii) जोसफीन;

(iii) मादाम रोला; (iv) में लुयसे। (i)

4. लुई सोलहवें से विवाह से पूर्व मेंरी एन्तोयनेत किस दो की राजकुमारी थी

(i) रूस; (ii) प्रशियाः

(iii) स्पेनः (iv) आस्ट्रिया। (iv)

5. 'स्पिरिट ऑफ-दि लाज' (Spirit of the Laws) नाम पुस्तक का लेखक कौन था?

(i) वॉल्तेयरः (ii) रूसोः

(iii) मांतेस्क्यूः (iv) दिदरो। (iii)

6. "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है परन्तु प्रत्येक स्थान पर वह जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" यह शब्द किस फ्रांसीसी विद्वान के हैं?

(i) रूसोः (ii) नेकरः

(iii) क्वेस्नेः (iv) बाल्तेयर। (i)

7. फ्रांसीसी क्रान्ति का तात्कालिक कारण क्या था?

(i) बास्तील का पतनः (ii) आर्थिक संकटः

(iii) लुई सोलहवें की हत्याः (iv) आंतक शासन। (ii)

8. फ्रांसीसी कान्ति को लाने में किस विदेशी घटना ने प्रभावित किया?

(i) युनान का स्वतन्त्रता आन्दोलनः (ii) रूस की क्रान्तिः

(iii) अमेरिका का स्वततन्त्रता संग्रामः (iv) इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रान्ति। (iii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिएः

(क)	(ख)
'श्रीमति घाटा'	रूसोः
'पर्शियन लैटरस'	लुई चोदहवांः
'में ही शासन हूँ'	मेंरी एन्तोयनेतः
'सोशल कांट्रैक्ट'	कुलीनों की नई श्रेणीः
वस्त्र के कुलीन।	मांतेस्क्यू।

उत्तरः

(क)	(ख)
'श्रीमति घाटा'	मेंरी एन्तोयनेतः
'पर्शियन लैटरस;	मांतेस्क्यू;
'में ही शासन हूं ;	लुई चौदहवां;
सोशल कांट्रेक्ट ;	रूसो;
वस्त्र के कुलीन ।	कुलीनों की नई श्रेणी।

फ्रांसीसी क्रान्ति की प्रगति

(क) अति लघु-उत्तर प्रश्न

1. स्टेट्स जनरल की स्थापना कब तथा किस रूप में की गई थी ?

उत्तर: स्टेट्स जनरल की स्थापना 1.302 ई में एक अस्थायी प्रतिनिधि सभा के रूप में की गई थी।

2. 1789 ई में पूर्व स्टेट्स जनरल के स्वरूप के बारे में आप क्या जानते हैं?

उत्तर: 1789 ई से पुर्व स्टेट्स जनरल का स्वरूप सामन्तवादी सिद्धान्तों के अनुसार था। इसकी तीनों श्रेणियों (कुलीन, पादरी, जनसाधारण) के प्रतिनिधि अलग-अलग भवनों में बेठते थे और प्रत्येक श्रेणी एक इकाई के रूप में बांट देती थी।

3. स्टेट्स जनरल के सदस्यों का चुनाव किस व्यवस्था से किया गया?

उत्तर: स्टेट्स जनरल के सदस्यों में दोनों उच्च वर्गों के प्रतिनिधियों के लिये प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली तथा साधारण वर्ग के लिये अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली की व्यवस्था की गई।

4. 1789 ई में हुए चुनाव में स्टेट्स जनरल के कुल कितने सदस्य चुने गये? इन में प्रत्येक वर्ग के कुल कितने-कितने सदस्य थे?

उत्तर: 1789 ई में हुए चुनाव में स्टेट्स जनरल के कुल 1214 सदस्य चुने गये। इनमें 621 साधारण वर्ग 308 पादरी तथा 285 कुलीन वर्ग के प्रतिनिधि थे।

5. 'काहिये' (Cahiers) से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: काहिये से अभिप्राय उन सूचिपत्रों से है जिनमें फ्रांस के समूचे वर्गों के चुने हुए प्रतिनिधियों नें अपने कष्टों एवं सुझावों को लिखित रूप में प्रकट किया था।

6. स्टेट्स जनरल में साधारण वर्ग के दो प्रसिद्ध नेताओं के नाम बताओ।

उत्तर: स्टेट्स जनरल में साधारण वर्ग के दो प्रसिद्ध नेता थे बैली (Bailly) तथा ऐबे सियें।

7. राष्ट्रीय सभा की स्थापना कब की गई?

उत्तर: राष्ट्रीय सभा की स्थापना 17 जून, 1789 ई० को की गई।

8. बास्तील का पतन कब हुआ? उस समय बास्तील का गर्वनर कौन था?

उत्तर: बास्तील का पतन 14 जुलाई, 1789 ई में हुआ। उस समय द-लॉने वहां का गर्वनर था।

9. बास्तील के विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर: बास्तील पैरिस के पूर्व में स्थित एक पुराना दुर्ग था जिसका निर्माण 1383 ई में हुआ था। रिशेलयु (Richelieu) के समय से इसका प्रयोग बन्दियों के कारावास के रूप में किया जाता था।

10. 1789 ई की फ्रांसीसी क्रान्ति का आरम्भ कब तथा किस घटना से हुआ ?

उत्तर: 1789 ई की फ्रांसीसी क्रान्ति का आरम्भ 14 जुलाई, 1789 ई को बास्तील के पतन की घटना से हुआ।

11. बास्तील के पतन के फ्रांस पर पड़े कोई चार प्रभाव बताओ।

उत्तर: बास्तील के पतन के फ्रांस पर पड़े चार प्रभाव थे-राष्ट्रीय सभा की सर्वोच्चता स्थापित होना, राष्ट्रीय फौज का निर्माण, पैरिस का एक नई शक्ति के रूप में उत्थान तथा कुलीन वर्ग का देश त्याग।

12. राष्ट्रीय संविधान सभा (1789-1791) ई के सामाजिक क्षेत्र में किये गये दो महत्वपुर्ण कार्य बताइए।

उत्तर: सामन्त प्रणाली एवं दास प्रथा का अन्त तथा मनुष्य एवं नागरिक के अधिकारों की घोषणा, राष्ट्रीय संविधान सभा के सामाजिक क्षेत्र में किये गये दो महत्वपूर्ण कार्य थे।

13. राष्ट्रीय संविधान सभा द्वारा फ्रांस के धार्मिक जीवन में किये गये मुख्य सुधार क्या थे?

उत्तर: राष्ट्रीय संविधान सभा द्वारा फ्रांस के धार्मिक जीवन में किये गये मुख्य सुधार थे-चर्च का पुनर्गठन करना, पादरियों के लिये सिविल संविधान का निर्माण करना तथा धार्मिक सहनशीलता की नीति का पालन करना।

14. राष्ट्रीय संविधान सभा द्वारा आर्थिक क्षेत्र में किये गये कोई दो सुधारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर: अनुचित करों का अन्त करना तथा चर्च की सम्पत्ति का अन्त करना,राष्ट्रीय संविधान सभा द्वारा आर्थिक क्षेत्र में किये गये दो मुख्य सुधार थे।

15. राष्ट्रीय सभा द्वारा नये संविधान का निर्माण कब किया गया? इस की मुख्य विशेषता क्या थी?

उत्तर: राष्ट्रीय सभा द्वारा नया संविधान 3 सितम्बर, 1791 ई को बनाया गया। यह यूरापीय महाद्वीप का प्रथम लिखित संविधान था।

16. फ्रांस के 1791 ई के संविधान के अनुसार फ्रांस के नागरिकों को वोट का अधिकार दिया गया।

उत्तर: फ्रांस के 1791 ई के संविधान के अनुसार वोट का अधिकार फ्रांस के केवल सक्रिय (Active) नागरिकों को दिया गया जिन की आयु 25 वर्ष से अधिक थी तथा जो अपनी कम से कम तीन दिन की आय सरकार को कर के रूप में देते थे।

17. जून 1979 ई में फ्रांस के राज-परिवार के फ्रांस से भागने के असफल प्रयत्न के फ्रांस पर क्या प्रभाव पड़े?

उत्तर: राज-परिवार के फ्रांस से भागने के प्रयास से फ्रांसीसी राजतन्त्र के सम्मान को आघात पहुंचा तथा फ्रांस के लोगों को विश्वास हो गया कि राजा पूर्ण रूप से क्रान्ति विरोधी है।

18. फ्रांस में लैजिस्लेटिव असैंम्बली ने कितने वर्ष फ्रांस में शासन किया? उस समय के दो प्रसिद्ध राजनैतिक दलों के नाम बताओ।

उत्तर: लैजिस्लेटिव असैंम्बली ने फ्रांस में केवल एक वर्ष (1791-92 ई.) शासन किया। इसके काल के फ्रांस के दो प्रमुख दल थे। उन्हें जिरोदिस्त तथा जैकोबिन थे।

19. जिरोदिस्त दल के विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर: जिरादिस्त फ्रांस के प्रदेश जिरोद से सम्बन्धित थे। इस दल के सदस्य देश भक्त और भाषण कला में निपुण थे। उन्हें आदर्शवादी एवं सिद्धान्तवादी माना जाता था।

20. जैकोबिन दल की विचारधारा क्या थी?

उत्तर: जैकोबिन कट्टर गणतन्त्रवादी थे जो राजतन्त्र से किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं थे। वे फ्रांस में दृढ़ एवं कुशल सरकार की स्थापना करना चाहते थे।

21. मादाम रौला किस दल की प्रसिद्ध नेता थी?

उत्तर: मादाम रौला फ्रांस के जिरोदिस्त दल की प्रसिद्ध नेता थी।

22. जैकोबिन दल के चार प्रसिद्ध नेताओं के निाम बताओ।

उत्तर: मारा,दांतों, राँबस्पियर तथा सेंट जस्त जैकोबिन दल के चार प्रसिद्ध नेता थे।

23. लैजिस्लेटिव असैंम्बली तथा फ्रांस के राजा के बीच 1791 ई. में हुए मत-भेद के दो प्रमुख कारण क्या थे?

उत्तर: शपथ न लेने वाले पादरियों के विरूद्ध कानून तथा प्रवासियों के विरूद्ध आदेश को रद्द (veto) करना-दो मुख्य कारण थे जिस से राज तथा असैंम्बली के बीच मतभेद हुआ।

24. ब्रन्सविक घोषणा क्या थी तथा यह कब की गई?

उत्तर: प्रशिया के सेनापति ड्यूक ऑफ ब्रन्सविक ने 25 जुलाई 1792 ई. को एक घोषणा की कि यदि फ्रांस के राजा एवं रानी को हानि पहुचाई गई तो पैरिस की ईट से ईट बजा दी जाएगी।

25. सितम्बर हत्याकाण्ड से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: आस्ट्रिया तथा प्रशिया से पराजय ने पैरिस के लोगों को भयभीत कर दिया जिससे उन्होंने देश में आन्तरिक शत्रुओं की समाप्ति के लिये क्रान्ति विरोधियों की हत्या करनी आरम्भ कर दी। 2-6 सितम्बर, 1792 ई. के इस हत्याकाण्ड को 'सितम्बर हत्याकाण्ड' कहा जाता है।

26. सितम्बर हत्याकाण्ड कब हुआ तथा इसका नेता कौन था?

उत्तर: सितम्बर हत्याकाण्ड 2 से 6 सितम्बर, 1792 ई. के बीच हुआ। इसका मुख्य नेता पैरिस की कम्यून का प्रयास मारा (Marat) था

27. नैशनल कन्वेन्शन की स्थापना कब हुई? इसने फ्रांस में कब तक शासन किया?

उत्तर: नैशनल कन्वेन्शन की स्थापना 21 सितम्बर, 1792 ई. को हुई। इसने 23 सितम्बर, 1795 ई. तक फ्रांस में शासन किया।

28. नैशनल कन्वेन्शन की सरकार के सामने मुख्य समस्यायें क्या थी?

उत्तर: सिंहासन से वंचित बन्दी सम्राट के भाग्य का निर्णय करना, युद्ध में उलझे फ्रांस की रक्षा करना, देश में आन्तरिक शान्ति स्थापित करना तथा नया संविधान तैयार करना आदि नैशनल कन्वेन्शन के सामने मुख्य समस्यायें थीं।

29. लुई सोलहवें को मृत्यु दण्ड कब दिया गया?

उत्तर: लुई सोलहवें को 21 जनवरी, 1793 ई. को मृत्यु दण्ड दिया गया।

30. गिलोतीन से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: गिलोतीन एक मशीन थी जिस का प्रयोग किसी व्यक्ति मृत्यु दण्ड दिया जाता था। इस मशीन का नाम इसके आविष्कारक डॉ. गिलोतीन के नाम पर रखा गया था।

31. लुई सोलहवें की हत्या के दो महत्पुर्ण प्रभाव बताइए?

उत्तर: लुइ सोलहवें की हत्या के दो महत्वपूर्ण प्रभाव थेः इससे फ्रांस के अन्य यूरोपीय देशों से सम्बन्ध बिगड़ गये तथा इससे राजतन्त्रवादियों एवं क्रान्ति विरोधियों में निराशा छा गई क्योंकि उनका प्रधान संरक्षक जाता रहा।

32. इंग्लैण्ड ने फ्रांस के विरूद्ध प्रथम गुट का निर्माण कब किया? इस में कौन-कौन से देश शामिल थे?

उत्तर: इंग्लैंड ने 1 फरवरी, 1793 ई. को फ्रांस के विरूद्ध प्रथम गुट का निर्माण किया। इस में इंग्लैंड के अतिरिक्त आस्ट्रिया, प्रशिया, स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, नेपल्ज़ आदि (कुल 15 देश) शामिल थे।

33. कानों कौन था?

उत्तर: कानों नेशनल कन्वेन्शन के समय का प्रसिद्ध फ्रांसीसी सेनापति था जिसने फ्रांसीसी सेना का पुनर्गठन करके प्रथम गुट के देशों के विरूद्ध लड़ने के लिये तैयार किया।

34. नैशनल कन्वेन्शन के समय फ्रांस में क्या संविधान कब बनाया गया। इसमें किस प्रकार के विधान मण्डल की व्यवस्था की गई?

उत्तर: नैशनल कन्वेन्शन ने 1795 ई. में फ्रांस के लिये नया गणतन्त्रीय संविधान बनाया। इसमें दो सदनों वाले विधान मण्डल की व्यवस्था की गई।

35. 1795 ई. के गणतन्त्रीय संविधान के अनुसार वोट का अधिकार किन नागरिकों को दिया गया?

उत्तर: 1795 ई. के संविधान के अनुसार वोट के अधिकार उन नागरिकों को दिया गया जो अपील आय का कुछ भाग सरकार को कर के रूप में देते थे।

36. 1795 ई. के संविधान के अनुसार कार्यकारिणी शक्ति की क्या व्यवस्था की गई?

उत्तर: 1795 ई. के संविधान के अनुसार कार्यकारिणी शक्ति डायरेक्टरी नाम संस्था को सौंपी गई जिसमें पांच सदस्य रखे गये जिनका चुनाव मण्डल द्वारा किया जाना था।

37. आतंक शासन से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर: नैशनल कन्वेन्शन के 1793 ई से 1794 ई तक के शासन को 'आतंक शासन' (di) कहा जाता है जिसमें राष्ट्रीय [illegible] से निपटने के लिये अपनाई गई नीति को आतंकवाद से उपमा दी जाती है।

38. नैशनल कन्वेन्शन की सरकार को आतंक शासन स्थापित करने की आवश्यकता क्यों पड़ी?

उत्तर: फ्रांस पर हो रहे विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा तथा आन्तरिक गड़बड को समाप्त करने के लिये कन्वेन्शन की सरकार को आतंक शासन की आवश्यकता पड़ी।

39. 'संदेह कार कानून क्या था?

उत्तर: 'संदेह के कानून' के अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को देशद्रोही होने के संदेह के आधार पर गिरफ्तार करके क्रान्तिकारी न्यायालय के सम्मुख पेश किया जा सकता था।

40. पैरिस में गिलोतीन की प्रथम महत्वपूर्ण भेंट कौन थी?

उत्तर. पैरिस में गिलोतीन की प्रथम महत्वपूर्ण भेंट महारानी मेंरी एन्तोयनेत थी जिसे 16 अक्तूबर, 1793 ई को फांसी दी गई।

41. आतंक शासन का अन्त कब तक किस नेता की मृत्यु के साथ हुआ?

उत्तर: आतंक शासन का अन्त 28 जुलाई ई को रॉबस्पियर की मृत्यु के साथ हुआ।

42. 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति में ही क्यों हुई? इसके दो कारण बताओ।

उत्तर: फ्रांस के सम्राट् की अयोग्यता तथा निर्बलता तथा फ्रांसीसी लेखकों का प्रभाव दो कारण थे जिनके कारण क्रान्ति में हुई।

43. फ्रांसीसी क्रान्ति के फ्रांस पर कोई चार तात्कालिक प्रभाव बताओ।

उत्तर: फ्रांस में निरंकुश राज्य का अन्त, सामन्त प्रणाली की समाप्ति, नागरिको को मौलिक अधिकारो की प्राप्ति तथा संघ का पुनर्गठन-फ्रांसीसी क्रान्ति के चार तात्कालिक प्रभाव थे।

44. 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति के फ्रांस पर पड़े कोई दो बुरे प्रभाव बताओ।

उत्तर: फ्रांस में रक्त-पात तथा फ्रांस का विदेशी युद्धों में उलझाना-1789 ई. की क्रान्ति के फ्रांस पर उडे दो बुरे प्रभाव थे।

45. फ्रांसीसी क्रान्ति के इंग्लैंड पर पड़े दो तात्कालिक प्रभाव क्या थे?

उत्तर: इंग्लैंड की विग पार्टी में फूट तथा आयरलैंड के राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा- फ्रांसीसी क्रान्ति के इंग्लंड पर पड़े दो तात्यकालिक तीन प्रभाव थे।

46. फ्रांस की क्रान्ति के चार चिरस्थायी प्रभाव बताओ।

उत्तर: फ्रांस की क्रान्ति के चार महत्वपूर्ण चिरस्थायी प्रभाव थे-अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार ; प्रजातन्त्रीय विचारों का विकास तथा लोक कल्याण तथा समाजवाद।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखें)

1. स्टेट्स जनरल का उद्घाटन कब हुआ?
   (i) 14 जुलाई, 1789 ई.; (ii) 5 मई 1789 ई. (i)
   (iii) 20 मई, 1789 ई.; (iv) 20 जून 1789 ई.;
2. 1789 ई. में हुये चुनाव में स्टेट्स जनरल के कुल कितने सदस्य चुने गये थे?
   (i) 621; (ii) 308;
   (iii) 285; (iv) 1214। (iv)

3. बास्तील के पतन की घटना कब हुई?
(i) 14 जुलाई 1789 ई.; (ii) 5 मई 1789 ई.;
(iii) 23 जून 1789 ई.; (iv) 17 जूलाई 1789 ई.। (i)

4. बास्तील के पतन के समय वहां का गवर्नर कौन था?
(i) रिशेलियु; (ii) नेकर;
(iii) द-लाने; (iv) मिराबो। (ii)

5. बास्तील के पतन के पश्चात सम्राट लुई सोलहवें ने किसे राष्ट्रीय सेना का सेनापति स्वीकार किया?
(i) मिराबों; (ii) ब्राईन;
(iii) रिशेलियु; (iv) लाफ्रायते। (iv)

6. फ्रांस की राष्ट्रीय संविधान सभा का शासन काल बताओ।
(i) 1789-91 ई.; (ii) 1792-95 ई.;
(iii) 1793-94 ई; (iv) 1795-99 ई.। (i)

7. नैशनल असैम्बली की सरकार ने स्थानीय प्रशासन का पुनर्गठन करते समय फ्रांस को कितने प्रान्तों (Departments) में विभाजित किया?
(i) 80; (ii) 83;
(iii) 102; (iv) 105; (ii)

8. फ्रांस का प्रथम लिखित संविधान किस वर्ष में बना?
(i) 1795 ई.; (ii) 1792 ई.;
(iii) 1791 ई.; (iv) 1789 ई.।

9. 1791 ई. में पैरिस से भागने के पश्चात् शाही परिवार के सदस्यों को किस स्थान पर पकड़ा गया?
(i) सेंट क्लाइड; (ii) शालों;
(iii) मेंट्ज; (iv) वारेन्ज़। (iv)

10. रॉबस्पियर (Robesaiperre) फ्रांस के किस दल का नेता था?
(i) जैकोबिन; (ii) वामपन्थी;
(iii) जिटोदिस्त; (iv) फ्यूलैटस। (i)

11. 1792 ई. में हुए सितम्बर हत्याकाण्ड किस प्रसिद्ध व्यकित का नेतृत्व में हुआ?
(i) रॉबस्पियर; (ii) मारा;
(iii) मिराबों; (iv) लाफायते। (ii)

12. लुई सोलहवें की हत्या कब हुई?
(i) 14 जुलाई, 1789 ई.; (ii) 5 मई 1789 ई.;
(iii) 21 जनवरी, 1793 ई.; (iv) 30 दिसम्बर 1792 ई.। (iii)

13. फ्रांस के विरूद्ध बने प्रथम गुट किस वर्ष हुआ?
(i) 1792 ई.; (ii) 1793 ई.;
(iii) 1791 ई.; (iv) 1795 ई.। (ii)

14. नैशनल कन्वेन्शन के गणतन्त्रीय संविधान का निर्माण कब हुआ?
(i) 1792 ई.; (ii) 1791 ई.;
(iii) 1795 ई.; (iv) 1794 ई.। (iii)

14. आतंक शासन से सम्बन्धित किसी प्रसिद्ध नेता का नाम बताओ?
(i) मादाम रोलां; (ii) दातों;
(iii) लाफायते; (iv) मिराबो। (ii)

16. आतंक शासन का अन्त किस प्रसिद्ध नेता की मृत्यु के साथ हुआ?
(i) रॉबस्पियर; (ii) लुई सोइहवें;
(iii) कन्दोर्से; (iv) ब्रिसो। (i)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

क	ख
स्टेट्स जनरल का विधिवत् उद्घाटन;	30 सितम्बर, 1791 ई.;
टेनिस कोर्ट की सौगन्ध;	14 जुलाई,1789 ई.;
बास्तील का पतन;	5 मई, 1789 ई.;
फ्रांस में सामन्त एवं दास प्रथा का अन्त;	20 जून, 1789 ई.;
राष्ट्रीय संविधान सभा का अन्त;	4 अगस्त, 1789 ई.;।

उत्तर:

क	ख
स्टेट्स जनरल का विधिवत् उद्घाटन;	5 मई, 1789 ई.;
टेनिस कोर्ट की सौगन्ध;	20 जून, 1789 ई.;
बास्तील का पतन;	14 जुलाई,1789 ई.;
फ्रांस में सामन्त एवं दास प्रथा का अन्त;	4 अगस्त, 1789 ई.;
राष्ट्रीय संविधान सभा का अन्त;	30 सितम्बर, 1791 ई.।

2.

क	ख
21 सितम्बर, 1792 ई.;	नैशनल कन्वेशन का अन्त;
21 जनवरी, 1793 ई.;	मेंरी एन्तोयनेत को फ्रांस;
28 जुलाई, 1794 ई.;	नैशनल कन्वेशन की प्रथम बैठक;
16 अक्तूबर, 1793 ई.;	लुई सोलहवें की हत्या;
26 अक्टूबर, 1795 ई.;	रॉबस्पियर की मृत्यु।

उत्तर:

क	ख
21 सितम्बर, 1792 ई.;	नैशनल कन्वेशन की प्रथम बैठक;
21 जनवरी, 1793 ई.;	लुई सोलहवें की हत्या;
28 जुलाई, 1794 ई.;	रॉबस्पियर की मृत्यु।
16 अक्तूबर, 1793 ई.;	मेंरी एन्तोयनेत को फ्रांस;
26 अक्तूबर, 1795 ई.;	नैशनल कन्वेन्शन का अन्त।

एशिया व अफ्रीका में साम्राज्यवाद

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. नवीन साम्राज्यवाद के यूरापीय देशों में उत्थान के मुख्य दो कारण बताओ।

उत्तर: यूरोपीय देशों में औद्योगिक परिवर्तन, अतिरिक्त धन की लागत सम्बन्धी समस्या, जनसंख्या में वृद्धि तथा यातायात एवं संचार के वैज्ञानिक साधनों का विकास इत्यादि नवीन साम्राज्यवाद के मुख्य कारण थे।

2. ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उत्थान तथा विकास में महत्वपूर्ण योगदान डालने वाले किन्हीं चार प्रसिद्ध अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों के नाम बताओ।

उत्तर: लार्ड चम्बरलेन, रोजबरी, रहोड्स तथा क्रोमर, इंग्लैण्ड के चार प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उत्थान एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

3. नवीन साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित करने वाले यूरोपीय देशों के प्रसिद्ध सम्राट् कौन थे?

उत्तर: नवीन साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित करने वाले यूरोपीय देशों के प्रसिद्ध सम्राट् थे-जर्मनी का सम्राट् विलीयम द्वितीय तथा बेल्जियम का शासक लियोपोल्ड द्वितीय।

4. 19वीं शताब्दी में पश्चिमी (युरोप) देशों के किन चार क्षेत्रों में आधुनिकीकरण हो गया था जिसके कारण वे पूर्वी देशों से बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये थे?

उत्तर: 19वीं शताब्दी में पश्चिामी देशों का औद्योगिक, वैज्ञानिक, सैनिक तथा यातायात के साधनों के क्षेत्रों में आधुनिकीकरण हो गया जिसके कारण वे पूर्वी देशों से अधिक शक्तिशाली हो गये।

5. 19वीं शताब्दी से पूर्व अफ्रीका को अन्ध महाद्वीप क्यों कहा जाता था?

उत्तर: 19वीं शाताब्दी से पूर्व विश्व के अधिकार लोगों को अफ्रीका के महाद्वीप के बारे में बहुत कम जानकारी होने के कारण इसे अन्ध महाद्वीप कहा जाता है।

6. 19वीं शताब्दी के खोजकारों ने अफ्रीका की किन चार नदियों के मार्गों का पता लगाया?

उत्तर: 19वीं शताब्दी के खोजकारों ने अफ्रीका की नील, नाइजर, कांगो तथा ज़म्बेज़ी नाम चार नदियों के मार्गों का पता लगाया।

7. 19वीं शताब्दी के किन्हीं चार प्रसिद्ध खोजकारों के नाम बताओ जिन्होंने अफ्रीका के विभिन्न भागों की खोज की?

उत्तर: 19 वीं शताब्दी के चार प्रसिद्ध खोजकार जिन्होंने अफ्रीका के विभिन्न भागों की खोज की ,के नाम थे-ग्रान्ट, बेकर, लिविगस्टोन तथा स्टेनले।

8. अंतर्राष्ट्रीय अफ्रीका संघ की स्थापना कब हुई तथा इसका प्रधान कौन था?

उत्तर: अंतर्राष्ट्रीय अफ्रीका की स्थापना 1876 ई. में हुई तथा इसका प्रधान बेल्जियम का सम्राट् लियोपोल्ड द्वितीय था।

9. 'कागों स्वतन्त्र राज्य' कब अस्तित्व में आया तथा यह किस के दिमाग की उपज थी?

उत्तर: कागों स्वतन्त्र राज्य' 1879-80 ई. में अस्तित्व में आया तथा बेल्जियम के सम्राट् लियोपोल्ड द्वितीय के दिमाग की उपज थी।

10. पुर्तगाल के दो प्रसिद्ध अफ्रीकी उपनिवेशों के नाम बताओ?

उत्तर: अंगोला तथा मोज़म्बीक पुर्तगाल के अफ्रीका में दो प्रसिद्ध उपनिवेश थे।

11. फ्रांस में अल्जीरिया प्राप्त करने की कार्यवाही कब आरम्भ की तथा सारे अल्जीरिया पर उसका कब अधिकार हुआ?

उत्तर: फ्रांस ने अल्जीरिया प्राप्त करने की कार्यवाही 1830 ई. में आरम्भ की थी तथा सारे अल्जीरिया पर उसका 1882 ई. तक अधिकार हो गया।

12. फ्रांस ने ट्युनिस (Tunis)को कब तथा किस सन्धि द्वारा अपनी रक्षा में लिया? इसकी इटली पर क्या प्रतिक्रिया हुई?

उत्तर: फ्रांस ने ट्युनिस को 1881 ई. में बार्डो की सन्धि द्वारा अपनी रक्षा में ले लिया। इस पर इटली फ्रांस के विरूद्ध भड़क गया दोनों देशों के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये।

13. अफ्रीका में फ्रांस द्वारा प्राप्त किये गये चार उपनिवेशों के नाम बताओ।

उत्तर: ट्युनिस, अल्जीरिया, मरॉको तथा मेंडागास्कर, फ्रोस के अफ्रीका में चार प्रसिद्ध उपनिवेश थे।

14. एरीट्रीया तथा ट्रीपोली नामक अफ्रीकी उपनिवेशों पर किस देश का अधिकार था?

उत्तर: एरिट्रिया तथा ट्रीपीली नामक अफ्रीकी उपनिवेशों पर इटली का अधिकार था।

15. पश्चिमी अफ्रीका में जर्मनी द्वारा प्राप्त किये दो उपनिवेशों के नाम बताओ।

उत्तर: कैमरून तथा टागोलैंड जर्मनी द्वारा पश्चिमी अफ्रीका में प्राप्त किये गये दो उपनिवेश थे।

16. एबेसीनिया से इटली का युद्ध कब हुआ? इसमें कौन पराजित हुआ?

उत्तर: एबेसीनिया का इटली से युद्ध 1896 में हुआ। इस युद्ध में इटली की पराजय हुई।

17. मरॉको का प्रथम संकट कब तथा किन देशों में झगड़े के कारण हुआ?

उत्तर: मरॉको का प्रथम संकट 1905 ई. में जर्मनी तथा फ्रांस में झगड़े के कारण हुआ।

18. अफ्रीका के बंटवारे में सबसे अधिक भाग किस देश को प्राप्त हुआ?

उत्तर: अफ्रीका के बंटवारे में सबसे अधिक भाग इंग्लैंड को प्राप्त हुआ।

19. इंग्लैंड ने कब तथा राष्ट्रवादियों के किस नेता को पराजित करके मिस्त्र पर अधिकार किया?

उत्तर: इंग्लैड ने सितम्बर 1898 ई. में राष्ट्रवादियों के नेता अहमद अरबी को पराजित करके मिस्त्र पर अधिकार किया।

20. अफ्रीका में 1898 ई. में किस स्थान पर इंग्लैड तथा फ्रांस सेना आमने-सामने खड़ी हुई? दोनों सेनाओं के नेता कौन-कौन थे?

उत्तर: अफ्रीका में 1898 में फाशोडा के स्थान पर इंग्लैड तथा फ्रांस की सेनाओं का आमना सामना हुआ। फ्रांसीसी सेना का नेता मारचन्ड तथा अंग्रेजी सेना का नेता किचनर था।

21. इंग्लैंड के दक्षिणी अफ्रीका में चार उपनिवेशों के नाम बताओ।

उत्तर: दक्षिणी अफ्रीका में इंग्लैंड के चार उपनिवेश थे-केप कालोनी, नटाल, ट्रान्सवाल तथा रहोडेशिया।

22. 1899-1802 ई. के दौरान इंग्लैंड को दक्षिण-अफ्रीका में किस भयानक युद्ध में उलझना पड़ा?

उत्तर: 1899-1902 ई. के दौरान इंग्लैंड को दक्षिण अफ्रीका में बोअरनामक डच निवासीयों के विरूद्ध में उलझना पड़ा।

23. इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच मिस्त्र तथा मरॉको सम्बन्धी झगड़े का निपटारा किस समझौते द्वारा हुआ?

उत्तर: इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच मिस्त्र तथा मरॉको सम्बन्धी झगड़े का निपटारा 1904 ई. के इंग्लैंड तथा फ्रांस समझौते द्वारा हुआ।

24. 1894-95 ई. में हुए चीन-जापान युद्ध का मुख्य कारण क्या था? इस युद्ध में किस की पराजय हुई तथा यह युद्ध किस सन्धि से समाप्त हुआ?

उत्तर: 1894-95 ई. में हुए चीन-जापान युद्ध का मुख्य कारण कोरिया की समस्या थी। इस में चीन की पराजय हुई तथा यह शिमनोसकी की सन्धि से समाप्त हुआ।

25. बाक्सर विद्रोह कब हुआ? यह विद्रोह किस के विरूद्ध था?

उत्तर: बाक्सर विद्रोह 1899-1900 में हुआ। उत्तरी चीन के प्रदेशों में होने वाला यह विद्रोह विदेशीयों के विरूद्ध था।

26. इंग्लैंड-जापान गठ-बन्धन कब हुआ? उस समय जापान का प्रधान मन्त्री कौन था?

उत्तर: इंग्लैंड-जापान गठ-बन्धन 30 जनवरी, 1902 ई. को हुआ। उस समय जापान का प्रधान मन्त्री काऊंट कत्सुरा था।

27. अंग्रेजों को ट्रान्सवाल पर अधिकार करने के लिये किस के विरोध का सामना करना पडा? इन विरोधियों का नेतृत्व किसने किया?

उत्तर: अंग्रेजों को ट्रान्सवाल पर अधिकार करने के लिये वहां के बोअर (Boer) नामक डच निवासियों के विरोध का सामना करना पड़ा जिन का नेतृत्व क्रगर (Kruger) ने किया।

28. बोअरो को पराजित करने में किन दो अंग्रेज़ सेनापतियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई?

उत्तरः बोअरो को पराजित करने में प्रसिद्ध अंग्रेज़ सेनापति राबर्ट तथा किचनर ने महत्तवपूर्ण भूमिका निभाई।

29. रोडेश कौन था?

उत्तरः रोडेश इंग्लैंड का एक महान् साम्राज्यवादी था जो अफ्रीका में केप कालोनी से काहिरा तक अंग्रेज़ी साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। रोडेश के नाम पर ही दक्षिण अफ्रीका की रोडेशिया की बस्ती कायम की गई।

30. अफ्रीका के विभाजन के कोई दो महत्वपूर्ण प्रभाव बताइए।

उत्तरः अफ्रीका के विभाजन के फलस्वरूप इंग्लैंड और फ्रांस के सम्बन्ध लगभग 20 वर्षो (1882-1902) ई. तक तनावपूर्ण रहे। इस विभाजन का दूसरा प्रभाव मरॉको संकट का पैदा होना था जिससे जर्मनी तथा फ्रांस की शत्रुता और बढ़ गई।

31. एशिया में उपनिवेश स्थापित करने वाले चार प्रमुख यूरापीय देशों के नाम बताओं।

उत्तरः एशिया में उपनिवेश स्थापित करने वाले चार प्रमुख यूरोपीय देशों थे इंग्लैंड, फ्रांस, पुर्तगाल तथा हालैंड।

32. एशिया के कौन से दो देश थे जो यूरोपीय देशों के साम्राज्यवाद का शिकार होने से बच गये?

उत्तरः जापान तथा स्याम (थाईलैंड) एशिया के मात्र दो देश थे जो यूरोपीय देशों के साम्राज्यवाद का शिकार होने से बच गये।

33. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना कब तथा किस उद्देश्य से की गई थी?

उत्तरः ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना 1600 ई. में भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से की गई थी।

34. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में सर्वप्रथम किन प्रदेशों पर अधिकार किया।

उत्तरः ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में सर्वप्रथम बंगाल,बिहार तथा उड़ीसा के प्रदेशों पर अधिकार किया।

35. भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का संस्थापक किसे माना जाता है? उसने भारत पर कब से कब तक शासन किया?

उत्तरः भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक लार्ड कलाईव को माना जाता है। उसने 1757 ई. से 1760 ई. तथा 1765 ई. से 1776 ई. तक भारत में शासन किया।

36. अंग्रेज़ों ने बर्मा की प्राप्ति के लिये कितने युद्ध किये? यह युद्ध कब-कब हुए?

उत्तरः अंग्रेज़ों ने बर्मा की प्राप्ति के लिये तीन युद्ध किये। प्रथम युद्ध लार्ड एम्हर्स्ट के समय 1824-26 ई. में द्वितीय युद्ध लार्ड डलहौज़ी के समय 1851-52 में तथा तीसरा युद्ध लार्ड डफरिन के शासन काल में 1885 में हुआ।

37. ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति कब तथा किस घटना के पश्चात् हुई?

उत्तरः ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति 1857 ई. में भारत में हुए भयानक विद्रोह के पश्चात् 1858 ई में की गई।

38. इंग्लैंड ने लंका पर कब अधिकार किया तथा यह कब तक स्थापित रहा?

उत्तरः इंग्लैंड ने 1815 ई. में वियाना की सन्धि द्वारा लंका पर अधिकार किया जो 1948 ई. तक स्थापित रहा।

39. इंग्लैंड की एशिया की किस बस्ती को 'पूर्व का जिबराल्टर' (The Gibralter of the East) कहा जाता था तथा क्यों?

उत्तरः एशिया में इंग्लैंड की सिंगापुर की बस्ती को 'पूर्व का जिबराल्टर' कहा जाता था क्यों कि यह इंग्लैंड के लिए एक महत्वपूर्व नौ-सैनिक अड्डा था।

40. इंग्लैंड ने चीन से हांग-कांग कब तथा किस सन्धि के पश्चात् प्राप्त हुआ?

उत्तरः इंग्लैंड को चीन से हांग-कांग चीन से 1842 ई. में हुई नान्किग की सन्धि के अनुसार प्राप्त हुआ।

41. पुर्तगाल ने भारत में कौन-कौन से प्रदेश प्राप्त किये?

उत्तर: पुत्रगाल ने भारत में गोआ, दियु-दमन तथा दादरा-नागर हवेली आदि के प्रदेश प्राप्त किये थे।

42. पुर्तगाल में फ्रांस के मुख्य उपनिवेशों के नाम बताओ।

उत्तर: फ्रांस ने भारत में पांडिचरी (1674)ई. चन्द्र-नगर (1690-92) ई. ,मालाबार तट पर स्थित माही (1725)ई तथा कोरोमण्डल तट पर स्थित कारीकल (1739)ई. में अपने उपनिवेश स्थापित किये।

43. अफीम युद्ध से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: इंग्लैंड ने चीन के साथ अफीम का व्यापार बलपूर्वक स्थापित करने के उद्देश्य से चीन के विरूद्ध दो युद्ध किये जिन्हें अफीम युद्ध कहा जाता है।

44. चीन-जापान युद्ध कब हुआ तथा इसके पच्श्रात् कौन सी सन्धि की गई?

उत्तर: चीन-जापान युद्ध 1894-95 ई. में हुआ। इस युद्ध के पश्चात् 17 अप्रैल, 1895 ई. को शिमनोसकी की सन्धि की गई।

45. शिमनोसकी की सन्धि कब हुई? इस द्वारा जापान को चीन से कौन से प्रदेश प्राप्त हुए?

उत्तर: शिमनोसकी की सन्धि 17 अप्रैल, 1995 ई. को हुई। इस द्वारा जापान को चीन से Formosa, Pesacadoresa Island तथा Liaotung Peninsula के प्रदेश प्राप्त हुए।

46. चीन से सम्बन्धित 'खुले द्वार की नीति' से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: अमेरिका ने चीन में अपने व्यापारिक हित सुरक्षित रखने के लिये 'खुले द्वार की नीति 'अपनाई। इसके अनुसार चीन में यूरोपीय शक्तियों के विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में सभी देशों को समान व्यापारिक अधिकार दिये जाने थे।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखें)

1. साम्राज्यवाद के उत्थान में महत्तवपूर्ण योगदान देने वाले इंग्लैड के एक उत्साही समर्थक का नाम बताओ:

(i) चैम्बरलेन (ii) लियोपोल्ड द्वितिय;

(iii) विलियम द्वितीय; (iv) फेरी। (i)

2. साम्राज्यवाद के उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला सम्राट् लियोपोल्ड द्वितिय किस देश का शासक था?

(i) फ्रांस; (ii) बेल्जियम;

(iii) इंग्लैंड (iv) रूस। (ii)

3. साम्राज्यवाद का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखी गई प्रसिद्ध पुस्तक 'The Expansion of England' किसने लिखी।

(i) चार्ल्स डिलके; (ii) लिविगस्टोन;

(iii) जॉन सीले ; (iv) क्रोमर। (iii)

4. विश्व के किस महाद्विप को 'अन्ध कहाद्वीप' कहा जाता है?

(i) एशिया; (ii) दक्षिणी अमेरिका;

(iii) आस्ट्रेलिया ; (iv) अफ्रीका। (iv)

5. स्वेज नहर (Suez canal) यातायात के लिये किस वर्ष खोली गई?

(i) 1889 ई ; (ii) 1850.ई.;

(iii) 1815 ई ; (iv) 1876 ई । (i)

6. उत्तरी अफ्रीका की प्रसिद्ध बस्ती अल्जीरिया पर किस देश का अधिकार स्थापित था?

(i) इंग्लैंड; (ii) फ्रांस;

(iii) आस्ट्रेलिया; (iv) इटली। (ii)

7. अन्तर्राष्ट्रीय आफ्रीकी संघ की स्थापना कब की गई?

(i) 1884 ई ; (ii) 1850 ई ;

(iii) 1876 ई ; (iv) 1878 ई। (iii)

8. फ्रांस को ट्यूनिस की बस्ती पर अधिकार किस सन्धि से प्राप्त हुआ?

(i) बर्लिन की सन्धि; (ii) बार्डो की सन्धि;

(iii) अक्याना की सन्धि; (iv) वर्साय की सन्धि। (ii)

9. 1898 ई में इंग्लैंड तथा फ्रांस के बीच कौन सा भयानक संकट उत्पन्न हुआ?

(i) मारांको संकट; (ii) अगाधीर संकट;

(iii) फशोडा संकट; (iv) बोस्नियास संकट। (iii)

10. इटली को किस अफ्रीकी राज्य ने 1896 ई. में युद्ध में पराजित किया था?

(i) एबेसीनिया; (ii) मिस्त्र;

(iii) सुडान; (iv) अल्जीरिया। (i)

11. सुडान पर विजय प्राप्त करने में इंग्लैंड की सेना का नेतृत्व किस सेनापति ने किया था?

(i) मिल्नर; (ii) होडस;

(iii) क्रोमर; (iv) किचनर;। (ii)

12. क्रगर (Kruger)कौन था?

(i) बर्लिन की सन्धि; (ii) बोअर नता;

(iii) मोरांको का सुल्तान; (iv) फ्रांस का राष्ट्रपति। (iii)

13. ट्रान्सवाल में बोअरो के हाथों अंग्रेज़ी की पराजय के समय इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री कौन था?

(i) ग्लेडस्टोन ; (ii) डिज़रायली;

(iii) विलियम पिट्; (iv) वालपोल; (i)

14. अफ्रीका के विभाजन में सबसे बड़ा भाग किस देश को प्राप्त हुआ ?

(i) रूस ; (ii) फ्रांस ;

(iii) जर्मनी ; (iv) इंग्लैंड । (iv)

15. इंग्लैंड ने दक्षिणी अफ्रीका में स्थित केप कालोनी सिक देश से खरीदी थी ?

(i) फ्रांस ; (ii) बेल्जियम ;

(iii) हालैंड ; (iv) जर्मनी । (iii)

16. एशिया के किसी एक देश का नाम बताओ जो पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवाद का शिकार होने से बचा?

(i) भारत ; (ii) जापान ;

(iii) चीन ; (iv) बर्मा। (ii)

17. भारत के व्यापार करने के उद्देश्य से स्थापित ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना कब हुई?
(i) 1600 ई. ; (ii) 1707 ई. ;
(iii) 1750 ई. ; (iv) 1764 ई. । (i)

18. इंग्लैंड को चीन से हांग-कांग किस सन्धि में प्राप्त हुआ ?
(i) टाइंटसिन की सन्धि ; (ii) पैरिस की सन्धि ;
(iii) नान्किग की सन्धि ; (iv) वियाना की सन्धि। (iii)

19. इंग्लैंड तथा रूस ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता कब स्वीकार की?
(i) 1950 ई. ; (ii) 1905 ई. ;
(iii) 1882 ई. ; (iv) 1907 ई. । (iv)

20. चीन-जापान युद्ध (1894-95) ई. किस सन्धि से समाप्त हुआ?
(i) बर्लिन की सन्धि ; (ii) शिमनोसकी की सन्धि;
(iii) वियाना की सन्धि ; (iv) पीकिंग की सन्धि। (ii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

(क)	(ख)
अन्ध महाद्वीप ;	इंग्लैंड का राजनीतिज्ञ ;
लिविंगस्टोन ;	बैल्जियम का सम्राट् ;
नाईजर ;	अफ्रीका महाद्वीप ;
लियोयोल्ड ;	अफ्रीका की एक नदी ;
लार्ड चैम्बरलेन।	19 वीं शताब्दी का प्रसिद्ध खोजकार।

उत्तर:

(क)	(ख)
अनध महाद्वीप ;	अफ्रीका महाद्वीप ;
लिविंगस्टोन ;	19 वीं शताब्दी का प्रसिद्ध खोजकार।
नाईजर ;	अफ्रीका की एक नदी ;
लियोयोल्ड ;	बैल्जियम का सम्राट
लार्ड चैम्बरलेन।	इंग्लैंड का राजनीतिज्ञ ;

2.

(क)	(ख)
अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकी संघ की स्थापना ;	1898 ई. ;
बर्लिन सम्मेलन ;	1896 ई. ;
फ्रांस को ट्यूनिस की प्राप्ति ;	1876 ई. ;
फशोडा संकट ;	1884-85 ई. ;
एबेसीनिया से इटली की पराजय	1881 ई. ।

उत्तर:

(क)	(ख)
अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकी संघ की स्थापना ;	1876 ई. ;

	बर्लिन सम्मेलन ;	1884-85 ई. ;
	फ्रांस को ट्यूनिस की प्राप्ति ;	1881 ई. ;
	फशोडा संकट ;	1898 ई. ;
	एबेसीनिया से इटली की पराजय	1896 ई. ।

3.

	(क)	(ख)
	अंगोला ;	इंग्लैंड ;
	अल्जीरिया ;	इटली ;
	ट्रीपोली ;	पुर्तगाल ;
	टोगौलैंड ;	फ्रांस ;
	ट्रान्सवाल	जर्मनी ।

उत्तरः

	(क)	(ख)
	अंगोला ;	पुर्तगाल ;
	अल्जीरिया ;	फ्रांस ;
	ट्रीपोली ;	इटली ;
	टोगौलैंड ;	जर्मनी ;
	ट्रान्सवाल	इंग्लैंड ।

	(क)	(ख)
	ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ;	1895 ई. ;
	प्लासी का युद्ध ;	1907 ई. ;
	महारानी विक्टोरिया की घोषणा ;	1600 ई. ;
	रूस-इंग्लैंड समझौता ;	1757 ई. ;
	शिमनोसकी की सन्धि ;	1858 ई. ।

उत्तरः

(क)	(ख)
ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ;	1600 ई. ;
प्लासी का युद्ध ;	1757 ई. ;
महारानी विक्टोरिया की घोषणा ;	1858 ई. ;
रूस-इंग्लैंड समझौता ;	1907 ई. ;
शिमनोसकी की सन्धि ;	1895 ई. ।

5.

(क)	(ख)
लार्ड क्लाईव ;	पुर्तगाल का प्रसिद्ध खोजकार ;
सीसिल रोडेश ;	इंग्लैंड की महारानी ;
क्रूगर ;	भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक ;
महारानी विक्टोरिया ;	टान्सवाल के डचों का नेता ;
वास्कोडिगामा ;	इंग्लैंड का एक महान् सम्राज्यवादी ।

इंग्लैण्ड में उदारवाद

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. मध्यकालीन यूरोपीय समाज के कोई चार लक्षण बताओ?

उत्तरः सामन्त प्रणाली, राजाओं की निरंकुशता, धार्मिक कटटरता तथा चर्च का राज्यों में अत्यधिक प्रभाव-मध्यकालीन यूरोपीय समाज के चार महत्वपूर्व लक्ष्य थे।

2. 17वीं शताब्दी के इंग्लैंड में राजा तथा संसद के बीच संवैधानिक संघर्ष का अन्त कब और किस घटना से हुआ?

उत्तरः 17वीं शताब्दी के इंग्लैंड में राजा तथा संसद के बीच संवैधानिक संघर्ष का अन्त 1688 ई. में गौरवमयी क्रांति से हुआ।

3. राजनीति में 'लिबरल' अथवा उदार शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम यूरोप के किस देश में तथा कब किया गया?

उत्तरः राजनीति में 'लिबरल' (उदार) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम स्पेन में 19वीं शताब्दी के आरम्भ में किया गया जब वहां के लोकतन्त्रीय दल ने अपने आप को 'Liberal' का नाम दिया।

4. इंग्लैंड में 'लिबरल' शब्द का प्रयोग कब तथा कैसे हुआ?

उत्तरः 1816 ई. में इंग्लैंड में 'लिबरल' शब्द का प्रयोग होने लगा। उस समय की टोरी पार्टी अपने विरोधी 'विग' दल को लिबरल कह कर उनकी निन्दा करती रही। धीरे-धीरे विग पार्टी ने इस विशेषण को अपना लिया और पुनर्गठित विग पार्टी का नाम 'लिबरल' पार्टी पड़ गया।

5. इंग्लैंड के इतिहास में उदारवाद की उत्पत्ति एवं विकास में पहला मील पथर किसे माना जाता है ?

उत्तरः 1215 ई. में मेंग्ना कार्टा को इंग्लैंड के इतिहास में उदारवाद की उत्पति एवं विकास में पहला मील पथर माना जाता हैं

6. इंग्लैंड में सामन्त व्यवस्था की समाप्ति किस सम्राट् के शासन-काल में हुई।

उत्तरः इंग्लैंड में सामन्त व्यवस्था की समाप्ति ट्यूडर सम्राट् हेनरी सप्तम् (1485-1509)के शासन काल में हुई।

7. 1688 ई. की 'शानदार क्रांति' के समय इंग्लैंड का सम्राट् कौन था ?

उत्तरः 1688ई. की शानदार क्रांति के समय जेम्ज़ द्वितीय इंग्लैंड का सम्राट् था।

8. 1688 ई. की क्रांति के पश्चात इंग्लैंड का शासन किसे दिया गया ?

उत्तरः 1688 ई. की क्रांति के पश्चात विलियम तथा मेंरी को इंग्लैंड का शासन प्रदान किया गया।

9. 'Bill of Right' कब पास हुआ ?

उत्तरः Bill of Right' 1689 ई. में पास हुआ।

10. छोटा पिट कौन था?

उत्तरः छोटा पिट इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री था।

,11. जॉन लॉक की विख्यात पुस्तक का क्या नाम था ?

उत्तरः जॉन लॉक की विख्यात पुस्तक का नाम 'Of Civil Government' था।

12. जेरमी बेंथम (1748-1832) ने किस राजनीतिक विचारधारा की नींव रखीं और इसका मूल सिद्धान्त क्या था?

उत्तरः जेरमी बेंथम ने 'उपयोगितावाद नामक राजनीतिक विचारधारा की नींव रखीं जिसका मूल सिद्धान्त था, 'सबसे अधिक लोगों की भलाई।

13.. **'*Rights of Man*' नामक पुस्तक की रचना किसने की ?**

उत्तरः 'Right of Man' नामक पुस्तक की रचना थामस पेन ने की।

14. **1832 ई. से पूर्व इंग्लैंड की संसद-प्रणाली के चार मुख्य दोष क्या थे ?**

उत्तरः सीमित मत-अधिकार, पुराने नगरों को अधिक प्रतिनिधित्व ज़मीदारों का चुनाव क्षेत्रों में प्रभुत्व तथा गुप्त वोट व्यवस्था का अभाव-1832 ई. से पूर्व इंग्लैंड की संसद प्रणाली के मुख्य चार दोष थे।

15. इंग्लैंड की दोषपूर्ण संसदीय प्रणाली के विरूद्ध आवाज़ उठाने वाला प्रथम प्रसिद्ध व्यक्ति कौन था ?

उत्तरः इंग्लैंड की दोषपूर्ण संसदीय प्रणाली के विरूद्ध आवाज़ उठाने वाला प्रथम व्यक्ति जॉन कॉल था।

16. एबिसीनिया से अटली का युद्ध कब हुआ? इसमें कौन परिजित हुआ ?

उत्तरः एबिसीनिया का इटली से युद्ध 1896 ई. में हुआ। इस युद्ध में इटली की पराजय हुई।

17. 18 वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध के दो प्रसिद्ध सुधारकों के नाम बताओ जिन्हों ने इंग्लैंड की दोषपूर्ण संसदीय प्रणाली में सुधारों पर बल दिया।

उत्तरः बोलिंगब्रोक तथा डैशवुड 18वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध के दो प्रसिद्ध सुधारक थे जिन्होंने इंग्लैंड की दोषपूर्ण संसदीय प्रणाली के सुधारों पर बल दिया।

18. 1832 ई. का प्रथम सुधार एक्ट कब पास हुआ? उस समय इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री कौन था ?

उत्तरः 1832 ई. का प्रथम सुधार एक्ट 7 जून 1832 ई. को पास हुआ। उस समय अर्ल ऑफ़ ग्रेय इंग्लैंड का प्रधान मन्त्री था।

19. प्रथम सुधार एक्ट (1832 ई.) पास हाने के समय इंग्लैंड का सम्राट् कौन था ?

उत्तरः प्रथम सुधार एक्ट (1832ई.) के पास होने के समय विलियम चतुर्थ इंग्लैंड का सम्राट् था।

19. प्रथतम सुधार एक्ट सम्बन्धी बिल को इंग्लैंड की संसद में किसने तथा कितनी बार पेश किया गया?

उत्तरः प्रथम सुधार एक्ट सम्बन्धी बिल को इंग्लैंड की संसद में जॉन रसैल द्वारा तीन बार पेश किया गया।

20. 1832 ई. के सुधार एक्ट के अनुसार कितने नये औद्योगिक नगरों को प्रतिनिधित्व दिया गया ? इन में से दो प्रसिद्ध नगरों के नाम बताओ ?

उत्तरः 1832 ई. के सुधार एक्ट के अनुसार 42 नये औद्योगिक नगरों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। मानचेस्टर तथा लंकाशायर इनमें से दो प्रसिद्ध नगर थे।

21. 1832 ई के सुधार एक्ट के अनुसार इंग्लैंड के निचले सदन की कुल कितनी सीटें निश्चित हुई ? इनमें से ग्रामीण तथा नगर क्षेत्र की कितनी सीटें निश्चित की गई ?

उत्तरः 1832 ई के सुधार एक्ट के अनुसार इंग्लैंड के निचले सदन (House of Commons) की कुल सीटें 658 ही निश्चित रहीं। इनमें से ग्रामीण क्षेत्रों की कुल सीटें 253 तथा नगर-क्षेत्रों की 405 सीटें निश्चित की गई।

22. 1832 ई के सुधार एक्ट के कोई चार प्रभाव बताओ ?

उत्तरः 1832 ई. के सुधार एक्ट के चार महत्वपूर्ण प्रभाव थे-निम्न संदन की सर्वोच्चता स्थापित करना, नये नगरों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होना, राजनीतिक शक्ति का कुलीन वर्ग से मध्य वर्ग पास आना तथा पुरातन व्यवस्था को चोट।

23. चार्टिस्ट आन्दोलन का आरम्भ कब हुआ? इसका क्या उद्देश्य था ?

उत्तरः चार्टिस्ट आन्दोलन का आरम्भ 1832 ई. में हुआ। यह आन्दोलन मज़दूरों तथा कारीगरों द्वारा चलाया गया था जिनका उद्देश्य राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके अपनी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समाधान करना था।

24. चार्टिस्ट आन्दोलन नेता कौन-कौन थे ?

उत्तरः विलियम लॉवेट, थामस ऐटवुड तथा फ़ीयरगस ओ० कोनर चार्टिस्ट आन्दोलन के प्रमुख नेता थे।

25. चाटिस्ट आन्दोलन के प्रसिद्ध केन्द्र कौन-कौन से थे?

उत्तर: लंडन, बर्मिधम तथा लीड़ज़ चार्टिस्ट आन्दोलन के प्रसिद्ध केन्द्र थे।

26. चार्टिस्ट आन्दोलन की मुख्य मांगें क्या थी ?

उत्तर: संसद के सदस्यों का वार्षिक चुनाव तथा निश्चित वेतन, गुप्त वोट व्यवस्था, बालिग वोट आधिकार, संसद सदस्य बनने के लिये सम्पति आदि की शर्तों की समाप्ति तथा समस्त देश को जनसंख्या के आधार पर समान क्षेत्रों में बांटना आदि चार्टिस्ट की मुख्य मांगें थीं।

27. चार्टिस्ट आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान डालने वाले बर्मिघम तथा लीड्ज़ के प्रमुख नेता कौन थे?

उत्तर: चार्टिस्ट आन्दोलन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देने वाले बर्मिघम के प्रमुख नेता थामस एटवुड तथा लीड्ज का प्रमुख नेता फ़ीयरगस ओ० कोनर था।

28. चार्टिस्ट आन्दोलन की असफलता के कोई चार कारण बताओ।

उत्तर: योग्य नेतृत्व का अभाव, आन्दोलन का समय से पूर्व होना, आन्दोलन का हिंसक रूप धारण करना तथा नेताओं में मतभेद, चार्टिस्ट आन्दोलन की असफलता के मुख्य चार कारण थे।

29. इंग्लैंड में द्वितीय सुधार एक्ट कब पास किया गया ? इसे किसने बिल के रूप में प्रस्तुत किया था ?

उत्तर: इंग्लैंड में द्वितीय सुधार एक्ट 1867 ई. में पास हुआ। इसे बिल के रूप में डिज़ारयली ने संसद में प्रस्तुत किया था।

30. 1867 ई. के द्वितीय सुधार एक्ट के परिणामस्वरूप इंग्लैंड में कितनी संख्या में नये लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ ?

उत्तर: 1867 ई. के द्वितीय सुधार एक्ट के परिणामस्वरूप इंग्लैंड में 938,000 नये लोगों को वोट का अधिकार प्राप्त हुआ।

31. इंग्लैंड में तृतीय सुधार एक्ट कब पास हुआ? उस समय इंग्लैंड का प्रधानमन्त्री कौन था ?

उत्तर: इंग्लैंड में तृतीय सुधार एक्ट 1884 ई. में पास हुआ। उस समय ग्लैडस्टोन इंग्लैंड का प्रधानमन्त्री था।

32. गुप्त वोट सम्बन्धी एक्ट कब पास हुआ ?

उत्तर: गुप्त वोट सम्बन्धी एक्ट 1872 ई. में पास हुआ।

33. 1911 ई. का संसद एक्ट किस प्रधान मन्त्री के कार्य काल में पास किया गया ?

उत्तर: 1911 ई. का संसद एक्ट उदारवादी दल के प्रधानमन्त्री ऐस्कुइथ के कार्यकाल में पास किया गया।

34. 1911 ई. के संसद एक्ट के अनुसार संसद के निचले सदन की अवधि कितनी रखी गई ?

उत्तर: 1911 ई. के संसद एक्ट के अनुसार संसद के निचले सदन की अवधि सात वर्ष से कम करके पांच वर्ष कर दी गई।

35. इंग्लैंड में 21 वर्ष के प्रत्येक स्त्री एवं पुरूष को वोट का अधिकार कब प्राप्त हुआ ?

उत्तर: इंग्लैंड में 21 वर्ष के प्रत्येक स्त्री एवं पुरूष को वोट का अधिकार 1928 ई. में पास किये गये 'Represaentation of Peoplesa Actof 1928' के अनुसार प्राप्त हुआ।

36. इंग्लैंड में प्रथम कारखाना कानून (Factory Act) कब पास हुआ ? इसके अनुसार मज़दूरों के लिये काम करने के अधिक से अधिक कितने घण्टे निश्चित किये गये ?

उत्तर: इंग्लैंड में प्रथम कारखाना कानून 1802 ई में पास किया गया । इसके अधीन मज़दूरों के काम करने के अधिक से अधिक 12 घण्टे निश्चित किये गये।

37. इंग्लैंड की सूती कपड़े की मिलों में काम करने वाले बच्चों से सम्बन्धित कारखाना कानून कब पास हुआ ? इस कानून के अनुसार बच्चों के मिलों में काम करने की क्या व्यवस्था की गई।

उत्तर: सूती कपड़े की मिलों में काम करने वाले बच्चों से सम्बन्धित कारखाना कानून 1819 ई (Second Factory Act. 1819) में पास हुआ। इस के अन्तर्गत 9 वर्ष से कम आयु के बच्चों को मिलों में काम पर लगाने को गैर

कानूनी घोषित कर दिया गया। 16 वर्ष से कम आयु के बच्चों से 12 धण्टे से अधिक काम पर लगाने वर्जित कर दिया गया।

38. खान सम्बन्धी कानून कब पास किया गया ? इसकी मुख्य विशेषता क्या थी ?

उत्तर: खान सम्बन्धी कानून 1842 ई. में पास हुआ। इसके अन्तर्गत स्त्रियों तथा 10 वर्ष से कम आयु के बच्चों को खानों में काम पर लगाने को वर्जित कर दिया गया।

39. वृद्ध अवसी पेन्शन अधिनियम कब पास किया गया ? इस की मुख्य विशेषता क्या थी ?

उत्तर: वृद्ध अवस्था अधिनियम 1908 ई. में पास हुआ। इसके अनुसार 70 वर्ष से अधिक आयु के सभी व्यक्तियों को सरकार की ओर से पांच शिलिंग प्रति सप्ताह पेन्शन मिलनी निश्चित् की गई।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. निम्नलित में से कौन-सा मध्यकालीन यूरोप का लक्षण नहीं था :
   (i) सामन्त प्रणाली ; (ii) धार्मिक कट्टरता ;
   (iii) सहनशीलता ; (iv) राजाओं की निरंकुशता। (iii)

2. इंग्लैंड के अनुसार तथा संसद के बीच संवैधानिक संघर्ष का अन्त हुआ :
   (i) 1832 ई. के सुधार एक्ट के साथ : (ii) 1688 ई. की क्रांति के साथः
   (iii) औद्योगिक क्रांति के साथ (iv) पुनर्जागरण आन्दोलन के साथ। (ii)

3. राजनीति में 'लिबरल' (Liberal) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस देश में हुआ ?
   (i) इंग्लैंड में ; (ii) स्पेन में ;
   (iii) अमरीका में ; (iv) फ्रांस में। (ii)

4. 'मेंग्ना कार्टा' (Magna Carta) नामक घटना का सम्बन्ध किस सम्राट् से है ?
   (i) जार्ज तृतीय से (ii) हेनरी सप्तम से ;
   (iii) सम्राट् जॉन से ; (iv) विलियम द्वितीय से। (iii)

5. 'बिल ऑफ राईट्स' (Bill of Rights) कब पास हुआ ?
   (i) 1688 ई. में (ii) 1701 ई. में
   (iii) 1689 ई. में (iv) 1791 ई. में। (iii)

6. 'Idea of a Patriot King ' नामक पुस्तक की रचना किसने की ?
   (i) जॉन लॉक ने ; (ii) बोलिन्गब्रोक ने ;
   (iii) ऐडम स्मिथ ने ; (iv) जॉन स्टुअर्ट मिल ने। (ii)

7. जॉन लॉक की विख्यात पुस्तक कौन सी थी ?
   (i) Idea of a Patriot King ; (ii) Of Civil Government ;
   (iii) Wealth of Nations ; (iv) Rights of Man. (ii)

8. इंग्लैंड में विवाह सम्बन्धी कानून (The Marriage Act) कब पास हुआ ?
   (i) 1836 ई. में (ii) 1688 ई. में
   (iii) 1701 ई. में (iv) 1832 ई. में। (i)

9. 1832 ई. के सुधार एक्ट के पास होने के समय इंग्लैंड का प्रधानमन्त्री कौन था ?
(i) लार्ड वलिन्गटन ; (ii) अर्ल ऑफ ग्रेय ;
(iii) डिज़रायली ; (iv) ग्लैडस्टोन। (ii)

10. 1832 ई. के सुधार एक्ट के अनुसार संसद के निचले सदन की सीटों की कुल संख्या कितनी रखी गई?
(i) 405 ; (ii) 658 ;
(iii) 465 ; (iv) 538. (ii)

11. निम्नलिखित में से कौन चार्टिस्ट आन्दोलन का नेता था ?
(i) विलियम लॉवेट ; (ii) डयूक ऑफ वंलिगटन ;
(iii) अर्ल ऑफ गेय ; (iv) विलियम द्वितीय। (i)

12. द्वितीय सुधार एक्ट कब पास हुआ ?
(i) 1832 ई. में (ii) 1791 ई. में
(iii) 1867 ई. में (iv) 1864 ई. में। (iii)

13. 1884 ई. का तृतीय सुधार एक्ट किस प्रधानमन्त्री के शासन काल में पास हुआ ?
(i) डिज़रायली के ; (ii) वंलिगटन के ;
(iii) ग्लैडस्टोन के ; (iv) छोटे पिट्। (iii)

14. गुप्त वोट सम्बन्धी एक्ट (Secret Ballot Act) कब पास हुआ था ?
(i) 1884 ई. में (ii) 1872 ई. में
(iii) 1832 ई. में (iv) 1887 ई. में। (ii)

15. प्रथम कारखाना कानून कब पास हुआ ?
(i) 1806 ई. में (ii) 1802 ई. में
(iii) 1832 ई. में (iv) 1836 ई. में। (ii)

16. दस घण्टे काम सम्बन्धी कानून कब पास हुआ ?
(i) 1867 ई. में (ii) 1832 ई. में
(iii) 1850 ई. में (iv) 1847 ई. में। (iv)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए:

(क)	(ख)
गौरवमयी क्रांति ,	1832 ई ;
मेंग्ना कार्टा,	1688 ई ;
बिल ऑफ राईटस,	1802 ई ;
प्रथम सुधार एक्ट,	1865 ई ;
प्रथम कारखाना कानून,	1215 ई ;
पामर्स्टन की मृत्यु।	1689 ई।

उत्तर:

(क)	(ख)
गौरवमयी क्रांति	1688 ई ;
मेंग्ना कार्टा,	1215 ई ;

बिल ऑफ राईटस,	1689 ई ;
प्रथम सुधार एक्ट,	1832 ई ;
प्रथम कारखाना कानून,	1802 ई ;
पामर्स्टन की मृत्यु।	1865 ई।

इटली का एकीकरण

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. आरम्भिक काल में इटली के उत्तरी तथा दक्षिणी भागों को किन नामों से जाना जाता था?

उत्तर: आरम्भिक काल में इटली के उत्तरी तथा दक्षिणी भागों को क्रमशः इटालियान के नामों से जाना जाता था।

2. 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के समय के इटली के चार प्रसिद्ध राज्यों के नाम बताओ ?

उत्तर: 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के समय इटली के चार प्रसिद्ध राज्य थे-पीडमांट-सर्डिनिया, लम्बार्डी, वेनिशिया तथा नेपल्ज़-सिसली।

3. 1789 ई. की क्रांति के समय दक्षिणी इटली के नेपल्ज़-सिसली के राज्य पर किस वंश का शासन था?

उत्तर: 1789 ई. की क्रांति के समय नेपल्ज़ तथा सिसली पर बूर्बो वंश का शासन था।

4. नेपोलियन ने इटली पर प्रथम तथा द्वितीय आक्रमण कब किया ?

उत्तर: नेपोलियन ने इटली पर प्रथम आक्रमण 1796 ई. में तथा द्वितीय आक्रमण 1800 ई. में किया।

5. 1815 ई. की वियाना की सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को इटली के कौन से प्रदेश दिए गए ?

उत्तर: 1915 ई की वियाना की सन्धि के अनुसार आस्ट्रिया को इटली के लम्बार्डी एवं वेनिशिया के प्रदेश दिए गए।

6. 1815 ई. की वियाना की सन्धि के अनुसार परमा के राज्य पर किसका शासन स्थापित था ?

उत्तर: 1815 ई. की वियाना की सन्धि के अनुसार परमा के राज्य पर आस्ट्रियन राजकुमारी (नेपोलियन की दूसरी पत्नी) मेरी लुईस का शासन स्थापित हुआ।

7. इटली के एकीकरण सम्बन्धी तीन योजनाएं कौन सी थी ?

उत्तर: इटली के एकीकरण सम्बन्धी तीन योजनाएं निम्नलिखित थीं-

(i) मेंज़िनी के अधीन इटली में गणतन्त्र स्थापित करने की योजना,

(ii) पोप के अधीन इटली के राज्यों का संघ स्थापित करने की योजना,

(iii) पीडमांट-सर्डीनिया के नेतृत्व में इटली के एकीकरण योजना।

8. मेंज़िनी किस योजना के अनुसार इटली का एकीकरण करना चाहता था ?

उत्तर: मेंज़िनी इटली में गणतन्त्र की स्थापना से एकीकरण चाहता था।

10. 1848 ई. की इटली में राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता के दो मुख्य कारण बताओ ?

उत्तर: 1848 ई. तक इटली में राष्ट्रीय आन्दोलन की असफलता के दो मुख्य कारण थे-राष्ट्रीय नेताओं में फूट तथा अनुभवी सेनापतियों का अभाव।

11. इटली के एकीकरण से सम्बन्धित तीन प्रसिद्ध नेताओं के नाम बताओ।

उत्तर: मेंज़िनी, गैरीबाल्डी तथा कावूर इटली के एकीकरण के तीन प्रसिद्ध नेता थे।

12. पीडमांट ने क्रीमिया के युद्ध में क्यों भाग लिया ?

उत्तर: पीडमांट ने इटली के एकीकरण के लिये इंग्लैंड तथा फ्रांस का समर्थन प्राप्त करने के लिये क्रीमिया के युद्ध में भाग लिया।

13. इटली के एकीकरण से पूर्व लम्बार्डी तथा वेनिशिया किस शक्ति के अधीन थे तथा इन्हें इटली में कब सम्मिलित किया गया ?

उत्तर: इटली के एकीकरण से पूर्व लम्बार्डी तथा वेनिशिया आस्ट्रिया के अधीन थे। लम्बार्डी को 1857 ई. में तथा वेनशिया को 1866 ई. में शामिल किया गया।

14. मध्य इटली के राज्य कब इटली में शामिल किए गए ? इन राज्यों के नाम बताओ।

उत्तर: मध्य इटली के राज्यों को 1860 ई. में इटली में शामिल किया गया। इन राज्यों के नाम थे-अस्कनी, परमा, मोडेना तथा रोमेंग्ना।

15. नीस तथा सेवाय के प्रदेश कावूर ने फ्रांस को कब और क्यों दिये ?

उत्तर: नीस तथा सेवाय के प्रदेश कावूर ने 1858 ई. में फ्रांस का मध्य इटली के राज्यों को इटली में शामिल करने के लिये समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से दिए।

16. आस्ट्रिया तथा सर्डीनिया-पीडमांट के मध्य युद्ध कब हुआ ? इसमें किसने विजय प्राप्त की ?

उत्तर: आस्ट्रिया तथा सार्डीनिया-पीडमांट के मध्य युद्ध 1859 ई. में हुआ। इसमें सार्डीनिया-पीडमांट की विजय हुई।

17. नेपल्ज़ तथा सिसली का इटली में विलय कब और किसके नेतृत्व में हुआ ?

उत्तर: नेपल्ज़ तथा सिसली का इटली विलय गैरीबाल्डी के नेतृत्व में 1860 ई. में हुआ।

18. वियाना की सन्धि (1815 ई.) के अनुसार रोम पर किसका शासन स्थापित किया गया ?

उत्तर: वियाना की सन्धि (1815 ई.) के अनुसार रोम पर पोप पीयस सातवें का शासन पुनः स्थापित किया गया।

19. वियाना समझौते (1815 ई.) के अनुसार पीडमांट तथा सार्डीनिया का राज्य किसे दिया गया ?

उत्तर: वियाना समझौते (1815 ई.)के अनुसार विक्टर एमेंनुइल प्रथम को जो नेपोलियन से परास्त होकर सर्डीनिया चला गया था, पीडमांट तथा सर्डीनिया का राज्य पुनः दे दिया गया।

20. कावूर पीडमांट-सार्डीनिया का प्रधानमन्त्री कब बना ?

उत्तर: कावूर 5 नवम्बर 1852 ई. को पीडमांट-सर्डीनिया का प्रधान मन्त्री बना।

21. रोम के राज्य को कब और किस युद्ध के पश्चात् इटली में शामिल किया गया ?

उत्तर: रोम के राज्य को फ्रांस-प्रशिया युद्ध के पश्चत् 1870 ई. में शामिल किया गया।

22. नेपोलियम के आक्रमणों के इटली पर दो प्रभाव बताओ ?

उत्तर: नेपोलियन आक्रमणों के परिणामस्वरूप इटली में राजनैतिक एकता तथा राष्ट्रीय भावना जागृत हुई।

23. क्रीमिया के युद्ध में पीडमांट ने किसका साथ दिया ?

उत्तर: क्रीमिया के युद्ध में पीडमांट ने इंग्लैंड तथा फ्रांस का रुस के विरूद्ध साथ दिया।

24. इटली में 'लाल कमीज़' की सेना का निर्माण किस ने किया ?

उत्तर: इटली में 'लाल कमीज़' सेना का निर्माण गैरीबाल्डी ने किया था।

25. "आपने मुझे मेंरी जन्म-भूमि पर ही विदेशी बना दिया है।" यह शब्द इटली के किस नेता ने सन्दर्भ में कहे?

उत्तर: यह शब्द इटली के प्रसिद्ध देश भक्ति गैरीबाल्डी ने तब कहे जब कावूर ने नीस तथा सेवाय के प्रदेश फ्रांस को देने का निर्णय किया।

26. 1870 ई. के पश्चात इटली के कौन से दो प्रदेश एकीकरण से बाहर रह गए थे ? इन्हें कब इटली में शामिल किया गया ?

उत्तर: 1870 ई. के पश्चात इटली के ट्राइस्टे और ट्रैनटिनों (Triesate and Trentino) के प्रदेश एकीकरण से बाहर से रह गए थे जिन्हें 1919 ई. में आस्ट्रिया से प्राप्त करके इटली में शामिल किया गया।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दाई ओर कोष्ठक में देखिए)

1. विक्टर एमेंनुइल इटली के किस राज्य का शासक था ?
   (i) टस्कनी ; (ii) राम ;
   (iii) पीडमांट ; (iv) नेपल्ज़। (iii)
2. इटली को गणतन्त्र के रूप में एकीकरण करने का प्रयत्न किसने किया ?
   (i) गैरीबाल्डी ; (ii) कावूर;
   (iii) मेंज़िनी ; (iv) विक्टर एमेंनुइल। (iii)

   किस अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध ने इंग्लैंड तथा फ्रांस को इटली के एकीकरण का समर्थन बना दिया ?
3. (i) फ्रांस-प्रशिया युद्ध ; (ii) क्रीमिया युद्ध ;
   (iii) प्रायद्वीपीय युद्ध ; (iv) आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध। (ii)
4. इटली के एकीकरण का पोप के अधीन एक संघ का निर्माण करने की योजना का समर्थक किसने किया ?
   (i) काबूर ; (ii) मेंज़ीनी ने ;
   (iii) जियोबर्टी ने ; (iv) विक्टर। (iii)
5. फ्रांस-प्रशिया युद्ध के पश्चात् किस राज्य को इटली में शामिल किया गया?
   (i) नेपल्ज़ तथा सिसली ; (ii) टस्कनी ;
   (iii) रोम ; (iv) लम्बार्डी। (iii)
6. वेनिशिया के राज्य किस युद्ध के पश्चात् इटली में शामिल किया गया ?
   (i) फ्रांस-प्रशिया युद्ध ; (ii) आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध ;
   (iii) आस्ट्रिया-सार्डीनिया युद्ध ; (iv) क्रीमिया युद्ध। (ii)
7. इटली के एकीकरण में सर्वाधिक योगदान किसने दिया ?
   (i) मेंज़िनी ने ; (ii) पोप पीस सातवें ने ;
   (iii) कावूर ; (iv) नेपोलियन तृतीय ने। (iii)
8. इटली एक राष्ट्र कब बना ?
   (i) 1866 ई. में (ii) 1861 ई. में
   (iii) 1870 ई. में (iv) 1919 ई. में। (iii)
9. इटली के एकीकरण में सबसे बड़ी बाधा कौन-सा देश था ?
   (i) फ्रांस ; (ii) आस्ट्रिया ;
   (iii) इंग्लैंड ; (iv) रूस। (ii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान किजिए:

(क)	(ख)
विक्टर एमेंनुइल प्रथम ;	फ्रांस का सम्राट् ;
कावूर ;	रोम का पोप ;
मेंज़िनी ;	पीडमांट-सार्डीनिया का शासन ;
पीयस सातवां ;	पीडमांट का प्रधान-मन्त्री ;
नेपोलियन ;	इटली का देशभक्त ।

(क)	(ख)
विक्टर एमेंनुइल प्रथम ;	पीडमांट-सार्डीनिया का शासन ;
कावूर ;	पीडमांट का प्रधान-मन्त्री ;

मैंज़िनी ;	इटली का देशभक्त ;
पीयस सातवां ;	रोम का पोप ;
नेपोलियन ;	फ्रांस का सम्राट् ।

4.

(क)	(ख)
फ्रासं-प्रशिया युद्ध ;	1859 ई.
क्रीमिया का युद्ध ;	1870-71 ई.
आस्ट्रिया -प्रशिया युद्ध ;	1854-56 ई.
आस्ट्रिया-सार्डीनिया युद्ध ;	1866 ई.।

(क)	(ख)
फ्रासं-प्रशिया युद्ध ;	1870-71 ई.
क्रीमिया का युद्ध ;	1854-56 ई
आस्ट्रिया -प्रशिया युद्ध ;	1866 ई
आस्ट्रिया-सार्डीनिया युद्ध ;	1859 ई

3.

(क)	(ख)
रोम की प्राप्ति ;	फरवरी 1859 ई ;
कावूर की मृत्यु ;	1820 ई ;
गैराबाल्डी द्वारा नेपल्ज़-सिसिली पर अधिकार ;	6 जून, 1861 ई ;
काराबोनरी सोसायटी की स्थापना ;	1860 ई ;
मेंज़िनी द्वारा रोम में गणतन्त्र की स्थापना ;	1870 ई ;

(क)	(ख)
रोम की प्राप्ति ;	1870 ई ;
कावूर की मृत्यु ;	6 जून, 1861 ई ;
गैराबाल्डी द्वारा नेपल्ज़-सिसिली पर अधिकार ;	1860 ई ;
काराबोनरी सोसायटी की स्थापना ;	1820 ई ;
मेंज़िनी द्वारा रोम में गणतन्त्र की स्थापना ;	फरवरी 1849 ई ;

जर्मनी का एकीकरण

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के समय जर्मनी राज्यों की स्थित किस प्रकार की थी ?

उत्तर: 1789 ई की फ्रांसीसी कांति के समय जर्मनी में आस्ट्रिया के नेतृत्व में एक ढीला सा संघ था जिसमें लगभग 360 छोटे-बड़े राज्य थे।

2. फ्रांसीसी क्रांति के समय के पवित्र रोमन साम्राज्य के 360 राज्यों में से चार महत्वपूर्ण राज्यों के नाम बताओ?

उत्तर: फ्रांसीसी क्रांति के समय के पवित्र रोमन साम्राज्य के 360 राज्यों में से चार महत्तवपूर्ण राज्य थे-आस्ट्रिया, प्रशिया, होनोवर तथा बेवेरिया।

3. नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी प्रभुसत्ता के अधीन जर्मनी में किस संघ का निर्माण किया और उसमें कितने राज्य शामिल थे ?

उत्तर: नेपोलियन बोनापार्ट ने अपनी प्रभुसत्ता के अधीन जर्मनी में राईन संघ का निर्माण किया जिसमें 16 राज्य शामिल थे।

4. नेपोलियन को जर्मन एकीकरण का दादा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर: नेपोलियन ने अपनी विजयों द्वारा जर्मनी में एकता तथा राष्ट्रीय भावना जागृत कर दी जो अन्त में इसके एकीकरण के लिए सहायक सिद्ध हुई। इसलिए उसे जर्मन एकीकरण का दादा कहा जाता है।

5. वियाना की सन्धि (1815 ई.)के अनुसार जर्मन राज्यों के बारे में क्या व्यवस्था की गई ?

उत्तर: वियाना की सन्धि (1815 ई.)के अनुसार 39 जर्मन राज्यों का एक ढीला सा संघ (German Confederation) स्थापित किया गया।

6. 1815 ई. में स्थापित किए गए जर्मन संघ की संघीय सभा कहां स्थापित की गई ?

उत्तर: 1815 ई. के स्थापित किए गए जर्मन संघ की संघीय सभा फ्रैंकफ्रट में स्थापित की गई ।

7. 1830 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव के कारण किन चार जर्मन राज्यों में नये संविधान का निर्माण हुआ ?

उत्तर: 1830 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव अधीन ब्रन्ज़विक सैकसनी होनोवर तथा हैस्सै-केस्ल नामक चार जर्मन राज्यों में नये संविधान का निर्माण किया गया।

8. जर्मनी में ज़ोल्वेरिन की स्थापना कब तथा किस राज्य के नेतृत्व में हुई ?

उत्तर: जर्मनी में ज़ोल्वेरिन की स्थापना 1834 ई. में प्रशिया के नेतृत्व में हुई ।

9. बिस्मार्क कब प्रशिया का प्रधानमन्त्री बना? उस समय का सम्राट् कौन था ?

उत्तर: बिस्मार्क 1862 ई. में प्रशिया का प्रधानमन्त्री बना। उस समय प्रशिया का सम्राट् विलियम प्रथम था।

10. आस्ट्रिया-प्रशिया ने डेनमार्क के विरूद्ध युद्ध कब तथा किन राज्यों की प्राप्ति के लिए लड़ा ?

उत्तर: आस्ट्रिया-प्रशिया ने डेनमार्क के विरूद्ध युद्ध 1864 ई. में श्लेस्विग और होलस्टीन नामक डचियों की प्राप्ति के लिए लड़ा।

11. डेनमार्क के विरूद्ध आस्ट्रिया-प्रशिया का युद्ध किस संन्धि द्वारा समाप्त हुआ तथा डेनमार्क ने विजयी राष्ट्रों को कौन से प्रदेश दिए?

उत्तर: डेनमार्क के विरूद्ध आस्ट्रिया-प्रशिया का युद्ध अक्टूबर 1864 ई. में वियाना की सन्धि द्वारा समाप्त हुआ। इस के अनुसार डेनमार्क के शासन ने श्लेस्विग का होलस्टीन के प्रदेश क्रमशः प्रशिया तथा आस्ट्रिया को दे दिये।

12. डेनमार्क से युद्ध के पश्चात् आस्ट्रिया तथा प्रशिया ने श्लस्विग एवं होलस्टीन सम्बन्धी निर्णय किस सन्धि द्वारा हुआ ?

उत्तर: डेनमार्क के साथ युद्ध के पश्चात् आस्ट्रिया तथा प्रशिया से 14 अगस्त 1865 ई. को गैस्टीन की सन्धि के अनुसार यह निर्णय हुआ। कि आस्ट्रिया को होलस्टीन में तथा प्रशिया को श्लेस्विग में शासन प्रबन्ध का अधिकार होगा।

13. 1866 ई. में आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई हुई ? इसमें कौन पराजित हुआ ?

उत्तर: 1866 ई. में आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई सेडोवा में हुई। इसमें आस्ट्रिया की पराजय हुई।

14. आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध किस सन्धि से समाप्त हुआ ? इस सन्धि द्वारा प्रशिया को कौन-कौन से प्रदेश प्राप्त हुए?

उत्तर: आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध प्राग की सन्धि से समाप्त हुआ। इसके द्वारा प्रशिया को होनोवर, हेस्से-केस्ल, नासे, श्लेस्विग-होलस्टीन की डचियां फ्रैंकफर्ट के प्रदेश प्राप्त हुए।

15. प्रशिया के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन संघ की स्थापना कब हुई ? इसमें कुल कितने राज्य थे ?

उत्तर: प्रशिया के नेतृत्व में उत्तरी जर्मन की स्थापना जुलाई, 1867 ई. में हुई। इसमें कुल 22 जर्मन राज्य थे।

16. फ्रांस-प्रशिया युद्ध का तात्कालिक कारण क्या था ?

उत्तर: स्पेन के उत्तराधिकार सम्बन्धी प्रश्न-फ्रांस-प्रशिया युद्ध का तात्कालिक कारण था।

17. फ्रांस-प्रशिया युद्ध की सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई कहां हुई ? इसमें किसकी पराजय हुई ?

उत्तरः फ्रांस-प्रशिया युद्ध की सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई सेडान में हुई। इसमें फ्रांस की पराजय हुई।

18. फ्रांस-प्रशिया युद्ध किस सन्धि द्वारा समाप्त हुआ ? यह सन्धि कब हुई ?

उत्तरः 26 फरवरी 1871ई. को वर्साय में हुए अस्थायी समझौते के अनुसार फ्रांस-प्रशिया युद्ध का अन्त हुआ। इसके पश्चात् दोनों देशों में 10 मई 1871 ई. को फ्रैंकफर्ट की सन्धि हुई।

19. फ्रैंकफर्ट की सन्धि के अनुसार प्रशिया को कौन से फ्रांसीसी प्रदेश प्राप्त हुए ?

उत्तरः फ्रैंकफर्ट की सन्धि के अनुसार जर्मनी (प्रशिया) को फ्रांस से अल्सेस तथा लोरेन के प्रदेश प्राप्त हुए।

20. फ्रांस-प्रशिया युद्ध के पश्चात् कौन से चार दक्षिणी जर्मन राज्यों को उत्तसरी जर्मन संघ में शामिल किया गया?

उत्तरः फ्रांस-प्रशिया युद्ध के पश्चात बैवेरिया, बुरटमवर्ग,बेडन तथा हेस्सू-डार्मस्टेट नामक चार दक्षिणी राज्यों को उत्तरी जर्मन संघ में शामिल किया गया।

21. जर्मन एकीकरण के सम्पूर्ण होने की रस्म कब और कहां की गई ?

उत्तरः जर्मन एकीकरण के सम्पूर्ण होने की रस्म 18 जनवरी, 1871 ई. को फ्रांस के वर्साय के राजमहल में हुई?

22. जर्मन एकीकरण के सम्पूर्ण होने के पश्चात् जर्मन सम्राट् की पदवी किसे प्रदान की गई ?

उत्तरः जर्मन एकीकरण के सम्पूर्ण होने पर फ्रैडरिक विलियम प्रथम को जर्मन सम्राट् घोषित किया गया।

23. जर्मन एकीकरण के लिये प्रशिया को किन देशों से युद्ध लड़ना पड़ा ?

उत्तरः जर्मन एकीकरण के लिये प्रशिया को डेनमार्क, आस्ट्रिया तथा फ्रांस से युद्ध लड़ना पड़ा।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखें)

1. जर्मन एकीकरण का कर्णधार कौन था ?

(i) नेपोलियन तृतीय ; (ii) फ्रैडरिक विलियम प्रथम ;

(iii) बिस्मार्क ; (iv) मोल्तके। (iii)

2. 1789 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के समय जर्मनी में लगभग कितने राज्य थे ?

(i) 16 राज्य; (ii) 360 राज्य;

(iii) 39 राज्य; (iv) 18 राज्य। (ii)

3. जर्मन एकीकरण का 'दादा' किसे कहा गया है ?

(i) बिस्मार्क को ; (ii) नेपोलियन बोनापार्ट को ;

(iii) फ्रैडरिक विलियम को ; (iv) चार्लेमेंन को। (ii)

4. सेडावा की लड़ाई किस युद्ध से सम्बन्धित है ?

उत्तरः(i) फ्रांस-प्रशिया युद्ध ; (ii) आस्ट्रिया -प्रशिया युद्ध ;

(iii) डेनमार्क का युद्ध ; (iv) आस्ट्रिया-सार्डीनिया युद्ध। (ii)

5. फ्रांस-प्रशिया युद्ध के पश्चात् हुई सन्धिः

(i) गैस्तीन की सन्धि ; (ii) वियाना की सन्धि ;

(iii) फ्रैंकफर्ट की सन्धि ; (iv) प्राग की सन्धि। (iii)

6. प्राग की सन्धि कब और किन देशों के बीच हुई ?

(i) 1865 ई. प्रशिया और डेनमार्क के बीच (ii) 1866 ई. आस्ट्रिया और प्रशिया के बीच ;

(iii) 1871 ई. फ्रांस और आस्ट्रिया के बीच (iv) 1865; डेनमार्क तथा आस्ट्रिया के बीच। (ii)

7. जोल्वेरिन (Zollverein) की स्थापना किस देश के नेतृत्व में हुई ?

(i) फ्रांस ; (ii) आस्ट्रिया ;

(iii) प्रशिया ; (iv) डनमार्क। (iii)

8. प्रशिया को श्लेस्विग तथा होलस्टीन की प्राप्ति किस युद्ध के पश्चात् हुई?

(i) क्रीमिया युद्ध ; (ii) आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध;

(iii) फ्रांस-प्रशिया युद्ध; (iv) डेनमार्क युद्ध। (ii)

9. आस्ट्रिया-प्रशिया के डेनमार्क विरूद्ध युद्ध के समय डेनमार्क का शासन कौन था ?

(i) क्रिश्चियन नौवां ; (ii) फ्रैडरिक विलियम ;

(iii) विक्टर एमैनुइल ; (iv) पीयस सातवां। (i)

10. उत्तरी जर्मन संघ की स्थापना कब हुई ?

(i) 1870 ई ; (ii) 1867 ई;

(iii) 1864 ई ; (iv) 1866 ई (ii)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान किजिए ;

(क)	(ख)
फ्रासं-प्रशिया युद्ध ;	1867 ई. ;
आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध ;	1864 ई
डेनमार्क के विरूद्ध युद्ध ;	1866 ई. ;
उत्तरी जर्मन संध का निर्माण ;	1870 ई. ;

उत्तर:

(क)	(ख)
फ्रासं-प्रशिया युद्ध ;	1870 ई. ;
आस्ट्रिया-प्रशिया युद्ध ;	1866 ई
डेनमार्क के विरूद्ध युद्ध ;	1864 ई. ;
उत्तरी जर्मन संध का निर्माण ;	1867 ई. ;

2.

(क)	(ख)
जर्मन राष्ट्र की घोषणा ;	1865 ई. ;
बिस्मार्क का प्रशिया का प्रधानमन्त्री बनना ;	1871 ई. ;
आस्ट्रिया का प्रशिया से युद्ध;	1852 ई. ;
गेस्टीन की सन्धि।	1866 ई. ;

उत्तर:

(क)	(ख)
जर्मन राष्ट्र की घोषणा ;	1871 ई. ;
बिस्मार्क का प्रशिया का प्रधानमन्त्री बनना ;	1852 ई. ;
आस्ट्रिया का प्रशिया से युद्ध;	1866 ई. ;
गेस्टीन की सन्धि	1865 ई. ।

अमेरिका का गृह युद्ध

1. अमेरिका की खोज किसने की ?

उत्तरः अमेरिका की खोज कोलम्बस ने की।

2. अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति कौन था ?

उत्तरः जार्ज वाशिगंटन।

3. अमेरिका का वह शहर जो दास व्यापार के कारण बना?

उत्तरः लीवर पुल ।

4. टामा काका की कुटिया नामक उपन्यास किसने लिखा ?

उत्तरः हैरियट बीचर स्टोबे ने।

5. अब्राहम लिंकन अमेरिका का राष्ट्रपति कब हुआ ?

उत्तरः 4 फरवरी 1861 ई. में ।

6. गृह युद्ध का आरम्भ कब हुआ ?

उत्तरः 12 अप्रैल 1761 ई. में ।

7. गृह युद्ध समाप्त कब हुआ ?

उत्तरः 26 मई 1865 ई. में ।

8. अमेरिका में दास प्रथा का अन्त कब हुआ ?

उत्तरः 1863 ई. में ।

9. अब्राहम लिंकन की हत्या कब हुई?

उत्तरः 14 अप्रैल 1765 ई को।

10. अब्राहम लिंकन की हत्या किसने की ?

उत्तरः विस्कस बुथ।

चीन में अफीम युद्ध

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. चीन के सम्पर्क में आने वाला प्रथम यूरोपीय देश कौन-सा था ?

उत्तरः चीन के सम्पर्क में आने वाला प्रथंम यूरोपीय देश पुर्तगाल था।

2. पुर्तगालियों ने चीन में अपना प्रथम व्यापारिक अड्डा कहां स्थापित किया ?

उत्तरः पुर्तगालियों ने कैंटन के दक्षिण में स्थित मकाओ की बन्दरगाह पर अपना प्रथम व्यापारिक अड्डा स्थापित किया।

3. डचों को चीन में व्यापार करने की अनुमति कब प्राप्त हुई ?

उत्तरः डचों को 1927 ई. में चीन में व्यापार करने की अनुमति प्राप्त हुई।

4. चीन से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रथम देश कौन था ?

उत्तरः चीन से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रथम देश रूस था।

5. चीन की रूस से प्रथम सन्धि कब हुई ?

उत्तरः चीन की रूस से प्रथम सन्धि (Treaty of Nerchinsh) 27 अगस्त 1689 ई. को हुई।

6. चीन में मांचू राजवंश ने शासन कब स्थापित किया ?

उत्तरः चीन में मांचू राजवंश के शासन की स्थापना 1644 ई. में हुई ।

7. अफ़ीम युद्धों से पूर्व चीन में विदेशी व्यापारी किस संघ द्वारा अपना व्यापारिक लेन देन करते थे ?

उत्तरः अफ़ीम युद्धों से पूर्व विदेशी व्यापारी अपना लेन देन को हॉन्ग नामक संघ द्वारा करते थे।

8. पश्चिमी देशों व्यापारी चीन से कौन-सी वस्तुएं खरीदते थे?

उत्तरः पच्श्रिमि दशों के व्यापारी चीन से चाय, रेशम, कपास तथा मिट्टी के बर्तन खरीदते थे।

9. प्रथम अफ़ीम (अथवा प्रथम आंग्ल-चीनी) युद्ध कब हुआ ? इसमें किसकी पराजय हुई ?

उत्तरः प्रथम अफ़ीम अथवा आंग्ल-चीनी युद्ध 1839 ई. में आरम्भ हुआ। इसमें इंग्लैंड ने चीन को पराजित किया।

10. प्रथम अफ़ीम युद्ध के आरम्भ समय कैंटन का कमिश्नर कौन था ?

उत्तरः प्रथम अफ़ीम युद्ध के आरम्भ होने के समय लिन कैंटन काप कमिश्नर था।

11. नैन्किंग की सन्धि कब हुई ?

उत्तरः नैन्किंग की सन्धि 29 अगस्त 1842 ई. का हुई।

12. नैन्किग की सन्धि द्वारा कौन-सी चार बन्दरगाहें अंग्रेज़ी व्यापार के लिये खोलीं गई ?

उत्तरः नैन्किंग की सन्धि (1842 ई.) के अनुसार Foochow, Amoy, Ningpo तथा Shanghai की चार बन्दरगाहें अंग्रेज़ी व्यापार के लिये खोल दी गई।

13. **'Co-hong'** की स्थापना कब की गई थी ?

उत्तरः का-हॉन्ग (Co-Hong) की स्थापना 1752 ई. में की गई थी।

14. प्रथम अफ़ीम युद्ध के समय चीन का सम्राट कौन था ?

उत्तरः प्रथम युद्ध के समय ताओ कुआंग (Tao Kuang) चीन का सम्राट् था।

15. प्रथम अफ़ीम युद्ध का तात्कालिक कारण क्या था ?

उत्तरः प्रथम अफ़ीम युद्ध का तात्कालिक कारण एक चीनी नाविक (Lin Wei-Hsi)की अंग्रेज़ नाविकों द्वारा हत्या का मामला था।

16. द्वितीय आंग्ल-चीन अथवा अफ़ीम युद्ध कब तथा किन देशों में लड़ा गया ?

उत्तरः द्वितीय आंग्ल-चीन अथवा अफ़ीम युद्ध 1856-1860 ई. में चीन तथा इंग्लैंड-फ्रांस-के बीच लड़ा गया।

17. टाईपिन्ग विद्रोह **(Taiping Rebellion)** कब हुआ ? उसका क्या उद्देश्य था ?

उत्तरः टाईपिन्ग विद्रोह 1863-54 ई. में हुआ। इसका उद्देश्य मांचू वंश को समाप्त करके शुद्ध स्वदेशी मिंग वंश का शासन स्थापित करना था।

18. आगस्ते चैप्डेलेन **(Auguste Chapdelaine)** कौन था ? उसकी हत्या कब हुई ?

उत्तरः आगस्ते चैप्डेलेन एक फ्रांसीसी कैथोलिक पादरी था। उसकी हत्या फ़रवरी 1856 ई. में हुई।

19. द्वितीय अफ़ीम युद्ध के समय का सम्राट् कौन था ?

उत्तरः द्वितीय अफ़ीम युद्ध के समय नेपोलियन तृतीय (1852-70) फ्रांस का सम्राट् था।

20. द्वितीय अफ़ीम युद्ध का तात्कालिक कारण क्या था ?

उत्तरः द्वितीय अफ़ीम युद्ध का तात्कालिक कारण लोर्चा एरो (Lorcha Arrow) की घटना थी।

21. टाइंटसिन की सन्धि कब और किस युद्ध के दौरान हुई ?

उत्तरः टाइंटसिन कीसन्धि 26 जून 1858 ई. को द्वितीय अफ़ीम युद्ध के दौरान हुई।

22. पीकिन्ग की सन्धि (Treaty of Peking) कब हुई ? इस की दो मुख्य शर्तें बताओ ?

उत्तरः पीकिन्ग की सन्धि अक्टूबर 1860 ई. में हुई। चीन द्वारा 11 बन्दरगाहें विदेशी व्यापार के लिए खुलना तथा पीकिन्ग में अंग्रेज़ी राजदूत रखना, इस सन्धि की दो मुख्य शर्तें थीं।

23. द्वितीय अफ़ीम युद्ध के दो मुख्य प्रभाव क्या थे ?

उत्तरः चीन के सम्मान को आघात तथा पश्चिमी देशों का चीन में व्यापारिक प्रभुत्व, द्वितीय अफ़ीम युद्ध के दो मुख्य प्रभाव थे।

24. द्वितीय अफ़ीम युद्ध के समय चीन का सम्राट् कौन था ?

उत्तरः द्वितीय अफ़ीम युद्ध के समय Hsien-feng चीन का सम्राट् था।

25. पीकिन्ग की सन्धि के अनुसार इंग्लैंड को चीन से कौन-सा प्रदेश प्राप्त हुआ ?

उत्तरः पीकिन्ग की सन्धि के अनुसार इंग्लैंड को चीन से कौलून (Kowloon) का प्रदेश प्राप्त हुआ।

26. द्वितीय अफ़ीम युद्ध के पश्चात् इंगलैंड तथा फ्रांस का चीन से युद्ध के हर्जाने के रूप में कितनी धन-राशि प्राप्त हुई ?

उत्तरः द्वितीय अफ़ीम युद्ध के पश्चात् इंग्लैंड तथा फ्रांस को चीन से आठ-आठ मिलियन डॉलर की धन-राशि प्राप्त हुई।

27. चेफू की सन्धि 1876 (Chefoo Convention) कब तथा किसके बीच हुई ?

उत्तरः चेफू की सन्धि 1876 ई. में चीन तथा इंग्लैंड के बीच हुई।

28. 'चीन में रियासतों के लिए' (Battle of Concesasions) कब से कब तक चला?

उत्तरः चीन में रियासतों के लिए संघर्ष 1895-1898 ई. तक चला।

29. 'रियासतों के लिये संघर्ष' (Battle of Concesasions) में मुख्यतः किन देशों ने भाग लिया ?

उत्तरः 'रियासतों के लिये संघर्ष' में मुख्यतः रूस, फ्रांस, जर्मनी, तथा इंग्लैंड ने भाग लिया।

30. 'ली-लेबोनॉव सन्धि' (Li-Lebenov Treaty) कब और किसके बीच हुई ?

उत्तरः ली-लेबोनॉव सन्धि 3 जून 1896 ई. को चीन तथा रूस के बीच हुई ।

31. रूसी-चीनी बैंक (Russo-Bank) की स्थापना कब हुई ?

उत्तरः रूसी-चीनी बैंक की स्थापना सितम्बर 1896 ई. में हुई।

32. इंग्लैंड को चीन से वी-हाय-वी (Wei-hai-wei) का क्षेत्र पट्टे पर कब प्राप्त हुआ ?

उत्तरः इंग्लैंड का चीन से वी-हाय-वी का क्षेत्र पट्टे पर मार्च 1898 ई. को प्राप्त हुआ।

33. चीन में रूस, फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैंड के रियासतों के क्षेत्र (Spheresa of Interesat) बताइए ?

उत्तर: चीन में रूस का क्षेत्र मांचूरिया, फ्रांस का युनैन, जर्मनी काशान्तुंग तथा इंग्लैंड का क्षेत्र यंगसे की घाटी थी।

34. चीन में 'सौ दिनों के सुधार' (Hundred Days' Reforms) कब और किस सम्राट् के काल में हुए ?

उत्तर: चीन में 'सौ दिनों के सुधार' 1898 ई. में सम्राट् कुआंग हसू (Kuang Hsu) के शासन काल में हुए।

35. चीन में बाक्सर विद्रोह (Boxer Rising) कब हुआ ?

उत्तर: चीन के बाक्सर विद्रोह 1899-1900 ई. में हुआ।

36. 'खुले द्वार की नीति' (Open Door Policy) का जन्मदाता कौन था ?

उत्तर: खुले द्वार की नीति का जन्मदाता अमरीकी राष्ट्रपति मैंकिन्ले का सैक्रेटरी ऑफ स्टेट जॉन हेय (Jone Hay) था।

37. 'खुले द्वार की नीति' के दो मुख्य प्रभाव क्या थे ?

उत्तर: चीन की स्वतन्त्रता एवं अखण्डता की सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन-'खूले द्वार की नीति' के दो मुख्य प्रभाव थे।

(ख) बहु विकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रथम देश था:

(i) फ्रांस ; (ii) रूस ;

(iii) पुर्तगाल ; (iv) इंग्लैंड। (ii)

2. चीन में मांचू राजवंश का शासन स्थापित हुआ :

(i) 1602 ई. में ; (ii) 1729 ई में ;

(iii) 1644 ई. में ; (iv) 1689 ई. में। (iii)

3. डचों ने कैंटन में कब प्रवेश किया ?

(i) 1698 ई. में ; (ii) 1604 ई में ;

(iii) 1637 ई. में ; (iv) 1517 ई. में। (ii)

4. प्रथम अफीम युद्ध के समय चीन का सम्राट् था :

(i) चिन लुन्ग (Chien Lung) (ii) ताओ कुआंग (Tao Kuang)

(iii) सीन फेन्ग (Hsien Feng) (iv) प्रिन्स कुंग (Prince Kung) (ii)

5. प्रथम अफीम युद्ध की समाप्ति किस सन्धि से हुई ?

(i) नैन्किंग की सन्धि ; (ii) पीकन्ग की सन्धि ;

(iii) टाइटसिन की सन्धि ; (iv) ऐगुन की सन्धि। (i)

6. अक्तूबर 1844 ई. में हुई वहान्घियां की सन्धि (Treaty of Whanghia) चीन ने किस देश से की थी?

(i) फ्रांस से ; (ii) जर्मनी से ;

(iii) अमरीका से ; (iv) रूस से। (iii)

7. नैन्किंग की सन्धि (29 अगस्त 1842 ई.) के अनुसार चीन ने कौन-सा प्रदेश इंग्लैंड को सदा के लिए दे दिया?

(i) कालून; (ii) कैंटन ;

(iii) हॉग कॉग ; (iv) शंघाई। (iii)

8. वामपोया की सन्धि (Treaty of Whampoa) किन दो दशों में हुई ?

(i) चीन-जापान ; (ii) चीन-फ्रांस ;

(iii) चीन-अमरीका ; (iv) चीन-इंग्लैंड। (ii)

9. टाईपिन्ग विद्रोह कब हुआ ?

(i) 1839-42 ई. ; (ii) 1858-60 ई;

(iii) 1899-1900 ई. ; (iv) 1863-54 ई. । (iv)

10. द्वितीय अफ़ीम युद्ध की समाप्ति किस सन्धि से हुई ?

(i) टांइसिन की सन्धि; (ii) पीकिन्ग की सन्धि;

(iii) बोग की सन्धि ; (iv) नैन्किंग की सन्धि। (ii)

11. चीन और इंग्लैंड में चेफू की सन्धि (Chefoo Convention) कब हुई ?

(i) 1860 ई. ; (ii) 1865 ई;

(iii) 1842 ई. ; (iv) 1876 ई. । (iv)

12. जून 1896 ई. में चीन की रूस कौन सी सन्धि हुई ?

(i) शिमनोसिकी की सन्धि ; (ii) एगुन की सन्धि ;

(iii) ली-लेबोनॉव सन्धि ; (iv) पोर्टमाउथ की सन्धि। (iii)

13. चीन ने क्योचौ (Kiaochow) का प्रदेश पट्टे पर किस देश को दिया ?

(i) जर्मनी को; (ii) जापान का ;

(iii) फ्रांस को ; (iv) रूस को। (i)

14. चीन में इंग्लैंड का रियासतों का क्षेत्र (Sphere of Ineresat) कौन-सा था ?

(i) मांचूरिया ; (ii) युनैन ;

(iii) शान्तुग ; (iv) यंगसे की घाटी (iv)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजए :

(क)	(ख)
चीन के सम्पर्क में आने वाला प्रथम युरोपीय देश ;	इंग्लैंड ;
पुर्तगालियों द्वारा चीन में स्थापित व्यापारिक अड्डा;	अमरीका ;
चीन से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रथम देश;	पुर्तगाल ;

	चीन ने प्रथम अफ़ीम युद्ध किस देश में लड़ा ;	रूस ;
	1844 ई. में व्हाग्घिया की सन्धि चीन ने किस देश से की।	मकाओ।
उत्तरः	(क)	(ख)
	चीन के सम्पर्क में आने वाला प्रथम युरोपीय देश ;	पुर्तगाल ;
	पुर्तगालियों द्वारा चीन में स्थापित व्यापारिक अड्डा ;	मकाओ।
	चीन से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने वाला प्रथम देश;	रूस ;
	चीन ने प्रथम अफ़ीम युद्ध किस देश में लड़ा ;	इंग्लैंड ;
	1844 ई. में व्हाग्घिया की सन्धि चीन ने किस देश से की।	अमरीका ।

2.

	(क)	(ख)
	प्रथम अफ़ीम युद्ध ;	1876 ई. ;
	नैन्किग की सन्धि ;	1863-54 ई. ;
	द्वितीय अफ़ीम युद्ध ;	1839-42 ई. ;
	पीकिन्ग की सन्धि	1842 ई. ;
	ताइपिन्ग विद्रोह ;	1856-60 ई. ;
	चेफू की सन्धि ;	1860 ई. ;
उत्तरः	(क)	(ख)
	प्रथम अफ़ीम युद्ध ;	1839-42 ई. ;
	नैन्किग की सन्धि ;	1842 ई. ;
	द्वितीय अफ़ीम युद्ध ;	1856-60 ई. ;
	पीकिन्ग की सन्धि	1860 ई. ;
	ताइपिन्ग विद्रोह ;	1853-54 ई. ;
	चेफू की सन्धि ;	1876 ई. ;

3. उचित मिलान कीजिए :

विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के चीन में रियासतों के क्षेत्र :

(क)	(ख)
रूस ;	यंगसे की घाटी ;
फ्रांस ;	शान्तुंग ;
जर्मनी ;	युनैन ;
इंग्लैंड ;	मांचूरिया।

उत्तरः	(क)	(ख)
	रूस ;	मांचूरिया ;
	फ्रांस ;	युनैन ;
	जर्मनी ;	शान्तुंग ;
	इंग्लैंड ;	यंगसे की घाटी।

चीन की क्रांति

1. चीन में 1911 ई. में क्रांति समय किस वंश के शासक शासन करते थे।

उत्तरः चीन में 1911 ई. की क्रांति के समय मांचू वंश के शासक चीन में शासन करते थे।

2. महारानी सू-हसी(Tzu Hli) की मृत्यु कब हुई ? उस समय चीन का वयस्क राजा कौन था ?

उत्तरः महारानी सू-हसी की मृत्यु 15 नवम्बर, 1908ई. को हुई। उस समय चीन का वयस्क (तीन वर्षीय)राजा पू यी (Pu-Yi) था।

3. 1911 ई. की क्रांति का सबसे प्रसिद्ध नेता कौन था? उसने 1509 ई. को किस संगठन की स्थापना की?

उत्तरः 1911 ई. की चीन की क्रांति का सब से प्रसिद्ध नेता सन यात-सेन (Sun Yat Sen) था। उसने 1911 ई. में तुंग मिंग होई (Tung Meng Hui) नामक संगठन की स्थापना की।

4. 1911 ई. की चीनी क्रांति का तात्कालिक कारण क्या था ?

उत्तरः 1911 ई. की क्रांति का तात्कालिक कारण-हैंको कैंटन (Handow-Canton) तथा हैंको-सिश्रुआन नामक दो रेल7मार्गों के राष्ट्रीयकरणका प्रश्न था।

5. 1911 ई. की क्रांति के पश्चात् चीनी गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति कौन तथा कब बना ?

उत्तरः 1911 ई. की क्रांति के पश्चात् युआन शी काई (Yuan Shih Kai) 13 फ़रवरी 1912 को चीनी गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति बना।

6. युआन शी काई (Yuna Shih Kai) की मृत्यु कब हुई ? उसने चीन में किस नये वंश की स्थापना करनी चाही?

उत्तरः युआन शी काई की मृत्यु 1916 ई. में हुई। उसने चीन में 'Hiun Shien' नामक नये वंश की स्थापना करनी चाही।

7. युआन की मृत्यु के पश्चात् चीन का राष्ट्रपति कौन बना ?

उत्तरः युआन की मृत्यु पश्चान् चीन उप-राष्ट्रपति ली युआन हंग (Li Yuan Hung) को चीन का राष्ट्रपति नियुक्त किया गया।

8. चीन प्रथम महायुद्ध में कब और किन देशों के पक्ष में युद्ध में शामिल हुआ ?

उत्तरः चीन ने 14 अगस्त 1917 ई. को जर्मनी के विरूद्ध मित्र देशों (इंग्लैंड-फ्रांस) के पक्ष में प्रथम महायुद्ध में प्रवेश किया।

9. चीन की 1911 ई. की क्रांति के चीन पर पड़े महत्वपूर्ण प्रभाव बताइए ?

उत्तरः राजतन्त्र का अन्त तथा राष्ट्रीय भावना का जागृत होना-1911 ई. की चीन की क्रांति के दो प्रमुख प्रभाव थे।

10. 1921-20 ई. में हुई वसशिंगटन कान्फ्रैंस में हुए चीन से सम्बन्धित दो महत्तवपूर्ण प्रभाव बताइए ?

उत्तरः चीन की एकता तथा अखण्डता का बनाए रखना तथा सभी देशों को चीन में समान व्यापारिक सवं औद्योगिक सुविधाएँ प्रदान करना-वाशिंगटन कान्फ्रैंस में हुए चीन से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण निर्णय थे।

11. क्योमिन्टैंग (Kuomintang) से क्या अभिप्राय है? उसका संस्थापक कौन था तथा उसकी मृत्यु कब हुई?

उत्तरः क्योमिन्टैंग चीन का एक प्रसिद्ध राजनैतिक दल था। इसका संस्थापक डॉ० सन यात सेन था जिसकी मृत्यु 1925 ई. में हुई ।

12. डॉ० सन यात सेन की मृत्यु के पश्चात् क्योमिन्टैंग (K. M. T.) का नेता कौन बना तथा उस द्वारा बनाई गई सरकार की राजधानी कौन-सी थी ?

उत्तर: डा० सन-यात-सेन की मृत्यु के पश्चात् चिआंग काई शेक (Chiang Kai Shek)क्योमिन्टैंग का नेता बना। उस द्वारा नाई गई सरकार की राजधानी नैकिंग थी।

13. चीन में घटी 'लम्बी यात्रा' (Long March)की घटना से क्या अभिप्राय है ? उसमें लगभग कितने व्यक्तियों की मृत्यु हुई ?

उत्तर: 1934 ई. में चिआंग काई शेक की सरकार ने कियांगसी क्षेत्र में साम्यवादियों के विरूद्ध सख्त कारवाही करके उन्हें उत्तर-पश्चिम के और एक लम्बे तथा कठिन मार्ग द्वारा शैन्सी के स्थान पर पहुँचा दिया। इस घटना को 'लम्बी यात्रा' कहते हैं जिसमें लगभग 80 हज़ार कामरेड मारे गये।

14. माओ-त्से-तुंग (Mao Tse Tung) के नेतृत्व में चीन की गणतन्त्री सरकार की स्थापना कब हुई ?

उत्तर: माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में गणतन्त्री सरकार की स्थापना प्रथम अक्टूबर 1949 ई. को हुई।

15. 1949 ई. की चीन की क्रांति के पश्चात् चीन का प्रधानमन्त्री कौन बना?

उत्तर: 1949 ई. की चीन की क्रांति के पश्चात् चाओ-एन-लाई चीन का प्रधानमन्त्री बना।

16. 1949 ई. की क्रांति के पश्चात् चीन का राष्ट्रपति नेता चिआंग काई शेक (Chiang Kai Shek) कहां गया तथा उसकी मृत्यु कब हुई ?

उत्तर: 1949 ई. की क्रांति के पश्चात् चीन का राष्ट्रपति नेता चिआंग काई शेक फॉर्मोसा (Formosa) चला गया जहां 1975 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

17. 1949 ई. की क्रांति मेंसाम्यवादियों की सफलता के दो मुख्य कारणप बताओ ?

उत्तर: साम्यवादियों की शक्तिशाली एवं कुशल सैनिक संगठन तथा माओ-त्से-तुंग तथा चाओ-एन-लाई का योग्य नेतृत्य -साम्यवादियों की सफलता के दो मुख्य कारण थे।

18. 1949 ई. की चीन की क्रांति के दो मुख्य नेताओं के नाम बताओ ?

उत्तर: माओ-त्से-तुंग तथा चाओ-एन-लाई 1949 ई. की चीन की क्रांति के दो मुख्य नेता थे।

19. चीन की 1949 ई. की क्रांति के दो अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव बताओ ?

उत्तर: यू एस. ए. के प्रभाव को भारी धक्का तथा कई एशिया के राष्ट्रों में साम्यवादी विचारों का प्रसार, 1949 ई. की चीन की क्रांति के दो अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव थे।

20. चीनी क्रांति का अफ्रीका देशों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर: चीनी क्रांति के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष कर रहे अफ्रीकी देशों के आन्दोलनों में तेज़ी आ गई।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में दिखिए)

1. चीन की महारानी सू-हसी की मृत्यु कब हुई ?

(i) 1900 ई.; (ii) 1908 ई; (iii) 1911 ई (iv) 1912 ई.। (ii)

2. 1911 ई. की चीनी क्रांति के समय चीन का सम्राट् कौन था ?

(i) राजकुमार चउन ; (ii) पू-यी (Pu-yi) (iii) कुआंग हसू ; (iv) कुआंग हसू की विधता। (iv)

3. डा० सन-यात-सेन ने आरम्भिक शिक्षा कहाँ प्राप्त की ?

(i) राजकुमार चउन ; (ii) जापान में ;

(iii) होनो लूलू (यू एस ए)में ; (iv) हाँग-काँग में। (iii)

4. डा० सन-यात-सेन द्वारा तुंग मिंग होई (Tung Ming Hui) की स्थापना कब की गई ?

(i) 1900 ई. में ; (ii) 1905 ई में;

(iii) 1911 ई. में ; (iv) 1912 ई. में। (ii)

5. 1911 ई. की क्रांति के पश्चात् चीन में गणतन्त्रीय सरकार का राष्ट्रपति किसे नियुक्त किया गया ?

(i) सन-यात-सेन को ; (ii) युआन-शी-काई ;

(iii) ली-युआन-हँग ; (iv) वू-लिंग-फाँग। (ii)

6. मांचू वंश का अन्त कब हुआ ?

(i) 15 नवम्बर 1908 ई. ; (ii) 12 फरवरी 1912 ई. ;

(iii) 22 अक्तूबर 1912 ई. ; (iv) 10 अक्तूबर 1911 ई. । (ii)

7. 1911 ई. की चीनी क्रांति लाने में महत्वपूर्ण योगदान किसका था ?

(i) युआन शी-आई ; (ii) महाराजी सू-सी ;

(iii) डा० सन-यात-सेन ; (iv) ली-युआन-हँग । (iii)

8. निम्नलिखित में से कौन-सा कारण 1911 ई. की चीनी क्रांति का तात्कालिक कारण था ?

(i) हैंकों में बम धमाका ; (ii) महारीनी सू-हसी की मृत्यु ;

(iii) रेल मार्ग निमार्ण ; (iv) समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों की अस्न्तुष्टता।(iii)

9. चार मई आन्दोलन किस वर्ष में हुआ ?

(i) 1921 ई. में ; (ii) 1919 ई में;

(iii) 1912 ई. में ; (iv) 1923 ई. में। (ii)

10. वाशिंगटन सम्मेलन कब हुआ ?

(i) 1912 ई. में ; (ii) 1921-22 ई में;

(iii) 1923 ई. में ; (iv) 1911 ई. में। (ii)

11. 1937 ई. से 1945 ई. तक चीन किस देश से युद्ध में उलझा रहा ?

(i) कोरिया से ; (ii) जापान से ;

(iii) भारत से ; (iv) जर्मनी से । (ii)

12. चीन की 1949 ई. क्रांति का नेतृत्व किसने किया ?

(i) युआन-शी-काई ; (ii) यन-यात-सेन ;

(iii) चियांग-काई-शेक ; (iv) माओ-त्से-तुंग । (iv)

13. चीन में गणतन्त्र की स्थापना कब हुई ?

(i) 1 अक्तूबर 1949 ई. ; (ii) 14 अगस्त 1945 ई. ;

(iii) 1 अक्तूबर 1948 ई. ; (iv) 2 अक्तूबर 1950 ई. । (i)

14. चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने वाला प्रथम देश कौन था ?

(i) जर्मनी ; (ii) यू. एस. ए. ;

(iii) रूस ; (iv) भारत । (iii)

15. यू एस ए ने साम्यवादी चीन को कब मान्यता प्रदान की ?

(i) 1972 ई. में ; (ii) 1950 ई में;

(iii) 1975 ई. में ; (iv) 1949 ई. में। (i)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान कीजिए :

(क)	(ख)
यन-यात-सेन ;	चीन का सैनिक नेता ;
तुंग-मिंग-होई ;	गणतन्त्रीय सरकार का प्रथम राष्ट्रपति ;
युआन-शी-काई ;	चीन का राजनैतिक दल ;
ली-युआंग-हॅंग ।	1911 ई. की क्रांति का नेता ।

उत्तर:

(क)	(ख)
यन-यात-सेन ;	1911 ई. की क्रांति का नेता ;
तुंग-मिंग-होई ;	चीन का सैनिक नेता ;
युआन-शी-काई ;	गणतन्त्रीय सरकार का प्रथम राष्ट्रपति ;
ली-युआंग-हॅंग ।	चीन का राजनैतिक दल ; ।

2. उचित मिलान कीजिए :

(क)	(ख)
रेल मार्ग निमार्ण योजना ;	1949 ई. की क्रांति का एक कारण ;
क्योंमिन्टैंग ;	राष्ट्रवादियों का सैनिक सिखलाई केन्द्र ;
'चार मई दिवस' की घटना ;	1911 ई. की क्रांति का तात्कालिक कारण ;
बाहम्पोआ का सैनिक संस्था।	चीन का राजनैतिक दल।

(क)	(ख)
रेल मार्ग निमार्ण योजना ;	1911 ई. की क्रांति का तात्कालिक कारण ;
क्योंमिन्टैंग ;	चीन का राजनैतिक दल;
'चार मई दिवस' की घटना ;	1949 ई. की क्रांति का एक कारण ;
बाहम्पोआ का सैनिक संस्था।	राष्ट्रवादियों का सैनिक सिखलाई केन्द्र ;

3. उचित मिलान कीजिए :

(क)	(ख)
माओ-त्से-तुंग ;	साम्वादियों की सेना ;
लाल सेना (1949)	1949 ई. की क्रांति का मुख्य नेता ;

	फ़ॉर्मोसा ;	चीन की राजधानी ;
	पीकिंग ।	1949` ई. के पश्चात् चिआंग सरकार का केन्द्र।
उत्तरः	(क)	(ख)
	माओ त्से तुंग;	1949 ई॰ की क्रांति का मुख्य नेता;
	लाल सेना (Red Army);	साम्यवादियों की सेना;
	फ़ॉर्मोसा;	1949 ई॰ के प चात् चिआंग सरकार का केंद्र;
	पीकिंग।	चीन की राजधानी

जापान का रूस में विश्व शांति के रूप में उदय

(क) लघु-उत्तर प्रश्न

1. इंग्लैंड-जापान गठबंधन (Anglo-Japanesae Alliance) कब हुआ? उस समय जापान का प्रधान मंत्री कोन था?

उत्तरः इंग्लैंड-जापान गठ-बंधन 30 जनवरी 1902 ई॰ को हुआ। काऊंट कत्सुरा उस समय जापान का प्रधानमंत्री था।

2. रूस जापान युद्ध (Russo- Japanesae War) कब हुआ? इस की सम्पत्ति किस सन्धि के साथ हुई?

उत्तरः रूस जापान युद्ध 1904-05 ई॰ में हुआ। इसकी समाप्ति पोर्टसमाऊथ की सन्धि से हुई।

3. रूस जापान युद्ध के दो मूल कारण क्या थे?

उत्तरः रूस जापान युद्ध के दो मूल कारण कोरिया तथा मंचूरिया के मामलों पर दोनों देशों में मतभेद थे।

4. 'मेंइज़ी के पुनः संस्थापन' से पूर्व जापान में कौन सी दो शक्तियां काम करती थी?

उत्तरः 'मेंइज़ी पुनः संस्थापन' से पूर्व जापान में सम्राट तथा शोगुन (प्रधान-मंत्री) की दो शक्तियां काम करती थीं।

5. मुत्सुहितों जापान का सम्राट कब बना?

उत्तरः मुत्सुहितों फ़रवरी 1867 ई॰ में जापान का सम्राट बना।

6. जापान के सम्राट तथा प्रधान-मंत्री (शोगुन) के कार्यलय कहां-कहां थे?

उत्तरः जापान के सम्राट का कार्यालय क्योटो तथा प्रधान-मंत्री का मुख्यालय येदू में स्थित था।

7. जापान के प्रथम राष्ट्रीय बैंक की स्थापना कब हुई?

उत्तरः जापान में 1873 ई॰ में प्रथम राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई।

8. चीन-जापान युद्ध कब हुआ? इस युद्ध की समाप्ति किस सन्धि में हुई?

उत्तरः चीन जापान युद्ध 1894-95 ई॰ में हुआ। इस युद्ध की समाप्ति शिमनोसकी की सन्धि से हुई।

9. शिमनोसकी की सन्धि कब हुई?

उत्तरः शिमनोस्की की सन्धि 17 अप्रैल 1895 ई॰ को हुई।

10. जापान के आधुनिकरण में जापान के किस सम्राट ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया?

उत्तरः जापान के आधुनिकरण में सम्राट मुत्सुहितों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

11. पोर्टसमाऊथ की सन्धि कब तथा किनके बीच हुई?

उत्तरः पोर्टसमाऊथ की सन्धि 5 सितम्बर 1905 ई॰ को रूस तथा जापान के बीच हुई।

12. चीन जापान युद्ध का तत्कालीन कारण क्या था?

उत्तरः चीन तथा जापान युद्ध का तत्कालीन कारण कोरिया में 'टॉग हॉक' नामक राजनैतिक दल का विद्रोह था।

13. चीन-जापान युद्ध के कोई दो महत्त्वपूर्ण प्रभाव बताओ?

उत्तरः जापान का अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के रूप में उत्थान तथा चीन की दुर्बलता का प्रदर्शन-चीन-जापान युद्ध के दो महत्त्वपूर्ण प्रभाव थे।

14. रूस जापान युद्ध को समाप्त करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट ने मध्यस्थ का कार्य किया?

उत्तरः रूस जापान युद्ध को समाप्त करने के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति थियोडोररूज़वेल्ट ने मध्यस्थ का कार्य किया।

15. रूस जापान युद्ध से सम्बन्धित दो प्रसिद्ध लड़ाइयों के नाम बताओ?

उत्तरः पोर्ट आर्थर तथा त्सुशिया की लड़ाइयां रूस-जापान युद्ध की दो प्रसिद्ध लड़ाइयां थी।

16. रूस-जापान युद्ध में जापान की सफलता के कारण क्या थे?

उत्तरः जापानी सैनिकों में राष्ट्रीय भावना तथा सेना का कुशल नेतृत्व-जापान की रूस-जापान युद्ध में सफलता के दो कारण थे।

17. रूस-जापान युद्ध में भाग लेने वाले रूसी सेनापतियों के नाम बताओ?

उत्तरः स्टोइसल तथा कुरॉप्टकिन रूसी सेना के दो प्रसिद्ध सेनापति थे।

18. जापान ने प्रथम विश्व युद्ध में कब प्रवेश किया ? उसने किसके पक्ष में युद्ध लड़ा?

उत्तरः जापान ने 23 अगस्त 1914 ई॰ को प्रवेश किया और उसने इंग्लैंड तथा फ्रांस के पक्ष में युद्ध लड़ा।

19. वाशिंगटन कान्फ्रैंस कब बुलाई गई ? इस में भाग लेने वाले चार प्रसिद्ध देशों के नाम बताओ?

उत्तरः वाशिंगटन कान्फ्रैंस 1921 ई॰ में बुलाई गई। इस में भाग लेने वाले चार देश थे-अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस तथा जापान।

20. 1921 ई॰ में वाशिंग्टन कान्फ्रैंस में अमेरिका, इंग्लैंड, जापान तथा फ्रांस के जंगी जहाज़ों का क्या अनुपात निश्चित हुआ?

उत्तरः वाशिंगटन कांफ्रैंस में इस चार देशों के जंगी जहाज़ों का अनुपात इस प्रकार निश्चित हुआ-अमरीका का 5:, इंग्लैंड का 5:, जापान 3: तथा फ्रांस 1.75।

21. जापान में मांचूरिया पर कब अधिकार किया और वहां उसने किसे नाम मात्र शासक बनाया?

उत्तरः जापान ने 1931 ई॰ को मांचूरिया पर अधिकार किया और उसने चीन के भूतपूर्व सम्राट् (Puyi) को नाम मात्र शासक बना दिया।

22. जापान के द्वितीय महायुद्ध में कब तथा किसके पक्ष में युद्ध लड़ा?

उत्तरः जापान ने दिसम्बर 1940 ई॰ में युद्ध में प्रवेश किया और उसने जर्मनी तथा इटली (Axis Powers) के पक्ष में युद्ध लड़ा।

23. जापान ने द्वितीय महायुद्ध में कब तथा क्यों हथियार ड़ाले?

उत्तरः जापान में हीरोशिमा तथा नागासाकी नामक नगरों पर अमेरिका द्वारा एटम बम गिराये जाने के पश्चात् 14 अगस्त 1945 ई॰ को हथियार डाल दिये।

24. द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने किन नगरों पर ओर कब एटम बम गिराये?

उत्तरः द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने जापान के नगर हीरोशिमा पर 6 अगस्त तथा नागासाकी पर 9 अगस्त 1945 ई॰ को एटम बम गिराये थे।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. इंग्लैंड-जापान गठबंधन कब हुआ?

(i) 1907 ई०; (ii) 1902 ई०;

(iii) 1904 ई०; (iv) 1895 ई०। (ii)

2. चीन जापान युद्ध की समाप्ति किस सन्धि में हुई?

(i) लंडन की सन्धि; (ii) पोर्टसमाऊथ की सन्धि;

(iii) पैरिस की सन्धि; (iv) शिमनोस्की की सन्धि। (iv)

3. पोर्टसमाऊथ की सन्धि किस युद्ध के पश्चात् हुई?

(i) रूस -जापान युद्ध; (ii) चीन-जापान युद्ध;

(iii) प्रथम विश्व युद्ध; (iv) द्वितीय अफ़ीम युद्ध। (i)

4. शिपनोस्की की सन्धि कब हुई?

(i) 1907 ई०में; (ii) 1905 ई० में;

(iii) 1895 ई० में; (iv) 1902 ई० में। (iii)

5. चीन-जापान युद्ध कब हुआ?

(i) 1904-05 ई० में; (ii) 1894-95 ई०;

(iii) 1898 ई० में; (iv) 1901-02 ई० में। (ii)

6. चीन-जापान युद्ध का तत्कालीन कारण क्या था?

(i) कोरिया में अव्यवस्था; (ii) कोरिया में विदेशी शक्ति का प्रवेश;

(iii) टॉंग हॉक विद्रोह; (iv) जापान में राजनीतिक संकट। (iii)

7. रूस जापान युद्ध को समाप्त करवाने के मध्यथ का कार्य किसने किया?

(i) युआन शी काई ने; (ii) थियोडोर रूज़वेल्ट ने;

(iii) मुत्सुहितों ने; (iv) रिचर्डसन ने। (ii)

8. जापान के सम्राट का कार्यालय कहां स्थित था?

(i) क्योटो में; (ii) येदू में;

(iii) टोक्यिों में; (iv) कागोशिया में। (i)

9.जापान ने प्रथम विश्व युद्ध में कब प्रवेश किया?

(i) 7 दिसम्बर 1915 ई०; (ii) 28 जून 1914 ई०;

(iii) 23 अगस्त 1914 ई०; (iv) 18 जनवरी 1919 ई०। (ii)

10. प्रथम विश्व युद्ध में जापान ने किस देश का साथ दिया?

(i) इंग्लैंड का; (ii) जर्मनी का;

(iii) चीन का; (iv) आस्ट्रिया का। (i)

11. द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान किसके विरूद्ध लड़ा?

(i) मित्र देशों (Alliesa) के; (ii) जर्मनी के;

(iii) इटली के; (iv) आस्ट्रिया के। (i)

12. द्वितीय महायुद्ध में जापान ने समर्पण कब किया?

(i) 6 अगस्त 1945 ई०; (ii) 9 अगस्त 1945 ई०;

(iii) 10 अगस्त 1945 ई०; (iv) 14 अगस्त 1945 ई०। (iv)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान किजिए:

(क)	(ख)
मेंइज़ी पुनः संस्थान;	अगस्त, 1914 ई०;
चीन-जापान युद्ध	1902 ई०
इंग्लैंड जापान गठबंधन;	1904-05 ई०;
रूस जापान युद्ध	1894-95 ई०;
जापान का प्रथम महायुद्ध में प्रवेश।	1867 ई०।

उत्तर:

(क)	(ख)
मेंइज़ी पुनः संस्थान;	1867 ई०;
चीन जापान युद्ध	1894-95 ई०;
इंग्लैंड जापान गठबंधन;	1902 ई०
रूस जापान युद्ध;	1904-05 ई०;
जापान का प्रथम महायुद्ध में प्रवेश	अगस्त 1914

2.

(क)	(ख)
चीन जापान युद्ध की समाप्ति;	1921 ई०;
पोर्टमाऊथ की सन्धि;	14अगस्त 1945 ई०;
द्वितीय महायुद्ध में जापान का समर्पण	शिमनोसकी की संधि;
वाशिंगटन कांफ्रैंस।	रूस जापान युद्ध

उत्तर:

(क)	(ख)
चीन जापान युद्ध की समाप्ति;	शिमनोस्की की सन्धि;
पोर्टमाऊथ की सन्धि;	रूस जापान युद्ध ;
द्वितीय महायुद्ध में जापान का समर्पण	14 अगस्त 1945 ई०;
वाशिंगटन कांफ्रैंस।	1921 ई०

प्रथम विश्व युद्ध और शान्ति समझौते

1. आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या कहां हुई?

उत्तरः सराजेवो में।

2. प्रथम विश्व युद्ध में दो दल कौन-कौन से थे?

उत्तरः मित्र राष्ट्र और केन्द्रीय शक्तियां

3. प्रथम विश्व युद्ध कब आरम्भ हुआ?

उत्तरः 28 जुलाई 1914 ई० को।

4. प्रथम विश्व युद्ध के समय जर्मन का सम्राट कौन था?

उत्तरः विलियम द्वितीय।

5. अमेरिका प्रथम विश्व युद्ध में कब शामिल हुआ?

उत्तरः 1917 ई० में।

6. प्रथम विश्व युद्ध में कितने राज्यों ने भाग लिया?

उत्तरः 36 राज्यों ने।

7. मित्र देशों के साथ कुल कितने राज्य थे?

उत्तरः 32 राज्य।

8. राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई?

उत्तरः 10 जनवरी 1920 ई० को।

9. प्रथम विश्व युद्ध कितने दिन चला?

उत्तरः 4 वर्ष तीन मास और ग्यारह दिन।

10. मित्र राष्ट्रों की सेना का सेनापति कौन था?

उत्तरः मार्शल फौच।

11. युद्ध विराम कब हुआ?

उत्तरः 11 नवम्बर 1918 ई० को।

12. पेरिस शान्ति सम्मेलन कब आरम्भ हुआ?

उत्तरः 18 जनवरी 1919 ई० को।

13. जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि कब हुई?

उत्तरः 28 जून 1919 ई० को।

14. आस्ट्रिया के साथ सेन्ट जर्मन की सन्धि कब हुई?

उत्तरः 10 सितम्बर 1919 ई० को।

15. बल्गारिया के साथ न्यू इटली की सन्धि कब हुई?

उत्तरः 27 नवम्बर 1919 ई० को।

16. हंगरी के साथ ट्रियनो की सन्धि कब हुई?

उत्तरः 4 जून 1920 ई० को।

17. तुर्की के साथ सर्वे की सन्धि कब हुई?

उत्तरः 10 अगस्त 1920 को।

1917 ई॰ की रूस की क्रांति

(RUSSIAN REVOLUTION OF 1917)

लघु-उत्तर प्रश्न

1. 1917 ई॰ की क्रांति के समय रूस में शासक राज्य करता था?

उत्तरः 1917 ई॰ की क्रांति के समय ज़ार निकोलस द्वितीय रूस में शासन करता था।

2. रूस की क्रांति लाने में सहायक सिद्ध होने वाले चार साहित्यकारों के नाम बताओ?

उत्तरः टॉल्स्टाय, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और गोर्की नामक चार प्रसिद्ध सहित्यकारों ने रूप में क्रांति लाने में योगदान दिया।

3. रस्पुटिन कौन था?

उत्तरः रस्पुटिन साइबेरिया का रहने वाला एक लम्बे बालों वाला अशिक्षित एवं पाखण्डी साधु था जिसने निकोलस द्वितिय की प्रतिक्रियावादी नीतियों पर गहरा प्रभाव ड़ाला।

4. प्रतिक्रियावादी दमन तथा रूसीकरण की नीति किस रूसी सम्राट् से सम्बन्धित है?

उत्तरः प्रतिक्रियावाद दमन तथा रूसीकरण की नीति रूसी ज़ार एलेग्जेण्डर तृतीय से सम्बन्धित है।

5. रूस की 1917 ई॰ की क्रांति का तात्कालिक कारण क्या थे?

उत्तरः रूस की प्रथम महायुद्ध में विनाशकारी पराजय देश में आवश्यक वस्तुओं का अभाव तथा किमतों में वृद्धि-1917 ई॰ की क्रांति के तात्कालिक कारण थे।

6. रूस में समाजवादी लोकतंत्रीय दल की स्थापना कब हुई? बाद में यह दल कौन से दो भागों में बंट गया?

उत्तरः रूस में समाजवादी लोकतंत्रीय दल की स्थापना 1898 ई॰ में हुई। यह दल 1903 ई॰ में मेंन्शेविक तथा बोलशेविक नामक दो भागों में बंट गया।

7. रूस के इतिहास में 'खूनी रविवार' किस दिन को कहा जाता है ? यह घटना कब घटी?

उत्तरः रूस के इतिहास में 22 जनवरी 1905 ई॰ के दिन को 'खूनी रविवार' कहा जाता है। इस दिन गैपों के नेतृत्व में मज़दूरों के जलूस पर ज़ार से सैनिकों ने गौली चला दी, जिसके परिणामस्वरूप हज़ारों लोगों की मृत्यु हो गई।

8. अक्तूबर 1905 ई॰ के शाही घोषणा पत्र में कौन-कौन सी रियासतों की घोषणा की गई?

उत्तरः अक्तूबर 1905 ई॰ की शाही घोषणा द्वारा लोगों की भाषण देने, लिखने तथ संघ स्थापित करने के अधिकार प्रदान किये गये तथा लोगों द्वारा निर्वाचित किए गये प्रतिनिधियों की संसद (Duma) के निर्माण की भी घोषणा की गई।

9. रूसी क्रांति के प्रथम चरण, मार्च 1917 ई॰ की क्रांति के पश्चात् किसके अधीन अस्थाई लोकतंत्रीय सरकार का निर्माण हुआ?

उत्तरः रूसी क्रांति के प्रथम चरण, मार्च 1917 ई॰ की क्रांति के पश्चात् प्रिन्स ल्वाव के अधीन अस्थाई लोकतंत्रीय सरकार का गठन हुआ था।

10. रूसी नेता केरेंस्की किस दल से सम्बन्धित था?

उत्तरः रूसी नेता केरेंस्की मेंशेविक दल से सम्बन्धित था।

11. रूस में बोलशेविक दल की क्रांतिकारी सरकार की स्थापना कब हुई?

उत्तरः रूस में बोलशेविक दल की क्रांतिकारी सरकार की स्थापना 7 नवम्बर 1917 ई॰ को हुई।

12. बोलशेविक दल के दो नेताओं के नाम बताओ जिन्होने 1917 ई॰की क्रांति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई?

उत्तरः लेनिन तथा ट्राटस्की बोलशेविक दल के दो प्रसिद्ध नेता थे जिन्होने 1917 ई॰ की क्रांति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

13. रूस में नवम्बर 1917 ई॰में स्थापित हुई बोलशेविक सरकार का प्रधानमंत्री तथा विदेश मंत्री कौन था?

उत्तरः रूस में नवम्बर 1917 ई॰ में स्थापित हुई बोलशेविक सरकार का प्रधान मंत्री तथा विदेश मंत्री ट्राटस्की था।

14. ब्रेस्ट लिटोवस (Bresat Litovsk) की सन्धि कब और किन देशों के बिच हुई?

उत्तरः ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि 3 मार्च 1918 ई॰ को रूस तथा जर्मनी के बीच हुई।

15. रूस की बोलशेविक क्रांति की सफलता के दो मुख्य कारण क्या थे?

उत्तरः बोलशेविक दल का कुशल संगठन तथा लेनिन जैसे योग्य नेताओ का नेतृत्व इस क्रांति की सफलता के दो मुख्य कारण थे।

16. रूस की क्रांतिकारी सरकार द्वारा स्थापित की गई क्रांतिकारी अदालत का क्या नाम था?

उत्तरः रूस की क्रांतिकारी सरकार द्वारा स्थापित की गई क्रांतिकारी अदालत का नाम चेका था।

17. लेनिन रूस का प्रधानमंत्री कब बना? उसकी मृत्यु कब हुई?

उत्तरः लेनिन 8 नवम्बर 1917 ई॰ को रूस का प्रधान मंत्री बना। उसकी मृत्यु 21 जनवरी 1924 ई॰ को हुई।

18. लेनिन ने रूस की नई आर्थिक नीति कब आरंभ की?

उत्तरः लेनिन ने रूस की नई आर्थिक नीति 192 ई॰ में आरम्भ की।

19. लेनिन द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीति की मुख्य विशेषताएँ क्या थी?

उत्तरः लेनिन द्वारा अपनाई गई नई आर्थिक नीति के विदेशी व्यापार के एकाधिकरण के साथ निजी व्यापार करने, बड़े उद्योगों के संचालन में अधिक स्वतंत्रता तथा छोटे निजी उद्योगों का स्थापना करने तथा किसानों को फालतू उत्पादन खुली मण्डी में बेचने की आज्ञा देना थीं।

20. रूस के पांच वर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम कब तथा किस सरकार ने आरंभ किया?

उत्तरः रूस में पांच वर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम 1928 ई॰ में रटालिन की सरकार ने आरंभ किया।

21. रूसी क्रांति के प्रभावहीन साम्यवादी शासन प्रणाली अपनाने वाले चार देशों के नाम बताओ?

उत्तरः रूसी क्रांति के प्रभाव अधीन साम्यवादी शासन प्रणाली अपनाने वालेचार यूरोपीय देश थे- पूर्वी जर्मनी, पौलेण्ड, बल्गेरिया तथा चैकोस्लोवाकिया।

22. रोमनाव (Romanov) वंश ने रूस पर कितने वर्ष शासन किया? इस वंश के अंतिम दो शासकों के नाम बताओ?

उत्तरः रोमनाव वंश ने रूस पर लगभग 300 वर्ष शासन किया। एलेग्जेण्डर तृतीय (1881-94) इस वंश के अंतिम दो शासक थे।

23. रूस के राजतंत्र का कब हुआ तथा रूसी ज़ार निकोलस द्वितीय की हत्या कब हुई?

उत्तरः रूस में राजतंत्र का अंत मार्च 1917 ई॰ में हुई तथा रूसी ज़ार निकोलस द्वितीय की हत्या 16 जुलाई 1918 ई॰ को हुई।

24. नाहीलिज्म आंदोलन का उत्थान किस रूसी सम्राट् के शासन काल में हुआ?

उत्तर: नाहीलिज्म आंदोलन का उत्थान एलेग्ज़ेंडर द्वितीय के शासन काल में हुआ।

25. 'नाहीलिज्म' आंदोलन के दो प्रसिद्ध नेताओं के नाम बताओ?

उत्तर: तुर्गनाव तथा बाकुलिन 'नहींलिज्म आंदोलन के दो प्रसिद्ध नेता थे।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

(इनके उत्तर दायीं ओर कोष्ठक में देखिए)

1. 1917 ई॰ की क्रांति के समय रूस का सम्राट कौन था?
   (i) एलेक्ज़ेंडर द्वितिय; (ii) निकोलस द्वितीय;
   (iii) एलेक्ज़ेंडर तृतीय; (iv) पीटर महान। (i)

2. नाहीलिज्म (Nihilism) आंदोलन का उत्थान किस शासक के शासन काल में हुआ?
   (i) एलेक्ज़ेंडर द्वितीय; (ii) निकोलस प्रथम;
   (iii) एलेक्ज़ेंडर प्रथम; (iv) एलेक्ज़ेंडर प्रथम। (i)

3. रस्पुटीन कौन था?
   (i) निकोलस द्वितीय का मंत्री; (ii) रूस का एक सहित्यकार;
   (iii) साइबोरिया का एक पाखण्डी; (iv) रूसी क्रांति का नेता। (iii)

4. प्रतिक्रियावाद दमन तथा रूसीकरण की नीति का सम्बन्ध रूसी शासक से है?
   (i) एलेक्जेण्डर प्रथम; (ii) पीटर महान;
   (iii) एलेक्ज़ेंडर तृतीय; (iv) निकोलस द्वितीय। (iii)

5. मेंन्शेविक दल का प्रसिद्ध नेता थ?
   (i) लेनिन; (ii) केरेन्सकी;
   (iii) ट्राटस्की; (iv) निकोलस द्वितीय। (ii)

6. रूस के समाजवादी लोकतंत्रीय दल (Socialist Democratic Party) की स्थापना कब हुई?
   (i) 1905 ई॰ में; (ii) 1881 ई॰ में;
   (iii) 1917 ई॰ में; (iv) 1898 ई॰ में। (iv)

7. रूस ने ब्रेस्टलिटोवस्क की सन्धि किस देश के साथ की?
   (i) इंग्लैंड के साथ; (ii) जर्मनी के साथ;
   (iii) फ्रांस के साथ; (iv) चीन के साथ। (ii)

8. रूस की क्रांतिकारी सरकार द्वारा स्थापित की गई अदालत का नाम था?
   (i) चेका (ii) संसद
   (iii) ड्यूमा (iv) स्थापित सभा (Zemstvos)। (i)

9. मार्च 1917 ई॰ में रूस में कितने नेतृत्व में अस्थाई सरकार का निर्माण किया गया?
   (i) करेंस्की के अधीन; (ii) लेनिन के अधीन;
   (iii) प्रिन्स ल्वाव के अधीन; (iv) प्रिन्स ल्वाव ने। (iii)

10. रूसी क्रांति के दूसरे चरण नवम्बर 1917 ई॰ में क्रांति का नेतृत्व किसने किया?

(i) ट्राटस्की ने; (ii) करेंस्की ने;

(iii) लेनिन ने; (iv) प्रिन्स ल्वाव ने। (iii)

11. रूस में लेनिन द्वार नई आर्थिक नीति कब प्रचलित की गई?

(i) 1917 ई॰में; (ii) 1921 ई॰में;

(iii) 1924 ई॰में; (iv) 1919 ई॰में; (ii)

12. रूस का शासक निकोलस द्वितीय किस वंश से सम्बन्ध रखता था?

(i) बूर्बो वंश से; (ii) होहेन्ज़ालर्नज़ वंश से;

(iii) हैप्सबर्ग वंश से; (iv) रोमनाव वंश से; (iv)

(ग) मिलान सम्बन्धी प्रश्न

1. उचित मिलान किजिए:

(क)	(ख)
बोलशेविक दल का नेता;	टॉलस्टाय;
रूस का सम्राट;	ट्राटस्की;
लेनिन का विदेश मंत्री;	लेनिन;
रूस का प्रसिद्ध लेत्रक;	निकोलस द्वितिय।

उत्तर:

(क)	(ख)
बोलशेविक दल का नेता;	लेनिन;
रूस का सम्राट;	निकोलस द्वितीय;
लेनिन का विदेश मंत्री;	ट्राटस्की;
रूस का प्रसिद्ध लेखक;	टॉलस्टाय।

2. उचित मिलान किजिए:

(क)	(ख)
रूस का जापान युद्ध;	3 मार्च 1918 ई॰;
ज़ार निकोलस की हत्या;	21 जनवरी 1924 ई॰;
लेनिन की मृत्यु;	1904-05 ई॰;
ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि;	16 जुलाई 1918 ई॰;

उत्तर:

(क)	(ख)
रूस का जापान युद्ध;	1904-05 ई॰;
ज़ार निकोलस की हत्या;	16 जुलाई 1918 ई॰
लेनिन की मृत्यु;	21 जनवरी 1924 ई॰
ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि	3 मार्च 1918 ई॰।

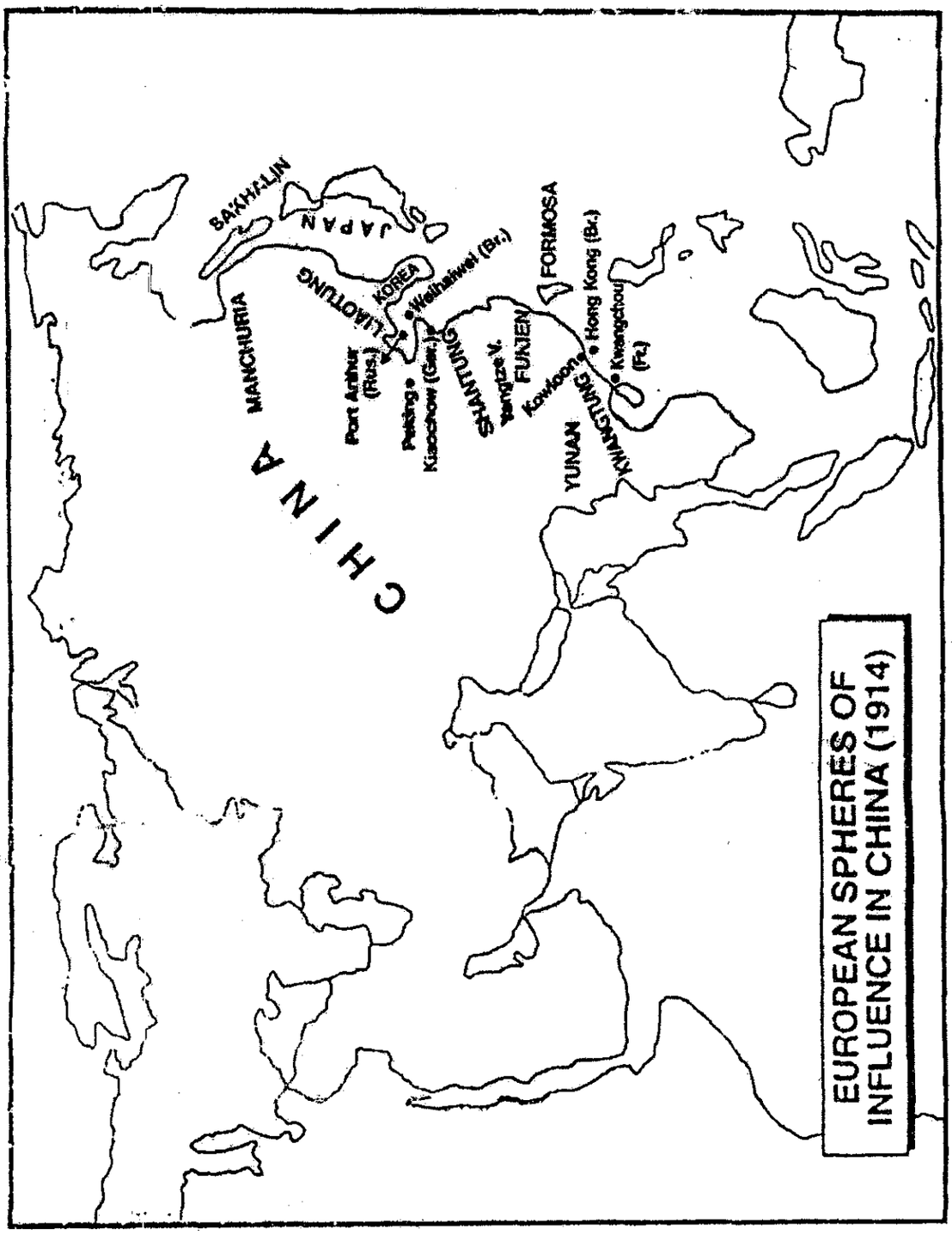
SAKHALIN
JAPAN
MANCHURIA
LIAOTUNG
KOREA
Wellhaiwei (Br.)
Port Arthur (Rus.)
Peking
Kiaochow (Ger.)
SHANTUNG
Yangtze V.
FUKIEN
FORMOSA
Kowloon
Hong Kong (Br.)
Kwangchou (Fr.)
YUNAN
KWANGTUNG
CHINA
EUROPEAN SPHERES OF INFLUENCE IN CHINA (1914)

चीन में यूरोपीय शक्तियों के प्रभाव क्षेत्र, 1914 ई०
(European Spheres of Influence in China, 1914)

18वीं शताब्दी के मध्य से लेकर 1842 ई० तक चीन विदेशी शक्तियों के लिए बन्द रहा। इस काल में चीन की रूढ़िवादी मांचू सरकार ने विदेशियों से व्यापारिक अथवा किसी अन्य प्रकार का सम्पर्क न रखा। इंग्लैण्ड ने चीन के साथ अफीम का व्यापार बलपूर्वक स्थापित करने के उद्देश्य से चीन के विरूद्ध दो युद्ध किये जिन्हें 'अफीम युद्ध' कहा जाता है। इन युद्धों में इंग्लैण्ड की विजय हुई और चीन के साथ की गई नान्किंग तथा टाइंटसिन की सन्धियों के अनुसार चीन की क्रमशः 5 तथा 11 बन्दरगाहें यूरोपीय शक्तियों के व्यापार के लिये खोल दी गई और हांगकांग एवं कौलून के प्रदेश इंग्लैण्ड को दे दिये गए। विभिन्न यूरोपीय देशों तथा यू०एस०ए० ने चीन की सरकार के साथ सन्धियां की जिनके अनुसार उन्हें चीन के साथ व्यापार करने के अतिरिक्त कुछ विशेष अधिकार दिये गये।

1894-95 ई० में एशिया के सबसे बड़े चीन तथा जापान के बीच युद्ध हुआ जिसका प्रमुख कारण कोरिया का मामला था। इस युद्ध में जापान की विजय हुई और शिमनोसकी की सन्धि के अनुसार चीन ने जापान को फार्मोसा तथा लियोतुंग प्रायद्वीप के प्रदेश दिए।

1. रूसः चीन की जापान के हाथों पराजय के पश्चात् 1895-98 ई० के दौरान विभिन्न यूरोपीय शक्तियों में चीन से अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करने के लिए संघर्ष चल पड़ा। इस संघर्ष में रूस ने प्रमुख भाग लिया। रूस और फ्रांस ने मिलकर चीन को भारी धन-राशि ऋण के रूप में दी और दिसम्बर 1895 ई० में रूस-चीन बैंक (Russo-Chinese Bank) की स्थापना हुई। चीन ने रूस को अपने उत्तरी प्रदेशों में एक लम्बी रेलवे लाइन (Trans-Siberian Railway) बनाने का अधिकार दे दिया। 1898 ई० ने चीन से 25 वर्षों के लिए लियोतुंग का प्रदेश ठेके पर ले लिया पोर्ट आर्थर की बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया जो 1914 ई० तक कायम रहा। रूस ने मानचूरिया के विशाल क्षेत्र में चीन से अनेक रियायतें लीं और मानचूरिया रूस का प्रभाव-क्षेत्र बन गया।

2. फ्रांसः रूस के मित्र व साथी फ्रांस ने भी चीन के कई प्रदेशों (Kwangsi, Kawangtung and Yunan) में रेलवे लाइनें बनाने और खानों को खोदने सम्बन्धी विशेष अधिकार प्राप्त किये। उसने 99 वर्षों के लिए कवागनो (Kwangehou) का प्रदेश भी ठेके पर ले लिया।

3. जर्मनीः जर्मनी, जो फ्रांस-रूस गठबन्धन का ध्यान यूरोप से दूर लगाना चाहता था, ने इन दोनों शक्तियों का सुदूर-पूर्व में समर्थन किया। जर्मनी ने चीन के शान्तुंग (Shantung) के प्रान्त में विशेष रियायतें प्राप्त कीं और क्योवो (Kiaochow) का प्रदेश ठेके पर ले लिया।

4. इंग्लैंडः इंग्लैंड ने पहले तो यूरोपीय शक्तियों द्वारा प्राप्त की गई रियायतों की निन्दा की लेकिन कुछ समय के उपरान्त उसने कुछ प्रदेशों में रेलवे लाइनें बनाने का अधिकार प्राप्त कर लिया और वी-हाय-वी (Wei-hai-Wei) प्रदेश का ठेका 25 वर्षों के लिए ले लिया। उसने यैंगसे घाटी (Yangtze Valley) में अपना प्रभाव-क्षेत्र कायम कर लिया।

इस प्रकार रूस, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड और जापान ने चीन के विभिन्न भागों में अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र स्थापित कर लिए। कोई भी शक्ति दूसरी शक्ति के प्रभाव-क्षेत्र में रियायतें प्राप्त नहीं कर सकती थी। ऐसी परिस्थिति में अमेरिका की सरकार ने चीन में अपने व्यापारिक हित सुरक्षित रखने के लिए 'Open Door Policy' अपनाई। इस नीति के अनुसार चीन में यूरोपीय शक्तियों के विभिन्न प्रभाव-क्षेत्रों में अमेरिका तथा अन्य सभी देशों को समान व्यापारिक अधिकार दिये गये। इस नीति के फलस्वरूप व्यापारिक समानता का सिद्धान्त लागू हो गया और चीन का अफ्रीका की तरह विभाजन होने से बचाव हो गया।